द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

भूमिका

जनवरी १६३२ मे पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी २४ घटे के लिये काशी पधारे थे। इस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से उन्हें एक अभिनंदन-पत्र दिया गया था। उनके चले जाने के कई दिन बाद श्री शिवपूजनसहाय ने सभा के मंत्री से चर्चा की कि सभा को केवल मानपत्र देकर ही न रह जाना चाहिए, आचार्य के अभिनंदनार्थ एक सुंदर ग्रंथ भी निकालना चाहिए। इसके लिये उपयुक्त अवसर भी आ रहा है, क्योंकि संवत् १६६० के वैशाख मे वे सत्तरवें वर्ष मे पदार्पण करेंगे। इस समुचित प्रस्ताव का सभा ने सहर्ष और सादर स्वागत किया और इसे कार्य्य-रूप मे परिणत करने का आयोजन प्रारंभ कर दिया।

शीघ्र ही इस ग्रंथ के लिये महत्पुरुषों से शुभ कामना की, श्रीमानों से आर्थिक सहायता की, हिन्दी के एव देशी-विदेशी अन्य भाषाओं के विद्वानो तथा साहित्यिको से उनकी रचनाओं की और प्रमुख 'चित्रकारों से उनके चित्रों की प्रार्थना की गई। समाचार-पत्रों में भो इसकी चर्चा प्रारंभ की गई। जैसी हमे आशा थी, इस प्रस्ताव का सब ओर से अच्छा स्वागत हुआ और हमारे इस महत् स्वप्न को सफल बनाने मे सभी उदारचेता महामनाओं ने हमारा हाथ बँटाया।

यहाँ तक कि महात्मा गाधी ने भी इस ग्रंथ के लिये हमे शुभ कामना का संदेश भेजा, जिसकी प्रतिकृति इस ग्रंथ में दी जा रही है।

जिन अन्य महानुभावों ने हमे सद्भावना के संदेश भेजे है, उनमे से कुछ के नाम ये हैं—

सर्वश्री—

नूट हामजून
(नार्वे के नोबुल प्राइज-विजेता साहित्यिक),

सर जार्ज ग्रियर्सन,

डाक्टर थियोडोर वन विन्टरस्टीन
(जर्मनी के इंडिया इंस्टिट्यूट के संस्थापक—अध्यक्ष)

भाई परमानंद

विषम आर्थिक परिस्थिति के कारण हमें आर्थिक सहायता प्राप्त करने मे बड़ी अड़चन पड़ी। हमारे उद्देश्यों से सहानुभूति रखते हुए भी बडे-बडे श्रीमानों तक ने हमे कोरा उत्तर दे दिया। यदि सीतामऊ के राजकुल ने हमारा हाथ न पकड़ा होता तो संभवत. हमे यह प्रस्ताव ही स्थगित कर देना पड़ता। हमारी प्रार्थना के पहुँचते ही वहाँ के विद्या-रसिक महाराज महोदय ने सौ रुपये का दान देकर हमें प्रोत्साहित किया। इसके अनंतर वहाँ के विद्वान् राजकुमार ने, जिन्होंने हिन्दी-सेवा का व्रत धारण किया है और जो हिंदी के एक श्रेष्ठ उदीयमान लेखक हैं, अपने कई इष्ट-मित्र नरपतियों से भी हमें सहायता दिलवाई, जिसका ब्योरा इस प्रकार है:—

सर्वश्री—

सरगुजा-नरेश	२००)	खिलचीपुर-नरेश	२५)
झालावाड़-नरेश	५१)	बनेड़ा-नरेश	२५)
प्रतापगढ-नरेश	५०)	एक श्रीमती	१००)

कुमार महोदय ने इस संबंध मे जो कष्ट उठाया है, उसके लिये सभा उनकी वहुत ही आभारी है।

जिन अन्य दाताओं ने हमे इस सत्कार्य के लिये आर्थिक सहायता प्रदान की है, उनके नाम ये हैं—

१००) श्रीमान् बीकानेर-नरेश

११) बाबू हनुमानप्रसाद पोद्दार

५) बाबू बिरजानद पोद्दार

२) बाबू रामरत्नपाल सघी

किंतु हमारी आवश्यकता बहुत बडी थी। हर्ष का विषय है कि हमारे शेष भार का एक वहुत बडा अंश इंडियन प्रेस के स्वामी श्री हरिकेशव घोष ने अपने ऊपर ले लिया। उन्होंने हमारे इस सचित्र ग्रन्थ को लागत-मात्र पर छाप देने का दायित्व ग्रहण करके अपनी सराहनीय उदारता का परिचय दिया है।

ओडछा-दरबार से भी हमे विपुल आर्थिक सहायता का वचन मिला है। वहाँ के महेंद्र महाराज महोदय का हिंदी-प्रेम और इस दिशा मे उत्साह तथा उद्योग प्रशसनीय ही नही, अन्य श्रीमानों के लिये अनुकरणीय भी है। वे ही अपने करकमल से आचार्य महोदय को यह ग्रंथ भेंट देंगे, यह हमारे सौभाग्य का विषय है।

आचार्य द्विवेदी जी का प्रेमी और भक्त-समुदाय विस्तृत है। इस समुदाय के ऐसे धनी मानी महानुभाव, जो इस बात के इच्छुक थे कि अभिनदन ग्रथ के रूप मे आचार्य की जो प्रतिष्ठा की जा रही है, वे भी उससे संबद्ध हो जायँ, इसके निमित्त सभा ने यह निश्चय किया कि वे अभिनदन ग्रंथ प्रकाशन के संबंध मे ३०) सहायता-स्वरूप देकर इसके प्रतिष्ठापक बन जायँ और प्रत्येक प्रतिष्ठापक को अभिनदन ग्रंथ की एक प्रति भेंट दी जाय। यह भी निश्चय किया गया कि प्रतिष्ठापक-वर्ग की सूची अभिनंदन ग्रथ मे प्रकाशित की जाय, जिसमे उनके सत्कार की स्मृति ग्रथ के साथ स्थायी रूप से बनी रहे। इन महानुभावों के सुनाम की सूची अन्यत्र प्रकाशित की जाती है।

हिंदी एवं देशी तथा विदेशी अन्य भाषाओं के जिन विद्वानों और साहित्यिकों से इस संग्रह के लिये लेख की याचना की गई, उन्होंने सहर्ष हमे सहयोग प्रदान किया। आचार्य द्विवेदी जी के व्यक्तित्व का ऐसा ही प्रभाव है कि लब्धप्रतिष्ठ विद्वन्मंडली ने ऐसा करने मे बहुत ही तत्परता दिखलाई। इसके लिये सभा इस ग्रथ के आदरणीय लेखको और कवियों को उनकी रचनाओं के निमित्त विनम्र धन्यवाद देती है।

हमे खेद है कि इस अभिनंदन ग्रंथ के लिये ऐसे बहुत-से अधिकारी साहित्य-सेवियों और लब्धकीर्त्ति विद्वानों की कृतियाँ न प्राप्त हो सकी, जो इस समय जेल मे हैं या देश के अन्य कार्यों मे व्यस्त है। और सबसे अधिक खेद उन महानुभावों की रचनाओं के प्रकाशित न हो सकने का है, जिनसे विशेष अनुरोध-पूर्वक रचनाएँ मँगाई गई थीं, पर जो इस ग्रंथ मे संमिलित न हो सकीं। इसका एकमात्र कारण यह है कि अन्य प्रांतों तथा भाषाओं के विद्वानों की कृतियों का समादर करना आवश्यक जान पड़ा; क्योंकि स्वयं कष्ट सहकर भी अतिथियों का सत्कार करना परम आर्य धर्म्म है। बहुत-से लेख इसलिये भी प्रकाशित न हो सके कि वे आशातीत विलंब से प्राप्त हुए। अनेक अभीष्ट लेखों की प्रतीक्षा मे मुद्रण-कार्य्य का आरंभ १५ जनवरी के बाद हुआ। इतने अल्प समय मे ही संपूर्ण कार्य्य पूरा करना पड़ा। इस परिस्थिति मे हमारे आमंत्रण पर जिन लेखकों ने रचनाएँ भेजने की कृपा की थी, हम उनके कृतज्ञ हैं; साथ ही उनसे तथा उन अन्य समस्त लेखको और कवियो से—जिनकी रचनाओं को प्रबल इच्छा रखते हुए भी कारण-वश इस ग्रंथ मे देने मे असमर्थ रहे— क्षमा प्रार्थना करते है। हम जानते है कि आचार्य की श्रद्धांजलि मे अपने पुष्प को न पाकर उन्हे बड़ा परिताप होगा, किंतु उन्हें भूल नहीं जाना चाहिए कि त्याग ही अभिनंदन का सर्वश्रेष्ठ रूप है।

जिन प्रख्यात तथा कुशल चित्रकारो से हमने उनकी कृतियो-द्वारा द्विवेदी जी का सम्मान करने का आग्रह किया था, प्रायः उन सभी कलावंतो ने बडे उत्साह से अपने अन्यत्र अप्रकाशित नूतन चित्र हमे प्रकाशनार्थ भेजे।

ये रचनायें कला की दृष्टि से अनुपम है। अमेरिका के जगद्विख्यात चित्रकार श्री० निकोलस डी रोरिक ने अपना जो चित्र इस संग्रह में प्रकाशित कराया है, उसे वे भारत-कला-भवन को भेंट कर चुके है। हम आशा करते है कि अन्य चित्रकार भी उनकी इस उदारता का अनुसरण करेंगे।

जिन चित्रकारों ने अपनी कृतियाँ भेजकर हमें अनुगृहीत किया है, उन्हे हम हृदय से धन्यवाद देते है।

हमें अत्यंत खेद है कि भारतीय चित्रकला के नवयुग-विधायक श्री अवनींद्र ठाकुर की कोई कृति हम इस ग्रंथ मे प्रकाशित नही कर सके। आंतरिक इच्छा रखते हुए भी आचार्य के इस समादर मे ठाकुर महोदय अपने गिरते हुए स्वास्थ्य और कौटुंबिक परिस्थितियो के कारण सम्मिलित न हो सके, जिसका उन्हें अत्यंत खेद है।

यदि इंडियन प्रेस के संचालक श्री हरिकेशव घोष के अनवरत प्रयास और सुरुचि का सहयोग हमें न मिलता तो यह ग्रंथ इतनी शीघ्रता और सुदरता से प्रकाशित न हो पाता। उनका सहयोग हमारे लिये गर्व का विषय है और उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते है।

सभा ने इस ग्रथ के संपादन का भार बाबू श्यामसुंदरदास जी और राय कृष्णदास जी को सौंपा था। इन दोनों महाशयों ने जिस तत्परता और अध्यवसाय से इस कार्य को सुसंपन्न किया है, उसके लिये सभा उनके प्रति अपना हार्दिक धन्यवाद प्रकट करती है। कदाचित् यह बता देना अनुचित न होगा कि जिस समय लेखो की संख्या निर्धारित करनी पडी और कुछ लेखो के संमिलित न करने का निश्चय करना पडा, उस समय इन संपादकों ने सबसे पहले अपने ही लेखो को निकाल दिया।

श्री शिवपूजनसहाय जी ने जो बीज बोया, उसे पल्लवित करने मे उनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। लेखों के संपादन मे उन्होंने पूरी सहायता दी है और इस थोडे समय के अन्दर ही जहाँ तक बन पडा है, उन्होंने प्रूफ भी बडी सतर्कता और सतत परिश्रम से देखा है।

समय की कमी के कारण प्रूफ-संबंधी तथा और कई प्रकार की अनेक भूलें रह गई होंगी। हमारा विश्वास है कि लेखक तथा पाठक-समुदाय उसके लिये, हमारी कठिनाइयों का अनुभव करते हुए हमें उदारतापूर्वक क्षमा करेगा।

भगवती सरस्वती से हमारी एकांत कामना है कि उनके सुपुत्र आचार्य द्विवेदी जी के अभिनंदन का यह आयोजन, सहृदयो के स्थायी अनुरंजन का विषय हो।

काशी
१६ वैशाख १९९०
— 57
1933

रामनारायण मिश्र
सभापति, नागरी-प्रचारिणी सभा।

प्रस्तावना

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, जिनके अभिनंदन का इस ग्रंथ मे अनुष्ठान है, आधुनिक हिंदी के युग-प्रवर्तक लेखक और आचार्य के रूप मे प्रतिष्ठित है। जिनके मस्तिष्क की भगीरथ शक्ति संसार मे नवीन विचार-धारा प्रवाहित करती है 'ते नरवर थोरे जग माँहीं।' किंतु जो नई नहरें निकाल कर उस धारा का स्वच्छ जल अपने समाज के लिये सुगम कर देते है, वे भी हमारी अभ्यर्थना के अधिकारी है। आचार्य द्विवेदी जी ने पिछले पैंतीस चालीस वर्षों के सतत परिश्रम से खडी बोली के गद्य और पद्य की एक पक्की व्यवस्था की और दोनों प्रणालियों-द्वारा पूर्व और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी, ज्ञान संपत्ति—अपनी कठिन कमाई—संपूर्ण हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों मे मुक्त-हस्त से वितरित की जिसके लिये हम सब उनके ऋणी हैं। संयोग से इन दिनों पश्चिम में पंडिताई अधिक सुलभ हो गई है, किंतु परिग्रह की व्याधि बढ जाने के कारण वहाँ की वास्तविक बुद्धि-विभूति के घट जाने का भय भी कम नहीं है। प्रत्येक आगंतुक प्रश्न को नवीन समस्या कहने और प्रत्येक विचार को नव्य दिव्य संदेश के नाम से घोषित करने की जो प्रथा चल गई है, उससे मनुष्य अपने पूर्वजों के प्रति कृतघ्नता का कपटाचरण करने लगा है। यही नही, उनके चिरकालव्यापी महत् उद्योग की शक्ति न समेट कर स्वयं क्षीणता की ओर बढ़ने लगा है। हमारे द्विवेदी जी भी पंडित है, किंतु बहुत कुछ अपरिग्रही है। उन्होंने हिंदी को—हमको जो कुछ प्रदान किया, यह कह कर नहीं किया कि यह मेरा है, इसे लो। उन्होंने हिंदी से जो कुछ प्राप्त किया—सहस्रों पुस्तकें और सहस्रो रुपये—वह सब हिंदी की हितैषिणी संस्थाओं को दे दिया और अब अपने जन्म ग्राम में जाकर साधारण गृहस्थ का-सा स्वल्पसाध्य जीवन व्यतीत कर रहे है। जो जिसका प्राप्य है, वह उसे सौंप कर द्विवेदी जी अब इस देश के चिर-प्रचलित मुक्ति-मार्ग पर आ गए है। भगवान् उनका मंगल करे।

साहित्य और कला की स्थायी प्रदर्शनी मे उनकी कौन-सी कृतियाँ रखी जायँगी? क्या उनके अनुवाद? 'कुमारसंभव-सार', 'रघुवंश', 'हिंदी-महाभारत', अथवा 'बेकन-विचार-रत्नावली', 'स्पेंसर की ज्ञेय और अज्ञेय मीमांसाएँ,' 'स्वाधीनता' और 'संपत्तिशास्त्र'? किंतु ये सब तो अनुवाद ही है, इनमे द्विवेदी जी की भाषा-शैली स्वयं ही परिष्कृत हो रही थी—क्रमश विकसित हो रही थी—और आज-कल की दृष्टि से उसमे और भी परिवर्तन किए जा सकते है। इन सबमे भाषा-संस्कार के इतिहास की प्रचुर सामग्री मिलेगी, किंतु इनमें द्विवेदी जी का वह व्यक्तित्व बहुत कुछ ढूँढने पर ही मिलेगा जो इस समय हम लोगों के सामने विशद रूप में आया है। उन्हें पढ़कर साहित्य का कोई विद्यार्थी संभवतः यह न कह सकेगा कि यह द्विवेदी जी की ही लेखनी है, और किसी की नहीं। आज से सौ वर्ष बाद का विद्यार्थी तो कदाचित् और भी द्विविधा मे पडेगा। बात यह है कि द्विवेदी जी ने खड़ी बोली की भाषा-शैली की व्यवस्था अवश्य की है, उसमे निश्चय ही उनका निजत्व है। किंतु वह व्यवस्था उनकी कलम के मँजने पर हुई है और वह निजत्व आते-आते आया है। उन्होंने केवल दूसरों की भाषा का ही नहीं, अपनी भाषा का भी मार्जन किया है। उनकी शब्दसंपत्ति और भाषा की संघटित प्रतिमा कालांतर मे प्रतिष्ठित हुई है। तो क्या उनकी रचित कविताएँ प्रदर्शनी मे रखी जायँ? किंतु वे तो स्वय द्विवेदी जी के ही कथनानुसार 'कविता' नहीं है और हमारी दृष्टि से भी अधिकतर उपदेशामृत है। उनके लेख? 'हिंदी भाषा की उत्पत्ति', 'कालिदास की निरंकुशता', 'मिश्रबंधु का हिन्दी नवरत्न', 'तिलक का गीताभाष्य' और ऐसे अन्य अनेक आलोचनात्मक लेख तथा टिप्पणियाँ द्विवेदी जी की जाग्रत प्रतिभा का परिचय कराते हैं। इनमे हिंदी की भाव-प्रकाशिका शक्ति निस्संशय विस्तृत रूप मे प्रकट हुई है। इनके द्वारा हिंदी के समीक्षा-साहित्य का अवश्य शिलान्यास हुआ है। फिर भी प्रश्न यह है कि क्या यह स्थायी साहित्य है? द्विवेदी जी के दार्शनिक और आध्यात्मिक लेखों पर उनके कर्मठ जीवन और अंतर की अनुभूति की छाप लगी है। उनमे विचारो की गहनता भी है और उनका क्रम भी निर्धारित है। किंतु द्विवेदी

जी की ख्याति उन लेखो से नही है। उन्हे कोई संस्कृत का प्रकांड पंडित या दर्शन का सूक्ष्मदृष्टि-अन्वेषक नहीं मानता। तो क्या आचार्य की शिष्यमंडली ही उक्त प्रदर्शन मे सजा दी जाय ? उनका शिष्य तो हिंदी का अधिकांश समाज ही है, किंतु उनके जो निकटस्थ सहयोगी और छात्र थे, जिन पर उनकी कृपा की विशेष दृष्टि रहती थी, जिनके लेखो और कविताओ पर द्विवेदी जी की 'सरस्वती' वाली कलम चलती थी—उनमे भी कतिपय ऐसे कवि और पडित हो गए है जिनकी कृतियाँ साहित्य मे संरक्षणीय और संमाननीय समझी जाती है। क्या द्विवेदी जी के ये नवीन संस्करण ही उनके प्रतिनिधि-रूप मे मान लिए जायँ ? किंतु क्या यह न्याय्य होगा ?

क्यो न 'सरस्वती' की सब संख्याएँ, जिनमे द्विवेदी जी और उनकी मित्र-मडली की कृतियां है, हिंदी के स्थायी कला-भवन मे रख दी जायँ ? और उनके साथ ही द्विवेदी जी का वह सब संशोधन, काट छाट और कायापलट भी एकत्र कर दिया जाय जो उन्होने मूल प्रतियो मे किया था और जिनके कारण वे प्रतियां मुद्रित प्रतियों से भी अधिक दर्शनीय और संग्राह्य हो गई है। जब यह बात सच है कि जो लोग द्विवेदी जी के सपर्क मे आए, उन्होने उनका मंत्र ले लिया और जिन पर द्विवेदी जी की लेखनी चल गई, वे कला की शब्दावली मे 'द्विवेदी कलम' के लेख हो गए, तब क्यो न उनकी बीस वर्षो की संपादित 'सरस्वती' पर 'द्विवेदी-काल' का लेबल लगा कर रख दिया जाय ? वे ऐसे-वैसे संपादक नहीं थे, सिद्धांतवादी और सिद्धांतपालक संपादक थे। जान पड़ता है कि वे निश्चित नियम बना कर उनके अनुसार अपनी रुचि के लेख मँगाते और वही छापते थे। संस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थान; खड़ी बोली कविता का उन्नयन; नवीन पश्चिमीय शैली की सहायता से भावाभिव्यजन, संसार की वर्तमान प्रगति का परिचय; साथ ही प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा—जो कुछ उनके लक्ष्य थे, उनकी प्राप्ति अपनी निश्चित धारणा के अनुसार 'सरस्वती' के द्वारा करना उनका सिद्धांत था; अतः 'द्विवेदी-काल' की 'सरस्वती' मे केवल द्विवेदी जी की भाषा की प्रतिमा ही गठित नही है, उनके विचारो का भी उसमे प्रतिबिंब पड़ा है। उन्होंने किसी संस्था की स्थापना नही की, परंतु सरस्वती की सहायता से उन्होंने भाषा के शिल्पी, विचारो के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक—तीन तीन संस्थाओं के संचालक—का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया। एक बार उन्होने सोचा कि अँगरेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों को हिंदी के क्षेत्र मे लाना चाहिए। बस सरस्वती के प्रायः प्रत्येक अक मे उनकी साम, दाम, दंड, भेद की प्रणालियाँ चल निकलीं और शीघ्र ही उनका यथेष्ट प्रभाव भी देख पड़ा। हिंदी मे अँगरेजी के विद्यार्थी-लेखकों की संख्या बढ़ने लगी, हिंदी पर अँगरेजी का गहरा रंग चढने लगा और आज उस पर अँगरेजी के विद्वानो का बहुत कुछ अधिकार हो गया है। यह तो केवल एक उदाहरण है। द्विवेदी जी के सरस्वती-संपादन का इतिहास ऐसे अनेक आदोलनो का इतिहास है। वह उनके व्यक्तित्व के विकास का इतिहास भी कहा जा सकता है।

जिस व्यक्ति ने लगातार बीस वर्षो तक लगभग दस करोड़ हिंदी-भाषी जनता का साहित्यिक अनुशासन किया, वह लखनऊ की तलहटी का रहनेवाला एक ग्रामीण ब्राह्मण है। जब अवध की नवाबी के दिन बीत चुके थे, तब उसी प्रांत के दौलतपुर नामक निर्धन ग्राम मे इनका जन्म हुआ था। अवध—जिस प्रदेश के ये निवासी है—इस काल मे उजड़ कर निरक्षरता और दरिद्रता का केंद्र बन गया है। किंतु प्राचीन स्मृतियाँ तो लुप्त नहीं होतीं, इसलिये प्राचीन संस्कार भी कभी सुयोग पाकर पुनर्जन्म ले लेते है। गगा की जो धारा कभी अपनी वीचि-रचना के उपलक्ष मे वाल्मीकि के कवि-कंठ का सुवर्ण-हार प्राप्त करती होगी, आज भी दौलतपुर के समीप से ही निकल कर बहती है। वे आम्र-कानन जो निद्रागत पथिकों के मुखों मे भी अपने अमृतफल बरसाते थे, आज भी दौलतपुर के चतुर्दिक् अपना वही उपहार लिए खडे है। वैशाख का महीना यद्यपि गर्मी का है, किंतु रात को अच्छी ठढक पड़ती है। ऐसे ही समय इस ग्राम मे शिशु महावीरप्रसाद ने जन्म लिया। सरस्वती का बीजमंत्र उसकी जिह्वा पर अकित कर दिया गया। ज्योतिष विद्या सत्य हुई !

शिशु महावीरप्रसाद की शिक्षा की कोई अच्छी व्यवस्था न हो सकी। उर्दू-फारसी की शिक्षा पाठशाला मे मिली। घर पर 'शीघ्रबोध'-वाली संस्कृत की ग्रामीण विधि का कुछ अभ्यास ही किया। फिर अँगरेजी पढने रायबरेली गए। पुरवा, उन्नाव आदि मे भी इनकी पढाई कुछ दिन चली। जो लोग उन दिनो के ग्रामो की

परिस्थिति जानते है या उस प्रदेश के ब्राह्मणो की अवस्था से परिचित है, उन्हे यह सुनकर आश्चर्य न होगा कि स्कूली शिक्षा भी उनके लिए दुर्लभ हो गई थी। दरिद्रता मनुष्य को उद्योगी बना सकती है—बहुधा बनाती भी है। शिशु द्विवेदी अपने घर से १५ कोस दूर रायबरेली पैदल जाता था और सप्ताह भर के खाने-पीने का सामान साथ ले जाता था। अपने हाथ से भोजन बनाना तो साधारण बात थी, ऊपर से फीस की विकट समस्या थी, यद्यपि वह कुछ आनो से अधिक नही पड़ती थी। बाल्यावस्था की दरिद्रता मनुष्य मे विनय आत्म-विश्वास आदि उत्पन्न कर सकती है, सहनशक्ति बढा सकती है, पर वह यदि अतिशय उग्र हो जाय तो मनुष्य के स्वभाव मे एक प्रच्छन्न उग्रता भी उत्पन्न कर सकती है। कुछ और गुणो के योग से यह उग्रता अवसर पाकर विचारो की दृढता और क्रिया की निष्ठा आदि सद्‌गुण भी उत्पन्न करती है, किंतु इससे मनुष्य के स्वभाव मे जो और दूसरे विकार उत्पन्न होते है उनसे द्विवेदी जी ने बचने की बराबर उत्तरोत्तर चेष्टा की है।

पढाई-लिखाई का क्रम भंग होने पर ये अपने पिता के पास बबई चले गए और कुछ समय बाद इन्हे रेलवे मे एक नौकरी मिल गई। इसी बीच मे इन्होने मराठी और गुजराती भाषाओ की जानकारी भी प्राप्त कर ली और कुछ अँगरेजी भी सीखी। नौकरी के सिलसिले मे ये नागपुर, अजमेर और बबई मे रहे। बबई से रहते हुए इन्होने तार का काम सीखा और सीख कर जी० आई० पी० रेलवे मे तार बाबू हो गए। हरदा, खडवा, होशगाबाद और इटारसी मे क्रम-क्रम से इनकी पदोन्नति होती गई। प्रवीणता के कारण तत्कालीन आई० एम० आर० (इडियन मिडलैड रेलवे) के ट्रैफिक मैनेजर श्री० डबल्यू० बी० राइट ने इन्हे टेलीग्राफ इन्स्पेक्टर बनाकर झाँसी भेज दिया। नई तरह का लाइन-क्लियर ईजाद करके इन्होने वहाँ भी अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया। तारबर्की की एक पुस्तक भी अँगरेजी मे लिख डाली। इन दिनो ये कानपुर से इटारसी और आगरा से मानिकपुर तक की पूरी लाइन का तार-सम्बन्धी काम देखते थे और बगालियो की सगति से रहकर बँगला भी सीखते थे। यद्यपि दौलतपुर का वह ग्रामीण ब्राह्मण रेलवे के एक उच्च पद पर पहुँच कर किसी प्रकार की माथा-पच्ची किये बिना सुख के साथ समय बिता सकता था, परतु द्विवेदी जी की उदात्त प्रकृति के वह अनुकूल न था। झासी के पुराने डी० टी० एस० की बदली होने पर जो नए साहब आए, उनसे एक दिन द्विवेदी जी की कहा-सुनी हो गई, दूसरे दिन रेलवे का काम साहब के सपुर्द कर आप हिंदी के क्षेत्र मे चले आए। तब से वे वहाँ और ये यहाँ।

यह पूर्वकथा इसलिये आवश्यक थी कि द्विवेदी जी के साहित्य-सबधी क्रिया-कलाप से उनके बाल्यकाल के संचित संस्कारो की गहरी छाप लगी है; और उनकी लेख-शैली तो मानो उस लौह-लेखनी से प्रकट हुई है जिसे वे रेलवे आफिस मे इस्तेमाल कर रहे थे। खड़ी बोली के गद्य और पद्य दोनों मे उन्होंने वही लौह-लेखनी चलाई जो इतिहास मे 'द्विवेदी-कलम' के नाम से प्रचलित होगी। पहले कुछ समय तक तो द्विवेदी जी ने पद्य में खड़ी बोली का थोडा-बहुत शैथिल्य सहन किया, जैसे उन्ही के 'कुमार-सभव-सार' के इस पद्य मे :—

> अधरौं के रँगने मे अपना अतिशय कोमल कर न लगाय,
> कुच-गत-अगराग से अरुणित कंदुक से भी उसे हटाय।
> कुश के अकुर तोड़ तोड़ कर घाव ॲगलियो मे उपजाय,
> किया अक्षमाला का साथी उसे उमा ने वन मे आय॥

यहाँ 'अधरौं' का 'औ'कार अभी पिट कर 'ओ' कार मे परिणत नही हुआ और न 'लगाय' 'हटाय' 'उपजाय' और 'आय' के अतिम 'य' कार का लोप कर 'लगा' 'हटा' 'उपजा' और 'आ' के स्पष्ट प्रयोग ही निकले है। यही नही 'आग' के बदले 'आगी' भी आई है जिसे लेकर पडित श्रीधर पाठक की 'कहाँ जले है वह आगी' पर काफी छेडखानी की गई थी। यह सन् १६०२ की रचना है, जब द्विवेदी जी हिंदी-पद्य की नई प्रणाली चला रहे थे।

परंतु जो बात किसी प्रकार प्रकट हुए बिना रह नही सकती, वह यह है कि खडी बोली के आरभिक पद्यो मे अर्थ की रमणीयता चाहे जितनी खो गई हो और भाषा के विषय का भी थोडा बहुत अनियम क्यो न हुआ

हो, पर एक नई परिपाटी—भावाभिव्यक्ति की तीखी, लाइन-क्लियर की सी स्वच्छ सपाट शैली अवश्य चल निकली है जिसमे संस्कृत का सा दूरान्वय दोष या अर्थक्लिष्टता कहीं नही है। मस्तिष्क लड़ा कर अर्थ निकालने का झगड़ा हमे नही करना पड़ता।

किंतु रस ? रस के विषय मे यही कहना चाहिए कि भाषा की चुस्ती और अर्थ की सफाई मे ही द्विवेदी जी ने विशेष रूप से रस लिया। उस काल के जैसे चित्रकार रविवर्मा थे, वैसे ही कवि द्विवेदी जी और उनके साथी हुए। ये लोग आचारी और सुधारक व्यक्ति है। कविता जिस प्रकार की सौदर्य-सामग्री का व्यवहार कर अतर का पवित्र रस उच्छ्वसित करती है, उसका स्पर्श करने मे ये जैसे लोक-लाज से डरते रहे हों। इनकी कविताएँ इसी लिये उपदेश-प्रधान है, वस्तु की व्यंजना करती है, अतर के तारों को झनझनाती नहीं। बाहर ही ठकठक करके चुप हो रहती है। 'कविता-कलाप' मे द्विवेदी-काल के जिन प्रधान कवियो का काव्य-सग्रह है, प्राय. उन सबमे यही बात है।

तथापि यह आरभ की बात है, कालांतर मे इसमे परिवर्तन भी हुआ। स्वयं द्विवेदी जी ने प्राचीन सरसतम काव्यो का अनुवाद किया। उनके कविताक्षेत्र के प्रधान सहकारी मैथिलीशरण जी गुप्त ने हिन्दी-भिन्न सामयिक साहित्य का अध्ययन करके सरस काव्य की आत्मा पहचानी और हिंदी के नवीन उत्थान के कुछ वास्तविक कवियों का भी अनुसरण किया। द्विवेदी जी ने भी साहित्य की सक्रिय सेवा से अवसर ग्रहण करने के उपरात भक्ति के स्रोत मे निमज्जित होकर कविता-मुक्ता के दर्शन किए। किंतु सामयिक साहित्य मे कविता की जो उनकी विरासत है, वह अधिकांश मे शब्दो का स्वच्छ वसन धारण करके खड़ी हुई सतोगुण की संन्यासिनी की प्रतिमा है—उसमे काव्य-कला का वास्तविक जीवन-स्पंदन कहीं ही कही मिलता है।

'कविता-कलाप' का अध्ययन करने से यह भी प्रकट होता है कि द्विवेदी जी आदि को मुक्तक पद्यो की अपेक्षा छोटे छोटे कथानको मे अधिक सफलता मिली है। घटना का सूत्र न रहने के कारण मुक्तक के कवि को कल्पना-भूमि मे एक प्रकार से निरवलंब हो जाना पडता है। जहाँ कोई कथा आ जाती है, वहा और कुछ नहीं तो वर्णन का एक आधार, आकर्षण का कुछ हेतु तो मिल ही जाता है, किंतु मुक्तक तो सब प्रकार से मुक्त गीत है। उस समय द्विवेदी जी जिस जरूरी काम मे लगे हुए थे, उसे छोड़ कर गीत गाने की फुर्सत भी तो हो! भारतेदु हरिश्चद्र और उनके समकालीन कई महानुभाव दूसरी ही रुचि रखते थे। उनका मन साहित्य के प्रत्येक अग की श्री-शोभा बढाने, उसका शृंगार करने की ओर था। उन लोगों ने कविता की, नाटक रचे, निबध लिखे, उपन्यासो का भी श्रीगणेश किया, और उनकी ये सब रचनाएँ सचमुच हमारे आधुनिक आरभिक साहित्य का शृंगार है। भारतेदु हरिश्चद्र मे कल्पना की बडी ही कमनीय शक्ति थी। उनके समसामयिक कितने ही लेखक सजीव और सरस साहित्य की अवतारणा करने मे सिद्धहस्त हुए। 'द्विवेदी-काल' का साहित्य सबसे पहले खड़ी बोली का आग्रह करके चला। गद्य और पद्य की भाषा एक करके जनता तक नवीन युग का संदेश पहुँचाना ही उनका उद्देश्य था। साहित्यिक सामग्री को समाज-व्यापी बनाने का ध्येय लेकर ये लोग निकले थे। खड़ी बोली को छदों के सांचे मे ढाल देना—एक अनभ्यस्त कार्य कर दिखाना—जब सध गया, तब द्विवेदी जी ने छंद की मेशीनरी को भी अपने उसी प्रचार-कार्य मे लगाया। उस काल की कविता का अलकार उसकी सरलता और सामयिकता है। हृदय के निष्कपट उद्‌गार—चाहे वे रूखे उद्‌गार ही हों—उसमे भरे है। व्रज भाषा की शृंगारिक कविता से विरक्ति हो जाने के कारण समाज मे इस नवीन काव्य-साधना का अच्छा सत्कार किया गया। कही कही छोटी छोटी रचनाओ मे भी बडे ही मधुर भाव भरे मिलते है। कविता का चोला बदल गया।

कविता और साहित्य के विषय मे द्विवेदी जी के विचार जानने की इच्छा बहुतो को होगी, परतु वे उनके फुटकर निबधो को पढकर कोई निश्चित धारणा नही बना सकेगे। यह एक बात प्रत्यक्ष है कि उन्होंने उदात्त और लोक-हितैषी विचारो के पक्ष म शक्तिशाली प्रेरणा उत्पन्न की। कुमारसंभव के आदि के ही पाच सर्गों का सार प्रकाशित करके उन्होने अतिशय शृंगारिकता से हिंदी को बचाने का प्रयत्न किया। जब 'हिंदी-नवरत्न' मे मिश्र-बंधुओं ने हिंदी के नौ सर्वोत्तम कवियों की श्रेणी-शृंखला तैयार की और उन पर अपने विचार प्रकट किए,

तब लोगो को हिंदी कविता के संबध मे द्विवेदी जी की राय जानने का अवसर मिला। 'हिंदी-नवरत्न' की समीक्षा करते हुए द्विवेदी जी ने सबसे पहले यह प्रदर्शित किया कि कवियो के उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय करने की एक व्यवस्था, एक क्रम होना चाहिए। किंतु व्यवस्था क्या हो और क्रम कैसा हो, इस पर अधिक प्रकाश नही पड़ा। यह अवश्य देखने मे आया कि द्विवेदी जी ने सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की एक कोटि बना दी, देव आदि को अलग स्थान दिया और भारतेंदु हरिश्चद्र को इन सबसे पृथक् रखने की सम्मति दी, पर यह नहीं स्पष्ट हुआ कि भारतेंदु हरिश्चद्र को किस विशेष श्रेणी मे रखने की उन्होने सिफारिश की और किस आधार पर की, किंतु इससे भारतेंदु के प्रति द्विवेदी जी की अगाध श्रद्धा अवश्य प्रकट हुई। गद्य का नवीन उत्थान ही द्विवेदी जी का साध्य था। अत नव्य साहित्य का निर्माण करनेवाले प्रथम महापुरुष होने के कारण हरिश्चंद्र को द्विवेदी जी ने 'नवरत्न' के कवियो मे अधिक उच्च आसन का अधिकारी समझा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतेंदु हरिश्चंद्र खड़ी बोली-गद्य के यशस्वी विधायक थे और द्विवेदी जी भी उसी पथ के पथिक थे। सभव है, भारतेंदु के प्रति इनके श्रद्धा रखने का एक हेतु यह भी रहा हो।

हिंदी की साहित्य-समीक्षा का इतिहास विशेष रूप से मनोरंजक है। आरभ मे जब भक्तगण भजनानद मे लीन होकर काव्य-रचना कर रहे थे, तब जान पडता है कि भक्तवर नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' का सुमेरु तुलसीदास को बनाकर उनकी कविता के गौरव की उतनी व्यजना नही की थी जितनी भक्तो की परिपाटी की रक्षा की थी। अथवा की भी हो तो पता नहीं। लोक-प्रचलित कुछ पदो से जैसे—'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास' 'तुलसी गग दुऔ भये सुकविन के सरदार' 'और कवि गढिया, नददास जडिया'। यद्यपि जनता के साहित्य-विषयक सामान्य ज्ञान का पता लगता है, परतु यह नहीं जाना जाता कि ये तथ्य किस प्रकार प्राप्त हुए थे। उन्नीसवी शताब्दी के विलायत के साहित्यिक समाज मे डाक्टर जानसन का विनोदपूर्ण पाडित्य विशेष प्रख्यात है। एक बार जब वे अपनी साहित्यिक मडली मे बैठे थे, तब कोई महत्त्वाकाक्षी महानुभाव वहाँ अपने साहित्य-ज्ञान का कुछ परिचय देने पहुँचे। आपने बडे तपाक से कहा—महाशयगण, शेक्सपियर की कविता बहुत अच्छी है।' डाक्टर जानसन की मडली के लोग आगतुक की ओर आकृष्ट हुए। उन्होने समझा कि शायद ये शेक्सपियर के बारे मे कुछ और बाते कहेगे, परतु आगतुक महाशय इससे अधिक कुछ जानते ही न थे। उनकी तो सारी समीक्षा बस यही समाप्त होती थी। डाक्टर जानसन ने ताड लिया। बोले—"शायद इनकी खोपडी की जाँच करने की जरूरत है।" हमारे हिंदी-समाज का मस्तिष्क यद्यपि उक्त महानुभाव का सा विकृत नही था, परन्तु यहाँ भी साहित्य-समीक्षा की गाडी 'सूर-ससी' 'उडुगन' 'जडिया' और 'गढिया' आदि की दलदल मे ही अटक रही थी, आगे नही बढ रही थी।

जब संस्कृत की साहित्यिक रीति हिंदी मे आई, तब तो साहित्य-समीक्षा और भी विलक्षण हो गई। कवियो ने काव्य के गुणो और दोषो के उदाहरण अपनी ही कविता से दिखाने आरभ किए। यह न उनका अहकार था न उनकी विनयिता, यह एक प्रकार की अध-परपरा बन गई थी। श्रीपति नाम के एक कवि ने दोष दिखाने के लिये कविवर केशवदास की कविता के उदाहरण लिए जिससे काव्य-संबधी उनके विवेक का—किन्तु इससे भी अधिक उनकी स्वतंत्र बुद्धि का—थोडा बहुत परिचय मिला। परतु परपरा को ये भी न बदल सके। बिहारी की सतसई की उस काल मे अनेकानेक टीकाएँ की गई जिससे यह अनुमान हो सकता है कि उनकी कविता की ओर साहित्यिक समाज की अधिक रुचि थी, पर उन टीकाओ मे भी कुछ अधिक सूक्ष्म और व्यापक विश्लेषण नही मिलता। कविता के सग्रह ग्रन्थ—'हजारा' आदि—भी लोगो ने निकाले, पर उनमे भी विशेष अच्छी कविताओ का सकलन नहीं किया गया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पिछले कई सौ वर्षों से साहित्यालोचन का कोई गम्य मार्ग प्रशस्त नही किया गया, और यदि कुछ साहित्य-पारखियों मे वास्तविक जानकारी रह गई थी तो वह केवल बीज-रूप मे थी।

भारतेंदु हरिश्चद्र ने कविवर देव के सुदर पदो का संग्रह प्रकाशित कर अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया, परतु इतना प्रकाश पर्याप्त नही था। उन्होने कवियो के संमेलन की भी नए सिरे से प्रतिष्ठा की जिसमे

केवल लोकरुचि को आकर्षित करना ही अभीष्ट नहीं था, बल्कि पारस्परिक विचार-विनिमय से नई सूझ तथा साहित्य-विषयक स्वच्छ, सूक्ष्म दृष्टि के भी उदय होने की शुभाशसा थी। परंतु भारतेंदु के अस्त होते ही ये कवि-संमेलन अपना वह पूर्व लक्ष्य भूल गए, और बाद में तो उनका बहुत ही विकृत रूप हो गया। संमेलनों की साहित्य-समीक्षा केवल कवित्त सुनाने मे रह गई। रात रात भर यही देखा जाता था कि कौन किस तर्ज से, किस रस के, कितने कवित्त सुना सकता है। आगे चलकर इसने जलसे का रूप धारण किया और स्कूलों-कालेजों तक मे इसका सिक्का जमने लगा। पुरस्कार बँटने लगे, इनाम मिलने लगे। गलेबाजी दिखाने का शौक चढा। कविता-समेलन नही रहे। संगीत-समेलन और ताली-संमेलन बन गए। इन्हें परिहास-संमेलन भी समझ सकते है। लक्ष्य भ्रष्ट हो गया।

इस समय तक मेकाले साहब की डाली हुई अँगरेजी शिक्षा की नींव हमारे प्रातों मे भी पड़ चुकी थी। लोग अँगरेजी की समीक्षा-शैली से भी परिचित हो रहे थे। संस्कृत, प्राकृत और देश-भाषाओं के अभ्यासी कतिपय विदेशी विद्वान् और उनके हिंदुस्तानी शिष्य क्षेत्र मे आने लगे थे। सभा-सोसाइटियाँ यद्यपि पहले भी थीं, परतु एक-दम नवीन उत्साह और उत्तरदायित्व लेकर अँगरेजी-शिक्षा-प्राप्त तीन नवयुवकों ने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की जिसे समय ने देश की एक प्रमुख साहित्यिक संस्था सिद्ध कर दिया है। यद्यपि पत्र-पत्रिकाएँ भी हिंदी में निकल रही थीं, परन्तु नवीन रुचि के अनुसार नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभा की ओर से 'सरस्वती' नाम की मासिक पत्रिका का श्रीगणेश हुआ। ऐसे ही अवसर पर डाक्टर ग्रियर्सन महोदय ने, जो भारतीय भाषाओं के प्रकांड पंडित माने गए है, हिंदी-साहित्य के कतिपय कवियों की जीवनी और प्रशसात्मक समीक्षा अँगरेजी मे लिखी। उसमे तुलसीदास को उन्होने एशिया के उत्कृष्ट कवियो मे स्थान दिया जिससे हिंदी के अँगरेजी-दाँ विद्वानों मे एक अच्छी हलचल-सी मची और एक नवीन उत्साह-सा देख पड़ा। 'नवरत्न' नामक हिंदी-कवियों का समीक्षा-ग्र थ इसी उत्साह-काल मे प्रकट हुआ। उसमे केवल डाक्टर ग्रियर्सन के विचारो की ही पुष्टि नहीं की गई बल्कि-बहुत सी नवीन उद्भावनाएँ भी दिखाई पड़ी। परतु इसके कुछ पहले ही पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी संस्कृत, मराठी, गुजराती, बँगला, उर्दू और अँगरेजी की अपनी बहुज्ञता के साथ नवोदिता 'सरस्वती' मे बुला लिए गए थे। 'नवरत्न' की परीक्षा करते हुए इन्होने साहित्य और कविता-सबधी अपने जो विचार सरस्वती मे प्रकट किए, उनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है। अतः यहाँ उन्हे दोहराने की आवश्यकता नही है।

द्विवेदी जी ने सस्कृत अथवा अँगरेजी आदि के साहित्यिक सिद्धांतो का अनुसरण करके अपने विचार नही प्रकट किए, यह कहना ही मानो साहित्य-सरणी मे उनकी गति जान लेना है। वे हिंदी का साहित्य-शास्त्र लिखने नही बैठे थे। स्टील, एडीसन, जानसन, लैम्ब, हेजलिट या हमारे देश के रवींद्रनाथ कोई भी नहीं बैठे। यह भी नहीं कह सकते कि ये लोग शास्त्रीय समीक्षा की प्राचीन प्रणाली से परिचित नहीं थे। इन्होने उसका अभ्यास नहीं किया। यहाँ हमारा अभिप्राय यह भी नहीं कि हम द्विवेदी जी की समीक्षा से स्टील, जानसन, रवींद्र आदि की समीक्षा की तुलना करें। परंतु इतनी समता तो सबमे है कि अपने समय की साहित्य-समीक्षा पर अपनी प्रकृति की मुद्रा ये सभी अकित कर गए है। भावना की वह गहन तन्मयता, जो रवींद्रनाथ को कविता के निगूढ़ रहस्यमय अतरपट का दर्शन करा देती है, द्विवेदी जी मे नहीं मिलती, न इन्हे कल्पना की वह आकाशगामिनी गति ही मिली है जो सदा रवि बाबू के साथ रहती है। परंतु इन प्रदेशों के निस्संपन्न, कर्मठ ब्राह्मण की भाँति द्विवेदी जी का शुष्क, सात्त्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है जिसमे न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि; केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त भावो का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन है। शुष्कता मे व्यग्य है, सात्त्विकता मे विनोद है। द्विवेदी जी मे ये दोनों ही है। स्वभाव की रुखाई, कपास की भाँति नीरस होती हुई भी, गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिदी-साहित्य के क्षेत्र मे कपास की ही खेती की 'नेरस विशद गुणमय फल जासू।'

फलतः लोगो मे साहित्य विषय की जानकारी अच्छी बढी और द्विवेदी जी के विचारों का अनुकरण भी होने लगा। प्राचीन हिदी से भी अधिक संस्कृत की ओर द्विवेदी जी की रुचि थी। जनता मे भी 'सरस्वती' द्वारा

उस रुचि का प्रवेश हुआ। कविता की अतरग शोभा की अपेक्षा भाव-विन्यास का चमत्कार 'सरस्वती' के पाठकों को अधिक भेंट किया जाता था। तदनुसार हिंदी के उस काल के कवि भी चमत्कार की खोज करने लगे और समीक्षक भी उस पर प्रसन्नता प्रकट करने लगे। द्विवेदी-काल की इस अभिरुचि का पूर्ण परिपाक आगे चल कर बाबू मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' महाकाव्य में हुआ जिसमें कथनोपकथन का चमत्कार—जिसे सभा-चातुरी कह सकते है—विशेष मात्रा मे रखा गया। समीक्षा मे उसका परिपाक लमगोडा जी की तुलसीदास-समीक्षा मे समझना चाहिए जिसमें एक एक पक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया गया, पर काव्य की संघटित शोभा नहीं देख पडी। द्विवेदी-युग की मनोवृत्ति के वृक्ष पर ये जो दो फूल फूले है, इनकी श्री-शोभा स्वय द्विवेदी जी को मुग्ध कर चुकी है। इनके अतिरिक्त साहित्य के प्राय प्रत्येक विभाग मे कतिपय कृतविद्य लेखक और कवि कार्य कर रहे है जिनकी कृतियाँ अब भी द्विवेदी जी के आशीर्वचन से अलकृत हो रही है।

द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक है जो समय पाकर प्रेमचदजी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला फला। अपनी विशेषताओं और त्रुटियों से समन्वित इस आदर्शवाद की महिमा हमे स्वीकार करनी चाहिए। मनुष्य मे सत् के प्रति जो पक्षपात रहता है, वह जब उसकी साहित्य-रचना का नियन्त्रण करने लगता है, तब साहित्य मे आदर्शवाद का युग आता है। कभी कभी समाज की कुछ विशेष रीतियों का समर्थन करनेवाला यह आदर्शवाद उक्त समाज की बहुजनमान्यता का ही एक-मात्र आश्रय लेकर बुद्धिजन्य संस्कार का त्याग कर देता है और केवल उन प्रथाओं के प्रचार की पद्धति पकड लेता है। कभी यह आदर्शवाद वीर प्रजा की प्रकृति पर प्रतिष्ठित होकर महत् चरित्रों का आविर्भाव करता है। आदर्शवादी कभी—जैसे रामचरितमानस मे—प्रति-स्पर्द्धी पात्रों के काले पट पर ईप्सित नायक का उज्ज्वल चित्र अकित करते है, और कभी—जैसे कतिपय आधुनिक पाश्चात्य उपन्यासों मे—स्वय नायक के ही उत्तरोत्तर विकास मे अपना आदर्शवाद निहित रखते है। इसकी कोई निश्चित प्रणाली नहीं है, तथापि आशामय वातावरण का आलोक, उत्साहभरे उदात्त कार्य आदर्शवादी कृतियों मे देखे और पहचाने जा सकते है। द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श, यदि सक्षेप मे कहा जाय तो, समाज मे एक सात्त्विक ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की प्रगति का साथ देना, शृगार के विलास-वैभव का निषेध ये सब द्विवेदी युग के आदर्श है। इन्ही आदर्शों के अनुरूप उस साहित्य का निर्माण हुआ जो अपनी पूर्णता का अवलव लेकर चाहे चिरकाल तक स्थिर न रहे, परतु अपनी सत्य वृत्ति के कारण चिरस्मरणीय अवश्य होगा। वह आदर्श धन्य है जो हमारी व्यापक भावना का कपाट खोलकर सरस, शीतल समीर का सचार करता है और हमारे मस्तिष्क की सत्यान्वेषिणी शक्ति का समाधान करके आत्मतृप्ति की व्यवस्था करता है। परतु जो आदर्श समय और समाज के अधकार मे आलोक की दीपशिखा दिखाकर प्रकाश की व्यवस्था करता है, वह भी अपना अलग महत्त्व रखता है। द्विवेदी जी का ऐसा ही आदर्श था। मुक्ति ज्ञान से ही होती है, किंतु शास्त्रों मे कर्म और उपासना की भी विधियाँ विहित है। द्विवेदी-युग को साहित्य के कर्म-योग का युग कहना चाहिए।

साहित्य और कविता से भी अधिक द्विवेदी जी ने भाषा, व्याकरण और पद-प्रयोगो पर विचार किया। 'प्राचीन कवियों की दोषोद्भावना' निबंध मे उन्होंने स्पष्ट-कथन की आवश्यक्ता दिखाते हुए ईश्वरचद्र विद्यासागर, अरविंद घोष, रवींद्रनाथ ठाकुर, चिपलूणकर आदि के जो प्रमाण दिए, हिंदी मे उनका भरपूर निर्वाह करनेवाले उस काल में स्वयं द्विवेदी जी ही थे। 'नवरत्न' की आलोचना का अधिकाश भाषा-संस्कार के विषय का है। उस समय द्विवेदी जी स्पष्ट-कथन के बदले अप्रिय-कथन भी कह देते थे और व्यग्य भी उन्हे अप्रिय नही थे। उनके संघटन मे व्यंग्य का एक विशेष स्थान हो गया था। कई बार उनसे और हिंदी के अन्य विद्वानों से तर्क-वितर्क भी हुआ। यहाँ उन प्रसगो का कोई प्रयोजन नही। उन अस्थायी अप्रिय घटनाओ से हमारी भाषा की वैसे ही एक स्थायी सुष्ठु विशेषता बन गई, जैसे कीचड से कमल खिलता है।

'हिंदी-नवरत्न' तो एक उदाहरणमात्र है। लाला सीताराम-कृत कालिदास के हिंदी पद्यानुवादो पर द्विवेदी जी की और भी तीव्र दृष्टि पडी थी। 'भारतमित्र' के बाबू बालमुकुद गुप्त, पडित गोविंद नारायण मिश्र, और द्विवेदी जी का भाषा-संबधी विवाद कई कोटियों तक चला। फिर द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' मे 'पुस्तक-

परिचय' का एक स्थायी स्तंभ ही बना लिया था और प्रति मास नवीन प्रकाशित पुस्तकों के साधारण गुणदोष-विवेचन के साथ प्रमुख रूप से भाषा की अशुद्धियाँ दिखाने लगे थे। शब्दों के व्यवहार के संबंध में द्विवेदी जी का मध्यम मार्ग मानना चाहिए। जैसा कि 'अनस्थिरता' वाले विवाद से प्रकट भी हुआ, द्विवेदी जी हिंदी की एक नई चलन अवश्य चाहते थे, यद्यपि उस चलन में भी एक व्यवस्था थी। संस्कृत से हिंदी का साधारण व्यावहारिक संबंध भी उन्हें इष्ट था। संस्कृत के 'मार्दव' के स्थान पर वे हिंदी 'मृदुता' के पक्षपाती थे, परंतु यदि उनसे 'मृदुत्व' और 'मृदुपन' आदि के व्यवहार की स्वच्छंदता माँगी जाती तो वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ' 'श्रेष्टतर' 'श्रेष्ठतम' और 'सर्वश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया। 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकवती नासा' उन्हें नहीं रुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिंदी में अपना लिया गया हो, द्विवेदी जी भी अपना लेते हैं, परंतु इसके आगे वे प्राय नहीं बढ़ते। भाषा के संस्कार की रक्षा वे चाहते थे, अतः ग्रामीण एकदेशीय शब्दों का प्रयोग भरसक नहीं करते थे। तथापि शुद्ध संस्कृत के वाक्य-विन्यास के साथ साथ सलीस उर्दू की मुहावरेबाजी दिखा देने का भी उन्हें पहले शौक था। यह उनके प्रारंभ और मध्य काल की गद्य-शैली की बात है। पद्य में और अपने प्रौढ-काल के गद्य में द्विवेदी जी की वही टकसाली हिंदी—न संस्कृत और न उर्दू—की पद-रचना चलती रही। वही भाषा जो इन दिनों हिंदी के पठित समाज की—काशी, प्रयाग, कानपुर, लखनऊ आदि में बोल-चाल की—भाषा बनी हुई है और जिसमें सैकड़ों साहित्यिक पुस्तकें प्रति वर्ष प्रकाशित हो रही हैं।

अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करना ही यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुंदर प्रयोग विशेष महत्त्व रखने लगे। शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है, व्याकरण की व्यवस्था साहित्य की पहली सीढी है। सामयिक प्रयोग से हमारा आशय प्रसंगानुसार उस शब्दचयन-चातुरी से है जो काव्य के उद्यान को प्रकृति की सुषमा प्रदान करती है। उसमें कहीं अस्वाभाविकता बोध नहीं होती। सार्थक पदविन्यास केवल निघंटु का विषय नहीं है, उसमें हमारी वह कल्पनाशक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिमा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है। पदों का सुंदर प्रयोग वह है जो संगीत (उच्चारण), व्याकरण, कोष आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहायता से संघटित हो, जिसके ध्वनन-मात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रकट हो और जो वाक्य-विन्यास का प्रकृतिवत् अभिन्न अंग बन कर वहीं निवास करने लगे। अभी तो हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में उर्दू-मिश्रित अथवा संस्कृत-मिश्रित भाषाभेद को ही शैली समझ लेने की भ्रांत धारणा फैली हुई है, परंतु यदि साहित्यिक शैलियों का कुछ गंभीर अध्ययन आरंभ होगा तो द्विवेदी जी की शैली के व्यक्तित्व और उसके स्थायित्व के प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदी जी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व, अनलंकृत और रूक्ष है। उनकी भाषा में कोई संगीत नहीं, केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण-कला से उधार लिया गया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदी जी जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे कभी कभी खाली चली जाती हैं—असर नहीं करतीं, परंतु वे फिर आती हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूति है। वाक्य पर वाक्य आते और विचारों को पुष्ट करते हैं। जैसे इस प्रदेश की छोटी 'लखौरी' ईंटें दृढता में नामी हैं, वैसे ही द्विवेदी जी के छोटे छोटे वाक्य भी!

द्विवेदी जी की साहित्य-शैली का भविष्य अब तक यथोचित प्रकाश में नहीं आया है। हिंदी-प्रदेश की जनता ने उसे अपने समाचारपत्रों की भाषा में अच्छी मात्रा में अपना लिया है और हिंदी के प्लेटफार्म पर भी उसकी तूती बोलने लगी है। इसका अर्थ यही है कि हिंदी-जनता के श्रवणों को यह अच्छी लगी है और उसने समूह रूप से उसका सत्कार किया है। यह सामूहिक सत्कार शैली के भविष्य के लिए बहुत बड़े द्वार का उद्घाटन कर देता है और उसकी संभावनाएँ बहुत बढ जाती हैं। अभी द्विवेदी जी की भाषाशैली को गुंफित विचार-राशि के वहन करने का यथेष्ट अवसर नहीं प्राप्त हुआ है—अभी विचारों का तार हिंदी में बँधा नहीं है। परंतु इस युग के तीक्ष्ण, संश्लिष्ट विचारों का प्रकाशन—चाहे वह समाचारपत्रों-द्वारा हो, चाहे सामयिक पुस्तकों-द्वारा—अब अधिक काल तक समय की बाट नहीं जोह सकता। जब कभी वह अवसर आवेगा, (हम समझते हैं कि शीघ्र ही आवेगा), तब द्विवेदी जी की भाषा का चमत्कार देखने को मिलेगा। वह सरल रूक्ष अभिव्यक्ति, जिसके गर्भ से गहन

विचारों की परंपरा फूट निकलेगी, हिंदी के क्षेत्र में एक दर्शनीय वस्तु होगी। व्यावहारिक, राजनीतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक विवेचन और देशव्यापी विचार-विनिमय जब खडी बोली का आधार लेकर चलने लगेंगे, तब द्विवेदी जी की भाषा को भली भांति फूलने-फलने का मौका मिलेगा। कविता और अलकृत गद्य तब भी रहेंगे, मयूरपख की लचकीली लेखनी तब भी उपयोग मे आवेगी, बहुत-सी नवीन शैलियो से हमारा अनुरजन तब भी होगा। किंतु देश की जो व्यापक सामाजिक भाषा हमारे सामूहिक जीवन में सर्वत्र अभिज्ञता की लहर उत्पन्न करेगी, जो हमारे व्यवस्थापको, व्यापारियो और वोट देनेवालो की, जो हमारी नित्य प्रति की दुनियादारी की भाषा होगी, वह पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाषा का ही विकसित रूप होगी, इसमे संदेह करने की ज्यादा जगह नहीं है।

द्विवेदी जी की भाषाशैली बहुत कुछ उनकी परिस्थिति की उपज है। जब वे 'सरस्वती' में संपादकीय कार्य करने आए, तब देश में एक ऐसी विचित्र बहुज्ञता का बाजार गर्म हो रहा था जो इसके पहले देखी-सुनी नहीं गई थी। स्कूलों के विद्यार्थी भी इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित, अँगरेजी, उर्दू, सस्कृत, फारसी आदि की अनिवार्य शिक्षा से शिक्षित होकर निकल रहे थे, और कालेजो में तो इतने शास्त्र पढाए जा रहे थे जितने स्वय शुकदेव जी ने भी न पढे होगे। यद्यपि यह बहुत ही छिछली शिक्षा थी, परतु इससे जिस एकमात्र उत्कृष्ट वृत्ति का विकास हुआ, वह थी परिचय की वृत्ति। उस परिचय में पाडित्य न हो, परतु एक अभिज्ञता, जो कभी व्यर्थ नहीं जाती, सचित की गई थी। उस समय यह परिचय की आकांक्षा समाज मे सर्वत्र देखी जाती थी, अत उसकी तृप्ति का भी विधान होने लगा। जो पत्र-पत्रिकाएँ अँगरेजी में निकली, उनमें यद्यपि आवश्यक विषय-वैचित्र्य था, किंतु जनता तक उनकी पहुँच नहीं थी। देशी भाषाओं की पत्रिकाएँ भी अब ऐसी निकली जिनकी सबसे स्पष्ट विशेषता बहुविध-विषय-विन्यास ही हुई। हिंदी में अब तक कितने ही वृत्तपत्र निकल चुके थे, परन्तु उनमे प्राय किसी एक विषय की ही प्रधानता रहती थी और उनकी भाषा सपादक की मनोभिलाषा की उपज होती थी। भारतेंदु-काल के हिंदी पत्र ऐसे ही थे जिनमें सपादक अपनी पसद के विषयो पर अपनी पसंद की भाषा में ऐसे लेख लिखते थे जो एक बँधे हुए घेरे तक ही पहुँच पाते थे। अब वह समय आ गया है जब सपादक जन-समाज का स्वेच्छाशिक्षक बनकर ही काम नहीं कर सकता। उसे अपना व्याख्यान आरभ करने के पहले जनता की रुचि भी समझ लेनी पड़ेगी। अब सपादक महोदय जो भाषा लिखेंगे, उस पर हजारों पाठकों की दृष्टि पडेगी। जिस विषय पर वे विचार करेंगे, उस पर और लोग भी विचार करेंगे। जब तक एक ही विषय की प्रधानता रखकर पत्र निकलते रहे, तब तक भाषा-अलकरण की बहुत कुछ सुविधा थी। पडित बदरीनारायण चौधरी जैसे रसिक व्यक्तियों को छोडकर, जो राजनीतिक टिप्पणियो में भी साहित्यिक छटा छहराने की चाह रखते थे, जिन्हे उन विषयो की वास्तविकता से मतलब था, वे ऐसी उधेडबुन पसद नहीं कर सकते थे। व्यावहारिक दृष्टि से भी सपादक के लिए यह अशक्य हो चला था कि वह विभिन्न विषयो का विवेचन करता हुआ उनमे कविता की कलाबाजी दिखाने की चेष्टा भी किया करे।

'सरस्वती' आरभ से ही विविध विषयों की पत्रिका बनकर निकली और निकलते ही वह हिंदी का हृदय-हार बन गई। उसका कलेवर उज्ज्वल-वसन और निरलकार था, वैसा ही उसका अतस् भी स्वच्छ, सरल और निरलस था। उसके निश्छल विचार थे, स्पष्ट, स्फुट भाषा थी। उसमें विद्या थी, किंतु विद्या का प्रदर्शन न था। कठिन परिश्रम था, उपालभ न था। सघटन था, विज्ञापन न था। ऐसी वह हिन्दी-जनता की 'सरस्वती' शीघ्र ही हमारी श्रेष्ठ पत्रिका बन गई। द्विवेदी जी जब उसके सपादक हुए, तब उन्होने समाज की बहुमुखी आकांक्षाओं के अनुरूप विविध विषयो के विशिष्ट लेखक तैयार किए। उन्हे हिंदी में लिखने की प्रेरणा की। उनकी हिंदी सुधार-सँवार कर प्रकाशित की। आज उनमें से कतिपय लेखक इन प्रातो के प्रसिद्ध पडित, अध्यापक और विचारकर्ता माने जाते हैं। उनमे से कुछ ने तो द्विवेदीजी के सरस्वती छोडने पर हिंदी में लिखना भी बद कर दिया! ऐसा उनका पारस्परिक संबध था! बहुत से लेखक 'सरस्वती' से आकृष्ट होकर स्वय ही उसमें आए। इन सबका इतना नियमित सघटन हो गया कि 'सरस्वती' को दूसरे लेखकों की आवश्यकता ही

न रही। जो 'सरस्वती' के लेखक थे, वे दूसरी पत्रिकाओं में लिखने की चाह नहीं रखते थे—प्राय: नहीं ही लिखते थे। दूसरे लेखकों के लेख बहुधा अस्वीकृत होकर लौट भी जाते थे। लेखकों की संख्या इतनी बढ़ रही थी कि सब लेख छप भी नहीं सकते थे। द्विवेदी जी के निजी सिद्धांत भी अनेक लेखों के छपने में बाधक हुए होंगे।

द्विवेदी जी सिद्धांतवादी संपादक थे। यद्यपि लोकरुचि और लोकमत का उन्हें ध्यान था, परंतु अपने सिद्धांतों का अधिक ध्यान था। वे सरस्वती के लेखकों का सुचारु संघटन कर चुके थे और उनकी सहायता से अपने मनोनुकूल विषयों की विवृत्ति करते रहते थे। संस्कृत-साहित्य, प्राचीन अनुसंधान, इतिहास, जीवनचरित, यात्रा-विवरण, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, हिंदी का प्रचार आदि विषयों से 'सरस्वती' का प्राय प्रत्येक अंक विभूषित रहता था। प्रचलित साहित्य और सामयिक पुस्तकों पर भी टिप्पणियाँ रहती थीं। यदि हम इस कसौटी पर सरस्वती की समीक्षा करें कि उसके द्वारा अँगरेजी अथवा दूसरी प्रांतीय भाषाएँ न जाननेवाले व्यक्ति कहाँ तक अपने देशवासी भिन्न-भाषा-भाषियों की शिक्षा-दीक्षा की समता कर सकते थे और कहाँ तक संसार की गति से परिचित हो सकते थे—यदि हम यह पता लगा लें कि जो पाठक सरस्वती की ही सहायता से अपनी विद्याबुद्धि और मतिगति निर्माण करते थे, वे देश की पठित जनता के बीच किस रूप में दिखाई देते थे—तो हम उस पत्रिका का बहुत कुछ यथार्थ मूल्य समझ लें। हम बहुत प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि 'सरस्वती' की सामग्री इस विचार से यथेष्ट मात्रा में उन्नत थी और उसके पाठकों को (संभवत. कविता को छोड़कर) किसी विषय में संकुचित होने का कुछ भी अवसर नहीं था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सरस्वती अपने समय की हिंदी-जनता की विद्याबुद्धि की मापरेखा थी और वह अपने देश की अन्य भाषाओं की पत्रिकाओं से हीन नहीं थी। परिचयात्मक सामग्री देने में तो द्विवेदी जी की कुशलता अद्वितीय थी। यह उनके उत्कट अध्ययन और चयन-शक्ति का द्योतन करता है कि वे प्रति मास मराठी, गुजराती, उर्दू, बँगला और अँगरेजी पत्रों की उल्लेखनीय टिप्पणियाँ सरस्वती में उद्धृत करते थे।

सरस्वती विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका अधिक थी, परंतु द्विवेदी जी ने उसे व्यक्तिगत प्रचार (प्रोपेगंडा) का साधन नहीं बनाया। अवश्य वह उनके व्यक्तिगत विचारों का प्रचार भी करती रही, अवश्य उसने अपनी एक परिधि भी बना ली जिसके अंदर प्रतिस्पर्द्धी लेखकों का प्रवेश-निषेध था। अपने स्थायी लेखकों के विषय में कोई अन्यथा बात अपनी पत्रिका में छापना द्विवेदी जी को इष्ट न था। इन कारणों से हिंदी में कतिपय अन्य पत्रिकाएँ भी निकाली गई, परंतु इनमें से किसी को सरस्वती का सा स्थायित्व न मिला। वह गुण जो सरस्वती की स्थायी सफलता का मुख्य हेतु बना, द्विवेदी जी का विलक्षण अध्यवसाय था। वे कठिन परिश्रम करके प्रत्येक लेखक की भाषा को अपनी शैली के साँचे में ढालते थे और इस क्रिया में लेखों का कायापलट कर देते थे। 'सरस्वती' की भाषा में जो अधिकांश एकरूपता है, वह इसी क्रिया का परिणाम है। 'सरस्वती' में रहते हुए नवयुवक लेखकों को भी विमुख न करके उनकी कृतियाँ सुधार कर छापने में द्विवेदी जी को कई कई महीने लग जाते थे। पत्रिका को शुद्ध रूप में ठीक समय पर निकाल देना वे अपना संपादकीय कर्तव्य समझते थे, और यह संपादकीय कर्तव्य कर चुकने के बाद वे प्रति मास उसकी ग्राहक-संख्या और आय-व्यय का हिसाब भी जानते रहते थे।

ऐसे उद्योगी और कार्यकुशल व्यक्ति का उन्नति के उच्च आसन पर पहुँच जाना आश्चर्य की बात नहीं है। किसी को यह देखकर विस्मय नहीं हुआ कि द्विवेदी जी ने अनेक वर्षों तक सरस्वती की सेवा करते हुए हिंदी के बहुजन समाज पर साहित्यिक अनुशासन किया। बहुत दिनों से वे हिंदी के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। हिंदी-साहित्य-संमेलन के कानपुर के अधिवेशन में वे स्वागतकारिणी के प्रधान थे। पिछले कई वर्षों से संमेलन उन्हें अपने वार्षिक अधिवेशन का सभापति बनाकर गौरव प्राप्त करना चाहता है, परंतु अस्वस्थता आदि कारणों से द्विवेदी जी वह पद अस्वीकार करते आ रहे हैं। अब तो उक्त पद से द्विवेदी जी की उतनी शोभा नहीं, जितनी द्विवेदी जी से उक्त पद की शोभा हो सकती है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को द्विवेदी जी का बहुमूल्य

सहयोग भाँति भाँति से प्राप्त हुआ है जिसके लिए सभा उनकी कृतज्ञ रहेगी। सभा को अपने विद्यावैभव और कार्य की सहायता देने के अतिरिक्त उन्होंने उसे अपनी कठिन कमाई की अमूल्य संपत्ति, सहस्रों पुस्तकों और 'द्विवेदी पदक' की निधि के रूप मे, प्रदान की है। परंतु इन सबसे कहीं अधिक साहित्यिक महत्त्व की वस्तु, जिसके लिए सभा उनकी चिरऋणी रहेगी, उन लेखों की मूल प्रतियाँ है जो सरस्वती मे छपे थे और जिनमे द्विवेदी जी के सुधार के सुवर्णाक्षर अनोखी दीप्ति से चमक रहे है। ये वे लेख है जो हिंदी की संपादन-कला और भाषा-शैली के विकास के इतिहास मे स्मरणीय रहेंगे। हिंदी के स्थायी कला-भवन मे द्विवेदी-युग की यह धरोहर आदर्श रहेगी और परम आदर-पूर्वक देखी जायगी। काशी-विश्वविद्यालय को भी द्विवेदी जी ने कई सहस्र रुपये दिए है जो उनके समान श्रमजीवी पुरुष के आजीवन अर्जित धन का बृहदंश है। द्विवेदी जी के ये दान—वृद्धावस्था की लकडी का सहारा भी छोड देना—आत्मोत्सर्ग की सीढियाँ है जिन्हे भविष्य की संतान को स्मरण रखना चाहिए।

हमारे साहित्य मे 'द्विवेदी-युग' अब समाप्त हो रहा है, यद्यपि उनके नाम का जादू अब भी काम कर रहा है और उनके अनुयायी अब भी क्रियाशील है। परंतु संप्रति एक नवीन लहर उठ रही है जिसके सामने प्राचीन प्रगति स्वभावत अपना आकर्षण खोने लगी है। वह सरल, शुभ आदर्श और वह प्रांजल व्यवस्था आज एक व्यापक अविश्वास और शक्तिपूर्ण अराजकता मे विलीन सी हो रही है। साहित्य का कोई एक मार्ग नहीं रह गया—चतुर्दिक् आक्रांति की सूचना मिल रही है। आधुनिक मस्तिष्क किसी एक दिशा मे काम करने को तैयार नहीं, सब दिशाएँ छान डालने का उद्योग करता है। कोई कह नहीं सकता कि विचारों के क्षेत्र मे विस्तार हो रहा है या विशृंखलता बढ रही है। बहुत से दुर्बलमस्तिष्क, क्षीणबुद्धि व्यक्तियो के बीच थोडे से सच्चे विचारवान् साहित्य-सेवी भी नवीन उत्थान का साथ दे रहे है, परंतु अभी इसकी गतिविधि निरूपित नहीं हुई है। प्रतिभा का एक नवीन उन्मेष देख पड़ता है, परंतु नवीन साहित्यिक आकांक्षा अब तक प्रकट नहीं हुई है। इन सबका नियंत्रण करने तथा इन्हें ठीक मार्ग पर ले आने के लिए अब हिंदी-संसार को एक ऐसे साहित्यिक नियामक की आवश्यकता हो रही है जो नवीन और अनुभवी साहित्य-सेवियों को उच्छृङ्खल होने से रोके और साहित्य-रथ को ठीक मार्ग पर चलाये।

ऐसे ही अवसर पर द्विवेदी-अभिनंदन ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है। यह उस महापुरुष के स्मारक का कार्य करेगा और उसके प्रति इस युग का संमान-भाव प्रकट करेगा। यद्यपि साहित्य के स्थायी विचार-भवन मे द्विवेदी जी की कीर्ति को जरामरण का भय नहीं, किंतु लोक मे उस कीर्ति का प्रचार-प्रसार भी साहित्यिक संस्कार का कारण होगा। हिंदी के इस नवीन संधि-काल मे, नवयुग के उन्नायको के लिये, इस संस्कार की आवश्यकता और भी अधिक होगी, अत इस ग्रंथ की दूनी उपयोगिता सिद्ध होगी, यही हमारी विनीत आशा और आकांक्षा है।

श्यामसुंदरदास
कृष्णदास

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

श्रद्धांजलि

चित्र-सूची

विषय पृष्ठ

पूजन

पद-पूजन का भी क्या उपाय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय !

तू अमल-धवल है, मैं श्यामल,
ऊँचे पर हैं तेरे पद-तल,
यह हूँ मैं नीचे का तृण-दल।
पहुँचूँ उन तक किस भाँति हाय !
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय !

हों शत-शत झंझावात प्रबल,
फिर भी स्वभावतः तू अविचल।
मैं तनिक-तनिक में चिर-चंचल,
मेटूँ कैसे यह अंतराय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय !

अविरत तेरा करुणा-निर्झर
अगणित धाराओं से झरकर,
जीवित रखता है जीवन भर
मेरा यह जीवन जड़ितप्राय,
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय!

है जहाँ अगम्य दिवाकर-कर,
तेरे गह्वर भी आकर वर
हैं ऊँचों से भी ऊँचे पर,
मन उन तक भी किस भाँति जाय?
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय!

सियारामशरण गुप्त

रस-मीमांसा

डाक्टर भगवान्दास

'रसो वै सः'

'साहित्य' और 'सौहित्य'

'साहित्य' शब्द हिंदी मे प्रसिद्ध है। सस्कृत मे एक शब्द और इसी आकार का है—जो हिंदी मे इतना प्रसिद्ध नही है, न सस्कृत मे ही—'सौहित्य'। दोनो का प्रधान लक्ष्य 'रस' है। 'दधाति इति हितम्'। 'धाता' 'विधाता' मे जो 'धा' धातु है वही 'हित' मे है। जगद्धाता, जगद्धात्री, जगत् के बनानेवाले देव-देवी। जो विशेष प्रकार से, वि-धियों—नियमो—से बनावे वह 'वि-धाता'। जो बनाए रहे वह 'हित'। 'हितेन सह सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्'। 'सु-शोभन हित सुहितम्, तस्य भावः सौहित्यम्'। तथा, 'सह एव सहितम्, तस्य भाव साहित्यम्'। 'साहित्य' शब्द का अब रूढ अर्थ है—ऐसा वाक्यसमूह—ऐसा ग्रंथ, जिसको मनुष्य दूसरो के सहित, गोष्ठी मे अथवा अकेला ही, सुने, पढे, तो उसको 'रस' आवे, स्वाद मिले, आनंद हो और तृप्ति तथा आप्यायन भी हो।

प्रायः 'साहित्य' का अर्थ काव्यात्मक साहित्य समझा जाता है, पर अब धीरे-धीरे इस अर्थ मे विस्तार हो रहा है। सब प्रकार के ग्रथ-समूह को साहित्य कहने लगे हैं। यथा—सस्कृत-साहित्य, अरबी-साहित्य, फारसी-साहित्य, अँगरेजी-साहित्य, फरासीसी साहित्य, जर्मन वा चीनी वा जापानी साहित्य, आयुर्वेद- (विषयक) साहित्य, वैज्ञानिक साहित्य, ऐतिहासिक साहित्य, गणित-साहित्य, वैदिक साहित्य, लौकिक साहित्य आदि। अँगरेजी भाषा मे 'लिटरेचर' शब्द का प्रयोग भी इसी प्रकार से होने लगा है, यद्यपि पहले प्रायः काव्यात्मक साहित्य के अर्थ मे ही उसका भी प्रयोग होता था। तो भी बिना विशेषण के साहित्य शब्द जब कहा जाता है तब प्रायः उसका अर्थ काव्य-साहित्य ही समझा जाता है।

और यह निर्विवाद है कि 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्'—रसीले वाक्य को ही काव्य कहते हैं; काव्य का आत्मा 'रस' है।

'सौहित्य' शब्द का अर्थ है उत्तम रसमय भोजन और तज्जनित तृप्ति। मनु जी का आदेश है, 'नातिसौहित्यमाचरेत्'—उत्तम भोजन भी अति मात्रा मे न करे, अति तृप्त न हो जाय; भोजन परिमित ही अच्छा। स्यात् यह भी आदेश मनु जी ने किया होता कि 'नातिसाहित्यमाचरेत्'—रसभरी कविता का भी अति सेवन न करे, तो अनुचित न होता।

जैसे अति सौहित्य से, विशेषकर तीव्र रसवाले चटनी-अचार और खटाई-मिठाई के व्यजनो के अति भोजन से, शरीर मे व्याधि उत्पन्न होती है, वैसे ही अति साहित्य से, अति मात्र रसों और अलकारो की ही चर्चा से, चित्त में आधि, विकार, शैथिल्य, दौर्बल्य पैदा होते हैं। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। अस्तु। प्रकृत अभिप्राय यह है कि जैसे जिह्वा का रस 'सौहित्य' मे प्रधान है, वैसे ही मन का रस 'साहित्य' मे।

रस

निगमकल्पतरोर्गलित फलं शुकमुखादमृतद्रवसयुतम्।
पिबत भागवत रसमालय मुहुरहो रसिका भवि भावुकाः॥ (भागवत)
[वेदकल्पतरु पै उपज्यौ फल, सुकमुख छूइ गिरायौ।
बह्यौ सुधा-'रस', पियौ 'रसिक' सब जब लगि लय नहि आयौ॥]

वय तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञाना स्वादु स्वादु पदे पदे॥ (भागवत)
[चरित पुनीत सुनत हरि के नित नित चित तृप्ति न जोहै।
पद पद मे जाके निसरत 'रस' रसिकन के मन मोहै॥]

कोई-कोई, गिने-चुने, ग्रथ ऐसे महाभाग हैं जिनमे 'रस' भी भरा है और स्वास्थ्यवर्द्धक आधिशोधक तोषक-पोषक ज्ञान भी।

नैषाऽऽतिदु.सहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि वाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजाच्च्युत हरिकथाऽऽमृतम्॥ (भागवत)
[सुक सौ कहत परीच्छित राजा, अनसन वरत धरे,
तन झुरात दुःसह पियास मोहि जानिहु नाहि परै।
जब लौं वदन-कमल ते तुम्हरे हरि-गुन-'रस' निसरै,
तौ न अमृत कौ मन मेरो अति लोलुप पान करै।
स्थूल देह की सुधि बिसारि सब सूच्छम प्रान मरै।]

'रस' क्या है? 'अस्मिता' का अनुभव, आस्वादन, रसन ही 'रस' है। इसका प्रतिपादन आगे किया जायगा।

'साहित्य' शब्द का साधारण अर्थ ऊपर कहा। विशेष अर्थ यह हो रहा है कि जैसे सब प्रकार की गिनतियों का शास्त्र 'गणित,' ग्रह-नक्षत्रादि की गतियो का 'ज्योतिष', रोगो की चिकित्सा के उपायो का

'आयुर्वेद', वैसे ही सर्व प्रकार की कविताओं का शास्त्र 'साहित्य-शास्त्र' है। जो पदार्थों का राशियों में, जातियों में सग्रह और सन्निवेश करके उनके कार्य-कारण-सबध को अनुगमों और नियमों के रूप मे बतावे, सिखावे, शासन शसन करे, और जिसके ज्ञान से मनुष्य के ऐहिक अथवा पारलौकिक अथवा उभय प्रकार के व्यवहार मे सहायता मिले, वह 'शास्त्र'। जिस शास्त्र से काव्य का तत्त्व, रहस्य, मर्म, मूल रूप तथा उसके अवातर अग, सब परस्पर व्यूढ रूप से जान पड़े, और जिससे कविता के गुण-दोष के विवेक की शक्ति जागे तथा अच्छी कविता करने मे सहायता मिले, वह 'साहित्य-शास्त्र'।

सस्कृत मे भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' इस विषय का आकर-ग्रथ और आदि-ग्रथ भी माना जाता है। बहुत और ग्रथ छोटे-मोटे लिखे गए हैं। आजकल पढने-पढाने मे दडी के 'काव्यादर्श,' आनद-वर्द्धन के 'ध्वन्यालोक,' मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' का अधिक उपयोग देख पडता है। इनके आधार पर हिंदी मे भी अच्छे-अच्छे ग्रथ बने हैं और बनते जाते हैं।

कविता का प्राण 'रस' है, यह सबने माना है। शब्द और अर्थ उसके शरीर हैं। शब्दालकार, अर्थालकार उसके विशेष अलकरण हैं। 'रस वा सौन्दर्य वा अल पूर्णं कुर्वन्ति इति अलङ्कारा'—जो रस को, सौंदर्य को, बढावें, पूरा करे वे अलकार। पर यह याद रखना चाहिए कि—

अस्ति चेद्रससम्पत्ति अलङ्कारा वृथा इव।
नास्ति चेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथैव हि॥

'सौहित्य' मे जिह्वा के रस छ मुख्य माने हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय। इनके अवातर भेद अनत हैं। पचासो फल ऐसे हैं जो मधुर कहे जाते हैं, पर प्रत्येक की मिठास अलग है। त्रिकटु, तीन कटु (अर्थात् तीता—हिंदी मे जिसको तीता कहते हैं, संस्कृत मे वह कटु है, और हिंदी का कडुआ सस्कृत का तिक्त है, कैसे उलट गया यह, कौतूहली के खोजने की बात है!) प्रसिद्ध हैं—सोठ, मिर्च, पिप्पली। तथा त्रि-कषाय, कसैला—हड, बहेरा, आँवला। अन्य पचासो पदार्थ कटु और पचासो कषाय आदि हैं, और सब एक से एक कुछ न कुछ भिन्न हैं। सामान्य, समानता—यह आत्मा की एकता की झलक है। विशेष, पृथक्त्व, भिन्नत्व—यह आत्मा की प्रकृति, अनात्मा की अनेकता, नानात्व, का फल है। ऐसे ही 'साहित्य' मे रस नौ माने हैं—

शृङ्गार-हास्य-करुण-वीर-रौद्र-भयानकाः।
वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसा. शान्तस्तथा मत.॥ (साहित्य-दर्पण)

इनके भी सूक्ष्म अवातर भेद बहुत होने चाहिएँ। ग्रथकारो ने भाव, आभास भाव, अनुभाव, सचारी भाव, व्यभिचारी भाव, स्थायी भाव आदि की सेना इनके साथ लगा दी है। प्रत्येक के भेद हैं। यथा—'हास्य' रस का स्थायी भाव 'हास' कहकर उसके छः भेद बताए हैं—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित, अतिहसित। 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' कई प्रकार का हो जाता है। इत्यादि। जैसे प्रत्येक स्थायी भाव के साथ एक 'स्थायी' रस, वैसे प्रत्येक सचारी या व्यभिचारी भाव के साथ एक सचारी या व्यभिचारी रस होता है। रसो मे सामान्य-विशेष, पराऽपरा जाति, है या नही।

पर जहाँ तक देखन-सुनने मे आया और विद्वानो से पूछने पर जान पड़ा, इस विपय पर किसी ग्रथकार ने विचार नहीं किया कि यह सव रस सर्वथा परस्पर भिन्न और स्वतंत्र हैं अथवा इनमे भी राशीकरण हो सकता है, परापर जाति का सवध इनमे है या नही। किसी-किसी ने सख्या घटाने-बढ़ाने का यत्न तो किया है। यथा, 'वात्सल्य' रस दसवाँ है, ऐसा कोई मानते हैं। परमेश्वर की अथवा किसी भी इष्टदेव की नवधा 'भक्ति' के रस को भी अलग मानते हैं। कोई कहते हैं कि सव रस चमत्कारात्मक 'अद्भुत' के ही भेद हैं। पर विद्वल्लोकमत ने नौ को ही मान रक्खा है, और जो नए वताए जाते हैं उनका इन्ही मे इधर-उधर समावेश कर लेता है। पर इन नौ का जन्म कैसे, एक या दो या तीन पर वा अपर सामान्यों की ये नौ अपर जाति या विशेप सतान हैं या नहीं, इन प्रश्नो पर विचार नहीं मिलता। और विना विशेषो और अपर जातियो को सामान्य की अँकवार मे संग्रह किए चित्त को संतोप नहीं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ (गीता)

पृथक्ता को एकता मे स्थित, एकता को पृथक्ता मे विस्तृत, जव पुरुप जान लेता है तव उसका ब्रह्म अर्थात् वेद अर्थात् ज्ञान संपन्न—सपूर्ण—होता है, तथा तव पुरुप अर्थात् जीव ब्रह्ममय—ब्रह्मरूप—निष्पन्न हो जाता है।

इसलिये इस प्रश्न पर विचार करना उचित है।

'रस' सव नौ का 'सामान्य' स्पष्ट ही है। 'रस' के स्वरूप की भी मीमांसा करने से स्यात् पता चले कि इस एक के सद्यः नौ की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति हुई, अथवा एक से दो या तीन और दो, या तीन से चार या छः या नौ, इस क्रम से परापर जाति और विशेष के रूप से जन्म हुआ।

'रस' का मुख्य अर्थ 'जल' 'द्रव' है।

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रवि.। (रघुवश)

अमरकोष मे जल के पर्यायों मे 'घनरस' है।

आम का रस, ईख का रस, पान का रस, अनार, अंगूर, नारगी आदि का रस—यह सव उसके 'विशेष' हैं। रस के 'आस्वादन', चषण, चखने से जो 'अनुभव' हो उसको भी 'रस' कहते हैं।

यदि भूखा वच्चा जल्दी-जल्दी आम खा जाय तो उसको स्वाद तो अवश्य आवेगा ही, पर भूख की मात्रा अधिक और स्वाद की मात्रा कम हो तो 'रस' नही आवेगा। खा चुकने पर जव उसके मुँह पर मुस्कुराहट और आँखो मे चमक देख पडे और वह कहे कि 'वड़ा मीठा था' तब जानना चाहिए कि उसको 'रस' आया।

ऐसे ही, दो मनुष्य, क्रोध मे भरे, एक दूसरे पर खड्गो से प्रहार कर रहे हो तो दोनो का 'भाव' रौद्र अवश्य है, पर उनको 'रौद्र का रस' नही आ रहा है। किंतु, यदि एक मनुष्य दूसरे को गहरा घाव पहुँचाकर और वेकाम करके ठहर जाय और कहे—'क्यो, और लडोगे, फिर ऐसा करोगे, अव तो समझ गए न?' तो उसको रौद्र 'रस' आया, ऐसा जानना चाहिए। किसी दुःखी दरिद्र को देखकर किसी के मन मे करुणा उपजे और उसको धन दे वा अन्य प्रकार से उसकी सहायता करे तो दाता तो करुणा का, दया का,

दुःखी के शोक मे अनुकंपा—अनुशोक—का 'भाव' हुआ, पर 'रस' नही आया। यदि सहायता कर चुकने के बाद उसके मन मे यह वृत्ति उत्पन्न हो—'कैसा दु खी था, कैसा दरिद्र था, कैसा कृपापात्र था' तो जानना कि उसको करुण रस आया। महापुरुष की कथा को सावधान सुनना, और उसके प्रति भक्ति उपजना भी, रस नही। पर मन मे यह वृत्ति उदित होना कि 'वाह, कैसे अलौकिक उदार महानुभाव-चरित हैं, इनके सुनने से हृदय मे तत्काल कैसी उत्कृष्ट भक्ति का सचार होता है, कैसे सात्विक भाव चित्त मे उदित होते हैं'—यह 'रस' का आना है। किसी को किसी दूसरे से किसी विषय मे तीव्र ईर्ष्या—मत्सर—का भाव उत्पन्न हो, पर उसके वश होकर वह कोई अनुचित कार्य न कर बैठे, और उस भाव को वर्त्तमानता मे ही, अथवा उसके हट जाने या मद हो जाने पर, अपने से या मित्रों से कहे—'कैसा दुर्भाव था, क्या-क्या पाप करा सकता था' तो जानना कि उसको ईर्ष्या का रस आया। पहलवान अपनी भुजा को देखता, ठोकता और प्रसन्न होता है, अपने बल का रस लेता है। सुदर स्त्री-पुरुष अपने रूप को 'दर्पण' मे (दर्पयति इति दर्पणः) मे देखकर आनदित होते हैं, अपने रूप का रस लेते हैं।

जैसे बच्चे तीती वस्तु को चीखकर 'सी-सी' करते हैं और फिर भी चीखना चाहते हैं, अर्थात् यदि अति मात्रा मे नही है तो उसमे दुःख मानते हुए भो सुख मानते हैं, सो दशा साहित्य के उन रसो की है जिनके 'भाव'—यथा भय, बीभत्स आदि—दुःखद भी हैं, पर उनके स्मरण मे 'सुख'मय 'रस' उठता—उत्पन्न होता—है।

निष्कर्ष यह है कि अबुद्धिपूर्वक—अनिच्छापूर्वक—'स्वाद' नही, किंतु बुद्धिपूर्वक, इच्छा-पूर्वक, 'आस्वादन' की अनुशयी चित्तवृत्ति का नाम 'रस' है। भाव (क्षोभ, सरभ, सवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अँगरेजी मे 'ईमोशन') का अनुभव 'रस' नही है, किंतु उस अनुभव का स्मरण, प्रति-सवेदन, 'आस्वादन', 'रसन' रस है। 'भावस्मरण रस'। और आस्वादन का रूप यह है—'मै क्रोधवान् हूँ (अह क्रोधवान् अस्मि'), 'मैं (अह) करुणावान् हूँ (अस्मि)', 'मै शोकवान् या अनु-शोकवान् हूँ', 'मै भक्तिमान् हूँ', 'मैं ईर्ष्यावान् हूँ', 'मैं बलवान् हूँ', 'मैं सुरूप हूँ'। अर्थात् 'मैं हूँ'—यही रस का सार-तत्त्व है।

ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा है, ' पुरुपे त्वेवाविस्तरामात्मा, स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतम, विज्ञात वदति, विज्ञात पश्यति, (पशवः) न विज्ञात वदन्ति, न विज्ञात पश्यन्ति, '। पशु जानते हैं, देखते हैं, बोलते हैं, पर यह नही जानते कि हम जान, देख, बोल रहे हैं। मनुष्य जानता, देखता, बोलता है और साथ ही साथ यह भी जानता है कि हम जान, देख, बोल रहे हैं। इसलिये पुरुष मे आत्मा का आविर्भाव सब प्राणियो से अधिक है, उसमे प्रज्ञान भी है। आत्मज्ञान का आरभ मनुष्ययोनि मे पहुँचकर जीव को होता है। इसी लिये 'मोक्षस्तु मानवे देहे'। ऐसा ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा तो सही कि पशु 'न विज्ञात वदन्ति', पर इसको भी 'वैशेष्यास्तु तद्वाद', सापेक्ष उक्ति जानना चाहिए। पशु सर्वथा इस प्रकार के 'प्रज्ञान' से रहित ही हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वे 'खेलते' हैं, और 'खेलना', 'क्रीडा', तथा 'लीला' का मर्म 'आत्मानुभव रस' ही है। मुँह से, व्यक्त वाणी से, वे यह नही कह सकते हैं कि हमको यह-यह अनुभव हो रहा है, पर ऐसा कह सकने का बीज उनमे है अवश्य। और होना उचित ही है, क्योकि वे भी तो परमात्म चैतन्य की ही कला है।

जानना, इच्छा करना, क्रिया करना, और इसको पहचानना, अनुभव करना, प्रत्यभिज्ञान करना, प्रज्ञान करना कि हममे ज्ञान, इच्छा, क्रिया हो रही है—इस बुद्धिवृत्ति को विविध दर्शनों मे विविध नामो से कहा है। यथा—अनुव्यवसाय, प्रतिसवेदन, प्रत्यभिज्ञान, प्रत्ययानुपश्यता, निजबोध, प्रत्यक् चेतना, आलय-विज्ञान प्रभृति। इनमे 'प्रस्थानभेद से दर्शनभेद' के न्याय के अनुसार सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद हो सकता है, पर मुख्य आशय एक ही है, अर्थात् बहिर्मुखीन विशेष वृत्तियो के साथ-साथ, उनमे अनुस्यूत 'अहं' 'अस्मि', 'मै हूँ' इत्याकारक अखड एकरस निर्विशेष अंतर्मुखीन वृत्ति।

बाह्य पदार्थो के अनुभव के साथ-साथ यह आत्मानुभवरूपिणी वृत्ति सत्-विद्यमान है, चित्-चेतन है, आनंद-सुखमय है। इस 'मै हूँ' मे जो आनद का अंश (अंग, अवयव, कला, मात्रा, रूप, भाव, पहलू) है वही रसबुद्धि है, उसी का पर्याय रस है। इसी लिये उपनिषदो मे आत्मा के विषय मे कहा है, 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवाऽय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति', 'कृत्स्नो रसघन एव', 'सद्घनोऽय चिद्घन आनन्दघनः', 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रिय भवति', 'सोऽयमात्मा श्रेष्ठश्च प्रेष्ठश्च', 'आङ्गिरसो अङ्गानां हि रसः', 'प्राणो हि वा अङ्गानां रसः','एष हि वा अङ्गानां रसः', 'स एवाऽय मुख्यः प्राणः', 'स एष रसानां रसतमः' 'आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेव विद्वानक्षरमुपास्ते', 'को ह्येवाऽन्यात् कः प्राण्याद्यदेष आनन्दो न स्यात्', 'सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति'। 'अहम्—अस्मि'—यही सन्मय, चिन्मय, आनद-रस-मय है। आत्मा का किसी 'अनात्मा' के बहाने से आस्वादन—यही रस, लीला, क्रीडा, नटन है—यही कविता में श्रेष्ठ नाटक है—'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्'। नाटक मे पात्र 'बनते' हैं, अपने को अपने से अन्य 'बनाते' हैं,—बुद्धिपूर्वक, लीला से, माया से ('या-मा') 'जो नहीं है' वह 'बन' जाते हैं, और उसमे बड़ा रस मानते हैं, आनद पाते हैं।

'चैतन्य' का परोक्ष नाम 'आत्मा' है, 'अपरोक्ष' नाम 'अहम्' है। ॐ तो उसका नाम है, पर थोड़ा 'अव्यक्त' सा है[१]। 'अहम्'—यह दिन-दिन के व्यवहार मे कुछ अधिक व्यक्त जान पड़ता है। सस्कृत-वर्णमाला का आदिम अक्षर 'अ' और अंतिम 'ह' है। इन दोनों के बीच मे अन्य सब अक्षर हैं। अक्षरो के सयोग मे सब वाक्य हैं जो सब ज्ञान, इच्छा, क्रिया के वाचक बोधक है। तन्त्रशास्त्र मे एक-एक अक्षर से एक-एक तत्त्व, एक-एक पदार्थ की, जिनका वर्णन सांख्य आदि दर्शनो मे किया है, सूचना होती है। 'अ-हम्' आत्मा की निगूढ सर्वज्ञता इस आद्य अंत्य अक्षरो के संयोग मे सूचित होती है, तथा यह भी कि 'अहम् एव सर्वः', 'मयि स्थितमिद जगत् सकलमेव', सब पचविंशति, षड्विंशति, षट्त्रिंशत् प्रभृति तत्त्व एक 'अहम्' के, 'मै' के, भीतर हैं, 'मै' किसी के भीतर नही है। इस विश्वंभरता—विश्वोदरता—की 'भूमा' के आस्वादन से बढ़कर कौन आनद-रस-आस्वादन हो सकता है? जो भी कोई, कुछ भी, रस-आनद है वह सब इसी की छाया है।

> इति नानाप्रसख्यानं तत्त्वानां कविभिः कृतम्।
> सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमसाम्प्रतम्॥ (भागवत)

१. इस विषय पर मैंने अपने 'समन्वय' नामक ग्रंथ के अतिमाध्यायो मे—'प्रणव की पुरानी कहानी' और 'महासमन्वय' मे—कुछ विस्तार किया है।

सदाशिव

चित्रकार श्री० रामप्रसाद

(सौ० ललितकिशोरी देवी, काशी, के सौजन्य से)

इस 'अहम्' मे, 'अस्मि' मे, आनदांश 'रस' है, ऐसा कहा। पर यहाँ एक धोखा होने का भय है। इसका निवारण करना चाहिए। 'अहम्' नाम परमात्मा (वा प्रत्यगात्मा) का भी है और जीवात्मा का भी। दोनो मे एकता होते हुए भी जो भेद है वह प्राय' प्रसिद्ध है। देश-काल-द्रव्य आदि से परिच्छिन्न अवच्छिन्न परिमित विशेषित आधिभौतिक शरीर की उपाधि से उपहित चैतन्य को जीवात्मा कहते हैं। इन सबसे अतीत चैतन्य को परमात्मा कहते हैं। ऐसे ही एक 'अस्मिता' परमात्मा की और एक 'जीवात्मा' की होती है। पुराणों मे, दर्शनसूत्रो मे, वताया है कि परमात्मा मे विद्या-अविद्या दोनो भासती हैं। अनंत आत्मा अपने को सात, हाड-मांस का बना शरीर, मान ले तो इसे 'अविद्या' अर्थात् सीधी बोली मे मूर्खता कहना चाहिए। पर अपनी ही 'माया' से परमात्मा इस 'मूर्खता' मे पडा हुआ भासता है, सचमुच पडा नहीं है, इससे 'अविद्या' बनावटी है, नाटक है, लीला और क्रीडा है। जैसे दूव मे से 'पोर' निकलती है वैसे अविद्या मे से भी 'पर्व' निकलते हैं। पहली पोर स्वय 'अविद्या', दूसरी 'अस्मिता', तीसरी 'राग', चौथी 'द्वेष', पाँचवी 'अभिनिवेश' (हठ, आग्रह, शरीर में निविष्ट हो जाना, घुस जाना, धँस जाना)। इसलिये 'पचपर्वा' अविद्या। 'विद्या' के साथ रहनेवाली 'अस्मिता' पारमात्मिक, पारमार्थिक अस्मिता। 'अविद्या' के साथवाली 'अस्मिता' सासारिक, व्यावहारिक, जैवात्मिक। 'मै सात पदार्थ नही हूँ, मै मै ही हूँ, मै से अन्य कुछ नही हूँ', 'अहमेव न मत्तोऽन्यत्' (भागवत)—यह 'विद्या'। 'मै यह शरीर हूँ'—यह 'अविद्या'।

जैसे पारमार्थिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी 'रस', पारमार्थिक 'आनंद', ब्रह्मानद का पर्याय है वैसे ऐहार्थिक व्यावहारिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी 'रस' लौकिक काव्यसाहित्य से सबध रखनेवाले 'आनद' का पर्याय है। यह आनद उस आनद की, यह रस उस रस की, छाया है—नकल है।

> सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' ।
> वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर. ॥
> लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
> स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥ (साहित्य-दर्पण)

स्यात् दर्शन के अधिक अनुकूल होता, यदि इन श्लोको को यो पढ़ते—

> सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दरूपक' ।
> वेद्यान्तरस्पर्शयुतो ब्रह्मास्वादविवर्त्तकः ॥
> असामान्यचमत्कारप्राण. सहृदयैरिह ।
> स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

ब्रह्मास्वाद का सहोदर काव्यास्वाद नही, प्रत्युत उसका प्रतिविव, विवर्त्त, रूपक, नकल, छाया-मात्र है। तथा इसमें 'वेद्यातर' तो है, अर्थात् 'विभाव', 'भाव का विषय', जिस भाव के बिना रस नहीं। ब्रह्मास्वाद मे 'वेद्यांतर' का निषेध, 'नेह नानास्ति किचन', है। इसमे तो विना 'विभाव'-रूपी 'वेद्यांतर' के काम नहीं चलता। 'लोकोत्तर' भी कैसे कहा जा सकता है? लोक मे ही तो, और लौकिक विशेष-विशेष अनुभवो को लेकर ही तो, काव्यसाहित्य के 'रस' की चर्चा है। 'कैश्चित्प्रमातृभिः' भी नही जँचता। हाँ, किसी को कम, किसी को अधिक निश्चयेन, पर कुछ न कुछ 'रस' तो मनुष्य-मात्र के अनुभव

F. 2

मे होता है। ऊपर कहा कि पशु तक खेलते है। और खेलना, तथा हँसना, और सिसककर आँसू वहाकर रोना (जो चोट के दुःख से कराहने-चिल्लाने से भिन्न है) विना रस के नही हो सकता। हँसना, रोना, ये दोनो 'अनुभाव' पशुओ मे नही देख पडते, पर मानव-बालको मे वहुतायत से देख पडते हैं। थोड़े ध्यान से, और रसिकता तथा साहित्यज्ञता का अभिमान छोडकर, यदि उपर्युक्त श्लोककार महाशय देखते तो उनको स्पष्ट विदित होता कि नटखट बच्चे हास्य, रौद्र, भयानक, वीर, अद्भुत रसो के उनसे अधिक प्रज्ञाता हैं। बूढ़ो की नकल करना, उनको चिढ़ाकर भागना, एक दूसरे को डराना, शूरवीर की नकल करना, ये सब बाल्यावस्था मे स्वाभाविक हैं, और रसप्रमातृत्व के प्रमाण हैं, इत्यादि। पर, इसमे सदेह नही कि ऊपर के उद्धृत श्लोको का अभिप्राय ठीक है, चाहे वहुत सूक्ष्मेक्षिका से अर्थ-परिष्कार और शब्द-परिष्कार करने लगे तो कुछ परिवर्त्तन करना पड़े। अस्तु।

'काव्य' के कई प्रयोजन कहे है—

काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ (काव्यप्रकाश)

पर मुख्य प्रयोजन 'निर्वृतये', रस का आनद ही है। व्यवहारज्ञान नितांत उपयोगी है, पर वह काव्य के ऐतिहासिक अंग का फल है। जैसे 'निर्वृति' इतिहास-पुराण के काव्याग का फल है। हाँ, यदि काव्य का अर्थ कोई भी लेख, सदर्भ या निबंध किया जाय तो अवश्य उद्धृत श्लोक ठीक हो सकता है। उस पर भी कहना होगा कि अन्य सब प्रयोजक फल कम या अधिक गौण हैं, और निर्वृति-साधकता और व्यवहार-ज्ञापकता के समीपवर्त्ती अथवा दूरवर्त्ती अवांतर कार्य हैं। प्रस्तुत चर्चा मे आनद देनेवाला काव्य ही साहित्यिक काव्य है।

यह सांसारिक रस उस पारमार्थिक रस का आभास है, प्रतिबिंब है। प्रतिबिंब, बिंब के सदृश होता हुआ भी, उसका उलटा विवर्त्त होता है। मुकुर के आगे मनुष्य खडा हो तो प्रतिबिंब मे पुरुष का दहिना अंग बायॉ और बायॉ अंग दहिना हो जाता है। जल के किनारे खडा हो तो प्रतिबिंब मे सिर नीचे और पैर ऊपर हो जाता है। इसी से इस कृत्रिम, बनावटी, रस के अधिक सेवन मे बहुत दोष है। प्रत्यक्ष ही बहुत खेलने से लड़के बिगड़ जाते हैं, थोडा खेलने से हृष्ट-पुष्ट होते हैं। अति मात्र रस-सेवन से मनुष्य अपने को भोगी, विलासी, केवल रसान्वेषी रसिक, और दैनदिन के व्यवहार-कार्य के निर्वाह के लिये अकर्मण्य अशक्त बना डालता है—जैसे वहुतेरे धनी और राजा-महाराजा, नवाब-बादशाह लोग—और अपने कर्त्तव्यो को, धर्म-कर्म को, भूल जाता है। करुण रस का स्वाद ही लेता है, करुणा—दया—के अनुसार दीनो की सहायता नही करता।

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किं च तेषु यदा दुःख न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ॥ (साहित्य-दर्पण)

करुण रस की कहानी कभी-कभी बच्चे तक शौक से सुनते है। ग्रामगीत तो अधिकांश अत्यत करुणाजनक होते है, जैसा 'उत्तररामचरित' मे भी मिलना कठिन है। उन्हे ग्राम की स्त्रियॉ शौक से गाया

करती हैं। यदि उन गीतों से दुःख ही होता तो क्यो सुने, गाए, पढे जाते? पर यह भी प्रकृति-पर है। कोई अति कोमल, मृदुवेदी, बालक, स्त्री, पुरुष ऐसी करुण कथा को नही सुन सकते।

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणे वियोगिनम्।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणी ददर्श दून स्थलपद्मिनी नलः॥ (नैषधचरित)

कही-कही, कभी-कभी, तो ऐसा भी देखा गया है, जैसा 'नीरो' नामक तथा 'रोम'-राज्य के अन्य सम्राटो के विषय मे इतिहास लिखनेवाले लिखते हैं कि वे बुद्धिपूर्वक, अभिसधिपूर्वक, जान-बूझकर, पुरुषों, स्त्रियो और बच्चो को सिह-व्याघ्र आदि हिस्र पशुओ के सामने रगभूमि के घेरे के भीतर फिकवा देते थे, अथवा दूसरे प्रकारो से उनकी यातना कराते थे, इस उद्देश्य से कि उनकी और हिसको की भय-करुण चेष्टा और रौद्र-भयकर चेष्टा देखकर अपने चित्त मे तत्तत्सवधी रस का आस्वादन करे। अर्थात् कृत्रिम नाटको से थक गये थे, मन भर गया था, उनमे रस नही मिलता था। जैसे किसी नशे के ऐयाश को चिराभ्यस्त मात्रा से सतोष नही होता, शिथिल जीभ पर रस जान ही नही पडता, जब तक बहुत तीव्र न किया जाय। उनके मानस-वृकोदर की रसेच्छा की पूर्ति के लिए ऐसे क्रूर-कराल सच्चे नाटक की आवश्यकता होती थी और उसको वना डालते थे। रक्षक और भक्षक, देव और दैत्य, के बीच मे ऐसा सूक्ष्म अंतर है। 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'। थोडी भी भूल हुई और विष्णु के पार्षद, हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हो गए, दैत्य-योनि मे आ गिरे। इसलिये इस मार्ग पर वहुत सावधानी से चलना चाहिए। परिष्कृत, सस्कृत, 'रस' के थोडे आस्वादन तक सतोप करना, चटनी, अचार, खटाई, मिठाई से पेट न भरना, उसी मात्रा मे इनका सेवन करना जितने से प्रधान भोज्य—काव्य के पुष्टिकारक अंग इतिहास आदि—के भोजन मे सहायता मिले। और ध्यान इस ओर सदा रखना कि काव्य और नाटको के धीर, उदात्त, ललित, शांत, दक्षिण नायक-नायिकाओं की परिष्कृत सुरस रीति-नीति, बोल-चाल, हाव-भाव का अनुकरण यथाशक्य यथोचित अपने जीवन मे किया जाय। अस्तु।

जीवात्मक मनुष्य की 'अस्मिता' के साथ-साथ 'राग-द्वेष' 'काम-क्रोध' लगे हुए हैं। एक 'अस्मिता' से, 'अहकार' से, इस द्वद्व—जोड—की उत्पत्ति होती है।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
इन्द्रियसेन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ॥
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः॥
सङ्गात्सञ्जायते काम कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ *(गीता)*
इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख दु ख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।
ज्ञस्य इच्छा-द्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्यो·। (न्यायसूत्र)
इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः। (वैशेषिक सूत्र)
इच्छा द्वेप· सुख दु·ख सघातश्चेतना धृतिः॥ (गीता)

'मै यह शरीर हूँ' इस अतर्निगूढ 'अविद्या (ध्यायतो विषयान् पुसः) के भाव के साथ ही, जो 'मैं' 'अह' 'अह-कार' 'अस्मिता' ('सङ्गस्तेपूपजायते') के पोषक—वर्द्धक—हैं उनकी ओर 'राग', 'काम' और

'आकर्षण,' तथा जो उसके विरोधक—हानिकारक—हैं उनकी ओर 'द्वेष', 'क्रोध' और 'अपकर्षण' तत्काल अवश्य उत्पन्न होते हैं।

मुनेरपि वनस्थस्य स्वकर्माण्यनुतिष्ठतः।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षाः मित्रोदासीनशत्रवः ॥ (महाभारत)

जब तक शरीर और शरीर के पोषण को इच्छा और आवश्यकता है, तब तक चाहे कितनी भी विरक्त मुनि-वृत्ति से रहे, मनुष्य के—मित्र, शत्रु और उदासोन—तीन प्रकार के पास-वर्त्ती हो ही जाते हैं। राग का विषय, द्वेष का विपय, शत्रु। जो अपने को सुख दे वह मित्र, दुःख दे वह शत्रु।

सुख-दुःख क्या हैं ? 'अहम्' की वृद्धि का अनुभव सुख, और ह्रास का अनुभव दुःख। "नाल्पे वै सुखमस्ति, भूमैव सुखम्, यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा।" (छांदोग्य)

सर्वं परवशं दुःख सर्वमात्मवश सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षण सुखदुःखयोः ॥ (मनु)

'अपने' को, 'आत्मा' को, 'दूसरे' से कम जानना, दूसरे के अधीन जानना, यही दुःख है। 'पराधीन सपनेहु सुख नाही'। अपने को दूसरे से बडा जानना, अनुभव करना, यही सुख है। अपने को अपनी ही पूर्वावस्था से अब अधिक सपन्न जानना—किसी भी वात मे, वल में, विद्या मे, रूप में, स्वास्थ्य मे, धन मे, आभिजात्य मे, ऐश्वर्य मे, सम्मान मे, इत्यादि—यह सुख है। इसके विरुद्ध—दुःख है। 'अह स्याम्, बहु स्याम्, वहुधा स्याम्' यही तीन एषणा (लोक, वित्त, दार-सुत) का रूप है। एषणापूर्त्ति, इच्छापूर्त्ति, से 'अहम्' की वृद्धि और सुख, अन्यथा दुःख। अपने को सवसे वडा जानना, 'भूमा', 'भूयिष्ठ', 'महतो महीयान्' क्या 'महिष्ठ', अनादि, अनत, अपरिमेय, अप्रमेय, अजर, अमर, नितांत आत्मवश, स्ववश, स्वाधीन, स्वतंत्र जानना—यह ब्रह्मानद, ब्रह्मसुख। पर यह सुख तो 'शाति' है, क्योकि निरपेक्ष, अपेक्षातीत, है। और जिसको हम लोग 'सुख' जानते-मानते हैं वह सापेक्ष है। जैसा अभी कहा, दूसरे से, या अपनी पूर्वावस्था से, 'अधिकता' का अनुभव है। यह सव व्यावहारिक औपाधिक जीवात्मा के सुख, उस त्रिकालक्रमातीत पारमार्थिक पारमात्मिक सुख के क्रमिक 'आभास' हैं। 'तस्य भासा सर्वमिद विभाति'। इन क्रमिक वृद्धि-रूप सुखो के अभिव्यजन के लिये क्रमिक ह्रास-रूप दुःखो का भो माया से देख पड़ना आवश्यक है। जैसा फारसी मे कहा है—'सुवूति शै व जिद्दि शै'—किसो भी वस्तु का निरूपण उसके प्रतिद्वद्वी से होता है। विना उजेला का अँधेरा नही जान पडता, विना अँधेरा के उजेला नही, विना सुख के दुःख नही, बिना दुःख के सुख नही। सुख से देह उपचित, वर्द्धित, पुष्ट होता है। वर्द्धन, उपचय, पुष्टि से सुख। एवं, अपचय से दुःख, दुःख से अपचय, क्षय। अस्तु।

राग के तीन भेद होते हैं, तथा द्वेष के भी—

गुणाधिका'न्मुदं' लिप्सेद्, 'अनुक्रोशं' गुणाधमात्।
'मैत्री' समानादन्विच्छेन्, न तापैरभिभूयते ॥

महता 'बहुमानेन', दीनानां 'अनुकम्पया'।
'मैत्र्या' चैवात्मतुल्येषु, यमेन नियमेन च ॥ इत्यादि। (भागवत)

सम· समानोत्तममध्यमाधमः।
सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः ॥

'दयां' 'मैत्री' 'प्रश्रय' च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥ (भागवत)
दीनेषु 'दयाम्', समेषु 'मैत्रीम्', उत्तमेषु 'प्रश्रयम्'। (श्रीधरी टीका)

मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (योगसूत्र)

अकृत्वेर्ष्या' विशिष्टेषु, हीनानवमान्य' च।
अकृत्वा सदृशे 'स्पर्धा', त्व लोकोत्तरता गतः ॥ (महाभारत)
स तुल्यातिशयध्वस यथा मण्डलवर्त्तिनाम्। (भागवत)
तुल्ये 'स्पर्धा', अतिशये 'असूया', ध्वंसालोचने 'भयम्'। (श्रीधरी)

तथा दोषाः। तत्त्रैराश्यम्। रागद्वेषमोहार्थान्तर्भावात्। रागपक्ष कामो, मत्सर·, स्पृहा, तृष्णा, लोभ इति। द्वेषपक्ष· क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोहोऽमर्ष इति। मोहपक्ष मिथ्याज्ञानं, विचिकित्सा, मानः, प्रमाद इति। आसक्तिलक्षणो राग, अमर्षलक्षणो द्वेषः, मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणो मोह। (न्याय-भाष्य)

मानसास्तु आधय क्रोध-शोक-भय-हर्ष-विषादेर्ष्याऽभ्यसूया-दैन्य-मात्सर्य-काम-लोभप्रभृतय· इच्छा-द्वेषभेदैर्भवन्ति। (सुश्रुत)

इन सब विषयों पर मेरे लिखे अँगरेजी ग्रथ 'दि सायस आफ दि इमोशंस' मे विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ इन उद्धरणो का पूरा हिंदी-अनुवाद करने से विशेष लाभ नही। निष्कर्ष, निचोड़, इतना ही है कि अपने से 'विशिष्ट' 'उत्कृष्ट' जीव की ओर 'राग' का नाम है 'समान', 'बहुमान', 'आदर', 'प्रश्रय', 'मुदिता', 'पूजा' आदि। 'समान' की ओर 'मैत्री', 'प्रेम', 'अनुराग', 'स्नेह', 'प्रीति', 'सख्य' आदि। 'हीन' की ओर 'दया', 'करुणा', 'अनुकपा', 'अनुक्रोश' आदि। ऐसे ही 'द्वेष' के भेद। विशिष्ट की ओर 'भय', 'मत्सर', 'असूया', 'ईर्ष्या' आदि। 'तुल्य' की ओर 'क्रोध', 'कोप', 'रोष' आदि। 'हीन' की ओर 'दर्प', 'गर्व', 'अभिमान', 'अवमान', 'अपमान', 'तिरस्कार', 'घृणा' आदि।

प्रसिद्ध 'षड्रिपु', 'अतरारि' भी इन्ही दो राशियों मे बँटेंगे। (प्रश्रय-स्थानीय) लोभ, काम; (करुणा-स्थानीय) मोह, (भय-स्थानीय) मत्सर, क्रोध, (तिरस्कार-स्थानीय) मद।

अब देखना चाहिए कि साहित्यशास्त्र के ग्रथो मे नौ रसो के मूल जो नौ स्थायीभाव कहे हैं, उनका इस आदिम द्वद्व राग-द्वेष और तदुत्थ त्रिक-द्वय से कुछ सबध है या नही। क्रम से 'स्थायी भाव' और 'रस' ये हैं—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थं अष्टौ प्रोक्ता· शमोऽपि च ॥

शृङ्गार-हास्य-करुणा-रौद्र-वीर-भयानकाः ।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥
रसावस्थ परभावः स्थायितां प्रतिपद्यते ॥
विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥ (साहित्य-दर्पण)

नौ रस 'शृंगार' आदि के नौ स्थायी भाव 'रति' आदि हैं। 'स्थायी भाव' ही विशेष अवस्था मे 'रस' हो जाता है।

थोडी-सी सूक्ष्मेक्षिका से देख पडता है कि 'काम' के स्थान मे 'रति', 'दर्प' के स्थान मे 'हास', 'दया' के स्थान मे 'शोक', 'घृणा' का पर्याय ही 'जुगुप्सा' है। 'क्रोध' और 'भय' तो विना रूपांतर-शब्दांतर के ही कहे गए हैं। बचे उत्साह, विस्मय और शांत। इनकी परीक्षा करनी चाहिए। पर इसके पहले 'हास' के विषय मे कुछ आलोचना उपयुक्त होगी।

बिना 'दर्प' की कुछ मात्रा के 'हास' नहीं होता। दूसरे को 'बेवकूफ बनाना', अपने को 'होशियार बनाना'—यह हँसी का प्रधान अंग प्रायः देख पडता है। तीव्र होने से कुरस हो जाता है, ललित होने से सुरस। हँसना—यह हर्ष का, सुख का, मानो उबाल है, उमड पडना है। किसी दूसरे की अपने से छोटाई देखकर, अपनी 'अहता' की, 'अहकार' की, सद्यः और अतिमात्र 'वृद्धि' से जो हर्ष होता है, वह हर्ष 'असमान्तमिवाङ्गेषु', मानो अपने अंगों मे न अमा सकने के कारण 'हास' होकर बाहर निकल पडता है। इसका प्रतियोगी, दुःख से अपनी छोटाई का सद्यः अतिमात्र अनुभव करके 'सिसकना' है। ये दोनों 'अनुभाव' पशुओ मे नही देख पड़ते। मनुष्य 'विज्ञातं विजानाति', 'अहम्' को जानता है, इसलिये 'अहता' के सद्योवृद्धि और सद्योह्रास से दर्प और शोकसबधी 'अपने ऊपर मुदिता' और 'अपने ऊपर करुणा' के उद्‍गार-रूपी हास और गद्‍गद रोदन के अनुभावों का आधार होता है। हास का मूल 'अहम्' वृद्धि, दर्प, गर्व है। इसीसे पुराणो मे कहा है—नारायणः पातु च माऽऽपहासात्। मा = माम्। 'देवी भागवत' मे कथा है—नारायण 'ऋषि' तपस्या करते थे। विघ्न करके इद्र ने उर्वशी की प्रधानता मे सोलह सहस्र एक सौ अप्सराएँ भेजीं। नारायण उनको देखकर 'हँसे', और अपने ऊरु, जाँघ, पर हाथ मारा। नई 'उरु-अशी' और सोलह सहस्र एक सौ अप्सराएँ निकल आईं। पुरानी उर्वशी खिसियाइं, शरमाईं, पर नारायण के सिर हो गईं—'जैसे हो तैसे हम सबसे ब्याह करो'! बड़े असमजस मे पडे। पछताने लगे—क्यो मैंने 'स्मय', 'स्मित', 'हास', 'अपहास' किया, फल भोगना ही पड़ेगा। ईश्वरैरपि भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्। फिर 'ईश्वर' का कर्म! एक आँख की पलक मारने मे भारी गुण-दोष उत्पन्न हो! 'बहुत अच्छा, अब इस मेरे रूप पर तो दया करो, तपस्या पूरी कर लेने दो, कृष्णरूप से जब अवतार लूँगा तब तुम सब भी वही आना, सबसे ब्याह कर लूँगा'। ऐसा ही हुआ। और कृष्ण जी को महागृहस्थी की भारी झझट उठानी पडी, जिसका रोना वे नारदजी से रोए। (महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ८१)

नारायणजी को स्वय अपहास के दुष्फल का अनुभव हो चुका है, इससे वे दूसरो को उससे बचाने मे अधिक रस से दत्तचित्त होगे। इसलिये उन्ही से यह प्रार्थना विशेषेण की जाती है कि अपहास से बचाइए।

अपहास से कितनी लडाइयाँ हो जाती हैं यह प्रसिद्ध है। 'हास' को एक प्रकार से 'मिश्र' रस कह सकते हैं। रागपक्ष मे भी पडता है, द्वेषपक्ष मे भी। थोडा भी दर्पांश अधिक होने से 'अवहास' 'अपहास' होकर द्वेषपक्ष अधिक देख पडने लगता है। परस्पर प्रीतिपूर्वक कृत्रिम दर्प का प्रदर्शन ही जब तक है तब तक 'हास' रागपक्ष मे रहता है।

जैसे 'रति' के स्थान मे 'समान' की ओर 'काम', और 'करुणा' के स्थान मे 'हीन-दीन' की ओर 'दया', वैसे ही 'विशिष्ट' की ओर यदि 'भक्ति'-रस माना जाय तो उसका स्थायी भाव अमिश्र 'सम्मान' 'पूजा' होगा। 'विस्मय' इसके पास पहुँचता है, पर उसमे कुछ मिश्रता जान पडती है। यदि 'वात्सल्य' रस माना जाय तो उसका स्थायी भाव शुद्ध अमिश्र 'दया' होगी। 'करुणा' और 'वात्सल्य' मे इतना ही भेद है कि 'करुणा' मे दयापात्र मे शोक की और दयालु मे अनुशोक—अनुकपा—की मात्रा अधिक है, और वत्स तथा वत्सल मे बीजरूपेण ही है।

'उत्साह', 'विस्मय' और 'शांत' पर अब कुछ विचार करना चाहिए—

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिसा रस एष पूर्यते। (नैषध)

केवल लड़ने को खुजली—यह वीरता नही है, प्रत्युत हिसारस और हिस्रपशुता है। सद्-उद्देश्य से धर्मयुद्ध करना ही 'शूर-वीर' का लक्षण है। 'तपः क्षत्रस्य रक्षणम्', 'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ.', 'तिमिरकरिमृगेन्द्र बोधक पद्मिनीना सुरवरमभिवन्दे सुन्दर विश्ववन्द्यम्'। दीन-दुर्बल की रक्षा के लिये, दया से प्रेरित होकर, धर्मपालनार्थ, दुष्ट-दमन के 'उत्साह' से ही युद्ध करना 'वीरता' है। तो यह जो 'उत्साह'-पद से स्थायी भाव कहा गया, इसमे दुष्टो पर 'क्रोध' और उनका 'तिरस्कार' (वीरो की 'गर्वोक्ति' प्रसिद्ध है, जो 'विकत्थन' से बहुत भिन्न है) तथा दीनों पर 'दया'—इन तीन भावो का मिश्रण है।

ऐसे ही 'वि-स्मय' का अर्थ है 'स्मय' का, गर्व का, विरुद्ध भाव—अर्थात एक प्रकार की नम्रता। इसमे अपनी लघुता और अल्पशक्तिता के अनुभव के साथ-साथ 'विस्मय' के विषय की ओर 'भय' और 'आदर' के बीच की अनिश्चितता की अवस्था मिली है। जैसे 'रत्नाकर' 'महोर्मिमाली' समुद्र मे, 'अति-रम्य' और 'अनाक्रमणीय' हिमालय मे, भीम गुण और रुचिर गुण एकत्र हैं।

'राग-द्वेष' दोनो का विरोधी जो भाव है उसी का नाम 'शम' है। 'मुनय. प्रशमायना.'।

विद्वद्भि. सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभि ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्त निबोधत ॥

शका हो सकती है कि राग-द्वेष बिना स्थायी भाव क्या, कोई भी भाव—सचारी, व्यभिचारी, अस्थायी भी नही, फिर रस कहाँ? समाधान यही है कि निवृत्ति-मार्ग भी क्रमिक है। सद्यो विदेहमुक्ति की कथा न्यारी, उसमे न शम का अवसर है न शातरस का। क्रमिक निवृत्ति और जीवन्मुक्ति मे

'वैराग्य' 'वैद्वेष्य' क्रम से बढ़ता जाता है। उसके साथ-साथ सांसारिक भावों और रसों के विरोधी भावाभास और रसाभास भी, और पारमार्थिक परमानद 'महाभाव' का साथी, तात्त्विक 'रसधन' का 'रस', 'सर्वभूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी' का 'रस' अनुभूत होता है। इस महारस मे अन्य सब रस देख पडते हैं, सबका समुच्चय है। श्रेष्ठ और प्रेष्ठ अंतरात्मा परमात्मा का (अपने पर) परम प्रेम, महाकाम, महाशृगार ('अकामः सर्वकामो वा', 'मानभूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीद्यते'), ससार की विडबनाओं का 'उपहास', ससार के महातमस् अधकार मे भटकते हुए दीन जनों के लिये 'करुणा' ('ससारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यम्'), षड्रिपुओ पर क्रोध ('क्रोधे क्रोधः कथं नते'), इनको परास्त करने, इंद्रियों की वासनाओ को जीतने, ज्ञान-दान से दान भ्रांत जनों की सहायता करने के लिये 'उत्साह' ('युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः', ईश्वरस्य...भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्', 'नमो महाकारुणिकोत्तमाय'), अंतरारि षड्रिपु कही असावधान पाकर विवश न कर दे—इसका 'भय' (सर्व वस्तु भयान्वित जगति रे, वैराग्यमेवाभयम्', 'अन्धकारे प्रवेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्यताम्', 'भयानां भय भीषण भीषणानाम्', 'भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः', 'नरः प्रमादी स कथ न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च'), इद्रियों के विषयो पर और हाड़-मांस के शरीर पर 'जुगुप्सा' ('...मुख लालाक्लिन्न पिबति चषक सासवमिव ... अहो मोहान्धानां किमिव रमणीयं न भवति', 'स्थानाद् बीजाद् उपष्टम्भान् निस्स्यन्दान् निधनादपि, कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचि विदु.', 'अस्थिस्थूण स्नायुयुत मांसशोणितलेपनम्, चर्मावनद्ध दुर्गन्धिपूर्ण मूत्रपुरीषयोः, जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्, रजस्वलमिम देह भूतावासमिम त्यजेत्'), और क्रीडात्मक, लीलास्वरूप, अगाध अनत जगत् का निर्माण विधान करनेवाली परमात्मा की (अपनी ही) माया-शक्ति पर 'महाविस्मय' ('त्वमेवैकोऽस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः, अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो')—सभी तो इस 'शांत' रस के रसन मे अंतर्भूत हैं।

विषय का विस्तार बहुत हो सकता है, पर 'विस्तरेणालम्'। सक्षेप से अभिप्राय यह है कि नौ रसों में दो राशि अथवा जाति तीन-तीन शुद्धप्राय रसो (और स्थायी भावों) की और एक राशि तीन मिश्र रसो की होती है। साहित्यशास्त्र के ग्रथों मे संचारी-व्यभिचारी भावो की राशियाँ अलग कर दी गई हैं, पर उनमे से प्रत्येक—यदि सूक्ष्मेक्षिका से देखा जाय तो जान पड़ेगा कि—राग-द्वेष के भाव (इच्छा) को और उत्तम, मध्यम (सम) तथा अधम के ज्ञान की वृत्तियो के सकर से उत्पन्न होता है, और प्रत्येक को स्थायी बनाकर उससे जनित एक रस माना जा सकता है। इस दृष्टि से, यदि असंकीर्ण-प्राय भावों के बोधक शब्दो मे मूल स्थायी भावो की गणना इष्ट हो तो, स्यात् ऊपर के उद्धृत श्लोक को यो पढ़ना अनुचित न हो—

कामो दर्पो दया क्रोधो रक्षा गर्वो भय तथा।
घृणाऽऽदरौ विरक्तिश्च स्थायिभावा मता इमे॥

'दर्प' अर्थात् 'अहकार' 'अस्मिता' की मात्रा निसर्गतः कइयो मे क्या, अध्यात्मदृष्टि से सबमे, अनुस्यूत है। काम का पर्याय 'कदर्प' है। 'कं दर्पयति, अथवा कं न दर्पयति इत्यपि'। काम किसके दर्प को रहने देता है? सबको नीचा दिखाता है, तथा किसके दर्प को एक बेर नहीं बढ़ा देता, किसको उद्धत नही
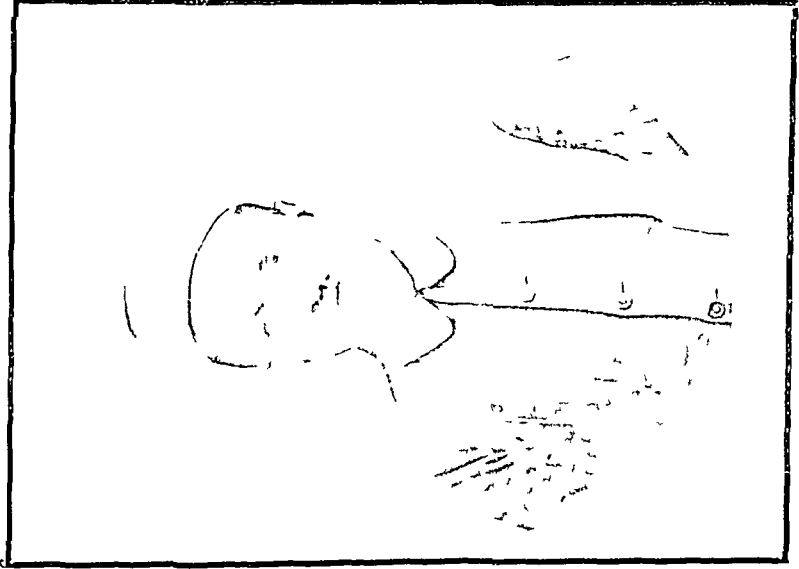
स्वर्गीय पडित श्रीधर पाठक

पडित अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध'
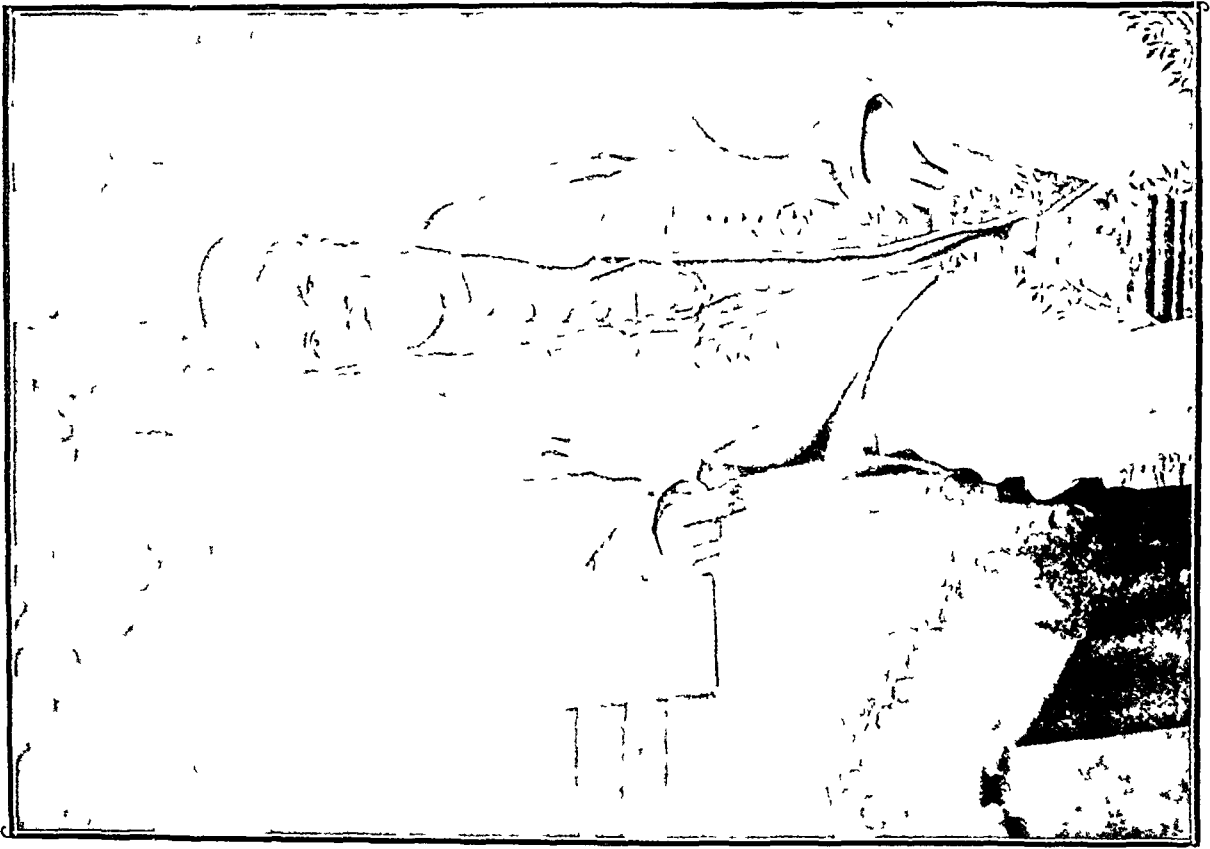
स्वर्गीय राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'
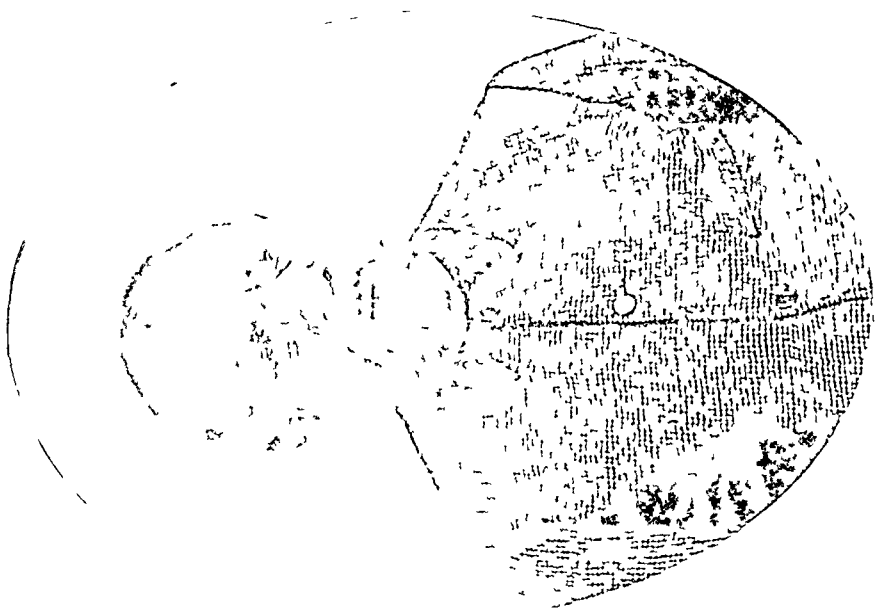
स्वर्गीय पडित नाथूराम शकर शर्मा

कर देता ? हास के दर्प की कथा ऊपर कही गई। दया करुणा मे भी, दूसरे की सहायता करने की शक्ति मुझमे है—ऐसा सात्विक दर्प छिपा है, जैसे काम मे तामस, हास मे राजस, अपहास अतिहास मे तामस-राजस, स्मित हसित विहसित मे सात्विक राजस। क्रोध मे भी शक्ति-सामर्थ्य जब है तब दर्प उपस्थित है। उत्साह मे दीन की रक्षा की शक्ति और दुष्ट के तिरस्कार से अवश्य दर्प की सात्विक मात्रा है। भय मे अहं का, अस्मिता का, राजस-तामस रूप है। पर की घृणा मे अपने उत्कर्ष का अनुभव स्पष्ट है। आ-दर, वि-स्मय शब्दो की व्युत्पत्ति से ही जान पडता है कि उनमे भय और पूजा के भाव मिले हुए हैं। ईषद्दरः, भय, आदर.। विगतः स्मयो यस्मात्, अथ च विशिष्टः स्मय.। यदि द्वद्व, जोडा, करना चाहे तो स्यात् यो बैठेंगे—शृगार-रौद्र (काम-क्रोध), हास्य-करुणा (हर्ष-शोक, दर्प-दैन्य, तिरस्कार-दया), वीर-भयानक (सामर्थ्य-गर्व—असामर्थ्य-भय, उत्साह-अवसाद), बीभत्स-अद्भुत (घृणा-बहुमान)। इन सबके अध्यात्म की चर्चा विस्तार से मेरे अँगरेजी ग्रथ 'दि सायस आफ दि इमोशस' मे की गई है।

रसो के मिश्रण के विषय मे ग्रथकारो ने लिखा है कि इन-इन रसो का साथ है, यह-यह विरोधी हैं, इन-इनका सकर कविता मे न करना चाहिए, इन-इनका सकर हो सकता है और उचित है। ठीक है। पर परमेश्वर के इस जगद्रूप अनत नाटक मे सभी रसो का प्रतिपद सकर देख पडता है। सौहित्य मे लवण और मधुर का सकर वर्जनीय है। अम्ल के साथ मीठा भी चलता है, खट्टा भी। पर नमक और शक्कर एक मे मिलाने से दुस्स्वाद होता है और वमन करा देता है। पर उत्सर्ग के अपवाद भी होते ही है। आम की 'मीठी खटाई' बनाने मे नमक भी डाला जाता है और गुड भी। हाँ, अग्नि से अचार सिद्ध किया जाता है, या धूप से 'सिझा' लिया जाता है। ऐसे ही, साहित्य मे 'भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक्'। पर जीवज्जगन्नाटक मे सबका सकर बहुधा देख पडता है।

कई वर्ष हुए, माघ-मेला के दिनो मे, 'छोटी लाइन' की रेलगाडी सबेरे के समय बनारस से चली। गगा का पुल पार करके, प्रयाग मे दारागज के स्टेशन पर ठहरो। भीड उतरी। एक 'टिकट-कलक्टर' ने, टिकट जाँचते हुए, एक डब्बे मे से एक स्त्री और तीन बच्चो को उतारा।

'एक टिकट मे चार आदमी जाना चाहती है ?'

'सयाने कर टिकट लगत हौ, ई तीन तो बच्चा हैं, माफ है, इनकर टिकट नाहीं लगी।'

'कैसे न लगेगा ? इनमे से दो तो जरूर तीन बरस से ज्यादा है, आठ और दस बरस के मालूम होते हैं, तीसरा भी चार-पॉच का नजर आता है। तुमको सबके लिये अद्धे टिकटो के दाम देने पडेगे, नही तो जुर्माना और कैद भुगतना पडेगा।'

टिकट-कलक्टर ने स्त्री को बहुत 'डॉटना-धमकाना' शुरू किया। वह बहुत छोटे कद की थी। जाडे का दिन, सबेरे का समय, गंगा-किनारे के मैदान की ठढी और तेज हवा। उसके तन पर केवल एक फटी धोती थी। बच्चे भी ऐसे ही फटे-पुराने कपडो मे लिपटे थे। टिकट-कलक्टर आज-कल अँगरेजी वर्दी पहनते हैं, उनमे रोब अधिक होता है। पहले तो स्त्री डरी, घबराई, फिर बच्चो को देखकर उसको 'क्रोध' और 'उत्साह' हुआ। जरा-सी ठिगनी स्त्री ने हैट-कोट-बूट-पतलूनधारी शानदार लबे-चौडे टिकट-कलक्टर को सिही के ऐसा उलटा डपटना-घुड़कना शुरू किया।

'तूँ हम के जर्वाना कैद करके का पैबा ? एक ठे इहै फटही लुगरी मोरे तन पर बाय, तोहार मन होय तो एहू के उतार ला। केहूँ भाँत तीन ठे बच्चन के जियाईला, से जर्वाना करिहैं, कैद करिहैं! और जो तूँ कहा ला कि तीन बरस से जास्ती हौवैं, सो बरस-ओरस का कायदा नाही हौ। कायदा हौ कि खिरकी से ऊँचा न होय। सो नाप ला कि इनमे से कोई खिरकी से ऊँचा हौ।'

देखनेवाला 'डर' रहा था कि कही टिकट-कलक्टर महाशय इन सब बेचारो को स्टेशन पर रोक ही न ले। (स्त्री और बच्चो को अगले स्टेशन पर उतरना था, पर वहाँ के भी टिकट इसी स्टेशन पर ले लिए जाते थे, और देखनेवाले को भी अगले स्टेशन तक, जहाँ 'लाइन' समाप्त होती है, जाना था)। वह कहना ही चाहता था कि मुझसे टिकटो का दाम ले लो कि टिकट-कलक्टर की मनुष्यता ने जोर किया, खिरकीवाली दलील पर 'हँस' पड़ा, माता के हृदय को पहचाना, उसके 'वात्सल्य' के ऊपर कायल हुआ, उन सबकी अतिदीन 'करुण' अवस्था पर 'दया' आई। कहा—'जा भाई, जा, ('बहिना' कहना चाहिए था, पर इसकी चाल कम है!) अपने बच्चो को लेकर डब्बे मे जा बैठ।'

स्त्री, 'मुस्कुराती' भी और 'बड़बड़ाती' भी, बच्चो को लेकर गाडी मे जा बैठी।

देखनेवाले के चित्त मे टिकट-कलक्टर के 'रौद्र' आरम्भ, स्त्री के 'भय', 'उत्साह' और 'वीरता', 'करुण दशा', 'मातृवात्सल्य', दलील पर 'हास', पृथ्वी पर अधिकांश मानवो की अन्न-वस्त्र के विषय मे भी घोर दुर्दशा पर ग्लानि और 'बीभत्सा' भी, तथा ईश्वर के 'अद्भुत' नीतिदारिद्र्य अथवा दारिद्र्य-नीति पर 'विस्मय' 'आश्चर्य', और अंततः ससार की लीला का विचार करके 'शांति'—सभी रसो का संकर हो गया! जान पड़ता है कि परमात्मा करुण रस के आस्वादन के लिये ही रौद्र, भयानक आदि उत्पन्न करता है।

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा।
परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्निः॥ (भागवत)

गाँवो की स्त्रियो के गीतो मे, एक-एक कड़ी मे जितना करुण रस भरा रहता है—क्योकि अपने अपरोक्ष घोर अनुभव पर आधृत होता है, उतना स्यात् आर्ष काव्यो को छोडकर अर्वाचीन काव्यो मे, 'उत्तररामचरित' मे भी, कठिनाई से मिलेगा।

फटही लुगरिया एकै मोरा रे पहिरनवाँ,
ओहू मे देवरवा की भगहिया, मोरे नोरन्।

वर्षों का घोर दारिद्र्य-दुःख, अन्नवस्त्र का दैनंदिन महाकष्ट, इन दो पक्तियों मे से उबल कर बह रहा है!

अहह, वेद्मि यतोऽसि जनार्दनो, ननु जगज्जनकोऽपि भवन्भवान्।
स्रवति नाति पयो जननीस्तनाद् यदि न रोदिति वेदनयाऽर्भकः॥
परमनाटककृत्करुणारतिर्भृशतर ननु रौद्रमचीकरः।
उदयतेऽति विनाऽदयमर्दन न ननु दीनजने दयनीयता॥

अपि रसेषु रस. करुणो वरो, ह्यपि भवान् रसिकोऽसि रसे वरे।
अपि ततो जगता जनकोऽपि सन् भवसि निर्दय एव जनार्दनः ॥

हॉ, ग्रामगीतो मे शब्द-अर्थ का परिष्कार-अलकार न हो, पर—

अस्ति चेद्रससम्पत्ति' अलङ्कारा वृथा इव ।
नास्ति चेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथैव हि ॥

अच्छा, यह हुई जीवज्जगन्नाटक मे रस-सकर की कथा। लिखित काव्य की कथा देखिए। 'भट्टिकाव्य' का प्रथम श्लोक है—

अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः
श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः ।
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन य
सनातन पितरमुपागमत् स्वयम् ॥

सनातन पुरातन पुरुष, अतिवृद्ध (कालेनानवच्छेदात्), 'शांत'-रसाधिष्ठाता, ब्रह्मांडपति, अतिविस्तृत ससार के असख्य जीवो के निग्रहानुग्रह प्रग्रह सग्रह की और कर्मफलदान की अपरिमेय चिता करते-करते थक गए, उबियाय (उद्विग्न हो) गए। यह सब चिता दूर फेककर, एक बेर मन भर, कैसे खेल ले—यह उत्कट अभिलाषा उठी। 'अश्वै' यान यान, दुग्धैः पान पानं, बालैर्लीला लीला।' आप छोटे बच्चे हो जायॅ और दूसरे बच्चो का साथ भी हो, तब दूसरों के माथे भर पेट खेलते-कूदते बने। पर सब माता-पिता एक-से नही होते, कोई-कोई तो बच्चो की डॉट-घोट भी किया करते हैं। और पुरुष-पुरातन के माता-पिता होने के लिये ऐसे-वैसे जान भी नही चाहिएँ, सर्वोत्कृष्ट ही हो। तो ऐसे माँ-बाप ढूँढ़ना चाहिए जो अच्छे से अच्छे हों, सारी पृथ्वी के आदरणीय, पूजनीय हो और बच्चो पर खूब 'निहाल' भी हों। चारों ओर देखा। करीब-करीब अपने ही इतने बूढे कौशल्या-दशरथ देख पडे। श्रुतान्वित, सर्वज्ञप्राय, और ज्ञानी ही नही, बडे धर्मी कर्मी, क्षत्रियधर्म, राजधर्म के अनुसार परतप, बडे शूर-वीर, प्रतापी, दुष्ट शत्रुओ का दमन करनेवाले। वह भी ऐसे-वैसे तलवार चलानेवाले नहीं, विबुधसख—इस उच्च कोटि के अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करनेवाले कि इद्र भी उनसे मित्रता खोजते थे और देवासुर-संग्रामो मे सहायता माँग लिया करते थे। गुणैर्वर, सब श्रेष्ठ-वरिष्ठ गुणो से विभूषित। और नृप, पृथ्वी के प्रजापालक सम्राट्। महासमृद्धिशाली, जिनके यहाॅ मक्खन-मिसरी की कमी नहीं, जो लड़कों को बहुत प्रिय भी है और बहुत उपकारक भोज्य सार भी। और सर्वोपरि यह कि उनके संतान नहीं, और सतान के लिये रात-दिन तरसते हैं। बूढे आदमी, अपनी आजन्म की बटोरी अकल को फेककर, बेवकूफ होकर, बच्चो पर 'छछाते' है, और उनको मनमानी तोड-फोड फेक-फाँक करने देते हैं। तो, बस, इन्ही की गोद मे जन्म लेना और इनके सिर पर खूब खेलना। साथी बच्चे कहाँ से आवे? अपने चार टुकडे कर डाले। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के साथ रामजी कौशल्या-दशरथ के घर आए। पुराण-पुरुष खेलने चले, लोग हँसेगे। कोई बहाना निकालना चाहिए। तो 'भुवनहितच्छलेन' राक्षसों को दूर करके ससार का उपकार करेंगे, आसुरी सपत् को हटाकर दैवी संपत् का पुनः भारतवर्ष मे उज्जीवन करेंगे।

बहुत अच्छा, भारत-जनता के हृदय मे घर-घर अवतार लेकर बहाने को जल्द सच्चा कीजिए। अवतारों को 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' सब विरुद्ध प्रकारो के महाकार्य करने पड़ते हैं, इससे उनके महाचरितों मे सभी 'रस' एकत्र देख पडते है। बाललीला और विबुधसखित्व मे ललिततम 'शृंगार' की झलक, माता-पिता के सबध मे 'वात्सल्य' और 'बहुमान', परतपता मे 'वीर', 'रौद्र', 'भयानक' और रणभूमि की युद्धानतर 'बीभत्सता', सनातन के पिता खोजने मे और भुवनहितच्छल मे 'हास्य' और 'अद्भुत', सनातनता मे 'शांति'—सभी एकत्र हैं। कृष्णावतार का भी श्लोक है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराड्विदुषां तत्त्व परं योगिनाम्,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गङ्गतः केशवः॥ (भागवत)
रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यो वीरो दया तथा।
भयानकश्च वीभत्सः शान्तः स प्रेमभक्तिकः॥ (श्रीधरी)

'सोऽयमात्मा सर्वविरुद्धधर्माणामाश्रयः', 'यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिश पतन्ति', 'तस्मै समुन्नद्ध-विरुद्धशक्तये नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे', 'यदविद्या च विद्या च पुरुपस्तूभयाश्रयः'—(भागवत), 'आत्मरतिरात्मक्रीडआत्म-मिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति' (छान्दोग्य), 'स स्वराड् भवति य एव वेद' (नृसिंहतापनी), इत्यादि।

आत्मनोऽन्यत्र यातु स्याद्रसबुद्धिर्न सा ऋता।
आत्मनः खलु कामाय सर्वमन्यत् प्रिय भवेत्।
सत्यो ध्रुवो विभुर्नित्य एक आत्म'रस'ः स्मृतः॥

इस 'रसमीमांसा' का निष्कर्ष यह होता है कि ससार-नाटक का लीला-बुद्धि से प्रवर्त्तन-निवर्त्तन और परमानद-परमात्मानद का आस्वादन—यह परमार्थ 'रस' है, और जीवात्मानद के छः मुख्य तथा अवांतर असंख्य मिश्र स्थायी भावो का आस्वादन—यह काव्यसाहित्य मे व्यवहृत स्वार्थ 'रस' है।

'कवि पुराणमनुशासितारम्,' 'कविर्मनीषी परिभू· स्वयम्भूः', 'अखिल कलादिगुरुर्नर्त्त'।
सृष्टिस्थितिलयाभास सन्तत सकलं जगत्। लीलामय सर्वरस नाटक परमं कवे.॥
कला लीलात्मिका व्यक्ति· लीला रसमयी क्रिया। स्वस्वभावविभूतीनामात्मना रसन रस.॥
नमो रसानां धर्माणां शक्तीनामथ सर्वदा। अप्यत्यन्तविरुद्धानां द्वन्द्वानामाश्रयाय च॥
रसाय रससाराय तथा रसघनाय च। रसानां च निधानाय तथा रसतमाय च॥
रसानामपि सर्वेषां रसिकायै कलाय च। प्रेष्ठाय सर्वश्रेष्ठाय परानन्दस्वरूपिणे॥
जगन्नाटककाराय सर्वपात्रमयाय च। सर्वस्य सूत्रधारायाप्याद्याय कवये नमः॥
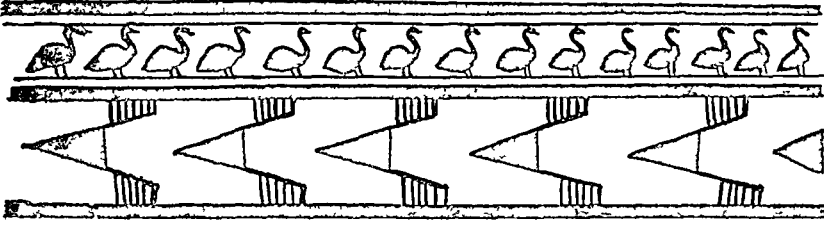
संस्कृत का वैज्ञानिक अनुशीलन

आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य

इसमे तो कोई सदेह नहीं कि भारतवर्ष मे स्मरणातीत काल से सस्कृत का प्रचार है। ऐसे अनेक विद्वान् इस भाषा ने पैदा किए हैं जिनका प्रतिस्पर्धी मिलना असभव है। फिर भी हमारा विचार है कि हमारी पाठ-शैली मे कुछ सस्कार होना चाहिए। इस बात को थोडे-से उदाहरण देकर यहाँ स्पष्ट किया जाता है।

किसी अति निपुण वैयाकरण से भी 'दृश्' धातु के वर्त्तमान काल के प्रथम पुरुष एकवचन का रूप पूछिए। वह झट उत्तर देगा—'पश्यति'। पर क्या यह ठीक है? 'दृश्' का 'द्'कार 'प'कार कैसे हुआ? यह बात हजारो नैरुक्त मिलकर भी नही बता सकते। बात असल यह है कि 'पश्यति' 'दृश्' धातु का रूप नही है। यह दर्शनार्थक 'स्पश्' धातु का रूप है जिससे 'स्पश' 'स्पष्ट' और 'पस्पशा'—ये तीन रूप लौकिक सस्कृत मे पाए जाते हैं। 'पस्पशे' 'पस्पशान' इत्यादि कई रूप वैदिक सस्कृत मे भी मिलते हैं। इन प्रयोगो मे 'स'कार का लोप क्यो हुआ, यहाँ विस्तार-भय से उसकी व्याख्या छोड देता हूँ। पाठक 'स्पर्ध्' धातु का 'पस्पर्धे' रूप देखकर उसके लोप-कारण का अनुमान कर सकते हैं।

'स्था' धातु से 'तिष्ठति', 'घ्रा' धातु से 'जिघ्रति', 'पा' धातु से 'पिबति' इत्यादि रूप बनते हैं। पर इनकी सिद्धि कैसे होती है? क्या कारण है कि ये धातु तत्तद् आकार को ग्रहण करते है। बात बडी सीधी है, पर पाणिनीय तत्र मे अतिनिष्णात अनेक विद्यार्थी भी शायद इसका उत्तर न दे सकेंगे। असल मे बात यह है कि ये रूप उन्ही धातुओ के अभ्यस्त रूप है। यहाँ इन धातुओ का अभ्यास वैसे ही हुआ है जैसे 'सन्' प्रत्यय परे होने पर होता है। इसी तरह 'जक्ष' 'जागृ' 'दरिद्रा' 'चकास्' इत्यादि मूल धातु नही हैं, बल्कि 'घस्', 'गृ', 'द्रा' और 'कास्' धातुओ के अभ्यस्त रूप हैं जो धातुओ के तौर पर गृहीत हो गए हैं। 'वृध्' 'ऋध्' 'एध्'—ये तीनो भी अलग-अलग धातु नही, बल्कि एक ही 'वृध्' धातु के तीन रूप हैं। इसी प्रकार 'वृणोति' और 'ऋणोति' दो नहीं, एक ही हैं। 'वृषभ' और 'ऋषभ' तथा 'वृद्धि' और 'ऋद्धि' एक ही शब्द हैं। यह अत्यत सामान्य-सी बात भी सस्कृत-पाठशालाओ के विद्यार्थी नही जानते।

हमारे शाब्दिको का कहना है कि अपर शब्द का 'पश्च' आदेश होता है, फिर 'आत्' के आने पर 'पश्चात्' रूप सिद्ध होता है। फिर 'पश्चार्ध' रूप साधने के लिये 'पश्चात्' शब्द का 'पश्च' आदेश किया जाता है। पर आचार्यों का यह आयास वृथा ही है, क्योकि असल बात यह नही है। मूलतः शब्द का रूप 'पश्च' ही है, उसी का पचम्यत रूप होता है 'पश्चात्'। यह अव्यय नहीं है। 'पश्चिम' शब्द भी 'पश्च' शब्द से ही सिद्ध होता है। इसी लिये 'अग्रादि पश्चाड्डिमच्' विधान निरर्थक है। 'बृहस्पति' शब्द को ही लीजिए। यह 'बृहत्+पति' से 'त'कार का लोप कर 'स'कार का आगम करके सिद्ध किया जाता है। किंतु वस्तुत. जिस प्रकार 'ब्रह्मणस्पति' 'वाचस्पति' 'दिवस्पति' इत्यादि शब्दो मे 'ब्रह्मणः' 'वाचः' 'दिवः' षष्ठ्यंत पद है उसी प्रकार बृहस्पति शब्द का बृहः (बृहस्) भी हकारांत 'बृह' शब्द का षष्ठ्यंत रूप है।

इसी प्रकार 'चतिश्चदद्' पद के विद्यमान रहते हुए भी, तथा वेदो मे 'सुश्चन्द्र' 'पुरुश्चन्द्र' 'विश्वश्चन्द्र' आदि शब्दो के पाए जाने पर भी, 'हरिश्चन्द्र' शब्द की व्युत्पत्ति मे 'स'कार का आगम-विधान व्यर्थ ही है। 'श्चन्द्र' धातु के 'श्' का लोप होने ही से 'चन्द्र' धातु बनता है जिससे हमारा 'चन्द्र' शब्द बनता है। यहाँ कुछ विचारणीय है। 'चन्द्रमाः' और 'चन्द्र' पर्यायवाची शब्द है। अर्थ मे कुछ भेद है। 'चन्द्र' का यौगिक अर्थ है 'उज्ज्वल' 'दीप्तिमान्'। मूलतः 'श्चन्दि' या 'चन्दि' धातु दीप्त्यर्थक ही था, पीछे से आह्लादनार्थक हो गया। 'मा' अर्थात् 'चन्द्र—हिमांशु', क्योकि उससे काल मापा जाता है (मीयते अनेन इति माः)। चद्रमा के प्रत्यक्ष उदय और अस्त होने से उसके द्वारा सहज ही काल का निर्णय किया जा सकता है। अतएव प्राचीनो ने उसे 'माः' कहा है। इस प्रकार आरभ मे 'चन्द्र-माः' का अर्थ था 'उज्ज्वल चन्द्र', पीछे से केवल 'चन्द्र' अर्थ रह गया। 'मा.' अर्थात् 'चन्द्र'—इसी लिये उसके सबंध से चैत्रादि भी 'मास' कहे गए।

वैयाकरणो का कहना है कि इष्ठादि प्रत्यय परे रहने पर प्रशस्य से 'श्रेष्ठ', प्रशस्य और वृद्ध से 'ज्येष्ठ', स्थूल से 'स्थविष्ठ', दूर से 'दविष्ठ', युवन् (युवा) और अल्प से 'कनिष्ठ', क्षुद्र से 'क्षोदिष्ठ', प्रिय से 'प्रेष्ठ' और स्थिर से 'स्थेष्ठ' शब्द सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार और भी। पर अर्थसाम्य को मानते हुए भी हम पूछते है कि प्रशस्य, वृद्ध, युवन् आदि शब्दो ने किस प्रकार श्र-ज्य-कन् आदि आकार धारण कर लिया ? स्थूल, दूर, क्षुद्र, प्रिय आदि शब्दो के तत्तद् आकार धारण करने के विषय मे भी हमारा यही प्रश्न है। वस्तुतः इष्ठादि प्रत्यय तद्धित के नही, कृदत के है। ये प्रशस्य आदि प्रातिपदिको के परे नहीं आते; आते है 'श्रि' आदि धातुओ के परे। इस प्रकार, श्रेष्ठ 'श्रि' धातु से, ज्येष्ठ 'ज्या' धातु से, कनिष्ठ 'कन्' से (इसी से 'कन्या' शब्द बनता है)' स्थविष्ठ 'स्थू' धातु से (इसी से 'स्थविर' आदि शब्द बनते हैं), दविष्ठ 'दू' धातु से (इसी से 'दूर' पद बनता है), क्षोदिष्ठ 'क्षुद्' धातु से, प्रेष्ठ 'प्री' धातु से, और स्थेष्ठ 'स्था' धातु से बनते है।

'उच्च-नीच' प्रसिद्ध है। नैरुक्तो का कहना है कि 'उच्चिनोतेः (अन्येभ्योऽपि दृश्यत इति ड प्रत्ययः) उच्चैस्त्वमस्त्यत्र वा (अर्श आदिभ्योऽच्)।' अर्थात् 'उत्'-पूर्वक 'चि' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' सूत्र द्वारा ड प्रत्यय करके या 'अर्श आदिभ्योऽच्' सूत्र से—'जिसमे उच्चैस्त्व हो,' इस अर्थ में—'अच्' प्रत्यय करके इस शब्द की सिद्धि होती है। वे ही 'नीच' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं—

'निकृष्टाम् ई लक्ष्मीं चिनोति' अर्थात् 'निकृष्ट ई (लक्ष्मी) का जो चयन करे' वह 'नीच' हुआ। अब इस पर क्या कहा जाय!

'उच्चावच' शब्द मे आनेवाले 'अवच' शब्द को ही लीजिए। 'अवच' और 'नीच' शब्द एकार्थक हैं, फिर 'अवच' शब्द की निरुक्ति क्या है? 'अवाक् अधो वा अञ्चतीति'—यहाँ अञ्च् के 'अ'कार का लोप हो गया है, इसका कुछ कारण आगे चलकर बताया जायगा। यहाँ पर तब तक इतना मान लीजिए कि यहाँ अञ्च् के 'अ'कार का लोप हो जाता है। यहाँ जैसे 'अव'-पूर्वक 'अञ्च्' या 'अच्' से 'अवच' बन गया है वैसे ही 'उत्'-पूर्वक उसी धातु से 'उदचम्' बनता है (स्मरण कीजिए—उदच्, उदक, उदीची (?) दिक्)। इसी तरह 'अ'कार के लुप्त होने से ('उत्'-पूर्वक 'अञ्च्' या 'अच्' से) 'उच्च' शब्द बनता है। 'नि'-पूर्वक 'अञ्च्' धातु से 'न्यक्' पद का बनना प्रसिद्ध ही है। इसी शब्द से 'अ' प्रत्यय परे होने पर (न्यच्+अ) 'नीच' पद बनता है। इसका क्रम यो है—'नि+अचम्', इस प्रकार की स्थिति होने पर पहले की तरह 'अ'कार का लोप हो जाता है। इससे 'निचम्' प्रयोग बनता है। 'इ'कार का दीर्घ निम्नलिखित नियम से होता है। 'नि-अचम्'—इस प्रथमावस्था मे तीन मात्राएँ होती हैं। 'अच्' के आदि 'अ'कार के लुप्त होने पर दो ही मात्राएँ रह जाती हैं। 'इ'कार के दीर्घ करने पर वह लुप्त मात्रा किसी तरह बच जाती है। इस प्रकार 'नीच' शब्द सिद्ध होता है। 'उच्च' शब्द मे यह बात नही है, क्योंकि वहाँ 'उ'कार सयोग-पूर्वक होने के कारण गुरु और द्विमात्रिक है। इसी लिये वहाँ दीर्घ करने की कोई आवश्यकता न रही। तुलना कीजिए—द्वीपम् (द्वि+अपम्), प्रतीपम् (प्रति+अपम्), अनूपम् (अनु+अपम्), प्रतीचा (प्रति+अचा) इत्यादि। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

'अस्' धातु के तीन रूप होते हैं 'अस्ति, स्तः, सन्ति। यहाँ अतिम दो पदो मे 'अस्' के 'अ'कार का लोप दिखाई देता है। पर प्रथम मे ऐसा नहीं है। इसका कारण यह है कि उदात्त स्वर अनुदात्त से बलवान् होता है। बलवान् ही सर्वत्र रह जाता है और प्रभावशाली होता है। बलवान् के समीप रहने पर दुर्बल पराभूत होता है, पराभूत होकर नष्ट भी हो जाता है। यहाँ प्रकृति मे भी 'अस्ति' का 'अ'कार उदात्त है। इसी लिये बादवाले स्वर 'इ'कार से बलवान् हैं। 'स्त' पद मे प्रत्यय का 'अ'कार उदात्त होने के कारण बलवान् है। 'अस्' धातु का स्वर 'अ'कार यहाँ अनुदात्त—अतएव दुर्बल—है। दुर्बलता के कारण वह लुप्त हो गया। धातु का 'स'कार प्रत्यय के 'त'कार से युक्त होकर उसी के स्वर के साथ रह गया, क्योंकि स्वर के बिना व्यंजन की कोई गति नही। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राय: एक पद मे एक ही स्वर उदात्त हुआ करता है। 'सन्ति' पद मे भी 'अन्ति' प्रत्यय का 'अ' उदात्त है। इसलिये वही प्रबल है। धातु का दुर्बल स्वर 'अ'कार, स्थित रहने मे अशक्त होने के कारण, नष्ट हो जाता है। इस प्रकार 'सन्ति' पद सिद्ध होता है। इसी प्रकार इसी 'अस्' धातु के शतृ-प्रत्ययांत शब्द का रूप 'सत्' होता है; क्योकि वहाँ भी प्रत्यय का 'अ'कार बलवान् है। दुर्बल धातुस्वर 'अ'कार वहाँ टिक न सका। 'हन्ति' मे भी धातुस्वर उदात्त, अतएव प्रबल है। इसी लिये उसमे कुछ विकार नहीं आया। पर 'घ्नन्ति' मे यह बात नहीं है। इसमे 'अन्ति' के 'अ'कार की ही प्रबलता है, क्योकि वही उदात्त है। धातुस्वर का 'अ'कार दुर्बल होने के कारण लुप्त हो जाता है। फिर 'ह'कार अपने आदिम

रूप 'घ'कार से प्रकाशित होकर 'न'कार से युक्त हो जाता है। 'हन्' का 'ह्'कार पहले 'घ'कार के रूप मे था, यह बात 'जघान' आदि प्रयोगो को देखकर स्पष्ट ही प्रतीत होती है। जिस प्रकार 'घ्नन्ति' पद मे प्रत्यय-स्वर के उदात्त होने से धातुस्वर का लोप हुआ है, वैसे ही 'जघ्नतु' 'जग्मतु' इत्यादि प्रयोगो मे भी। 'अतुस्' प्रत्यय का 'अ'कार उदात्त है। इसी प्रकार तृतीया के एकवचन मे (राजन्+आ) राज्ञा, (नामन्+आ) नाम्ना आदि प्रयोग बनते हैं। इन पदो मे आदि 'आ'कार उदात्त है। तुलना कीजिए—मन्मथ. (∠ मनमथ), कुमुद्वती (∠ कुमुदवती), शाद्वलम् (∠ शादवलम्), नड्वलम् (∠ नडवलम्) इत्यादि।

'चित्' धातु से 'चेतति' और 'तुद्' से 'तुदति' बनता है। पहले मे गुण हुआ है, दूसरे मे नही। क्यो ? इसका कारण यही है कि 'भ्वादि' गण मे धातु का स्वर उदात्त है और 'तुदादि' मे विकरण प्रत्यय का स्वर उदात्त होता है।

'वचस्' और 'उक्त'—ये दोनों शब्द 'वच्' धातु से बनते हैं। पहले में 'व'कार ज्यो का त्यों है, दूसरे मे सम्प्रसारण हुआ है। यहाँ भी वही कारण है। पहले मे धातु-स्वर और दूसरे मे प्रत्यय-स्वर उदात्त है। उदात्त स्वर के बलवान् होने के कारण धातु का दुर्बल स्वर दूसरे रूप मे बदल गया।

इसी तरह 'देवी' शब्द के प्रथमा एकवचन मे 'देवी' रूप होता है। इसका अंत्य स्वर उदात्त है। सबोधन मे ह्रस्व 'इ'कारान्त 'देवि' शब्द बनता है। यहाँ प्रथम स्वर उदात्त है, इसी लिये प्रबल है। दूसरा स्वर इसकी प्रबलता के कारण दुर्बल पड़ जाता है, इसी लिये—यद्यपि पहले वह दीर्घ था—यहाँ ह्रस्व हो गया।

अधिक विस्तार की आवश्यकता नही। मै समझता हूँ, इतने से ही यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि तत्त्व समझने के लिये कैसे व्याकरण की आवश्यकता है।

आज-कल संस्कृत-पाठशालाओ मे प्राकृत की बड़ी उपेक्षा की जा रही है। पर यह बात किसी तरह ठीक नही है। मधुरता मे संस्कृत से प्राकृत बढी-चढ़ी है, यह बात सहृदयों से छिपी नहीं है। सहृदयों का अनुभव ही इसमे प्रमाण है। राजशेखर का कहना है कि संस्कृत-बंध परुष और प्राकृत-बंध सुकुमार होता है। इनमे उतना ही अंतर है जितना पुरुष और रमणी मे।

जो कुछ भी हो, आज इस सुकुमारता के लिये प्राकृत के अध्ययन की बात नहीं की जा रही है, और न जैन तथा बौद्ध शास्त्रो के तत्त्वावगमन के लिये इसे पढ़ने को कहा जा रहा है। निस्संदेह प्राकृत के अध्ययन के ये भी फल हैं, किंतु इनके अतिरिक्त भी ऐसे प्रयोजन हैं जिनके कारण प्राकृत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह यह कि प्राकृत के विना अनेक स्थानो पर सस्कृत नहीं समझी जा सकती। देखिए—

ऊपर हम 'पश्च' शब्द का उदाहरण दे आए हैं। यहाँ भी पहले उसी को लीजिए। सब जानते है कि पूँछ का नाम 'पुच्छ' है। वेदो मे भी यह शब्द पाया जाता है। अच्छा, तो इसकी निरुक्ति क्या है ? नैरुक्त इसके लिये व्याकुल-से जान पड़ते हैं। तत्त्व यह है कि यह शब्द 'पश्च' से ही प्राकृत प्रभाव से बना है। प्राकृत मे 'श्च' का 'च्छ' होना पाया जाता है। जैसे सस्कृत 'आश्चर्य' प्राकृत मे 'अच्छरिय' सस्कृत 'पश्चिम' प्राकृत मे 'पच्छिम' हो जाता है। कोश कहते हैं कि 'पुच्छः पश्चात्प्रदेशे स्यात् लाङ्गूले पुच्छमिष्यते।' इससे स्पष्ट ही जान पड़ता है कि 'पुच्छ' प्राकृत प्रभाव से यह रूप धारण करके पहले 'पश्चात् प्रदेश' अर्थ मे और फिर, 'पीछे रहनेवाली दुम' के अर्थ मे भी व्यवहृत होने लगा। किंतु

भाग्य नक्षत्र

चित्रकार—नेकोलस डि रोरिक

(चित्रकार के सौजन्य से)

(चित्रकार ने यह चित्र भारत-कलाभवन को भेंट दे दिया है)

'पश्च' मे तो 'प्' के बाद 'अ'कार है और पुच्छ मे 'उ'कार, इस भेद का क्या रहस्य है ? इसकी संगति यों लगाई जायगी कि 'प'कार ओष्ठ्य वर्ण है, उससे युक्त 'अ'कार यद्यपि कण्ठ्य है तथापि ओष्ठ्य वर्ण के सामने दुर्वल पडकर तज्जातीय (उकार) हो गया। सस्कृत-व्याकरण मे ही इस प्रकार का परिवर्त्तन देखा जा सकता है। ऋकारात धातु का 'ऋ'कार 'मुमूर्षा', 'पूर्ण' आदि शब्दो मे तो 'उ'कार हो गया है, पर 'चिकीर्षा' मे 'इ'कार। ओष्ठ्य वर्ण के योग मे ओष्ठ्य और तालव्य वर्ण के योग मे तालव्य स्वर का रूप ग्रहण करना पडा है।

संस्कृत मे 'पिच्छ' शब्द 'शिखड' अर्थ मे प्रयुक्त होता है। यह सस्कृत नही, प्राकृत है। 'पक्ष' शब्द से इसकी उत्पत्ति है। प्राकृत मे 'क्ष'कार अनेक प्रकार से परिवर्तित होता है। कही तो यह 'ख(क्ख)'कार के रूप मे परिवर्त्तित होता है, कही 'छ(च्छ)'कार के रूप मे और कही-कही 'झ(ज्झ)'कार के रूप में। उदाहरणार्थ—संस्कृत का 'दक्ष' शब्द प्राकृत मे 'दक्ख', सस्कृत का 'कुक्षि' प्राकृत मे 'कुच्छि', सस्कृत का 'क्षाम' प्राकृत मे 'झाम' हो जाता है। प्राकृत मे 'पक्ष' शब्द के दो रूप हुए हैं—'पच्छ' और 'पक्ख'। प्रथम 'प'कार का 'अ'कार 'इ'कार हो गया है, क्योकि 'छ'कार तालव्य वर्ण है। दूसरे 'प'कार का 'अ'कार 'उ'कार हो गया है, क्योकि ओष्ठ्य वर्ण के साथ है। स्वर का परिवर्त्तन कही परवर्ण के अनुसार होता है और कही पूर्व-वर्ण के। यह 'पुख' शब्द 'बाण के मूल मे सलग्न पक्ष' के अर्थ मे व्यवहृत होता है। स्मरण कीजिए—

"सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव
चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे।" (रघुवश, सर्ग २, श्लोक ३१)

अव 'पुङ्खानुपुङ्ख' शब्द के अर्थ पर विचार कीजिए। यह शब्द श्रीमद्भागवत मे प्रसिद्ध है। प्रायः सयुक्त वर्णो मे से एक के लुप्त होने पर पूर्व-स्वर सानुनासिक या सानुस्वार हो जाता है। यह नियम प्राकृत मे भी है, सस्कृत मे भी और अन्यत्र भी। जैसे 'कर्तक' से 'कटक'। पहले 'कर्तक' प्राकृत मे आकर 'कट्टक' हुआ, फिर एक 'ट'कार का लोप होने पर पूर्व-स्वर सानुस्वार हो गया, इस प्रकार 'कटक' बना। फिर यह शब्द सस्कृत मे भी प्रयुक्त होने लगा। सो यह प्राकृत शब्द भी सस्कृत हो गया है। इसी नियम से 'पक्ष' 'पक्ख' होता है। फिर 'क'कार का लोप करने से 'पुङ्ख' हो जाता है। इसी प्रकार 'लक्षण' शब्द से 'लाञ्छन' वनता है। सस्कृत 'लक्षण', प्राकृत 'लच्छण', फिर 'च'कार लोप करके 'लाञ्छन'। इसी प्रकार गर्जन से 'गंजन'। 'गज' नामक कोई दूसरा धातु नही है, वह 'गर्ज' धातु ही है। इसी लिये प्राकृत 'गजन' भी सस्कृत मे प्रयुक्त होता है। और भी देखिए। 'ऋक्ष' शब्द 'भालू' अर्थ मे प्रसिद्ध है। इसी का वाचक 'अच्छ' शब्द भी है। यह 'अच्छ' शब्द पहले की भाँति इसी 'ऋच्छ' शब्द का रूप है। इसी प्रकार 'नदीकच्छ' आदि मे जो 'कच्छ' शब्द है वह 'कक्ष' का ही प्राकृत रूप है।

इसमे तो किसी को सदेह नही हो सकता कि 'विकृत' ही 'विकट' हो गया है। 'विकट' नाम की कोई दूसरी वला नही है। मूर्द्धन्य वर्ण 'ऋ'कार के योग से 'त' का 'ट' हो गया है। जैसे संस्कृत का 'कैवर्त्तः' शब्द प्राकृत मे 'केवट्टो' हो जाता है। इस प्रकार 'विकट' शब्द यद्यपि प्राकृत है, तथापि वेदो से लेकर लौकिक सस्कृत तक मे इसका प्रयोग पाया जाता है। इस तथ्य को न जानकर लोगो ने

'विकट' 'प्रकट' शब्दों की सिद्धि के लिये 'कट्' नामक एक अलग धातु ही बना लिया है। इसी प्रकार 'भट' और 'उद्भट' वस्तुतः 'भृत' और 'उद्भृत' के ही प्राकृत रूप हैं। इसकी सिद्धि के लिये भी 'भट्' धातु की कल्पना की गई है। 'पतति' ही प्राकृत-प्रभाव से 'पटति' बनता है। 'उत्पातयति' और 'उत्पाटयति' कुछ भिन्न नहीं हैं। फिर 'पट्' धातु को 'पत्' धातु से भिन्न बताना कहाँ तक उचित है, यह पाठक ही विचारें। 'पिष्' धातु से 'पिष्ट' बनता है जिसका प्राकृत रूप है 'पिट्ठ'। इसी ने क्रमशः 'पीड' रूप धारण कर लिया। नामधातु होकर यही 'पीडयति' प्रयोग का कारण हुआ। विस्तार की आवश्यकता नही। यह एक ही बात तो है नहीं, और भी बहुत-सी बाते हैं।

'मनोरथ' शब्द को लीजिए। इसकी निरुक्ति के विषय मे शाब्दिको का कहना है कि 'मन एव रथोऽत्र, मनो रथ इव वा' (मन ही रथ, या मन रथ की भाँति)। इन लोगो ने इसके शब्दों पर ही केवल ध्यान दिया है, अर्थ एकदम छोड़ दिया है। बात असल यह है कि यह शब्द मूलतः 'मनोऽर्थ' था। वही रेफ के बाद 'अ'कार-योग होने से 'मनोरथ' हो गया। यहाँ वैदिको और लौकिकी स्वर-भक्ति पर ध्यान दीजिए। प्राकृत तथा भाषा मे 'दरिसण' और 'दरशन' आदि प्रयोग पाए जाते हैं। 'गृह' के अर्थ मे 'गेह' शब्द वेदो तक मे आता है। यह शब्द सस्कृत नही, प्राकृत है। इसकी उत्पत्ति का क्रम यो है—गृह 7 ग्रेह 7 गेह। कही-कही 'ऋ'कार का उच्चारण 'रे'कार-जैसा होता है। यजुर्वेदीय शिक्षा के अनुसार 'कृष्णोऽसि' को 'क्रेष्णोऽसि' पढ़ने का उपदेश दिया गया है। प्राकृत मे सयुक्त वर्ण के शब्द के आदि मे रहने पर दो मे से एक का लोप हो जाना प्रसिद्ध है।

अभ्यस्त 'दा' धातु से 'त' प्रत्यय आने पर 'दत्त' रूप बनता है। उसी का 'आ'-पूर्वक रूप 'आदत्त' और 'आत्त' होता है। इस द्वितोय रूप के साधन के लिये शाब्दिकों का कहना है कि स्वरांत उपसर्ग के परे जो 'दा' धातु है उसका 'त्' आदेश होता है ('अच उपसर्गात्तः'—पाणिनि ३-४-४३)। यह प्रक्रिया शब्दमात्र की निष्पत्ति के लिये है। किंतु इससे तत्त्व का ज्ञान नही होता। बात असल यह है कि प्राकृत मे पद के अनादिस्थित क ग, च, ज, त, द, प, य और व वर्णों का प्रायः लोप हो जाता है। यहाँ भी 'आदत्त' के 'द' का लोप होकर 'आ-अत्त' बना, फिर 'आत्त' रूप बन गया, 'अवदत्त' 'अवत्त' इत्यादि। तुलना कीजिए—वेद मे 'प्रउग' शब्द आता है, जो मूलतः 'प्रयुग' है।

संस्कृत मे अधीनार्थक 'आयत्त' शब्द है। 'आयतते स्म' कहकर वैयाकरण इसे 'यत्' धातु से साधते हैं। पर असल मे यह प्राकृत है, सस्कृत नहीं। 'आदत्त' के 'द'कार का लोप होने के बाद 'आअत्त' रूप बना, फिर 'यश्रुति' के अनुसार 'आयत्त' बन गया। जैसे प्राकृत मे 'वदन' का 'वअण' और 'वयण' हो जाता है। सस्कृत के 'क. आस्ते, क आस्ते, क यास्ते' प्रयोगो के साथ इसे मिलाकर देखिए। ऐसे स्थलो पर यह 'य'कार लघुतर-प्रयत्नोच्चारित हो, ऐसा शाकटायन आचार्य का मत है। यह 'य'कार पूर्ण 'य'कार नहीं, बल्कि अपूर्ण और 'य' के समान है। इसी लिये प्रातिशाख्यकार इसे 'यलेश' कहते हैं। 'यलेश'—अर्थात् 'य' का लेश-मात्र उच्चारण। प्राकृतज्ञ इसे 'यश्रुति' कहते हैं। जान पड़ता है कि पाणिनि के समय पूर्ण 'य'कार ही का उच्चारण होता था। जो हो, यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे स्थलो मे दो स्वरो के बीच मे एक 'य'कार सुन पडता है। ऐसा करने से उच्चारण सुकर हो जाता

है। इस नियम के अनुसार बहुत-से पदों का साधन अनायास ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'देव' शब्द के षष्ठी एव सप्तमी द्विवचन मे 'देवयो:' पद बनता है। यहाँ 'देव-ओस्'—इस स्थिति में दो स्वरो के बीच एक 'य' आने से 'देवयो ' पद सरलता से बन जाता है। इसी प्रकार 'गायति' 'लतायाम्' इत्यादि पदो मे 'य'कार के आगम की व्याख्या करनी चाहिए।

'कदन्नम्' 'कदर्थः' 'कदुष्णम्' इत्यादि अनेक प्रयोग पाए जाते हैं। वैयाकरणो का कथन है कि यहाँ 'कु'शब्द का 'कद्' आदेश होता है। यह तो केवल उक्ति-मात्र है। इसमे कोई प्रमाण नही है। इसी प्रकार कापुरुष, कापथ इत्यादि मे भी 'कु' शब्द का ही 'का' आदेश बताया जाता है। इसका भी कोई साधक नही है। जैसे यद्, तद्, एतद्, अन्यद् (तुलनीय—अन्यदीय), मद्, त्वद् आदि 'द'कारांत सर्वनाम शब्द हैं, वैसे ही 'किम्' शब्द के अर्थ मे ही एक अपर शब्द 'कद्' भी है। जैसे 'द'कारात 'यद्' आदि शब्दो का प्रथमा आदि विभक्तियो मे 'द्' लुप्त होकर 'अ'कारात शब्द (यः यौ ये) रह जाता है, ठीक वैसे ही 'कद्' शब्द का भी। केवल नपुसक लिग के प्रथमा-एकवचन मे 'किम्' इमत पद बनता है, अन्यत्र सर्वत्र 'क' रूप रहता है। 'कदर्थ' आदि शब्दो मे तो स्पष्ट ही 'कत्' प्रकृति है। जैसे 'कदन्न' आदि मे और 'किसखा' आदि मे क्षेप (निदा) स्पष्ट ही समझा जाता है। फिर कुत्सित अर्थ का पाया जाना कुछ भी दुर्लभ नही है। 'कापुरुष' प्रथमत 'कत्पुरुष' था, फिर प्राकृत के नियमानुसार 'कप्पुरुष' हुआ। एक 'प'कार के लुप्त और पूर्व-वर्ण के दीर्घ होने से 'कापुरुष' बन गया। (तुलना कीजिए √गुह्, गूढ एव यादृश, तादृश)। इसी प्रकार 'कापथ'—कत्पथ 7 कप्पथ 7 कापथ.। अधिक विस्तार की आवश्यकता नही।

जो सस्कृत का अनुशीलन करने की इच्छा रखते हैं, उनको कुछ इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए कि एक भाषा मे प्रायः दूसरी भाषा से शब्द लिए ही जाते हैं, अतएव सस्कृत मे भी लिए गए हैं। केवल सस्कृत के ज्ञाता एव प्रेमी यह समझते हैं कि इस भाषा मे वे जो कुछ देखते हैं, सब सस्कृत का ही है। इसी लिये वास्तविकता का त्याग करके किसी न किसी प्रकार शब्दो की व्युत्पत्ति निकालने लगते हैं, अर्थ का कुछ भी विचार नही रखते। उदाहरणार्थ, ज्योतिःशास्त्र मे तो प्रसिद्ध ही है कि 'होरा' आदि शब्द यवनों से लिए गए हैं। कालिदास एक स्थल पर कहते हैं—

हित्वा हालामभिनवरसा रेवतीलोचनाङ्काम्
बन्धुस्नेहात् समरविमुखो लाङ्गली या· सिषेवे।

यहाँ 'हाला' का अभिप्राय है 'मदिरा'। हमारा ही कोई नैरुक्त इसकी निरुक्ति यों करता है—'हलत्यङ्गम्, हल विलेखने, ज्वलादित्वान्न् णः, हल्यतेऽनया वा'। इसी नैरुक्त के किसी अनुयायी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'हाला हल्यते कृष्यत इव चित्तमनया इति।' किंतु वस्तुत. 'हाला' देशी शब्द है। वामन ने (काव्यालकार, सूत्र ५-१-२२ मे) स्पष्ट ही कहा है—"अतिप्रयुक्त भाषापदम्, अतीव प्रयुक्त देशभाषापद प्रयोज्यम्।" यथा 'योपिदित्यभिललाप न हालाम्' इत्यत्र 'हाला' इति देशभाषापदम्। अर्थात् अतिप्रयुक्त देशभाषापद का प्रयोग करना चाहिए। जैसे 'योपिदित्यभिललाप न हालाम्' इस वाक्य मे 'हाला' देशभाषापद है। इसी प्रकार भाषाशास्त्री 'कुड' 'कूल' 'केयूर' 'कोट्ट' 'खट्वा' 'घोटक' 'चपक' 'नीर' 'पल्ली' 'मीन' 'वलय' 'वल्गु' आदि शब्दो को द्रविड़भाषा-मूलक कहते हैं।

जो संस्कृत पर अधिकार करने की इच्छा रखते हो उनको पारसीक भाषा के 'अवेस्ता' की उपेक्षा न करनी चाहिए। यह पारसीक भाषा सस्कृत से, विशेषतः वैदिक सस्कृत से, उतना ही अधिक सबद्ध है जितना प्राकृत से सस्कृत। इस सबध को देखकर सहृदयो को बड़ा कौतूहल होता है। इन दोनों भाषाओ मे से एक के हृदयंगम हो जाने पर दूसरी बडी सुगम हो जाती है। एक की सहायता से दूसरो के समझने मे सरलता होती है। उदाहरणार्थ देखिए—'अस्मद्' शब्द के चतुर्थी के एकवचन मे 'मह्यम्' रूप होता है। अवेस्ता मे 'मइब्यो' होता है। (अवेस्ता मे 'भ' नही है, उसके स्थान मे 'ब'कार हो जाता है। नहीं तो यहाँ 'मइभ्यो' होता।) इससे यह जाना जाता है कि सस्कृत मे मूलतः 'मभ्यम्' ही था, जैसा कि 'तुभ्यम्' (अवेस्ता मे 'तइब्यो' है) 'युष्मद्' शब्द का है। यह 'मभ्यम्' समय पाकर—'भ'कार के 'ह'कार हो जाने से (जैसा कि 'ग्रभ' धातु मे 'भ' के 'ह' होने से 'ग्रह' हो जाता है)—'मह्यम्' हो गया।

अब यहाँ अधिक न कहकर एक गाथा और उसका सस्कृत-रूप दिया जा रहा है। इसी से दोनो भाषाओ की समता समझी जा सकेगी। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि ध्वनि-तत्त्व के नियमानुसार एक भाषा को सुगमता से दूसरी भाषा मे रूपांतरित किया जा सकता है।

अवेस्ता

तेम्	अमवन्तेम्	यजन्तेम्
सूरेम्	दामोहु	सेविशतेम्
मिथ्रेम्	यज़ै	जओथ्राब्यो

इसका संस्कृत-अर्थ होगा—'त शक्तिमन्त यजनीयं शूर जीवानां परमोपकारक मित्र हविर्भिर्यजे।'

सस्कृत

तम्	अमवन्तम्	यजतम्
शूरम्	धामसु	शविष्ठम्
मित्र	यजै	होत्राभ्यः

प्रसगवश मै यहाँ एक आप-बीती घटना का उल्लेख करता हूँ।

सस्कृत मे देखा जाता है कि जितने ऋतुवाचक शब्द हैं, सभी वर्ष के वाचक हैं। 'अप्' देनेवाले को 'अब्द' (जलद—मेघ कहते) हैं। इन्हीं मेघो के सबध से वर्षा को भी 'अब्द' कहते हैं। यही 'अब्द' शब्द 'वर्ष' का भी वाचक है। 'वर्ष' अर्थात् वृष्टि—वर्षण। इसी सबध से वर्षा ऋतु हुई। फिर 'वर्ष' शब्द भी 'साल' का वाचक हो गया। 'शरद्' शब्द स्पष्ट ही 'शरद्-ऋतु' का वाचक है। यह भी 'वर्ष (साल)' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है—'जीवेम शरदः शतम्'। इसी प्रकार हिम-ऋतु का वाचक 'हिम' शब्द भी वेदो मे इसी अर्थ मे प्रयुक्त पाया जाता है—'शत हिमाः'। इससे पता लगता है कि संस्कृत मे निश्चय ही कोई ग्रीष्म-वाचक शब्द भी वर्ष-वाचक होगा। यह हो नही सकता कि इस ग्रीष्म-प्रधान भारत के आर्य अपनी प्रधान ऋतु को ही भूल जायँ।

एक बार बड़ी रात तक मै यही सब सोचता रहा। पर कोई शब्द न सूझ पड़ा। संयोगवश एक बार 'अवेस्ता' के पन्ने उलटते समय अनायास मेरी दृष्टि उसके 'हम' शब्द पर पड़ी। यह शब्द उक्त पुस्तक की भाषा मे ग्रीष्म का वाचक है। तत्क्षण मेरे मन मे आया कि यही वह शब्द है जिसकी खोज

मुसलमानों के पहले की राजपूत चित्रकला ।—पृ० ३१

मैं उस रात को कर रहा था—(जिजीविषेच्छत समाः)—वह संस्कृत शब्द है 'समाः'। संस्कृत का 'सम' ही अवेस्ता मे 'हम' हो गया है। 'स'कार का उसमे 'ह'कार हो जाता है। जैसे—सस्कृत का 'सोम' उसमे 'हओमो' हो गया है।

एक बात और। यदि क्षय को न रोका जाय और क्षीण अंश की पुन. पूर्ति न की जाय, तो क्या वृद्धि की कोई आशा की जा सकती है? मैं समझता हूँ, सस्कृत के विद्यार्थियों में बहुतेरे यह नही जानते कि कितने ही सस्कृतग्रथो का नाम तक लुप्त हो गया है। कितने हो ऐसे ग्रथ हैं जो मूल सस्कृत-रूप मे तो अब नही मिलते, पर भोट (तिब्बती) और चीना भाषाओं के अनुवाद-रूप मे मिलते हैं। कुछ मगोल भाषा में भी विद्यमान हैं। चाहे जिस कारण से हो, बौद्ध ग्रथ भारत से लुप्त हो गए हैं। ये ग्रथ बडे गभीर अर्थवाले हैं। इनमे अधिकाश दर्शन-सबधी हैं। इन्हे जाने विना स्वय भारतवर्ष के विषय मे ही अच्छी तरह नही जाना जा सकता। यह सुनकर प्रत्येक भारतीय प्रसन्न होगा कि काव्य एव अलकार-ग्रथों मे नागानद, जोवानद, मेघदूत, बुद्धचरित, काव्यादर्श आदि तथा व्याकरण-ग्रथों मे चाद्र, कातत्र, सारस्वत, पाणिनीय आदि भोट (तिब्बती) भाषा मे अनूदित पाए गए हैं। अन्य विषयों के भी अनेक ग्रथ मिले हैं। चोनो भाषा मे तो बहुत-से ग्रथ मिले हैं। जिन ग्रथों का मूल संस्कृत-रूप मिला है उनके पाठ-शोधन के लिये भी चीनी और भोट-भाषा के अनुवाद-ग्रथों की आवश्यकता है। जिन पाठो का सशोधन अनेक प्रतियों से भी नही होता, उनका भोट-भाषा की सहायता से सहज ही हो जा सकता है। यदि समय और साधन रहते उनका उद्धार न किया गया तो संस्कृत की उन्नति हो चुकी! और, भारतीयों के विना भला इस महान् कार्य को ठीक-ठीक दूसरा कोई कैसे कर सकेगा? यह भारतीय विद्वानों का ही कार्य था कि दुर्विलंघ्य पर्वत-मालाओं को लाँघकर, नाना प्रकार के सकट झेलकर, भोट (तिब्बत) तथा चीन देशो में जाकर वहाँ की भाषा पर अधिकार किया और वहाँ के लोगों की सहायता से कठिन सस्कृत-ग्रथो का अनुवाद किया। यह मानना असभव है कि वहाँवालों ने यहाँवालों की सहायता के विना ही यह कार्य किया होगा। जो बात तब हो सकी, वह अब क्यों न हो सकेगी? चीनी भाषा प्रायः मूल सस्कृत के भावार्थ का अनुसरण करती है और भोट-भाषा प्रायः अक्षरार्थ का। इसी लिये हमारे नष्टोद्धार-कार्य में भोट (तिब्बती) पाठ ही अधिक सहायक होगा। थोडा-सा उदाहरण देकर स्पष्ट किए देता हूँ।

पहले मैंने 'मनोरथ' शब्द के अर्थ पर विचार किया है। वहीं पर यह कहा है कि हमारे नैरुक्तों के मत से इसकी निरुक्ति है 'मनसो रथ इति'। किंतु भोट-भाषावालों ने युक्तायुक्त का विचार न करके जैसा देखा वैसा ही अनुवाद कर लिया है। "यिद्-क्यि-पिङ्-र्त"—इसका यह अर्थ है—

यिद्=मनस्
क्यि=षष्ठी विभक्ति } मनस· (=मन का)

पिङ्र्त[1]=रथः

1 पिङ्=काष्ठ, र्त=घोड़ा। पिङ् र्त=काठ का घोडा। यह शब्द 'रथ' के अर्थ मे रूढ़ है। इससे जाना जाता है कि भोट पुरुष काष्ठमय अश्व को ही रथ कहा करते थे!

इस प्रकार 'यिद्-क्यि-षिड्र्त' = मनसो रथः = मनोरथः। ऐसा ही अन्यत्र भी समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि संस्कृत-पाठो के नष्टोद्धार मे जो लोग प्रयत्नशील हैं, उन्हे भोट-भाषा से बडी सहायता मिलेगी। चीनी पाठ भी इस कार्य मे उपकारी है। अभी भारतवर्ष मे इस कार्य का श्रीगणेश ही हुआ है। विद्यार्थियो को इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

एक समय था, जब कि प्रत्येक विषय—चाहे वह यहाँ का हो या अन्यत्र का—सस्कृत-भाषा मे ही लिखा जाता था। इस लिये सस्कृतज्ञ तत्तद् विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकता था। इधर संस्कृत-ग्रथों के बनने के बाद अनेक नए तत्त्व आविष्कृत हुए हैं। उन्हे न जाननेवाला मनुष्य, लोक मे, सुख-पूर्वक जीवन-यापन नहीं कर सकता।

आज-कल केवल भारतवासियो द्वारा ही सस्कृत नही पढी जा रही है, अभारतीय राष्ट्रों मे भी इसका विशेष प्रचार होता जा रहा है। उन देशो के विद्वानों के मत की उपेक्षा करना उचित नहीं है। जो उपादेय हो, उसे अवश्य ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा इष्ट-सिद्धि मे बाधा पडेगी।
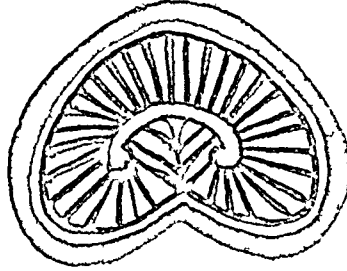
संदेश

उनपर ही जीवन न्योछावर, जिनका उज्ज्वल पुण्य-प्रताप;
जिन्हे न बेध सका जगती का दुःख, शोक, दारुण सताप।
जिनकी बाट जोहती आशा, जिनसे शकित होता पाप;
जिनके चरणो पर श्रद्धा से नत मस्तक हो जाता आप।
उनकी ही सेवा मे मेरा यह सदेश सुना देना—
यदि जाने पाऊँ तो उनके चरणो तक पहुँचा देना॥

तोरन देवी शुक्ल 'लली'

मुसलमानों के पहले की राजपूत चित्रकला।—पृ० ३२

मुसलमानों के पहले की राजपूत-चित्रणकला

श्री काशीप्रसाद जायसवाल, विद्यामहोदधि

राजपूत-क़लम की चितेरी विद्या का वखान सब करते और सराहते हैं। राजपूत-कलम चित्रकारी के उस सप्रदाय को कहते हैं जिसके उस्ताद प्रायः हिंदू चितेरे मुसलमानी समय मे हुए। अकबर के पहले की चितेरी के नमूने कम हैं। लबी नाक और विकट कटाव-गढ़नवाले रूपदर्शी चित्र कुछ जैन-ग्रथों मे मिले हैं, पर वे भी कबीर साहब के युग के पहले के नही हैं। अजता-पहाड के गुहा-मदिरो के बाद और मिस्टर मेहता की जैन तस्वीरो के पहले के चित्र अभी तक नहीं मिले थे। इस लेख मे दिखलाया जायगा कि हिंदुओं की चित्र-विद्या विक्रम-सवत् की बारहवी शती मे जीवित थी। जो उदाहरण हमे मिले हैं वे ठीक मुसलमानी राज्य जमने के पहले के हैं। उनके उरेहनेवाले, राजपूत-राजाओं के कारीगर थे। ये मालवा के रहनेवाले रहे होंगे, क्योकि महाराज भोज के और उनके वशवालो के ये आश्रित थे।

महाराज भोजदेव—जिनका विद्याप्रेम और पाडित्य घर-घर कहानियो मे प्रसिद्ध है, और कहते हैं कि 'कहाँ राजा भोज और कहाँ गगू तेली' (अर्थात् गागेय और तैलप राजा)—महमूद के आक्रमण के समय वर्त्तमान थे। अलविरूनी ने, जो महमूद के साथ आया था, भोज की सभा का वर्णन किया है और लिखा है कि स्त्रियो का उनके यहाँ आदर था। भोज के यहाँ कई महिला-कवि थीं, यह काव्य के ग्रथों से जाना जाता है। भोज ने 'भोजपाल' नामक—जिसे अब 'भोपाल' कहते हैं—एक बहुत ही बडा समुद्र-सा तालाब पहाडो को बाँधकर बनाया। भोज की लडाई उनके समय के राजाओ से थी। उनमे से कुछ दक्षिणवाले थे और कुछ गुजरात आदि के। भोज का शिव-मदिर, जो अभी तक 'भोपाल-ताल' पर अधूरा पडा हुआ है, इसी लडाई-झगडे मे अधूरा रह गया। भोजदेव मारे गए।

इसका बदला उनके भतीजे महाराज उदयादित्य ने चुकाया। शत्रुओ को हराया और मालवा का राज्य फिर चमकाया। एक बहुत ही सुदर लाल पत्थर का शिखर-मदिर इन्होने मालवा मे बनाया, जो आज तक उनके बसाए छोटे शहर 'उदयपुर' मे (रियासत ग्वालियर मे भिलसा के पास) वर्त्तमान

है। उसकी शान का कोई भी मदिर आर्यावर्त्त मे नहीं है। उसमे उदयेश्वर महादेव हैं। उसी मे उन्होंने भोजराज की कीर्त्ति-प्रशस्ति सस्कृत-श्लोको मे खुदवा दी है।

इन्ही उदयादित्य ने दक्षिणवालो को परास्त किया और अर्वली पहाड (अर्बुदाचल) तक अपना राज्य फिर से स्थापित किया। मेरी समझ मे इसी विजय की यादगार मे कुछ चित्र इन्होने इलोरा के गुहा-मदिरो मे बनवाए, जिनमे राजा के चित्र के ऊपर 'प्रमार' लिखा हुआ है। 'प्रमार' अथवा 'परमार' इनके वश का नाम था। ये चित्र युद्ध के हैं। सब राजपूत-सिपाहियो को बड़ी-बडो मूँछे और ऊपर चढ़ी हुई दाढ़ी है। इससे सिद्ध होता है कि क्षत्रियो मे दाढी रखने की प्रथा पुरानी है, और मुसलमानों के पहले की है। चित्रो मे सिपाही कच्छी घोडो पर हैं और पैदल भी हैं। सब लाम बाँधकर आज-कल की पलटन की तरह, वरन् यो कहिए कि जर्मन पलटन की तरह, एक साथ लंबी कदम उठाए हुए चल रहे हैं। जब शत्रु-सेना (जो बिना दाढ़ी की है) हार जाती है, हाथ उठाकर लडाई बद करने कहती है। प्रमार राजा, जो पहले हाथो पर लड रहा था, पालकी पर आता है, सामने उसके कुछ योद्धा लाम बाँधकर चलते हैं, और एक ओर पलटन खडी है तथा स्त्रियाँ मंगल लिए रास्ते मे खडी हैं। पराजित शत्रुराज का भी चित्र है।

ये चित्र रगीन हैं। इनकी शैली अजता और राजपूत-मुगल-शैली के बीच की मानों कड़ी है। देखिए Annual Report of the Archæological Department of His Exalted Highness the Nizam's Dominion, 1337 F (1927-28 A C), Plates D, E (इस पर नागरी मे लिखा है 'स्वस्ती स्रि प्रमारराज'), F । लिखनेवाला साधारण अध-पढा चितेरा था, क्योकि 'स्वस्ति' को 'स्वस्ती' और 'श्री' को 'स्रि' लिखता है। रग गेरुआ, नीला, काला, हरा आदि हैं। अक्षरो की लिखावट प्रमार राजा भोज और उदयादित्य के समय की है जिनके बहुत लेख और ताम्रपत्र मिले हैं। पिछले राजपूत चितेरों की कारीगरी मे भाव नही है, भाव की शून्यता है। पर इलोरा के चित्रो मे भाव का अभाव नही, वे भाव-भरे है। हारा हुआ राजा घबराया हुआ है, योधा लडने के समय प्रचड हैं, घोड़े मानो उडा चाहते हैं, हाथी और मनुष्य युद्ध मे सलग्न हैं।

पर जब चितेरी मुगल बादशाही मे पहुँचती है तब विचारी चुप हो जाती है। मूरत की तरह सीधे खड़ी रहती है। हर जगह मानो उसको हँसने-बोलने की शाही मुमानियत है।

इलोरा-चित्रो के राजपूत दीर्घकाय चेहरे-मुहरेवाले हैं। घोडे इनके बहुत अच्छी जाति के हैं। एक तरह का जिरहबख्तर सब योधा पहने हुए हैं। ढाल इनकी गोल है।

ये चित्र हिंदी-काल के आदि-समय के है।

श्रीपडित द्विवेदीजी के चिर-साहित्य-सेनापतित्व के उपलक्ष मे मै जो उनका एक सिपाही हूँ, यही भेट अपने हिंदी-भाइयो को करता हूँ। पडितजी हमारे साहित्यक्षेत्र के उदयादित्य हैं।

आचार्य पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी
संवत् १९७९ (सन् १९२२)
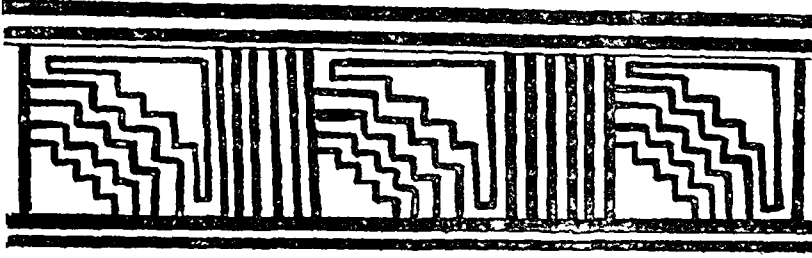
वेद और वह्नि-युग

श्री रुद्रदेव शास्त्री, वेदशिरोमणि, दर्शनालकार

इतिहास की रूप-रेखा का निर्माण करनेवाले ऐतिहासिकों ने इतिहास के चार बड़े-बडे कालिक विभाग किए हैं—(१) प्राचीन प्रस्तरकाल, (२) नवीन प्रस्तरकाल, (३) पित्तल-युग और (४) लौह-युग।

पूर्व-निर्देश

इनके अवातर विभाग और भी किए जा सकते है। उन अवातर विभागो के प्रारभ और अवसान का समय भी किन्ही निश्चित अथवा कल्पित लक्षणो के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। वहुत-से ऐतिहासिकों ने इन अवांतर विभागो के स्पष्टीकरण मे उचित दक्षता और तत्परता प्रदर्शित की है। परतु किसी ऐतिहासिक ने 'वह्नि-युग' का निर्देश इस प्रसग मे नही किया। मैं प्रकृत मे इस 'वह्नि-युग' की स्थापना करने का उद्योग करूँगा।

'इतिहास' शब्द का अर्थ है—'यह प्रसिद्ध था'—(इति = यह, + ह = प्रसिद्ध, + आस = था)। इतिहास ही मनुष्य-जाति के पास एक ऐसा साधन है जिससे परोक्ष देश और परोक्ष काल मे हुई घटनाएँ कालातर मे होनेवाले पुरुषों के समुख प्रत्यक्षवत् उपस्थित की जा सकती हैं।

इस इतिहास के निर्माण करने मे वहुधा वडी जटिल समस्याएँ भी आ उपस्थित होती हैं। जिन वातों की उत्पत्ति आदि का समय हम नही जान पाते, वे प्रागैतिहासिक काल की कही जा सकती हैं। इतिहास से पुष्ट और ऐतिहासिको द्वारा अनुप्राणित कतिपय वातो को अविकल रूप से स्वीकार करते हुए भी मेरे विचार मे एक ऐतिहासिक त्रुटि है। वह त्रुटि है—'वह्नि-युग' का अभाव। मै 'वह्नि-युग' की ओर विवेचक और परीक्षक पुरुषों का ध्यान-मात्र आकृष्ट करना चाहता हूँ।

ऐतिहासिक त्रुटि को दृढ रूप से सश्लिष्ट करनेवाली यही समुचित वस्तु है—ऐसी मेरी प्रतिज्ञा नही है, क्योंकि इस विषय मे दृढ वात कही नही जा सकती। मै तो ऋग्वेद के नासदीय सूक्त की श्रुति को इस विषय में भी नही भुलाना चाहता। श्रुति मे कहा है—'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्'—अर्थात् इसे कौन ठीक-ठीक जानता है और कौन ठीक-ठीक वता सकता है। अन्य वहुत-सी कल्पनाओ के साथ ही साथ यह भी कल्पना है। ऐतिहासिक इस सिद्धात को ही मानें—यह मेरा विचार नही। मेरे विचार के अनुसार इसको भी एक कल्पना मानना समुचित और सगत है, एव प्रकृत मे इतना ही अभीष्ट है।

प्राणि-विद्या-विशारदों के मतानुसार प्रोटोजोआ प्राणिजगत् के विकास की पहली सीढ़ी है। पुन: शनै:-शनै: घोघा, मूँगा, मछली, जल-स्थलचारी और स्थलचारी प्राणी उत्पन्न हो गए। प्रोटो-कोकस से प्रारभ कर पूर्ण विकसित वृक्ष और वनस्पतियो का जन्म प्राणिजगत् के आविर्भाव से पूर्व ही हो चुका था। परतु पत्थर के कोयले के स्तरो को जन्म देनेवाले वृक्ष बहुत समय के उपरांत उत्पन्न हुए। "बुक आफ नालेज" के सपादक 'आर्थर मी' ने उक्त ग्रथ के प्रथम भाग के ग्यारहवे पृष्ठ पर एक चित्र द्वारा—जिसे वैज्ञानिक कलाविद् श्री जी० एफ० मारेल ने बनाया है—घडी के रूप मे जीवन-जगत् के विकास को काल-क्रम से प्रदर्शित किया है। एच० जी० वेल्स ने भी अपने ग्रथ 'दि आउट लाइन आफ हिस्ट्री' मे रेखा-चित्रो (डाइग्राम) द्वारा इस विषय को हस्तामलकवत् प्रदर्शित करने का सराहनीय उद्योग किया है। उक्त घडी मे जीवन-जगत् के प्रारभ से लेकर मनुष्य के आविर्भाव तक के समय को बारह भागो मे विभक्त किया है। प्रत्येक विभाग के लिये तीस लाख वर्ष का समय निश्चित किया है। इन बारहो विभागो के नाम कुछ (स्तर आदि की) विशेषताओ के आधार पर रख लिए गए हैं। इन नामो की सख्या केवल आठ ही है। जैसे पहला विभाग—केम्ब्रियन, दूसरा और तीसरा—साइलूरियन, चौथे से छठे विभाग तक—डेवोनियन, छठे से आठवे तक—कार्बोनिफेरस, आठवे से नवे तक—ट्राइजिक, नवे से दसवे तक—जुरेसिक, दसवे से ग्यारहवे तक—क्रेटसेअस्, ग्यारहवे से बारहवे तक—टर्शियरी। ये आठ विभाग मानकर उपर्युक्त बारह विभागो की आठ ही सज्ञाएँ रक्खी गई हैं। पहले और दूसरे विभाग मे छोटे-छोटे जलीय कीडों का आविर्भाव हुआ। इनके नाम 'श्यलफिश', 'ट्रिलोबाइट' आदि हैं। दूसरे विभाग से लेकर चौथे विभाग तक जलीय बिच्छू-जैसे जतु उत्पन्न हुए। चौथे विभाग की समाप्ति और पाँचवें तथा छठे भाग के मध्य मे रीढ़वाली मछलियाँ पैदा हो गई। इसके पूर्व तक निरस्थि (हड्डी से रहित) जंतु ही पैदा हुए थे। छठे और आठवे भाग के मध्य मे अगले और पिछले पैरो (=हाथ-पैर) वाले विशाल जतु उत्पन्न हुए। आठवे और नवे भाग के मध्य मे बृहत् शरीरवाली समुद्रीय छिपकलियाँ उत्पन्न हुईं। नवे और ग्यारहवे भाग के मध्य मे डिनोसौरस् डिप्लोडोकस्, ब्रांटोसोर स्टेगोसौर और उड़नेवाले सर्प आदि विशाल और भयंकर जतु उत्पन्न हुए। ग्यारहवे विभाग और बारहवे विभाग के मध्य मे सस्तन प्राणी—मैमथ, कटार के सदृश टेढे और लबे दाँतवाले चीते, प्रारभिक काल के बदसूरत और बड़े-बड़े बालवाले हाथी, घोडे तथा ऊँट आदि जीव—उत्पन्न हुए। पुन: टर्शियरी-काल की समाप्ति के लगभग मनुष्याकार बदरो—गोरिल्ला, औरांग उटान, गिब्बन और चिपांजी आदि—के उपरात, तथा प्रारभिक काल के मनुष्य अथवा अर्द्धोन्नत होकर चलनेवाले लगूर (पिथेकथ्रोपस् एरक्टस्) के उपरांत, वर्त्तमान मनुष्य-जाति के पूर्व-पुरुषों का जन्म हुआ। अर्द्धोन्नत होकर चलनेवाले लगूर की कुछ अस्थियो के अनुसधान का श्रेय डाक्टर यूजीन डुबोइस् को दिया जाता है। जावा के 'ट्रिनिल' स्थान मे विनष्ट-जातीय जिस जतु के भग्न कंकाल का पता चला है, डाक्टर यूजीन डुबोइस् के मतानुसार वह भग्न ककाल अर्द्धोन्नत होकर चलनेवाले लंगूर का ही है। एच० जी० वेल्स के मतानुसार प्लाइओसीन-काल की समाप्ति और प्लाइस्टोसीन-काल के प्रारंभ मे—अर्थात् आज से पाँच-छ: लाख वर्ष पूर्व—उक्त प्रकार के जतुओ की सत्ता इस जगत् मे थी। 'पिथेकथ्रोपस् एरक्टस्' के बहुत पीछे, प्रारभिक काल के मनुष्यो

मत-संग्रह

को—अर्थात् इओअथ्रोपस् का—जन्म हुआ। सुसेक्स के 'पिल्टडाउन' नामक स्थान मे जो भग्नास्थियाँ और भग्न कपाल आदि मिले हैं, वे सभवतः इओअथ्रोपस् की सत्ता के ही प्रमाण हैं। कपाल-विद्या के विशेषज्ञो ने, तथा अवयव-सस्थानो की विशेषता के चतुर परीक्षको ने, उपर्युक्त दोनो जातियो के प्राणियो मे पर्याप्त अतर उपलब्ध किया है। उन लोगो के कथनानुसार इन दोनो की सत्ता के समय मे भी कुछ न्यून अंतर नही है। हीडलवर्ग के भग्न-कपाल और अस्थियाँ किसी अन्य तीसरी और अधिक विकसित जाति के मनुष्यो की कही जाती हैं। हीडल-वर्गीय कपालादि से सघटित प्राणी, ऐतिहासिको के मतानुसार, सभवत. दो या ढाई लाख वर्ष पूर्व इस जगत् मे जीवित दशा मे विद्यमान थे। अतः इओअथ्रोपस् का समय आज से छः और ढाई लाख वर्ष पूर्व के मध्य मे कभी होना चाहिए।

यदि हम इस काल की प्राचीनता को कुछ न्यून करना चाहे, तो भी 'पिल्टडाउन' के कपाल का समय एक लाख वर्ष पूर्व रखना ही होगा। विक्रमाब्द से न्यूनातिन्यून पचास हजार वर्ष पूर्व चतुर्थ हिम-प्रवाह का समय है। कतिपय ऐतिहासिको का मत है कि पिल्टडाउन मे उपलब्ध कपाल तृतीय हिम-प्रवाह के समय का है। डाक्टर अविनाशचंद्र दास ने अपने ग्रथ 'ऋग्वेदिक कलचर' के आठवे पृष्ठ पर इसी मत को स्वीकार किया है।

क्रो-मैग्नान की गुहा मे मनुष्य का एक पूर्ण ककाल मिला है। इसका समय चालीस हजार से पचीस हजार वर्ष के मध्य मे स्थिर किया जाता है। इसको प्राचीन प्रस्तर-काल का कहते हैं। मेटोन के निकट 'ग्रिमाल्डी' की गुफा मे भी एक प्राचीन कंकाल मिला है। वह भी अर्वाग्वर्त्ती प्राचीन प्रस्तर-काल का कहा जाता है। एच० जी० वेल्स के मतानुसार योरप मे आज से दस या बारह हजार वर्ष पूर्व नवीन प्रस्तर-काल प्रारभ हुआ था। कतिपय अन्य स्थानो मे नवीन प्रस्तर-काल का समय इससे कुछ सहस्र वर्ष पूर्व भी कहा जा सकता है। इन नवीन प्रस्तर-काल के मनुष्यो को अग्नि का ज्ञान था। वे लोग मिट्टी के बर्तन भी बना सकते थे—वन के कद-मूल और फल-फूल तथा आखेट के द्वारा ही अपनी जीवन-वृत्ति को निष्पन्न करते थे—खाना पकाते भी थे और बहुधा कच्चा भी खाते थे। बकरा, भेड, गाय, घोडा, सुअर तथा जगली कुत्तो को भी पालने लग गए थे। वे न केवल अग्नि-द्वारा भोजन ही पकाते थे, अपितु अग्नि ही के द्वारा आत्मरक्षा भी करते थे—यहाँ तक कि अग्नि ही के द्वारा, इसी को प्रधान साधन मानकर, वे आखेट भी करते थे।

प्राचीन और नवीन प्रस्तर-काल के जिन उपकरणो के चित्र 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' आदि मे दिए हुए हैं, उनसे सुदर आखेट कर सकना न केवल कष्टसाध्य—अपितु बहुलाश मे असाध्य भी है। भिन्न-भिन्न काल के विभिन्न-स्वरूप उपकरणो की प्रचुरता को ध्यान मे रखकर ही प्राग्वर्त्ती प्राचीन प्रस्तर-काल, अर्वाग्वर्त्ती प्राचीन प्रस्तर-काल और नवीन प्रस्तर-काल आदि की सज्ञाएँ रखी गई हैं। मेरे विचार मे 'अग्नि' आवश्यक उपकरण की भाँति भी रहा है। अतः अग्नि को अभिलक्षित करके इस कालिक विभाग मे 'अग्नि-युग' अथवा 'वह्नि-युग' को भी विशिष्ट स्थान देना आवश्यक है। मैं इसी की स्थापना करना चाहता हूँ। यही सिद्ध करना मेरा अभीष्ट है।

मनुष्य का आविर्भाव सबसे प्रथम कहॉ हुआ ? इस विषय मे कई मत हैं। कोई कहते हैं कि प्रारभिक मनुष्य उत्तरीय अफ्रिका मे उत्पन्न हुआ। कोई कहते है, दक्षिणीय एशिया मे। कोई कहते हैं, दक्षिण-पूर्वीय योरप मे। सब मतों के समर्थक व्यक्ति अपने-अपने मत की पुष्टि मे यथेष्ट युक्तियाँ देने का उद्योग करते हैं। किंतु मनुष्य चाहे कहीं भी जन्मा हो, पर यह तो निश्चित है कि आरंभ मे मनुष्य को अपनी जीविका और आत्म-रक्षा के लिये कृत्रिम साधनों की आवश्यकता हुई। सभी जगह अरण्य थे, और सभी जगह आरण्य पशु। यदि मनुष्य के लिये भक्ष्य जंतु विद्यमान थे, तो सर्वत्र मनुष्य के भक्षक भी विद्यमान ही थे। अन्य जतुओं—बाघ, सिह, भेड़िया, हाथी, भैंसा आदि—के पास आत्म-रक्षा के लिये स्वाभाविक उपकरण हैं। किसी के पास तीव्र नख हैं—किसी के पास तीव्र दंत, और कोई अपने दृढ़ एव निशित शृगों से आत्म-रक्षा कर सकता है। किंतु मनुष्य के पास उपर्युक्त प्रकार का कोई स्वाभाविक उपकरण नहीं है। मनुष्य अपनी बुद्धि के बल से कृत्रिम उपकरणो का निर्माण कर उन्हीं से आत्म-रक्षा आदि करता है। मनुष्य को अपनी सहज बुद्धि से ही कृत्रिम उपकरणो के प्रयोग का ज्ञान हुआ। क्रमश. इन उपकरणो मे विकास होता गया। मनुष्य ने पहले-पहल सभवतः वृक्षो को—स्वय टूटकर गिरी हुई—लकडियों और इधर-उधर पड़े हुए असस्कृत प्रस्तर-खडो से ही आत्म-रक्षा आरभ की। इन्ही उपकरणो से आखेट आदि मे भी साहाय्य लेना प्रारभ किया। कुछ समय के उपरांत पत्थरो को संस्कृत और सुडौल तथा आखेट के योग्य बनाकर हिस्र जतुओ से अपनी रक्षा करने लगे। इतना ही नही, उन उपकरणो के द्वारा वध्य प्राणियो का वध भी करने लगे।

प्रस्तर-काल आदि संज्ञाओं के हेतु

एच० जी० वेल्स के मतानुसार छः लाख वर्ष पूर्व से लेकर लगभग पैंतीस हजार वर्ष पूर्व तक प्राग्वर्त्ती प्राचीन प्रस्तर-काल है। पुन. पैंतीस हजार वर्ष पूर्व से लेकर लगभग पद्रह हजार वर्ष पूर्व तक अर्वाग्वर्त्ती प्राचीन प्रस्तर-काल है। तदुपरांत नवीन प्रस्तर-काल का समय है। उपकरणो की दृष्टि से प्राचीन प्रस्तर-काल की दो विशिष्ट सज्ञाएँ हैं। छः लाख वर्ष पूर्व से लेकर चार लाख पचास हजार वर्ष पूर्व तक के उपकरण अधिक भद्दे और असस्कृत है। आंगल-भाषा-भाषी ऐतिहासिको ने उन उपकरणो का निर्देश 'रोष्ट्रोकेरिनट इओलेमेंट्स' शब्द से किया है। प्रथम प्राचीन प्रस्तर-काल के शेष उपकरण कुछ अच्छे और कुछ सस्कृत है। इनके आधार पर इस काल को एक विशिष्ट नाम—'माउस्टेरियन एज'—से पुकारते है। ये सज्ञाएँ अँगरेजी भाषा की हैं। हम प्रकृत मे अँगरेजी भाषा की सज्ञाओ को ही स्वीकार किए लेते है।

डाक्टर अल्बर्ट चर्चवर्ड ने 'ओरिजिन एंड इवोल्यूशन आफ ह्यूमन रेस' मे आज से बीस लाख वर्ष पूर्व से सत्रह लाख वर्ष पूर्व तक के समय को प्राचीन प्रस्तर-काल स्वीकार किया है। उनके मतानुसार प्रारभिक खर्वाकार मनुष्यो (पिग्मी) के समय से लेकर 'स्टेलार-माइथास पीपुल' के समय तक प्राचीन प्रस्तर-काल ही है। 'निलाटिक नीग्रो' आदि का, समय इसी के मध्य मे आ गया है। उन्होने मगोल प्रभृति जातियो के आदि-पुरुषो की 'स्टेलार-माइथास पीपुल' सज्ञा रक्खी है। उनके मतानुसार इन्हीं मगोल प्रभृति जातियो के आदि-पुरुषो के समय से नवीन प्रस्तर-काल प्रारभ होता है। कालक्रम से ज्यो-ज्यो मनुष्य के

कपाल का मस्तिष्क-स्थान बढ़ता गया, त्यो-त्यो उसके उपकरणों मे कृत्रिम स्थिरता एवं सुदरता भी बढ़ती गई। उनके मतानुसार वानर के कपाल का मस्तिष्क-स्थान अधिक से अधिक छ सौ क्यूबिक सेटी-मीटर होगा—पिग्मी का नौ सौ और निलाटिक (नाइल के समीप के) नीग्रो का ग्यारह सौ क्यूबिक सेटी-मीटर। मस्तिष्क-स्थान मे इसी भाँति क्रमश' उन्नति होती गई। इस प्रकार बुद्धि के विकास के साथ ही साथ मनुष्य के उपकरण भी परिष्कृत होते गए। अन्य प्राणियो से मनुष्य की जो बौद्धिक विशेषताएँ हैं, उनमे आत्म-रक्षा अथवा आहार-प्राप्ति के निमित्त कृत्रिम साधनो को उपयोग मे लाना भी अन्यतम मुख्य विशेषता है। अन्य प्राणी अपने स्वाभाविक उपकरण—तीव्र नख, दत और शृग आदि—को ही आत्म-रक्षा के उपकरण की भाँति प्रयुक्त करते हैं, परतु मनुष्य आत्म-रक्षा एव आहार की प्राप्ति के लिये कृत्रिम उपकरणो को भी व्यवहार मे ला सकता है और चिरकाल से ला रहा है। कभी-कभी हाथी भी अपनी सूँड से ढेला आदि फेककर प्रहार की चेष्टा करता है। और, बहुधा विकसित दशा के वानर भी ऐसी ही चेष्टा करते देखे गए हैं। पर वे भी कृत्रिम साधनो को प्रस्तुत करने की चेष्टा कभी नहीं करते। अन्य पशुओ से मनुष्य की सबसे बडी विशेषता यह है कि मनुष्य भोजन इत्यादि पकाने और शीत आदि के निवारण तथा प्रकाश आदि के लिये अग्नि का व्यवहार कर सकता है, परतु अन्य कोई प्राणी उक्त कार्यो के निष्पादन के निमित्त अग्नि का उपयोग नही कर सकता। मनुष्य को जब अग्नि का ज्ञान हो गया तब वह सपूर्ण पशु-जगत् का पूर्ण अधिपति हो गया। अग्नि को प्रज्वलित कर वह अन्य वन्य पशुओ से भली भाँति आत्म-रक्षा कर सकता था। यद्यपि प्रारंभ मे कुछ काल तक मनुष्य को अग्नि का ज्ञान न था, तथापि भिन्न-भिन्न शाखाओ मे प्रस्थित होने के पूर्व ही उसको अग्नि का ज्ञान हो चुका था। मनुष्य-समाज के प्राचीन और श्रेष्ठ आविष्कारो का अग्रणी यही 'अग्नि' है।

बहुत-से देशो की भाषाओ मे 'अग्नि' के पर्यायवाची शब्द प्राय सदृश ही हैं। जैसे—(१) संस्कृत मे 'अग्नि', (२) लेटिन मे 'इग्निस्', (३) लिटूएनियन मे 'उग्निस्', और (४) स्काटिश मे 'इगले' इत्यादि। बहुत-से देशो मे अग्नि को देवता मानकर उसकी पूजा भी प्राय. विशिष्ट महत्त्व के साथ की जाती है। अरणियो (लकडियो) की रगड से उत्पन्न होनेवाले जिस अग्नि का वैदिक नाम 'प्रमथ' है, उसी को यूनानी लोग 'प्रोमेथियस्' नाम से पुकारते हैं। अरणि अथवा आग्नेय प्रस्तर-खडो से मनुष्य ने अग्नि को कैसे उत्पन्न किया, अथवा अग्नि की उपयोगिता मनुष्य को कैसे विदित हुई—इन प्रश्नो का समाधान सभवतः यही हो सकता है कि या तो मनुष्य ने 'जगल मे लगी हुई आग' (दावानल) का साक्षात्कार किया होगा, अथवा ज्वालामुखी के समीपवर्त्ती अग्नि के दर्शन कर उसकी उपयोगिता और उत्पत्ति-क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त किया होगा, अथवा प्रस्तर-खडो के प्राकृतिक आघट्टन से उत्पन्न हुए अग्नि का साक्षात्कार करने के उपरात ही प्राक्तन मनुष्यो के हृदय मे इस वस्तु (अग्नि) के प्रयोग की ज्ञानरेखा उद्बुद्ध हुई होगी।

महाशय ई० ओ० जेम्स ने 'इट्रोडक्शन टु अथ्रायालाजी' मे अग्नि की उत्पत्ति के विषय मे प्रायः इसी प्रकार के विचार प्रदर्शित किए हैं। उनके मतानुसार प्लाइस्टोसीन-काल के प्रारभिक समय मे अग्नि का ज्ञान हो चुका था। ऋग्वेद के एक मत्र (१० म०, २१ सू०, ५ म०) से विदित होता है कि

ऋषि अथर्वा ने अग्नि को उत्पन्न किया था। उन्होने अग्नि को कब और कैसे उत्पन्न किया, एक मंत्र में इस विषय की कुछ और भी सूचनाएँ मिलती है। ऋग्वेद (६,१६,१३) मे कहा गया है कि 'त्वामग्ने पुष्करादधि अथर्वा निरमन्थत'—अर्थात् हे अग्नि! अथर्वा ने (दो अरणियो अथवा आग्नेय शिलाखडो को) रगडकर कमल के फूल की पँखड़ियो से तुमको उत्पन्न किया। इस मत्र से अग्नि के उत्पत्ति की कुछ प्रक्रिया विदित होती है। इसके अर्थ पर ध्यान देने से विदित होता है कि अग्नि को उत्पन्न करने के लिये दो पत्थर आपस मे रगड़े गए होगे और उस रगड से उत्पन्न होनेवाली चिनगारियो को कमल के फूल की पॅखडियों पर इकट्ठा करके आग पैदा की गई होगी।

सन् १९३१ ई० मे मै दुर्गापूजा की छुट्टियो मे भ्रमणार्थ चित्रकूट, झाँसी, ललितपुर आदि गया था। ललितपुर से थोड़ी ही दूर पर चेदिराज शिशुपाल की नगरी—आधुनिक 'चदेरी'—है। एक दिन मै 'चदेरी' की सडक पर भ्रमणार्थ जा रहा था। मार्ग और उसके समीप का भू-भाग पथरीला था। वहाँ कुछ लड़के-लडकियाँ और पुरुप गाय-बैल आदि चरा रहे थे। उन्हे चिलम पीने की इच्छा हुई। तमाखू निकालकर उन्होने चिलम मे रक्खी। पुनः उन्होंने वही पास मे पडे हुए दो छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े उठाए। उन टुकड़ों को उन्होने आपस मे तीन-चार बार टकराया। टकराते ही उनसे छोटे-छोटे स्फुलिग निकले। उन स्फुलिगो—चिनगारियों—को उन्होने सेमर की रुई मे इकट्ठा कर लिया! पत्थर के साथ ही उससे संश्लिष्ट सेमर की रुई पर जो स्फुलिग गिरे, उनमे फूँक मारकर उन्होने थोडी ही देर मे चिलम पीने लायक आग पैदा कर ली। इस घटना को देखकर मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। भ्रमण से लौटकर जब मै अपने विश्राम-स्थल पर आया, तब मुझे और भी आश्चर्य हुआ। मेरे एक स्निग्ध बधु, प्रयाग-विश्वविद्यालय के विद्यार्थी, श्रीगोपालचद्र द्विवेदी बी० एस-सी० ने मुझे बतलाया कि यहाँ पर हमारे समीपवर्त्ती बहुत-से नर-नारी इसी भाँति से अग्नि उत्पन्न करते हैं। उनसे मुझे यह बात भी विदित हुई कि यह पद्धति केवल दरिद्र लोगो मे ही प्रचलित है। इस प्रत्यक्षदृष्ट घटना के आधार पर मेरा अनुमान है कि प्राक्काल मे बहुधा इसी प्रक्रिया से आग पैदा की जाती होगी।

ऋग्वेद मे कुछ और भी ऋचाएँ हैं जो अग्नि की उत्पत्ति पर यत्किचित् प्रकाश डालती हैं। एक स्थल पर (ऋ० ६,१६,१४) कहा है कि 'अथर्वा के पुत्र दध्यड् ने तुम (अग्नि) को प्रज्वलित किया है'। फिर दूसरे स्थल पर (ऋ० १,३१,१-२) कहा गया है कि आंगिरस् पुरुपो ने तुम (अग्नि) को उत्पन्न किया है। इसी भाँति एक तीसरे स्थल पर (ऋ० १,५८,६) उल्लेख है कि भृगुवशी पुरुषो ने मनुष्यों के बीच मे तुम (अग्नि) को प्रतिष्ठित किया है। एक अन्य ऋचा (१,३६,१९) मे यही बात मनु के विपय मे कही गई है। पुनः एक मत्र (ऋ० १०,४५,१) मे कहा गया है कि अग्नि पहले विद्युत् के रूप मे आकाश मे उत्पन्न हुआ। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि सभवतः विद्युत् के पतन से किसी वृक्ष मे आग लग गई हो, और सबसे पहले उसी अग्नि का ज्ञान प्रारभिक मनुष्यो को हुआ हो। सूर्य और विद्युत्, दोनो, अग्नि के ही रूप कहे गए है—(ऋ० १,७९,१-३,१०,४५,३)। ऋग्वेद (१०,२०,७) मे अग्नि को 'पत्थर का पुत्र' (अद्रेः सूनुः) भी कहा है। एक स्थल पर (ऋ० २,१२,३) और भी कहा गया है कि (योऽश्मनोरन्तः अग्निं जजान) 'जिस इद्र ने दो पत्थरो अथवा बादलो के बीच मे अग्नि उत्पन्न किया'...। यहाँ इस मत्र मे 'अश्मा'

शब्द आया है, जो द्व्यर्थक है। इसका अर्थ है—(१) बादल, और (२) पत्थर। यदि इसका अर्थ 'बादल' लिया जाय तो दो बादलो के बीच मे उत्पन्न होनेवाला अग्नि 'विद्युत्' होगा, और यदि 'पत्थर' अर्थ माना जाय तो इससे उत्पन्न होनेवाला अग्नि 'स्फुलिंग-रूप'—चिनगारी—होगा। ऋग्वेद (३ म०, २९ सू०) के कई मन्त्रो मे अरणियो से भी अग्नि के उत्पन्न करने का उल्लेख है। फिर उसी मे (ऋ० १,३४,२,४) अग्नि को 'द्विमातृक' भी कहा है, जिसका अर्थ है 'दो माताओ का पुत्र'। 'अग्नि' को दो माताओ का पुत्र इसी लिये कहा गया है कि वह दो अरणियो के सघर्षण से उत्पन्न किया जाता है। महाशय ई० ओ० जेम्स के विचारानुसार यह प्रक्रिया कतिपय अन्य स्थानो मे भी प्रचलित थी। टस्मानिया के आदि-निवासी भी दो लकडियो को रगड़कर ही आग पैदा करते थे। डाक्टर अविनाशचद्र दास ने इस विषय मे कैप्टेन कुक के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि आस्ट्रेलिया के न्यू-साउथ-वेल्स के आदि-निवासी भी इसी प्रक्रिया से अग्नि उत्पन्न करते थे। स्थाली-पुलाक-न्याय से इन दो नामो का निर्देश पर्याप्त है।

अग्नि के ज्ञान ने मनुष्य को वस्तुतः मनुष्य बना दिया। आज-कल भी अग्नि का महत्त्व कुछ न्यून नही कहा जा सकता। अग्नि के वर्त्तमान महत्त्व और प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी मैं एक विशिष्ट समय को 'अग्नि-युग' अथवा 'वह्नि-युग' कहना चाहता हूँ।

वह्नि-युग

वह्नि-युग के मानने की आवश्यकता क्यो हुई? इस सबंध मे इतना ही वक्तव्य पर्याप्त है कि प्राचीन प्रस्तर-काल और नवीन प्रस्तर-काल के उपकरण, अग्नि की निश्चित और तात्त्विक सहायता के बिना, आखेट आदि मे मनुष्य के योग्य सहायक होने मे सर्वथा अपूर्ण और असमर्थ प्रतीत होते हैं। फ्रांस, इॅगलैंड, बेलजियम आदि विदेशो मे उत्खनन के द्वारा नाना भाँति के तीक्ष्ण एव सुदर तथा भद्दी और भुथरी आकृति के जो छोटे और बड़े उपकरण मिले हैं—जिनका आश्रय लेकर प्राचीन प्रस्तर-काल, मध्य प्रस्तर-काल और नवीन प्रस्तर-काल का स-हेतुक नामकरण-सस्कार किया गया है—वे सब स्थूल दृष्टि से ही आखेट आदि की सिद्धि प्रदान करने के अयोग्य प्रतीत होते हैं। उस समय के जिन उपकरणो के चित्र 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' आदि मे दिए गए है, उनका प्रयोग यदि बड़ी दक्षता और पटुता से भी किया जाय, तो भी उनसे खरगोश, हरिण, सुअर और सेही-जैसे जतुओ को मार लेना सभव नही देख पडता—शेर, चीता, भेडिया और लकडबग्घा-जैसे भयकर एव हिस्र प्राणियों से आत्म-रक्षा कर सकने की बात तो बहुत दूर की है। अतः मेरा विचार है कि कुछ समय तक आखेट का प्रधान साधन 'अग्नि' ही था। यह मान लेने पर भी—कि इधर-उधर पडे हुए पत्थरो, छोटी-बडी लकड़ियो और हड्डी आदि के अस्त्रो से भी (दधीचि की हड्डी से बना इद्र का वज्र भी था) आखेट के द्वारा भक्ष्य द्रव्य प्राप्त किया जा सकता है—'अग्नि' के महत्त्व मे किसी प्रकार की न्यूनता नही आती।

मनुष्य स्वभावतः निरामिष-भोजी है। मनुष्य के दाँतो की बनावट से यही बात प्रमाणित होती है। बदर आदि के दाँत और प्राय. आकार आदि भी मनुष्य के दाँतो एव आकार आदि से मिलते-जुलते-से है। बंदर आदि भी निरामिष-भोजी हैं। अतः मनुष्य को भी स्वभावतः निरामिष-भोजी ही मानना युक्ति-युक्त है। जब मनुष्य केवल निरामिष भोजन करता था—वृक्षो के फल-फूलो को ही खाकर रहता था—नाना भाँति के कद और बीज तथा शहद और दूध ही उसके प्रधान आहार-द्रव्य थे, तब

भी उसकी आत्म-रक्षा के लिये 'अग्नि' आवश्यक था। शीत-निवारण का प्रधान साधन भी 'अग्नि' ही था। यजुर्वेद के एक मत्र मे कहा है कि (अग्निर्हिमस्य भेपजम्) 'अग्नि ही शीत का औषध है'।

ऊन और रुई के प्रयोग के पूर्व चमडे का ही कपड़ा पहना जाता था, यह बात सस्कृत के 'वस्त्र' शब्द से प्रकट होती है। 'वस्त्र' शब्द का अर्थ विचारनेवालो का मत है कि (१) 'वसा' = चर्बी, और (२) 'त्र' = रक्षक—इन दो पदों के योग से बने हुए 'वस्त्र' शब्द का प्रारभिक अर्थ 'चर्म' ही है। चर्म ही शरीर के 'वसा' की रक्षा करता है। ऋग्वेद (१,९६,१) मे एक मत्र है—'देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्'। इस मत्र मे आया हुआ 'द्रविणोदाः' शब्द और भी बहुत-से मत्रो मे आया है। यास्क मुनि ने 'निरुक्त' मे 'द्रविणोदा' शब्द पर विचार करते हुए कहा है—'द्रविणोदा' अग्निर्भवति, स हि धनबलयोर्दातृतमः' अर्थात् 'अग्नि' का ही नाम 'द्रविणोदाः' है, क्योंकि 'अग्नि' ही धन और बल का सबसे मुख्य प्रदाता है। ऋग्वेद के जिस मत्र-प्रतीक को मैने ऊपर उद्धृत किया है उसका सरल अर्थ इस प्रकार है—'देवताओ ने धन और बल के देनेवाले अग्नि को धारण किया'। यहाँ पर यह कहना अनावश्यक है कि प्राचीन काल मे 'पशु-धन' ही 'सर्व-प्रधान धन' था। इस 'धन' और आत्म-रक्षा आदि के सामर्थ्य का दाता यही 'अग्नि' था। इसी लिये तत्कालीन लोग इसे 'अग्र + णी = आगे ले चलनेवाला' कहा करते थे। इसी 'अग्नि' को अभिलक्षित करके ऋग्वेद के प्रथम मडल का प्रथम सूक्त भावुक पुरुषो के मुख से निकला हुआ प्रतीत होता है। प्रथम मडल के प्रथम सूक्त के मत्रो मे एक मत्र यह भी है—'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत'—अर्थात् अग्नि पुराने और नए, दोनों समय के, ऋषियों द्वारा पूजनीय है। अस्तु। भौतिकाग्नि के पूजक और प्रशंसक उन प्राचीन लोगो का अधिक परिचय देने की आवश्यकता नही।

'अग्नि' के द्वारा ही वैदिक काल के लोग अनुदिन पुष्ट करनेवाला धन (अन्न-वस्त्र आदि) प्राप्त किया करते थे। ऋग्वेद (१,१,३) मे इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है—'अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे। यशस वीरवत्तमम्।'

'अग्नि' के द्वारा ही वैदिक काल के लोग अपने निवास-स्थान की रक्षा भी करते थे। हिंस्र जंतु इस अग्नि की ही सहायता से मारे जाते थे। इस प्रकार की बहुत-सी बाते ऋग्वेद के कुछ मत्रो से विदित होती हैं। मैं इस विषय के कुछ मत्र स्थाली-पुलाक-न्याय से यहाँ उद्धृत किए देता हूँ—

"वधैर्दुःशसाँ अप दूढ्यो जहि, दूरे वा ये अन्ति वा केचिदत्रिणः। अथा यज्ञाय गृणते सुग कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।" (ऋ० १,९४,९)—अर्थात् "हे अग्ने! बुरा चाहनेवालो को मार, हमारे सबध मे बुरा विचार रखनेवालो को मार, जो हमको खा जानेवाले हैं, वे चाहे दूर हो या समीप, उन्हे भी तू मार। इसके अतिरिक्त तेरी स्तुति करनेवाले के (हमारे) सब मार्ग साफ हो। तेरी मित्रता मे रहनेवाले हम नष्ट न हो।"

"नू च पुरा च सदन रयीणां जातस्य जायमानस्य च क्षाम्। सतश्च गोपां भवतश्च भूरेर्देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्।" (ऋ० १,९६,७)—अर्थात् "पहले और आज के हमारे धन के सदन

पुरवैया

चित्रकार श्री० गगनेन्द्रनाथ ठाकुर

(भारत-कलाभवन के सग्रह से)
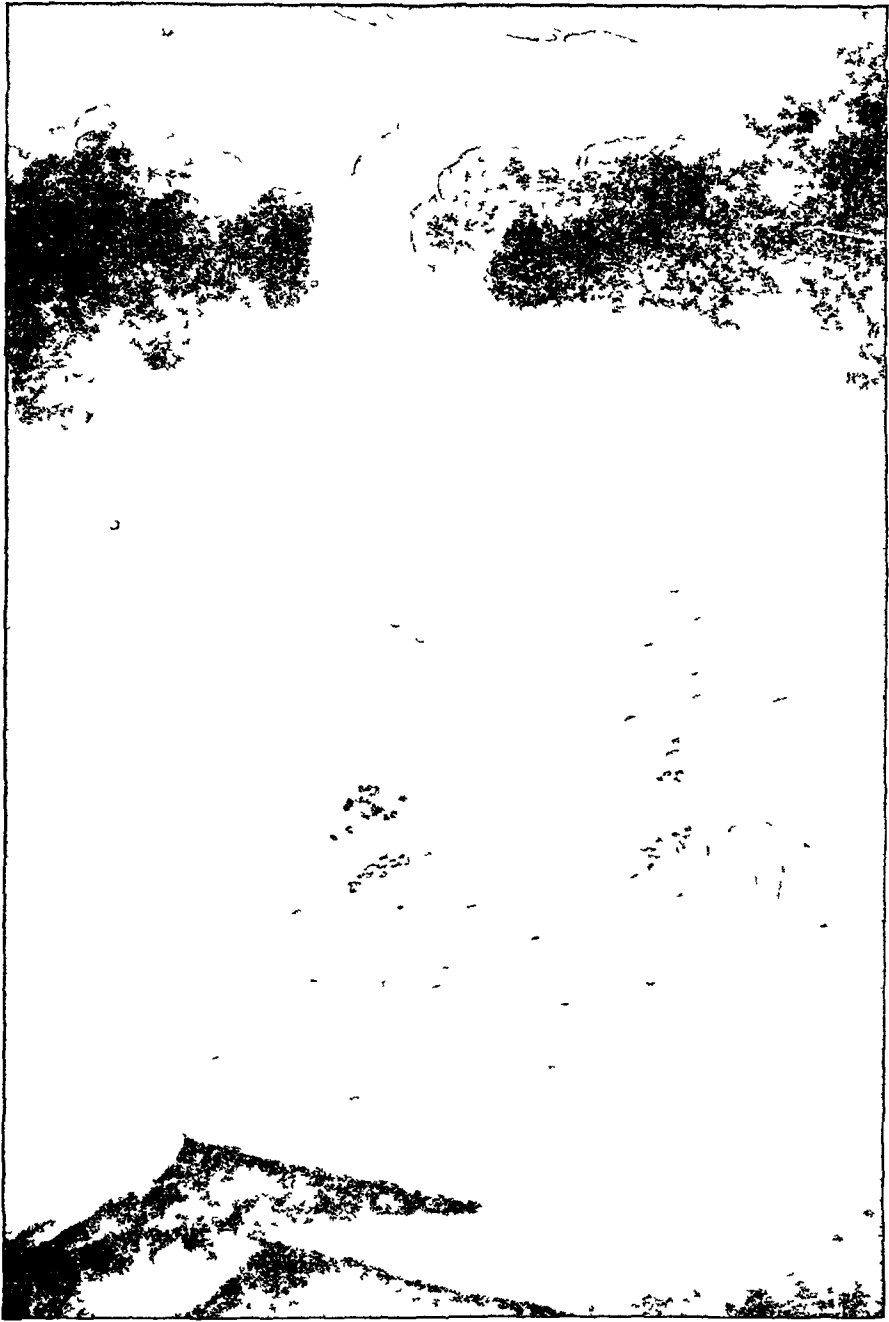
(=घर=हेतु), उत्पन्न हुए और उत्पन्न होनेवाले (धन के) रक्षा करनेवाले, वर्त्तमान और आगे मिलनेवाली हमारी वस्तुओं के बचानेवाले, धन और बल के दाता इस 'अग्नि' को देवताओं ने ग्रहण किया है।"

"जातवेदसे सुनवाम सोम अरातीयतो निदहाति वेदः। स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः।" (ऋ०१,६६,१)—अर्थात् "जातवेदा अग्नि के लिये हम सोम को निचोड़े। (अग्नि का नाम 'जातवेदाः' क्यो है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए यास्काचार्य ने इस शब्द के बहुत-से निर्वचन किए हैं। ब्राह्मण-ग्रंथो के अनुसार अग्नि का नाम 'जातवेदाः' इसलिये है कि इसने उत्पन्न होते ही पशुओं को पाया।) हमसे शत्रुता करनेवाले के धन और बल को यह अग्नि जला दे। दुर्गम और भय-प्रद मार्गो के पार भी यही अग्नि हमको पहुँचाता है, जैसे नाव समुद्र के पार पहुँचाती है।"

'अग्नि' को ऋग्वेद मे 'दूत' भी कहा है। तत्कालीन मनुष्य इस दूत को आगे रखकर अपने सारे कार्य किया करते थे। ऋग्वेद मे एक मत्र है—'अग्नि दूत पुरोदधे'—अर्थात् 'अग्नि-रूपी दूत को मैं आगे रखता हूँ'।

'अग्नि' का पर्यायवाची एक शब्द 'वैश्वानर' भी है। इस शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं—अग्नि का नाम 'वैश्वानर' इसलिये है कि सब मनुष्य इसको ले चलते हैं अथवा सब मनुष्यों को ले चलनेवाला—नायक—यही है। यजुर्वेद के कतिपय मत्रो (अध्याय ३, मत्र १७–२५) मे भी इसी भाव को पुष्ट किया गया है। यथा—"अग्ने त्वन्नोऽअन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः। वसुरग्निः वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिन्दाः।" (यजु० ३,२५)। "स न' पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। स च स्वानः स्वस्तये।" (यजु०३,२४)—इन मत्रों मे अग्नि को 'सर्वदा समीप मे रहनेवाला रक्षक और घर के लिये हितकारी' कहा है। 'पिता के समान अच्छी-अच्छी वस्तुएँ देनेवाला' भी अग्नि को ही कहा है। यजुर्वेद का ही एक अन्य मत्र है जिसमे 'अग्नि' को 'गृहपति' कहा गया है—"अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजापाः वसुवित्तमः। अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व।" (य०३,३९)—इन सब मत्रो के अर्थों पर विचार करके जब हम भिन्न-भिन्न युगो के नाना प्रकार के प्रस्तर के उपकरणो पर दृष्टिपात करते हैं, तब यह बात आपाततः मन मे आ जाती है कि प्रस्तर आदि के उपकरण वस्तुतः बहुत ही गौण उपकारक थे, आत्म-रक्षा और आखेट दोनों का मुख्य उपकारक 'अग्नि' ही था।

नवीन प्रस्तर-काल मे बहुत-से पशु पाल लिए गए थे। तैत्तिरीय सहिता (७,१,१,४–६) मे कहा गया है कि प्रजापति ने सबसे पहले बकरे को बनाया, फिर भेड को, तब गौ को, और अंत मे घोडे को। इस आख्यायिका का तत्त्व डाक्टर अविनाशचद्र दास ने यह निकाला है कि मनुष्य ने जिस क्रम से पशुओ को पाला है उसी क्रम का इसमे निर्देश है। यह निष्कर्ष मुझे भी सर्वथा अयुक्त नहीं प्रतीत होता। इन पशुओ के अतिरिक्त जगली कुत्ता और 'बाज' नामक पक्षी भी पाला गया था। पक्षियो में सभवतः बाज को ही मनुष्य ने सबसे पहले पाला था। कुत्ता और बाज, दोनो ही, आखेट मे मनुष्य की सहायता किया करते थे। कुछ पुरुषों ने कतिपय सुदर प्रमाणो के आधार पर यह स्थिर किया है कि कुत्ता और बाज प्राचीन प्रस्तर-

भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्त्व
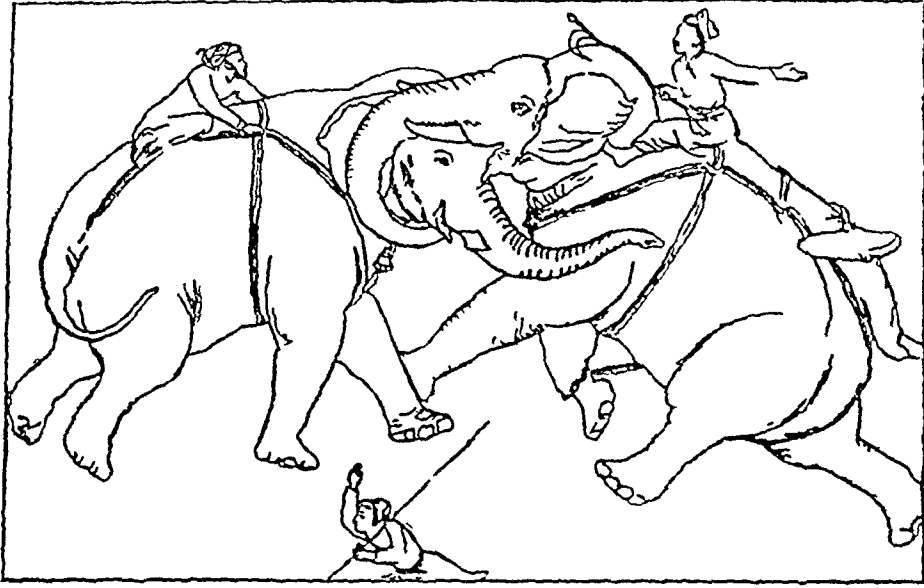
महाराज-कुमार श्री रघुवीरसिंह, बी० ए०, एल-एल० बी०

प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास मे एक ऐसी एकता पाई जाती है जो राजनीतिक परिवर्त्तनो के कारण भी भग नही होती। यह एकता मानवीय स्वभाव मे पाई जानेवाली समानता के आधार पर स्थित है।

राष्ट्रीय इतिहास मे एकता

राष्ट्र मे समय-समय पर होनेवाली क्रांतियाँ, उत्थान-पतन तथा अन्य महान् परिवर्त्तन मानव-स्वभाव के प्रस्फुटन के ही उदाहरण-मात्र हैं। प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास मे सर्वदा मध्यगामिनी (Centripetal) तथा मध्योत्सारिणी (Centrifugal) प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रमाण से पाई जाती हैं। इनके प्रमाण मे विभिन्नता ही राष्ट्र मे परिवर्त्तन तथा क्रांतियों का कारण होती है। किंतु ये दोनों प्रवृत्तियाँ राजनीतिक क्षेत्र मे मानवीय स्वभाव-वैचित्र्य तथा उसकी भिन्न-भिन्न इच्छाओ के प्रदर्शन-मात्र है। अतएव उनके प्रकट होने से राष्ट्रीय इतिहास मे पाई जानेवाली एकता मे किसी प्रकार बाधा उत्पन्न नही होती।

राष्ट्र और जाति

राष्ट्र का प्राधान्य तथा जातियो का प्राधान्य—ये दो विभिन्न आदर्श ही दोनो विरोधिनी प्रवृत्तियों के कारण होते हैं। भिन्न जातियाँ जब सगठित होकर एक राजनीतिक स्वरूप ग्रहण करती हैं तब वे एक राष्ट्र का निर्माण करती हैं, और राष्ट्र के उत्थान के साथ ही जातियों का राजनीतिक महत्त्व घट जाता है। परंतु जब-जब जातियाँ स्वयं संगठित होकर अपना अस्तित्व अलग-अलग स्थापित करती हैं तथा अपना प्राधान्य बनाए रखने का प्रयत्न करती हैं, तब-तब जातियो का उत्थान होता है, और यह मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति राष्ट्र के अस्तित्व को नगण्य बना देती है। राजनीतिक क्षेत्र मे राष्ट्र तथा जातियों का सापेक्ष्य महत्त्व ही इतिहास मे एक या दूसरी प्रवृत्ति का महत्त्व स्थापित करता है।

ये दोनो प्रवृत्तियाँ प्रायः सर्वत्र पाई जाती हैं। प्रत्येक राष्ट्र तथा देश के इतिहास मे उनके अस्तित्व का आभास मिलता है। भारतीय इतिहास मे ही नही, किंतु योरपीय इतिहास मे भी ये दोनो प्रवृत्तियाँ समय-समय पर प्रकट हुई हैं। किंतु भारत मे योरप की अपेक्षा मध्यगामिनी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद योरप का एक सुसगठित साम्राज्य, योरपीय राजनीतिज्ञो के लिये, एक स्वप्नमात्र रह गया। और, कुछ शताब्दियो से तो राष्ट्रीय सगठन का आदर्श ही बदल गया है। किंतु भारत मे तो 'सार्वभौम राज्य' तथा 'चक्रवर्ती राजा' की धारणा बहुत ही पुरानी है। जब-जब भारत मे उपयुक्त राजनीतिक परिस्थितियाँ प्रकट हुई, तथा जब-जब सुयोग्य महान् शासकों ने भारतीय रगमच पर पदार्पण किया, तब-तब भारत मे बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए। इसके विपरीत जब-जब राष्ट्रो के राजनीतिक जीवन मे पतन हुआ, तथा ज्यो ही पतनोन्मुख साम्राज्य मे महान् सम्राटो का अभाव पाया गया, मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति प्रकट हो गई।

इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने तथा उसकी प्रवृत्तियो को जानने के लिये केवल मध्यगामिनी प्रवृत्ति के अध्ययन से ही काम नही चलता। प्रायः इतिहासकार केवल मध्यगामिनी प्रवृत्ति पर ही ध्यान देते हैं, क्योकि उनके लिये राष्ट्र-निर्माण ही एक महत्त्व की घटना होती है। राष्ट्र-भग भी एक बडी घटना है, किंतु वे प्रायः उन प्रवृत्तियो की ओर ध्यान नहीं देते जो राष्ट्र-भग मे सहायता देती हैं। परंतु मेरे विचारानुसार तो यह अत्यावश्यक है कि मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का अध्ययन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना मध्यगामिनी प्रवृत्ति का। यदि एक राष्ट्रनिर्माण मे सहायता देती है, तो दूसरी उसी राष्ट्र का विध्वंस करती है। साथ ही, इतिहास का अध्ययन केवल उसमे लिखी गई घटनाओ के कारण ही महत्त्व का नही है, इतिहास का सबसे महान् लाभ तथा उपयोग यह है कि वह भविष्य के लिये पथ-प्रदर्शक हो। और, आज जब पुनः नवीन राष्ट्र-निर्माण के लिये प्रयत्न किए जा रहे हैं, तब मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति के अध्ययन की विशेष आवश्यकता है, क्योंकि तभी हम ऐसा राष्ट्र-निर्माण कर सकेंगे जिसमे आज तक पाई जानेवाली समग्र कुप्रवृत्तियो का अभाव हो।

दोनो प्रवृत्तियो के अध्ययन की आवश्यकता

भारतीय इतिहास मे सम्राट् हर्ष के बाद हिंदू-भारत का पतन हुआ, और कोई छः शताब्दी तक, जब मुसलमानो ने भारत-विजय की, मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का एकच्छत्र शासन रहा[1]। आधुनिक भारत के लिये उन दिनो का इतिहास विशेषरूपेण अध्ययनीय है। हिंदू-भारत का पतन, ससार के इतिहास की एक विशिष्ट घटना है और इस युग के अंतिम दिनो मे राजपूत ही भारतीय राज्यो पर शासन करते थे। स्मिथ के मतानुसार यह युग 'राजपूत-काल' के नाम से कहा जाना चाहिए।[2] राजपूतो की राजनीति मे मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का प्राधान्य था।[3] राजनीतिकदृष्टि से इस काल मे राजाओ के

१ विंसेंट स्मिथ—'अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया'—तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३९६-७

२. विंसेंट स्मिथ—'आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया'—सन् १९२० का संस्करण, पृष्ठ १७२

३. प्रोफेसर ईश्वरीप्रसाद—'मेडीवल इंडिया'—द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना, पृष्ठ ११

'दैवी अधिकार' के सिद्धांत का प्राधान्य था। राजाओ का एक-सत्तात्मक शासन था, प्रजा का उसमें कुछ भी हाथ न था।[1] किंतु साथ ही इन राज्यो के सगठन मे जागीर की प्रधानता थी।[2] राज्यो मे राजनीतिक एकता नहीं पाई जाती थी। बड़े-बड़े राज्यो मे प्राय: अनेकानेक छोटे राजा थे, जो उस बड़े राज्य की अधीनता स्वीकार करते थे। मध्य-कालीन हिंदू-भारत मे जब कोई राज्य या देश जीते गए तब केवल वे देश या राज्य अधीन कर लिए गए। उस समय की विजयों से यह मतलब नहीं था कि वे देश राज्य मे पूर्णतया सम्मिलित कर लिए जायँ[3]। जो देश राजा के अधीन होते थे, वे 'खालसा' कहलाते थे; उनके शासन की देख-रेख प्राय: राजा ही करते थे। किंतु जो कर्मचारी काम करते थे, उनका वेतन प्राय: जागीरें देकर चुकाया जाता था।[4] राज्यों का सैनिक सगठन भी जागीर-प्रधान हो गया था। स्थायी सेना रखने की प्रथा घटती जाती थी। जागीरों द्वारा भेजी जानेवाली सेना से ही राज्यो का काम चलता था।[5] इस प्रकार तत्कालीन राज्यों का संगठन ही ऐसा हो गया था कि उसमे राज्यों की आंतरिक शक्ति घट गई। राज्यों की शक्ति घटने के परिणाम केवल दो ही हो सकते थे—राज्य मे अराजकता का होना, या उस राज्य का दूसरी किसी सत्ता के अधीन होना।

हिंदू-भारत का पतन—"राजपूत-काल"— मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का प्राधान्य

किंतु यह मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति केवल राज्यों के सगठन मे ही प्रदर्शित नहीं होती। उन भिन्न-भिन्न राज्यों मे निरतर युद्ध होता रहता था,[6] और यद्यपि उन राजघरानो के समिलित तथा सगठित होने के अनेकानेक कारण विद्यमान थे[7] तथापि हिंदू-भारत के वैरी मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना करने के लिये वे सगठित न हो सके। इस निरंतर युद्ध तथा एकता के अभाव से भी ये राज्य निर्बल हो गए,[8] और यही कारण है कि मुसलमान आक्रमणकारियो की प्राय: सदैव विजय हुई।

"इतिहासकार सर्वदा राजपूतो के पतन का एक प्रधान कारण यह बताते है कि वे सर्वदा आपस मे लड़ा करते थे। राजपूत-राजघराने आपस मे इसलिये नहीं लड़ते थे कि वे अपना राज्य बढ़ा सके, प्रत्युत उनका उद्देश्य केवल अपनी महत्ता स्थापित करना ही होता था। इस समय भी (ग्यारहवी शताब्दी के अंतिम

१. चिंतामणि विनायक वैद्य—'हिस्ट्री आफ मेडीवल हिंदू इंडिया'—भाग १, पृष्ठ १२१-२, भाग २, पृष्ठ २२०-१
२. ई० प्र०—'मे० इं०'—द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३५
३. वैद्य—'हि० मे० हि० इं०'—पृष्ठ २२१, २२६
४. ई० प्र०—'मे० इं०'—द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ३५
वैद्य—'हि० मे० हिं इं०'—भाग २, पृष्ठ २४५
५. वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ २४२-३
गौरीशंकर-हीराचंद ओझा—'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'—पृष्ठ १६२
६. वैद्य—'हि० मे० हि० इं०'—भाग २, पृष्ठ २२५
७. वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ २२७-८
८. वैद्य—'हि० मे० हि० इं०'—भाग ३, पृष्ठ ४४६

वर्षो मे) पृथ्वीराज, गुजरात और बुंदेलखड तथा कन्नौज के बडे-बडे तीन पडोसी राज्यो पर, चढ़ाई कर रहा था। इन लडाइयो मे योरपीय युद्धो के समान भीषण मार-काट होती थी, और दोनो ओर बडी क्षति भी होती थी। इसी कारण उत्तरी भारत के चार बडे-बडे शक्तिशाली राजघरानो—चौहान, राठौड, चदेल और सोलकी—के योद्धाओ की सख्या बहुत घट गई थी, और अत मे जब चारो के साथ एक-एक करके मुसलमानो ने युद्ध किया तब चारो की हार हुई। आपसी युद्ध ही राजपूतो का सबसे बडा दोष रहा है। सारे भारत पर आनेवाली विपत्ति को रोकने के लिये भी उन्होने गृह-कलह छोडकर सगठन नही किया और इसी कारण उनका पतन हुआ।"[१]

इस प्रकार मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति के कारण हिंदू-भारत का पतन हुआ। साथ ही, राजपूतो के स्वतत्र राज्य भी विनष्ट हुए और उत्तरी भारत मे मुसलमानो के साम्राज्य की नीव पडी। किंतु इसी बात के आधार पर यह कहना कि राजपूतो मे मध्यगामिनी प्रवृत्ति का पूर्ण अभाव था, उनके प्रति अन्याय करना है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि दोनो प्रवृत्तियाँ सर्वदा पाई जाती हैं। यह कभी नही होता कि केवल एक ही प्रवृत्ति पाई जाय और दूसरी का पूर्ण अभाव हो। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कभी एक का प्राधान्य रहे तो कभी दूसरी का। किंतु एक की विद्यमानता मे दूसरी का अस्तित्व भी अवश्य मानना पडेगा।

राजपूतो के इतिहास मे मध्यगामिनी प्रवृत्ति

राजपूतो का इतिहास, उसमे पाई जानेवाली प्रवृत्ति के कारण हो, प्रसिद्ध है। किंतु, यदि सूक्ष्म-रूप से उनके इतिहास का विश्लेषण किया जाय तो पता लगेगा कि उनके इतिहास मे मध्यगामिनी प्रवृत्ति भी पूर्णरूप से विद्यमान है—चाहे वह गौण ही क्यो न हो। राजपूतो के इतिहास का महत्त्व उसमे गौणरूप से पाई जानेवाली इसी मध्यगामिनी प्रवृत्ति के ऊपर स्थित है। प्रथम तो ये राज्य विनष्ट होने से पहले स्थित थे। इनका शासन ठीक रीति से चला जा रहा था। अतएव इनका कई शताब्दियो तक स्थित रहना ही इनमे इस प्रवृत्ति-विशेष के अस्तित्व का प्रमाण है। यह सच है कि उन प्रारंभिक दिनो मे राजपूतो का इतिहास गृह-युद्ध तथा राष्ट्रीय एकता के विचारो के अभाव से कलुषित है, और जैसा कि ऊपर कहा गया है, राजपूतो का पतन इन्ही दोनो दोषो के कारण हुआ, किंतु साथ-साथ यह भी मानना पडेगा कि राजपूत-जाति विनष्ट नहीं हुई। मुसलमानो से पराजित होकर उन्होने गंगा-यमुना तथा सिंधु के उपजाऊ मैदानो को छोड अर्वली, बुंदेलखंड आदि की पहाडियो और रेतीले रेगिस्तान मे जाकर अपना अड्डा जमाया।[२] उन मैदानो और सुदूर घाटियों मे राजपूतो ने अपनी सत्ता पुनः स्थापित की—नए राज्यों का निर्माण किया—हिंदू आदर्शो और हिंदू-धर्म तथा हिंदू-सभ्यता को प्रश्रय दिया। इस प्रकार राजपूतो का इतिहास हिंदू-भारत के पतन का ही इतिहास नही है, प्रत्युत वह राजपूतो और हिंदुओ की बिखरी हुई शक्तियो के पुनःसघटन का विवरण भी है। राजपूतो मे, इस समय मध्यगामिनी प्रवृत्ति प्रथम बार प्रबल हुई, और प्रारंभिक उत्थान के बाद प्रथम बार राजपूतो की नीति मे क्रियात्मक कार्यक्रम का आभास दिखाई दिया।

१ वैद्य—'हि० मे० हिं० इ०'—भाग ३, पृष्ठ ३६१-२
ई० प्र०—'मे० इ०'—द्वितीय सस्करण, प्रस्तावना, पृष्ठ १४

२, वैद्य—'हि० मे० हि० इ०'—भाग ३, पृष्ठ ३६५

किंतु खेद का विषय है कि भारतीय इतिहासकार राजपूतो के इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण काल को भुला देते हैं। विक्रम-संवत् १२५० के बाद भारत का जो इतिहास लिखा गया है वह प्रायः मुसलमानों के राज्य का इतिहास है। वे उस महान् हिंदू समाज के इतिहास की ओर ध्यान नही देते जो पतित होकर भी इस नवीन मुस्लिम सभ्यता एव सस्कृति का सफलतापूर्वक सामना कर रहा था।

राजपूतो ने हिंदुओ की बिखरी हुई शक्तियो को एकत्र करके सगठित किया और पुनः मुसलमानों का सामना करने के लिये तैयार हुए। जितना रोचक दिल्ली के मुस्लिम साम्राज्य के उत्थान का वर्णन है, उससे भी अधिक रोचक राजपूतो के इस पुनःसघटन का वर्णन होगा। "जहाँ राजपूतो से भी अधिक शक्तिशाली प्राचीन भारतीय राजघराने विनष्ट हो गए, वहीं—यद्यपि राजपूत-राज्यों की सत्ता घट गई है और उनका पुराना वैभव अब विद्यमान नहीं है, तथापि—आज वे राज्य स्थित हैं।"[1] इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि जहाँ राजपूतो के विजेता मुसलमानों के साम्राज्य स्थापित हो-होकर विनष्ट हो गए—राजपूतो से छीने गए दिल्ली के जिस सिहासन पर अनेक मुसलमान घरानों ने राज्य किया और फिर कुछ ही दिनो मे उनकी सत्ता तथा शक्ति का अंत हो गया और उनके वशजों का नाम-निशान तक न रहा—वहीं उसके विपरीत उन्हीं दिनों मे पराजित राजपूतों द्वारा नए स्थापित किए गए राजपूत-राज्य आज भी स्थित हैं और वे ही राजपूत-राजघराने उन्हीं राज्यों पर आज भी राज्य कर रहे हैं। "सारे ससार के राजघरानों मे, राजपूत-राजघरानों के अतिरिक्त, आज कोई राजघराना ऐसा नहीं मिलता जो नवीं शताब्दी या उससे कुछ पहले स्थापित होकर अखडरूपेण आज तक चला आया हो।"[2]

इस प्रकार राजपूतो की उस मध्यगामिनी प्रवृत्ति ने उन्हे केवल पुनःसंघटन करने मे ही सहायता न दी, प्रत्युत उसी के फलस्वरूप वे अपना अस्तित्व भी बनाए रख सके। राजपूत-राज्यो मे जो यह स्थायित्व पाया जाता है, वह ससार की सभ्यताओ के इतिहास का अध्ययन करनेवालो के लिये एक महत्त्व की बात है। जो इतिहासकार राजपूतो मे पाई जानेवाली मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति की ओर ही निर्देश करते हैं और मध्यगामिनी प्रवृत्ति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उनके लिये राजपूतो के राज्यो का यह एक हजार वर्षों का अखंड अस्तित्व एक अनबूझ पहेली ही रहेगा। ससार के इतिहास मे अनेक राज्यों और साम्राज्यों के उत्थान एवं पतन का ब्योरा पाया जाता है—अनेक जातियों के शौर्य तथा शासन-नैपुण्य का वर्णन लिखा गया है, किंतु शताब्दियों तक भारतीय मुस्लिम साम्राज्य की-सी शक्ति का सामना करके तथा निरतर युद्ध एव विरोध के फलस्वरूप क्षति और आघातो को सहन करके किसी भी जाति ने अपना अस्तित्व बनाए रक्खा हो—किसी भी जाति या देश ने अपना राजनीतिक स्वातन्त्र्य ही नहीं, अपनी सस्कृति, अपना धर्म, अपनी शासन-प्रणाली आदि बनाए रक्खा हो, ऐसा राजपूतो के अतिरिक्त दूसरा कोई उदाहरण ढूँढ़े नहीं मिलता।

१. वैद्य—'हि० मे० हि० इं०'—भाग २, पृष्ठ ४
२. वैद्य—'हि० मे० हि० इं०'—भाग २, पृष्ठ ४
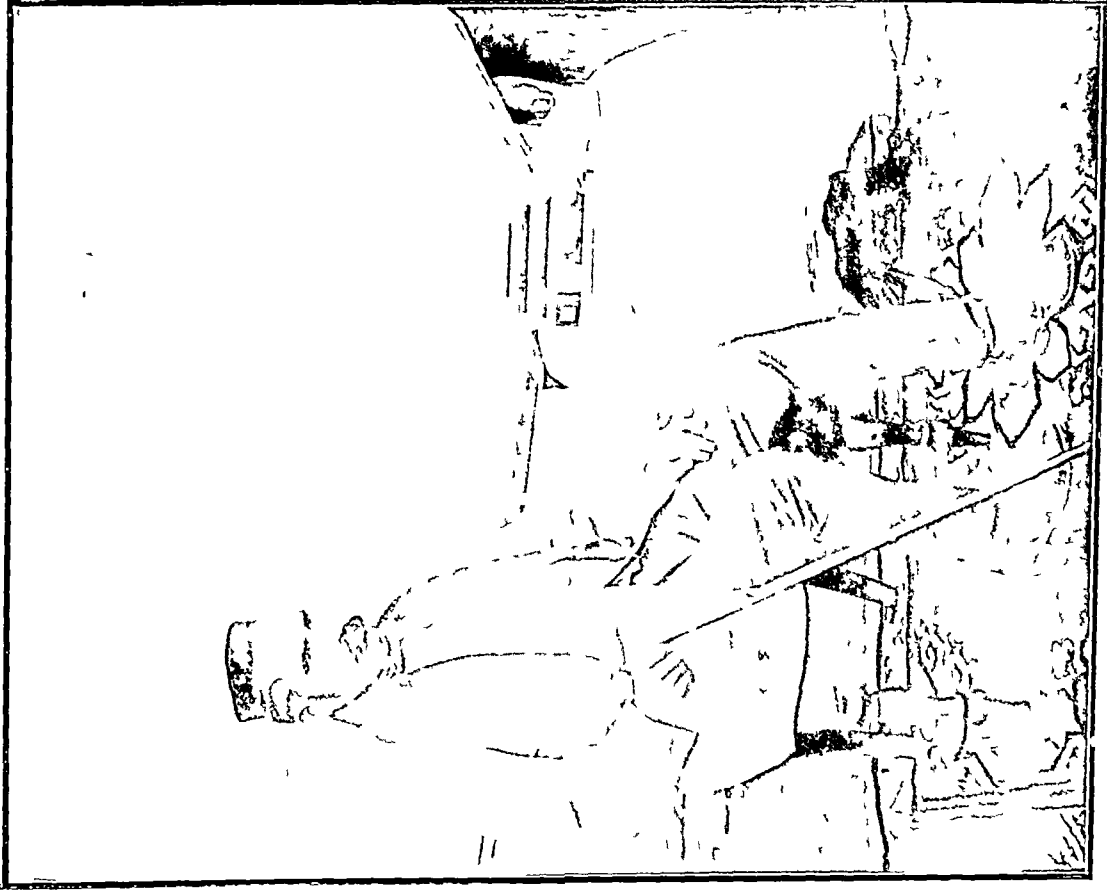
पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, संवत् १९६७ (सन् १९१०)

आचार्य द्विवेदी जी की दिवंगता धर्मपत्नी
जिनकी शुभ्र प्रस्तर-प्रतिमा 'स्मृति-मंदिर' में प्रतिष्ठित है।

आचार्य पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, सवत् १९७९ (सन १९२२)

सर जेम्स टॉड लिखते हैं—"शताब्दियो के भयकर अत्याचार तथा विरोध के बाद भी जिस प्रकार राजपूतो ने अपनी सभ्यता, अपने पूर्वजो के आचार-विचार तथा उनके शौर्य को बनाए रक्खा, उसी दशा में ससार की कोई दूसरी जाति उसका लक्षांश भी बनाए रख सकती थी, ऐसा सभव नही दिखाई पडता। .. . मनुष्य द्वारा मनुष्य पर बर्बर से बर्बर जो अत्याचार किए जा सकते हैं उन्हे सहने के बाद भी, तथा जिसका धर्म पूर्ण सहार का ही समर्थन करता हो—अपने ऐसे विरोधी की शत्रुता का सामना करके भी, जिस प्रकार राजपूतो ने अपना धैर्य बनाए रक्खा—आपत्ति के समय झुक गए और उसके निकल जाने के बाद पुन: उठ खडे हुए, और जिस प्रकार अपनी साहस-रूपी तलवार को विपत्ति-रूपी सान पर अधिकाधिक तेज किया, मानव-जाति के इतिहास मे राजस्थान के राजपूत ही उसके एकमात्र उदाहरण हैं। रोमनो के आक्रमण से ब्रिटन लोग किस प्रकार एकाएक झुक गए—कुंज और ड्रुइडो तथा बाल की वेदियों को बचाने के प्रयत्न मे कितने विफल हुए! सेक्सन लोगो के सामने भी वे उसी प्रकार विफल हुए, और बाद मे डेनो के सामने भी। अत मे ये सब विजयी तथा विजित, नार्मन लोगो मे मिल गए। एक ही युद्ध मे साम्राज्य बन गए और मिट भी गए! विजितो के आचार-विचार और धर्म, विजयी के धर्म तथा आचार-विचार के साथ समिलित हो गए। इसके विपरीत राजपूतो को देखिए। यद्यपि देश का बहुत बडा भाग उनके हाथ से निकल गया, तथापि उनके धर्म तथा आचार-विचार आदि अब तक बने हुए हैं। एक मेवाड़ ही उस धर्म का पवित्र आश्रय-स्थल बना रहा। उन्होने अपने सुख के लिये अपने संमान मे कमी न आने दी और फिर भी आज वह राज्य पूर्ववत् ही बना है। वीर समरसी (समरसिंह) के प्रथम बलिदान के समय से इस वीर-घराने के राजाओ तथा राजपुत्रो ने अपना समान, धर्म और स्वातन्त्र्य बनाए रखने के लिये पानी की तरह रुधिर बहाया है।"[1]

वह कौन-सी विशेषता थी जिसके कारण आज भी राजपूत-जाति तथा राजपूत-राज्य स्थित हैं? राजपूतो के जातीय जीवन मे ऐसी कौन-सी स्थायी शक्ति है जिससे वे, शताब्दियो तक राजनीतिक जीवन के भीषण धक्के सहन करते हुए, ऐसे महान् विरोधी का सफलतापूर्वक सामना कर सके? ये ही वे महान प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना प्रत्येक सच्चे इतिहासकार का कर्त्तव्य है। नवीन राष्ट्र के निर्माताओं के लिये तो इन प्रश्नों के उत्तर जान लेना अत्यावश्यक है, क्योकि इन प्रश्नो के उत्तर जान लेने के बाद ही वे मानवीय जीवन तथा विशेषतया राजनीतिक संगठनो मे निहित स्थायी तत्त्वो को जान सकेंगे, और नए राष्ट्र के निर्माण मे उनको स्थान देकर अपने राष्ट्र को स्थायित्व प्रदान कर सकेंगे। वैद्यजी के विचारानुसार "राजपूतो मे पाया जानेवाला यह स्थायित्व ही उन्हे भारतीय इतिहास मे समुचित स्थान दिलाने के लिये पर्याप्त है।"[2]

राजपूतो ने पुन: सगठन किया तथा नए राज्य स्थापित किए, किंतु साथ ही वे भारतीय संस्कृति के भी एकमात्र अवशेष थे। मुसलमानो के आक्रमण के साथ ही हिंदू-भारत का पतन हुआ। उन दिनो

१ कर्नेल जेम्स टॉड—'एनल्ज एंड एंटिक्विटीज आफ राजस्थान'—क्रुक्स द्वारा संपादित, खंड १, पृष्ठ ३०३

२. वैद्य—'हिं० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ ४

हिंदुओ मे राजपूत ही शासक तथा संरक्षक थे। जातियों के बधन कड़े हो जाने के कारण शासन आदि का भार राजपूतो पर ही आ पड़ा था। सामान्य लोगो का इन बातो से कोई विशेष सबंध न था।[१] शासन-सगठन, शासको तथा राज्य से प्रजा का पूर्ण संबंध-विच्छेद हो गया था। यही कारण है कि प्रजा ने हिंदू राजाओ के पतन के बाद मुसलमान शासकों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया, क्योंकि उनके विचारानुसार शासक की नियुक्ति ईश्वर करता था।[२] अतएव जब हिंदू शासकों का पतन हुआ और राजपूतो ने उत्तरी भारत के मैदानो को छोडा, तब वहाँ की प्रजा निस्सहाय हो गई—उसका कोई सरक्षक न रहा। "उत्तरी भारत मे कोई जातीय जागृति तथा विरोध न था, अतएव सर्वदा के लिये उसका पूर्ण पतन हुआ और मुसलमानो का आधिपत्य स्थापित हो गया।"[३] यह सत्य है कि दोआब, काटेहार आदि के राजपूतों ने यदा-कदा विद्रोह किए, किंतु उसका कोई महान् राजनीतिक परिणाम न हुआ।[४] अतएव प्राचीन भारतीय सस्कृति, उसकी सस्थाओ, कला आदि को सुरक्षित रखनेवाला—उनका सरक्षण करके पुनरुत्थान करनेवाला—उत्तरी भारत मे कोई न रहा।

हिंदू-धर्म, भारतीय संस्कृति तथा राजपूत

राजपूतो ने मुसलमानो के आक्रमण-काल मे भी अपनी सभ्यता आदि बनाए रखने का प्रयत्न किया था।[५] और, जब वे अपनी रही-सही शक्तियो को सगठित कर नवीन राज्य स्थापित करने लगे, तब वे अपनी सभ्यता, शासन-शैली, धर्म, आचार-विचार आदि सब कुछ अपने साथ ले गए। हिंदू-भारत का, विशेषतया उत्तरी भारत का, जो कुछ भी शेष रह गया था, वह राजस्थान मे सचित हुआ। राजपूत हिंदू-भारत की प्राचीन सभ्यता के सरक्षक बने और इसी कारण वे मध्यकालीन भारतीय इतिहास मे एक विशेष अध्ययन के विषय है। राजस्थान मे ही प्राचीन स्थापत्य तथा चित्र-कला का—यद्यपि वह नवीन प्रभावो से प्रभावित हुई—पुनः प्रस्फुटन हुआ। सारे राजस्थान मे जितने पुराने मदिर, भवन तथा किले पाए जाते हैं, वे प्रायः इन्हीं प्रारभिक दिनो के हैं। चित्तौड का कीर्तिस्तभ, दिलवाडे के मदिर, जैसलमेर के राजभवन आदि भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने हैं और इसका श्रेय राजपूतो को ही है। राजपूतो ने ही उन प्रारभिक दिनो मे भारतीय कला के विशुद्ध रूप की रक्षा की। पुनः राजपूतो के ही प्रश्रय मे चित्र-कला की वह शैली प्रकट और विकसित हुई जो 'राजपूत-कला' कहलाती है और जहाँ की 'जयपुर-कलम' सुप्रसिद्ध है। पर्सी ब्राउन के विचारानुसार "यह चित्रांकण-शैली भारतीय चित्रण-कला मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है।"[६] "साहित्य के क्षेत्र मे भी राजपूत-राजाओ की राजसभाओ मे बहुत कुछ कार्य हुआ है। समयानुकूल चारणो

१. वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०', भाग १, प्रस्तावना-पृष्ठ ५, पृष्ठ १२१-२; भाग ३, पृष्ठ ३६३, ४५१-२
२. वैद्य—'हि० मे० हिं० इ०'; भाग १, पृष्ठ १२५
लेनपूल—'मेडीवल इडिया', पृष्ठ ६०-१
३. वैद्य—'हि० मे० हि० इं०', भाग ३, पृष्ठ ३६५
४. 'केंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया'—खंड ३, पृष्ठ ५१४-५
५. हेवेल्—'हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इडिया'—पृष्ठ २६०-१
६. पर्सी ब्राउन—'इंडियन पेटिंग'—पृष्ठ ८

ने डिंगल तथा हिंदी के प्रारंभिक स्वरूप मे वीर-काव्यो की रचना की। उन्होने अपने आश्रयदाताओं के गुणों का वर्णन किया तथा इतिहास-काव्य भी लिखे।"[1] और, पिछले दिनो मे जब 'रीति-काल' आया तब भी 'केशव' और 'बिहारी' सरीखे महाकवियो को अपने दरबार मे रखने का श्रेय राजपूत-नरेशो को ही है। पुनः जब वीर-काव्य का द्वितीय उत्थान हुआ तब 'भूषण' आदि कवियों को छत्रसाल आदि राजपूत-नरेशों ने ही उत्तेजना दी। यही नही, राणा कुभा, राजा पृथ्वीराज, महाराजा जसवतसिंह और महाराज छत्रसाल-जैसे वीर नरेशो ने स्वय भी साहित्य-सेवा की थी।

किंतु इन सबसे अधिक आदरणीय वस्तु—जो राजपूतो ने भारत को प्रदान की तथा जिस पर केवल राजपूतो को ही नही, वरन् सारे भारत को गौरव हो सकता है—उनके स्वातन्त्र्य-युद्ध की कथा है।

राजपूतो का स्वातन्त्र्य-युद्ध

राजपूतो का यह स्वातन्त्र्य-युद्ध भारत के ही नहीं, प्रत्युत ससार के इतिहास मे एक अद्भुत वस्तु है। टॉड साहब लिखते हैं—"अपने पूर्वजो का धर्म बचाने के लिये—तथा सर्व प्रकार के प्रलोभनो के जाल तोडकर अपने अधिकार और जातीय स्वातन्त्र्य को बचाने के लिये—जो वीर मृत्यु को गले लगाने से न हिचके, उनके शताब्दियों के स्वातन्त्र्य-युद्ध की कथा पढकर रोमांच हुए बिना नही रहता।"[2]

यह स्वातन्त्र्य-युद्ध एक-दो साल का ही न था। यह कई शताब्दियों तक चलता रहा। जिस दिन प्रथम बार राजपूतो को हराकर मुसलमानो ने भारत-भूमि मे अपना साम्राज्य स्थापित किया, उसी दिन से यह स्वातन्त्र्य-युद्ध प्रारभ हुआ। यद्यपि यह सत्य है कि मुसलमानो को भारत मे किसी प्रकार के राष्ट्रीय विरोध का सामना न करना पडा,[3] तथापि इस सत्य के साथ-साथ यह भी मानना पडेगा कि हिंदू-भारत के शासक राजपूतो ने पूर्ण साहस के साथ मुसलमानो का सामना किया। राजपूतो मे एकता न थी, किंतु उनकी वीरता के विरुद्ध एक शब्द भी नही कहा जा सकता। राज्य-के-राज्य जागीरो मे विभक्त थे, किंतु प्रत्येक बिस्वा भूमि का कोई न कोई स्वामी अवश्य था, जो उसके लिये लडने को उद्यत रहता था। यही कारण है कि केवल राजस्थान की ही नही, बल्कि सारे उत्तर-पश्चिमी भारत की भूमि का प्रत्येक कण राजपूतो के उष्ण रुधिर से सीचा गया है। प्रत्येक राह मे पहले राजपूत कट-कटकर गिरे हैं—हिंदुओ और मुसलमानो के रक्त की नदियाँ बही हैं; तब कही मुसलमान आगे बढ़ सके हैं। इस बहादुर और कट्टर जाति ने अपना खून बहा-बहाकर अपने अस्तित्व को कायम रक्खा है। पराधीनता के उन अंधकार-पूर्ण दिनो मे, जब प्रथम बार हिंदुओं ने अपना स्वातन्त्र्य खोया था, राजपूतो ने ही स्वातन्त्र्य की पुनः-प्राप्ति के

१ श्यामसुदरदास—'हिंदी-भाषा और साहित्य'—पृष्ठ २६८-३०४
रामचद्रशुक्ल—'हिंदी-साहित्य का इतिहास'—पृष्ठ १९-४३
रामशकर शुक्ल 'रसाल'—'हिंदी-साहित्य का इतिहास'—पृष्ठ २८-३०, ४६-८६
सूर्यकात शास्त्री—'हिंदी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास'—पृष्ठ ६-१६, २७-३४

२. टॉड—एनल्ज एड एटिक्विटीज आफ राजस्थान'—क्रुक्स द्वारा सपादित, खड १, पृष्ठ ६३-६४

३. वैद्य—'हि० मे० हिं० इ०'—भाग १, पृष्ठ ५, १२३, भाग ३, पृष्ठ ३६४-६

आदर्श की झिलमिलाती हुई लौ को प्रज्वलित रखने के लिये अपना रुधिर बहाया था। अपने रुधिर की आहुतियाँ देकर राजपूतों ने ही हिंदू-जाति को जीवन प्रदान किया, जिसके लिये भारत ही क्यों, ससार-भर को राजपूतो का ऋणी होना चाहिए।

अपने शत्रुओं से घिरे रहकर भी, तथा पराधीनता की उमड़ती हुई काली घटा को देख-देखकर भी, यह जाति जीवित रही है। पराधीन रहकर भी इस जाति ने आश्चर्य-जनक रीति से अपना स्वातन्त्र्य बनाए रक्खा है। किंतु उसके लिये राजपूतों ने क्या-क्या बलिदान नही किया ? स्वतंत्रता की वेदी पर जो-जो बलिदान राजपूतो ने किए, वे ससार के इतिहास मे अपूर्व हैं। राजस्थान का एक-एक किला अनेक महत्त्व-पूर्ण स्मृतियो का भांडार है। केवल पुरुष ही नहीं, स्त्रियो और बच्चो तक ने आत्मत्याग किया—शौर्य तथा साहस के अपूर्व उदाहरण उपस्थित किए। स्वातंत्र्य-युद्ध की स्मृतियों का पुंज—केवल राजपूतो का ही नही, बल्कि प्रत्येक स्वातन्त्र्य-प्रेमी का अपूर्व तीर्थ—वह चित्तौड़ का किला राजस्थान के इतिहास मे एक विशेष स्थान रखता है। ओझा जी के शब्दो मे—"यहाँ असख्य राजपूत-वीरो ने अपने धर्म और देश की रक्षा के लिये अनेक बार असि-धारा-रूपी तीर्थ मे स्नान किया, और यहाँ कई राजपूत-वीरांगनाओ ने सतीत्व-रक्षा के निमित्त 'जौहर' की धधकती हुई अग्नि मे कई अवसरो पर अपने प्रिय बाल-बच्चो-सहित प्रवेश कर जो उच्च आदर्श उपस्थित किया वह चिरस्मरणीय रहेगा। राजपूतों ही के लिये नहीं, किंतु प्रत्येक स्वदेश-प्रेमी हिंदू-संतान के लिये क्षत्रिय-रुधिर से सींची हुई यहाँ की भूमि के रज:कण भी तीर्थरेणु के तुल्य पवित्र हैं।"[१] फिर टॉड के कथनानुसार "राजस्थान मे कोई ऐसा छोटा राज्य भी नही है जिसमे थर्मापोली-जैसी रणभूमि न हो, और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले जिसमे लियोनिडास-जैसा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो।"[२] इसी राजस्थान मे महाराणा प्रताप ने अपने जीवन भर अकबर का सामना किया। महाराणा का कोई साथी न था; अन्य राजपूत-राजाओ ने अकबर के साथ सधि कर ली थी, किंतु महाराणा ने सिर न झुकाया, अधीनता स्वीकार न की। "अर्वली की पर्वत-श्रेणी मे कोई ऐसी घाटी नही है जो महाराणा की वीरता से पवित्र न हुई हो। यदि किसी मे उनकी विजय-दुंदुभी बजी हो, तो प्राय: अन्य सब उनकी वीरतापूर्ण पराजयो की दर्शक रही होगी। हल्दीघाटी ही मेवाड़ की थर्मापोली है, और देवारी ही मारेथान है।"[३] और इसी हल्दीघाटी मे हारकर भी महाराणा जीते।[४] इस युद्ध ने उनको अमर कर दिया। किंतु विजयी होकर भी अकबर उनके समान पूजनीय न बन सका। पुन: हारकर भी महाराणा हारे नही, और तभी उनकी मृत्यु पर सम्राट् अकबर ने स्वीकार किया कि—"गहलोत राण जीति गयो।"[५]

१. गौ० श० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०'—जिल्द १, पृष्ठ ३४६

२. टॉड—'ए० एंड एं० राज०'—क्रुक्स-स०, खंड १, पृष्ठ ६२

३. टॉड—'ए० एंड एं० राज०'—क्रुक्स-स०, खंड १, पृष्ठ ४०६-७

४. हल्दीघाटी के युद्ध का क्या परिणाम हुआ, इसके विषय मे इतिहासकारो का मतभेद है। किंतु प्राय: यही माना जाता है कि राजपूत ही हारे। देखिए—गौरीशंकर-हीराचंद ओझा-लिखित 'राजपूताने का इतिहास'—जिल्द २, पृष्ठ ७४५-७५५

५. गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०'—जिल्द २, पृष्ठ ७७६-८१

इसी प्रकार, जब दक्षिण भारत मे राष्ट्रीय पुनरुत्थान तथा जातीय विरोध का सूत्रपात हुआ,[1] तब शताब्दियो के योद्धा राजपूतो ने स्वातन्त्र्य-ज्योति का वह जाज्वल्यमान दीपक मरहठो को दे दिया। "भारतीय इतिहास मे स्वधर्म तथा स्वराज्य के अतिम समर्थक शिवाजी इसी मेवाड के सिसोदियों के वशज थे। उन्होने दक्षिण मे मुसलमानो के साथ युद्ध किया, पुनः मरहठो को स्वतत्र बनाया और हिंदू-धर्म की स्थापना की।"[2] राजपूतों का पतन हुआ सही, किंतु उन्होने भारतीय स्वातन्त्र्य का महान् आदर्श अक्षुण्ण रक्खा। हिंदुओं के समुख यह आदर्श उपस्थित कर अपने बलिदानो द्वारा उनमे जीवन बनाए रखना ही मध्यकाल मे राजपूतो का सबसे महान् तथा इतिहास मे उल्लेखनीय कार्य है। इसी कारण वैद्य जी का मत है कि "जो आदर राजपूतो को दिया जाता है, उससे कहीं अधिक आदर के वे पात्र हैं। सच पूछा जाय तो राजपूतों की वीरता तथा उनके पौरुष का ठीक-ठीक महत्त्व अभी तक हम नही जान पाए हैं।"[3]

किंतु इस त्रुटि के लिये कौन उत्तरदायी है? क्या कारण है कि राजपूतो के इतिहास का ठीक-ठीक महत्त्व अभी तक नहीं कूता गया है? भारत के मध्यकालीन इतिहास मे राजपूतो के इतिहास के सबध मे कुछ ही पृष्ठ लिखकर क्यो इतिहासकार सतोष कर लेते हैं? इन सब प्रश्नो का केवल यही एक उत्तर दिया जा सकता है कि राजपूतो का ठीक-ठीक इतिहास अभी तक लिखा ही नही गया। जिन-जिन इतिहासकारो ने इस विषय पर ग्रथ-रचना की है, उनके प्रति राजपूत-जाति ही नही, किंतु भारतीय राष्ट्र भी कृतज्ञ है, क्योंकि उन्होंने राजपूत-जाति की ऐसी सेवा की है कि यह जाति उनसे कभी उऋण नहीं हो सकती। ऐसे इतिहासकारो मे दो व्यक्तियो के नाम उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम तो सर जेम्स टॉड का नाम लिया जाना चाहिए। वे अँगरेजो के पोलिटिकल विभाग मे नौकर थे, और राजस्थान मे भेजे गए थे। अपनी नौकरी के उस काल मे उन्होने अदम्य उत्साह के साथ राजपूतो के प्राचीन इतिवृत्त का शोध किया, समस्त राजस्थान मे भ्रमण किया और उस बृहत् ग्रथ की रचना की जो "एनल्ज एड एटिक्विटीज आफ राजस्थान" के नाम से प्रसिद्ध है। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही राजपूत वीरो की कीर्त्ति, जो पहले भारतवर्ष मे सीमाबद्ध थी, भूमडल मे फैल गई।[4] फिर कोई एक शताब्दी के बाद राजपूतो के इतिहास पर दूसरे विद्वान्—महामहोपाध्याय रायबहादुर पडित गौरीशंकर-हीराचद ओझा—ने लेखनी उठाई। ओझा जी अपना सारा जीवन राजपूतो के इतिहास की खोज मे बिता कर अब "राजपूताने का इतिहास" लिखने लगे हैं। यह ग्रथ अभी अपूर्ण है, किंतु सपूर्ण होने पर यह शोध-कर्त्ताओं के लिये अपूर्व पथ-प्रदर्शक होगा और जैसा कि ओझा जी का खयाल है—"भविष्य मे जो कोई

राजपूतों के इतिहास पर आधुनिक ग्रथ

1. वैद्य—'हि० मे० हि० इ०'—भाग ३, पृष्ठ ३६५-६
2. वैद्य—'हि० मे० हि० इ०'—भाग २, पृष्ठ ५
   गौ० शं० ही० च० ओझा—'राज० का इतिहास'—जिल्द १, पृष्ठ २७६-८०, जिल्द २, पृष्ठ १३८६-७
3. वैद्य—'हि० मे० हि० इ०'—भाग २, पृष्ठ ४
4. गौ० शं० ही० च० ओझा—'राज० का इति०'—जिल्द १, भूमिका-पृष्ठ ३६

इतिहास-वेत्ता इस देश (राजपूताने) का ऐसा इतिहास लिखने मे प्रवृत्त होगा, उसको हमारा (ओझा जी का) यह इतिहास कुछ न कुछ सहायता अवश्य देगा।"[1]

उपर्युक्त ग्रथों के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रंथ विशेषरूपेण उल्लेखनीय नही है। श्रीचिंतामणि विनायक वैद्य महोदय का "हिस्ट्री आफ मेडीवल हिंदू इंडिया" नामक ग्रथ प्रारभिक राजपूत-काल के लिये एक विशद इतिहास है। हाँ, भिन्न-भिन्न रियासतों के सबध मे कुछ इतिहास-ग्रथ अवश्य लिखे गए हैं, जिनमे महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदान जी द्वारा सपादित "वीर-विनोद" का नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। किंतु खेद है कि इस ग्रंथ की शायद एकाध ही प्रति बाहर निकल पाई है, नही तो इसकी समग्र छपी हुई प्रतियाँ उदयपुर के राजगृह मे बद पड़ी सड़ रही हैं! जो हो, राजपूतो पर लिखे गए साहित्य को देखकर ओझा जी के इस कथन से सहमत होना पड़ता है कि "जहाँ अनेक भारतीय विद्वान् भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न कालो और प्रांतो के इतिहास लिख रहे है, वहाँ राजपूताने के इतिहास की तरफ किसी विद्वान् का ध्यान ही नही गया!"[2]

किंतु इस उपेक्षा का एक महान् कारण यह है कि राजपूतो के इतिहास से सबध रखनेवाली सामग्री का भी बहुत कुछ अभाव है। आज भी बहुत-सी सामग्री भिन्न-भिन्न राज्यों के पुराने कागजों मे अप्रकाशित एवं अज्ञात पड़ी है। अगर किसी उत्साही इतिहासकार को राज्यो के पुराने कागज ढूँढ़ने का अवसर मिले, तो सभव है कि राजपूतो के सच्चे इतिहास का बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त हो सके। ओझा जी ने अपना जीवन राजपूतों के इतिहास-सबधी खोज मे ही बिताया है। उन्होने बहुत-कुछ सामग्री एकत्र करके अपने ग्रथ (राजपूताने का इतिहास) मे उसका उपयोग किया है, किंतु फिर भी वे लिखते हैं कि "यदि प्राचीन शोध के कार्य मे विशेष उन्नति हुई तो मेवाड़ मे अनेक स्थानो मे प्राचीन इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होगी, जिसकी सहायता से भविष्य मे वहाँ का एक सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सकेगा।"[3]

राजपूतों के इतिहास-संबंधी सामग्री की अपूर्णता

किंतु उपलब्ध सामग्री के आधार पर जो ग्रथ लिखे गए हैं, वे सर्वांगपूर्ण न होने पर भी राजपूतों के इतिहास का बहुत-कुछ पता देते हैं। हाँ, उनकी लेखन-शैली सदोष है—यह तो अवश्य मानना पडेगा। कर्नल सर जेम्स टॉड ने अपने ग्रथ मे राजपूतो का एक सबद्ध इतिहास न लिखकर अलग-अलग राज्यो तथा वशो का इतिहास लिखा है, और ओझा जी ने उसी शैली का अनुसरण किया है। किंतु मेरे विचार के अनुसार, ठीक-ठीक इतिहास लिखने के लिये, इस शैली को छोड़ना अत्यावश्यक है। इस शैली मे दो बड़े दोष विद्यमान हैं—

राजपूतों के इतिहास की लेखन-शैली मे दोष

१. गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०'—जिल्द १, भूमिका-पृष्ठ ४४
२. गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०'—जिल्द १, भूमिका-पृष्ठ ४४
३. गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०'—जिल्द १, भूमिका-पृष्ठ ४३

प्रथम दोष तो यह है कि इसके अनुसार लिखे गए इतिहास मे भिन्न-भिन्न वंशों का विवरण-मात्र होता है। ये इतिहास समग्र राजपूतो को एक जाति मानकर नही लिखे गए हैं। इस प्रकार लिखे जाने से राजपूतो के इतिहास की एकता नष्ट होती है। विभिन्न विभागो मे विभक्त राजपूतो का इतिहास उतना भव्य तथा महान् नही दिखाई देता जितना वह सचमुच है। कर्नल जेम्स टॉड स्वय इस शैली के दोष से परिचित थे। इसी लिये उन्होने अपने ग्रंथ की भूमिका मे यह लिखना अत्यावश्यक समझा कि "मेरा कभी यह ध्येय न रहा कि मैं अपने विषय को इतिहास की वैज्ञानिक शैली से लिखूँ, क्योकि उसके फल-स्वरूप मुझे अनेकानेक ऐसी बाते छोड देनी पडती जो राजनोतिज्ञो तथा उत्सुक पाठको के लिये उपयोगी एव रोचक हैं। मैने तो अपने इस ग्रथ मे भावी इतिहासकार के लिये केवल ऐतिहासिक सामग्री सकलित की है।"[१]

(१) राष्ट्रीय दृष्टिकोण की आवश्यकता

राजपूतों का इतिहास भारतीय इतिहास की एक साधारण घटना नही है। साथ ही, यहाँ यह भी कह देना अत्यावश्यक है कि राजपूतों का विरोध तथा विद्रोह केवल किसी एक जाति-समुदाय मे ही न था, वरन् वह सभ्यता का विरोध था। राजपूत एक अतीव उन्नत एव विकसित—किंतु पतित—सभ्यता के उत्तराधिकारी थे। अतएव उन प्रारभिक दिनो मे, जब भारत के मुस्लिम शासक विदेशी थे, राजपूतों का विद्रोह, राष्ट्रीय विद्रोह था। राजपूतो का इतिहास किसी एक जाति का ही इतिहास नही है। यह तो मध्यकालीन भारत के राष्ट्रीय जीवन का एक बडा महत्त्वपूर्ण अंग है। यह वह पहलू है जिसकी ओर भारतीय इतिहासकारो का अभी तक ध्यान ही नही गया है। अतएव, आवश्यकता इस बात की है कि राजपूतों का इतिहास राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से लिखा जाय। यह सत्य है कि उनमे वश-प्रतिष्ठा का विचार अधिक मात्रा मे पाया जाता है, और इसी कारण उनमे एकत्र होने की प्रवृत्ति अधिक नही पाई जाती, किंतु फिर भी उन्होने कई बार मुसलमानो का सामना करने के लिये सगठन किया था। पुनः आपस के द्वेष और वैर-भाव के होते हुए भी उन सबमे एकजातीयता पाई जाती है। उनके इतिहास मे भी एकजातीय एकता पाई जाती है, जिसके आधार पर उनका एक सगठित इतिहास लिखा जा सकता है। क्रुक्स के मतानुसार "जिस ग्रथ मे भिन्न-भिन्न राज्यों का इतिहास साथ-साथ लिखा जायगा, वह पाठको के लिये कठिन तथा अरुचिकर होगा।"[२] किंतु जो दशा राजस्थान की थी, वही थोडी-बहुत उन्ही दिनों योरप की थी। तो भी योरप का इतिहास लिखने मे अधिक कठिनाई न पडी। अतएव कोई कारण नही कि उसी शैली पर राजपूतों का इतिहास भी न लिखा जा सके, क्योकि जब तक एक सगठित इतिहास न लिखा जायगा तब तक यह सभव नहीं कि पृथ्वीराज, राणा कुभा, राणा साँगा, राणा प्रताप, दुर्गादास आदि जातीय वीरो को राष्ट्रीय वीरों की श्रेणी मे स्थान दिया जा सके।

१. टॉड—'ए० एंड एं० राज०'—क्रुक्स-स०, खंड १, प्रस्तावना—पृष्ठ ६५

२. टॉड—'ए० एंड एं० राज०'—क्रुक्स-स०, खड १, क्रुक्स की भूमिका, पृष्ठ १२

राजपूतों के इतिहास की लेखनशैली मे दूसरा दोष उसमे इतिहास-लेखन के नवीन आदर्शों का अभाव है। आज-कल जो इतिहास-ग्रथ लिखे जाते हैं, उनमे अधिकतर घटनाओ की ओर ही ध्यान दिया जाता है। सवत् के क्रम से घटनाओं के उल्लेख के कारण यह सभव नहीं होता कि जातीय जीवन मे उठनेवाली भिन्न-भिन्न तरगों तथा स्पष्ट एव अदृश्य रूप से बहनेवाले भिन्न-भिन्न प्रवाहो का ठीक-ठीक विवेचन किया जा सके। "प्रत्येक काल से बंध रखनेवाली उन गहन प्रवृत्तियो की—जो महान् परिवर्त्तनो के लिये रास्ता साफ करती हैं, तथा उन सयोगो की—जिनसे उस नए परिवर्तित स्वरूप का उद्गम होता है—आलोचना करना ही इतिहास का प्रधान उद्देश्य है। अतएव इतिहासकार का मुख्य कार्य यह है कि मानव-समाज की असख्य अद्भुत घटनाओं की राशि मे से वह उन अत्यावश्यक एकताओं का पता लगावे जो उन घटनाओ के तले अदृश्य रूप से पाई जाती हैं।"[1] जब तक नवीन आदर्शों को समुख रखकर राजपूतों का इतिहास न लिखा जायगा तब तक ठीक-ठीक इतिहास न लिखा जा सकेगा। राजपूतों की सभ्यता, उनकी शासन-शैली, उनका हिंदू-धर्म से संबध—आदि प्रश्न ऐसे हैं जिन पर अभी तक पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया है। इस राष्ट्र-निर्माण तथा जातीय पुनरुत्थान के युग मे यह अत्यावश्यक है कि राजपूतों के जातीय जीवन मे होनेवाले उत्थान और पतन का पूर्ण अध्ययन किया जाय, जिनके फल-स्वरूप मुगल-साम्राज्य के पतन के साथ ही राजपूतों का भी पतन हुआ। अपने जातीय जीवन के गुण-दोषों को ढूँढ़ना तथा उनकी विवेचना करना प्रत्येक जीवित जाति का कर्त्तव्य है। जब तक कोई जाति अपने दोषो को ढूँढ़कर उनको सुधारने के लिये प्रयत्न नही करती, तब तक उस जाति का पुनरुत्थान नहीं होता। सभव है, उसी दोष के फल-स्वरूप वह जाति विनष्ट भी हो जाय। जो इतिहास इस प्रकार की विवेचना से पूर्ण होते हैं, वे ही सच्चे इतिहास हैं, वे ही राष्ट्रीय जीवन के लिये उपादेय होते हैं।

(२) इतिहास-लेखन के नवीन आदर्शों की उपादेयता

आधुनिक भारत की नींव उसी अनत उज्ज्वल अतीत पर स्थित है। आधुनिक परिस्थिति को समझने तथा आधुनिक राष्ट्रीय जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के लिये भूत-कालीन इतिहास का ज्ञान अत्यावश्यक है। पुनः प्रत्येक राष्ट्रीय इतिहास को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये यह अत्यावश्यक है कि राष्ट्र के सब अंगो का ठीक-ठीक इतिहास उसमे सनिहित हो। मध्यकालीन भारत मे राजपूत ही हिंदुओं के नेता थे। मेवाड के महाराणा "हिंदुआ सूरज" कहलाते थे। अतएव जब तक राजपूतों की संस्कृति, उनके आदर्श, उनकी कला आदि का ठीक-ठीक अध्ययन नही किया जायगा, तब तक यह सभव नहीं कि मध्यकालीन भारत का सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सके।

भारत को अपने भूतकाल पर गर्व है। भारतीय सभ्यता तथा भारतीय आदर्श ससार की एक अनोखी वस्तु है। किंतु आधुनिक भारतीय सभ्यता दो विभिन्न सभ्यताओ का समिश्रण है। अतएव जब तक उसके दोनों उद्गमों की जाँच करके उनके महत्त्व तथा सापेक्ष्य प्रभाव को हम ठीक-ठीक जान न

१ रघुवीरसिंह—'पूर्व मध्यकालीन भारत'—पृष्ठ १०-११

रुधिर

चित्रकार श्री० नन्दलाल बोस

(चित्रकार के सौजन्य से)

लेंगे, तब तक उसे समझ लेना या उसके स्वरूप को पूर्णतया जान लेना हमारे लिये सभव नही। पुनः जब तक इस बात की पूरी खोज न हो सके कि उस स्वतंत्र हिंदू-भारत का आज क्या-क्या रह गया है और क्या-क्या विनष्ट हो गया, तब तक भविष्य का पथ निर्धारित नहीं किया जा सकता। और, यह सब तभी हो सकता है जब उस स्वतत्र हिंदू-भारत के अवशेष—मध्यकालीन भारत मे पुरातन भारतीय सभ्यता के एकमात्र प्रतिनिधि—राजपूतो का यथार्थ इतिहास लिखा जाय तथा भारतीय इतिहास मे उनके महत्त्व का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके उनके इतिहास को समुचित स्थान दिया जाय।
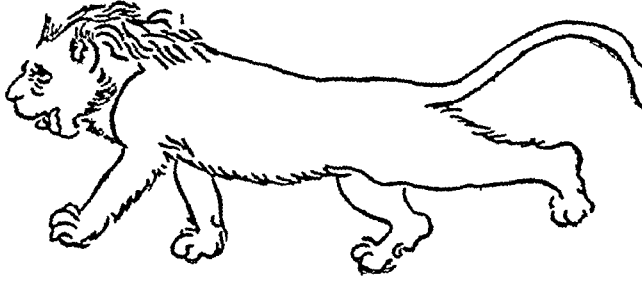
जीवन-फूल

मेरे भोले सरल हृदय ने कभी न इस पर किया विचार—
विधि ने लिखी भाल पर मेरे सुख की घड़ियाँ दो ही चार!
छलती रही सदा ही आशा मृगतृष्णा-सी मतवाली,
मिली सुधा या सुरा न कुछ भी, रही सदा रीती प्याली।
मेरी कलित कामनाओ की, ललित लालसाओं की धूल,
इन प्यासी आँखो के आगे उडकर उपजाती है शूल।
उन चरणो की भक्ति-भावना मेरे लिये हुई अपराध,
कभी न पूरी हुई अभागे जीवन की भोली-सी साध।
आशाओं-अभिलाषाओ का एक-एक कर ह्रास हुआ,
मेरे प्रबल पवित्र प्रेम का इस प्रकार उपहास हुआ!
दुःख नही सरबस हरने का, हरते हैं, हर लेने दो,
निठुर निराशा के झोंकों को मनमानी कर लेने दो।
हे विधि, इतनी दया दिखाना मेरी इच्छा के अनुकूल—
उनके ही चरणो पर बिखरा देना मेरा जीवन-फूल।

सुभद्राकुमारी चौहान

सूरदास का काव्य और सिद्धांत

श्री नलिनीमोहन सान्याल, एम० ए०, भाषातत्त्वरत्न

भक्त-शिरोमणि सूरदास 'सूरसागर' काव्य मे कुसुम-सदृश असंख्य छोटे-छोटे हृदयहारी पदों को गूँथकर श्रीकृष्ण की बाल्य-लीला का एक अपूर्व हार हमारे उपभोग के लिये रख गए हैं। उस हार के वात्सल्य, सख्य, मधुर (शृगार) और शांत रसों का जो परिमल आज चार सौ वर्षों से दिगंत-पर्यंत परिव्याप्त है, उसकी माधुरी कदापि घटनेवाली नही, वह सदैव हमारे मानस को परितृप्त करती रहेगी। सूरदास ने यशोदा-देवी के मातृ-स्नेह का आ-लेख्य इस सूक्ष्मता तथा निपुणता से चित्रित किया है कि उसे देखकर नद-रानी और गोपाल हमारे नेत्रो के सामने सजीव प्रतीत होते हैं। सूरदास के शिल्प का यह निदर्शन सौंदर्य का एक स्थायी आदर्श बना हुआ है। मानव-जीवन का एक और प्रवल आवेग है। वह है नर-नारियों का पारस्परिक आकर्षण। इसके चित्रण मे भी सूरदास ने असाधारण दक्षता दिखाई है। नायक-नायिका के रूप-वर्णन मे और उनके तीव्र आवेगमय मनोभावों के विश्लेषण में भी सूरदास ने असीम पारदर्शिता दिखाई है।

स्त्री-पुरुषों के प्रेम की अभिव्यक्ति मे नाना वैचित्र्यों का उद्भव होता है, जो शृगार रस के अंतर्गत हैं। शृगार-रस नाक सिकोड़ने की वस्तु नहीं—केवल इतनी ही सतर्कता आवश्यक है कि वह श्लीलता की सीमा का उल्लघन न करे। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र मे लिखा है—"यत्किञ्चित् लोके मेध्य सुन्दर तत्सर्वं शृङ्गाररसेनोपमीयते।" अर्थात् मानव-समाज मे जो कुछ पवित्र तथा सुंदर है, उसकी तुलना के लिये शृंगार रस का उपयोग किया जाता है।

रस किसे कहते हैं ? किसी वस्तु के आस्वादन मे जिस आनद का अनुभव होता है वही 'रस' है। श्रुति कहती है—"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्देन प्रयान्त्यभिसविशन्ति।" अर्थात् आनद से ही सब भूतों की उत्पत्ति होती है, आनद मे ही वे जीवित रहते हैं, और ध्वस को पाकर वे आनंद मे ही पुनः प्रवेश करते है।

अतएव सृष्टि के आदि, मध्य और अंत मे—सब समय—आनद विद्यमान है। 'आनंद' परमात्मा का एक स्वरूप है। जिसका स्वरूप ही आनंद है उसके द्वारा आनद का अनुभव कैसे सभव है ? आनंद के निमित्त उसको किसी पृथक् सत्ता की आवश्यकता होती है। अतएव आनद-स्वरूप परमात्मा ने इच्छा की—"एकोऽह बहु स्याम्—मै अकेला हूँ, अनेक हो जाऊँ।" यही कारण उनके सगुण-भाव धारण करने का है। आनंदानुभव के निमित्त ही उन्होने विश्व की सृष्टि की है। 'बहु' न होने से विलास क्योंकर हो सकता है[१] ? आनदानुभव के लिये ही परमात्मा और जीवात्मा का भेद-भाव रक्खा गया है[२]। 'परमात्मा' पुरुष हैं और 'जीवात्मा' प्रकृति। प्रकृति ब्रह्म मे ही विद्यमान रहती है। जो वस्तु भीतर थी उसका बहिर्विकास-मात्र हुआ, क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नही हो सकती।

जीवात्मा परमात्मा मे आत्म-समर्पण करना चाहता है, और भेदात्मक आवरण (माया) को न हटाकर[३] परमात्मा की अनुभूति के द्वारा आनद मे मग्न रहने का अभिलाषी है। इस आकांक्षा को कार्य मे परिणत करने के लिये जिस उपाय का अवलबन किया जाता है उसका नाम है *'साधना'*। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों वा सम्प्रदायो की साधना-प्रणाली भिन्न-भिन्न है। जो लोग साधना के मार्ग मे अधिक अग्रसर हुए हैं, वे योग तथा समाधि के द्वारा भगवान् को पाने की चेष्टा करते हैं। किंतु यह प्रणाली साधारण जनों के लिये बहुत कठिन है। यह शुष्क तथा नीरस है।[४] मनुष्य आनद चाहता है। भगवान् को 'कर्महीन और निरवच्छिन्न ज्ञान का स्वरूप' कल्पित करते हुए उनमे अपने-आपको विलीन करने से मनुष्य को सतोष नही मिलता। साधारण मनुष्य स्थूल तथा सरस भाव से भगवान् को प्रेम अर्पित करना चाहता है।[५]

१. "गोकुल जनम लियो सुख कारन, गोपिन मिलि सुख भोगूँ।"

२. "प्रकृति पुरुष एकै करि जानहुँ, बातनि भेद बतायो।
जल थल जहाँ तहाँ तुम बिनु नहिँ, भेद उपनिषद गायो।
द्वै तनु, जीव एक, हम तुम दोउ, सुख कारन उपजायो॥"

३. 'ईश्वर हैं शुद्ध चैतन्य, और जीव अज्ञानावृत चैतन्य। जीव, जीव रहकर ही, परमात्मा का आस्वादन करना चाहता है—वह शुद्ध चैतन्य ईश्वर नहीं बनना चाहता। यही वैष्णवो का धर्म मत है।

४. (क) सगुन सरूप रहत उर अतर, निर्गुन कहा करौं। निसिदिन रसना रटत स्याम गुन, का करि जोग मरौं॥
(ख) जाकी कहूँ थाह नहि पैए, अगम अपार अगाधै। गिरिधरलाल छबीले मुख पर, इतने बाँध को बाँधै॥

५ (क) जिहिँ उर कमलनयन बसत हैं, तिहिँ निर्गुन क्यो आवै।
सूरदास सो भजन बहाऊँ, जाहि दूसरो भावै॥
(ख) स्याम गात सरोज आनन, ललित अति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन, मरत लोचन प्यास॥

भगवान् के प्रति भक्त के प्रेम को सूफियों ने मानवीय प्रेम के आधार पर गठित किया है, किंतु उन्होने भगवान् का कोई रूप नही माना। वैष्णवो ने वास्तविक आकार मे भगवान् की कल्पना की है। भगवान् की विराट् सत्ता के भीतर रहते हुए भी जीवात्मा विरह-वेदना अनुभव करता है, और उनके अखड रूप की उपलब्धि करने के निमित्त व्यग्र रहता है, किंतु उनके साथ—अद्वैतवादियो की तरह—एकीभूत होने की आकांक्षा नही करता। वैष्णवो ने भगवान् के एक मानवीय रूप की कल्पना कर मानवीय स्थूल प्रेम के आदर्श से अपना प्रेम व्यक्त किया है। उन्होने जीवात्मा और परमात्मा को मानवीय आकार देकर उन दोनों के भीतरी सबध को प्रेमिक-प्रेमिका के आकर्षण के रूप मे व्यक्त किया है। किंतु मधुर (शृगार) रस के सब लक्षणो को व्यक्त करते हुए वैष्णव कवियो की अधिकांश रचनाओ मे अश्लीलता का धब्बा लग गया है। इद्रियों की भाषा के द्वारा अतींद्रिय विषयों की व्याख्या करने मे यह अवश्यंभावी है।

स्थान-स्थान पर सूरदास की कविता रुचि-विरुद्ध विवेचित हो सकती है[1]। किंतु स्मरण रखना चाहिए कि किसी रस के वर्णन मे उस रस के अतर्गत जितने प्रकार के आवेगो तथा भावों की उत्पत्ति हो सकती है उन सबके विस्तृत विश्लेषण मे ही रस-शास्त्रानुसार काव्य की श्रेष्ठता प्रकट होती है। शृंगार रस के वर्णन मे जो-जो कार्य वा भाव आज-कल अश्लील गिने जाते हैं, वे उस रस के अंग हैं, उनको छोड़ देने से रस संपूर्णतया परिस्फुट नही होता।

अश्लीलता के वर्णन के अभिप्राय से सूरदास काव्य-प्रणयन मे प्रवृत्त नहीं हुए थे। उनकी काव्य-रचना का उद्देश्य था भगवान् के लीला-माधुर्य का आस्वादन करना तथा कराना। उनकी व्याख्या मे यदि कही श्लीलता का सीमोल्लंघन भी हुआ हो तो हम यह कहना उचित समझते हैं कि वे जिस काल मे अवतीर्ण हुए थे और जिस वातावरण मे जीवित थे, उसमे और उसके पूर्ववर्त्ती काल में इस प्रकार का स्थूल वर्णन दोष नही समझा जाता था। उन्होने प्राचीन रीति का अनुसरण किया है। कालिदास ने 'कुमार-सभव' के समग्र अष्टम सर्ग मे हर-पार्वती का सभोग-वर्णन किया है[2]। जयदेव भी

१. आजु नँदनंदन रंग भरे।
बिबिलोचन सुविसाल दोउन के, चितवत चित्त हरे। भामिनि मिले परम सुख पायो, मंगल प्रथम करे।
कर सों करज कर्‌यो कंचन ज्यों, अबुज उरज धरे। आलिगन दै अधर पान कर, खंजन खंज लरे।
हठ करि मान कियो नव भामिनि, तब गहि पाइँ परे। ले गए पुलिन-मध्य-कालिंदी, रस-बस अनँग अरे।
पुहुप मंजरी मुक्तनि माला, अँग अनुराग भरे। सुरति नाद मुख वेनु सुधा सुनि, ताप अनतप जो टरे॥

२. सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमनेन नाहरत्।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा॥—(कु० सं०, ८, १४)
क्लिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम्।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये॥—(कु० सं०, ८, ८३)

"Nor Eve refused the rights mysterious of connubial love."

—*Milton's Paradise Lost*

इस विषय मे निरपराध नही[1]। विद्यापति के अनेक पदों ने श्लीलता की सीमा का अतिक्रम किया है[2]। पूर्व-काल मे नायक-नायिका के सभोग का विवरण न देने से काव्य अंगहीन विवेचित होता था।

वृंदावन की लीला मे श्रीकृष्ण पुरुष हैं और गोपियाँ प्रकृति। विष्णु-पुराण वा श्रीमद्भागवत मे 'राधा' का नाम नही पाया जाता। केवल हरिवश के एक स्थान मे इगित-मात्र है। इससे अनुमान होता है कि 'हरिवश' भागवत का परवर्त्ती है। जयदेव द्वादश शतक के अंत मे विद्यमान थे। उन्होने राधा-कृष्ण की लीला गाई है। दार्शनिकों मे निबार्काचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रो की व्याख्या मे सबसे पहले राधा-कृष्ण की उपासना की घोषणा की है। निबार्क का जन्म विक्रम-सवत् १२१९ मे हुआ था। अतएव वे जयदेव के समकालीन थे। इससे अनुमान होता है कि जयदेव और निबार्क के कुछ समय पहले ही किवदंती वा साहित्य-क्षेत्र मे 'राधा' नाम का आविर्भाव हुआ था, क्योंकि गाथा-सप्तशती मे 'राधा' का नाम मिलता है।

कृष्ण-भगवान् के लीला-विषयक ग्रथों मे पहले केवल गोपियाँ ही थी, 'राधा' न थीं। पीछे गोपियों के सार-स्वरूप 'राधा' की कल्पना हुई। गोपियाँ प्रकृति का व्यष्टि-भाव हैं, और राधा समष्टि-भाव।

विष्णु-पुराण, भागवत तथा हरिवश मे श्रीकृष्ण की वृंदावन-लीला का वर्णन है, किंतु महाभारत मे नही। महाभारत मे वृंदावन का नाम तक नही, न व्रजलीला का उल्लेख। 'कृष्ण' द्वारकाधीश हैं, केवल इतना ही परिचय मिलता है। राजसूय-यज्ञ-कालीन शिशुपाल की निंदा प्रक्षिप्त मानी जाती है।

ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण बहुत आधुनिक है। इसमे 'राधा' का वर्णन मिलता है। सूरदास के समय 'राधा' का नाम और राधा-कृष्ण की लीलाएँ अपरिचित न थी। उनको अपने गुरु श्रीवल्लभाचार्य से इस विषय का उपदेश भी मिला होगा।

१. (क) श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति वामाम्।
पश्यति सस्मितचारुपरामपरामनुगच्छति वामाम्॥—(गीतगोविंद, १,४६)

(ख) दोर्भ्यां संयमित पयोधरभरेणापीडित पाणिजै—
राविद्धो दशनै क्षताधरपुट श्रोणीतटेनाहत।
हस्तेनानमित कचेऽधरसुधापानेन सम्मोहित
कान्तः कामपि तृप्तिमाप तदहो कामस्य वामा गति॥—(गी० गो०, १२, ११)

२. थरथरि काँपल लहुलहु भास। लाजे न वचन करये परकास॥
आज धनि पेखल वड विपरीत। छन अनुमति छन मानइ भीत॥
सुरतक नामे मुदइ दुहुँ आँखी। पाओल मदन महोदधि साखी॥
चुंबन वेरि करइ मुख वका। मिललह चाँद सरोरुह अका॥
नीविवध परस चमकि उठि गोरी। जानल मदन भाडारक चोरी॥
फुयल वसन हिय भुज वाहु साँठि। वाहिर रतन आँचर देइ गाँठि॥—(विद्यापति-पदावली)

सृष्टि के आदि से ही प्रकृति और पुरुष की लीला चल रही है। वैष्णवगण कहते हैं कि वृंदावन की लीला के लिये भगवान् ने प्रकृति के प्रतीक-स्वरूप 'राधा' नाम का एक पृथक् विग्रह उत्पन्न किया और स्वय भी आकार ग्रहण किया[1]। 'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।' आनद-स्वरूप के विकार से जिस शक्ति का विकास होता है उसका नाम है 'ह्लादिनी' वा 'राधा'। पुरुष का ही रूपांतर है प्रकृति, अतएव राधा-कृष्ण अभिन्न हैं। राधा-कृष्ण का विहार ही आदर्श शृगार रस का विलास है। श्रीकृष्ण हैं सौंदर्य के आधार, शृगार रस के मूर्त्तिमान विग्रह तथा नायक-शिरोमणि; और राधा हैं सौंदर्य की प्रतिमा, शृगार रस की मधुरिमा और आदर्श नायिका। अतएव राधा-कृष्ण की उपासना है सौंदर्य की उपासना—रस-स्वरूप की भावना।

वैष्णवगण और भी कहते है कि श्रीकृष्ण के साथ राधा तथा गोपियों का विहार प्राकृत विहार नही, वरन् अप्राकृत है। कारण, श्रीकृष्ण हैं चिन्मय विग्रह और व्रज-देवियाँ चिन्मयी। व्रज-लीला है विशुद्ध प्रेम-लीला। माया के राज्य मे माया का विकार-स्वरूप 'काम' है। किंतु चिन्मय राज्य में 'काम' नही रह सकता। चिन्मय राज्य केवल प्रेम का राज्य है। वहाँ सब आनदमय है। काम-विजय ही इस लीला का उद्देश्य है। "व्रज-वधूगण के सग विष्णु की रास-लीला को श्रद्धा के साथ जो सुनता वा सुनाता है, वह धीर मनुष्य परा भक्ति प्राप्त कर हृदय के रोग-स्वरूप काम का सदा के लिये त्याग करने मे समर्थ होता है[2]।" अतएव इसमे किसी प्रकार की अश्लीलता का आक्षेप नहीं किया जा सकता। वैष्णवो के मतानुसार श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं—शेष सब प्रकृति है। अतएव जीव भी प्रकृति है। प्रकृति और पुरुष नित्य-सपृक्त हैं। भागवतादि ग्रथो मे इसका रूपक-मात्र वर्णित हुआ है। नव्य उपनिषद् गोपाल-तापनी मे समग्र व्रज-लीला ही रूपक के समान व्याख्यात हुई है। प्रकृति और पुरुष की घनिष्ठता को मानव-हृदय मे स्पष्ट करने के लिये ही भगवान् ने अवतार-ग्रहण किया था। रास-लीला-प्रांगण मे प्रत्येक गोपी अनुभव कर रही थी कि कृष्ण केवल मेरे ही पार्श्ववर्त्ती हैं। इस प्रकार के अनुभव से क्या उपनिषदोक्त एक-शाखा-स्थित दो पक्षियो के सदृश जीवात्मा के साथ परमात्मा का अवस्थान ध्वनित नहीं होता? सूरदास ने कहा है—"वै अबिगति अबिनासी पूरन, सब घट रहै समाई।"

सूरदास ने प्रकृति-पुरुष (जीवात्मा-परमात्मा) के विषय मे जैसा बताया है, वही असल बात है—

व्रज ही बसे आपुहिँ बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानहुँ, बातनि भेद बतायो॥
जल थल जहाँ तहाँ तुम बिनु नहिँ, भेद उपनिषद गायो।
द्वै तनु, जीव एक, हम तुम दोउ, सुख कारन उपजायो॥

१. अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥—(गीता, ४, ६)

२. विक्रीडितं व्रजवधूरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितो नु शृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

अर्थात् "व्रज मे अवतीर्ण होकर तुम आत्म-विस्मृत हो गए हो। मैं प्रकृति और पुरुष को एक ही मानता हूँ। उनका भेद केवल बातो मे है। जल-स्थल मे और जहाँ-तहाँ (सर्वत्र) तुम्हारे सिवा कुछ भी नहीं है, यह रहस्य उपनिषदो मे गाया गया है। देह दो हैं, किंतु जीव (आत्मा) एक ही। 'मैं और तुम'—यह भेद-भाव तुम्ही ने आनदोपभोग के लिये उत्पन्न किया है।"

सूरदास भेद मे भी अभेद को प्रत्यक्ष देखते थे। श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व मे उनका अटूट विश्वास था। (परमात्मा यथार्थ मे निर्गुण हैं और उनका स्वरूप है एक निःसबध निरपेक्ष चैतन्य। लीला के लिये ही वे सगुण होते हैं।)

सूरदास का सिद्धांत उनके कुछ पदों मे मिलता है, जिनमें से एक यह है—

> सदा एकरस एक अखंडित, आदि अनादि अनूप।
> कोटि कल्प बीतत नहिँ जानत, बिहरत जुगल स्वरूप॥
> सकल तत्त्व ब्रह्मांड-देव पुनि, माया सब विधि काल।
> प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब हैं अंश गोपाल॥
> कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायो।
> श्रीवल्लभ प्रभु तत्त्व सुनायो, लीला-भेद बतायो॥

अर्थात्—"महाविष्णु-स्वरूप श्रीकृष्ण अखडित (पूर्ण) ब्रह्म हैं। वे अनादि और उपमा-रहित हैं, एक-रस (सदा निर्विकार) तथा आनदमय हैं, सदा युगल-रूप मे विहार कर रहे हैं—कोटि कल्प बीत जाने पर भी वे इसका अनुभव नही कर सकते, अर्थात् उनके निकट काल की गति नही। वही पचविशति तत्त्व[1] और ब्रह्माड-देव हैं। विधि, काल इत्यादि सब माया हैं। प्रकृति-पुरुष—श्री और (उनके पति) नारायण—सभी गोपाल (महाविष्णु) के अश-मात्र हैं। कर्म, योग, ज्ञान, उपासना—सभी भ्रम (माया) के द्वारा आच्छन्न हैं।"

श्रीवल्लभाचार्य ने सूरदास को वैष्णव-सिद्धांत तथा लीला-रहस्य का जो उपदेश दिया था, ऊपर के पद मे वह सक्षेप मे व्यक्त हुआ है।

[युगलरूप मे राधा-कृष्ण नित्य विहार कर रहे हैं। इस विहार के स्थान में केवल गोपियों (मुक्त जीवों)[2] का प्रवेशाधिकार है। जो एक ही स्थान में सदा के लिये आबद्ध रहता और काल का अनुभव नही कर सकता, वह निर्गुण से अधिक भिन्न नहीं।]

शैशवावस्था मे ही पूतना, बकासुर, अघासुर इत्यादि के वध तथा गोवर्द्धन-धारण, अनल-पान, कालिय-मर्दन इत्यादि अलौकिक कार्य संपन्न करने के कारण गोपियाँ श्रीकृष्ण को ईश्वर ही जानती थीं।

१. सत्व, रज और तम—इन तीनों गुणो की साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहते हैं। प्रकृति से 'महत्' (बुद्धि or intellect), महत् से 'अहकार' (individuality), अहकार से 'पंच-तन्मात्र' (निर्विशेष सूक्ष्म पंचभूत), तन्मात्र स्थूल-भावापन्न होने से 'स्थूल-भूत' (क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और आकाश) और 'एकादश इंद्रिय' (ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय और मन) उत्पन्न होते हैं। इन चौबीस तत्त्वों के अतिरिक्त एक तत्त्व 'पुरुष' है।

२. कबीरदास ने इनका नाम 'हस' दिया है।

राधा और कृष्ण दोनों परस्पर के प्रेम से मुग्ध थे। सूरदास के काव्य मे राधा-कृष्ण के रूप का वर्णन अति मधुर है। यहाँ दो-तीन पद उद्धृत किए जाते हैं—

श्रीकृष्ण

हरिमुख निरखत नैन भुलाने।
ये मधुकर रुचि पकज-लोभी ताही ते न उड़ाने॥
कुडल मकर कपोलन के ढिग जनु रवि रैनि बिहाने।
भ्रुव सुंदर नैननि गति निरखत खजन मीन लजाने॥
अरुन अधर ध्वज कोटि बज्र द्युति ससिगन रूप समाने।
कुचित अलक सिलीमुख मानो लै मकरद निदाने॥
तिलक ललाट कठ मुकुतावलि भूषनमय मनि साने।
सूरदास स्वामी अँग नागर ते गुन जात न जाने॥

× × ×

लोचन हरत अबुज मान।
चकित मन्मथ सरन चाहत धनुष त्यजि निज बान॥
चिकुर कोमल कुटिल राजत रुचिर विमल कपोल।
नील नलिन सुगध ज्यों रस थकित मधुकर लोल॥
स्याम उर पर परम सुंदर सजल मोतिन हार।
मनो मरकत-सैल तेँ बहि चली सुरसरि-धार॥
सूर कटि पट पीत राजत सुभग छवि नँदलाल।
मनो कनक-लता-अवलि-बिच, तरल विटप-तमाल॥

[जैसे मेघ और विद्युत् मे अविच्छिन्न सबध है, उसी प्रकार उनमे और उनके पीत वस्त्र मे नित्य-सबध है। जसे वर्षा के प्रारभ मे सौदामिनी-युक्त वर्षणोन्मुख नवीन मेघ नयनाभिराम होता है और वर्षण से धरातल को सुशीतल करता है, वैसे ही नवयौवन-सपन्न श्रीकृष्ण प्रेमधारा-वर्षण-पूर्वक प्रेमिक भक्तो की तप्त प्रेम-तृषा शांत करते हैं (गोपाल-तापनी)। अन्य किसी अवतार म भगवान् के वस्त्र की विशिष्टता का पता किसी ग्रथ में नही मिलता।]

श्रीराधा

डोलति बाँकी कुज-गली।
ब्रज-बनिता मृगसावक-नैनी बीनति कुसुम-कली॥
कमल-बदन पर बिथुरि रहीं लट कुचित मनहुँ अली।
अधर-बिब नासिका मनोहर दामिनि दसन छली॥

स्वर्गीय पण्डित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

पण्डित लल्लीप्रसाद पाण्डेय
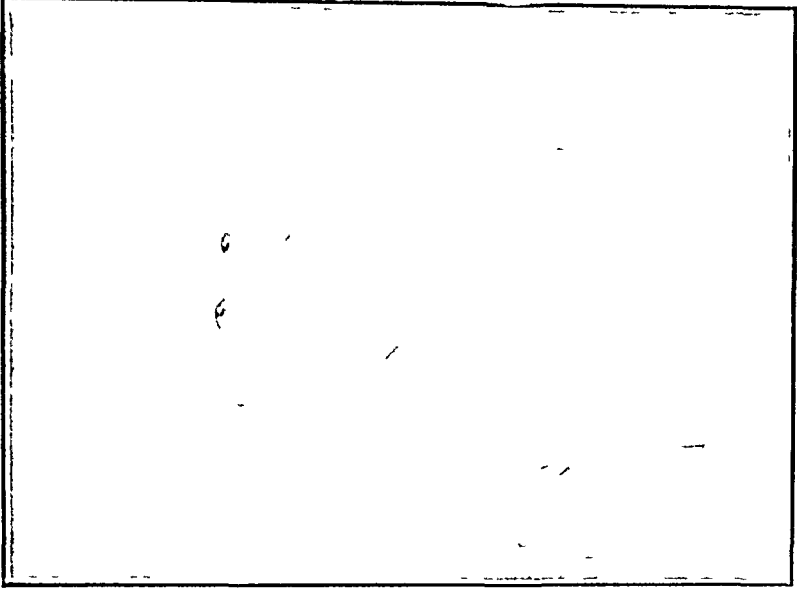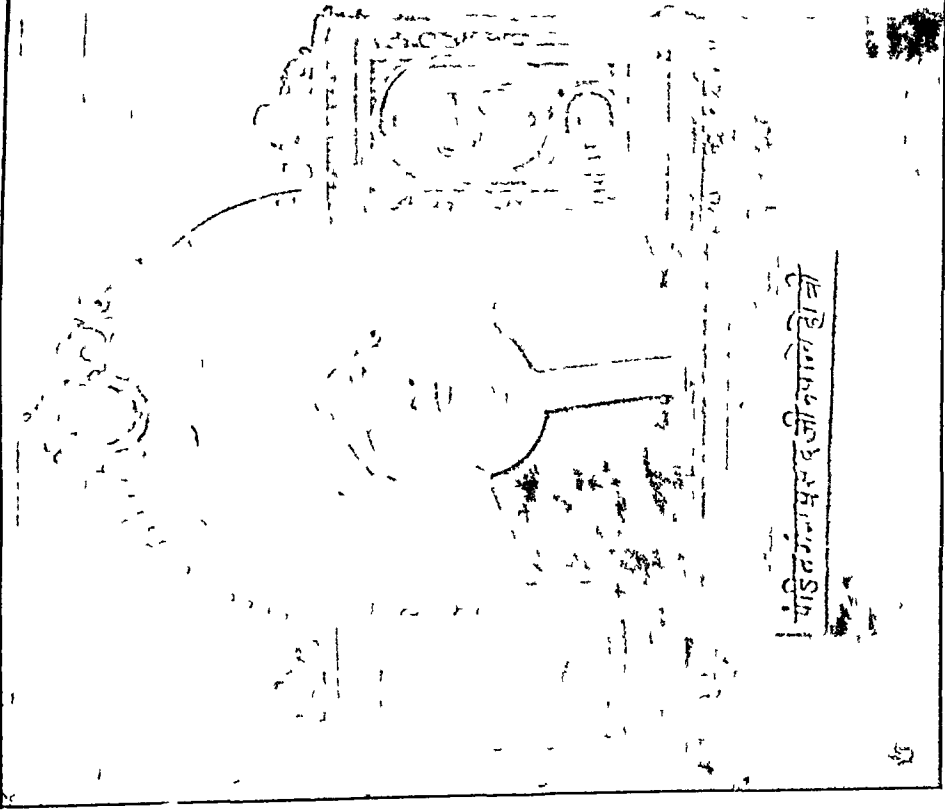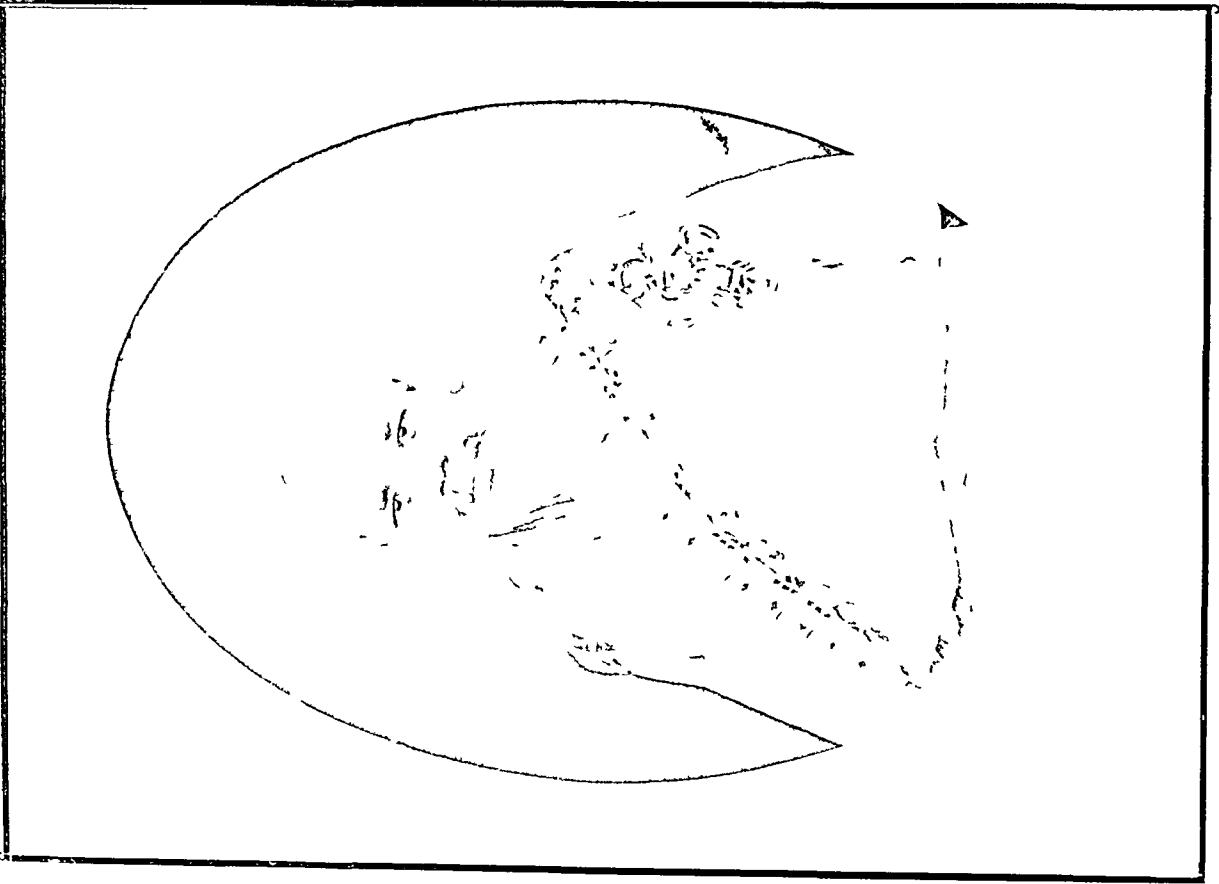
स्वर्गीय पंडित रामावतार शर्मा

कृपापात्र —
महेन्दुलाल गर्ग
१२-४-१९०१

स्वर्गीय पंडित महेदुलाल गर्ग

नाभि परस लौं रस-रोमावलि कुच जुग बीच चली।
मनहुँ विवर तें उरग रिंग्यो तकि गिरि कै सधि-थली ॥
पृथु नितव कटि छीन हस-गति जघन सघन कदली।
चरन महावर नूपुर मनि मे बाजति भाँति भली ॥

प्रत्येक शिल्पी के मानस-क्षेत्र मे सौंदर्य का एक आदर्श बना रहता है और वह अपने कल्पना-निहित आदर्श को वास्तविक रूप देने के लिये व्याकुल रहता है। जिसका आदर्श जितना ऊँचा होता है और प्रकाशन-शक्ति जितनी पटु एव सुदर तथा हृदयग्राहिणी होती है, उसे उतनी ही—उसी परिमाण मे सफलता प्राप्त होती है। सूरदास की रचना का विषय महान, आदर्श उच्च और वाक्‌विभव समृद्ध था। इन्हीं कारणों से उनकी कविता इतनी मधुर और मर्मस्पर्शिनी हो सकी है।

अच्छे कवियों को उपमाओं के लिये आकाश-पाताल खोजना नही पडता। सूरदास की उपमाएँ प्रायः स्वत· आ गई हैं। किंतु कहीं-कहीं उपमा-सग्रह के लिये उन्हे भी प्रयास करना पडा है। कही-कही तो उपमाओं की प्रचुरता से जी ऊबने लगता है। तथापि कविवर के गुण-सन्निपात मे अणु-परिमाण दोष निमज्जित हो गया है।

आज-कल योरप से हमारे देश में एक नए मत की अवतारणा हुई है—'पति अपनी पत्नी से प्रेम का दावा नहीं कर सकता, मन जिसकी ओर दौडता है उसी को प्रेम अर्पित हो सकता है, क्योंकि 'प्रेम' हृदय की वस्तु है और किसी का हृदय बल के द्वारा अधिकृत नहीं हो सकता।'

'सहजिया'-सप्रदाय का मत भी प्रायः यही है।

जो नारी अपने पति पर अनुरक्त न होकर अन्य पुरुष पर अनुरक्त होती है वह रस-शास्त्र के अनुसार परकीया नायिका और जो अपने पति पर अनुरक्त रहती है वह स्वकीया नायिका कहलाती है। अपने पति के साथ मिलने का जो आग्रह होता है, उससे कहीं अधिक परकीया नारी का उपपति से मिलने का आवेग होता है। इस तीव्र आवेग के द्वारा परिचालित होकर गोपियों ने श्रीकृष्ण—अर्थात् भगवान्—की आराधना की थी। ऋग्वेद (९-३२-१) में ऐसा ही भाव पाया जाता है—"योषा जारमिव प्रियम्।" अर्थात ईश्वर के प्रति जीवात्मा के प्रेम का आवेग, उपपति के प्रति परकीया नारी के प्रेम के आवेग की भाँति ही, तीव्र होना चाहिए। परकीया नायिका के भाव के साथ ही प्रत्येक साधक को साधना-कार्य में प्रवृत्त होना उचित है, नही तो भगवत-प्राप्ति नही हो सकती। कार्डिनल न्युमन भी प्रायः यही कह गए हैं[1]।

कई योरपीय उपन्यासकारो का अनुकरण करते हुए इस देश के कुछ आधुनिक उपन्यासकार स्वाधीन प्रेम की पोषकता करके निंदनीय हुए हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर इस श्रेणी के औपन्यासिकों का अपराध वैष्णव कवियो के अपराध से अधिक नहीं। स्थूल भाव से ही श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के

[1] "If thy soul is to go into higher spiritual blessedness, it must become woman, yes, however manly thou mayst be among men."—*Newman.*

अनुराग मे परकीया नायिका के लक्षण देखे जाते हैं। किंतु श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व मे गोपियों का यथार्थ विश्वास था। वैष्णवों की हृद्गत वासना ही यह है कि श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग के द्वारा, अर्थात् प्रेम तथा भक्ति की साधना के द्वारा, वे भगवान् का सालोक्य प्राप्त करे, अर्थात् उनके साथ वैकुंठ में एकत्र अवस्थान करे, और अधिकतर साधना के द्वारा सायुज्य के अधिकारी हो सकें। गोपियों ने सौभाग्य-वश ऐसे युग मे और ऐसे स्थान मे जन्म-लाभ किया था कि उन्होंने मनुष्य की ईप्सित वस्तु को नर-देह में अवस्थान करते हुए पाया था। उस कृष्ण-रूपी भगवान् की रूप-माधुरी से मुग्ध हो जाना उनके लिये अस्वाभाविक न था। उनके साथ एक ही स्थान मे रहकर और उनकी सेवा करके वे धन्य हुई थीं। काम्य वस्तु को करतल-गत पाकर वे उन्हे छोड़ न सकी थी। सूरदास की गोपियों ने कहा था—

मन क्रम बचन नंदनँदन को नेकु न छाँड़ौं पास।
कैसे रहै परै री सजनी, एक गाउँ को वास॥

इस पृथ्वी पर ही गोपियों का सालोक्य-लाभ हुआ था। सभवत: उनकी नारी-देह-जनित वासनाएँ भी चरितार्थ हुई थी। अतएव एक प्रकार से उनको सायुज्य भी प्राप्त हुआ था। इस कारण से गोपियाँ साधारण परकीया नारियों की श्रेणी मे नही गिनी जा सकती। जो हो, शताब्दियों से गोपियों के लीला-कथा की रुचि-हीनता भक्तो तथा साहित्यिकों के समाज मे केवल उपेक्षित ही नही हुई है, प्रत्युत आदृत भी होती चली आई है। श्रीमद्भागवतकार और अन्यान्य वैष्णव-कविगण यदि अपराधी हुए हों, तो सूरदास भी अपराधी है। कम से कम परपरागत रीति के अनुसार भी उनका अपराध क्षमा करना उचित है। शृगार रस के कवि होने की दृष्टि से तो उन्होने कुछ भी अपराध नही किया, क्योंकि उन्होने इस रस को सपूर्णता दी है। पुन: भक्त होने की दृष्टि से भी राधा-कृष्ण के विहार मे उन्होंने प्रकृति और पुरुष के—भक्त और भगवान् के—मिलनानद का ही अनुभव किया है। सुरुचि-सपन्न पाठकों के हृदय मे जो कविताएँ व्यथा पहुँचाती हैं, उनको छोड़ देने से भी इस रस की अन्यान्य असख्य कविताएँ अति मनोहर हैं।

सूरदास के काव्य मे कृष्णानुरक्त गोपियों मे से अधिकांश कुमारी ही हैं। राधा भी कुमारी हैं। वृंदावन छोडकर श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों ने प्रोषित-भर्तृकाओ के समान आचरण किया था। उन्होने आजीवन अपने पातिव्रत धर्म का पालन किया था, और इस सबध मे उद्धव से उन्होने स्पष्ट कहा भी था—

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यो।
मन क्रम बचन हरि सौं धरि पतिव्रत प्रेम जप तप साध्यो॥

नायक-नायिका के दैहिक मिलन के पहले, दोनों के मन मे जिस प्रेम का सचार होता है और मिलन की आकांक्षा उत्पन्न होती है, उसे 'पूर्वराग' कहते हैं। प्राचीन अलकार-शास्त्र मे 'पूर्वराग' शब्द नही मिलता। 'साहित्य-दर्पण' मे इसका व्यवहार प्रथम दृष्टिगत होता है। विश्वनाथ कविराज, महाप्रभु चैतन्य के परवर्त्ती थे। सुना जाता है कि सनातन गोस्वामीजी को उपदेश देकर वृंदावन की ओर भेजते हुए चैतन्यदेव ने प्रेम की अभिव्यक्ति के स्तरों का निर्देश कर दिया था, और उसी समय से

वैष्णव-साहित्य मे प्रेम के इस प्रथम तथा मधुर स्तर का अधिक उपयोग होने लगा है। अतएव यह आश्चर्य का विषय नही कि सूरदास के काव्य मे 'पूर्वराग' का विशद वर्णन नही पाया जाता। शकुंतला इत्यादि मे जैसे नायक-नायिका के प्रथम दर्शन के परवर्त्ती विरह का वर्णन सत्तेप मे है, वैसे ही सूरदास के काव्य मे प्रथम साक्षात्कार के बाद परस्पर के अदर्शन से उत्पन्न तीव्र वेदना को व्यक्त करनेवाले पद थोड़े हैं। बगाली वैष्णव कवियो ने 'पूर्वराग' पर बहुत ध्यान दिया है और उसकी व्याख्या मे चमत्कार भी दिखाया है। मिलन के पीछे के विरह का सूरदास-लिखित वर्णन अति मर्मस्पर्शी है। देखिए——

बिछुरे श्रीव्रजराज आज तौ नयनन ते परतीति गई।
उठि न गई हरि सँग तब ही ते ह्वै न गई सखि स्याममई॥
रूप-रसिक लालची कहावत सो करनी कछुवै न भई।
साँचे क्रूर कुटिल ए लोचन बृथा मीन छबि छीनि लई॥
अब काहे जल मोचत सोचत समौ गए ते सूल नए।
सूरदास याही ते जड़ भए इन पलकन ही दगा दए॥

× × × ×

काहे को पिय पिय हीँ रटत हो पिय के प्रेम तेरो प्रान हरैगो।
काहे को लेत नयन जल भरि-भरि नयन भरे तेँ कैसे सूल टरैगो॥
काहे को स्वास उसाँस लेति हौ वैरी विरह को दावा जरैगो।
छाल सुगध पुहुपावलि हारु छुए तेँ हिय हार जरैगो॥
बदन दुराइ बैठि मदिर मे बहुरि निसापति उदय करैगो।
सूर सखी अपने इन नैननि, चद्र चितै जिनि चद्र जरैगो॥

अब देखना चाहिए कि सूरदास के जीवन के साथ उनके काव्य का सामजस्य है या नही। सूरदास आजीवन त्यागी थे। वल्लभाचार्य के द्वारा दीक्षित होने के बाद से उन्होंने अपना जीवन गोकुल मे ही विताया था। कृष्ण-विषयक पद बनाकर और स्वय उसे गाकर वे अपना समय काटते थे। अपने काव्य मे उन्होने जो कुछ व्यक्त किया है, सब भक्ति-प्रसूत है। वे श्रेष्ठ कवि तो थे ही, निपुण गायक और परम भक्त भी थे। भक्ति ही उनके काव्य तथा सगीत का उत्सर्ग थी। वे भक्ति-रस मे आकठ निमग्न थे।

कोमल कांत पद जितने 'सूरसागर' मे पाए जाते हैं, उतने अन्य कवियो के काव्यो मे नही। मानव-जीवन की जो वेदनाएँ मनुष्य के मर्म-स्थल का स्पर्श करती है, उनको स्पष्ट करने मे जो कवि जितना समर्थ हुआ है, उसको उतनी ही ख्याति मिली है। शेक्सपीयर के जगद्वरेण्य होने का यही कारण है। सूरदास ने मनुष्य-हृदय के सार्वजनीन आवेगो को अति निपुणता से परिस्फुट किया है। इस दिशा मे उनका कृतित्व असाधारण है। उनका शिल्प प्रधानतः दो रसो के भीतर सीमित है। फिर भी उन रसो के अकन मे वे अद्वितीय हैं। उन्होने वात्सल्य तथा शृगार रसो की आलेख्यावली इस सूक्ष्मता तथा निपुणता से चित्रित की है कि उसे देखकर चित्त चकित और मुग्ध हो जाता है—उसके माधुर्य का आस्वादन कर मन

परितृप्त हो जाता है। भावो की कोमलता और विचित्रता, विन्यास की अपूर्वता और रमणीयता तथा शब्दो के लालित्य और झकार की दृष्टि से हिंदी के महाकवियो मे सूरदास का आसन बहुत ही उच्च है। भक्तो की दृष्टि मे तो उनके शृगार-रसात्मक पद भी भक्ति-रसात्मक ही प्रतीत होते हैं।

विद्यापति भी बड़े अच्छे कवि थे। उनके पदो की कोमलता और लालित्य भी प्रसिद्ध है। इन बातो मे कदाचित् वे सूरदास से श्रेष्ठ थे, किंतु सूरदास की भक्ति की गभीरता उनके पदो मे विरल है। हाँ, एक कवि चंडीदास थे, जिनके पदो की आवेग-भरी सरलता की कोई तुलना नही।

सूरदास के पदो मे भी भक्ति की मजुल तरगे लहरा रही हैं। वे जीवनावसान के समय दो स्वरचित पदो—"भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो" और "खजन-नैन रूप-रस माते"—की आवृत्ति करते हुए ही चिरानदमय अमरधाम को सिधारे थे। भारतेदु हरिश्चद्र ने इस प्रसग मे निम्नलिखित सुदर दोहा लिखा है—

मन समुद्र भयो सूर को, सीप भए चख लाल।
हरि मुक्ताहल परत ही, मूँदि गए ततकाल॥
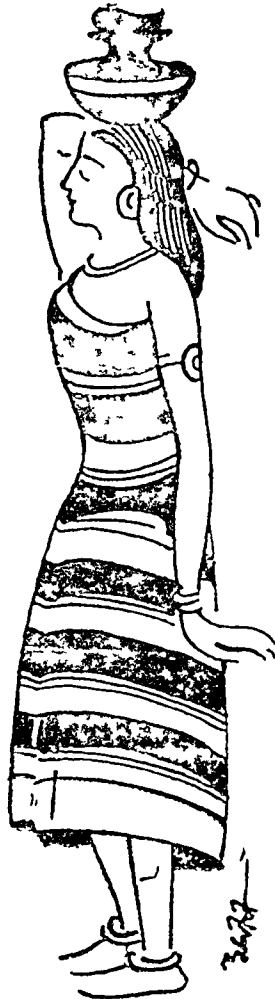
भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न

श्री जयचद्र विद्यालकार

हमारे देश की ऊपर से दीखनेवाली विविधता के भीतर एक बडी गहरी एकता है। विविधता उसके बाहरी नाम-रूप मे है, एकता उसके विचारों की आंतरिक प्रवृत्तियो और सस्कृति मे। भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न लिपियो की तह मे जैसे एक ही वर्णमाला है, वैसे ही उसकी अनेक भाषाओ के माध्यमो मे एक ही वाङ्मय का विकास हुआ है।[1] भारतीय वाङ्मय की वह आंतरिक एकता भारतवर्ष के विचारो और सस्कृति की एकता की सूचक है। और, यद्यपि उस वाङ्मय का आत्मा एक है, तो भी वह इतिहास के परिपाक के अनुसार अनेक भाषाओ, रूपो और परिस्थितियो मे प्रकट हुआ है। भारतवर्ष के जीवन और सस्कृति का विकास भारतीय वाङ्मय के उन विभिन्न रूपो के विकास मे ही ठीक-ठीक देखा जा सकता है।

उस वाङ्मय का उदय पहले-पहल भारतवर्ष की आर्य भाषाओ मे हुआ। बहुत समय बाद द्राविड भाषाओ मे भी आर्यावर्त्ती भाषाओ की कलम लगी, और वे भी वाङ्मय से फूलने-फलने लगी। इधर आर्य भाषाओ मे भी एक के बाद दूसरी यौवन पर आती और वाङ्मय का विकास करती रही। और काल बीत जाने पर भारतीय उपनिवेशों और सभ्यता के साथ-साथ भारतीय वाङ्मय की पौद भारतवर्ष के बाहर अनेक देशो मे भी जा लगी। पहले तो उन देशो मे आर्यावर्त्ती भाषाएँ ही फूली-फली, किंतु पीछे उनके रस-सिचन से स्थानीय भाषाएँ भी परिष्कृत और साहित्य-पुष्पित होने लगी। उन भाषाओ के वाङ्मयो का भी बीज या आत्मा आर्यावर्त्ती ही रहा—वह केवल नए रूपो मे प्रकट हुआ। इस प्रकार 'उपरले हिंद' (Serindia, आधुनिक चीनी तुर्किस्तान या सिमूकियाङ) की तुखारी और खोतनदेशी भाषाओ मे, पूरबी ईरान की सुग्धी[2] मे, नेपाल की नेवारी, तिब्बत की तिब्बती और अशत: चीनी मे भी, एव जावा की 'कवि' भाषा आदि मे भारतीय वाङ्मय का ही विकास भिन्न-भिन्न रूपो मे हुआ।

१. देखिए—'भारतभूमि और उसके निवासी', परिच्छेद ४९

२ वक्षु (आमू) और सीर नदियो के बीच का दोआब, जिसमे अब बुखारा-समरकंद की बस्तियाँ हैं, प्राचीन काल मे—तुर्कों के आने से पहले—ईरान का ही एक अश था, और वह 'सुग्ध' कहलाता था। मुस्लिम युग मे उसी का नाम 'मवारुन्नहर' रहा।

किंतु भारतीय मन और मस्तिष्क ने चाहे जिस भाषा मे अपने को प्रकट किया उसमे उसने कुछ ऐसे रत्न पैदा किए जो त्रैकालिक और अमर है। इन सब रत्नो को एक साथ एक जगह उपस्थित करके देखने से भारतीय वाङ्मय का—और उसके द्वारा भारतीय संस्कृति का—समन्वयात्मक दर्शन बहुत ठीक हो सकता है। और अत मे उस चयन और सकलन के द्वारा भारतीय वाङ्मय का एक वास्तविक पूर्ण इतिहास लिखा जा सकता है। सच कहे तो भारतवर्ष का एक पूर्ण इतिहास तैयार करने का भी यही उचित मार्ग है। इस समन्वय-दर्शन के काम के लिये भारतवर्ष की वह भाषा सबसे अधिक उपयुक्त होगी जो समस्त भारत मे एक सूत्र पिरोनेवाली भारत की राष्ट्रभाषा है। किसी समय यह काम सस्कृत करती थी। सस्कृत द्वारा विभिन्न भारतीय जनपदो के वाङ्मयो मे विनिमय होता था, सस्कृत के ग्रथो का उनमे अनुवाद होता था—और उनके अच्छे ग्रथो का सस्कृत मे (जैसे पालि तिपिटक का या गुणाढ्य की बृहत्कथा का)। आज वही काम हिंदी को करना होगा। ऐसा करने से उसकी समन्वय-शक्ति—राष्ट्रभाषापन—भी बहुत बढ़ेगी।

ये विचार हमे एक योजना की तरफ ले जाते हैं, और वह योजना मेरे मन मे कई बरस से घूम रही है। पहले-पहल वह भारतवर्ष का एक समन्वयात्मक इतिहास तैयार करते समय जगी थी। योजना यह है कि भारतीय वाङ्मय के प्रत्येक अश मे जो त्रैकालिक मूल्य की अमर रचनाएँ उपस्थित हैं, उन्हे चुनकर, उनमे से प्रत्येक का मूल से सीधा प्रामाणिक अनुवाद बड़ी सावधानी से कराके उन्हे एक माला मे सकलित किया जाय। पचास बरसों मे भी यह योजना पूरी हो सके तो सतोष की बात होगी। भारतवर्ष के राष्ट्रीय समन्वय के लिये उससे एक बड़े महत्त्व का काम हो जायगा।

इस लेख मे भारतीय वाङ्मय के विकास-क्रम का एक बहुत संक्षिप्त दिग्दर्शन किया जायगा, और उस दिग्दर्शन मे हमे अपना ध्यान बराबर उसके अमर रत्नों की तरफ रखना होगा। उन रत्नों के चयन की योजना का भी उसी के साथ-साथ सकेत होता जायगा।

१—वेद

न केवल भारतवर्ष मे, प्रत्युत ससार भर मे, पहले-पहल मनुष्य की प्रतिभा जिस वाङ्मय के रूप मे पुष्पित हुई वह हमारा वेद है। वेद आज हमे सहिताओ—अर्थात् सकलनों—के रूप मे मिलता है। वे सहिताएँ महाभारत-युद्ध के समकालीन कृष्ण-द्वैपायन मुनि ने की थीं, जिस कारण उनका उपनाम 'वेद-व्यास'—अर्थात् वेदो का वर्गीकरण करनेवाला—हो गया। महाभारत-युद्ध का समय हम अनेक प्रामाणिक विद्वानो का अनुसरण करते हुए १४२४ ईसवी-पूर्व मान सकते हैं। हमारी प्राचीन अनुश्रुति से पता चलता है कि कृष्ण-द्वैपायन पहले सहिताकार न थे; सहिताएँ बनाने का कार्य उनके करीब बीस पीढ़ी—प्रायः साढ़े तीन सौ बरस—पहले से (अर्थात् अंदाजन १७७५ ई० पू० से) शुरू हो चुका था। वैदिक वाङ्मय 'त्रयी' कहलाता है। उस त्रयी मे ऋक्, यजुष् और साम—अर्थात् पद्य, गद्य और गीतियो—की सहिताएँ समिलित हैं। वे ऋचाएँ, यजुष् और साम संहिता-रूप मे आने से पहले, विभिन्न कवियों के परिवारो या शिष्यपरपरा मे जमा होती आती थीं। हमे सबसे पहले जिन ऋषियों अर्थात् ऋचाकारो के नाम मिलते हैं, वे अनुश्रुति के अनुसार वेदव्यास के प्रायः पैंसठ पीढ़ी पहले हो चुके थे। तब से लेकर सहिता-युग के शुरू

होने तक ऋषियो का सिलसिला जारी रहा—अर्थात् अदाजन २४७५ ई० पू० मे ऋचाएँ पहले-पहल प्रकट हुईं, तब से अदाजन सात सा बरस तक वे बनती रही, उसके बाद उनके सकलन का जमाना आया। 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' नामक अपने (अप्रकाशित) ग्रथ मे मैंने यह मत प्रकट किया है कि महाभारत-युद्ध के प्राय चार शताब्दी पहले आर्यावर्त्त मे लिपि—अर्थात् लिखने की रीति—का आविष्कार हुआ, और उस आविष्कार ने ही उस समय तक के 'वेद' अर्थात् ज्ञान की सहिताएँ बनाने—संकलन करने—की एक प्रबल प्रेरणा आर्यो को दी। वैदिक आर्य बडे जीवटवाले, प्रतिभाशाली, साहसी और रसिक थे। उनके वाङ्मय मे उनके उन सब गुणो की छाप है। निराशावाद की उसमे गध भी नही। उसमे एक अनुपम और सनातन ताजगी है, जो पढनेवाले के जी को हरा कर देती है। हमारी आधुनिक दृष्टि से वेद का सार और निचोड तथा वैदिक आर्यों के जीवन और विचारो का एक जीता-जागता चित्र हमारे सामने रखने के लिये तीन-तीन सौ पृष्ठो की दो या तीन जिल्दो मे वेद के चुने अंशो का अनुवाद काफी हो सकता है।

२—उत्तर वैदिक वाङ्मय

सहिताएँ बनने के बाद आर्यों की विचार-धारा कई दिशाओ मे बह निकली। आर्य लोग प्रकृति की शक्तियो को दिव्य रूप मे देखते और अपने उन देवताओ की तृप्ति के लिये यज्ञ करते थे। वे यज्ञ उनके सामूहिक जीवन की मर्यादा बनाए रखते तथा उनके लिये परस्पर मिलने और ऊँची बातो पर विचार करने के अवसर उपस्थित करते। उनमे ऋचाएँ और साम (गीतियाँ) पढी और गाई जाती तथा यजुषो का विनियोग होता। आर्यो के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के सब सस्कार यज्ञात्मक और यज्ञो पर केंद्रित थे। बाद मे पुरोहितो ने उन यज्ञो का आडबर बहुत बढाकर उन्हे जड-सा बना दिया। अपनी कार्य-प्रणाली को दर्ज करने के लिये उन्होने एक नए वाङ्मय की रचना की जो 'ब्राह्मण-ग्रथो' के नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञान की खोज मे लगे कुछ विचारशील लोगो ने ब्राह्मण-ग्रथो के कर्मकाड के विरुद्ध पुकार उठाई। उनके ससार के मूल तत्त्वो को टटोलने के उन प्रारभिक प्रयत्नो से आरण्यको—अर्थात् जगलों मे लिखे गए ग्रथो—और उपनिषदो का वाङ्मय उत्पन्न हुआ। उपनिषदो मे आर्यो का सबसे पुराना दार्शनिक चितन दर्ज है। सचाई की खोज के लिये उनकी आतुर तडपन के अनेक जीवित चित्र उनमे पाए जाते हैं। प्रामाणिक हिंदी-अनुवाद द्वारा हम एक-दो जिल्दो मे ब्राह्मणो और आरण्यको के तथा एक में उपनिषदो के विचारो का दिग्दर्शन पा सकते है।

(अ) ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्

सहिताएँ तैयार होने के साथ-साथ विचार, खोज और अध्ययन का एक और सिलसिला भी जाग उठा था। आरभिक कविताएँ—ऋचाएँ और साम—सजीव हृदयो के सहज उद्गार थी। अनपढ आदमी भी बोलते और बात करते हैं। यदि वे बुद्धिमान् हो तो बडी सयानी बातें भी करते हैं। यदि उनके मन मे कुछ भावो की लहर उठे—और यदि उनके अदर वह सहज सुरुचि हो जिससे मनुष्य भाषा के सौष्ठव और शब्दों के सुर-ताल का अनुभव करता है—तो वे अक्षर पढ़ना जाने बिना भी गा सकते, गीत रच

(इ) वेदाग

सकते, और कविता कर सकते है। आरभ के सब कवि ऐसे ही थे। उनकी कविताओ में विचारों और भावो का स्वाभाविक प्रकाश था, विद्वत्तापूर्ण बनावटी सौदर्य नही। ऐसी रचनाएँ जब बहुत हो चुकीं तब उन्हे बार-बार सुनने से विचारकों का ध्यान उनके सुर-ताल, उनके छदों की बनावट, उनकी शब्द-रचना के नियमो और उन शब्दो को बनानेवाले उच्चारणो की तरफ गया। और तब इन विषयों की छानबीन होने पर छद:शास्त्र, वर्णमाला और वर्णोच्चारण-शास्त्र तथा व्याकरण आदि की धीरे-धीरे उत्पत्ति हुई। वर्णो के उच्चारण के नियमो को ही हमारे पुरखा 'शिक्षा' कहते थे। आधुनिक परिभाषा मे हम उसे वर्ण-विज्ञान या स्वरविज्ञान (Phonetics) कह सकते हैं। छद:शास्त्र और व्याकरण से पहले वर्ण-विज्ञान का होना आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, उस विज्ञान का उदय महाभारत-युद्ध के प्रायः चार सौ बरस पहले हुआ। उस विज्ञान मे हमारे पुरखो ने उस प्राचीन जमाने मे आश्चर्य-जनक उन्नति कर ली। अपनी वर्णमाला को उस युग मे ही उन्होने जो वैज्ञानिक पूर्णता दे दी, ससार की और कोई वर्णमाला आज तक उसे नही पहुँच पाई। उत्तर वैदिक काल के सर्वप्रथम व्याकरण-ग्रथ 'प्रातिशाख्य' कहलाते हैं। व्याकरण के साथ-साथ 'निरुक्त' नामक विज्ञान का उदय हुआ। उसमें शब्दो का निर्वचन किया जाता—अर्थात् मूल धातु से विकास टटोला जाता। यह शास्त्र भी भारतवर्ष के लिये जितना पुराना है, आधुनिक जगत् के लिये उतना ही नया है। उत्तर वैदिक युग के अनेक निरुक्त-ग्रंथों मे से अब केवल यास्क मुनि (अदाजन सातवी शताब्दी ई० पू०) का निरुक्त बचा है। शिक्षा, छदस्, व्याकरण और निरुक्त—ये चारो वेदांग हैं। चारो ही शब्द-शास्त्र—अर्थात् भाषा-विषयक विज्ञान—के अंग हैं। इनके साथ दो और वेदांगो को गिनने से छ: वेदांगो और उत्तर वैदिक वाङ्मय की गिनती पूरी होती है। उन दो मे से एक था ज्योतिष, और दूसरा कल्प। ज्योतिष प्राचीन आर्यों का एकमात्र भौतिक विज्ञान था। वैदिक ज्योतिष का कोई ग्रथ अब उपलब्ध नही है। कल्प मे आर्यों के व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक अनुष्ठान का समुच्चय था जो क्रमशः श्रौत, गृह्य और धर्म कहलाता। इस प्रकार, ब्राह्मण-ग्रथो के कर्मकांड का सार कल्प-ग्रथो मे आ गया।

वेदांग-ग्रथो से हमारे देश मे एक अनुपम शैली शुरू हुई। थोडे से थोडे शब्दो मे अधिक से अधिक विचार भर देना उस शैली का सार है। वह 'सूत्र-शैली' कहलाती है। वह शैली ही स्वय बडी मनो-रजक है। उपस्थित वेदांग-ग्रथ व्यक्तियो की रचनाएँ नहीं हैं। उनके कर्त्ताओ के नाम हम नही जानते। यही हाल सारे उत्तर वैदिक वाङ्मय का है। वह 'शाखाओ' अथवा 'चरणो'—अर्थात् सम्प्रदायों—की उपज है। एक-एक 'शाखा' की गुरु-शिष्य-परपरा मे वह उत्तरोत्तर मँजता और सपादित होता रहा है। इसी कारण, उपस्थित धर्मसूत्र यद्यपि पाँचवी से तीसरी शताब्दी ई० पू० तक के हैं, तथापि उनमे कई शताब्दी पहले की सामग्री तथा जीवन का चित्र है।

हिंदी-अनुवाद द्वारा वेदांग-वाङ्मय का दिग्दर्शन करना हो तो शिक्षा, निरुक्त और प्रातिशाख्य के लिये एक जिल्द और श्रौत तथा गृह्य-सूत्रो के लिये एक जिल्द बस होगी, धर्मसूत्रो के लिये दो-एक अलग जिल्दों की आवश्यकता होगी।

पति की चिता

चितेरी—सौ० प्रतिमादेवी ठाकुर

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)
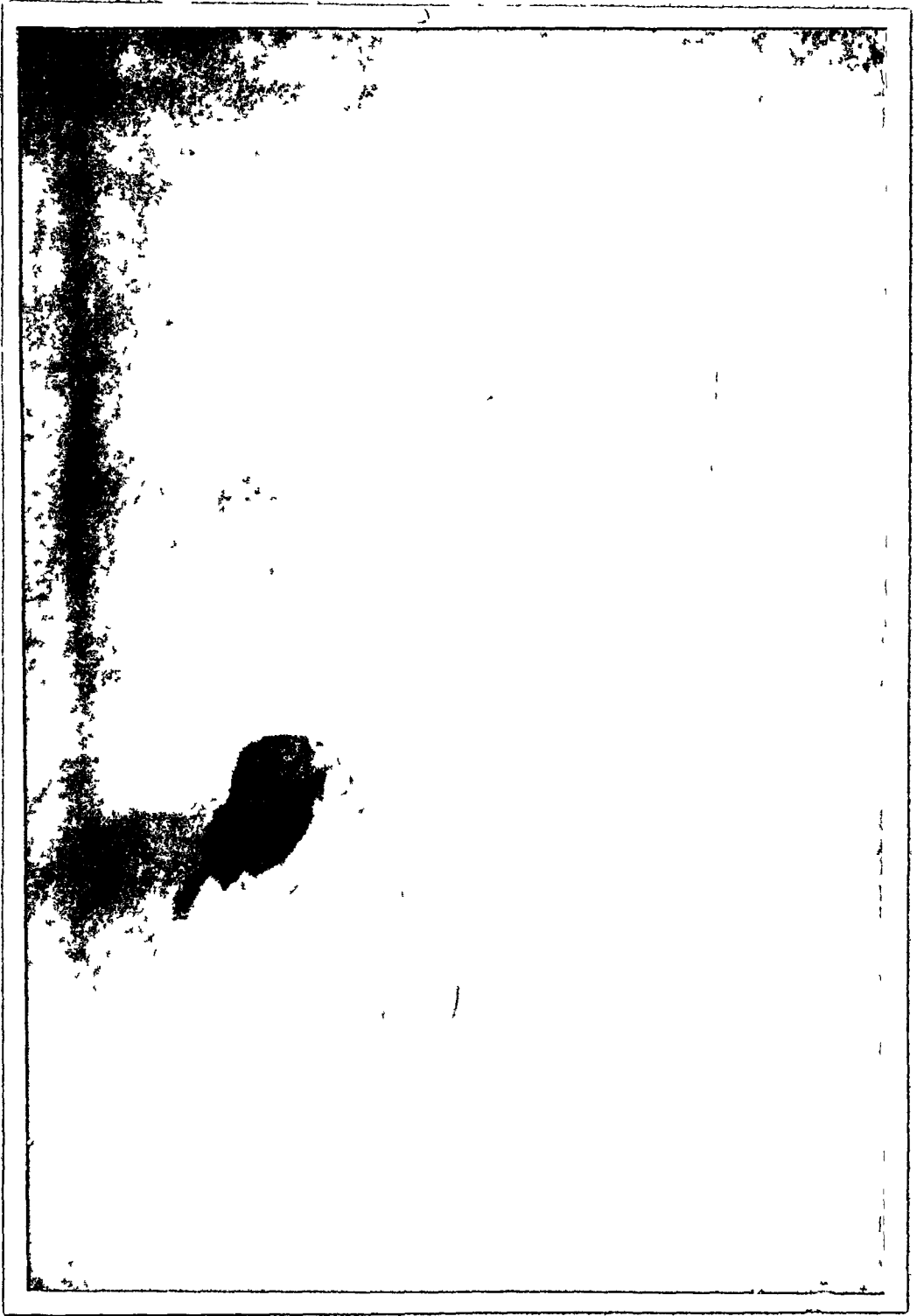
३—पुराण-इतिहास

आरभिक आर्यों के 'वेद' अर्थात् ज्ञान मे ऋचो, यजुषो और सामो की त्रयी के अतिरिक्त बहुत-से आख्यान, उपाख्यान, गाथाएँ और 'पुराण' (पुरानी कहानियाँ) भी समिलित थे। 'त्रयी' देवता-परक, धर्म-परक थी। इन आख्यानो, उपाख्यानो और गाथाओ (गीतमयी कहानियो) मे आर्यो के अपने पुरखो की घटनाओ का वृत्तांत था। त्रयी के ज्ञाता जैसे 'ऋषि' कहलाते, वैसे ही इन आख्यानो आदि के विद्वान् 'सूत' कहलाते। वैदिक समाज मे सूतों की बडी प्रतिष्ठा थी। कृष्ण-द्वैपायन ने जहाँ 'त्रयी' सहिताएँ बनाई वहाँ सतो की कृतियो से पुराण-सहिता भी रची। प्राचीन विद्वान् वेद-सहिताओ का परिगणन यों करते थे—"साम्, ऋक् आर यजुर्वेद—यह त्रयी है, अथर्ववेद और इतिहास-वेद—ये कुल (पाँच) वेद हैं।"[१] पहले तीन वेदो मे आर्य जनता के ऊँचे दर्जे के लोगो—ऋषियों—के विचार सकलित हैं। अथर्ववेद मे जन-साधारण के अभिचार-कृत्या और जादू-टोना-विषयक विश्वासो का भी समावेश हुआ है। हमे अथर्व से यहाँ मतलब नही, क्योकि अब उसका परिगणन वेदों मे ही होता है। वेदव्यास ने महाभारत-युद्ध तक के आख्यानो, उपाख्यानो आदि का सकलन पुराण-सहिता मे कर दिया। बाद की घटनाओ के भी वृत्तांत दर्ज होते रहे। किंतु पिछले सूतों ने उन्हे एक विचित्र शैली मे कहा। उन्होने वेदव्यास के मुँह से ही अपने समय का वृत्तांत इस प्रकार कहलाया, मानों वे भविष्य की बात कह रहे हों। एक 'भविष्यत्-पुराण' बनता गया, जिसका उल्लेख हम पाँचवी शताब्दी ई० पू० के आपस्तब धर्मसूत्र मे पाते हैं। भविष्यत् और पुराण—ये परस्पर-विरोधी शब्द है। 'पुराण' का विशेषण 'भविष्यत्' होने से सूचित है कि 'पुराण' शब्द का मूल अर्थ तब तक भूला जा चुका और वह शब्द योगरूढि होकर एक विशेष प्रकार के वाङ्मय के लिये प्रसिद्ध हो चुका था। इसी से सिद्ध है कि पॉचवी शताब्दी ई० पू० से पहले पुराण उपस्थित थे। 'भविष्य' मे गुप्त-साम्राज्य के उदय तक की घटनाओ का वृत्तांत जुडता रहा। वहाँ आकर पौराणिक इतिहास समाप्त हो जाता है। पुराण शुरू मे पचलक्षण था—उसमे केवल पाँच विषय थे। किंतु मौर्ययुग के बाद जब पौराणिक धर्म का उदय हुआ तब पुराण-ग्रथो मे उनके मुख्य विषयों के अतिरिक्त बहुत-से दूसरे विषय भर दिए गए। उनकी कहानियो के पुराने नायको के मुँह मे बहुत-से उपदेश भरकर पुराणो को धर्म-परक ग्रथ बना दिया गया। पुराणो के साथ यह छेडछाड इतनी अधिक हुई है कि उनकी अनेक सतहो को अलग-अलग करना भी अब बडा कठिन काम हो गया है। तो भी आधुनिक खोज ने वैसी बारीक छानबीन के तरीके निकाल लिए हैं। पहले-पहल स्वर्गीय अँगरेज विद्वान् पार्जीटर ने सब पुराणो से कलियुग-वशावलियों से सबध रखनेवाले सदर्भ निकालकर उसके तुलनात्मक अध्ययन से उसका मूल प्रामाणिक पाठ तैयार करने की चेष्टा की। फिर जर्मन विद्वान् किर्फेल ने पुराणो के पचलक्षण-अंश को अलग निकालकर उसका उसी तरह सपादन किया। इस ढग से पुराण के भिन्न-भिन्न स्तरो को अलग-अलग करके संपादन करने मे ही लाभ है। और वैसा करने से शायद दसएक

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र—१, ३

जिल्दों मे पौराणिक वाङ्मय का निष्कर्ष हिंदी मे आ सके। रामायण और महाभारत का मूल काव्य-रूप भी पहले-पहल अंदाजन पाँचवीं शताब्दी ई० पू० मे लिखा गया। वह कथा-अंश पुराण-इतिहास-वाङ्मय का ही भाग है, यद्यपि अब तो महाभारत एक विश्वकोष बन चुका है। उस अंश का सपादन भी पुराण-इतिहास-वाङ्मय के सिलसिले मे ही होना चाहिए।

४—आरंभिक संस्कृत वाङ्मय

वेद से वेदांगो का उदय होने मे कई नई विद्याओ का जन्म हुआ था। पीछे और परिपक होने पर वे स्वतत्र विद्याएँ बन गई, वेद का अंग-मात्र न रही। इस प्रकार व्याकरण का उदय एक वेदांग-रूप मे हुआ था, पर पाणिनि के व्याकरण को हम वेदांग मे नही गिनते। पाणिनि का समय पाँचवीं शताब्दी ई० पू० है।

उस समय तक आर्यों के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन मे बड़े-बड़े परिवर्त्तन हो चुके थे। वैदिक आर्यों के राज्य 'जनों' अर्थात् कबीलो के थे। उत्तर वैदिक युग (१४००–७०० ई० पू०) मे जनपदो—अर्थात् देशो—का उदय हुआ, और जानपद राज्य होने लगे। उसके बाद कई-कई जनपदों के एक मे मिलने से महाजनपदो की सृष्टि हुई। सातवी-छठी शताब्दी ई० पू० मे महाजनपदो की पारस्परिक प्रतिद्वद्विता से अंत मे मगध का पहला साम्राज्य खड़ा हुआ, जो पाँचवी और चौथी शताब्दी ई० पू० मे बना रहा। मगध के उस पहले साम्राज्य के युग को हम पूर्व-नद-युग कहते है, क्योंकि उस साम्राज्य के सस्थापक पहले नद राजा थे। वैदिक युग मे आर्य लोग उत्तर भारत मे थे; उत्तर वैदिक मे वे गोदावरी-काँठे तक बढ़े। महाजनपद-युग मे वे ताम्रपर्णी (लंका) तक आने-जाने लगे, और पूर्व-नद-युग मे पांड्य देश और सिंहल मे उनके उपनिवेश स्थापित होकर सारे भारत का आर्यीकरण पूरा हुआ। वैदिक समाज कृषकों और पशुपालकों का था, पर महाजनपद और पूर्व-नद युगों मे शिल्प का खूब विकास हुआ; शिल्पियों की 'श्रेणियाँ' और व्यापारियों के 'निगम' बने, व्यापार के कारण नगरियों का उदय हुआ, और उन नगरियों का प्रबध करनेवाली सस्थाएँ—'पूग'—उठ खडी हुईं। आर्थिक और राजनीतिक जीवन के इस प्रकार परिपक होने, और उनमे उक्त अनेक प्रकार के 'निकाय' (सामूहिक सस्थाएँ) पैदा हो जाने से, उनके पारस्परिक सबध, लेन-देन और अधिकार नियत करने के लिये 'व्यवहार' (कानून) नाम की एक नई वस्तु पैदा हो गई। 'धर्म' और 'व्यवहार' दोनों इस युग की उपज थे—'धर्म' आनुष्ठानिक जीवन के कानून थे और 'व्यवहार' लौकिक जीवन के। 'धर्म' धर्मशास्त्र[१] का विषय था, और 'व्यवहार' अर्थशास्त्र का। अर्थ या अर्थशास्त्र नाम का यह नया वाङ्मय सातवीं-छठी शताब्दी ई० पू० से पैदा हो रहा था; क्योंकि उसका उल्लेख पालि जातकों मे—जिनकी चर्चा आगे की गई है—मिलता है। इस प्रकार महाजनपद और पूर्व-नद-युग मे जहाँ पुराने

१ धर्मसूत्रो को ही धर्मशास्त्र कहते थे। धर्मशास्त्र और धर्मसूत्र मे अतर है, और धर्मशास्त्र शब्द केवल बाद की स्मृतियों के लिये बर्ता जाता था, इस प्रचलित विचार का पूरा खंडन जायसवाल जी ने अपने ग्रंथ 'मनु और याज्ञवल्क्य' (कलकत्ता युनिवर्सिटी के टागोर-भाषण १९१७) मे किया है।

वेदांगों के विषय स्वतंत्र शास्त्र बने, वहाँ नए शास्त्रो का उदय भी हुआ। पाणिनि की अष्टाध्यायी (४,३,११०) से सूचित है कि उनसे पहले किसी किस्म का एक 'नटसूत्र'—अर्थात् नाट्यशास्त्र—भी था। उसकी गिनती 'धर्म' और 'अर्थ' के अतिरिक्त 'काम'—अर्थात् ललितकलाविषयक—ग्रंथो मे करनी चाहिए। उपनिषदो से सूचित होता है कि खास कामशास्त्र-विषयक विचार श्वेतकेतु के समय—उत्तर वैदिक युग—से ही शुरू हो चुका था। किंतु तब तक वह एक गौण विषय था, क्योंकि कौटिल्य अपने समय की विद्याओं का परिगणन 'आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दंडनीति'—इन चार विभागो मे ही करता है, और इतिहास-पुराण को वह त्रयी के परिशिष्ट रूप मे गिनता है। वार्त्ता और दंडनीति अर्थशास्त्र मे समिलित थे, त्रयी मे सब वेद-वेदांग और वेदांगो के विकास से बने हुए विज्ञान भी।

बाकी रही आन्वीक्षिकी, सो उस समय का आरंभिक दर्शनशास्त्र था। कौटिल्य के समय तक केवल तीन किस्म की आन्वीक्षिकी थी—सांख्य, योग और लोकायत। षड् दर्शन तब तक पैदा न हुए थे। उस आरंभिक आन्वीक्षिकी का कोई ग्रंथ अब उपलब्ध नही है। किंतु उपनिषदो के आगे पूर्व-नंद-युग तक भारतीय दार्शनिक चिंतन का विकास कैसे हुआ, उसे समझने के लिये हमारे पास एक बहुत कीमती ग्रंथ है, और वह है 'भगवद्गीता'। भगवद्गीता को कई विद्वान् शुंग-युग (१८८-७५ ई० पू०) का और कई उसके भी बाद का मानना चाहते हैं। किंतु बहुत सोचने-विचारने के बाद मुझे स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का ही मत ठीक जँचा है कि वह पाँचवी शताब्दी ई० पू०—पूर्व-नंद-युग—की रचना है।

हमने देखा कि पुराण-इतिहास-वाङ्मय का बड़ा अंश महाजनपद और पूर्व-नंद-युग मे संपादित हुआ। वाल्मीकि-रामायण तभी के समाज को चित्रित करती है। फिर बहुत-से वेदांग—धर्मसूत्र आदि—तभी के हैं। हम देखेंगे कि पालि वाङ्मय की सबसे कीमती रचनाएँ भी उसी युग मे पैदा हुईं। उनके अतिरिक्त शास्त्रीय संस्कृत के उस आरंभिक वाङ्मय की—जो वैदिक वाङ्मय को पिछले संस्कृत वाङ्मय से जोड़ता है—तीन अमर रचनाएँ इसी युग की उपज हैं। वे तीन रचनाएँ है—पाणिनि की अष्टाध्यायी, भगवद्गीता तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र। पाणिनि की अष्टाध्यायी विश्व-वाङ्मय का एक अद्भुत रत्न है। उसके मूलमात्र का अविकल अनुवाद शायद हिंदी-पाठको की समझ मे न आए, इसलिये काशिका-वृत्ति के साथ उसका अनुवाद करना होगा और उसकी पद्धति को भी आधुनिक दृष्टि से स्पष्ट करना होगा। तीन जिल्दो मे वह काम हो सकेगा।

भगवद्गीता के महत्त्व के विषय मे कुछ कहना सूरज को दीपक दिखाना है। उसके जैसा अमर और अमूल्य रत्न विश्व के वाङ्मय मे दूसरा पैदा न हुआ। शिक्षाओं की उच्चता मे, त्रैकालिक सनातन सचाइयो का प्रकाश करने मे और तेजस्वी सुर मे वह अपना सानी नही रखती। उसके क्रांतदर्शी लेखक ने अपना नाम न बताकर बड़े मौजूँ ढंग से कृष्ण वासुदेव के मुँह से कुरुक्षेत्र की युद्धस्थली मे अपने उपदेशो को कहला दिया है। आधुनिक युग का कोई लेखक गुरु गोविंद के मुँह से बंदा बैरागी को वैसा ही उपदेश दिला सकता था!

भगवद्गीता यदि प्राचीन आर्यों के त्याग के आदर्शों को हमारे सामने रखती है तो कौटिल्य का अर्थशास्त्र उनके व्यावहारिक जीवन और आदर्शों को खोल देता है। इस पहलू मे वह भी अनोखा है।

उसकी लहू और लोहे की नीति तथा एक ऊँचे उद्देश्य (भारतीय साम्राज्य की स्थापना) की पूर्त्ति के लिये कोई भी उपाय बर्त्तने की तत्परता मे एक ऊँची दृढ़ता, निष्ठा और आदर्श साधना की छाप है। सचमुच उसमे उस दृढ़व्रती ब्राह्मण के कभी न डगमगानेवाले गभीर हृदय की झलक है जो पैरो को चुभनेवाले डंठलो को उखाडकर उनकी जड़ों मे मट्ठा सीचता था!

महाजनपद और पूर्व-नन्द युग कैसे गहरे विचारो और मौलिक रचनाओ के युग थे, सो ऊपर की विवेचना से प्रकट है। उन युगो के विचार और ज्ञान का केंद्र और स्रोत तक्षशिला का विद्यापीठ था जहाँ 'तीन वेद और अठारह विद्यास्थान' पढ़ाए जाते थे। वहाॅ के 'दिशा-प्रमुख' (जगत्प्रसिद्ध, नानाराष्ट्रीय ख्याति के) पजाबी आचार्यों के चरणों मे बैठे बिना उस युग मे कोई आदमी शिक्षित न कहला सकता था। कुरु-पचाल, काशी-कोशल, मगध और विदेह से दल के दल नवयुवक--गरीब-अमीर, राजाओ और रंको के पुत्र—तक्षशिला मे पढ़ने को आ जुटते, और वहाॅ से लौटकर अपने देशो मे वडा आदर पाते थे। वहाँ पढ़ाए जानेवाले 'अठारह विद्यास्थानो' मे विशेपकर आयुर्वेद की वडी प्रसिद्धि थी। दुर्भाग्य से तक्षशिला के आत्रेय आचार्यों का आरभिक आयुर्वेद-विपयक कोई ग्रथ आज उपलभ्य नहीं है। आचार्य पाणिनि तक्षशिला के पडोसी थे, कौटिल्य वही के थे, और भारत (महाभारत) पहले-पहल वही गाया गया। सभव है कि भगवद्गीता भी वही प्रकट हुई हो।

५—पालि तिपिटक

तक्षशिला के उस गौरव के युग मे ही विश्व के इतिहास के उस सबसे वडे महापुरुप ने आर्यावर्त्त मे जन्म लिया जिसका नाम आज भी आधी दुनिया प्रतिदिन जपती है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के ठीक बाद पाँच सौ भिक्खु राजगृह मे इकट्ठे हुए, और उन्होने उनकी शिक्षाओ का गान किया। वह पहली 'सगीति' थी। सौ बरस बाद वैशाली मे दूसरी 'संगीति' हुई। फिर तीसरी 'सगीति' अशोक के समय मे हुई। इन्ही संगीतियो मे बौद्धो का धार्मिक वाड्मय तैयार हुआ। पहली 'सगीति' के समय उस वाड्मय के दो अंश थे—एक 'विनय', दूसरा 'धम्म'। 'विनय' अर्थात् भिक्खु-भिक्खुनियो के आचरण-विपयक नियम, 'धम्म' अर्थात् धर्म-विषयक शिक्षाएँ। इन दोनों मे प्रायः बुद्ध के अपने उपदेश थे। कौन-सा उपदेश बुद्ध ने कब, कहाॅ, किन अवस्थाओ मे दिया, यह उपक्रमणिका भी प्रत्येक उपदेश के साथ दर्ज है। उनके धम्म-विषयक उपदेश 'सुत्त'—अर्थात् सूक्त—कहलाते हैं। वे सब प्रायः सवाद-रूप मे हैं। वे पाॅच 'निकायो'—अर्थात् समूहो या वर्गों—मे बॅटे है। उन सवादो मे ससार की सबसे श्रेष्ठ सदाचार-शिक्षा अत्यंत सरल और सीधे शब्दो मे सुनाई देती है। ससार के एकमात्र आचारात्मक धर्म का सार उनमे निहित है। खुद्दकनिकाय के अंतर्गत धम्मपद और सुत्तनिपात मानो बौद्धो के गीता और उपनिषद् हैं। उसी निकाय का एक अश 'उदान'—अर्थात् बुद्ध की उद्गारमयी उक्तियाॅ—भी है। शिक्षा की उच्चता, सदाचार के आदर्शों, शैली की सरलता और सीधेपन मे निकायों का मुकाबला नही किया जा सकता।

अशोक के समय तक बौद्ध वाड्मय तिपिटक रूप मे आ गया, और तीसरी 'सगीति' के शीघ्र बाद वह अपने अंतिम रूप को पहुॅच गया। तिपिटक मे विनय-पिटक, सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक

शामिल हैं। पुराना विनय विनय-पिटक मे और धम्म सुत्त-पिटक मे आ गया है, अभिधम्म-पिटक पीछे की रचना है जो बौद्धो के आरभिक दार्शनिक चितनो को सूचित करती है और जिस पर बाद का सारा बौद्ध दर्शन उसी प्रकार निर्भर है जैसे वेदात-दर्शन उपनिषदो पर। विनय के भी सब उपदेश ऐतिहासिक उपक्रमणिका के साथ—'ऐसा मैने सुना है, एक बार भगवान्... तब ' इस शैली मे—कहे गए है, इसी कारण बुद्ध की जीवनी का सबसे पुराना वृत्तात होने से उनका महत्त्व है।

सुत्त-पिटक के खुद्दकनिकाय मे थेरीगाथा, थेरीगाथा, अपदान (थेर-अपदान, थेरी-अपदान) तथा जातकत्थवण्णना भी समिलित है। अपदान का सस्कृत रूप है अवदान, और उसका अर्थ है 'शिक्षाप्रद ऐतिहासिक वृत्तात'। अपदान मे बौद्ध धर्म के आरभिक थेर-थेरियो के पूर्व-जन्म और इस जन्म के वृत्तात हैं, थेरगाथा और थेरीगाथा मे उनकी गीतियाँ या वाणियाँ। उन चरितो और वाणियो मे बहुत-से मनोरजक अश हैं, विशेषकर उन प्राचीन महिला सुधारिकाओ के चरित और गीत बडे ही रुचिकर है। 'जातक' कहानियाँ हैं जो बुद्ध से पहले—महाजनपद-युग—की हैं और जिन्हे बुद्ध के जीवन से जोडकर तिपिटक मे रख दिया गया है। बुद्ध के जीवन मे कोई घटना घटती है जिससे उन्हे अपने किसी पूर्व-जन्म की कोई घटना याद आ जाती है। वे उस घटना को सुनाते हैं और अत मे उस पूर्व-जन्म की घटना मे कौन बोधिसत्व था और कौन क्या था, सो 'समोधान' करते हैं। वह तथाकथित पूर्व-जन्म की घटना जातक का अतीतवत्थु—अर्थात् असल कहानी-भाग—है जो बुद्ध से पहले का है। उसका सार दो-एक 'पालियो'—अर्थात् पद्यो मे—कहा होता है। वे पालियाँ अत्यत पुरानी है। ये साढ़े पाँच सौ के करीब जातक विश्व के वाङ्मय मे जन-साधारण की सबसे पुरानी कहानियाँ हैं। मनोरजकता, सुरुचि, सरलता, आडबर-हीन सौंदर्य और शिक्षाप्रदता मे उनका मुकाबला नही हो सकता। वे बच्चो के लिये भी सरल और आकर्षक, जवानों और बूढो के लिये भी रुचिकर, और विद्वानो के लिये प्राचीन भारत के जीवन का जीता-जागता चित्रण करने क कारण अत्यत मूल्यवान् हैं। उनका सीधापन और हल्का व्यग्य लाजवाब है।

तिपिटक वाङ्मय का हिंदी-अनुवाद द्वारा दिग्दर्शन करना हो तो आठ-दस जिल्दो मे वह हो सकना चाहिए। जातको की गिनती उन जिल्दो मे मैंने नही की, क्योकि उनका अलग अविकल अनुवाद पाँच-छः जिल्दो मे होना चाहिए।

६—संस्कृत-प्राकृत वाङ्मय

भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास मे आरभिक आर्यो के युग के बाद महाजनपदों का युग आया, फिर नद-मौर्य-साम्राज्य का युग। वह साम्राज्य-युग पाँचवी शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० पू० के अत तक चला। मौर्य-युग मे बौद्ध-जैन धर्मो का बडा प्रचार हुआ। उसके बाद एक भारी प्रतिक्रिया हुई—पुराने वैदिक आदर्शो और जीवन को फिर से उठाने की। उसकी एक बाहरी—किंतु अत्यत सारगर्भ—अभिव्यक्ति थी 'अश्वमेध का पुनरुद्धार'। दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरभ मे दक्खिन मे सातवाहन और उत्तर मे शुग राजाओ ने चिर काल से लुप्त अश्वमेध-यज्ञ फिर से किए। उत्तर भारत मे शकों—तुखारो के हमले होने से जब सातवाहनो का गौरव मंद पड़ गया (७८—१७० ई०), तब भारशिव,

वाकाटक और गुप्त राजाओ ने फिर उसी अश्वमेध के आदर्श को जगाया और जीवित रक्खा। सातवाहनों के उदय से गुप्त-साम्राज्य के अत तक (२१० ई० पू०—५३३ ई०) सारा अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग है। उसके दो स्पष्ट भाग है—पहला सातवाहन या सालवाहन-युग (२०० ई० पू०—२०० ई०), दूसरा वाकाटक-गुप्त-युग (२००—५३३ ई०)। गुप्त-युग के साथ प्राचीन काल का अंत होता है, आगे मध्य-काल है। नंद-मौर्य-साम्राज्य-युग के एक तरफ जैसे आरभिक आर्य-युग और महाजनपद-युग हैं, वैसे ही दूसरी तरफ सातवाहन-युग और गुप्त-युग। वह प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के ठीक बीच मे पडता है। सस्कृति और वाड्मय के इतिहास मे भी उसकी ठीक वही स्थिति है। उसमे उत्तर वैदिक वाड्मय का अंत होता है, और शास्त्रीय संस्कृत वाड्मय का आरभ। सस्कृत वाड्मय का सिलसिला यो तो मध्य-काल मे भी जारी रहा, पर उसके उत्कर्षमय जीवन का असल समय सातवाहन और गुप्त युग ही हैं।

पूर्व नदो, नव नदो और मौर्य सम्राटो के समय उत्तर वैदिक वाड्मय अपनी अंतिम सीमा पर पहुँचा, पुराण-इतिहास-वाड्मय का परिपाक हुआ, तिपिटक वाड्मय का उदय और विकास हुआ, और एक स्वतंत्र वाड्मय की धारा चली—जिसमे आन्वीक्षिकी, अर्थशास्त्र (वार्त्ता, दण्डनीति) और अन्य 'विद्यास्थान' समिलित थे। ये सब धाराएँ आगे चलकर अनेकमुखी हो गई। वही सस्कृत और प्राकृत वाड्मय है जिसका कई अंशो मे अलग-अलग दिग्दर्शन करने मे सुविधा होगी।

उपनिषदो मे तत्त्वचितन की आरभिक उडाने हैं, दर्शनो मे हमे पहले-पहल शृखलाबद्ध विचार मिलता है। उनमे से सांख्य और पातजल मे विश्व के विकास की व्याख्या है; वैशेषिक और न्याय का मुख्य देन वैज्ञानिक प्रक्रिया है; वेदांत, मीमांसा, बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शनो के आलोचनात्मक अश अधिक मूल्यवान् हैं। कौटिल्य के समय तक केवल तीन दर्शन थे—सांख्य, योग और लोकायत (चार्वाक)। सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल को हमारे देश मे 'आदि-विद्वान्'—अर्थात् पहला दार्शनिक—कहते है, अनुश्रुति के अनुसार उसका समय भारत-युद्ध के कुछ बाद है। गीता मे भी सांख्य का नाम है। किंतु गीता के सांख्य मे और आज-कल की उपलब्ध सांख्य-पद्धति मे बड़ा अंतर है। उस पद्धति का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ दीखता है। आज-कल जो सांख्यकारिकाएँ मिलती है, उनका कर्त्ता ईश्वर-कृष्ण बौद्ध दार्शनिक वसुबधु का सम-कालीन—अर्थात् पॉचवी शताब्दी ई० का—है। पंचशिख और वर्षगण्य उस पद्धति के प्राचीन लेखक थे, और षष्ठितत्र भी उसी पद्धति की रचना थी। उन तीनो के उद्धरण पातजल योगदर्शन के व्यासभाष्य मे हैं, पर ईश्वर-कृष्ण का उसमे सकेत भी नही है। व्यासभाष्य मे दशमलव गणना का ज्ञान पाया जाता है, जिसे हम अभिलेखों मे चौथी शताब्दी ई० के बाद से पाते हैं। इसी लिये व्यासभाष्य का समय ईश्वर-कृष्ण से पहले—अदाजन चौथी शताब्दी ई०—है; और षष्ठितंत्र आदि सांख्य ग्रथ उससे और पहले के है। यदि षष्ठितत्र का समय अदाजन दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० हो, तो विद्यमान सांख्य-पद्धति का कोई और ग्रंथ उससे पहले भी था; क्योंकि चरक के सृष्टि-विषयक सब विचार आधुनिक सांख्य-पद्धति के हैं, और चरक कनिष्क (७८ ई०) का समकालीन था। इस प्रकार आधुनिक सांख्य-पद्धति ईसा से पहले परिपक्व हो चुकी

(अ) दर्शन

थी। इस दशा मे यह सभव है कि योगसूत्रकार पतजलि भी पुष्यमित्र शुग का पुरोहित वैयाकरण पतजलि ही हो।

चरक की युक्ति-प्रक्रिया न्याय-वैशेषिक के तर्कशास्त्र की है, इस कारण वे दर्शन भी उससे पहले उपस्थित थे। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन दिङ्नाग से पहले का--इसलिये अंदाजन तीसरी शताब्दी ई० का—है। वैशेषिक का प्रशस्तपाद भाष्य भी यदि उससे पहले का नही तो पीछे का भी नही है। इस दशा मे न्यायसूत्रकार गौतम और वैशेषिक-सूत्रकार कणाद ईसा से पहले के—सभवतः मौर्य-युग के—हैं, क्योकि चरक के समय तक उनकी पद्धति सुस्थापित हो चुकी थी। वेदांतसूत्रकार व्यास-बादरायण को भी बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन से पहले होना चाहिए। बादरायण का वेदांत परिणामवादात्मक है—उसके अनुसार ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है, जब कि शंकर के वेदात का सार विवर्त्तवाद—अर्थात् सृष्टि को ब्रह्म की वास्तविक नही प्रत्युत काल्पनिक परिणति मानना—है। बादरायण के परिणामवाद से शकर के विवर्त्तवाद तक विकास होने की कुजी नागार्जुन से मिलती है। नागार्जुन दूसरी शताब्दी ई० मे हुआ। इस प्रकार बादरायण का समय भी सभवत. ईसा से पहले है। फलत सभी दर्शनो का आरभ पिछले मौर्य-युग मे हुआ। उपनिषदो, भगवद्गीता और अभिधम्म मे दार्शनिक चितन की पहली अस्फुट-मार्गी उडानें थी। शुरू-शुरू के बौद्ध, जैन और लोकायत विचारको ने जब प्राचीन विचार की रूढियो पर खरी-खरी और सीधी-सीधी चोटे की, तब विचारो की उस खलबली मे शृखलाबद्ध दार्शनिक विचार पैदा हुआ और हमारे दर्शनों ने जन्म लिया। शुरू-शुरू मे सब दर्शन उत्तर वैदिक वाङ्मय की सूत्र-शैली मे लिखे गए, इसी से सूचित है कि वे पिछले मौर्य-युग या आरंभिक सातवाहन-युग के बाद की रचनाएँ नही हैं।

हम अपने दर्शनों के तत्त्व को, ऐतिहासिक दृष्टि से उनका क्रमविकास देखे बिना, नही पा सकते—यह बात आज हमे खूब समझ लेनी चाहिए। बादरायण से शकर के विचारो तक हम कैसे पहुँचते हैं, इसका उदाहरण ऊपर दिया गया है। न्याय-दर्शन का क्रमविकास भी बौद्ध दर्शन के साथ जुडा हुआ है। वात्स्यायन-भाष्य अनेक आरभिक बौद्ध स्थापनाओ का प्रत्याख्यान करता है; उसके उत्तर मे दिङ्नाग ने प्रमाण-समुच्चय लिखा, तब उद्योतकर ने उसके उत्तर मे वात्स्यायन-भाष्य पर न्यायवार्तिक लिखा, न्याय-वार्तिक का उत्तर धर्मकीर्त्ति ने प्रमाणवार्त्तिक[1] लिखकर दिया, तब उसके उत्तर मे वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य-टीका आई। इस परपरा को देखे बिना और प्रत्येक लेखक की परिस्थिति पर ध्यान दिए बिना हम उसके ठीक अभिप्राय को कैसे जान सकते हैं? भारतीय दर्शनशास्त्र की अनेक अमर रचनाओ के सामने आज भी ससार सिर नवाता है। नागार्जुन और शकर की टक्कर के दार्शनिक दुनिया ने क्या आज तक कोई पैदा किए हैं? उनके दार्शनिक चितन जिस ऊँचो सतह तक पहुँच चुके हैं, आधुनिक विचार की धारा उससे

१. मूल 'प्रमाणवार्त्तिक' अब तक न मिलता था, उसका तिब्बती अनुवाद है। मेरे मित्र भिक्खु राहुल तिब्बती से सस्कृत तैयार कर रहे थे। किंतु फागुन १९८८ मे नेपाल जाने पर मुझे मालूम हुआ कि वहाँ 'प्रमाण-वार्त्तिक' की एक प्रति मिल गई है।

और ऊपर न उठ सकी। सारे भारतीय दर्शन का ऐतिहासिक दिग्दर्शन दस-पद्रह जिल्दों मे, चुने अशो का अनुवाद करने से, हो सकना चाहिए।

व्याकरण और कोष सूखे विषय हैं, पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका क्रम-विकास देखना भी मनोरजक है, और उनके क्षेत्र मे भी कई रुचिकर तथा अमर रचनाएँ हैं। नमूने के लिये पतजलि (लगभग १८० ई० पू०) का महाभाष्य ऐसी शाही शैली मे लिखा गया है कि मुझे तो उसके मुकावले की शैली सस्कृत-वाङ्मय मे भी—ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य के सिवा—और कहीं न मिली। और नहीं तो उसकी विवादशैली का ही रस, उसके अंशानुवाद द्वारा, हिंदी-साहित्य-प्रेमियो को मिलना चाहिए। डाक्टर बेलवळकर ने अपने 'सिस्टम्स् आफ सस्कृत ग्रामर' मे व्याकरण-वाङ्मय का जो क्रम-विकास दिखलाया है, उसमे भी हमारे राजनीतिक इतिहास के उतार-चढ़ाव की छाया दीख पडती है। पूर्णता और बारीक छान-बीन मे पाणिनि की पद्धति अनोखो थी; वार्त्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार पतजलि ने उन गुणों में उसे अंतिम सीमा तक पहुँचा दिया। किंतु जव आर्य उपनिवेश भारतवर्ष के बाहर स्थापित होने लगे, और अनेक अनार्यभाषी तथा थोडी फुर्सतवाले ('शास्त्रान्तररताश्च ये') लोगों को सस्कृत के किसी सुगम व्याकरण की जरूरत हुई, ठीक तब (अंदाजन ७८ ई०) पुरानी ऐंद्र पद्धति को सुगम परिभाषाएँ बर्त्तने-वाला कातंत्र व्याकरण तैयार हुआ। वह उन लोगो के लिये था जो प्राकृत से सस्कृत पढ़ना चाहते थे। कच्चायन का पालि व्याकरण और तामिल का तोलकप्पियम् भी फिर उसी नमूने पर लिखे गए। पाँचवी शताब्दी मे बौद्ध लेखक चद्रगोमो ने फिर एक नई पद्धति चलाई। उस चांद्र व्याकरण का तिब्बती मे अनुवाद हुआ और सिहल के बौद्धो मे भी वही पद्धति चल गई। ग्यारहवीं सदी के अत मे जैन हेमचद्र ने अपना प्रसिद्ध व्याकरण 'शब्दानुशासन' लिखा। उसका अतिम चौथाई अंश प्राकृत-विषयक है; और भारतीय प्राकृतो के व्याकरण-विषयक हमारे ज्ञान का वही मुख्य स्रोत है। सस्कृत का कोष-वाङ्मय भी भरपूर है, और उसमे 'अमर-कोष'-जैसी अमर रचनाएँ हैं।

(इ) व्याकरण और कोष

वेदांग ज्योतिष क्या था, सो तो हम नही जानते, पर संस्कृत-वाङ्मय के युग मे भी ज्योतिष की क्रमोन्नति जारी रही। आरंभिक सातवाहन-युग मे 'गर्ग' नाम का ज्योतिषी हुआ जिसकी गार्गी सहिता के उद्धरण-मात्र अब मिलते हैं। फिर ज्योतिष के 'सिद्धांत'-ग्रथ लिखे गए, और यूनान और रोम के सिद्धांत भी अपनाए गए। गुप्त-युग मे और उसके बाद आर्यभट, ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर, भास्कर आदि प्रसिद्ध ज्योतिषी हुए। यह सिलसिला लगातार जारी रहा है और गणित तथा ज्योतिष मे हाल तक हम दूसरी जातियों के अगुआ रहे हैं। भारतीय गणित और ज्योतिष-वाङ्मय मे भी अनेक अंश स्थायी मूल्य के हैं, और कम से कम उसके क्रम-विकास का दिग्दर्शन तो बडे काम का है।

(उ) ज्योतिष

पूर्व-नंद-युग के धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र की परंपरा मे बाद के स्मृति एवं नीति-ग्रथो का विकास हुआ। सबसे पहले शुग-युग मे मनुस्मृति रची गई, फिर पिछले सातवाहनो के समय याज्ञवल्क्य-स्मृति और महाभारत-शांतिपर्व का राजधर्म। नारद-स्मृति आरंभिक गुप्त-युग की रचना है। कामदकनीति का कर्त्ता,
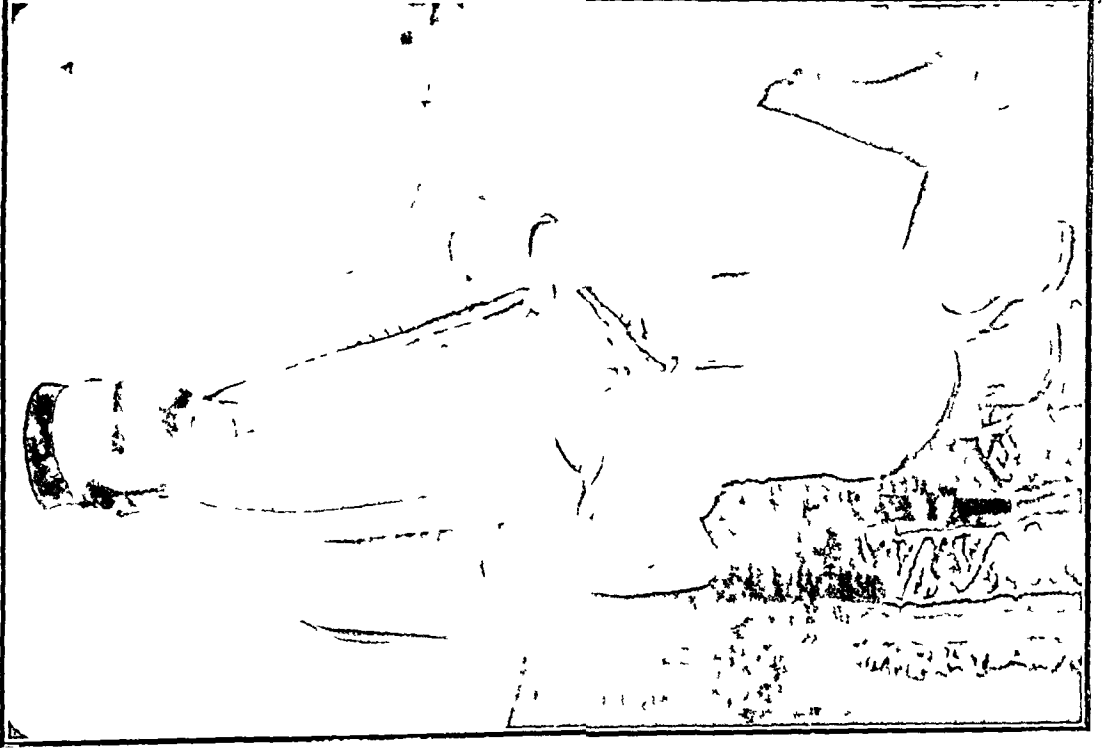
'सरस्वती'-सपादक पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी
सवत् १९६२ (सन् १९०५)
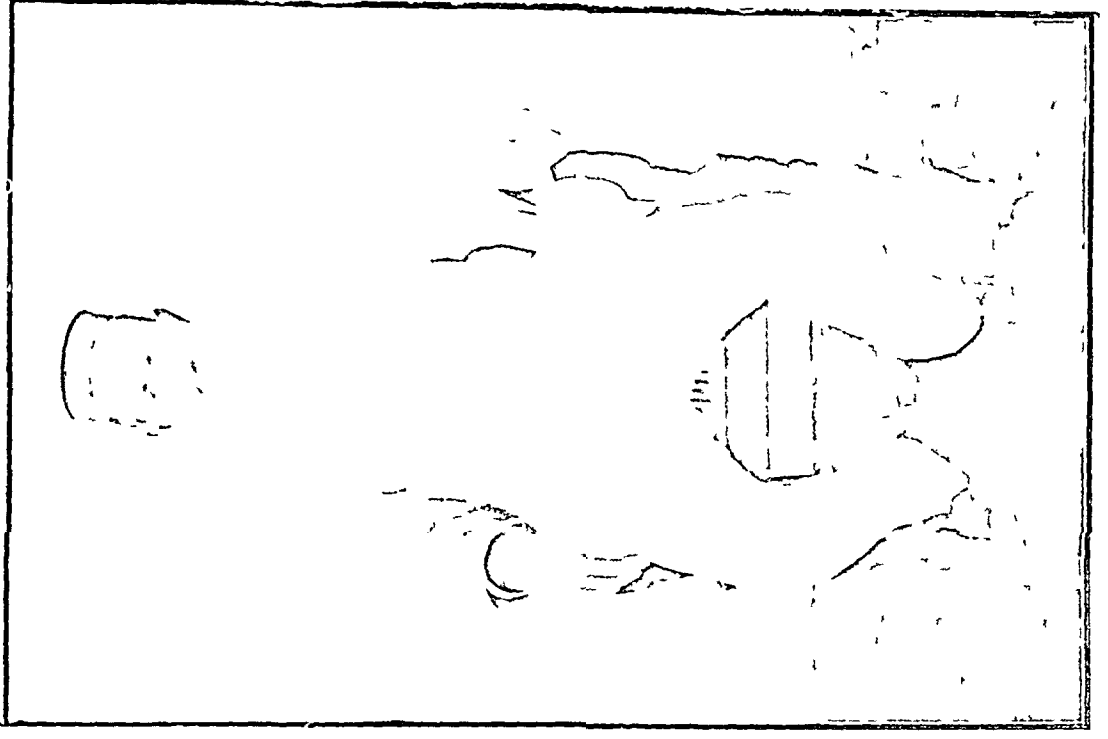
पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी
सवत् १९६४ (सन् १९०७)

आचार्य-पत्नी की संगमर्मर की यह मूर्त्ति 'स्मृति-मदिर' के मध्य भाग मे स्थापित है। स्मृति-मदिर के गर्भगृह के भीतर, बीच की इस प्रधान मूर्त्ति पर, यह शिलालेख उत्कीर्ण है—

नवषण्णवभूसख्ये विक्रमादित्यवत्सरे ।
शुक्र कृष्णत्रयोदश्यामधिकाषाढमासि च ॥१॥
मोहमुग्धा गतज्ञाना भ्रमरोगविपीडिता ।
जह्नुजाया जले प्राप पञ्चत्व या पतिव्रता ॥२॥
निर्म्मापितमिद तस्याः स्वपत्न्याः स्मृतिमन्दिरम् ।
व्यथितेन महावीरप्रसादेन द्विवेदिना ॥३॥
पत्युर्गृहे यतः साऽऽसीत्साक्षाच्छ्रीरिव रूपिणी ।
पत्याप्येकाऽऽदृता वाणी द्वितीया सैव सुव्रता ॥४॥
एषा तत्प्रतिमा तस्मान्मध्यभागे तयोर्द्वयोः ।
लक्ष्मीसरस्वतीदेव्योः स्थापिता परमादरात् ॥५॥

स० १९७१

चंद्रगुप्त दूसरे का मंत्री था, यह मत श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने हाल ही मे पेश किया है। इनमे से प्रत्येक कृति मे अपने-अपने समय की परिस्थिति और विचारो की पूरी छाप है। 'मनु' ने धर्म और व्यवहार को एक ग्रथ मे मिला दिया। याज्ञवल्क्य ने उसका अनुसरण किया। किंतु नारद ने फिर व्यवहार को धर्म के बधन से मुक्त किया, और बृहस्पति तथा कात्यायन ने भी शुद्ध व्यवहार-स्मृतियाँ लिखी। मध्य-काल मे नई स्मृतियाँ नही रची गई, पुरानियो पर भाष्य और टीकाएँ होती रही। उत्तर-भारत मे मुस्लिम राजसत्ता स्थापित हो जाने पर भी तिरहुत मे गियासुद्दीन तुगलक के समय तक कर्णाट-वश का राज्य बना रहा, और तुगलको की आधी शताब्दी की अधीनता के बाद वहाँ फिर एक ब्राह्मण-राजवश स्थापित हो गया जो सिकंदर लोदी और हुसेन-शाह बगाली के समय तक जारी रहा। मिथिला के इन पिछले हिंदू राज्यो मे स्मृति-वाङ्मय का अध्ययन विशेष रूप से जारी रहा, और उस पर अनेक 'निबध' (digest) लिखे गए। इस प्रकार इस वाङ्मय का सिलसिला सोलहवी सदी ई० तक चलता रहा। पहले स्मृति और नीति वाङ्मय मे अनेक अमर कृतियाँ हैं और पिछले भाष्यो और निबधो मे भी कई अश काम के हैं। जर्मन दार्शनिक 'निशे' ने यह कहकर योरप मे खलबली मचा दी थी कि मनुस्मृति की शिक्षाओ को बाइबल नही पहुँच पाती। इस वाङ्मय मे से कौटिलीय के बाद मनुस्मृति और शांतिपर्व के राजधर्म का तो अविकल अनुवाद होना ही चाहिए, बाकी का दिग्दर्शन सात-आठ जिल्दो मे हो सकना चाहिए।

(ऋ) स्मृति और नीति-ग्रंथ

आरभिक जादू-टोने के साथ ओषधियो का प्रयोग भी समिलित होता है, और उसी से धीरे-धीरे वैद्यक-शास्त्र का विकास होता है। सभी जातियों मे यह बात ऐसे ही हुई है। इस प्रकार हमारे वैद्यक-शास्त्र का मूल अथर्ववेद मे है। उत्तर वैदिक-युग मे आयुर्वेद एक उपवेद बन गया, और फिर महाजनपद और पूर्व-नद-युग मे तक्षशिला-विद्यापीठ मे उसकी बडी उन्नति हुई। वैद्यक-शास्त्र के सबसे पुराने उपस्थित ग्रथ चरक और सुश्रुत के हैं। चीनी बौद्ध ग्रथो से पता मिला है कि चरक कनिष्क के समकालीन थे। आज-कल चरक का जो ग्रथ हमे मिलता है वह दृढबल-कृत चरक-सहिता का पुन -सस्करण है। मूल चरक-सहिता भी अग्निवेश की कृति का संपादित रूप थी। अग्निवेश आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य थे। उनके अतिरिक्त कृष्ण आत्रेय और भिक्षु आत्रेय वैद्यक के सबसे बडे प्राचीन आचार्य थे। इस प्रकार तक्षशिला के आत्रेय आचार्यो से चरक तक वैद्यक-शास्त्र के आचार्यों का एक सिलसिला हमारे देश मे बना रहा। उसका केंद्र पजाब था। आत्रेयो से लेकर दृढबल तक उक्त सभी आचार्य पजाबी थे। सुश्रुत, धन्वतरि के शिष्य थे। हमे अब जो सुश्रुत-सहिता मिलती है वह 'वृद्ध सुश्रुत' का नागार्जुन-कृत पुनः-सस्करण है।

(लृ) वैद्यक, रसायन आदि

भारतीय ज्ञान और विज्ञान के इतिहास मे नागार्जुन का नाम बड़ा आदरणीय है। बौद्ध कवि और दार्शनिक अश्वघोष, कनिष्क के समकालीन थे। उनकी शिष्य-परपरा मे कुछ ही पीछे—दूसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध मे—माध्यमिक सूत्रवृत्ति-कार दार्शनिक नागार्जुन हुए। वे महायान के आचार्य थे। सिद्ध नागार्जुन हर्षचरित के अनुसार दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) के एक सातवाहन राजा के मित्र थे, इसलिये उनका समय भी दूसरी शताब्दी ई० के पीछे नहीं जा सकता। उनका 'सिद्ध'-पन कुछ यौगिक क्रियाओ के

कारण भी रहा हो, पर वह रासायनिक सिद्धियो के—लोहे को सोना बनाने के रहस्यपूर्ण प्रयत्नों के—कारण भी था। सिद्ध नागार्जुन ही लोहशास्त्रकार नागार्जुन हैं, पारे के अनेक योग ('रस') बनाकर उन्होने रासायनिक समासों के ज्ञान मे बडी उन्नति की, और भारतीय वैद्यक मे 'रसों' का प्रयोग उन्ही ने जारी किया। महायान के बाद सिद्धि-प्रधान वज्रयान का उदय हुआ, इसलिये महायान-दार्शनिक नागार्जुन और सिद्ध नागार्जुन का एक ही व्यक्ति होना बहुत सभव—प्रत्युत एक ही समय होने के कारण लगभग निश्चित—है। सिद्ध नागार्जुन का सिद्धिशास्त्र जननशास्त्र-विषयक अमूल्य गुह्य ज्ञान का भी भाडार है।

नागार्जुन के अतिरिक्त एक पतजलि का लिखा हुआ लोहशास्त्र बहुत प्रसिद्ध था, और उसके जो उद्धरण जहाँ-तहाँ मिले हैं उनसे उसका बडा महत्त्व सूचित होता है। पडितो की अनुश्रुति के अनुसार लोहशास्त्रकार पतंजलि महाभाष्यकार ही हैं—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मल शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्त प्रवर मुनीनां पतञ्जलि प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

किंतु इतने ही से इस विषय मे कुछ निश्चित नही कहा जा सकता।

वैद्यक और रसायन की उन्नति चरक, सुश्रुत, नागार्जुन और पतजलि के बाद भी जारी रही। वैज्ञानिक खोज का जो आरभ उन्होने किया, वह बहुत आशाजनक और ऊँचे दर्जे का था, पर दुर्भाग्य से कुछ समय बाद उसमे आगे की उन्नति बद हो गई। मध्य-काल मे भारतीय विचार और ज्ञान की धारा में प्रवाह न रहा; जहाँ तक पहुँचे थे उसी का पूर्ण और अंतिम मानकर भारतीय मस्तिष्क संकीर्ण बनकर उसी मे चक्कर काटने लगा। इसी से शृंखलाबद्ध भौतिक विज्ञान हमारे देश मे पैदा न हुए, आरभिक तजरबे जमा होकर रह गए। पर उन तजरबो मे भी अत्यत मूल्यवान् रत्न हैं। अभी तक आधुनिक रसायन-शास्त्र हमारे 'रसो' के रहस्य को खोल नही सका। उसके अनुसार हमारा मकरध्वज पारे का गधिद (sulphide) है, पर आधुनिक साधारण प्रक्रिया से बने हुए पारे के गधिद मे मकरध्वज के कोई गुण नही पाए जाते। सोने, पारे और गधक को कपडमिट्टी की हुई बोतल में बद कर उपलो की आँच मे पकाकर तैयार किए हुए पारे के गंधिद मे जो सूक्ष्म प्रभाव आ जाते हैं, उन्हे आधुनिक विज्ञान अभी तक नही माप सका। इसी प्रकार के रहस्य अभी तक हमारे त्रिदोष-सिद्धांत मे और योग-क्रियाओ मे छिपे है। आधुनिक दृष्टि से हठयोग के शारीरिक साधनाओ के अंश की गिनती चिकित्सा-शास्त्र मे और मानसिक साधनाओ की गिनती मनोविज्ञान मे करनी चाहिए। इन विषयो की, आधुनिक विज्ञान की पद्धति से खोज करने पर ही, ठीक व्याख्या हो सकेगी। वैसी खोज मे विज्ञान के अनेक नए तथ्य भी प्रकाश मे आएँगे। किंतु वैसी खोज के लिये भी आवश्यक है कि इन विषयो की मुख्य-मुख्य कृतियो को ऐतिहासिक क्रम मे करके उनका प्रामाणिक सपादन किया जाय।

इनसे मिलता हुआ विषय कामशास्त्र का है। उस विषय के विचार का आरभ उपनिषदो मे प्रसिद्ध श्वेतकेतु मुनि के समय से शुरू हो चुका था। वैसा होना स्वाभाविक भी था; क्योकि श्वेतकेतु के ही विषय मे यह प्रसिद्ध है कि उसने विवाह-प्रथा को सुस्थापित किया, और जहाँ मर्यादित विवाह आदर्श माना जाने लगा, वही वह समस्या उपस्थित हो गई जिसे कामशास्त्र हल करता है।

उस समस्या को वात्स्यायन ने जैसे स्पष्ट और सीधे रूप मे कहा है वैसे शायद ही आज तक किसी ने कहा हो। वह कहता है कि पशुओं के नर और मादा को यदि परस्पर तृप्ति न हो तो वे दूसरी जोडी मे तृप्ति कर सकते हैं, पर मनुष्य को मर्यादा से रहना पडता है, इसी कारण तृप्ति के अभाव के कारणो और उन्हे दूर करने के उपायो पर विचार करना पडता है। वात्स्यायन का कामसूत्र अपने विषय का अनूठा ग्रथ है, वह एक स्थायी कृति है। उसका समय तीसरी शताब्दी ई० है। पीछे, मध्य-काल के भारतीय विचार मे प्रत्येक विषय मे किस प्रकार प्रगति बद हो गई, इसका एक अच्छा नमूना हमे इस विषय के पिछले ग्रथो से मिलता है। वात्स्यायन ने अपने समय के विभिन्न जनपदो की स्त्रियो के स्वभावो और प्रवृत्तियो की छान-बीन की है। 'अनगरग' नाम का एक ग्रथ दिल्ली के लोदी सुल्तानो के समय लिखा गया। उसका लेखक भी उस विषय को उठाता है, पर अपने समय की जाँच-पडताल अपनी आँखो और बुद्धि से करने के बजाय तीसरी शताब्दी ई० के जनपदो के नाम दोहराता हुआ वात्स्यायन के शब्दो का टूटा-फूटा अनुवाद कर डालता है, यद्यपि लोदी-युग के राजनीतिक नक्शे मे उन जनपदो का नाम-निशान भी बाकी न था, और पुराने जनपदो मे नई जातियाँ बस चुकी थी। अंधी निर्जीव नकल का वह अच्छा नमूना है।

कामशास्त्र का एक तरफ यदि वैद्यक से सबध है तो दूसरी तरफ ललित कला से। वात्स्यायन के ग्रथ से ललित कला की बडी समुन्नत दशा सूचित होती है। उस समृद्धि के युग मे कलाओ का विकास होना स्वाभाविक था। वह सातवाहन-युग ही था जब कि भारतवर्ष के "बुने हुए हवा के जाले" पहनकर रोमन स्त्रियाँ अपना सौदर्य दिखाती थी। नट-शास्त्र का उदय पाणिनि से पहले हो चुका था, सो कह चुके हैं। सातवाहन-युग मे भरत का नाट्य-शास्त्र लिखा गया,[1] जो भारतीय सगीत और नृत्य-कला के विषय की अमर कृति है। सरगुजा के रामगढ़-पर्वत की जोगीमारा-गुफा की दीवारो पर लिखे चित्रो से सिद्ध है कि ईसा से पहले भारत मे चित्रण-कला की भी अच्छी उन्नति हो चुकी थी। किंतु अजता की जगत्प्रसिद्ध लेणियो (गुफाओ) के चित्र उस कला की सबसे कीमती और अमर उपज हैं। मूर्त्ति-कला, स्थापत्य आदि-विषयक कई ग्रंथ पुराणो के अंतर्गत हैं। इन कलाओ की अंतिम उन्नति मध्य-काल मे हुई, और तब के कई ग्रथ—मानसार, राजमडन आदि—उपलभ्य है।

(ए) ललित कला

वैदिक और उत्तर वैदिक वाङ्मय मे काव्य-साहित्य का बीज-मात्र टटोला जा सकता है। संस्कृत वाङ्मय का वही मुख्य अग है। सस्कृत और प्राकृत साहित्य का विकास वास्तव मे पुराण-इतिहास-वाङ्मय से हुआ। वाल्मीकि 'आदिकवि' कहे जाते हैं। उन्होने रामचद्र की कोई ख्यात गाथाओ मे रची होगी। फिर ५०० ई० पू० के करीब भारत और रामायण काव्यो के मूल रूप तैयार हुए। किंतु असल साहित्य का उदय सातवाहन-युग मे हुआ। २०० ई० पू० से २०० ई० तक भारत का महाभारत बना—अर्थात् महाभारत अपने विद्यमान रूप

(ऐ) काव्य-साहित्य

1. उसमे 'पह्लव' जाति का उल्लेख होने से उसका वह समय निश्चित होता है।

मे आया। रामायण को भी पहली शताब्दी ई० पू० मे अपना अतिम रूप मिला। ये सबसे पुराने काव्य थे। वही समय बौद्ध सस्कृत वाङ्मय के सरल और मनोहर गद्य मे लिखे गए अवदानो अर्थात् ऐतिहासिक कथानकों का है। उनके बाद श्रव्य और दृश्य काव्यो की धारा ही बह पड़ी। 'भास' का समय विभिन्न विद्वान् पहली शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० तक मानते हैं। किंतु 'अश्वघोष' की कनिष्क से समकालीनता निश्चित है। जब तक भास का समय स्थिर नही होता, अश्वघोष का सारीपुत्रप्रकरण सस्कृत का सबसे पुराना नाटक और उनका बुद्धचरित—महाभारत और रामायण के बाद—सबसे पुराना काव्य कहा जायगा। शूद्रक का मृच्छकटिक, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, विष्णु शर्मा का पचतत्र आदि अत्यत हृदयग्राही और अमर रचनाएँ हैं। किंतु सस्कृत-साहित्य-सागर के सबसे उज्ज्वल और अमूल्य रत्न गुप्त-युग मे प्रकट हुए। भारतीय आत्मा की जैसी पूर्ण चौमुखी अभिव्यक्ति 'कालिदास' की कृतियों मे हुई है वैसी न तो वैदिक ऋचाओं मे पाई जाती है, न उपनिषदो के तत्त्वचिंतनो मे और न बुद्ध तथागत के सुत्तो मे। 'कालिदास' मानो भारत का हृदय है। वह हमारे सामने भारतीय आदर्शों का चौमुखा समन्वय रख देता है। 'शाकुंतल' मे वह आरभिक आर्यों के वीरता और साहस से पूर्ण सरस जीवन के आदर्श को अकित कर अमर कर गया है, तो 'रघुवंश' मे रघु-दिग्विजय के बहाने भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता को एक सजीव ध्येय के रूप मे रख गया है। आज से दो बरस पहले, रघु के उत्तर-दिग्विजय के एक-एक देश की पहचान करते हुए जब मैंने उसका समूचा रास्ता टटोल डाला, तब यह देखकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि आधुनिक भूगोल-शास्त्र, इतिहास, भाषाविज्ञान और जनविज्ञान के सहारे हम भारतवर्ष की जो स्वाभाविक सीमाएँ नियत कर पाते हैं, कालिदास ने अपनी सहज प्रतिभा से ही उन्हे ठीक-ठीक पहचाना और अकित किया है। उस महाकवि के विशाल हृदय की अनोखी सूझ और उसकी राष्ट्रीय आदर्शवादिता का पूरा अनुभव मै तभी कर पाया।[१]

गुप्त-युग के बाद भी कम से कम 'भवभूति' के समय (लगभग ७४० ई०) तक सस्कृत-साहित्य की वही सजीवता बनी रहती है। उसके पीछे सहज सौंदर्य का स्थान आलकारिक सजावट लेने लगती और मध्य-काल की सड़ाँद अपना प्रभाव दिखाने लगती है। पर 'राजशेखर'-जैसे मध्यकालीन कवियो की रचनाओ मे भी काफी ताजगी है।

वाङ्मय के अन्य क्षेत्रो मे प्राकृतो को नही पूछा गया, पर काव्य-साहित्य मे उनका स्थान सस्कृत के बराबर है। प्रत्युत ठीक-ठीक कहे तो अभिलेखों की तरह साहित्य मे भी पहले—प्राय: पहली शताब्दी ई० तक—प्राकृतो की ही प्रधानता रही दीखती है। हाल की गाथासप्तशती और गुणाढ्य की बृहत्कथा से यह सूचित है। बृहत्कथा का समय नई खोज से ७८ ई० सिद्ध हुआ है। भारतीय साहित्य का वह अनुपम रत्न आज हमे अपनी मूल पैशाची प्राकृत मे नहीं मिलता, पर उसके तीन सस्कृत और एक तामिल अनुवाद उपस्थित हैं।

सस्कृत और प्राकृत साहित्य के कुल रत्नों की गिनती करना कठिन है, तो भी अंदाजन पचास-साठ जिल्दो मे उनका संकलन हो सकेगा।

१. "भारतभूमि"—पृष्ठ २०८-६

पुराणो का ऐतिहासिक वृत्तात वद हो जाने के वाद भी अनेक फुटकर ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे जाते रहे। वाण का 'हर्पचरित', विल्हण का 'विक्रमांकचरित', सध्याकर नदी का 'रामचरित' आदि उनके उदाहरण हैं। पर उन सबसे ऊँचा स्थान कल्हण की 'राजतरगिणी' का है।

(ओ) पिछले ऐतिहासिक ग्रथ

उसके पीछे भी ऐतिहासिक प्रवध लिखे जाते रहे, जिनके सग्रह 'प्रवधकोष', 'प्रवध-चितामणि' आदि ग्रथ हैं। आरभिक सातवाहन-युग के वौद्ध सस्कृत वाङ्मय के अवदान सरल ऐतिहासिक कहानियो के रूप मे वेजोड रचनाएँ हैं। पुरानी दृष्टि से इन सव ऐतिहासिक ग्रथो की गिनती भी काव्यो मे ही है, क्योकि काव्य-शैली का उदय स्वय पुराण-इतिहास से ही हुआ था।

७—अभिलेख

पत्थर और ताम्रपत्र आदि पर खुदे हुए राजकीय और अन्य अभिलेख भारतीय इतिहास के पुनरुद्वार मे तो सहायक हुए ही हैं, वाङ्मय और साहित्य की दृष्टि से भी उनका वडा मूल्य है। गद्य और पद्य की अनेक अव्वल दर्जे की रचनाएँ उनमे हैं। रुद्रदामा का गिरनार-चट्टान का लेख, और राजा चद्र (चद्रगुप्त) का महरौली की लोहे की कील पर का लेख सस्कृत गद्य और पद्य के वहुत ही वढिया नमूने हैं। वैसे और अनेक सदर्भ अभिलेखो मे हैं। अभिलेख-वाङ्मय भी वडा विस्तृत है। उसका आरंभ एक तरह से अशोक के समय से होता है। अशोक के अभिलेख मानों उसका पहला अध्याय हैं। वे सव पालि या प्राकृत मे हैं। तव से दूसरी शताब्दी ई० तक सव अभिलेख प्राकृत मे ही पाए जाते हैं। यह वात ध्यान देने की है कि हिंदूकुश के चरणो मे वसी कापिशी नगरी से पाड्य-देश की मधुरा (मदुरा) तक, और हरउवती या अरखुती (आधुनिक अरगंदाव)[१] नदी की दून (आज-कल के कंदहार-प्रदेश) से वगाल तक, इन चार शताब्दियो के जितने अभिलेख चट्टानो, मूर्त्तियों, स्तभों या सिक्कों आदि पर मिले हैं, वे सव भिन्न-भिन्न प्रादेशिक प्राकृतो मे नही, किंतु एक ही प्राकृत मे हैं, जो इन चार शताब्दियो मे भारतवर्ष की वैसी पूरी राष्ट्रभाषा थी जैसी हिंदी आज भी नही हो पाई। वह प्राकृत—जिसे मोशिये सेनार ने 'अभिलेखो की प्राकृत' नाम दिया है—भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता का एक जीवित प्रमाण है। शक रुद्रदामा के ७२ शकाब्द के लेख से अभिलेखो मे सस्कृत का प्रयोग शुरू हुआ, और आगे वह उत्तरोत्तर वढता गया। दूसरी शताब्दी ई० के अंत से हमे परले हिंद (Further India) के परले छोर—आधुनिक फ्रासीसी हिंदचीनी—तक से सस्कृत अभिलेख मिलने लगते हैं। किंतु उपरले हिंद (Serindia, आधुनिक चीनी तुर्किस्तान) की राजभाषा, जो वहाँ की 'कीलमुद्राओ' (लकडी की तख्तियो) पर के अभिलेखो मे पाई गई है, इस युग मे एक उत्तर-पश्चिमी प्राकृत ही रही। गुप्त-युग के सव अभिलेख सस्कृत मे हैं। मध्य-काल के अभिलेखो की सख्या और परिमाण प्राचीन कालवालो से कही अधिक है, और उस काल के पिछले अश मे उनमे सस्कृत के साथ-साथ देशी भाषाएँ भी आने लगती हैं।

१ हरउवती और अरखुती 'सरस्वती' के रूपातर है, और अरखुती का रूपातर 'अरगद-आव'। देखिए—'भारतभूमि', पृष्ठ १८९

भारतवर्ष और बृहत्तर भारत मे हिंदू-राज्यों का अत होने तक वह सिलसिला जारी रहता है। खोज से अभी अनेक नए अभिलेख आए दिन मिल रहे है, पर जितनी सामग्री मिल चुकी है, उसका सकलन पंद्रह-बीस जिल्दो मे हो सकता है।

८—पिछला बौद्ध वाङ्मय

तिपिटक के बाद भी पालि वाङ्मय की परपरा प्राचीन काल के अंत तक चलती रही। दूसरी शताब्दी ई० पू० मे मद्र देश (मुख्यत: रावी-चिनाव दोआव के उपरले भाग) की राजधानी शाकल (स्यालकोट) के यवन राजा मेनद्र को थेर नागसेन ने बौद्ध बनाया। मेनद्र या मिलिंद और नागसेन के प्रश्नोत्तरो के रूप मे 'मिलिंदपञ्हो' नामक प्रसिद्ध ग्रथ मे बौद्ध शिक्षा दी गई है। अशोक के समय सिहल मे बौद्ध धर्म पहुँचा था, तब से बराबर पालि वहाँ को पवित्र भाषा बनी रही। 'दीपवस' (अर्थात् द्वीपवश—सिंहलद्वीप के राजवश) और 'महावंस' नामक दो प्रसिद्ध पालि ऐतिहासिक ग्रथ वही लिखे गए। उनके अतिरिक्त पिछले पालि वाङ्मय मे मुख्य वस्तु तिपिटक की अट्ठकथाएँ (अर्थकथाएँ, भाष्य) हैं जिनमे धम्मपाल, बुद्धघोष आदि प्रसिद्ध विद्वानो की कृतियाँ सम्मिलित है। उनमे भी बहुत-से मनोरजक और महत्त्वपूर्ण अंश हैं जिनका सकलन अभीष्ट है।

(अ) पिछला पालि वाङ्मय

पालि तिपिटक मे बौद्ध धर्म का जो प्रारभिक रूप है वह थेरवाद कहलाता है। पीछे अनेक अन्य वाद भी पैदा हुए। बुद्ध का आदेश था कि उनके अनुयायी उनकी शिक्षाओ को अपनी-अपनी भाषा मे कहे-सुने। इसी कारण प्रत्येक वाद का वाङ्मय उस प्रदेश की भाषा मे बना जो उस वाद का मुख्य केंद्र था। पालि किस प्रदेश की भाषा थी, सो आज तक विवादग्रस्त है। पिछले अनेक वादो के वाङ्मय पालि तिपिटक के नमूने पर ही थे, उनमे से कोई-कोई ग्रथ ही अब बाकी बचे है। मौर्य साम्राज्य के पतन-काल मे मथुरा-प्रदेश मे आर्य-सर्वास्तिवाद प्रचलित रहा। उसके ग्रथ सस्कृत मे थे। अशोकावदान उसी की पुस्तक है। कनिष्क के समय गांधार और कश्मीर मे मूलसर्वास्तिवाद का जोर रहा। कश्मीर और गांधार के सर्वास्तिवादियों का पारस्परिक मतभेद मिटाने को ही कनिष्क ने चौथी सगीति जुटाई, जिसमे 'महाविभाषा' नामक तिपिटक का एक भाष्य तैयार हुआ। उसी से उस वाद का नाम वैभाषिक पडा। सौत्रांतिक सम्प्रदाय भी वैभाषिक से मिलता-जुलता है। उनका वाङ्मय भी सस्कृत मे था, पर अब उनके ग्रंथ चीन, मध्य एशिया और तिब्बत मे ही मिले है। 'महावस्तु' नामक एक बडा ग्रंथ अब मिलता है जो महासांघिक सम्प्रदाय का 'विनय' है। उसकी भाषा प्राकृत-मिश्रित एक विचित्र प्रकार की सस्कृत है।

(इ) सर्वास्तिवाद और महायान के ग्रंथ

वैभाषिक सम्प्रदाय से एक नए वाद का उदय हुआ, जिसे आचार्य नागार्जुन ने 'महायान' नाम दिया। उसके लिये नए 'सुत्त' बनाए गए जो सब सस्कृत मे हैं। सुत्तो को सस्कृत मे 'सूक्त' कहना चाहिए था, पर इस पिछले वाङ्मय मे वे 'सूत्र' कहलाते है। वास्तव मे वे सूत्र नही, लबे-लबे सवाद हैं जिनमे प्राय: बुद्ध के मुँह से उसी पुरानी शैली—"एव मया श्रुतम् . "—से भूमिका बाँधकर उपदेश दिलाया गया है। रत्नकूटसूत्र, ललितविस्तर (बुद्ध की जीवनी), सद्धर्मपुंडरीक, प्रज्ञापारमिता सूत्र, सुखावतीव्यूह आदि

इस पिछले बौद्ध वाङ्मय के ग्रथ है। इस वाङ्मय को भी विनय, सुत्त और अभिधम्म मे बाँटा जाता है। वास्तव मे बौद्ध सस्कृत वाङ्मय मे जो नई चीज है वह या तो उसका अभिधम्म अर्थात् दर्शन है, और या उसके कुछ काव्य (जैसे ललितविस्तर) या अवदान। इनकी गिनती सस्कृत-प्राकृत-वाङ्मय के उक्त क्षेत्रो मे हम पहले ही कर चुके है, यहाँ केवल स्पष्टता की खातिर उसका अलग उल्लेख किया गया है। महायान के पहले बडे दार्शनिक थे नागार्जुन, और उनके बाद आए वसुबन्धु और आसग। ये दोनो विद्वान् भाई पाँचवी शताब्दी ई० मे पेशावर मे प्रकट हुए। इनके ग्रथो के साथ महायान-वाङ्मय की पूर्त्ति हुई। पीछे दिङ्नाग के समय से बौद्ध तार्किक होने लगे।

(उ) वज्रयान और तन्त्र-वाङ्मय

जादू-टोना, कृत्या-अभिचार और अलौकिक सिद्धियो का मार्ग हमारे देश मे अथर्ववेद के समय से प्रचलित था। उसमे से अनेक अच्छी चीजे—वैद्यक, रसायन, हठयोग आदि—भी पैदा हुई, सो कह चुके है। दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० से बौद्ध धर्म पर भी उसकी छाँह पडने लगी, और धीरे-धीरे उसका प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि महायान वज्रयान मे परिणत हो गया। वज्रयान से आगे चलकर कालचक्रयान पैदा हुआ। वे दोनों बौद्ध वाममार्ग है। ससार का सबसे पवित्र, सयम एव आचारात्मक धर्म किस प्रकार इस वाममार्ग मे परिणत हो गया, सो मानव-इतिहास की एक बडी पहेली है। उस पर मैंने "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" मे अपने विचार प्रकट किए हैं। वज्रयान के आरम्भिक आचार्यों ने सस्कृत मे ग्रथ लिखे जिनमे से पद्मवज्र-कृत 'गुह्यसिद्धि', उसके शिष्य अनगवज्र-कृत 'प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि', उसके शिष्य उड्डीयान (स्वात नदी की दून) के राजा इद्रभूति-लिखित 'ज्ञानसिद्धि' आदि कई ग्रथ प्राप्य हैं। सातवी से नवी सदी ई० तक इस पथ के कुल चौरासी सिद्ध हुए जिनमे से पिछलो की वाणी अपभ्रश या देशी भाषाओ मे भी है। सुप्रसिद्ध गोरखनाथ उन्ही सिद्धो मे थे। तिब्बतवालो के गुरु 'पद्मसभव' और 'शातरक्षित' (७५० ई०) वज्रयान के, तथा 'दीपकर अतिश' (१०४० ई०) कालचक्र-यान के आचार्य थे। उनके समय मे तिब्बत-मगोलिया और अफगानिस्तान से जावा-सुमात्रा तक ये पथ फैल गए थे। इन आचार्यों और सिद्धो की रचनाएँ तिब्बती अनुवादो मे भी सुरक्षित हैं। मानव-इतिहास की उक्त भारी समस्या पर प्रकाश डालने के लिये उन ग्रथो का अध्ययन और मनन भी आवश्यक है।

बौद्ध वाममार्ग के साथ ही पौराणिक वाममार्ग के तत्रो की गिनती भी करनी चाहिए। शैव मार्ग मे पाशुपत, कापाल और कालामुख पथो, वैष्णव मार्ग मे गोपीलीला-सम्प्रदाय, शाक्त मे आनद-भैरवी, त्रिपुरसुदरी या ललिता की पूजा के पथ और गाणपत्य मे हरिद्रागणपति और उच्छिष्ठ गणपति आदि की पूजा मे वही प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं। इन पथो के तत्र बौद्ध वज्रयान के तत्रो की तरह हैं।

८—जैन वाङ्मय

जैन वाङ्मय का वैसा व्यापक प्रचार और प्रभाव शायद न हुआ जैसा बौद्ध वाङ्मय का। तो भी उसमे बड़ी गहराई है। आरभिक जैन वाङ्मय के बहुत-से 'अग' मौर्ययुग मे लुप्त हो

गए थे। कलिंग के दिग्विजयी राजा खारवेल के समय (लगभग १७५ ई० पू०) उनका पुनरुद्धार किया गया। बौद्ध सुत्तो की तरह अनेक जैन 'सूत्र' भी हैं। उनका अंतिम संस्करण जो अब पाया जाता है, वलभी की संगीति के बाद का है जो ४५४ ई० मे हुई। आरंभिक जैन वाङ्मय सब अर्ध-मागधी प्राकृत मे था, जो अवधी का पूर्व-रूप थी। पीछे जैनो ने भी संस्कृत को अपना लिया। जैन दर्शन का भी भारतीय दर्शन-शास्त्र के विकास मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। दर्शन के अतिरिक्त उस वाङ्मय मे इतिहास के ग्रंथ बड़े काम के हैं। मध्यकाल मे अनेक जैन पुराण भी लिखे गए।

१०—तामिल वाङ्मय

सुदूर दक्खिन मे आर्य-सत्ता स्थापित होने पर पहले तो वहाँ आर्य-भाषाओ से ही काम चलता रहा, और वहाँ के कुलीन एवं शिक्षित द्राविड लोग भी उन्ही को वर्तने लगे। धीरे-धीरे आर्य प्रवासियों के प्रयत्नो से स्थानीय द्राविड बोलियाँ भी आर्य-लिपि मे लिखी जाने लगी, उनका व्याकरण बनाया गया, तथा आर्य-भाषा की कलम लगने से वे क्रमशः परिष्कृत भाषाएँ बन गई। तामिल भाषा का पहला व्याकरण अगस्त्य मुनि ने लिखा सो प्रसिद्ध है। वे अगस्त्य उत्तर-भारत के प्रवासी आर्यो के कोई वंशज थे।

तामिल भाषा की लता मे वाङ्मय के फूल पहले-पहल आर्य रस के सींचे जाने से ईसवी सन् के प्रायः साथ-साथ प्रकट हुए। भारतवर्ष की अंतिम दक्खिनी नोक—मदुरा और तिरुनेवली जिलों—में ४०० ई० पू० के करीब उत्तर के आर्य प्रवासियों ने 'पांड्य' नाम का एक राज्य स्थापित किया। उसी समय आर्य प्रवासियो के एक दूसरे प्रवाह ने सिंहल पहुँचकर वहाँ अपनी सत्ता जमाई। पांड्य और सिंहल के प्रायः साथ-साथ चोल और केरल राज्यों का उदय हुआ, पर कैसे हुआ, सो हम नही जानते। मौर्य और सातवाहन युगो मे पांड्य, चोल और केरल (या चेर)—ये तीन राज्य द्रविड देश मे बने रहे। इन राज्यो की छत्रच्छाया मे तामिल भाषा के पौदे मे आर्य कलम लगने की उक्त प्रक्रिया चलती रही, और अंत मे इन्ही के क्षेत्र मे तामिल वाङ्मय पहले-पहल प्रकट हुआ। पांड्य-राजधानी 'मधुरा' वाङ्मय का एक बड़ा केंद्र रही। सातवाहन-संस्कृति प्रतिष्ठान से मधुरा मे प्रतिबिंबित होती थी। वहाँ तामिल वाङ्मय का एक 'संगम्' ईसवी सन् की पहली शताब्दियो—पिछले सातवाहन-युग—मे था। तामिल वाङ्मय का कोई भी नया ग्रंथ उस 'संगम्'—अर्थात् साहित्य-परिषद्—से प्रमाणित होने पर ही प्रचार पाता। चोल, चेर और पांड्य देश के कम से कम सात राजा वाङ्मय के बड़े संरक्षक माने गए। संगम्-युग मे मामूलनार, परणर, तिरुवल्लुवर आदि महान् साहित्यसेवी प्रकट हुए। उसी युग मे तामिल व्याकरण 'तोल्कप्पियम्' लिखा गया, और बृहत्कथा का तामिल अनुवाद हुआ। 'मणिमेखलै', 'शीलप्पतिकारम्' आदि अमर काव्य उसी युग की उपज हैं, और तिरुवल्लुवर का 'कुरल'—जो विश्व-वाङ्मय का एक अनमोल रत्न है—उसी संगम् की खान से प्रकट हुआ। संगम्-युग तामिल इतिहास का सबसे उज्ज्वल युग है।

मध्यकाल मे तामिल वाङ्मय मे एक और लहर जारी रही। उस काल मे अनेक 'आलवार' अर्थात् वैष्णव भक्तो और 'नायन्मार' अर्थात् शैव भक्तो ने जन्म लिया। तामिल देश से बौद्ध और जैन धर्मों को निकालने का काम उन्ही ने किया। उनकी कृतियाँ भक्तिप्रधान है। आलवारो ने अनेक

मोल-भाव

चित्रकार—श्री० वेंकट अप्पा

(श्री० काशीप्रसाद जायसवाल के सौजन्य से)
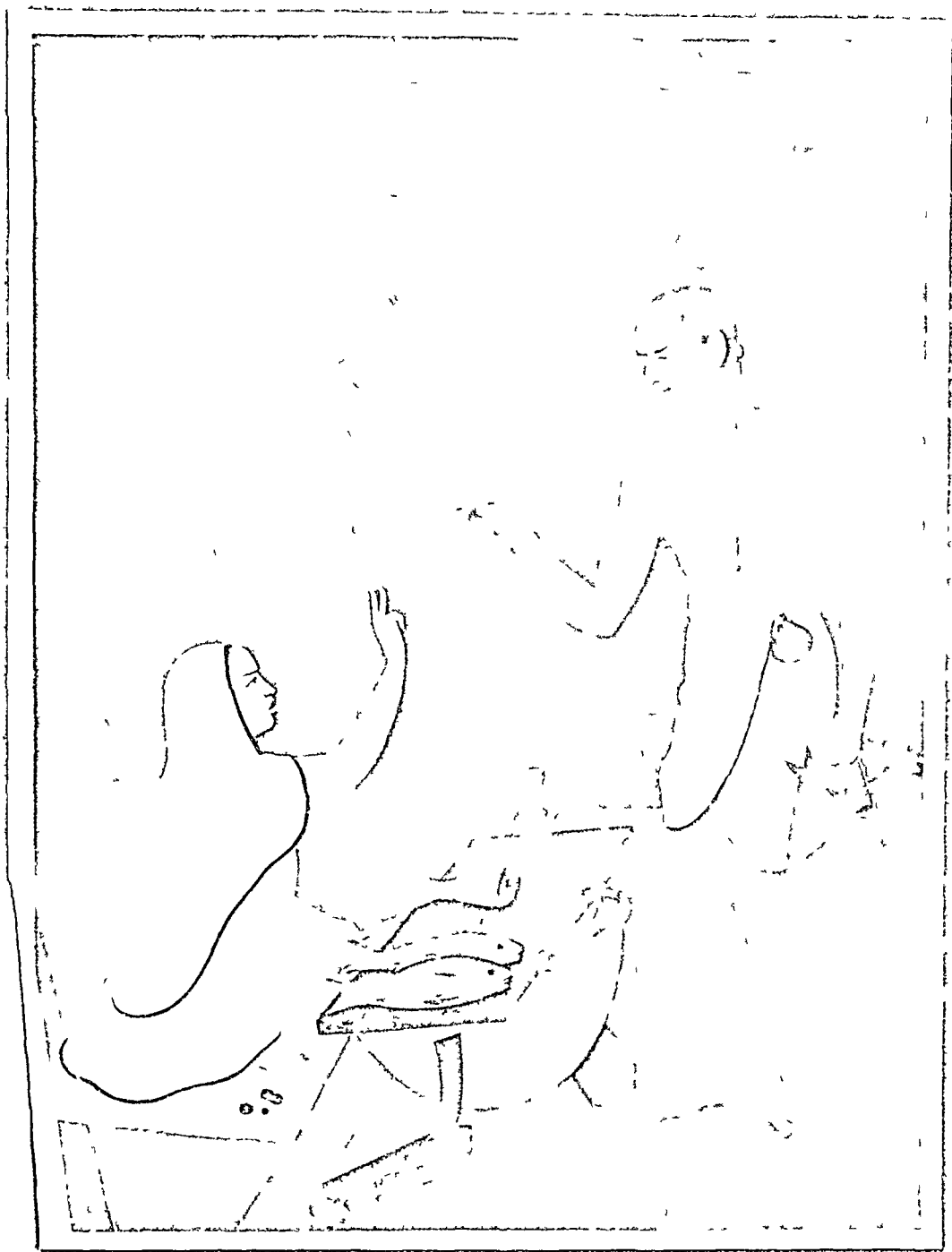
'प्रबध' (=गीत) लिखे जिनके सग्रह तामिल वैष्णवो के धर्मग्रथ हैं। तामिल शैवो का विस्तृत वाङ्मय है जिसमे ग्यारह ग्रथ हैं। उसमे तिरुजानसबध के पदिगम्—जो तामिल शैवो के लिये वैदिक सूक्तो के समान हैं, माणिक्कवाशगर-कृत तिरुवाशगम्—जो उनका उपनिषद् है, तिरुमूलर नामक योगी के रहस्यमय गीत, और नबिआदारनबि-कृत पेरियपुराण—जिसमे तिरसठ नायन्मारो के वृत्तांत हैं, समिलित हैं।

मलयाळम् भाषा तामिल से ही फटकर अलग हुई। कनाडी वाङ्मय तामिल से कुछ पीछे का है। तेलुगु का वाङ्मय अन्य आधुनिक देशी भाषाओ की तरह नवी-दसवी शताब्दी ई० से शुरू हुआ।

११—सिंहली वाङ्मय

सिहली एक आर्य-भाषा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सिहल मे आर्य प्रवासियों की बहुत बड़ी सख्या पहुँची। सिंहली वाङ्मय बहुत पुराना था। पहले पालि से बहुत-से ग्रथो का सिहली अनुवाद हुआ, किंतु उनका फिर पालि अनुवाद (जैसे जातकत्थवण्णना) हो जाने पर सिंहल मूल बचा न रहा। बाद के सिंहल वाङ्मय मे भी कई राजावलिय—अर्थात् ऐतिहासिक ग्रथ—विशेष काम के हैं।

१२—तुखारी और खोतनदेशी वाङ्मय

आज-कल के सिमृकियाग् (चीनी तुर्किस्तान) मे कम से कम आठवी शताब्दी ई० पू० से शक, तुखार, ऋषिक ('युचि') आदि जो जातियाँ रहती थी, आधुनिक खोज ने सिद्ध किया है कि वे सब आर्य थीं।[१] अशोक के समय जब आर्यावर्त्ती आर्यों ने अपने उपनिवेश उनके देश मे स्थापित किए तब पहले तो वहाँ किसी आर्यावर्त्ती भाषा की प्रधानता हुई, परतु पीछे—जैसा द्रविड देश मे हुआ था—वैसा ही वहाँ भी हुआ। उस प्रदेश के तुखार आदि जगली फिरदर निवासी आर्यावर्त्ती आर्यो के ससर्ग से सभ्य हुए, उन्होने लिखना सीखा, उनकी बोलियाँ धीरे-धीरे लिखित भाषाएँ बन गई, और वाङ्मय से पुष्पित होने लगी। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने सिमृकियाग् देश का उन युगो के लिये 'उपरला हिंद' (Serindia) नाम रक्खा है। 'उपरले हिंद' की दो स्थानीय भाषाएँ थी। तारीम नदी के उत्तर कूचा के चौगिर्द प्रदेश की भाषा को उसके अपने लेखो मे 'आर्षी' कहा है, पर उइगूर तुर्कों ने जब उस देश को जीता तब वे उसकी भाषा को तुखारी कहते थे, और आजकल के विद्वान् भी उसे 'कूची' या 'तुखारी' कहने लगे हैं। तारीम नदी के दक्खिन खोतन-प्रदेश की भाषा के कई नाम तजवीज किए गए हैं, पर उनमे से खोतनदेशी नाम सबसे अच्छा है। 'तुखारी' और 'खोतनदेशी' दोनो आर्यभाषाएँ थी—तुखारी लैटिन-केल्त भाषाओ से मिलती-जुलती, और खोतनदेशी ईरानी भाषाओ से। वे दोनो पहले-पहल आर्यावर्त्ती लिपि मे लिखी गई, और गुप्त-युग मे परिष्कृत भाषाओ के रूप मे प्रकट हुई। उनके वाङ्मय—विचारो,

१ देखिए—'भारतभूमि', पृष्ठ ३१३-१५। वहीं पहले-पहल यह भी सिद्ध किया गया है कि 'युचि' का मूल संस्कृत नाम 'ऋषिक' था।

शैली और विषयो मे—सर्वथा भारतीय और संस्कृत शब्दों से भरपूर रहे। उनका अधिकांश सस्कृत बौद्ध वाड्मय से अनुवादित था। धर्मग्रथो के अतिरिक्त ज्योतिष, वैद्यक, काव्य आदि ग्रथ उनमे थे। तुखारी-साहित्य की विशेष वस्तु एक किस्म का नाटक था, जो ठीक बँगला 'यात्रा' के नमूने का होता। तुखारी-पद्यो के छद सब सस्कृत के है, पर उनके नाम नए हैं—जैसे मदनभारत, स्रोविलाप आदि। तुखारी और खोतनदेशी वाड्मयो मे से बचे हुए कुछ पन्ने ही अब मिले हैं।

इन भाषाओ के पडोस की पूरबी ईरान की सुग्धी भाषा मे भी बौद्ध वाड्मय के अनेक अनुवाद हुए। सुग्धी वाड्मय का आत्मा भी भारतीय ही था।

१३—तिब्बती वाड्मय

उपरले हिंद से आर्यावर्त्ती वर्णमाला और वाड्मय ने तिब्बत पहुँचकर वहाँ की फिरदर जनता की बोली को लिखित और परिष्कृत भाषा बना दिया। उसी जागृति का परिणाम यह हुआ कि सातवी शताब्दी ई० मे तिब्बत मे पहला सुसगठित साम्राज्य स्थापित हुआ। हर्षवर्द्धन के समकालीन पहले तिब्बती सम्राट् स्रोडचनगबो के समय से बारहवी शताब्दी ई० के अंत तक उत्तर-भारत से अनेक विद्वान् तिब्बत जाते रहे। उन्होने वहाँ भोटिया लेखकों की सहायता से एक विशाल वाड्मय की सृष्टि की। तिब्बती बौद्ध वाड्मय के—'क-ज्यूर' और 'त-ज्यूर'—दो मुख्य अंश है। कज्यूर मे महायान और वज्रयान के ग्रथों के अनुवाद हैं, तज्यूर मे अनुवादको के वृत्तांत और व्याख्या। भारतीय पडितो के तिब्बत जाने और वहाँ काम करने का वृत्तांत स्वय एक अत्यत रुचिकर प्रकरण है। तारानाथ (सोलहवी शताब्दी ई०) के बौद्धधर्म के इतिहास की तरह और कई ऐतिहासिक ग्रथ भी उस वाड्मय मे हैं। कई खोतनी ग्रंथ भी तिब्बती अनुवादो मे सुरक्षित है, जैसे गोश्रृंग-व्याकरण—अर्थात् खोतन के गोश्रृग-विहार का इतिहास। 'व्याकरण' का वहाँ वही अर्थ होता था।

तिब्बत के द्वारा भारतीय वाड्मय मध्यकाल मे किस प्रकार मंगोलिया पहुँचा, सो और भी रहस्यपूर्ण और मनोरजक वृत्तांत है। विश्वविजयी मगोल सम्राट् 'कुबलै खान' के राजगुरु प्रतिभाशाली तिब्बती विद्वान् 'फग्स्पा' ने १२६० ई० के करीब मगोल-भाषा को भी भारतीय पद्धति की एक वर्णमाला मे लिखने की प्रथा चलानी चाही। दुर्भाग्य से वह प्रयत्न सफल न हुआ।

१४—चीनी और अरबी वाड्मयों में भारतीय अंश

चीन मे भारतीय वाड्मय और ज्ञान कैसे पहुँचा, उसकी कहानी बड़ी लबी है, और यहाँ उसे छेडा नहीं जा सकता। भारतीय वाड्मय के चीन मे पहुँचने, अनुवादित होने और अपना प्रभाव डालने की परपरा ईसवी सन् के आरभ से लेकर लगातार सवा हजार बरस तक चलती रही। भारत और चीन के उस पारस्परिक सहयोग के इतिहास मे अनेक महापुरुषो के नाम, अनेक निष्ठा और साहस से पूर्ण चरित तथा अनेक रोमांचकारी घटनाएँ है। चीनी वाड्मय के सहारे एक तो हम भारतीय वाड्मय के बहुत-से लुप्त रत्नो को वापस पा सकते है, दूसरे, चीन मे सवा हजार बरस तक भारतीय रोशनी पहुँचते रहने का मनोरजक और अद्भुत वृत्तांत तथा उस वृत्तांत मे गुँथे हुए अनेक मनस्वियो के चरित्र

हमे उसी वाङ्मय से मिल सकते हैं; तीसरे, जो चीनी विद्वान् दोनो देशो के उक्त सहयोग के सिलसिले मे भारत आते रहे उनके भारतीय अनुभव और वृत्तात हमारे लिये बडे काम के है, और वे हमे चीनी वाङ्मय से ही मिल सकते हैं।

भारत और अरब का सबध और तरह का था। अरब-जाति की समृद्धि की तरह वह सबध भी अल्पायु रहा। अरब लोग शत्रु के रूप मे सातवीं-आठवी शताब्दियो मे भारत के सीमात पर मॅडराते रहे। मध्य एशिया के देश उनके आने से पहले भारतीय सभ्यता के बडे केद्र थे। आठवीं सदी के शुरू मे जब सिध और बलख को अरबो ने जीत लिया तब भारतीय ज्ञान और सस्कृति का प्रभाव खलीफो के दरबार मे प्रकट होने लगा। सस्कृत से वैद्यक, ज्योतिष, नीति, काव्य, इतिहास आदि के अनेक ग्रथो के अरबी अनुवाद किए गए। बलख मे एक बौद्ध नव-विहार था, उसका प्रमुख 'बरमक' (परमक ?) मुसलमान बना लिया गया। वह सस्कृत का भारी विद्वान् था, और दिल से बौद्ध ही रहा। उसके प्रयत्न से सस्कृत वाङ्मय के अनेक रत्न अरबी मे लिए गए। हमारे लिये अब अरबी वाङ्मय का भारत-विषयक अश ही विशेष मनोरजक है। प्रसिद्ध विद्वान् अलबेरूनी का ग्रथ उसी का एक अग है।

१५—परले हिंद और हिंदी द्वीपों के वाङ्मय

भारतवर्ष और चीन के बीच जो विशाल प्रायद्वीप है, उसे आज 'परला हिद' (Further India) अथवा 'हिदचीनी' कहते हैं। 'हिदचीनी' नाम से सूचित होता है कि उसमे आधा अश हिद का और आधा चीन का है। पर सच बात यह है कि तेरहवी-चौदहवीं शताब्दी ई० से पहले उसमे चीन का कुछ भी अंश न था, वह पूरी तरह 'परला हिंद' ही था। अशोक के समय हमारे आसाम-प्रात से लेकर चीन के नानशान अर्थात् दक्खिनी पहाड तक उस समूचे विशाल देश मे तथा उसके दक्खिन समुद्र की द्वीपावली मे भयकर जगली जातियाँ रहती थी, जो पत्थर के चिकने हथियारो से जगली जानवरो का शिकार कर अपनी जीविका चलाती। वे जातियाँ हमारे देश की सथाल, मुडा, शबर, खासी आदि जातियो की सगोत्र थी। सभ्य ससार के आग्नेय कोण मे रहने के कारण जर्मन विद्वान् 'श्मिट' ने उनके वश का नाम आग्नेय (Austric) रक्खा है।[१] अशोक से भी पहले महाजनपदो के युग मे उनके देश मे भारतीय नाविक जाने-आने लगे, और वहाँ सोने की खाने पाने के कारण उन्होने उसे 'सुवर्ण-भूमि' तथा उसके कई द्वीपो को 'सुवर्ण-द्वीप' नाम दिया। अशोक के समय सुवर्णभूमि मे भी बुद्ध का सदेश पहुँचाया गया। उसके बाद सातवाहन-युग मे उस विशाल प्रायद्वीप और उस द्वीपावली के एक छोर से दूसरे छोर तक भारतीय उपनिवेश बस गए। उन उपनिवेशो के ससर्ग से स्थानीय आग्नेय जातियाँ भी सभ्य हो चली, और आर्यो के धर्म-कर्म, रीति-रवाज, भाषा, लिपि और नामो तक को अपनाती गई। ईसवी सन् के आरंभ से तेरहवी-चौदहवीं शताब्दी तक वहाँ अनेक भारतीय राज्य बने रहे, जिनमे सस्कृत राजभाषा के रूप मे बर्त्ती जाती रही। किंतु जैसा दक्खिन भारत और उपरले हिद मे हुआ था, वैसे ही वहाँ भी आर्यावर्त्ती वर्णमाला और

१. पूरी विवेचना के लिये देखिए—'भारतभूमि', परिच्छेद ४१

वाङ्मय के ससर्ग से स्थानीय बोलियॉ अनेक शताब्दियों बाद परिष्कृत होकर लिखित भाषाएँ बन गईं, और वाङ्मयों का विकास करने लगीं। उनकी लिपि और वर्णमाला आर्यावर्त्ती रही, उनमे सस्कृत शब्दों की कलम लग गई, और उनमे जो वाङ्मय खिला वह सर्वथा भारतीय नमूने का। इस प्रकार कबुज की 'कबुजी या ख्मेर' भाषा, चपा उपनिवेश (आधुनिक फ्रांसीसी हिंदचीनी) की 'चम' भाषा और जावा की 'कवि' भाषा आर्यावर्त्ती अक्षरो मे लिखी गई, और उनमे वाङ्मय का अच्छा विकास हुआ। 'कवि' और उसके अतिरिक्त भारतीय द्वीपावली की पॉच और भाषाओ की लिपियॉ वास्तव मे 'कंबुजी' से ही निकलीं।[१] इन सब भाषाओ के वाङ्मय पूरी तरह भारतीय वाङ्मय पर निर्भर और भारतीय आदर्शो से अनुप्राणित हैं। कवि-भाषा नवी शताब्दी ई० से अभिलेखो मे सस्कृत के साथ-साथ प्रकट होने लगी। फिर बारहवी शताब्दी मे उसके साहित्य का स्वर्ण-युग रहा। उसमे अनेक अच्छे काव्य—अर्जुनविवाह, विराट्पर्व, स्मरदहन, भारत-युद्ध आदि—तथा इतिहास-ग्रथ—नगरकृतागम आदि—हैं।

बारहवी शताब्दी के कुछ पहले और कुछ पीछे भारतवर्ष की अपनी देशी भाषाओ का भी उदय होने लगा। उनके वाङ्मयो का विषय बहुत-कुछ परिचित है। इस लेख मे मैं उसे जान-बूझकर छोडता हूँ।

उपर्युक्त विवेचना से यह प्रकट हुआ होगा कि भारतीय वर्णमाला और वाङ्मय के अभ्युदय और अवनति का इतिहास वास्तव मे भारतवर्ष के अभ्युदय और अवनति का इतिहास है। एक के बिना हम दूसरे को नहीं समझ सकते।

१. 'भारतभूमि', पृष्ठ २७०

लोरी

शिशु राहुल के प्रति बुद्ध-जाया गोपा

सो, अपने चञ्चलपन, सो!
सो, मेरे अचल-धन, सो।

पुष्कर सोता है निज सर मे,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर मे,
गुजन सोया कभी भ्रमर मे,
सो, मेरे गृह-गुजन, सो!
सो, मेरे अचल-धन, सो।

तनिक पार्श्व-परिवर्त्तन कर ले,
उस नासा-पुट को भी भर ले,
उभय पक्ष का मन तू हर ले,
मेरे व्यथा-विनोदन, सो!
सो, मेरे अंचल-धन, सो।

रहे मद ही दीपक-माला,
तुझे कौन भय-कष्ट-कसाला?
जाग रही है मेरी ज्वाला,
सो, मेरे आश्वासन, सो!
सो, मेरे अचल-धन, सो।

ऊपर तारे झलक रहे हैं,
गोखे से लग ललक रहे हैं,
नीचे मोती झलक रहे हैं,
मेरे अपलक-दर्शन, सो!
सो, मेरे अचल-धन, सो।

तेरी साँसो का निस्पदन,
मेरे तप्त हृदय का चदन!
सो, मैं कर लूँ जी भर क्रदन,
सो, उनके कुल-नदन, सो!
सो, मेरे अचल-धन, सो।

खेले मंद पवन अलको से,
पोछूँ मैं उनको पलकों से,
छद-रद की छवि की छलको से,
पुलक-पूर्ण शिशु-यौवन, सो!
सो, मेरे अचल-धन, सो।

मैथिलीशरण गुप्त

आर्य कालक

श्री मुनि कल्याणविजय

आर्य कालक अथवा कालकाचार्य जैन-समाज मे एक सुप्रसिद्ध आचार्य हो गए हैं। उन्होंने जैन-धर्म मे और जैन-साहित्य मे जो सामयिक जीवन फूंका था, वह अब तक अमिट है। श्वेतांबर-जैन-संघ का अधिक भाग, जो अब तक भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को पर्युषणा-पर्व मनाता है, उन्ही की कृति का स्मृति-चिह्न है। इसके अतिरिक्त हमारे समाज मे जो निमित्त और ज्योतिष का थोड़ा-बहुत प्रचार हुआ उसके भी मूल कारण वही कहे जायँगे, क्योंकि यदि उन्होंने निमित्त का अध्ययन और उसकी संहिता का निर्माण न किया होता, तो पापश्रुत[1] समझकर पिछले आचार्य इस विषय को छूते तक नही।

इन सब बातो के अतिरिक्त प्रथमानुयोग की रचना करके कालक ने जो जैन-कथा-साहित्य का खजाना भरा है, उसके लिये तो केवल जैन-समाज ही नही, सारा विद्वत्समाज उनका ऋणी है।

१ निमित्त-ज्योतिषादि विद्याओ को जैन आगमो मे 'पापश्रुत' कहा है। संभव है, 'श्रुत' के साथ लगाए गए 'पाप' विशेषण के कारण ही कालकसंहिता, निमित्तप्राभृतादि अमूल्य साहित्य से आज हमें हाथ धोना पड़ा है। इस विद्या की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी हमारे आचार्य कभी-कभी किस कदर इसकी भयंकरता मान लेते थे, इस बात का उदाहरण हमे 'हरिभद्र' के जीवन-प्रसग मे मिलता है। कहते है, एक बार बनारस के 'वासुकि' नामक श्रावक को एक पुस्तक मिली। व्यवसायार्थ चित्रकूट गए हुए वासुकि ने वह पुस्तक आचार्य हरिभद्र सूरि को दी। सूरि जी ने उसे देखकर सब के प्रधान पुरुषो से कहा कि यह 'वर्ग-केवली' है । उन लोगों ने सूरि जी से अनुरोध किया कि आप इसका विवरण बनावे ताकि कही संघ के कार्य मे उपयोगी हो। तब आचार्य ने उस पर स्पष्ट विवरण लिखा और उसके अनुसार कतिपय प्रयोगो की परीक्षा करने पर वे सही निकले। परंतु संघ के नायको ने यह सोचकर कि "इस समय मे ऐसे पापग्रंथो को प्रकाशित करना अच्छा नहीं है," उस विवरण का नाश करा दिया!

इन धुरधर विद्वान् और युगप्रवर्त्तक स्थविर की यशोगाथा अनेक पूर्वाचार्यो ने अपने-अपने प्रबधो मे गाई है।[1] कतिपय विद्वानो ने तो 'कालकाचार्य-कथा'[2] नाम से, प्राकृत और सस्कृतादि भाषाओ मे, स्वतन्त्र रूप से इनके जीवन-चरित की खास-खास घटनाओ का निरूपण किया है। इसके उपरांत आधुनिक योरप और भारतवर्ष के कतिपय विद्वानो ने भी अपनी-अपनी भाषा मे इनकी जीवनगाथा गाने के प्रयत्न किए हैं। यह सब कुछ होते हुए भी दुःख के साथ कहना पडता है कि इन महापुरुष के जीवन-सबधी घटनाओ मे, प्राचीनता के कारण, जहाँ-कही विषमता अथवा असबद्धता प्रविष्ट हो गई है, उसका निराकरण करके अब तक किसी ने समन्वय नही किया। बहुधा यह देखा गया है कि पुरातन व्यक्तियो के जीवन-सबंधी घटनाओ और उनकी कृतियो के विषय मे असगतता अथवा गोलमाल करनेवाले उनके समनामधारी (नामराशि) व्यक्ति ही हुआ करते है। कालक-सबधी कुछ घटनाओ मे जो असंगतता प्रतीत होती है उसका भी कुछ ऐसा ही कारण है। उन सबकी कृतियाँ और समय भिन्न-भिन्न था, पर ज्यो-ज्यो समय-प्रवाह बहता गया त्यो-त्यो पिछले लोग इनकी भिन्नता को भूलते गए। परिणाम यह हुआ कि जो कुछ कालक-सबधी वास्तविकता है वह आज-कल एक ही व्यक्ति के साथ जोड दी जाती है। इस चिरकालीन विस्मृति को ठीक करने के लिये पहले हमे 'कालक'-नामधारी भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की संख्या और उनके भेद को समझ लेना चाहिए। यह अत्यावश्यक है।

व्यक्ति-संख्या

सबसे पहले हमे यह देखना चाहिए कि 'कालकाचार्य' नाम से प्रसिद्ध व्यक्तियो की कुल सख्या कितनी है। इस विषय के विवेचन मे हमको 'रत्नसचय-प्रकरण' की—पचपन, छप्पन, सत्तावन और अट्ठावन नवर की— गाथाओ से सहायता मिलती है। उनका आशय इस प्रकार है—"वीर-निर्वाण के ३३५ वर्ष बाद 'श्यामार्य' नामक पहले कालक सूरि हुए। ४५३ मे कालक गुरु ने 'सरस्वती साध्वी' को छुडाया और वीर से ४७० वर्ष के बाद विक्रम हुआ। निर्वाण के ५०० वर्ष बाद सिद्धसेन दिवाकर आचार्य और ७२० मे शक्रसस्तुत कालकाचार्य हुए। वर्द्धमान से ९९३ वर्ष मे पर्युषणा चतुर्थी कालकाचार्य ने स्थापित की।"

इस प्रकार हमे 'कालक' नाम के चार आचार्यो का पता मिलता है—(१) श्यामार्य नाम से प्रसिद्ध पहले कालकाचार्य, जिनका अस्तित्व-काल वीर-निर्वाण सवत् ३३५ के लगभग है। (२) गर्दभिल्ल

१ निशीथचूर्णि, कल्पचूर्णि, पचकल्पचूर्णि आदि प्राचीन टीकाग्रंथों मे और कथावली, प्रभावक-चरित्र आदि प्रबधग्रथो मे कालकाचार्य-संबधी खड अथवा संपूर्ण वृत्तात मिलता है।

२. 'कालकाचार्य-कथा' नामक स्वतन्त्र रचनाएँ भी अनेक हैं। एक प्राकृत कालक-कथा, जो बहुधा कल्पसूत्र की पुस्तको के अत मे लिखी मिलती है, इन कथाओ मे कुछ अधिक प्राचीन मालूम होती है। इसकी एक प्रति, जो सवत् १४९७ की लिखी हुई है, इस समय हमारे पास है। एक और प्राकृत कालक-कथा हमने पाटन के एक पुस्तक-भाडार मे देखी है, जो सवत् १३८९ मे निर्मित हुई थी—वह धर्मप्रभ सूरि की कृति है। इस कथा का नोट इस समय हमारे पास है। इसके अतिरिक्त मूल कल्पसूत्र के पीछे छपी हुई एक संस्कृत कालक-कथा भी इस समय हमारे पास है।

राजा से सरस्वती साध्वी को छुड़ानेवाले दूसरे कालक, जिनका अस्तित्व-काल ४५३ के आसपास है। (३) इंद्र से प्रशसित निगोद-व्याख्याता तीसरे कालकाचार्य, जिनका अस्तित्व-काल निर्वाण-सवत् ७२० के आसपास है। (४) पर्युषणा-पर्व को पंचमी से हटाकर चतुर्थी मे करनेवाले चौथे कालक, जिनका समय वीर-सवत् ९९३ है।

अब हम यह देखेंगे कि 'रत्नसचय-प्रकरण' की उक्त गाथाओं मे जो भिन्न-भिन्न कालकाचार्यो का निर्देश किया गया है, वह वस्तुतः सत्य है या सदेहास्पद। जहाँ तक हमने देखा है, श्यामार्य नामक प्रथम कालकाचार्य का सत्ता-काल सर्वत्र निर्वाण-सवत् ३३५ ही मिलता है। युगप्रधान-स्थविरावली की गणना के अनुसार इन कालक का निर्वाण-सवत् २८० मे जन्म, ३०० मे दीक्षा, ३३५ मे युगप्रधानपद और ३७६ मे स्वर्गवास हुआ था। इनका सपूर्ण आयुष्य छियानवे वर्ष का था। ये 'प्रज्ञापनाकार' और 'निगोद-व्याख्याता' नामो से भी प्रसिद्ध थे।

इन सब बातो का विचार करने के बाद यह कहना कुछ भी अनुचित न होगा कि उक्त 'प्रकरण' की गाथा मे जो प्रथम कालकाचार्य का निरूपण किया है, वास्तव मे वही सत्य है।

दूसरे कालकाचार्य के सबंध मे तो हमे कुछ कहना ही नही है, क्योंकि सरस्वती के निमित्त गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट करानेवाले कालकाचार्य का समय सर्वत्र ४५३ ही लिखा मिलता है। इस लिये इन कालक के सबध मे कोई शका नहीं है।

तीसरे कालकाचार्य के संबध मे हम निश्चित अभिप्राय नहीं व्यक्त कर सकते। कारण, निर्वाण-सवत् ७२० मे कालकाचार्य का अस्तित्व-साधक—इस गाथा के अतिरिक्त दूसरा—कोई प्रमाण नही है। दूसरा कारण यह भी है कि गाथा मे इन कालकाचार्य को 'शक्रसस्तुत' लिखा है, जो सर्वथा असगत है, क्योकि शक्रसंस्तुत कालकाचार्य तो वही थे, जो 'निगोद-व्याख्याता' के नाम से प्रसिद्ध थे। युगप्रधान-स्थविरावली के लेखानुसार यह विशेषण प्रथम कालकाचार्य को ही प्राप्त था।

चौथे कालकाचार्य को चतुर्थी-पर्युषणा-कर्त्ता लिखा है, जो ठीक नही। यद्यपि 'वालभी युगप्रधान-पदावली' के लेखानुसार इस समय मे भी एक कालकाचार्य हुए अवश्य हैं—जो निर्वाण-संवत् ९८१ से ९९३ तक युगप्रधान थे, पर इनसे चतुर्थी को पर्युषणा होने का उल्लेख सर्वथा असगत है। चतुर्थी पर्युषणा-कारक ये चतुर्थ कालक नहीं, किंतु सरस्वती-भ्राता द्वितीय कालकाचार्य थे। इस विषय का सोपपत्तिक प्रतिपादन आगे किया जायगा।

उपर्युक्त गाथाओ के अतिरिक्त कालकाचार्य-विषयक एक और गाथा मेरुतुंग की 'विचारश्रेणि' के परिशिष्ट मे लिखी मिलती है, जिसमे निर्वाण-सवत् ३२० मे कालकाचार्य का होना लिखा है। उस गाथा का अर्थ इस प्रकार है—"वीर जिनेंद्र के ३२० वर्ष बाद कालकाचार्य हुए, जिन्होने इंद्र को प्रतिबोध दिया"।

इस गाथा से कालकाचार्य के अस्तित्व की संभावना की जा सकती है, पर ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। शक्रप्रतिबोध के निर्देश से ही यह बात स्पष्ट है कि उक्त गाथोक्त कालकाचार्य वे ही हैं, जिनका वर्णन 'युगप्रधान' के रूप मे, 'निगोद-व्याख्याता' विशेषण के साथ, युगप्रधान-स्थविरावलियों मे किया गया है।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

पंडित रामचंद्र शुक्ल

पंडित कामताप्रसाद गुरु

पंडित रामचरित उपाध्याय
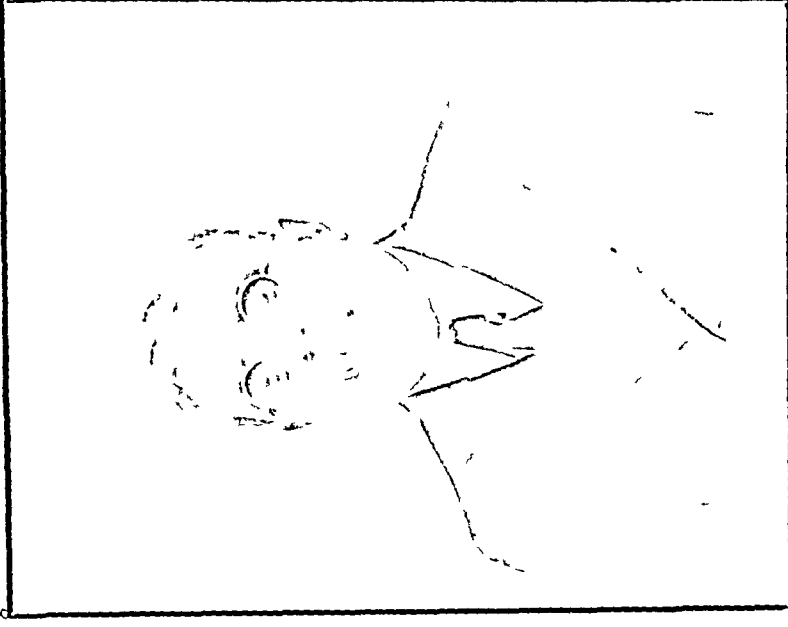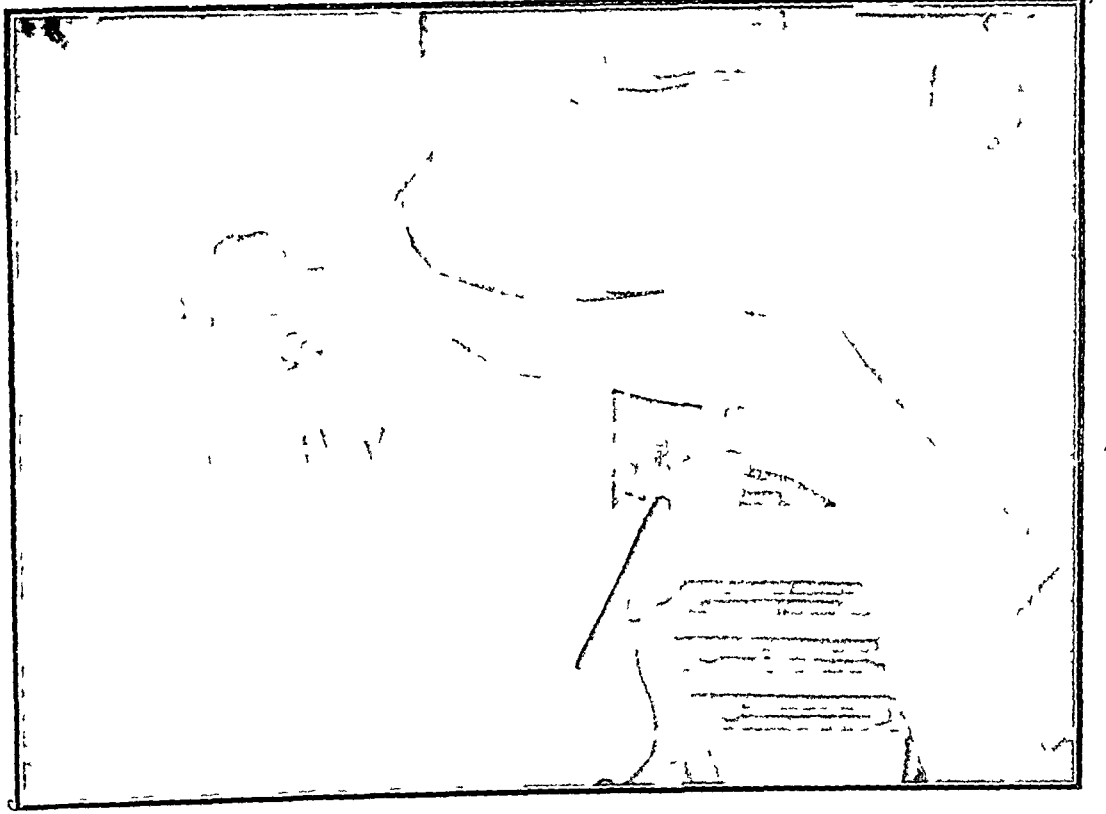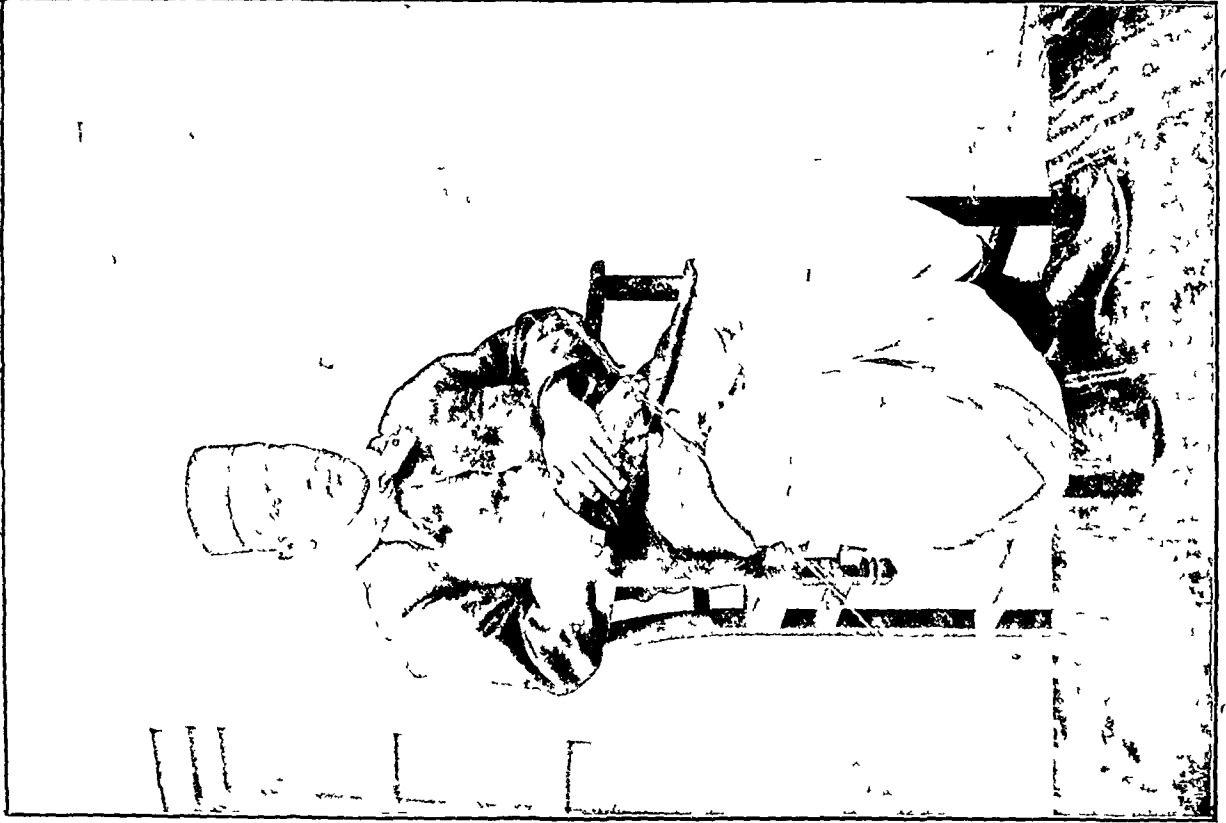
रही बात ३२० की, सो इस समय मे भी प्रथम कालकाचार्य विद्यमान ही थे। यद्यपि तब तक वे युगप्रधान नही बने थे, तथापि उस समय वे बीस वर्ष के दीक्षित हो चुके थे। क्या आश्चर्य है कि इसी बीच मे कालकाचार्य ने इद्र के आगे निगोद का व्याख्यान किया हो और इस घटना का सस्मरण इस ३२० वाली गाथा मे रह गया हो! कुछ भी हो, पर इस गाथावाले कालकाचार्य को प्रथम कालकाचार्य से भिन्न मान लेने का कोई कारण नही दीखता।

कालकाचार्य-संबंधी घटनावली

हमे कालकाचार्य-कथा का अनुवाद तो नहीं करना है, पर उसमे दी हुई मुख्य घटनाओं का उल्लेख तो अवश्य ही करना पडेगा। कालकाचार्य-कथा-सबधी प्रबधो मे निम्नलिखित सात घटनाओं का वर्णन मिलता है—(१) गर्दभिल्ल राजा को पदभ्रष्ट करके सरस्वती साध्वी को छुडाना। (२) चतुर्थी के दिन पर्युषणा-पर्व करना। (३) अविनीत शिष्यो को छोडकर सुवर्णभूमि मे प्रशिष्य के पास जाना। (४) इद्र के सामने निगोद के जीवो का व्याख्यान करना। (५) आजीवको के पास निमित्त-पठन और कालक-सहिता की रचना। (६) प्रथमानुयोग और गडिकानुयोग का निर्माण। (७) दत्त राजा के सामने यज्ञफल का निरूपण।

उपर्युक्त सात घटनाओ मे से पहली चार घटनाओ का वर्णन इसी क्रम से अनेक नई-पुरानी कालक–कथाओ मे मिलता है, पर किसी-किसी प्राकृत कालक-कथा मे चौथी घटना का उल्लेख नहीं भी मिलता[१]।

पहली घटना का विस्तृत वर्णन कालक-कथाओ के अतिरिक्त जिनदासगणि महत्तर की 'निशीथचूर्णि' मे व्यवहारचूर्णि के अंदर और भद्रेश्वर की 'कथावली' मे उपलब्ध होता है। दूसरी घटना का भी सविस्तर वृत्तात उपर्युक्त 'निशीथचूर्णि' तथा 'कथावली' मे दिया हुआ है। तीसरी घटना का वर्णन आवश्यकचूर्णि, काव्यचूर्णि और कथावली आदि मे मिलता है। चौथी घटना का वर्णन भी कथावली आदि मे मिलता है, पर 'आवश्यकचूर्णि' और उसकी टीकाओ मे लिखा है कि यह घटना आर्य-रक्षित सूरि-सबधी है[२]। पॉचवी घटना का वर्णन 'पचकल्पचूर्णि' मे दिया हुआ है। छठी घटना का उल्लेख पचकल्पचूर्णि और प्रकीर्णक-गाथा दोनो मे है। सातवी घटना का वर्णन 'आवश्यक-चूर्णि' मे है[३]।

अब हम इन घटनाओ का संक्षिप्त परिचय कराएँगे और यह भी देखेगे कि कौन घटना कहाँ पर हुई। कालक-कथा के लेखकों ने सबसे पहले और सबसे अधिक वर्णन गर्दभिल्लोच्छेद-सबंधी घटना का दिया है, इसलिये हम भी पहले इसी का परिचय कराते हैं।

१. धर्मप्रभ सूरि-कृत कालक-कथा में चौथी घटना 'निगोद-व्याख्यान' का उल्लेख नहीं है।

२. 'आवश्यकनिर्युक्ति' की गाथा ७७४ (पृष्ठ ३९७) की चूर्णि में इद्र के सामने आर्यरक्षित जी के निगोद-व्याख्यान का वर्णन मिलता है।

३ 'आवश्यकचूर्णि' के अतिरिक्त 'आवश्यकनिर्युक्ति' मे भी इस घटना का उल्लेख दो स्थानों मे है।

'अतिविरोधी' को झगडा करके शिक्षा देनी चाहिए, जैसे कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल को शिक्षा दी। गर्दभिल्ल कौन ? अथवा कालकाचार्य कौन थे ? और किस कार्य के निमित्त उन्होने गर्दभिल्ल को शिक्षा दी ? इन जिज्ञासाओ का समाधान आगे किया गया है।

उज्जयिनी नगरी मे 'गर्दभिल्ल' नामक राजा[1] था। ज्योतिप-निमित्त के प्रखर ज्ञाता 'कालक' नाम के आचार्य वहाँ आए। कालक की युवती और रूपवती वहन को गर्दभिल्ल ने अपने अन्तःपुर मे रख लिया। कालक तथा सघ ने राजा को वहुत समझाया, पर वह न माना।

पहली घटना

तब रोष मे आकर कालकाचार्य ने यह भीपण प्रतिज्ञा की—"यदि गर्दभिल्ल का राज्योन्मूलन न करूँ तो प्रवचन-सयमोपघातक और उनके उपेक्षको की गति को प्राप्त होऊँ।" इसके बाद कालक त्रिक, चतुष्क, चत्वर, महाजन आदि स्थानों मे इस प्रकार उन्मत्त की तरह प्रलाप करते हुए फिरने लगे—"यदि गर्दभिल्ल राजा है तो इससे क्या ? यदि वह रम्य अन्त पुर है तो इससे क्या ? यदि देश मनोहर है तो इससे क्या ? यदि नगरी अच्छी वसी हुई है तो इससे क्या ? मै भिक्षा माँगता फिरता हूँ तो इससे क्या ? और अगर शून्यदेवल मे बसता हूँ तो इससे क्या ?" इस तरह बकते हुए कालक ने उज्जयिनी का त्याग किया। वे पारसकूल जा पहुँचे। वहाँ का राजा 'साहि'[2] कहलाता था। कालक उसी के आश्रय मे रहे। निमित्त आदि की बातो से वे उसका मनोरजन करने लगे।

एक बार उस साहि के अधिराज साहाणुसाहि[3] ने किसी कारण से रुष्ट होकर उसके पास एक कटारी भेजी और लिखा कि 'इससे अपना सिर काट डालो।' अधिराज का आदेश पढ़ते ही साहि का चेहरा फीका पड गया। यह देख कालक बोले—'आत्मघात मत करो।' साहि ने कहा—'अधिराज के रुष्ट होने पर हमारा जीवित रहना असभव है।' कालक ने कहा—'चलो, हिंदुक-देश[4] को चले चले।' राजा ने आचार्य का वचन स्वीकार किया। अन्य पचानवे साहियो के पास भी साहाणुसाहि ने इसी प्रकार कटारियाँ भेजी थी। इसलिये उन सवके पास पहले ही दूत भेजकर साहि ने 'आत्महत्या न करके हिंदुस्तान मे चले जाने का' सकेत कर दिया। सबको यह सलाह पसंद आई। सबके सब अपने-अपने स्थान से भागकर हिंदुस्तान की तरफ रवाना हुए। इस प्रकार छियानवे साहि समुद्र-मार्ग से सौराष्ट्र (काठियावाड़) मे आए।

१. 'कथावली' मे इस राजा का नाम 'दप्पण' वताया है। लिखा है कि उसको किसी योगी से गर्दभी विद्या प्राप्त हुई थी जिससे वह 'गर्दभिल्ल' कहलाता था।

२—३ 'निशीथचूर्णि' और 'कथावली' मे 'साहि' का अर्थ 'राजा' और 'साहाणुसाहि' का 'महाराजा' लिखा है। सस्कृत मे 'राजा' और 'महाराजा' का जो अर्थ है, वही अर्थ क्रमशः 'साहि' और 'साहाणुसाहि' का है। इन्हीं 'साहि' और 'साहाणुसाहि' के स्थानापन्न शब्द 'शाह' और 'शाहंशाह' हैं।

४ निशीथचूर्णि मे, जो विक्रम की छठी या सातवीं सदी के आसपास की रचना है, भारतवर्ष को "हिंदुगदेस" लिखा है। इस देश का 'हिंदुस्थान' नाम कितना पुराना है, यह इस उल्लेख से ज्ञात होगा।

वर्षा-काल होने के कारण वहाँ से आगे बढना अशक्य था। इसलिये उन लोगों ने समग्र साराष्ट्र (काठियावाड) को छियानवे भागो मे बाँटकर अपने अधिकार मे कर लिया। इनमे जो कालक का आश्रय-दाता साहि था वही सबका अधिपति हुआ। उसी समय से शक-वश उत्पन्न हुआ।[1]

वर्षाकाल व्यतीत होने पर कालकाचार्य ने साहि से कहा—'चलो, उज्जयिनी पर घेरा डाल दे।'[2] तब, लाट के राजा को—जो गर्दभिल्ल द्वारा अपमानित किए गए थे—और अन्य राजाओ को भी साथ मे ले जाकर[3] उज्जयिनी पर घेरा डाला गया। उस गर्दभिल्ल के पास गर्दभी-रूपधारिणी एक विद्या थी, जो अट्टालक मे शत्रु-सैन्य के समुख स्थापित की गई थी। गर्दभिल्ल अष्टम भक्तोपवासी होकर उसको प्रत्यक्ष कर रहा था। प्रत्यक्ष होने के बाद वह बडा भयकर शब्द करती, जिसे सुनकर शत्रु-सैन्य का कोई भी मनुष्य अथवा पशु भय-विह्वल होकर रुधिर वमन करता हुआ अचेत हो पृथ्वी पर गिर पडता।

आर्य कालक ने देखा कि गर्दभिल्ल तीन उपवास का तप करके गर्दभी विद्या का अवतरण कर रहा है। तब उन्होने एक सौ आठ शब्दवेधी योधाओ को बुलाकर यह बात कही और सलाह दी कि

१ शक लोगो ने यह पहले ही पहल जो सोराष्ट्र को अधिकृत किया था वह बहुत समय तक टिका रहा। उज्जैन का अधिकार-सूत्र तो चार वर्ष के बाद उनके हाथ से निकल गया था, पर ऐसा प्रतीत होता है कि सौराष्ट्र तो कम से कम चार सो वर्षो तक निरतर उन्ही के अधिकार मे रहा। पहली बार उज्जैन का स्वत्व हाथ से निकल जाने के बाद तेरहवें वर्ष मे उन्होने फिर मालवा पर चढाई की, पर मालव प्रजा ने बडी बहादुरी के साथ उनका मुकाबला करके विजय पाई, जिसकी यादगार में मालवगण ने 'मालव-संवत्' नाम से एक संवत्सर भी प्रचलित किया। शक लेग भी पश्चिम भारत मे अपनी सत्ता जमा रहे थे। करीब डेढ़ सौ वर्ष तक भारतवर्ष की शिक्षा-दीक्षा लेकर शक-यूथ फिर मालव पर चढा और बडी शानदार जीत के साथ उसने उज्जैन पर अधिकार जमाया। उसने भी मालवगण का अनुकरण कर अपनी विजय के उपलक्ष्य मे एक सवत्सर चलाया, जो आज तक 'शक-संवत्' के नाम से प्रचलित है। इस प्रकार पहली बार तो शको ने केवल चार ही वर्ष उज्जैन मे राज्य किया, पर दूसरी बार उसको जीतने के बाद करीब तीन सौ वर्षो तक अपना अधिकार जमाए रक्खा। अत मे ईसवी सन् ४०० के आसपास द्वितीय चद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा वे मालवा से हटाए गए। फिर उसके बाद इस जाति का उत्थान न हुआ।

२ कालक-कथाओं मे इस प्रसंग पर लिखा है कि जब कालकाचार्य ने साहि को उज्जैन की तरफ प्रयाण करने को कहा तब वह बोला कि हमारे पास द्रव्य नहीं है और उसके बिना अन्य पचानवे साहि हमारा साथ देने को तैयार न होगे। इस पर कालक ने साहि को उत्साह देते हुए कहा—'उद्योगी पुरुष को सब कुछ मिल जाता है।' इसके बाद कालक ने योगचूर्ण के प्रयोग से सोने की ईंटे बनाकर साहि को द्रव्य की सहायता दी, जिससे सब साहि उज्जैन की तरफ प्रयाण करने को राजी हो गए। परतु निशीथचूर्णि मे इस बात का कुछ भी उल्लेख नहीं है। मालूम होता है, पिछले लेखको ने यह विशेष वृत्तान्त इसमे मिला दिया है।

३ 'निशीथचूर्णि' तथा 'कथावली' मे लाट के राजाओ को साथ लेकर उज्जैन की तरफ जाने का उल्लेख है। 'प्रभावक-चरित्र' में लाट और पाचाल के राजाओं को जीतकर मालवा मे जाने का वर्णन है। संस्कृत कालक-कथा मे लिखा है कि लाट के स्वामी बलमित्र-भानुमित्र को साथ लेकर साहि राजा अवति की सीमा मे पहुँचे। यथा—

"ढक्कानिनादेन कृतप्रयाणा नृपा. प्रचेलुर्गुरुलाटदेशम्।
तद्देशनाथौ बलमित्र-भानुमित्रौ गृहीत्वाऽगुरवन्तिसीमाम्॥"

—मुद्रित कालक-कथा, पद्य ३३, पृष्ठ ३

जिस समय गर्दभी रेंकने के लिये मुँह खोले उस समय उसका मुख बाणो से भर देना। उन धनुर्द्धरों ने वैसा ही किया। तब वह वानव्यतरी देवी गर्दभिल्ल के ऊपर मल-मूत्र त्यागकर उसे लातो से मारकर चली गई।

कालक ने निर्बल गर्दभिल्ल का उन्मूलन करके उज्जयिनी पर अधिकार किया, और अपनी बहन को फिर सयम-पालन मे प्रवृत्त किया। इस प्रकार झगडा करके अतिविरोधी को शिक्षा दी जाती है।[1]

अंत मे उज्जयिनी का राज्यासन उस साहि के सुपुर्द किया गया जो कालकाचार्य का आश्रयदाता था।'[2]

दूसरी घटना

'अपवाद-मार्ग से भी एक मास और वीस अहोरात्र का उल्लंघन नही हो सकता। वीस रात अधिक एक मास पूर्ण होने पर क्षेत्र न मिले तो वृक्ष के नीचे भी पर्युषणा कर लेनी चाहिए। पूर्णिमा, पचमी, दशमी आदि पर्व-दिनो मे ही उसे करना चाहिए, न कि अपर्व मे।' शिष्य पूछता है कि अव चतुर्थी—अपर्व—मे पर्युषणा क्यो की जाती है। आचार्य कहते हैं कि चतुर्थी कारणिक है—वह कालकाचार्य से प्रवृत्त हुई है। फिर शिष्य पूछता है कि यह कैसे। आचार्य कारण बताते हैं कि कालकाचार्य विहार करते हुए उज्जयिनी मे गए और वहाँ वर्षा-वास की स्थिरता[3] की। उस नगरी मे 'बलमित्र' नाम का राजा था। उसका छोटा भाई 'भानुमित्र' युवराज था। उनकी बहन 'भानुश्री' का पुत्र 'बलभानु' बडा विनीत और साधु-भक्त भद्र मनुष्य था। कालकाचार्य के

१. यह वर्णन हमने 'निशीथचूर्णि' के आधार पर लिखा है।

२. घटना का यह परिशिष्ट भाग व्यवहारचूर्णि, प्रभावकचरित्र और प्राकृत तथा संस्कृत की कालक-कथाओ से लिया गया है। 'निशीथचूर्णि' मे इस बात का कुछ उल्लेख ही नहीं है कि गर्दभिल्ल को हटाकर उज्जैन का राज्याधिकार किसको दिया गया था, किंतु भद्रेश्वर की 'कथावली' में यह लिखा है कि गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट कर साहि-प्रमुख राजाओ ने बलमित्र और भानुमित्र को उज्जयिनी की राजगद्दी पर बैठाया।

३. 'कालक-कथा' मे लिखा है कि कालकाचार्य ने गोदावरी-तटस्थ प्रतिष्ठानपुर जाकर चातुर्मास्य किया, पर 'निशीथचूर्णि' मे स्पष्ट लिख दिया है कि वर्षा-चातुर्मास्य मे वे उज्जैन मे ठहरे हुए थे, कारण विशेष से बलमित्र-भानुमित्र द्वारा निर्वासित होकर प्रतिष्ठान गए। वहाँ जाकर पचमी को पर्युषणा करने की घोषणा की। जब उन्होने उज्जैन से प्रस्थान किया तब प्रतिष्ठान के श्रमण-सघ को संदेश भी भेज दिया कि मेरे आने पर पर्युषणा करना। यदि उन्होने वहीं चातुर्मास्य किया होता तो इस सदेश का अवसर ही कहाँ आता? मालूम होता है, चातुर्मास्य के प्रारंभ मे ही वहाँ कोई ऐसी घटना हो गई कि उनको उज्जयिनी का ही नहीं, बल्कि सारे अवति देश का त्याग करके चले जाने की आज्ञा मिली। यही कारण है कि वर्षा-काल मे ही उज्जैन से करीब तीन सौ मील दूर, गोदावरी-नदी के तट पर बसे हुए, प्रतिष्ठान तक उनको जाना पडा। उन्होने पंचमी के पूर्व चतुर्थी को पर्युषणा की, इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे भाद्रपद-शुक्ला दूज या तीज को प्रतिष्ठान पहुँचे होगे। यदि इसके पहले ही वहाँ पहुँच गए होते—चतुर्थी के बदले भाद्रपद की अमावस्या को अथवा उससे भी पाँच दिन पहले पहुँचे होते, तो भाद्रपद-कृष्णा दशमी को ही पर्युषणा कर लेते, क्योंकि उस समय भाद्रपद-शुक्ला पंचमी तक के किसी भी पाँच-दस आदि पर्व-दिनों मे पर्युषणा की जा सकती थी। इस कारण यदि कालक वहाँ होते भी, अथवा जल्दी पहुँच भी गए होते, तो वे पर्व को छोडकर अपर्व मे पर्युषणा न करते। इससे यह बात लगभग निश्चित ही है कि वे चौमासे मे ही उज्जैन से विहार कर प्रतिष्ठान पहुँचे थे और पचमी के पहले कोई पर्व-दिन न रहने से चतुर्थी को पर्युषणा की थी।

उपदेश से प्रतिबोध पाकर वलभानु गृहवास को छोड साधु हो गया। इससे वलमित्र और भानुमित्र आचार्य कालक पर नाराज हुए और पर्युषणा करने के पहले ही उनको देश से निर्वासित कर दिया।

कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि वलमित्र और भानुमित्र कालकाचार्य के ही भानजे थे। मातुल समझकर वे अभ्युत्थानादि से उनका वडा आदर करते थे। यह वात राजपुरोहित को अरुचिकर प्रतीत होने लगी। वह कहता था कि यह वेदवाह्य शुद्ध पाखड है। राजा के सामने वार-वार इस प्रकार कहते हुए पुरोहित को कालकाचार्य ने शास्त्रार्थ मे निरुत्तर कर दिया। तव आचार्य का द्वेषी पुरोहित अनुकूल वातो से राजा को वहकाने लगा। उसने राजा से कहा—"ये वहुत वडे महात्मा है। ऐसे महानुभाव जिस मार्ग से चले उस मार्ग से राजा के चलने अथवा इनके पदन्यासो का उल्लघन करने पर वडा अनिष्ट होता है। इसलिये इनका विसर्जन करना चाहिए।" तव राजा ने आचार्य कालक को वहाँ से विदा कर दिया।

अन्य आचार्य कहते हैं कि राजा ने वडी युक्ति से उनको विदा किया। युक्ति यह थी कि सारे नगर मे आहार दूपित करा दिया जिससे आचार्य स्वय वहाँ से निकल गए।

उपर्युक्त कारणो मे से किसी भी एक कारण से निकलकर कालकाचार्य ने प्रतिष्ठान नगर की ओर प्रयाण किया[१]। उन्होने प्रतिष्ठान के श्रमण-सघ को सदेश भेजा था कि हमारे वहाँ आने के वाद पर्युषणा करना। वहाँ पर 'सातवाहन'[२] राजा श्रावक था। आचार्य कालक का आगमन सुनकर राजा और श्रमण-सघ उनकी अगवानी करने के लिये गए। वडे आडवर के साथ आचार्य का नगर-प्रवेश हुआ। वहाँ जाते ही आचार्य ने कहा कि भाद्रपद-शुक्ला पचमी को पर्युषणा होगी। श्रमण-सघ ने स्वीकार किया। तव राजा ने कहा—"उस दिन मुझे लोकानुवृत्ति से इद्र-महोत्सव मे समिलित होना पडेगा, इसलिये साधुओ और चैत्यो की भक्ति न कर सकूँगा, अतएव षष्ठी को पर्युषणा कीजिए।" आचार्य ने कहा—"पचमी के दिन का उल्लघन नही किया जा सकता।" राजा वोला—"तो फिर आगामी चतुर्थी को पर्युषणा कीजिए।" आचार्य ने पुन कहा—"ऐसा हो सकता है।" इस प्रकार चतुर्थी के दिन पर्युषणा की गई। युगप्रधानो ने इसी कारण चतुर्थी की प्रवृत्ति की और सर्वश्रमण-सघ[३] ने उसको प्रमाण माना।[४]

१ गोदावरी नदी के किनारे रेखाश ७६ और अक्षाश २२ पर स्थित वर्त्तमान 'पैठण' ही पुराना 'प्रतिष्ठानपुर' है। मानचित्र के आधार से मालूम होता है कि उज्जैन से यह स्थान तीन सो मील के लगभग होगा। कालकाचार्य यदि चातुर्मास्य के प्रारभ मे ही उज्जैन से चले, तो प्रतिदिन छ-सात मील चलकर वे भाद्रपद-शुक्ल के प्रथम दिन तक प्रतिष्ठान पहुँच गए होगे।

२ प्राचीन चूर्णियों और सस्कृत कालक-कथाओ मे प्रतिष्ठान के राजा का नाम 'सातवाहन' लिखा है। प्राकृत कालक-कथाओ और छेदसूत्रो के भाष्यो मे इसी राजा का नाम 'सालवाहण' अथवा 'सालाहण' मिलता है।

३—४ "कालकाचार्य ने जो चतुर्थी-पर्युषणा की थी, उसी को उस समय सर्वश्रमणसंघ ने प्रमाण माना था। इतना ही नहीं, वल्कि उसके वाद भी प्रतिवर्ष भाद्रपद-शुक्ला चतुर्थी को ही पर्युषणा-पर्व मनाया जाता था, क्योंकि पर्युषणा की तरह इद्र-महोत्सव भी प्रतिवर्ष भाद्रपद-शुक्ला पचमी को ही पड़ता था। जैन राजा सातवाहन को

उज्जयिनी नगरी मे आर्य कालक नाम के गीतार्थ आचार्य विचरते थे। उनके शिष्य का शिष्य 'सागर' नाम का गीतार्थ साधु सुवर्णभूमि मे विचरता था। उस समय आर्य कालक ने सोचा—"ये मेरे शिष्य तो अनुयोग (सूत्र का अर्थ) सुनते नही हैं, फिर इनके बीच मे रहने से क्या लाभ? मै वहाँ चलूँ जहाँ अनुयोग-प्रवृत्ति हो। ऐसा करने से ये भी लज्जित होकर सुनेगे।" यह विचार कर उन्होने शय्यातर (मकान के मालिक) से कहा—"मै अन्यत्र जाता हूँ। तुम शिष्यो से यह बात न कहना। यदि वे अत्यत आग्रह करे तो उनको कठोर वचनो मे उलहना देकर कहना कि सुवर्णभूमि मे सागर के पास गए हैं।" यह कहकर रात्रि के समय शिष्यो को सोते हुए छोडकर वे सुवर्णभूमि मे चले गए। वहाँ जाकर अपरिचित वृद्ध के रूप मे सागर के 'गच्छ' मे मिल गए। सागर ने साधारण वृद्ध साधु समझकर उनका अभ्युत्थानादि आदर न किया। अर्थपौरुषी के समय सागर ने उनसे पूछा—"वृद्ध महाशय! ये अर्थ आपको ज्ञात हैं?" वृद्ध ने कहा—"हाँ, जानता हूँ।" सागर ने कहा—"अच्छा, सुनो, मै कहता हूँ।" यह कहकर सागर ने अपने गच्छ के साधुओ को अनुयोग दिया।[1]

तीसरी घटना

उधर कालक के वे शिष्य प्रातःकाल आचार्य को न देख सभ्रांत होकर उनको खोजने लगे। जब कहीं पता न लगा तब उन्होने शय्यातर (गृहस्वामी) से पूछा। शय्यातर ने उत्तर दिया—"आचार्य यदि तुम लोगो से नही कहते कि वे कहाँ जाते हैं, तो मुझसे क्योकर कहेगे?" पर जब शिष्यों ने अधीर होकर अत्याग्रह से पूछा तब शय्यातर ने कहा—"तुम लोगो से उकताकर आचार्य सुवर्णभूमि की तरफ गए है।"

लोगो ने सागर के पास यह समाचार पहुँचा दिया कि आर्य कालक नाम के बहुश्रुत आचार्य बहुपरिवार के साथ इधर आ रहे हैं, अभी वे रास्ते मे हैं। सागर ने अपने शिष्यो मे कहा—"मेरे दादा-गुरु आते हैं। उनसे मै पदार्थ पूछूँगा।" इतने मे वह शिष्य-समुदाय आ पहुँचा। आगे आनेवालों

लोकानुवृत्ति से उसमे शामिल होना पडता था। इस कारण दक्षिण-भारत मे प्रतिवर्ष चतुर्थी को ही पर्युषणा होने लगी। दूसरे स्थानो मे भी इस प्रवृत्ति का अनुकरण हुआ। कालातर मे यह कारणिक चतुर्थी पर्युषणा सर्वमान्य और सार्वदेशिक हो गई। करीब ग्यारह सौ वर्ष तक यह उसी प्रकार सर्वमान्य बनी रही। विक्रम-संवत् ११९९ मे पहले-पहल 'चद्रप्रभ' नाम के आचार्य ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया। उन्होने पचमी को पर्युषणा और पूर्णिमा को पाक्षिक प्रतिक्रमण करना फिर शुरू किया। इस तरह उन्होने अपना पूर्णिमा-पक्ष स्थापित किया। बाद मे क्रमश साधु पौर्णमिक, आचलिक, आगमिक, लोकाशाह और पार्श्वचंद्र के अनुयायियो ने भी चद्रप्रभ का अनुसरण किया। इतना होने पर भी खरतरगच्छ, तपागच्छ आदि गच्छों के अनुयायी श्वेताबर-जैन-सम्प्रदाय का अधिक समुदाय अब भी चतुर्थी के ही दिन पर्युषणा-पर्व मनाता है।"—"इस घटना का वर्णन भी हमने 'निशीथचूर्णि' के ही आधार पर किया है।"

१ 'कालक-कथा' मे इस प्रसग पर लिखा है कि सागरदत्त ने कालक को कुछ प्रश्न करने के लिये कहा। इस पर उन्होने चार्वाक्-पक्ष लेकर पूर्वपक्ष किया जिसे सुनकर सागर चुप हो गया। इसी प्रसंग पर 'प्रभावक-चरित्र' मे लिखा है कि कालकाचार्य ने सागर से अष्टपुष्पी के संबध मे प्रश्न किया था, पर सागर उत्तर न दे सका। परंतु 'कल्पचूर्णि' मे इन बातो की कुछ भी सूचना नही है।

ने पूछा—"यहाँ आचार्य आए हैं?" सागर ने कहा—"नही, आचार्य तो यहाँ नही आए। हाँ, एक अन्य वृद्ध साधु आए है। आगतुक साधुओ (शिष्यो) ने पूछा—"वे कहाँ हैं?" वास्तव्य साधुओ ने उन्हे वृद्ध का दर्शन कराया। शिष्य उनका पद-वदन करने लगे। तब सागर ने जाना कि यही आचार्य है। वह बहुत लज्जित होकर बोला—"क्षमा श्रमण! मैने आपके सामने बहुत प्रलाप किया और आपसे वदन कराया।" यह कहकर उसने मिथ्या दुष्कृत किया।

इसके बाद सागर ने आर्य कालक से पूछा—"भगवन्! मै कैसा अर्थ करता हूँ?" आचार्य ने कहा—"अच्छा। पर इस विषय का अभिमान न करना।" धूलिपुज का दृष्टात देते हुए आचार्य बोले—"जैसे धूलि एक स्थान से दूसरे स्थान मे हाथ से उठाकर रखने लगने पर कम हो जाती है वैसे ही अर्थ भी धीरे-धीरे कम होता जाता है। तीर्थ करो से गणधरो के पास और गणधरो से उनके शिष्य-प्रशिष्यादि परपरा-द्वारा हमारे आचार्य उपाध्याय तक सूत्रार्थ आया है। क्या पता है, किससे कितने अर्थ-पर्याय का लोप हुआ होगा! इसलिये इस बात का अभिमान करना न चाहिए।"

शिष्यों ने आर्य कालक से क्षमा-प्रार्थना की। आचार्य भी अपने शिष्य-प्रशिष्यो को अनुयोग देने लगे।[1]

चौथी घटना

अन्य दिन साधु भिक्षाचर्या मे गए हुए थे। उसी समय वृद्ध ब्राह्मण के रूप मे इद्र ने निगोद जीवो के सबध मे कालकाचार्य से प्रश्न किया। उत्तर मे आचार्य ने कहा—"असख्य गोलक होते हैं, एक-एक गोलक मे असख्य-असख्य निगोद और एक-एक निगोद मे अनत-अनत जीव।" आगे वृद्ध ब्राह्मण ने अनशन के निमित्त अपना आयुष्य पूछा, तब आचार्य ने कहा—"दो सागरोपम आयुष्यवाला तू इद्र है। क्या तू मेरी परीक्षा करना चाहता है?" यह सुन इद्र प्रत्यक्ष होकर बोला—"आज जब मैने सीमधर प्रभु से पूछा कि क्या भारतवर्ष मे भी इस प्रकार निगोद का व्याख्यान करनेवाला कोई है, तब प्रभु ने इस विषय मे तुम्ही को अपने सदृश बताया और कहा कि इस समय भारतवर्ष मे दो तीर्थ हैं—एक तो जगम तीर्थ आर्य कालक और दूसरा स्थावर तीर्थ श्रीविमलगिरि (शत्रुजय)।" यह कहकर जब इद्र जाने लगा तब आचार्य ने कहा कि साधुओ के आने के समय तक ठहरो। इद्र ने कहा कि साधुओ के निदान भय से मै जाऊँगा। आखिर मकान का द्वार परावर्तन करके इद्र अपने स्थान को गया। भिक्षाचर्या से लौटने के बाद जब साधुओ ने यह वृत्तात सुना तब वे सयम मे और अधिक प्रवृत्त हुए।

इस प्रकार अनेक पुरुषो को प्रतिबोध देकर स्वर्ग जानेवाले युगप्रवर श्री कालक सूरिवर भव्य मनुष्यो के लिये कल्याणकारी हो।[2]

१ तीसरी घटना का यह वर्णन हमने 'कल्पचूर्णि' के आधार पर लिखा है।

२. यह वर्णन हमने प्राकृत 'कालक-कथा' के आधार पर दिया है।

पाँचवीं घटना मामूली होने पर भी बडे महत्त्व की है। हमारे धर्मशास्त्रों मे लिखा है कि 'विद्याप्राप्ति के निमित्त साधु को पतित साधु अथवा गृहस्थ की भी सेवा करनी चाहिए।'[1] आज-कल के लोगो मे से यह भावना लगभग लुप्तप्राय हो गई है, परतु आवश्यकता पडने पर धुरधर आचार्य भी अन्यतीर्थिको की विनय करके विद्या प्राप्त करते थे। यही बात हमे कालक-सबधी निम्नलिखित घटना से ज्ञात होती है—कालकाचार्य एक बड़े निमित्त-ज्ञानी थे। उन्होने निमित्त-शास्त्र का निर्माण किया था। ये सब बाते तो हममे से बहुतो ने सुनी होगी, परतु यह शायद ही कोई जानता होगा कि हमारे धुरंधर आचार्य कालक ने वह निमित्त-ज्ञान आजीवक-मत के साधुओ से प्राप्त किया था। इस घटना का स्फोट करनेवाला उल्लेख हमे 'पचकल्पचूर्णि' मे मिलता है। उसमे लिखा है—"लोकानुयोग मे आर्य कालक का दृष्टात है। इतना पढ़कर भी वे ऐसा मुहूर्त्त न जान सके जिसमे दीक्षा देने से शिष्य स्थिर हो। इस निर्वेद मे उन्होने आजीवको के समीप 'निमित्त' पढा। बाद को जब वे प्रतिष्ठान मे ठहरे हुए थे तब सातवाहन राजा ने उनसे ये तीन प्रश्न पूछे और एक-एक प्रश्न पर लाख-लाख मुद्रा इनाम ठहराया।[2] पहला प्रश्न यह था कि पशु के पेट मे लीडियाँ (गोलियाँ) कौन बनाता है, दूसरा प्रश्न था कि समुद्र मे जल कितना है, और तीसरा था कि मथुरा कब सर होगी या न होगी? पहले प्रश्न के उत्तर मे राजा ने लक्ष-मूल्य कडा भेट किया और दूसरे उत्तर के इनाम मे कुडल अर्पण किए।[3] आचार्य ने कहा कि मुझे इसकी कोई आवश्यकता नही है, मैंने तो केवल यह निमित्त का उपचार बताया है। इस अवसर पर वहाँ आजीवक उठ खडे हुए और बोले कि यह हमारे लिये गुरुदक्षिणा है।"

पाँचवी घटना

कालकाचार्य ने आजीवकों के पास निमित्त-शास्त्र पढा था और उसके प्रयोग भी सातवाहन राजा की सभा मे किए थे—यह हमने 'पचकल्पचूर्णि' के उपर्युक्त उल्लेख से जान लिया। अब हम यह देखेगे कि कालकाचार्य ने निमित्त-शास्त्र-सबंधी कोई ग्रथ भी लिखा है या नहीं।

१. "इहाणिं विज्जत्ति अस्य व्याख्या विज्जठा उभयं रोवेत्ति। उभयं णाम पासत्थगिहत्था ते विज्ज-मंत-जोगादिणिमित्त सेवेत्यर्थ।"—'निशीथचूर्णि,' उद्देशक १, पृष्ठ ७०

२ किसी-किसी 'कालक-कथा' मे और 'युगप्रधानपट्टावली' मे एक उद्धृत गाथा दृष्टिगत होती है, जिसका तात्पर्य यह है—"आर्य कालक ने एक लक्ष स्वर्णमुद्रा के प्रण पर तीन समस्याओ की पूर्त्ति करके प्रतिष्ठान मे सातवाहन राजा को श्राद्ध-श्रावक किया।" इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि आर्य कालक ने ही निमित्त-विद्या के बल से सातवाहन को जैन श्रावक बनाया था। निमित्त-ज्ञान से दिए गए प्रश्नोत्तरो का (आगे) जो वर्णन है, इस गाथा से उसका भी समर्थन होता है।

३ राजा ने जो तीन प्रश्न पूछे है उनका तो किसी तरह पता चल जाता है, पर 'चूर्णि' मे इनके उत्तर नही बताए गए और तीसरे उत्तर के पुरस्कार का भी उल्लेख नहीं है। बात तो असल यह है कि 'चूर्णि' का यह स्थल बहुत ही अशुद्ध हो गया है, यहाँ तक कि कुछ पाठ भी खंडित हो गया जान पड़ता है।

सांध्य नृत्य

चित्रकार—श्री० शैलेंद्रनाथ दे

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)
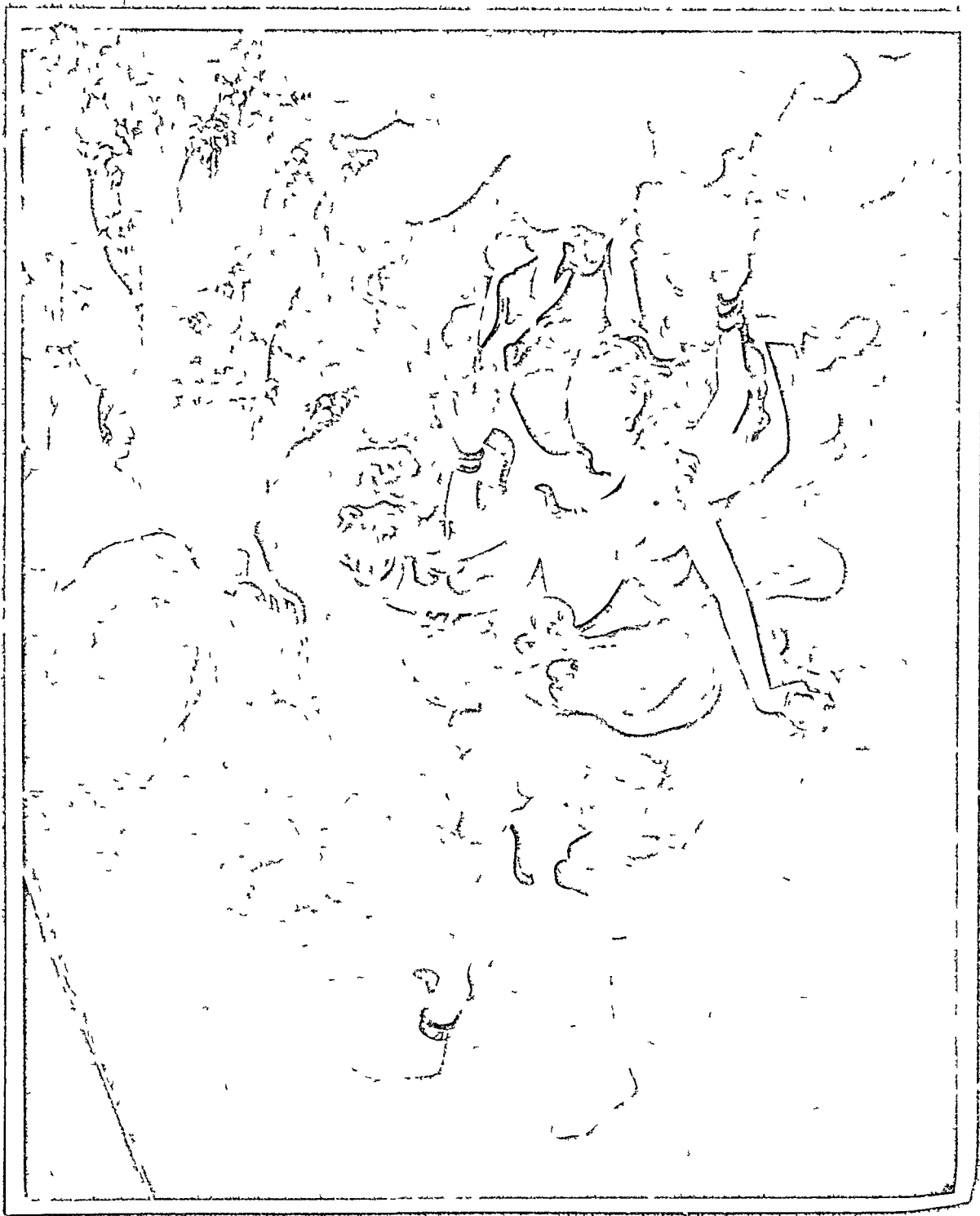
पाटन के ताडपत्रीय पुस्तक-भांडार मे, ताडपत्र पर लिखे हुए एक 'प्रकरण'[१] मे, हमने एक प्राकृत-गाथा पढ़ी थी, जिसका आशय यह है—"कालक सूरि ने प्रथमानुयोग मे जिन, चक्रवर्त्ती, वासुदेव (आदि) के चरित्र और उनके पूर्व भवो का वर्णन किया और लोकानुयोग मे बहुत बड़े निमित्त-शास्त्र की रचना की।" इससे यह बात सिद्ध होती है कि कालकाचार्य ने निमित्त-शास्त्र की रचना की थी।

'भोजसागरगणि' नामक जैन विद्वान् ने सस्कृत-भाषा मे रमल-विद्या-विषयक एक ग्रथ लिखा है। उसमे उन्होने लिखा है कि पहले-पहल यह विद्या कालकाचार्य के द्वारा यवन-देश से यहाँ लाई गई थी।[२] किंतु रमल-विद्या को यवन-देश से चाहे कालकाचार्य लाए हो या न भी लाए हो, पर इससे तो इतना सिद्ध ही है कि निमित्त अथवा ज्योतिष-विद्या के जैन विद्वान् लोग कालकाचार्य को अपने पथ का आदि-पथिक समझते थे।

वराहमिहिर के बृहज्जातक मे भी कालक-सहिता का नामोल्लेख हुआ है[३]। सभव है, वह कालक-सहिता इन्ही निमित्त-वेत्ता कालकाचार्य की कृति हो।

इन सब उल्लेखो से यह बात सिद्ध हो जाती है कि कालकाचार्य एक बहुत बडे निमित्त-वेत्ता पुरुष थे। उन्होंने इसी निमित्त-विद्या के बल से शक-कुल के 'साहि' को स्ववश किया था, और उसके साहाय्य से गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट कर साध्वी सरस्वती को छुडाया था, तथा निमित्त-शास्त्र की भी रचना की थी।

आर्य कालक दिग्गज विद्वान् के अतिरिक्त एक क्रातिकारी पुरुष भी थे। विद्वत्ता के कारण उनकी जितनी प्रसिद्धि है उससे कही अधिक उनके घटनामय जीवन से है। हमने जो उनके जीवन-प्रसगो का वर्णन 'घटना' के नाम से करना उचित समझा, उसका भी यही कारण है।

छठी घटना

घटना-मूर्त्ति आर्य कालक का प्रत्येक जीवन-प्रसग साधु-स्थिति के सामान्य जीवन-लक्षण से कुछ आगे बढ़ा हुआ है। कदाचित् यह बात स्पष्ट करके समझाने की आवश्यकता अब न रही। अच्छा, तो अब हम देखेंगे कि जैनसाहित्य के मार्ग मे भी इन घटनामय-जीवन-धारी आचार्य ने अपने ज्ञान और प्रकृति-स्वातन्त्र्य का कुछ परिचय दिया है या नही। पहले हम पाँचवी घटना के वर्णन में एक प्राकरणिक गाथा का तात्पर्य दे चुके हैं, जिसमे यह कहा गया है कि 'कालक सूरि ने प्रथमानुयोग मे

१ इस 'प्रकरण' का नाम नहीं मालूम हुआ। लगभग चौदहवीं सदी के लिखे हुए ताडपत्र पर था, किंतु जाँच करने पर भी इसका नाम ज्ञात न हुआ।

२ बहुत दिन पहले 'जैन-शासन' नामक साप्ताहिक पत्र मे भोजसागरजी के इस रमल-विद्या-विषयक सस्कृत-ग्रंथ का अवलोकन (परिचय) निकला था, उसी की स्मृति के अनुसार यहाँ यह बात लिखी गई है। वह 'पत्र' या 'ग्रथ सप्रति उपस्थित नहीं है।

३ 'बृहज्जातक' की मुद्रित पुस्तक मे 'वकालकसहिता' लिखा है जो अशुद्धि का परिणाम जान पडता है। वराहमिहिर जैनाचार्यो से अच्छा परिचय रखते थे। उन्होने अपने उसी ग्रथ मे 'सिद्धसेन' का भी मतोल्लेख किया है। इससे यही ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने ग्रंथ मे 'कालकसहिता' का ही निर्देश किया है, पर उसमे लेखन-दोष से 'व' अधिक मिल जाने के कारण वह अशुद्ध और अबोध 'वकालकसहिता' बन गया।

जिन, चक्रवर्त्ती, वासुदेव (आदि) के चरित्र और उनके पूर्व भवो का वर्णन किया।' इससे पता चलता है कि कालकाचार्य ने 'प्रथमानुयोग' नामक सिद्धांत-ग्रथ की रचना की थी जिसमे तीर्थंकर चक्रवर्त्ती वासुदेव-प्रमुख शलाका पुरुषो के जीवन-चरितो का वर्णन किया था।

पूर्वोक्त घटना के समर्थन मे 'पचकल्पचूर्णि' का जो उद्धरण पहले दिया गया है, उससे संबद्ध इतनी बात और है—"पीछे कालक ने सूत्र के नष्ट होने पर 'गडिकानुयोग' बनाए। पाटलिपुत्र के श्रमण-सघ ने उस गडिकानुयोग को सुनकर प्रमाण माना, प्रतिष्ठित किया—यह सोचकर कि सग्रहणियाँ भी अल्प स्मृतिवाले विद्यार्थियों के लिये उपकारिणी होगी, इसी विचार से वे सूत्रो का अंग मानी गई। प्रथमानुयोग आदि (शास्त्र) भी कालक ने बनाए।"

'चूर्णि' के इस उद्धरण से दो बाते सिद्ध होती हैं। पहली यह कि सूत्रो का नाश होते देख, इस विचार से कि सुख-पूर्वक अथवा सुगमता-पूर्वक स्मरण हो सके या रह सके, कालकाचार्य ने नष्ट हुए अथवा नष्ट होते हुए सूत्रार्थो का सग्रह गडिकाओ[1] मे किया, तथा दूसरी यह कि जो सूत्र विद्यमान थे और जिनके नाश की सभावना कम थी उन पर भी सग्रहणियाँ[2] बना डाली, जिन्हे कठस्थ कर लेने से सारे सूत्रो के प्रकरणो का अर्थाधिकार सुखपूर्वक स्मरण रह सकता था। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, वासुदेव आदि महापुरुषो की जीवन-कथाओ के एक बृहत्सग्रह को रचना भी की और उसका नाम 'प्रथमानुयोग'[3] रक्खा। अपनी इन सब कृतियो को पाटलिपुत्र नगर मे श्रमण-सघ को सुनाकर स्वीकृत कराया।

नदीसूत्र मे 'मूलप्रथमानुयोग' और 'गडिकानुयोग' का उल्लेख मिलता है। वहाँ 'प्रथमानुयोग' के साथ लगा हुआ 'मूल' शब्द नदी के रचना-काल मे दो प्रथमानुयोगो के अस्तित्व की गूढ सूचना देता है। यद्यपि टीकाकार इस 'मूल' शब्द का प्रयोग तीर्थंकरो के अर्थ मे हुआ बताते हैं, तथापि वस्तुस्थिति कुछ और ही मालूम होती है।

१. एक-एक अर्थाधिकार को लेकर रचे हुए प्रकरण का नाम 'गंडिका' है। नंदी-टीका मे (२४१ पृष्ठ पर) ऐसा ही लिखा है—"इक्ष्वादीना पूर्वापरपर्वपरिच्छिन्नो मध्यभागो गण्डिका, गण्डिकेव गण्डिका-एकार्थाधिकारा ग्रन्थपद्धतिरित्यर्थ।"

२. सूत्रों के अध्याय अथवा उद्देशकों के अर्थाधिकार-सूचक आदि पदो को बीजक की तरह एकत्र करके बनाई हुई गाथाओ के सग्रह को 'सग्रहणी' कहते है। पहले हमारे प्रत्येक सूत्र पर इस प्रकार की संग्रहणियाँ बनी हुई थीं। अब भी कहीं-कही ऐसी संग्रहणी-गाथाएँ विद्यमान है जिनको टीकाकार अध्याय या शतक के प्रारंभ मे लिखकर एक साथ समस्त प्रकरणों के अर्थाधिकारो की प्रथम सूचना दिया करते हैं।

३ यद्यपि 'आवश्यक-मूलभाष्य' मे 'चरणकरणानुयोग' पहला कहा गया है और 'धर्मकथानुयोग' दूसरा, तथापि इस कथानुयोग को 'प्रथमानुयोग' कहने से यह ज्ञात होता है कि पहले के चार अनुयोगो मे 'धर्मकथा-नुयोग' का नबर पहला होगा। कही-कहीं 'वसुदेवहिंडि' का भी 'प्रथमानुयोग' के नाम से उल्लेख किया गया है, पर वस्तुत. 'वसुदेवहिंडि' तो 'प्रथमानुयोग' का एक अशमात्र है।

'आवश्यक निर्युक्ति' आदि जैन-सिद्धांत-ग्रथो मे यह बात स्पष्ट लिखी मिलती है कि आर्य रक्षित सूरि जी ने अनुयोग को चार विभागो मे बाँट दिया था[1] जिसके एक विभाग का नाम 'धर्मकथानुयोग' था। इस धर्मकथानुयोग मे उत्तराध्ययन ऋषि-भाषित आदि सूत्रो को रक्खा था[2]। परतु नदीसूत्र मे मूलप्रथमानुयोग का जो वर्णन दिया है, वह इस आर्य रक्षितवाले धर्मकथानुयोग के साथ मेल नही खाता। मूलप्रथमानुयोग मे क्या विषय है ? इस प्रश्न के उत्तर मे नदी-सूत्रकार कहते हैं—"मूलप्रथमानुयोग मे तीर्थंकर भगवन्तो के पूर्वभव, देवगति, आयुष्य, च्यवन, जन्म, अभिषेक, राज्यलक्ष्मी, दीक्षा, तप, उपसर्ग, केवल ज्ञान, तीर्थप्रवर्त्तन आदि का वर्णन और उनके शिष्य, गण, गणधर, आर्या, चतुर्विध संघ, केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, पूर्वधर, वादी, अनुत्तरगतिगामी, वैक्रियलब्धिधारी, सिद्धिगतिगामी आदि का परिमाण-निरूपण तथा तीर्थंकरो के अनशन आदि विषयों का वर्णन है[3]।"

आर्य कालक के 'प्रथमानुयोग' के वर्णन मे भी हम यही देख आए हैं कि उसमे उन्होने तीर्थंकर चक्रवर्त्ती वासुदेवो के पूर्वभवो तथा चरित्रो का वर्णन किया है। इससे यदि यह मान लिया जाय कि नदीसूत्र मे जिन मूल प्रथमानुयोग और गडिकानुयोगो का वर्णन दिया है वे दोनो ही कृतियाँ आर्य कालक की हैं, तो क्या आश्चर्य है ? आर्य रक्षित सूरि ने निर्वाण की छठी सदी के अंतिम[4] चरण मे अनुयोगो की व्यवस्था की थी, तब आर्य कालक ने निर्वाण की पाँचवी सदी के तृतीय चरण मे 'प्रथमानुयोग' की रचना की। इस प्रकार सत्ता-काल के विचार से भी कालकाचार्य का 'प्रथमानुयोग' आर्य रक्षित के अनुयोग-विभाजन के पूर्व—करीब सवा सौ वर्ष पहले—बना था। इस कारण से भी यदि उसे 'मूलप्रथमानुयोग' कहा हो तो कुछ अघटित नही है।

इस विषय मे यह भी नही कह सकते कि नदीसूत्रोक्त 'प्रथमानुयोग' और 'गडिकानुयोग' तीर्थंकर-कालीन गणधर-निर्मित कृतियाँ होगी, क्योकि गडिकानुयोग मे जिन गडिकाओ का नाम-निर्देश किया गया है[5] उनमे एक 'भद्रबाहुगडिका' भी है। यदि ये गडिकाएँ तीर्थंकर-कालीन होती, तो इनमे 'भद्रबाहुगडिका' प्रभृति के उल्लेख न होते, पर नदीसूत्र मे 'भद्रबाहुगडिका' आदि के भी नाम गिनाए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ये 'अनुयोग' भद्रबाहु के बाद की कृतियाँ हैं।

१ देखिए—"आवश्यक सूत्र सटीक", पृष्ठ २९६, गाथा १७४

२ देखिए—"आवश्यक सूत्र सटीक", पृष्ठ ३०९, गाथा १२४

३. देखिए—"नदीसूत्र सटीक", पृष्ठ २३७

४ माथुरी वाचनानुसारि आवश्यकनिर्युक्ति के लेखानुसार आर्य रक्षित जी का स्वर्गवास निर्वाण-संवत् ५८४ मे हुआ था। तब वालभी वाचनानुयायी युगप्रधानपट्टावलियो की गणना के अनुसार यही घटना नि० सं० ५९७ में हुई थी।

५. नदीसूत्र मे पृष्ठ २३७ पर गडिकाओ की परिगणना देखिए।

दुर्भाग्यवश आज 'मूलप्रथमानुयोग' अथवा 'प्रथमानुयोग' का कही अस्तित्व न रहा। इतना ही नहीं, बल्कि उसके आधार पर बने हुए 'प्रथमानुयोगसारोद्धार'[1] जैसे उद्धार-ग्रथों का भी कहीं पता नही है। फिर भी इन महान् कथानुयोग-सिद्धांतो का निरन्वय नाश नही हुआ। वसुदेवहिंडि, शीलांकाचार्य का महापुरुषचरित्र, भद्रेश्वर की कथावली, हेमचद्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि कथा-साहित्य उसी प्रथमानुयोग का संक्षिप्त रूप है, जो एक समय कालकाचार्य के नाम को उज्ज्वल बनाए हुए था। 'दुष्षमाकालगंडिका' आदि प्रकरण भी उन्ही गडिकाओ के भग्नावशेष हैं जिन्हे कालक ने पाटलिपुत्र की सघसभा मे सुनाया था।

सातवी घटना का सवध सभवत' प्रथम कालकाचार्य से है। 'आवश्यकनिर्युक्ति' की एक गाथा (८६५) मे उल्लिखित सामायिक के आठ दृष्टांतो मे तीसरा दृष्टात आर्य कालक का है जिसका वर्णन 'आवश्यकचूर्णि' मे इस प्रकार मिलता है—"तुरुविणी नगरी मे 'जितशत्रु' नामक राजा था। वहाँ 'भद्रा' नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी जिसके पुत्र का नाम 'दत्त' था। भद्रा के एक भाई था जिसने जैन मत की दीक्षा ली थी, उसका नाम था 'आर्य कालक'। दत्त जुआड़ी और मदिरा-प्रसंगी था। वह राजसेवा करते-करते प्रधान सैनिक के पद तक पहुँच गया। पर अत मे उसने विश्वासघात किया। राजकुल के मनुष्यों को फोडकर उसने राजा को कैद किया और स्वय राजा वन वैठा। उसने वहुत-से यज्ञ किए। एक वार वह अपने मामा 'कालक' के पास जाकर वोला कि मै धर्म सुनना चाहता हूँ; कहिए, यज्ञो का फल क्या है? कालक ने धर्म का स्वरूप वताया। दत्त ने फिर वही प्रश्न दुहराया। तव कालक ने अधर्म का फल कहा। दत्त ने पुनः तीसरी वार पूछा, तव कालक ने अशुभ कर्मों के उदय का निरूपण किया। दत्त ने कहा, मैं यज्ञ का फल पूछ रहा हूँ। कालक ने कहा, यज्ञ का फल नरक है। दत्त ने कहा, इसका प्रमाण क्या है? कालक बोले, यही कि तू आज से सातवे दिन कुंभी मे पकता हुआ कुत्तो से नोचा जायगा। दत्त—इसकी भी सत्यता का प्रमाण क्या है? कालक—इसकी सत्यता का प्रमाण यह है कि सातवे दिन तेरे मुख मे अकस्मात् विष्टा गिरेगी। दत्त—तव तेरी मृत्यु कैसे होगी? कालक—मैं वहुत काल तक प्रव्रज्या-पालन करके 'देवलोक' जाऊँगा। यह सुनकर दत्त ने रोषपूर्वक अपने सैनिको को आदेश दिया कि इसको रोक रक्खो। किंतु दत्त से सैनिक असतुष्ट थे। उन्होने पदभ्रष्ट राजा से कहलाया, तुम यहाँ आ जाओ, हम इसको वाँधकर तुम्हे सौंप दे। वह (पदभ्रष्ट राजा) गुप्त रहने लगा। दत्त दिन गिनते-गिनते भूल गया। सातवे दिन को आठवाँ मानकर राजमार्ग को साफ कराकर उसके रक्षणार्थ पहरे वैठाल दिए। एक देवकुलिक ने सुवह हाथ मे फूलों की टोकरी लिए उस मार्ग मे प्रवेश किया, और वहाँ अशौच करके फूलों से ढँककर चला गया। दत्त भी सातवे दिन अश्वसेना से परिवृत हो आचार्य की तरफ

सातवीं घटना

[1] एक 'कल्पसूत्र' की पुस्तक के अत मे 'कालक-कथा' है जिसमे एक गाथा के अवतरण मे दिए हुए एक प्रतीक से ज्ञात होता है कि 'प्रथमानुयोग' के आधार से वना हुआ 'प्रथमानुयोग-सारोद्धार' नामक ग्रंथ भी पहले विद्यमान था जिसका अव कहीं पता नहीं है।

जाने लगा। वह सोच रहा था कि अभी जाकर श्रमणक (साधु) को मारता हूँ। अशौचवाले स्थान के पास पहुँचते ही एक अश्वकिशोर का पैर पुष्पो से ढँकी हुई विष्ठा पर पडा और उसकी बूँद उछलकर दत्त के मुख मे जा गिरी। दत्त ने समझा, मारा जाऊँगा। तब वह सैनिको से बिना कहे ही वापस जाने लगा। सैनिक समझे कि भेद खुल गया और जब तक यह राजभवन मे न पहुँचे तब तक इसे पकड ले। उन्होने उसे बीच मे ही पकड लिया और पहले के राजा को बुलाकर दत्त को उसके सुपुर्द किया। जितशत्रु ने दत्त को कुंभी मे डालकर ऊपर से कुत्ते छोड दिए और नीचे आग जला दी। ताप से आकुल होकर कुत्तो ने दत्त को टुकडे-टुकडे कर नोच लिया। इस प्रकार सत्य वचन बोलना चाहिए, जैसे कालकाचार्य बोले।"—इस कथानक का सक्षिप्त सार 'आवश्यकनिर्युक्ति' की निम्नलिखित गाथा मे भी सूचित किया है—

> "दत्तेण पुच्छिओ जो, जण्णफल कालओ तुरुमिणीरा।
> समयारा आहिराण, सम वुइयं भय तेण ॥८७१॥"

घटनास्थलों की मीमांसा

यद्यपि घटनाओ के वर्णन मे उनके आधारभूत स्थलो का भी नाम-निर्देश हो चुका है, तथापि उनके विषय मे जो-जो मतभेद हैं उनका उल्लेख वहाँ नही किया है, इसलिये अब यहाँ इन बातो पर विचार करना आवश्यक है।

पहली घटना के साथ दो स्थलो का उल्लेख है—उज्जयिनी और पारसकूल। उज्जयिनी मे सरस्वती साध्वी का अपहरण हुआ था। पारसकूल मे वहाँ के 'साहि'-उपाधिधारी मांडलिक राजाओ की सहायता से गदभिल्ल का उच्छेद करके कालक ने सरस्वती को छुड़ाया था।

कालक-सबधी सभी कथा-प्रबधो मे 'उज्जयिनी' के विषय मे तो ऐकमत्य है, परतु 'पारसकूल' के भिन्न-भिन्न नाम भिन्न-भिन्न ग्रथो मे मिलते हैं। प्राकृत कालक-कथा मे 'पारसकूल' की जगह 'शककूल' नाम मिलता[1] है। प्रभावकचरित्रातर्गत कालक-प्रबध मे इस स्थान का नाम 'शाखिदेश' लिखा है[2]। कल्पसूत्र मूल के साथ छपी हुई सस्कृत 'कालक-कथा' मे इस स्थान को 'सिधु नदी का पश्चिम पार्श्वकूल' लिखा है[3]। फिर 'हिमवत थेरावली' मे इसी स्थल का नाम 'सिधु देश' कहा है[4]।

१ "अह सूरी सगकूले, वच्चइ इग साहिणो समीवमि।"—'कालक-कथा', पृष्ठ ४

२ "शाखिदेशश्च तत्रास्ति राजानस्तत्र शाखय।"—प्रभावक-चरित्र—कालकप्रबध, पृष्ठ ३६

३. "श्रुत्वेति सूरिर्गत एव सिन्धोर्नद्यास्तटं पश्चिमपार्श्वकूलम्।"—कालकाचार्यकथा, पृष्ठ २

४ "कोहक्तो कालिगज्जो तओ विहार किच्चा सिधुजणवए पत्तो। तत्थ णरज्जकुणमाणं सामतणामधिज्जं सगराय सुवण्ण सिहित्ता वज्ज हय गया इपयऽसेणोवेय कालिगज्जो अवती णपरी समीवे ठावेइ।"

—हिमवतथेरावली, पृष्ठ ७

इन भिन्न-भिन्न नामों मे हमारी समति मे 'पारसकूल' नाम ही सही है, जिसका उल्लेख इस विषय के सबसे पुराने ग्रंथ 'निशीथचूर्णि'[१] में है। 'पारस' का तात्पर्य 'फारस'[२] देश है, और 'कूल' का अर्थ है 'किनारा'[३]। इसलिये 'पारस-कूल' का अर्थ 'फारस का किनारा' होगा। यह 'फारस का किनारा' सभवतः 'फारस की खाडी' के निकट का ईरान प्रदेश होगा और 'पारसकूल' ही 'शककूल' भी कहलाता होगा, क्योंकि वहाँ के निवासी लोग 'शक'-जाति के हैं, अतः उस प्रदेश का 'शककूल' नाम भी संगत है।

'शाखिदेश' नाम ता अप्रसिद्ध है, क्योकि वहाँ के मांडलिक राजा 'साहि'[४] अथवा 'शाह' कहलाते थे। सस्कृत-लेखको ने सस्कृत मे उस 'साहि' को 'शाखि' और उनके देश को 'शाखिदेश' लिख दिया है। वस्तुतः यह किसी देश का प्रसिद्ध नाम नही है। इसी प्रकार 'सिंधु नदी का पश्चिमी किनारा' कहने से भी किसी खास देश का बोध नही हो सकता और 'सिधु देश' का उल्लेख भी ठीक नही जॅचता। कालक-कथाओ मे सिधु नदी पार होकर[५] सौराष्ट्र मे कालकाचार्य के आने का उल्लेख है, पर यह भ्रांतिशून्य नही है, क्योकि सिधु नदी पार करके पजाब अथवा सिंध मे जा सकते हैं, सौराष्ट्र मे नहीं। परतु यह बात तो सभी लेखक एक-स्वर से स्वीकार करते हैं कि कालकाचार्य सौराष्ट्र मे ही उतरे थे[६]। यदि वे साहियों के साथ सिधु नदी पार कर हिदुस्तान मे आए होते, तो सौराष्ट्र मे किसी प्रकार न उतर सकते। इससे यही सिद्ध होता है कि वे सिंधु-नदी नही, बल्कि सिंधु[७]—समुद्र—के द्वारा सौराष्ट्र मे उतरे थे। 'निशीथचूर्णि' मे तो सौराष्ट्र मे ही उतरने का उल्लेख है, वहाँ सिंधु नदी का नामोल्लेख नही है। संभव है, 'सिंधु' के साथ 'नदी' शब्द पीछे से जुड गया हो।

जिस देश मे कालक गए थे वहाँ के राजाओ के 'साहि' (शाह) और 'सहाणुसाहि' (शाहशाह)[८]-जैसे नामो से भी यही प्रमाणित होता है कि वह देश फारस (ईरान) ही था। वहाँ की प्रजा

१ 'निशीथचूर्णि' मे कहीं 'पारसकुल' और कही 'पारिसकुल' लिखा मिलता है। 'कुल' शब्द सर्वत्र ह्रस्व ही लिखा है, पर चाहिए दीर्घ। 'कथावली' मे सर्वत्र दीर्घ ही है। कतिपय लेखक 'कुल' शब्द को 'जाति'-वाचक मानकर उसका निर्वाह करते हैं, पर वह ठीक नहीं है। यहाँ 'कूल' शब्द ही सार्थक है।

२. ईरान देश के ही दक्षिण-भाग का नाम 'फारस' है जिसके दक्षिण मे ईरान का अखात अथवा फारस की खाड़ी है, जहाँ से लोग अरब-समुद्र द्वारा कराची या काठियावाड़ आते हैं।

३. "कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु"—इत्यमर

४. "साहि त्ति राया भण्णति"—(निशीथचूर्णि), "साही नाम राया"—(कथावली)

५ "उत्तरिउ सिंधुनइ, कमेण सोरठ मडलं पत्तो।"—(कालक-कथा)

६. प्रत्येक कालक-कथा, कथावली और निशीथचूर्णि मे यही लिखा है कि साहियो के साथ कालक सौराष्ट्र-मंडल मे उतरे थे।

७ "उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान्सागरोऽर्णवः"—इत्यमरः।

८ हमारी समझ मे 'साहि' और 'साहाणुसाहि' प्राचीन फारसी भाषा के विकृत शब्द हैं। जिस प्रकार संस्कृत मे 'मडलपति' के लिये 'राजा' और 'देशपति' के लिये 'राजाधिराज' शब्द प्रचलित हैं, उसी प्रकार पहले फारसी मे मडलपति के लिये 'साहि' और राजाधिराज के लिये 'साहाणुसाहि' शब्द प्रचलित रहे होगे।

'पारसी' कहलाती थी और वहाँ के राजवशी लोग शक-जाति के थे। इसी कारण इस देश का नाम कहीं 'पारस' और कही 'शक' लिखा है।

दूसरी घटना के साथ भी दो स्थलो के नाम सबद्ध हैं—'उज्जयिनी' और 'प्रतिष्ठान'। इस विषय के सभी प्रबधकार इस बात मे तो एकमत हैं कि कालकाचार्य ने प्रतिष्ठानपुर मे चतुर्थी का पर्युषणा-पर्व किया था, पर उस समय कालक कहाँ से प्रतिष्ठानपुर गए थे, इस विषय मे दो मत हैं। 'निशीथचूर्णि' और एक प्राकृत 'कालक-कथा' मे उज्जयिनी के बलमित्र-भानुमित्र के दुर्व्यवहार से कालक के उज्जयिनी से प्रतिष्ठानपुर जाने का उल्लेख है। किंतु एक दूसरी प्राकृत 'कालक-कथा' और प्रभावकचरित्रातर्गत 'कालक-प्रबध' तथा संस्कृत 'कालक-कथा' मे लिखा है कि वे 'भरोच' से प्रतिष्ठान गए थे। इन दो तरह के परस्पर-विरोधी उल्लेखो का कारण क्या है, इसका हमे अवश्य विचार करना चाहिए।

दोनो तरह के लेखको ने यह बात तो एक-स्वर से स्वीकार ही की है कि कालकाचार्य को बलमित्र-भानुमित्र के दुर्व्यवहार से विहार करना पडा था, पर जहाँ से विहार किया था उस स्थान के सबंध मे ही मतभेद है। अब यह देखना चाहिए कि बलमित्र और भानुमित्र वास्तव मे भरोच के राजा और युवराज थे अथवा उज्जयिनी के। इस विषय मे मेरुतुग सूरि ने अपनी 'विचारश्रेणि' मे लिखा है कि "बलमित्र और भानुमित्र ने साठ वर्ष भरोच मे राज्य किया था, और कल्पचूर्णि मे जिन उज्जयिनीपति एव कालकाचार्य-निर्वासक बलमित्र-भानुमित्र का उल्लेख है वे कोई दूसरे[1] थे।" इससे यह ध्वनित होता है कि उज्जयिनी और भरोच मे उक्त नाम के भिन्न-भिन्न राजा और युवराज थे। परतु जहाँ तक हमने इस विषय मे खोज की है, यही ज्ञात हुआ कि भरोच के बलमित्र-भानुमित्र ही उज्जयिनी के बलमित्र-भानुमित्र थे। इनको दो स्थानो का राजा लिखने का कारण यह है कि ये पहले भरोच के ही राजा थे, पर जब कालकाचार्य पारस देश से शको को उज्जयिनी पर चढा लाए तब काठियावाड से मालवा जाते समय कालक ने इन दोनो को भी भरोच से साथ ले लिया था। 'कथावली' आदि के मत से भी गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट करने के बाद ही ये उज्जयिनी के राजा और युवराज बनाए गए थे[2]। एक दूसरे मत से चार वर्ष तक शकों के राज्य करने के बाद इन्होने उज्जयिनी का अधिकार प्राप्त किया था[3]

१ "यौ तु कल्पचूर्णौ चतुर्थीपर्वकर्तृ कालकाचार्यनिर्वासकौ उज्जयिन्या बलमित्र-भानुमित्रौ तावन्यावेव।"—विचारश्रेणि, पृष्ठ २

२ 'कथावली'—२,२८९

३ आचार्य मेरुतुग ने अपनी 'विचारश्रेणि' नाम की स्थविरावली-टीका मे इस पर जो कुछ लिखा है उसका आशय यह है—"गर्दभिल्ल ने उज्जयिनी मे तेरह वर्ष तक राज्य किया। इसी बीच कालकाचार्य ने सरस्वतीवाली घटना के कारण गर्दभिल्ल का उच्छेदन कर वहाँ शको को स्थापित किया। शको ने वहाँ चार वर्ष तक राज्य किया। इस प्रकार सत्रह वर्ष हुए। उसके बाद गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने उज्जयिनी का राज्य प्राप्त किया और सुवर्ण-पुरुष की सिद्धि के बल से पृथिवी को उऋण कर विक्रम-सवत्सर चलाया।"—हमारे खयाल से यह गर्दभिल्ल-पुत्र विक्रमादित्य ही 'बलमित्र' है। संस्कृत मे 'बल' और 'विक्रम' तथा 'मित्र' और 'आदित्य' एकार्थक

जो हो, पर इतना तो लगभग निश्चित है कि सरस्वती-गर्दभिल्लवाली घटना के पहले वलमित्र-भानुमित्र भरोच के राजा थे और इस घटना के बाद तुरत या कुछ दिनो के बाद वे उज्जयिनी के राजा एवं युवराज बने थे। उनको कही भरोच और कही उज्जयिनी का राजा लिखने का कारण यही है कि भिन्न-भिन्न समय मे वे दोनो स्थानो के राजा थे।

अब, इस बात का निर्णय करना बाकी रहा कि चतुर्थी की पर्युषणा के समय कालकाचार्य उज्जयिनी से प्रतिष्ठान गए थे या भरोच से। यदि हम इस विषय मे दूसरे कथा-चरित्रो की अपेक्षा प्राचीन चूर्णियो पर अधिक विश्वास रख सकते हैं, तो यही कहना चाहिए कि वे उज्जयिनी से निर्वासित होकर प्रतिष्ठान गए थे। भरोच से कालक का निर्वासन वतानेवाले प्रवधो के वचन को ठीक न मानने का दूसरा कारण यह भी है कि वे भरोच पर प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन की चढाइयो के समय भी भरोच मे बलमित्र-भानुमित्र का ही राज्य वताते हैं,[1] जो प्राचीन चूर्णियो के मतानुसार ठीक नहीं है, क्योकि चूर्णियो मे सर्वत्र यही मिलता है कि सातवाहन की चढ़ाइयो के समय भरोच मे 'नहवाहन' राजा था[2]। यही ठीक भी है। पिछले लेखको ने कालक के भानजे वलमित्र और भानुमित्र को सदा के लिये ही भरोच का राजा और युवराज मान लिया है, इसी लिये यह भूल हो गई है।

तीसरी घटना के साथ दो स्थलो का सबध है—'उज्जयिनी' और 'सुवर्णभूमि'। उत्तराध्ययन-निर्युक्ति, कल्पचूर्णि और प्राकृत कालक-कथा आदि ग्रथो के लेखानुसार आर्य कालक उज्जयिनी मे अविनीत शिष्यो को छोडकर सुवर्णभूमि[3] मे 'सागर' के पास गए थे। पर कतिपय प्रवधो मे इस विषय का मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। सस्कृत कालक-कथा मे इस प्रसग का केवल दो पद्यो मे वर्णन है। पहले पद्य का सार यह है कि 'दूसरे दिन कालकाचार्य अपने प्रमादी शिष्यों को छोडकर स्वर्णमहीपुर मे अकेले रहनेवाले सागरचद्र सूरि के पास[4] चले गए।' इसमे इस वात का कुछ भी उल्लेख नही है कि कहाँ से विहार कर कालक स्वर्णमहीपुर गए थे। इस अस्पष्ट उल्लेख पर हम अधिक टीका-टिप्पणी करना नही चाहते, पर इसमे एक वात ऐसी कही है जिसका निर्देश किए विना हम आगे भी नही वढ़

शब्द हैं, इसलिये 'वलमित्र' और 'विक्रमादित्य' का अर्थ एक ही है। संभव है, वलमित्र ही उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठने के बाद 'विक्रमादित्य' के नाम से प्रख्यात हुआ हो, अथवा उस समय वह 'वलमित्र' और 'विक्रमादित्य' दोनो नामो से प्रसिद्ध हो।

१—देखिए—"प्रभावकचरित्र-पादलिप्तप्रवन्ध", पृष्ठ ६६, श्लोक ३०७,३०८,३०६

२—देखिए—"आवश्यकचूर्णि", पृष्ठ २०० और "कल्पचूर्णि", पृष्ठ ११

३—'सुवर्णभूमि' किस प्रदेश का नाम था, इसका कुछ पता नहीं चलता। ब्रह्मदेश को 'सुवर्णभूमि' कहते थे, पर यहाँ ब्रह्मदेश का समावेश संभव नहीं है। कतिपय लेखक 'सुवर्णभूमि' के स्थान मे 'सुवर्णपुर' अथवा 'स्वर्णपुर' लिखते हैं, पर ऐसा लिखने का कारण वे ही जाने। हमने जहाँ-जहाँ इस घटना का प्राचीन वर्णन देखा है, सर्वत्र 'सुवर्णभूमि' का ही उल्लेख है, 'सुवर्णपुर' का कहीं नही।

४ "अथाऽन्यदा कालवशेन सर्वान् प्रमादिनः सूरिवराश्च साधून्।
त्यक्त्वा गता. स्वर्णमहीपुरस्थानेकाकिन' सागरचन्द्रसूरीन् ॥ ४७—सस्कृत-कालक-कथा, पृष्ठ ५

सकते। वह बात है सुवर्णभूमि मे सागरचद्र के एकाकी होने की। कल्पचूर्णि के लेखानुसार कालक सुवर्णभूमि मे जाकर सागर के गच्छ मे मिल जाते है[1] और जनसवाद से कालक के आगमन की बात सुनकर सागर अपने शिष्यो से कहते हैं कि 'मेरे दादा-गुरु आते हैं[2]।' यदि सागरचंद्र अकेले थे तो उनका गच्छ कैसा और शिष्यो के आगे कहना कैसा? 'प्रभावक-चरित्र'-कार ने तो इस विषय मे एक नई ही बात कह डाली है। कालकाचार्य ने कहाँ पर अविनीत शिष्यो को छोडा, इसका तो वहाँ स्पष्ट उल्लेख नही है, पर वे कहते है कि आर्य कालक अविनीत शिष्यों को छोडकर 'विशाला' (उज्जयिनी)[3] गए। 'उत्तराध्ययन-निर्युक्ति'-जैसे सूत्र तो कालक का उज्जयिनी से सुवर्णभूमि मे जाना बताते है, किंतु प्रभावक-चरित्रकार किसी अज्ञात स्थान से कालक को उज्जयिनी भेजते है—यह कितनी विचित्रता है! जो हो, पर यह बात तो निश्चित है कि जहाँ से कालक ने विहार किया था वह स्थल था मालवा की राजधानी उज्जयिनी, और जहाँ वे गए थे उस प्रदेश का नाम था सुवर्णभूमि।

चौथी घटना कहाँ घटी थी, इसका ठीक पता नही चलता[4]। 'कथावली' और प्राकृत तथा सस्कृत कालक-कथाओ मे इस घटना का वर्णन अवश्य है, पर वहाँ यह नही लिखा कि यह घटना अमुक स्थान पर घटी। इस प्रसग के पूर्व सुवर्णभूमिवाली घटना का वर्णन है, और उसकी समाप्ति के अनंतर ही प्रस्तुत घटना का उल्लेख है। प्रभावक-चरित्र मे इस विषय को यह सूचित करके छोड़ दिया है कि इस प्रसग को आर्य रक्षितवाले प्रसग के अनुसार समझ लेना[5]। धर्मप्रभ सूरि-कृत प्राकृत 'कालककथा' मे[6] इस घटना का उल्लेख ही नही है। इससे यह सूचित होता है कि कथा-प्रसिद्ध कालक के साथ इस घटना का वास्तविक सबध नही है। इस विषय मे यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि इस चौथी घटना के स्थल का ठीक पता नही है।

पाँचवी घटना के सबंध मे इतना तो प्राय: निश्चित है कि आर्य कालक ने निमित्त-शास्त्र का अभ्यास प्रतिष्ठानपुर मे किया था। पर निमित्त-सहिता का निर्माण कहाँ किया, यह जानना कठिन है। छठी घटना का स्थल पाटलिपुत्र नगर था, यह बात उसके वर्णन से ही सिद्ध होती है। सातवी घटना

१ "तत्थ खंतलक्खेण गतु पविट्ठा सागराणं गच्छं।"—कल्पचूर्णि, पृष्ठ १७

२. ताहे सागरा सिस्साणं पुरओ भणति मम अज्जया इति।"—कल्पचूर्णि, पृष्ठ १८

३ देखिए—"प्रभावक-चरित्र—कालक-सूरि-प्रबध", पृष्ठ ४५, श्लोक १३०-३१,१३७-३८

४ कोई-कोई 'यह घटना प्रतिष्ठानपुर में हुई' बताते हैं, पर इस कथन का आधार क्या है, सो वे ही जानें। हमने तो किसी ग्रथ में ऐसा उल्लेख नहीं देखा कि इन्द्र ने प्रतिष्ठानपुर मे आकर कालकाचार्य से मुलाकात की हो, अथवा सीमधर स्वामी ने ही प्रतिष्ठानपुर का नाम लिया हो।

५ "श्री सीमधरतीर्थेशनिगोदाख्यानपूर्वत।
इन्द्रप्रश्नादिकं ज्ञेयमार्यरक्षितकक्षया॥ १५३॥"—प्रभावक-चरित्र—कालक-सूरि-प्रबध, पृष्ठ ४६

६. धर्मप्रभसूरि की इस कथा का रचना-काल सवत् १३८९ है।

'तुरमिणी' नगरी मे घटी थी। उसके वर्णन मे ही इसका उल्लेख है। परतु यह नगरी पहले कहाँ थी और अब किस नाम से प्रसिद्ध है, इसका कुछ पता नही[१]।

घटनाओं का संबंध

हमने प्रारभ मे ही प्राचीन गाथाओ के आधार पर इस बात का प्रतिपादन किया है कि 'कालक' नाम के आचार्य कम से कम तीन हुए हैं और यह भी लिखा है कि कालक के नाम से सबद्ध कौन-कौन-सी घटनाएँ हमारे जैन-साहित्य मे उपलब्ध होती हैं, पर अभी तक इस बात का निश्चय नही किया कि किस घटना का सबध किन आचार्य के साथ है। जहाँ तक हम जान सके हैं, उपर्युक्त सात घटनाओं के साथ दो ही व्यक्तियो का सबध है—प्रज्ञापनाकर्त्ता श्यामार्य और सरस्वती-भ्राता आर्य कालक। निगोद-पृच्छा-सबधी घटना, जो कालक-कथाओ मे चौथी घटना कही गई है, हमारी समझ मे आर्य रक्षित के चरित्र का अनुकरण है। परतु इस विषय मे निश्चित मत देना दुस्साहस होगा, क्योंकि 'उत्तराध्ययन-निर्युक्ति' मे एक गाथा हमे उपलब्ध होती है, जिसका आशय[२] यह है—"उज्जयिनी मे कालक क्षमाश्रमण थे और सुवर्णभूमि मे सागर क्षमण। (कालक सुवर्णभूमि गए और इद्र ने आकर) शेष आयुष्य के विषय मे पूछा। (तब कालक ने कहा) तू इद्र है। (तब इद्र द्वारा द्वार-परावर्तनादि) दिव्य कार्य किए गए।" इस वर्णन से यह तो मानना होगा कि कालक के पास इद्रागमन-सबधी बात भी प्राचीन है। उपर्युक्त घटना से यह भी जाना जाता है कि सागर के दादा-गुरु दूसरे आर्य कालक के साथ इस घटना का संबध है। परतु हम पहले ही कह चुके हैं कि युगप्रधान-स्थविरावली मे 'श्यामार्य' नामक प्रथम कालक को निगोदव्याख्याता कहा है। ऐसी दशा मे निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि निगोदव्याख्याता कालकाचार्य पहले थे या दूसरे। वास्तव मे इस विषय मे पहले ही से प्रकटतया दो मत हैं।

यज्ञ-फलवाली सातवी घटना के साथ कौन-से कालक का सबध माना जाय, यह भी नही कह सकते। इस घटना से यही जान पडता है कि इसके नायक कालकाचार्य ब्राह्मण थे, क्योकि 'दत्त' पुरोहित इनका भानजा था। इससे यह तो निश्चित है कि दूसरे कालकाचार्य, जो क्षत्रिय[३]

१. अशोक के एक शिलालेख में उल्लिखित भारतवर्ष के बाहर के कतिपय राजाओ के नामो मे एक नाम 'तुरमय' है। इस नाम के सबंध से 'तुरमिणी' नाम पडा होगा—यदि ऐसा अनुमान कर लिया जाय तो यह कह सकते हैं कि यह नगरी भारतवर्ष से पश्चिम दिशा मे किसी निकटवर्ती देश की राजधानी होगी। पहले हिंदुस्तान के बाहर भी हिंदू राजाओं के राज्य थे और वहाँ जैन साधुओं का विहार भी होता था, यह देखते हुए तो उक्त अनुमान अवश्य ही विचारणीय है।

२. 'उत्तराध्ययन-निर्युक्ति' की अनुपस्थिति मे हमने 'विचारश्रेणि' के आधार पर यह बात लिखी है।

३. कालक-कथाओ के अनुसार आर्य कालक, गार्हस्थ्यावस्था मे, मगधदेशांतर्गत 'धारावास' नामक नगर के राजा वयरसिंह के पुत्र थे। उनकी माता का नाम 'सुरसुदरी' और बहन का नाम 'सरस्वती' था। कुमार कालक एक बार घोडे पर चढ वन मे घूमने गए, वहाँ उन्हे जैनाचार्य 'गुणाकर' मिले, जिनका धर्मोपदेश सुनकर वे संसार से विरक्त हो जैन-साधु हो गए। उसी समय 'सरस्वती' ने भी जैन-साध्वियो के पास दीक्षा ग्रहण की। कालक

थे, इस घटनावाले कालक से भिन्न थे। तीसरे कालकाचार्य का भी इस घटना के साथ सबध सगत होना कठिन है, क्योकि यह घटना 'आवश्यकचूर्णि' आदि प्राचीन ग्रथो मे उल्लिखित[1] है। अब रहे पहले कालक, सो यदि इनके साथ उक्त घटना का सबध मान लिया जाय तो कोई हानि नही है। इनके समय के आसपास दूसरे भी अनेक ब्राह्मण-जाति के जैन आचार्य हो चुके है, यह देखते हुए जब तक किसी चौथे कालक का अस्तित्व सिद्ध न हो, इस सातवी घटना का सबध पहले कालक के साथ मान लेना कुछ भी अनुचित नही है।

गर्दभिल्लोच्छेद, चतुर्थी-पर्युषणाकरण, अविनीत-शिष्यपरिहार, निमित्त-शास्त्राध्ययन और प्रथमानुयोग-निर्माण—इन पाँच घटनाओ का सबध दूसरे आर्य कालक के साथ निश्चित है, यह बात आगे के विवेचन से स्पष्ट होगी।

गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना मे यह लिखा मिलता है कि ये कालक ज्योतिष और निमित्त-शास्त्र के प्रखर विद्वान् थे। उधर पॉचवीं घटना कालक के निमित्त-शास्त्राध्ययन का ही प्रतिपादन करती है। इससे यह बात निर्विवाद है कि इन दोनो घटनाओ का सबध एक ही कालकाचार्य से है।

चतुर्थी-पर्युषणावाली घटना मे यह कहा गया है कि बलमित्र-भानुमित्र की हरकत से कालक ने उज्जयिनी से विहार कर प्रतिष्ठान मे जा चतुर्थी के दिन पर्युषणा की थी। उधर गर्दभिल्लोच्छेद-वाली घटना के वर्णन मे, कतिपय कालक-कथाओ मे, गर्दभिल्ल पर की गई चढ़ाई मे बलमित्र-भानुमित्र के साथ मे होने का उल्लेख[2] है। इतना ही नही, गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट करने के बाद उज्जयिनी मे बलमित्र-भानुमित्र की अधिकार-प्राप्ति का उल्लेख भी 'कथावली' आदि मे है। इससे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि जिन कालक ने बलमित्र-भानुमित्र की सहायता से गर्दभिल्ल का उच्छेद किया था, उन्ही कालक ने बाद मे उन्ही राजाओ द्वारा निर्वासित हो प्रतिष्ठान मे जाकर चतुर्थी-पर्युषणा की थी। इससे सिद्ध हुआ कि पहली और दूसरी घटना का भी एक ही कालक के साथ सबध है।

तीसरी घटना का मूल 'कालक के शिष्यो का अविनय' बताया गया है। उधर पाँचवी घटना के वर्णन मे हमने देखा कि कालक के शिष्य स्थिर नहीं रहते थे, इस कारण से अच्छे मुहूर्त्त मे दीक्षा देने के लिये कालक ने निमित्त पढ़ा था। इन दोनो घटनाओ का आतरिक रहस्य एक है और वह यह कि कालक के शिष्य उनके काबू मे न थे। इससे मालूम हुआ कि तीसरी घटना का भी पॉचवी घटनावाले कालक के साथ सबध है, तथा पॉचवी और छठो घटनाएँ एक ही कालक से सबध रखती हैं। 'पचकल्पचूर्णि' मे इसका स्पष्ट उल्लेख है।

मुनि जैन-शास्त्रो का अभ्यास कर, कालातर मे आचार्य-पद प्राप्त कर, विहार करते हुए उज्जयिनी की तरफ गए, जहाँ गर्दभिल्ल द्वारा सरस्वती का अपहरण हुआ।

१ 'आवश्यकचूर्णि' मे इस घटना का संपूर्ण वर्णन है। इसका सक्षिप्त उल्लेख 'आवश्यक-निर्युक्ति' मे भी मिलता है।

२ देखिए टिप्पणी नं० ३, पृष्ठ ६६

इस प्रकार इन पाँचो घटनाओं का परस्पर-सबध होने से यह प्रकट होता है कि ये सभी उन एक ही कालक से सबध रखती है, जो सत्ता-काल की अपेक्षा से दूसरे कालकाचार्य कहलाते थे और गर्दभिल्लोच्छेदक के नाम से अधिक प्रसिद्ध थे।

घटनाओं का कालक्रम

अब, हम यह देखेगे कि उक्त विविध घटनाओं का कालक्रम क्या है। घटनाओ का सबध बताते हुए हमने पहले सूचित किया है कि निगोदव्याख्यान और यज्ञफलनिरूपण नामक घटनाएँ प्राचीन हैं और इनका सबध पहले कालक से मानने मे कोई बाधा नहीं है। यदि हमारा यह कथन ठीक माना जाय, तो यह मानने मे भी कोई आपत्ति नहीं है कि ये दोनों घटनाएँ वीर-निर्वाण से ३०० से ३७६ तक मे घटी होंगी; क्योकि प्रथम कालक का यही सत्ताकाल था। यदि इन दोनो घटनाओं के पूर्वापरत्व का विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि यज्ञफलनिरूपणवाली घटना पहली है, क्योकि इस घटना के समय तक कालक 'आचार्य' मात्र थे। उनके युगप्रधान-पद के साथ 'निगोदव्याख्यातृ' विशेषण का निर्देश भी मिलता है। ऐसे निर्देशो पर विचार कर हम यह कह सकते हैं कि यज्ञफल-विषयक सातवी घटना वास्तव मे पहली घटना थी, और उसका समय निर्वाण से ३०० और ३३५ के बीच मे था, तथा निगोद-व्याख्यान-सबंधी चौथी घटना वस्तुत: दूसरी घटना थी और उसका समय ३३६ और ३७६ के बीच मे था।

द्वितीय-कालक-संबंधी घटनाओ का कालकृत पूर्वापरत्व-क्रम इस प्रकार हो सकता है—

गर्दभिल्लोच्छेद के लिये कालक पारस देश मे गए। उस समय वे निमित्त पढ़ चुके थे। निमित्ताध्ययन के प्रसग मे ही उनके प्रथमानुयोग-निर्माण का भी उल्लेख है, इस कारण से इन घटनाओं के कालक्रम मे यह कह सकते हैं कि कालक ने पहले निमित्ताध्ययन और तद्विषयक रचना की, बाद मे प्रथमानुयोग और गडिकानुयोग को सघ-समवसरण मे सुनाया। उसके बाद सरस्वती के निमित्त गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट कराया। तदनतर प्रतिष्ठान मे चतुर्थी-पर्युषणा की और अंत को वृद्धावस्था मे[1] उज्जयिनी मे अविनीत शिष्यो को छोडकर सागर के पास सुवर्णभूमि मे गए। यदि उत्तराध्ययन-निर्युक्ति के लेखानुसार निगोद-व्याख्यान-सबधी घटना भी इनके साथ जोड दी जाय, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि सबसे पीछे यह घटना घटी। इस क्रम के अनुसार हम इन सब घटनाओ को इस क्रम से रख सकते है—(१) यज्ञफलनिरूपण—नि० स० ३०० से ३३५ तक मे, (२) निगोदव्याख्यान—३३६ से ३७६ तक मे, (३) निमित्तपठन—४५३ के पहले, (४) अनुयोगनिर्माण—४५३ के पहले, (५) गर्दभिल्लोच्छेद—४५३ मे,

१. शिष्यो को छोडकर 'कालक' सागर के पास गए और बाद मे उनका शिष्य-परिवार भी वहाँ पहुँचा। उस समय अगले साधुओ ने वहाँ जाकर पूछा—यहाँ आचार्य आए हैं? सागर ने जवाब दिया—'आचार्य तो नहीं आए, पर एक वृद्ध साधु आए हैं। देखिए 'कल्पचूर्णि' का पाठ—

"तत्थ अग्गिलेहिं पुच्छिज्जति केइ इत्थ आयरिया आगत त्ति, णत्थि, णवरं अण्णे खंता आगता।"

—कल्पचूर्णि, पृष्ठ १८

(६) चतुर्थी-पर्युषणा—४५७ और ४६५ के बीच [1] मे, (७) अविनीतशिष्यपरिहार—४५७ के बाद और ४६५ के पहले [2]।

कालक्रम में विरोध-परिहार

घटनाओ के कालक्रम मे हमने गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना निर्वाण-सवत् ४५३ मे बताई है, पर इसमे यह शका हो सकती है कि इस घटना के समय यदि बलमित्र-भानुमित्र विद्यमान थे—जैसा कि 'कथावली' आदि ग्रथो से ज्ञात होता है—तो इस घटना का उक्त समय निर्दोष कैसे हो सकता है, क्योकि मेरुतुगसूरि की 'विचारश्रेणि' आदि प्रचलित जैन-गणना-पद्धतियो के गणनानुसार बलमित्र-भानुमित्र का सत्ता-काल वीर-निर्वाण से ३५४ से ४१३ तक मे आता है। ऐसी दशा मे यह कहना चाहिए कि गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना का उक्त समय (४५३) ठीक नही है, और यदि ठीक है तो यह कहना होगा कि बलमित्र-भानुमित्र का उक्त समय गलत है, और यदि उपर्युक्त दोनो समय ठीक माने जायँ तो अंत मे यह मानना ही पडेगा कि गर्दभिल्लवाली घटना के समय बलमित्र-भानुमित्र विद्यमान न थे।

गर्दभिल्लोच्छेदवाली प्रसिद्ध घटना का समय गलत मान लेने के लिये हमे कोई कारण नही मिलता। बलमित्र-भानुमित्र आर्य कालक के भानजे थे, यह बात सुप्रसिद्ध है, अतएव कालक के समय मे इनका अस्तित्व मानना भी अनिवार्य है। रही बलमित्र-भानुमित्र के समय की बात, सो इसके सबध मे हमारा मत यह है कि उनका समय ३५४ से ४१३ तक नही, किंतु ४१४ से ४७३ तक था। मौर्यकाल मे से ५२ वर्ष छूट जाने के कारण १६० के स्थान मे केवल १०८ वर्ष ही प्रचलित गणनाओ मे लिए गए हैं। अतएव एकदम ५२ वर्ष कम हो जाने के कारण बलमित्र आदि का समय असगत-सा हो गया है। हमने मौर्य-राज्य के १६० वर्ष मानकर इस पद्धति मे जो सशोधन[3] किया है, उसके अनुसार कालकाचार्य और बलमित्रादि के समय मे कुछ भी विरोध नही रह जाता।

बलमित्र और कालकाचार्य के समय-विरोध का परिहार तो ऊपर के वक्तव्य से हो जायगा, पर अभी एक ऐसा विरोध खडा है, जिसका समाधान किए बिना इस निबध को पूरा करना अशक्य है।

१ गर्दभिल्ल के बाद उज्जयिनी मे शक राज्य स्थापित हुआ था। 'विचारश्रेणि' के लेखानुसार वह राज्य केवल चार वर्ष तक रहा। बाद में वहाँ का राज्यासन विक्रमादित्य के अधीन कर दिया गया था। इससे यह सिद्ध हुआ कि नि० सं० ४५३ के अत में गर्दभिल्ल को हटाकर 'शक' उज्जयिनी का राजा हुआ और चार वर्ष के बाद—नि० सं० ४५७ के अत मे—बलमित्र ने शको को हटाकर उज्जयिनी पर अपना अधिकार जमाया। बलमित्र-भानुमित्र के राज्य का अत नि० स० ४६५ मे हुआ। कालक ने बलमित्र के उज्जयिनी-शासन-काल मे ही उज्जयिनी से प्रतिष्ठान जाकर चतुर्थी को पर्युषणा की। इससे यह बात स्पष्ट है कि वीर-निर्वाण-संवत् ४५८ और ४६५ के किसी बिचले साल मे चतुर्थी-पर्युषणा की प्रवृत्ति हुई।

२ बलमित्र-भानुमित्र के उज्जयिनी-शासन-काल मे ही कालक ने अविनीत शिष्यो का त्याग भी किया था। इससे स्पष्ट है कि यह घटना भी ४५८ और ४६५ के बीच मे घटी है।

३ 'वीर-निर्वाण-संवत् और जैन-काल-गणना' शीर्षक अपने प्रसिद्ध निबंध में हमने इस भूल के मूल और प्रकार का अच्छी तरह निरूपण किया है।

वह विरोध है चतुर्थी-पर्युषणा के समय के सबंध मे। घटनाओ के कालक्रम मे हमने चतुर्थी-पर्युषणा का समय ४५७ से ४६५ तक लिखा है, परतु एक प्राकरणिक गाथा हमारे इस कथन के सामने विरोध उपस्थित करती है। उस गाथा का आशय यह है—"वर्धमान (वीर) से ६६३ वर्ष व्यतीत होने पर कालक सूरि द्वारा पर्युषणा चतुर्थी की स्थापना हुई।" अब, यदि इस गाथा के प्रमाण से पर्युषणा चतुर्थी की स्थापना का समय वीर-सवत् ९९३ मान लिया जाय तो हमारा पूर्वोक्त समय गलत साबित होगा, और यदि हमारा दिया हुआ समय ठीक माना जायगा तो गाथोक्त समय गलत ठहरेगा। दोनो मे कोई एक तो गलत ठहरेगा ही।

अच्छा, तो अब हम पहले इस गाथा की जाँच करेंगे कि यह गाथा है कहाँ की, और फिर इस बात का विचार करेंगे कि गाथोक्त काल प्रस्तुत घटना का वास्तविक आधार-समय हो सकता है या नही। आचार्य जिनप्रभ ने 'सदेहविषौपधि' नाम की अपनी कल्पसूत्र-टीका मे लिखा है कि यह गाथा 'तित्थोगाली-पइन्नय' की है, परतु वर्त्तमान 'तित्थोगाली-पइन्नय' मे यह गाथा उपलब्ध नहीं होती। हाँ, देवेंद्र-सूरि-शिष्य धर्मघोष-सूरि-कृत 'कालसप्तति' मे उक्त गाथा—जिसका आशय ऊपर दिया गया है—अवश्य दृष्टिगत होती है और वहाँ इसका गाथांक ४१ दिया हुआ है। इसी गाथा के सबध मे टीका करते हुए उपाध्याय धर्म-सागर जी ने 'कल्पकिरणावली' नाम की अपनी कल्पसूत्र-टीका मे लिखा है कि "तीर्थोद्गार मे यह गाथा देखने मे नही आती, और 'कालसप्तति' मे यद्यपि यह देखी जाती है तथापि उसमे कई क्षेपक गाथाएँ भी मौजूद है, और अब चूर्णिकार ने भी इसकी व्याख्या नही की, इससे यह सभव नही कि मूल ग्रथकार की यह गाथा हो।" फिर आचार्य मेरुतुग ने भी अपनी 'विचारश्रेणि' मे 'तदुक्तम्' कहकर, ९९३ मे चतुर्थी-पर्युषणा होने के विषय मे, प्रमाण की भाँति इस गाथा का अवतरण दिया है। एक कालकाचार्य-कथा मे इस गाथा का प्रमाण देते हुए लिखा है कि 'प्रथमानुयोगसारोद्धार के दूसरे उदय मे यह गाथा है,' परतु 'प्रथमानुयोगसारोद्धार' का इस समय कही भी अस्तित्व न होने से यह कहना कठिन है कि उसी की यह गाथा है या दूसरे ग्रथ की। क्या आश्चर्य है कि जिनप्रभ सूरि ने जैसे इसको 'तित्थोगाली' के नाम पर चढ़ाया, वैसे ही कालक-कथा-लेखक ने इस पर 'प्रथमानुयोगसारोद्धार' की मुहर लगा दी हो! कुछ भी हो, पर इन भिन्न-भिन्न उल्लेखो से इतना तो सिद्ध होता है कि उक्त गाथा विक्रम की तेरहवी सदी के पहले की अवश्य है।

अब हमे यह देखना है कि निर्वाण से ६६३ मे चतुर्थी-पर्युषणा के स्थापित होनेवाली गाथोक्त बात वास्तव मे सत्य है या नही। हम देखते है कि 'निशीथचूर्णि' आदि सब प्राचीन चूर्णियो और कथाओ मे एक-स्वर से यह बात मानी गई है कि 'प्रतिष्ठानपुर के राजा सातवाहन के अनुरोध से कालकाचार्य ने चतुर्थी के दिन पर्युषणा की', और जब हमने यह मान लिया कि सातवाहन के समय मे ही हमारा पर्युषणा-पर्व चतुर्थी को हुआ तब यह मानना असभव है कि वह समय निर्वाण का ९९३ वाँ वर्ष होगा, क्योंकि निर्वाण का ९९३ वाँ वर्ष विक्रम का ५२३ वाँ और ईसवी सन् का ४६६ वाँ वर्ष होगा—जो सातवाहन के समय के साथ बिलकुल नही मिल सकता। इतिहास से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी मे ही आंध्र-राज्य का अंत हो चुका था, इसलिये पर्युषणा-

चतुर्थी का जो गाथोक्त समय है वह सर्वथा कल्पित है। हमारा तो अनुमान है कि जब बारहवी सदी मे चतुर्थी से फिर पचमी मे पर्युषणा करने की प्रथा चली, तब[1] चतुर्थी-पर्युषणा को अर्वाचीन ठहराने के विचार से किसी ने उसी समय मे उक्त गाथा रच डाली है और गतानुगतिक रूप से पिछले समय मे ग्रथकारो ने अपने ग्रथ मे उसे उद्धृत कर लिया है। चतुर्थी-पर्युषणा का समय हमारी धारणा के अनुसार निर्वाण से ४५३ और ४६५ के बीच मे हो ठीक जॅचता है, क्योकि ४५३ के बाद उज्जयिनी मे बलमित्र-भानुमित्र का राज्य-काल आरंभ हुआ और ४६५ के अंत मे उसकी इतिश्री हो गई। अतएव इस समय के बीच मे ही किसी समय बलमित्र के दुर्व्यवहार से कालकाचार्य उज्जैन से निकले और प्रतिष्ठान मे जाकर सातवाहन के कहने से पचमी के स्थान पर चतुर्थी मे पर्युषणा की। सातवाहन का समय भी इस घटना-काल के साथ ठीक मिल जाता है।

उपसंहार

वास्तव मे आर्य कालक का वृत्तांत केवल कहानी नहीं, ठोस इतिहास है। भारत मे शको के आगमन का इतिहास तो इसमे है ही, पर उनके उत्थान-पतन का भी दिग्दर्शन इससे अच्छी तरह हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन जैन-सघ के सघटन और विघटन का थोड़ा-बहुत आभास भी मिल जाता है। कालक-कथा पर लिखनेवाले हमारे पहले के लेखको के मन मे कुछ बातो पर शकाऍ रह गई थी, क्योकि कालक-कथा के भीतर बलमित्र-भानुमित्र का जो सबध है, उसका काल-समन्वय नही होता था। प्रचलित गणना-पद्धति के अनुसार बलमित्र-भानुमित्र 'कालक' के समकालीन नही ठहरते थे। खासकर ४५३ की गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना के साथ उनके समय का मेल नही मिलता था। इस कारण से हमारे पूर्व के लेखक—उज्जैन पर शको की चढ़ाई मे बलमित्र-भानुमित्र को भरोच से साथ लाने और उनके शासन-काल मे कालकाचार्य के भरोच अथवा उज्जैन जाने के विषय मे—सशक थे। इसके अतिरिक्त उन्हे यह भी मालूम न हुआ था कि निगोदव्याख्यान और शिष्यपरित्यागवाली घटनाओ का कौन-से कालक के साथ सबध है और इन घटनाओ का उद्भव-काल क्या है। जहाँ तक प्रमाण मिला और तर्क पहुँचा, हमने सब बातो पर विचार कर यथाशक्य सब समस्याओ को सुलझाने की चेष्टा की है।

१ देखिए टिप्पणी न० ३, पृष्ठ १०१
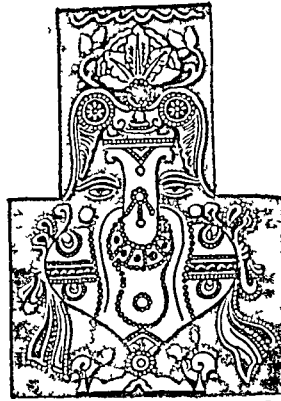
पुरुषार्थ

महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

आर्य-शास्त्रो मे चार 'पुरुषार्थ' बतलाए गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। 'पुरुपार्थ' शब्द का अर्थ है 'पुरुषैरर्थ्यते पुरुषार्थः'—पुरुष की इष्ट वस्तु ही 'पुरुषार्थ' है। पूर्वोक्त चारों पदार्थ पुरुप को इष्ट होते हैं, अतः ये 'पुरुषार्थ' कहे गए हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर तो यही प्रतीत होता है कि 'अर्थ' और 'काम' ही पुरुषार्थ हैं। पुरुष स्वभावतः अर्थ और काम की ओर झुकते हैं। द्रव्योपार्जन और उसके द्वारा विविध प्रकार के सुखोपभोग करना कौन नहीं चाहता? सच पूछिए तो इन दोनों के विना पुरुप किसी काम का नही। अर्थ और काम से सर्वथा शून्य पुरुष को ससार मे कोई 'पुरुप' कहने को भी तैयार न होगा। अर्थ और काम मे जो जितनी उन्नति कर चुका है, जितनी संपत्ति जिसके पास है, जितने उपभोग के साधन—सुदर विशाल भवन, अच्छी से अच्छी सजीली गाड़ियाँ, चमकीले वस्त्राभूषण आदि—जिसको उपलब्ध हैं, वह उतना ही उन्नत कहलाता है, संसार मे उतना ही आदर पाता है। इसी लिये बालक से बूढ़े तक, मूर्ख से प्रकांड विद्वान् तक, ग्रामीण से चतुर नागरिक तक, सब इन दोनों के हेतु यथाशक्ति उद्योग करते हैं। जैसी सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इन दोनों की ओर होती है वैसी धर्म और मोक्ष की ओर नही। धर्म और मोक्ष की ओर यदि प्रवृत्ति होती भी है तो केवल विद्वानो की ही—सो भी अपनी इच्छा से नही, केवल शास्त्र की आज्ञा से। तब तो जिसमे पुरुप की स्वाभाविक प्रवृत्ति नही उसे 'पुरुषार्थ' कहना सर्वथा अनुचित है! आज्ञा और प्रेरणा से प्रवृत्ति होना और बात है, तथा स्वतः इष्ट समझकर प्रवृत्त होना और बात। प्रभु आदि की आज्ञा से तो पुरुप ऐसे कार्य मे भी प्रवृत्त देखे जाते हैं जो उनको सर्वथा अनिष्ट है। इसके अतिरिक्त धर्म मे प्रवृत्ति भी बहुधा अर्थ और काम के लिये ही होती है। प्रायः

विधवा

चित्रकार—श्री० दुर्गाशंकर भट्टाचार्य

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)
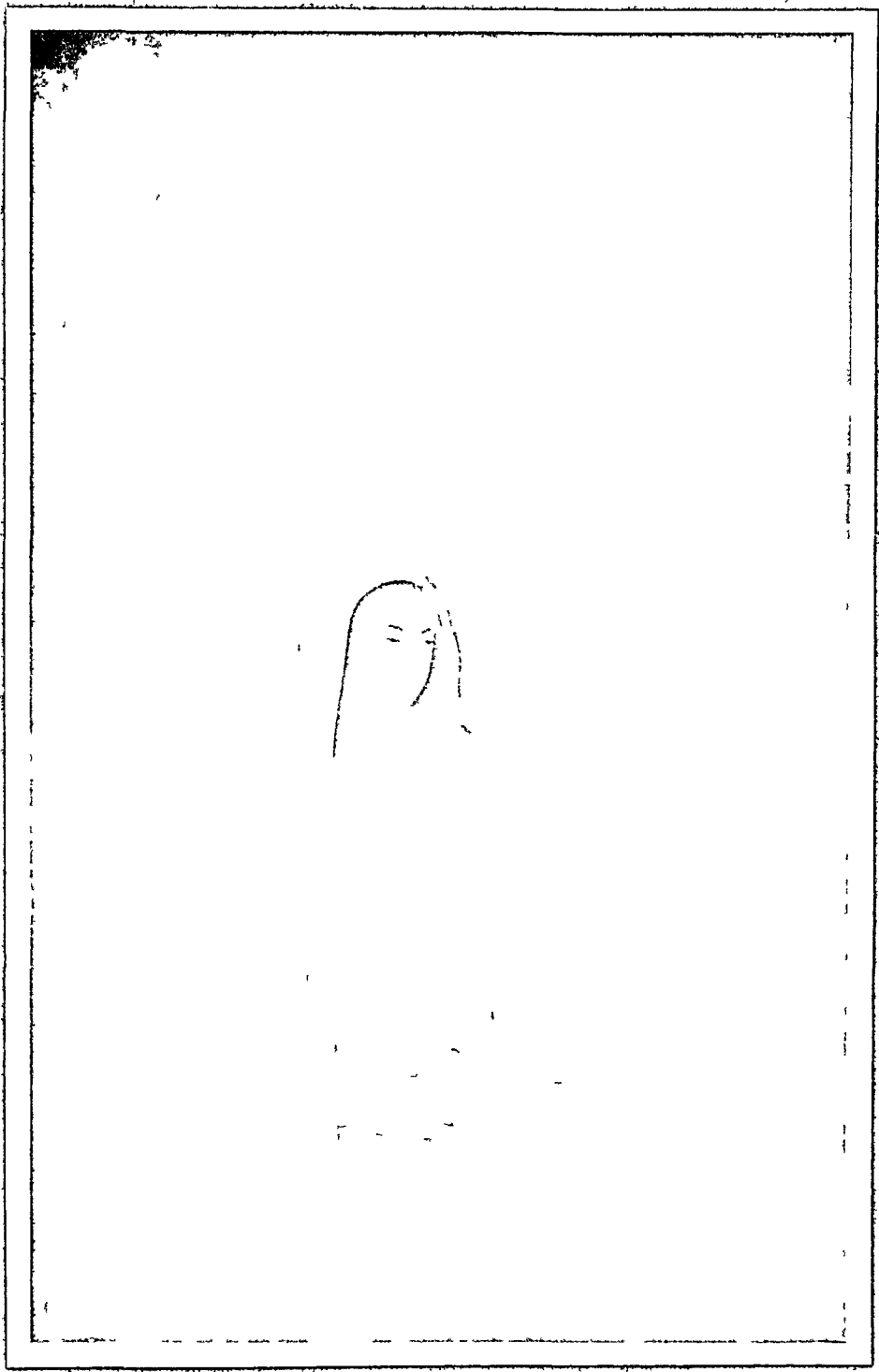
आस्तिक पुरुष कीर्त्ति के लिये या परलोक मे धन-प्राप्ति की इच्छा से ही दान करते हैं। परलोक मे विविध कामो की प्राप्ति के उद्देश्य से यज्ञ, तप आदि किए जाते हैं। अतः धर्म यदि 'पुरुषार्थ' हो भी, तो स्वय पुरुषार्थ नही, किंतु अर्थ और काम का अंगभूत होकर—उनका साधन होने से गौण पुरुषार्थ हो सकता है। बिना किसी उद्देश्य के, केवल 'धर्म' की इच्छा प्रायः किसी को नही होती। मोक्ष का तो स्वरूप ही बहुत कम—इने-गिने आदमी समझ सकते हैं, फिर उसकी इच्छा और उसके विषय की 'प्रवृत्ति' की क्या कथा! सुतरा जिस सार्वभौम भाव से 'अर्थ' और 'काम' पुरुषार्थ कहे जा सकते हैं उस भाव से 'धर्म' और 'मोक्ष' नही। यदि कुछ पुरुषो को इनकी चाह हो, तो भी सामान्य रूप से इन्हे 'पुरुषार्थ' नही कह सकते। स्थूल दृष्टि से ऐसा ही प्रतीत होता है। किंतु, यदि विज्ञ पाठक विचार-दृष्टि से काम लेगे, तो सिद्ध हो जायगा कि 'धर्म' और 'मोक्ष' भी सार्वभौम भाव से 'पुरुषार्थ' हैं, प्रत्युत ये ही मुख्य पुरुषार्थ हैं, 'अर्थ' और 'काम' गौण हैं।

इस पर विचार करने से पहले 'धर्म' और 'मोक्ष' शब्द का अर्थ जानना अत्यावश्यक है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'धारण करना' है। इससे केवल यही अभिप्राय नही कि जो धारण किया जाय वही धर्म है। किंतु 'ध्रियते इति धर्मः और धरतीति धर्मः'—इन दोनो व्युत्पत्तियों के अनुसार जो धारण किया हुआ—तत्तद् वस्तु के स्वरूप को धारण करनेवाला हो, वह उसका धर्म कहा जाता है। 'धर्म' पद का यही अर्थ महाभारत के निम्न-लिखित श्लोक मे वर्णित है—

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसयुक्त स धर्म इति निश्चयः"॥

"धारण करने के कारण धर्म को धर्म कहते हैं, धर्म ही प्रजा को धारण करता है"—इत्यादि। अभिप्राय यह कि प्रकृति के प्रवाह मे किसी का उत्थान और किसी का पतन बराबर चलता रहता है। शास्त्रकारो का निश्चय है कि यह उत्थान या पतन यादृच्छिक (अकारण) नही, किंतु सकारण ही होता है। उत्थान का कारण उपस्थित होने पर उन्नति, और पतन का कारण उपस्थित होने पर पतन अवश्य होगा। इतना भी अवश्य स्मरण रहे कि इस उत्थान वा पतन का कारण क्रिया ही होती है। यह सपूर्ण ससार क्रिया-शक्ति का विजृम्भण-मात्र है। बस, जो क्रिया पतन नही होने देती—स्वरूप को स्थिर रखती हुई उन्नति की ओर बढ़ाती है, वही 'धर्म' कहलाने के योग्य है। सुतरां स्वरूप-रक्षा ही धर्म का एकमात्र उद्देश्य है। इसके विपरीत जिस क्रिया से पतन होता है—जो क्रिया वस्तु के स्वरूप को नष्ट कर देनेवाली है, वही 'अधर्म' कही जाती है। इस लिये उसका दूसरा नाम है 'पातक'—अर्थात् पतन का (गिरने का) कारण।

ये 'धर्म' और 'अधर्म' शब्द सब वस्तुओ के सबध मे व्यवहृत हो सकते हैं। उदाहरण के लिये समझिए कि जिन क्रियाओ के द्वारा वृक्ष हरा-भरा रहे—पुष्पित और फलित होने के उन्मुख रहे, वे क्रियाएँ वृक्ष के सबध मे 'धर्म' होगी—चाहे वे वृक्ष की स्वय शक्ति से उत्पन्न हो या आगंतुक पदार्थों के सबध से पैदा हुई हो। इसके विपरीत जिनके द्वारा वृक्ष अपना वृक्षत्व छोडकर स्थाणु (ठूँठ) के रूप मे चला जाय, वे क्रियाएँ उसके सबध मे 'अधर्म' होंगी। किंतु जहाँ इतर जड़ पदार्थ वा क्षुद्र प्राणी केवल स्वाभाविक वा

अन्यकृत क्रियाचक्र के अधीन उत्थान या पतन के प्रवाह मे उछलते और गोते लगाते हैं, वहाँ ज्ञान-प्रधान पुरुष-जाति स्वाभाविक क्रियाचक्र पर अपना अधिकार जमाती हुई अपने को पतित होने से रोककर उन्नति की ओर प्रवृत्त हो सकती है। अतएव मनुष्य को धर्म और अधर्म का उपदेश शास्त्र द्वारा किया जाता है। शास्त्र हमे वताता है कि अमुक क्रिया के करने से तुम अपने स्वरूप मे स्थित रहते हुए उन्नति की ओर बढ़ सकोगे, अतएव यह तुम्हारे पक्ष मे 'धर्म' है, और अमुक क्रिया से तुम स्वरूप से पतित हो जाओगे, अतः यह तुम्हारे पक्ष मे 'अधर्म' है। विचारशील पाठक स्वय विचार सकेगे कि उत्थान और पतन मे अपेक्षा-कृत अवांतर-भेद वहुत हैं। अतएव सामान्य विशेप भाव से धर्म के भी अवातर-भेद वहुत हो जाते हैं। जो क्रिया मनुष्यत्व सामान्य के उपयोगी है—जिस कार्य के करने मे मनुष्य की मनुष्यता मे कोई वाधा नही होती, प्रत्युत मनुष्यत्व के उच्च कोटि की ओर ले जानेवाली जो क्रिया हो, वह मनुष्य के पक्ष मे सामान्य धर्म कही जायगी, किंतु जो काम करने से मनुष्य मनुष्यता से पतित माना जा सकता है, वह मनुष्य-सामान्य के पक्ष मे अधर्म होगा। पूर्वोक्त सामान्य धर्म का परिपालन करते हुए भी—मनुष्यत्व मे कोई वाधा न होते हुए भी—जो क्रिया ब्राह्मणत्व मे वाधक होगी, जिस क्रिया के द्वारा ब्राह्मण की मूलभूत ज्ञान-शक्ति पर आघात होगा, वह ब्राह्मण के पक्ष मे 'अधर्म' होगी। किंतु ब्राह्मणोचित शक्तियों का विकास जिसके द्वारा हो सके, वह ब्राह्मणो का 'धर्म' होगा। यह धर्म विशेप-धर्म या ब्राह्मण-धर्म कहा जायगा। इस विशेप-धर्म के संवध मे यह भी जानना अत्यावश्यक होगा कि जो क्रिया ज्ञान-शक्ति के सवध मे परम उपकार करती हुई भी क्षत्रियत्व की मूलभूत पराक्रम-शक्ति पर आघात पहुँचानेवाली होगी, वह ब्राह्मणो का धर्म होते हुए भी क्षत्रियों के पक्ष मे अधर्म कही जायगी। उनकी शक्ति का विकास जिसके द्वारा हो सके, वह उनका धर्म होगा। इस प्रकार प्रति जाति, प्रति श्रेणी, प्रति कुल और प्रति व्यक्ति विशेप-धर्म के अनंत भेद होंगे, जिनका विस्तार करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती। हॉ, इतना और स्मरण करा देना आवश्यक है कि धर्म के विचार मे वही उन्नति 'उन्नति' कही जाती है जो भविष्य मे पतन का कारण न हो। जहाँ केवल तात्कालिक उन्नति की चमक—किंतु भविष्यत् मे अवनति का घोर अंधकार हो, उसे यहाँ उन्नति नही कहा जा सकता। वह तो पतन का पूर्वरूपमात्र है और पतन के दुःख को वहुत अधिक कर देनेवाली है। वर्त्तमान मे चाहे कुछ कष्ट भी सहना पडे, किंतु परिणाम अमृतमय हो, वही सच्ची उन्नति है। उसी को शास्त्रो मे 'श्रेय' कहते है। केवल परलोक ही नही, इस लोक की भी स्थिर उन्नति धर्म के ही अधीन है। शास्त्रकार भी धर्म के निरूपण मे यही विश्वास दिलाते हैं—

"लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ॥"

—महाभारत, अनुशासन-पर्व, अध्याय २६५

अर्थात् लोकस्थिति के निर्वाह के लिये ही धर्म का नियम किया गया है। वह धर्म इहलोक और परलोक मे भी परिणाम मे सुख देनेवाला होता है।

यहॉ परिणाम से केवल मेरा अभिप्राय यह था कि जैसे कोई चोर या छली अपने पाप के प्रकट होने तक कुछ द्रव्य इकट्ठा कर ले और कुछ काल तक उसका उपभोग करता हुआ उसी को उन्नति मानने लगे,

तो 'उन्नति' शब्द का वह अर्थ यहाँ इष्ट नही है। वह तो उसके पतन का पूर्वरूपमात्र है, जिसके अनतर पतन अवश्यभावी है। साथ ही यह भी याद रखना होगा कि जो एक व्यक्तिमात्र की उन्नति उसके कुटुब की, उसके जाति की वा उसके देश की उन्नति मे बाधक है, वह उन्नति 'उन्नति' नही कही जा सकती, किंतु स्वजनों की और स्वदेश की उन्नति के अनुकूल उन्नति ही सच्ची उन्नति है। जो मनुष्य स्वार्थवश समुदाय को हानि पहुँचाएगा, समुदाय के अंतर्गत होने से उसका प्रभाव उस पर भी पडेगा। अतएव वहाँ यही स्पष्ट कहना होगा कि उन्नति के नाम से प्रकारातर से वह अपनी ही अवनति कर रहा है। समुदाय के प्रश्न को छोडकर अन्य व्यक्तियो को हानि पहुँचाने से भी इन सब व्यक्तियो द्वारा इसकी भी हानि अवश्य होगी। मान लीजिए कि धर्म का बधन तोडकर सब लोग स्वेच्छाचार मे लगे हुए हो, ऐसी दशा मे यदि मनुष्य औरो को कष्ट पहुँचाकर चोरी, छल आदि से अपने को धनी बनाता है, तो आगे उसकी ही स्थिरता क्यो होगी ? उससे अधिक चतुर मनुष्य उसकी भी वही दशा करेगे जो उसने अन्य सीधे-सादे मनुष्यों की की है। इसी आधार पर शास्त्रकार बार-बार आज्ञा देते हैं कि—

"अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥"—मनु
"यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥"

—महाभारत, मोक्षानुशासन-पर्व, अध्याय २६५

"अन्य प्राणियो के द्रोह के बिना या अंततः अल्पद्रोह से जो वृत्ति हो सके, उसी का आश्रय ब्राह्मण को ग्रहण करना चाहिए।"—"मनुष्य जिस कार्य का औरो के द्वारा अपने लिये किया जाना नही चाहता, वह स्वय भी दूसरो के लिये न करे।"—इत्यादि।

हाँ, तो जो क्रिया स्वरूप की रक्षा करती हुई उन्नति की ओर ले जाती है उसी का नाम 'धर्म' है। अब विज्ञ पाठक स्वय विचारे कि क्या कोई मनुष्य ऐसे काम वा अर्थ की इच्छा करेगा जो स्वरूप को नष्ट करनेवाला हो। ससार मे जहाँ तक दृष्टि फैलाकर देखिए, यही प्रतीत होगा कि पहले स्वरूप की रक्षा सब चाहते हैं। कितना ही कोई अर्थ या काम मे आसक्त पुरुष हो, स्वरूप-नाश का प्रश्न उपस्थित होते ही वह तुरत अर्थ या काम को नमस्कार कर देता है। कुछ थोडे-से बुद्धि के शत्रु उन कृपणाचार्यों वा विषय-लपटो की बात जाने दीजिए, जो क्षुधा से शरीर का नाश करते हुए भी धन ही धन की माला जपते या मद्य-सेवन करते हैं तथा वारांगना-बाहुपाश से बँधे हुए जानते ही नही कि स्वरूप क्या होता है और उसका नाश किस चिडिया का नाम है! वे तो नित्य नए राग और विलास की धुन मे मृत्यु के आवाहन-मत्र स्वय जपा करते हैं। ऐसे विषयाध जगत् मे कम है। इनकी प्रवृत्ति का कारण भी आगे दिखाया जायगा। सार्वभौम भाव से यदि प्रवृत्ति सर्वसाधारण की देखी जाय तो यही स्पष्ट होगा कि अर्थ और काम—सबसे बढकर पहले स्वरूप-रक्षा की आवश्यकता है। वह स्वरूप-रक्षा धर्म के अधीन है। अतः धर्म ही प्रथम पुरुषार्थ हुआ। यह स्वरूप-रक्षा किसी दूसरे का अंग नही, किंतु स्वतः सबको

इष्ट है; अतः प्रधान पुरुषार्थ है। सच पूछिए तो अर्थ और काम इसी के अंग हैं। जिस पुरुष को जैसे स्वरूप का अभिमान होता है, वह वैसे ही अर्थ और वैसे ही काम-सामग्री की इच्छा किया करता है। स्वरूप-विरोधी अर्थ और काम को इच्छा कोई नहीं करता। इच्छा क्या नहीं करता, विना स्वरूप के अर्थ और काम हो ही नहीं सकते। अतएव शास्त्रकारो का निश्चय है कि विना धर्म के अर्थ और काम की स्थिति ही नहीं है—

"अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिणः कुतः।
तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाभ्यां वहिष्कृतात्॥"

—महाभारत, आपद्धर्म, अध्याय १६५

"धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।"—भारत-सावित्री

"परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।"—मनुः

अस्तु, सक्षेपतः यह सिद्ध हो चुका कि 'स्वरूप-रक्षा' का साधन धर्म है, और स्वरूप-रक्षा के बिना अर्थ और काम की कोई स्थिति नही। अव किंचित् यह भी देखना होगा कि स्वरूप-रक्षा का क्या अभिप्राय है। जिस प्रकार के समाज, जाति, कुल, श्रेणी आदि का अभिमान हमको हो, वह सब हमारे स्वरूप मे ही प्रविष्ट मान लिया जाता है। इसी लिये धर्म मे अवांतर तारतम्य वहुत अधिक हो जाते हैं। जो असभ्य मनुष्य अपने मे किसी प्रकार की सभ्यता का अभिमान नहीं रख सकते, उनके पक्ष मे धर्म की व्याख्या वहुत कम रह जाती है। उनको केवल अपने स्थूल शरीर का अभिमान है, वही उनका स्वरूप है। उसकी रक्षा जितने से—अर्थात् जिस प्रकार के आहार-विहार से—उनके विचार मे हो सकती है, उस धर्म को वे भी बडे आदर और आग्रह से मानते हैं। स्थूल शरीर के नाशक विषभक्षण आदि से वे भी दूर ही रहेगे और उसकी उन्नति के लिये वरावर यत्न करेगे। किंतु तत्काल की उन्नति ही उनके ध्यान मे आती है, परिणाम को वे अविद्यावश नहीं समझ सकते। इसी से स्थूल शरीर के लिये भी परिणाम मे अपकारक मद्यपान आदि से वे बचना नही चाहते। इसी प्रकार कुलरक्षा, समाजरक्षा और सभ्यता, यश आदि की रक्षा को अविद्यावश वे अपनी स्वरूप-रक्षा के अंतर्गत नहीं मानते, और अविद्या के कारण ही इन सब की हानि सह लेते हैं। किंतु जो कुछ वे अपना स्वरूप मानते हैं उसकी रक्षा के साधनो मे अवश्य उनकी भी प्रवृत्ति रहती है, इसी से धर्म उनके लिये भी पुरुषार्थ है ही। यही बात सभ्य मनुष्यों के लिये भी कही जा सकती है। ज्यो-ज्यो मनुष्य विद्वान् होता है त्यो-त्यो सामाजिकता, सभ्यता, कुलमर्यादा, यश आदि को भी अपने स्वरूप मे प्रविष्ट मानने लगता है, और अपने शरीर के समान ही—प्रत्युत उससे बढ़कर—इन सबकी रक्षा के लिये ध्यान देता है। स्पष्ट देखा जाता है कि शरीर का कष्ट सहते हुए भी सभ्य पुरुष वस्त्र-विन्यास, उठने-बैठने आदि मे सभ्यता के नियमों का पालन आवश्यक समझते है। जिनको कुलमर्यादा पर विशेष अभिमान है वे मर्यादा को

और जो यश के अभिमानी हैं वे यश को नही बिगडने देते। 'रघुवश' के द्वितीय सर्ग मे महाकवि कालिदास की यह उक्ति कितनी मार्मिक है—

"किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽह यश.शरीरे भव मे दयालु ।
एकान्तविध्वसिपु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेपु ॥"

सिंह से राजा दिलीप कहते हैं कि 'हम लोगो का केवल यह हाड-मास का शरीर ही शरीर नही, एक यश-रूप शरीर हमारा और भी है, और हम लोग इस हाड-मास के शरीर की अपेक्षा उस यश-रूप शरीर का बहुत अधिक मूल्य समझते हैं। सो यदि तुम्हे भी मुझ पर दया दिखाना है तो उस यश-रूप शरीर पर ही दया दिखाओ।'

बुद्धिमान् प्रतिष्ठित मनुष्यो की यह स्वाभाविक बात है कि वे यश को अपना स्वरूप मानते हुए उसकी रक्षा के लिये अर्थ और काम को तो तुच्छ समझते ही हैं, शरीर को भी कष्ट देने मे किंचित् सकोच नही करते। इसी उद्देश्य से यश के साधन 'परोपकार' को सबसे बडा धर्म माना गया है।

बुद्धिमान् सभ्य पुरुषो की विवेकशील दृष्टि मे 'समाज' भी अपना स्वरूप ही है। समाज और कुछ नहीं, बहुत-से व्यक्तियो का समूह है। यदि सब व्यक्ति उसे अपना स्वरूप न समझे, तो फिर समाज का अस्तित्व कहाँ रहेगा। ऐसे विचारवालो की दृष्टि मे जो समाज की उन्नति के साधन हैं वा जिन साधनो के विना समाज की स्वरूप-रक्षा नही हो सकती, वे सब भी धर्म के मुख्य स्वरूप माने जाते हैं।

कल्पना कीजिए एक ऐसे समाज की, जो धन-धान्य से पूर्ण है, सब प्रकार के शिल्प और उच्च कोटि के व्यापार जिसकी शोभा बढा रहे हैं, जिसको अपनी आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिये कभी दूसरे का मुख नही देखना पडता। किंतु, यदि उस समाज के सब मनुष्य एक दूसरे का धन हडप जाने को तैयार हैं, परस्पर धोखा देने मे अपना पुरुषार्थ मानते हैं, आपस मे लडाई-झगडे करते हैं और अवसर पाते ही एक दूसरे को मार डालने मे भी नही हिचकते, तो क्या पूर्वोक्त सब ऐश्वर्यो के रहते हुए भी उस समाज को कोई उन्नत कह सकता है? उन्नति तो दूर रहे, क्या उस समाज की जीवन-रक्षा भी कभी हो सकती है—उसे कुछ भी सुख और शाति मिल सकती है? अतएव 'स्वरूप-रक्षा' को समाज-रक्षा के अधीन समझकर ही सभ्य समाज मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि धर्मों का बहुत ऊँचा आसन है। इतना ही नही, समाज को निज स्वरूप माननेवालो के लिये समाज-रक्षा का प्रश्न बडे महत्त्व का है। उसके सामने वे अपने धन, जन, सुख और शरीर तक का त्याग भी एक सामान्य बात समझते हैं। इसी भाँति देश को स्वरूप माननेवाले, देश-रक्षा के लिये, सबका बलिदान करते है। इससे भी बढकर, जो अपने को ब्रह्माड का एक अश मानते हुए—समस्त ब्रह्माड मे एक आत्मा देखते हुए—समस्त ब्रह्मांड को निज स्वरूप मान चुके हैं, वे ब्रह्माड के हित के लिये सर्वस्व का बलिदान करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसी भाव से प्रेरित होकर जगत् की रक्षा के लिये दधीचि ने अपनी हड्डियाँ भी दे दी थी। ऐसे ही पुरुषो के लिये कहा गया है कि 'उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्'। अस्तु, विज्ञ पाठक विचारेंगे कि इसी प्रकार विद्वान् सभ्य

पुरुषो के पक्ष मे क्रमशः धर्म की व्याख्या विस्तृत होती जाती है। यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि विद्या से मनुष्य परिणामदर्शी बनता है, अतएव ज्यों-ज्यो किसी कार्य से परिणाम मे बुराई प्रतीत होती जाती है त्यों-त्यों वह कार्य विद्वानो के समाज मे हेय माना जाता है। इसी आधार पर मद्य-मांस-वर्जन आदि विद्वत्समाज मे बडे धर्म समझे गए हैं।

यह स्वरूप के बाह्य विस्तार का सक्षेप हुआ, अब आंतर विस्तार की ओर आइए।

जिस समाज मे दर्शन-शास्त्र का विशेष प्रचार या चर्चा नही वह स्वरूप-रक्षा का कोई यत्न नही कर सकता, अथवा यों कहिए कि जो पूर्णतया यह स्पष्ट नही जानते कि इस स्थूल शरीर के बाद भी कुछ रहता है—परलोक मे जानेवाला या पुनर्जन्म पानेवाला भी कोई है, वे उसकी स्वरूप-रक्षा या उन्नति के लिये भी कोई यत्न नहीं कर सकते, उनकी धर्म-व्याख्या स्थूल तत्त्वों पर ही समाप्त हो जाती है। किंतु जो अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर का भी पूर्ण अनुभव कर चुके हैं, और गभीर तत्त्व के तल तक पहुँचनेवाली जिनकी दृष्टि उस सूक्ष्म शरीर की स्वरूप-रक्षा और उन्नति के उपायों को भी देख चुकी है, उन विद्वान् महानुभावों के समाज मे धर्म की व्याख्या बहुत विस्तृत है। वे स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर की उन्नति को बहुत अधिक प्रतिष्ठा देते हैं। अतएव परलोक-सबधी धर्म ऐसे समाज मे सबसे प्रधान माने जाते हैं। 'परिणाम' शब्द से इनके यहाँ परलोक की उन्नति ही समझी जाती है। स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर बहुत अधिक स्थायी है; वह इस शरीर को छोडकर अनेक लोकों तथा दूसरे शरीरो मे भी जाता है, उसको आगे सद्गति की ओर ले जाना या दुर्गति की ओर गिराना अपने ही कर्मो पर निर्भर है—इस तत्त्व को समझ जाने-वाला विद्वान् या विद्वत्समाज स्वभावतः उसी की उन्नति के यत्नों मे लग जाता है। यही कारण है कि आर्य-जाति के धर्म का विशेष सबध परलोक से है और इस जाति की धर्म-व्याख्या अति विस्तृत एव कठिन है। लाखों वर्ष पूर्व यह जाति दार्शनिक विज्ञान मे चरम उन्नति कर चुकी थी—और स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीर, आत्मा, लोक, परलोक-गति आदि का पूर्ण ज्ञान भी प्राप्त कर चुकी थी, साथ ही अपने तलस्पर्शी विज्ञान के द्वारा परलोक की उन्नति के साधन भी निश्चित कर चुकी थी। हमारे यज्ञ, तप, उपासना, योग, श्राद्ध आदि धर्मों का उच्चतम विज्ञान से घनिष्ठ सबध है, और वे सब सूक्ष्म शरीर की उन्नति के द्वारा परलोक की सद्गति के युक्तियुक्त साधन हैं। भले ही हम आज अज्ञानवश कर्मकांड के वायु-शुद्धि आदि छोटे-छोटे फलों की कल्पना किया करे, किंतु कर्मकांड के आकर-ग्रथ 'ब्राह्मण' आदि हमे ऐसा नही बताते। वहाँ स्पष्ट परलोक-गति ही अधिकतर कर्मो का मुख्य फल माना गया है। मीमांसा मे एक 'विश्वजित् अधिकरण' नाम का न्याय ही इसलिये है कि जिस कर्म का कोई फल श्रुति मे न लिखा हो उसका फल स्वर्ग ही समझना। उपासना और ज्ञानकांड का तो परलोक-गति से मुख्य सबंध है ही। वे सूक्ष्म शरीर, कारण-शरीर वा व्यावहारिक आत्मा की उन्नति के लक्ष्य से ही नियमित हैं।

स्थूल एव सूक्ष्म शरीर का भेद न जानते हुए जनसाधारण भी अविज्ञात भाव से सूक्ष्म शरीर की वृत्तियो का अभिमान रखते है, और उन वृत्तियों को ही अपना मुख्य स्वरूप मानते हुए उनकी

रक्षा मे शरीर तक का समर्पण कर बैठते है। सूक्ष्म शरीर मे मन प्रधान है, अतः मन की सब वृत्तियाँ सूक्ष्म शरीर के ही अंतर्गत मानी जाती हैं। बहुत-से दयालु पुरुष दयावृत्ति को प्रधानता देते हुए—उसी को स्वरूप मानकर जैसे विपत्ति मे पडे हुए प्राणी की रक्षा के लिये अपना धन, जन, शरीर, प्राण, सब कुछ छोड सकते हैं वैसे ही लोभी पुरुष लोभवृत्ति के चक्कर मे पडकर वा कामी पुरुष कामवृत्ति के वश मे होकर भी सबका त्याग कर सकते है। यह त्याग भी स्वरूप-रक्षा के अभिमान से ही होता है। यह दूसरी बात है कि वह अभिमान उचित है वा अनुचित, सत्य है वा मिथ्या। लोभ, काम आदि वृत्तियाँ आगतुक हैं, ये स्वरूप नही कही जा सकती, अतएव इनकी रक्षा के उपाय भी धर्म नहीं हो सकते। किंतु जिन्होंने भ्रांतिवश इनको स्वरूप समझ लिया, वे अधर्म को धर्म समझकर इन वृत्तियो के परिपालन मे लगते हैं। अतः धर्म की अभिलाषा वहाँ भी है, धर्म का यथार्थ ज्ञान नही है। सूक्ष्म शरीर, कारणशरीर वा आत्मा का तत्त्व जानने पर धर्म का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और आचरण मे सत्यता आ जाती है। तात्पर्य यह कि जो समाज दर्शन-विज्ञान प्राप्त कर चुका हो उसकी 'स्वरूप-रक्षा' कुछ और ही है, और उस जाति की धर्मव्याख्या अति विस्तृत एव उच्च विज्ञान से संबध रखने के कारण अति कठिन होती है। वह जाति अपने मुख्य धर्म के सामने अर्थ-कामादि की सब प्रकार की उन्नति को गौण समझती है। उस जाति का धर्म औरो के धर्म की अपेक्षा विलक्षण ही होता है। यही कारण है कि हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि लौकिक उन्नति को गौण और तुच्छ ही मानते रहे। यद्यपि वे लौकिक उन्नति के भी सब साधनो के पारंगत विद्वान् तथा आचार्य थे—पारलौकिक उन्नति का जिनको पूर्ण अधिकार नही उन्हे वे लौकिक उन्नति के साधनो की पूर्ण शिक्षा भी दे गए हैं, तथापि उनका अपना लक्ष्य यही था कि "ब्राह्मणस्य तु देहोऽय क्षुद्रकामाय नेष्यते, इह क्लेशाय तपसे प्रेत्यानन्तसुखाय च।—अर्थात् ब्राह्मणो की देह छोटी कामनाओं की पूर्त्ति करने के लिये नही है। वे इस जन्म मे पूरा क्लेश उठावे और परलोक मे अनत सुख प्राप्त करे।" यह तो एक स्वाभाविक बात है कि बडी और अधिक काल की उन्नति के सामने छोटी और अल्पकाल की उन्नति को सभी छोड दिया करते हैं। आगे उत्पन्न होनेवाले धान्य की आशा से घर के थोडे धान्य को खेत मे फेक देनेवाले कृषक वा घर की पूँजी को पहले ही खपा देनेवाले व्यापारी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। फिर जिनको परलोक का निश्चित ज्ञान है—जो उस विभूति के सामने यहाँ की विभूतियो को तुच्छ ही नही, तृण के समान निःसार मानते है और इसकी अपेक्षा उसके बहुत स्थिर होने का जिनको निश्चय है, वे उस उन्नति की आशा मे यदि इसे छोडे तो यह अस्वाभाविक नही कहा जा सकता।

बृहदारण्यक उपनिषद् मे एक आख्यायिका है। महर्षि याज्ञवल्क्य सन्यासाश्रम मे प्रवेश करना चाहते हैं। उनके दो स्त्रियाँ थी। वे अपनी स्त्री 'मैत्रेयी' से कहते है—'मैत्रेयी! मै अब सन्यास लेता हूँ, मै अपने धन का तुम दोनो मे विभाग कर देना चाहता हूँ।' मैत्रेयी पूछती है—'भगवन्! क्या यह संपूर्ण पृथिवी धन से भरी हुई मुझे मिल जाय तो मै अमृतदशा को प्राप्त हो सकूँगी?' याज्ञवल्क्य ने कहा—'नही! धनवानो की तरह तेरा जीवन होगा, धन से अमृतदशा की तो आशा नही की जा सकती।' बस, मैत्रेयी बोल उठी—'जिससे मै अमृत न होऊँगी उस धन को लेकर क्या करूँगी? जो आपका

मुख्य धन (आत्मज्ञान) है वही मुझे दीजिए।' इसके बाद याज्ञवल्क्य ने समझाया कि आत्मा के सबंध से ही सब वस्तुओ मे प्रियता होती है, इसलिये आनदघन-रूप आत्मा का ही विज्ञान प्राप्त करना चाहिए—इत्यादि। सत्य है। जिसे जिस रस का चसका है वह उसी के लिये मत्त है, ससार मे उसे और कुछ नही सूझता। जिस प्रकार ससारी मनुष्य धन, पुत्र, कलत्र आदि के सुख मे मत्त हैं उसी प्रकार भक्त भक्ति मे और ज्ञानी ज्ञान मे मत्त रहते है। सवकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है, किसी की वलात् नही। अस्तु, ऊपर कहा जा चुका है कि स्वरूप-रक्षा के साधन का नाम 'धर्म' है। उसमे आबाल-गोपाल सर्वसाधारण की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अर्थ और काम, स्वरूप-रक्षा की तुलना मे, तुच्छ सिद्ध होते है। अतः पुरुषार्थ-विचार मे धर्म का, अर्थ और काम सवसे, बहुत अधिक गौरव है। लौकिक और पारलौकिक, सब प्रकार की, उन्नति धर्म के ही अधीन है। किंतु जो जितना अपना स्वरूप समझ सकता है वा जिस स्वरूप का जिसे मुख्य रूप से अभिमान है—अर्थात् स्वरूप मे प्रविष्ट बहुत-से पदार्थों मे से जिसे जिसने मुख्य मान रक्खा है, उसी की रक्षा के लिये वह यत्न करता है। एक गरीब को केवल अपनी कुटिया की रक्षा की चिता होती है, किंतु राजा को सपूर्ण राज्य के रक्षा की चिंता लगी रहती है। इसी प्रकार अधिकाधिक विद्या के कारण जो अपना स्वरूप जितनी उत्तमता से जान सके, उनका धर्म उतना ही विस्तृत होता है। स्वरूपांतः प्रविष्ट पदार्थों मे से भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार कोई किसी को और कोई किसी को मुख्य मानता है, उसी पर उसका स्वरूपाभिमान दृढ़ होता है और उसी की उन्नति मे वह प्रयत्नशील होता है। इसी आधार पर धर्मो के बहुत भेद हो जाते हैं, और इसी आधार पर कुछ साधारण धर्म सबके एक-से रहते हैं, क्योंकि मनुष्यता, सामाजिकता आदि का अभिमान सबको एक-सा ही रहता है। आर्य-जाति अनादि काल से विद्वत्ता के उच्च आसन पर आरूढ़ है, इससे इसका धर्म भी बहुत विस्तृत है।

स्वरूप-रक्षा का साधन होने के कारण, अर्थ और काम से धर्म की उत्कृष्टता सिद्ध की जा चुकी है। अब उस विषय मे दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जाय। वास्तव मे पुरुषार्थ 'सुख' है, और सब गौण पुरुषार्थ हैं। आनद ही के लिये सब मनुष्य सब काल मे, सब दशा मे, लालायित रहते हैं। सबकी दृष्टि एक ही लक्ष्य 'आनद' पर है। कोई धन कमा रहा है तो आनद के लिये, और कोई धन खर्च कर रहा है तो आनद के लिये। अर्थ, काम, धर्म आदि जिस-किसी वस्तु की इच्छा पुरुष को होती है, बस आनद के लिये ही होती है। इसलिये 'पुरुषैरर्थ्यते यः स पुरुषार्थः'—पुरुष को जिसकी इच्छा हो वह 'पुरुषार्थ' है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पुरुषार्थ' आनद या सुख ही हुआ, और सब उसके साधन होने से गौण पुरुषार्थ हुए। सुख के साधन ये तीनों हैं—धर्म, अर्थ और काम, इसलिये ये भी 'पुरुषार्थ' कहाते हैं। इनमे भी 'धर्म' ही सुख का मुख्य साधन है, अतः वह साधनो मे 'मुख्य पुरुषार्थ' है, इतर दोनो गौण हैं। इसका कारण यह है कि शुभ आचरण-रूप धर्म के बिना अर्थ और काम की प्राप्ति ही असंभव है। शास्त्राज्ञा-रूप धर्म का आचरण करते हुए ही सब वर्ण और जाति के मनुष्य अपनी-अपनी वृत्ति से उपयुक्त धनोपार्जन कर सकते हैं। धर्म के विरुद्ध साधनो से उपार्जन किया हुआ धन कभी सुख का कारण नही हो सकता, प्रत्युत अनत दुःख उत्पन्न करनेवाला होता है। यह चोरी आदि दृष्टांतो

से नीतिवेत्ता भी मानेंगे। साथ ही, धर्म-विरुद्ध पर-स्त्री आदि का काम-भोग भी कभी सुखजनक नही हो सकता। मोहवश चाहे उन कामो मे बहुत-से लोग प्रवृत्त हो जाते हो, पर उनका समर्थन वे स्वयं भी नही कर सकते, और उन अर्थ-कामो से उन्हे कितना सुख और कितना दुःख होता है—यह तोल भी उनका आत्मा ही जानता है। यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि अर्थ या काम से सुख तभी होता है जब उनमे सतोष हो और ईश्वर पर लक्ष्य हो। सतोष की मात्रा के विना, धन कमाने से अधिकाधिक तृष्णा बढ़ती जाती है, और तृष्णा की ज्वाला से तपे हुए इधर-उधर दौड-धूप करनेवाले विश्राम-शून्य मनुष्यो को सुख का लेश भी नही मिल सकता। स्वय काम-भोग करते हुए भी जो दूसरो की ईर्ष्या से जले जाते हैं, अथवा जो उत्कट काम-भोग के द्वारा अपनी इच्छा को बढाते हुए भी काम-भोग के साधन—शरीर, इद्रिय आदि—को जर्जर कर लेते हैं, वे क्या स्वप्न मे भी सुखी होते हैं? फिर अर्थ और काम का स्वभाव ही नश्वरता है, वे कभी स्थिर रह नही सकते, उनके विनाश पर ईश्वर-लक्ष्यवाले पुरुष ईश्वरेच्छा को बलवान् मानते हुए दुःख से वच सकते हैं, किंतु जो उधर लक्ष्य नहीं रखते वे अथाह दुःख-सागर मे डूबते हैं। इस प्रकार धर्म की सहायता भी सुख-साधन मे अत्यावश्यक सिद्ध हुई। साराश यह कि सुख वही पुरुषार्थ है जो दुःख से दवाया न जाय। जहाँ सुख एक अश और दुःख दो-तोन अश हो वहाँ कोई विद्वान् प्रवृत्त नही होता। यदि धर्म के द्वारा अर्थ और काम की मर्यादा रक्खी जाय तो वे सुख-साधन हो सकते हैं, परंतु धर्म की मर्यादा के विना वे सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक उत्पन्न करते हैं। इससे भी सुख के साथ धर्म का ही घनिष्ठ सवध सिद्ध होता है और सुख के साधनों मे 'धर्म' ही प्रधान पुरुषार्थ मानने योग्य ठहरता है। शास्त्रो मे जो सुख का स्वरूप वडी विवेचना के साथ निरूपित हुआ है उस पर एक दृष्टि डालने से तो यह विषय अत्यत स्फुट हो जाता है। 'सुख' या 'आनद'[1] वाहर की वस्तु नही, यह आतरिक वस्तु है, या यो कहिए कि आत्मा का स्वरूप है। अविद्या के परिणाम—अंतःकरण के आवरण से ढँके रहने—के कारण यह आनद हमे सदा प्रतीत नही होता। किंतु जव अंतःकरण मे सत्त्वगुण की प्रधानता होती है और वह स्वच्छ हो जाता है तव जैसे स्वच्छ शीशे से निकलकर दीपक की प्रभा चारों ओर फैल जाती है वैसे ही आत्मा की आनद-ज्योति प्रकट होकर बाह्य विषयो तक फैल जाती है। उसी को हम लोग आनदानुभव—'सुख की प्रतीति'—मानते हैं। सुख की प्रतीति सत्त्वगुण की प्रधानता पर अवलवित है, और सत्त्वगुण की प्रधानता के साधन का ही नाम 'धर्म' है।

जिस अर्थ या काम की प्राप्ति के लिये पुरुष विकल रहता है और जी-तोड परिश्रम करता रहता है, उसकी प्राप्ति के समय वह विकलता—वह चित्त की चचलता—दूर हो जाती है और स्थिर चित्त मे सत्त्व का उदय होता है। इसी से अर्थ और काम की प्राप्ति मे सुख की प्रतीति होती है। महात्मा भर्तृहरि की उक्ति कैसी मार्मिक है—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिवति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्त्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादि वलितान्।

१. शास्त्रीय विवेचना मे इन दोनो शब्दों ('सुख' और 'आनद') के अर्थ मे सूक्ष्म भेद है परतु यहाँ स्थूल रूप से एकार्थक मानने मे कोई क्षति नहीं।

प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधू
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

अर्थात्—"जब तृषा से मुख सूखने लगता है तब सुदर जल पीकर उसका प्रतीकार किया जाता है। क्षुधा की व्याधि उपस्थित होने पर शाक-ओदन आदि द्वारा उसका निवारण होता है। काम की अग्नि ज्वलित होने पर स्त्री-संयोग से उसे शांत किया जाता है। इस प्रकार रोग के प्रतीकारों को ही मनुष्य धोखे से सुख मान रहे है।"—तात्पर्य यही है कि दुःख-जनित चित्त की चचलता मिटाना ही वाह्य विषयों के सग्रह का उद्देश्य है, सुख तो स्थिर चित्त मे स्वतः प्रकाशित होता है। यह चित्त की स्थिरता अर्थ-कामो से, बिना धर्म की नियत्रणा के, नही हो सकती। अधिकाधिक इच्छा से चचलता वढती ही जायगी। अतः धर्म के विना अर्थ और काम 'पुरुपार्थ' नही। किंतु धर्म, विना अर्थ और काम के भी, पुरुपार्थ है। कारण, इच्छा-वृत्तियों को रोककर वा समाधि द्वारा, विना वाह्य विपयो के भी, चित्त की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। इसका आशय यह है कि इच्छा, द्वेप आदि वृत्तियाँ जो मन मे चचलता पैदा करनेवाली हैं, उनके हटने पर चित्त की चचलता दूर होना ही सुख है। उन वृत्तियो का हटना दोनों प्रकार से सभव है—उनके अनुकूल पदार्थ प्राप्त करके या विचार द्वारा उन्हे पैदा ही न होने देने से। पहला उपाय सभी प्राणी करते हैं, किंतु उससे यथार्थ सिद्धि नही होती। एक इच्छा के पूरी होने पर भी आगे इच्छा का स्रोत वहता ही रहता है। सब इच्छाएँ तो कभी किसी की पूरी हो ही नही सकती, और यदि पूरी हों भी तो यह नहीं कहा जा सकता कि अब आगे इच्छा होगी ही नहीं। जहाँ फिर इच्छा उत्पन्न हुई कि फिर चचलता और दुःख! ऐसा ही द्वेष आदि के सवध मे भी समझिए। अंतःकरण मे इस द्वेष दुष्ट का राज्य होने पर भले-भले आदमी भी क्या नहीं कर डालते। अपने उपकारकों पर भी यह दुष्ट आक्रमण करवा देता है। सीधे-सादे और भोले-भाले आदमियों से भी यह छल-प्रपंच करा डालता है! इस भूत के आवेश मे आकर मनुष्य अपने-आपको योग्य पुरुषो की दृष्टि से गिरा लेता है। कलुप हृदय की आकृति बाहर तक प्रकट हो जाती है। किंतु, यदि पूर्ण उद्योग से छल-प्रपंच कर आप कदाचित् अपने शत्रु पर विजय भी पा सके, तो क्या वह सुख चिरस्थायी है? याद रखिए, अंत मे सत्य की विजय होगी और जिस सुख पर आप फूल रहे है उसका परिणाम घोर दुःख होगा।

इसी प्रकार मन के सब विकारो पर विचार कर लीजिए। किंतु जो धर्म-मार्ग के पथिक हैं वे संतोष, निर्वैरता, करुणा आदि की ऐसी सघन छाया मे बैठ जाते हैं कि इन मनोविकारो का प्रचड आतप उन्हे सता ही नहीं सकता। योगदर्शनकार भगवान् पतजलि कहते हैं—"यदि चित्त की प्रसन्नता चाहते हो तो किसी प्राणी का अभ्युदय देखकर उसके साथ ईर्ष्या करने के स्थान मे उसे अपना मित्र समझो। किसी को दुःख पाता देखकर प्रसन्न मत हो, उस पर करुणा करो। पवित्र कार्य करते हुए पुरुषो को देखकर हर्ष-युक्त हो। पापियों की—यदि वे नही मानते हैं तो—उपेक्षा करो, उनसे झगड़ा मत करो, प्रत्युत उनको सुबुद्धि देने के हेतु परमपिता जगदीश्वर से प्रार्थना करो।"

यही प्रसन्नता के उपाय हैं जो धर्म-कल्प-वृक्ष के आश्रय के बिना मिल ही नही सकते।

निष्कर्ष यह कि हर तरह से मुख्य पुरुषार्थ 'सुख' ही है, और दुःखो के अभाव के विना सुख प्रतीत हो नही सकता। केवल अर्थ और काम से कुछ काल तक सुख हुआ भी तो वह दुःख के साथ ही रहेगा, दुःख को दवा नही सकता। किंतु धर्म तो अर्थ और काम के साथ रह कर भी सुख प्रतीत करा सकता है और उनकी सहायता के विना भी सुख-साधन हो सकता है।

जव यह सिद्ध हो चुका कि धर्म ही मुख्य पुरुषार्थ है, तव, अव मोक्ष के सवध मे थोडा विचार करना चाहिए। हम पहले कह आए हैं कि प्राणिमात्र दुःख का अभाव चाहते हैं। सुख के साथ भी दुःख भोगना कोई स्वीकार न करेगा। दुःख से छुटकारा पाने की ओर सवकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति मे मोक्ष के परम पुरुषार्थ होने मे किसी प्रकार की शका ही नही रह जाती, क्योकि दुःख-निवृत्ति का ही नाम मोक्ष है। यह दूसरी वात है कि ससार मे सव दुःखो का अभाव कभी हो नही सकता, अतः मोक्षार्थी पुरुषो को ससार से विमुख होना पडता है, इससे भयकर समझ कर सव उसके लिये प्रवृत्त न हो सके, किंतु मुक्ति की ओर प्रवृत्त होना स्वाभाविक है, कृत्रिम नही।

जो सज्जन इस प्रकार की शका उठाते हैं कि जिस मोक्ष-दशा मे सुख या दुःख किसी का भी अनुभव नही होता उसकी तरफ भला कौन प्रवृत्त हो, उनसे हमारा यही सक्षिप्त निवेदन है कि आप अतुल सुख भोगते हुए भी—विविध प्रकार की विलास-सामग्री सामने रहते हुए भी—क्यो नित्य शयन की इच्छा करते हैं—कौन-सा हेतु है जो आपको सव सुखो से हटाकर उस निद्रा की ओर वलात् खीच ले जाता है जिसमे किसी दुःख या सुख का अनुभव नही होता? अगत्या मानना पडेगा कि सांसारिक श्रम-रूपी दुःख से वचने के लिये शाति-रूपी निद्रा की ओर सवका झुकाव स्वाभाविक है, किंतु अनादि-काल की वासना से घिरे हुए हम लोग उस शाति का चिरानुभव नही कर सकते—वासना हमे फिर उधर से इधर घसीट लाती है। तव, जो महानुभाव शाति का तत्त्व समझ जाते हैं वे सव वासनाओ के क्षय मे लगकर मोक्ष-मार्ग के पथिक वन जाते हैं। शात्यानद ही मुख्य आनद है, समृद्ध्यानंद तो उसका साधन-मात्र है। जिस समय मनुष्य कोई नई उन्नति करता है—उसे कुछ धन मिले, ऐश्वर्य मिले वा पुत्र-जन्म हो, उस समय कुछ काल के लिये अतःकरण मे विकास होता है, मानो उस नए विषय को पकडने के लिये अंतःकरण फूल उठता है। किंतु थोडे समय के अनतर उस धन, ऐश्वर्य और पुत्र के विद्यमान रहने पर भी वह आनद-प्रतीति नही रहती। अव वह नया पदार्थ भी अपने स्वरूप मे आ गया, इसलिये स्वरूपभूत शात्यानद ही अव रह गया, वह चित्तवृत्ति का विकास होते समय जो एक विशेष चमत्कार-रूप से आनद का अनुभव हुआ था, अव न रहा! हाँ, यदि वह नया पदार्थ अव चला जाय तो दुःख होगा। पहले जव वह न था तव दुःख की वेदना वैसी न थी जैसी अव उसके चले जाने पर होगी। इसका कारण स्पष्ट है कि पहले वह पदार्थ अपने स्वरूप मे नही था, अव उसके हटने से स्वरूप-हानि-प्रयुक्त दुःख होगा ही।

अस्तु, कहने का तात्पर्य यह कि यों समृद्ध्यानद क्रम से शांत्यानंद के रूप मे परिणत हो जाता है, और शात्यानद आत्मा का स्वरूप है। मोक्ष के सवध मे जो यह विवाद दर्शनो मे है कि कोई मोक्ष मे सुख मानते हैं और कोई नही मानते, उसका भी निपटारा इसी रूप मे ठीक होता है कि

स्वरूपानद—अर्थात् शांत्यानंद—मोक्ष मे है, समृद्ध्यानंद नही। मोक्ष 'सर्वात्मभाव' कहा जाता है, अर्थात् सब कुछ उसके आत्मा—स्वरूप—मे आ चुका। जब सब स्वरूप बन गया, तब फिर नई वस्तु मिलेगी कैसे और विकास कहाँ से होगा? इसलिये समृद्ध्यानद वहाँ नही होता, किंतु सब कुछ हमारा हो जाने पर—वा हमारे सर्वरूप हो जाने पर—कमी किस बात की रही? शांत्यानद जो मुख्यानंद है वह तो अनतरूप मे प्राप्त हो गया! मान लीजिए, एक पुरुष ऐसा है जो सांसारिक दृष्टि से पूर्ण उन्नति प्राप्त कर महाराजाधिराज बन गया। उसे अब प्राप्तव्य कुछ न रहा। दूसरा क्रम-क्रम से अपना अधिकार बढ़ाता जाता है और अधिकार बढ़ने की दशा मे नित्य-नित्य सुख का अनुभव करता है। इन दोनों मे ऊँचे दर्जे का तो वही कहलाएगा जो सब कुछ प्राप्त कर चुका है। यह दूसरा भी कभी उस स्थिति पर पहुँचेगा—उसके लिये यह लालायित है। बस, इसी तरह सर्वात्मभाव प्राप्त कर चुकनेवाला मुक्त पुरुष ही पूर्ण शांत है, ससारी लोग उसी स्थिति मे पहुँचकर झंझट से छूटेगे।

इस प्रकार, सक्षेप मे सिद्ध यह किया गया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम से जो चार पुरुषार्थ आर्यशास्त्रों मे निरूपित हुए है उनका स्वरूप क्रम से स्वरूप-रक्षा, सांसारिक उन्नति, भोग-विलास और दुःख-निवृत्ति है। ये ही प्राणिमात्र के इष्ट पदार्थ हैं। किसी भी इच्छा का लक्ष्य इनसे बाहर नही.जा सकता। इसलिये ये चारो ही पुरुषार्थ हैं। और, चार ही पुरुषार्थ हैं भी, अधिक नही। सामान्यतः तो चारो ही पुरुषार्थ हैं; किंतु विचार-दृष्टि से सिद्ध यही होता है कि 'मोक्ष' तो परम पुरुषार्थ है, किंतु सांसारिकों के लिये त्रिवर्ग मे 'धर्म' ही मुख्य पुरुषार्थ है, और 'अर्थ' तथा 'काम' गौण पुरुषार्थ हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो मार्गो पर दृष्टि रखकर दो प्रकार से धर्म की मुख्य पुरुषार्थता सक्षेप से सिद्ध की गई है। धर्म की ओर सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहने पर भी धर्मानुष्ठान मे और धर्म के मतव्य मे क्यों सबका परस्पर भेद हो जाता है, इसका उत्तर भी यथोचित देने की चेष्टा की गई है। यही इसका सार है।
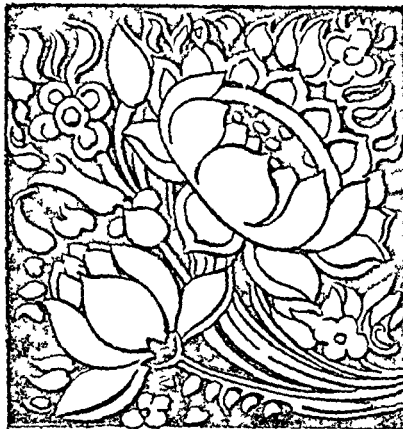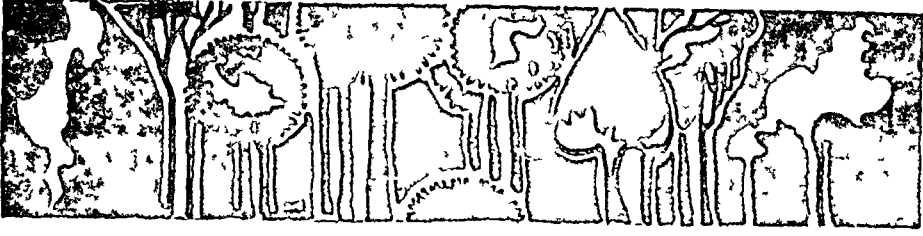
जन्म-मृत्यु के अनुपात में भारत तथा संसार के अन्य देश

प्रोफेसर विनयकुमार सरकार

दुनिया के विभिन्न देशो मे प्रति सहस्र का जन्म-निष्पात समान नही है। किसी देश मे प्रति सहस्र २० शिशु जन्मते हैं, किसी मे प्रति सहस्र ३०, और किसी-किसी देश मे प्रति सहस्र ४०। इस प्रकार के निष्पात-भेद के आधार पर ससार के विभिन्न देश कई श्रेणी मे विभक्त किए जा सकते हैं। जिन देशों की जन्म-सख्या प्रति सहस्र २० तक है वे एक श्रेणी मे, जिनकी जन्म-सख्या प्रति सहस्र २० से ३० तक है वे दूसरी श्रेणी मे, जिनकी सख्या प्रति सहस्र ३० से ४० तक है वे तीसरी श्रेणी मे। इसी प्रकार भिन्न देश भिन्न श्रेणियो मे विभक्त हो सकते हैं। दुनिया के प्राय: तीस देशो को इस प्रकार श्रेणी-बद्ध किया जा सकता है। इसी प्रकार भारतवर्ष के विभिन्न प्रातो को, उनकी जन्म-सख्या के निष्पात के अनुसार, अन्य देशो के साथ श्रेणी-वद्ध किया जा सकता है। कुछ देशो की जन्म-संख्या का निष्पात प्रति सहस्र २५ से ३० के बीच मे होता है—इस श्रेणी मे योरप का हगरी देश और भारत का आसाम-प्रात है। इस प्रकार ससार के देशों को श्रेणी-वद्ध करने से यह वात सिद्ध हो जाती है कि जन्म-निष्पात के भेद उन देशो के जातीय, सामाजिक, भौगोलिक अवस्था या धार्मिक विश्वास के भेद पर निर्भर नही करते। अर्थात् दुनिया के कई देशो मे, जिनकी जातीय अथवा भौगोलिक स्थिति समान है, जन्म-निष्पात भिन्न है और कई देशों मे जिनकी जातीय, सामाजिक अथवा भौगोलिक स्थिति भिन्न है उनका जन्म-सख्या-निष्पात समान है। आँकडों के द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि जन्म-निष्पात केवल पराधीन देशों मे ही उच्च नही है। विहार-उड़ीसा मे जो जन्म-निष्पात है वही पोलैंड, जापान और रूमानिया में है। आसाम का जो जन्म-निष्पात है वही ठीक इटली और हगरी का है। पराधीन देशों मे ही नहीं, प्रत्युत स्वाधीन देशो मे भी जन्म-निष्पात उच्च हो सकता है। जन्म का अनुपात प्राय: वढ़ता-घटता रहता है, कदाचित् ही एक समान रहता हो। इस विषय में निम्नलिखित कई साम्य-संवध निर्दिष्ट किए जा सकते हैं—

[१] 'क' देश का (१९३० का) जन्म-निष्पात यदि 'ख' देश के (१९३० के) जन्म-निष्पात से तिगुना है तो 'क' (१९३०) = ३ 'ख' (१९३०)।

[२] 'क' देश का १९३० मे जो जन्म-निष्पात था, हो सकता है कि १९०६ मे वही न रहा हो। १९०६ और १९३० के जन्म-निष्पात मे कमी या बढ़ती दिखलाई जा सकती है। यदि १९३० मे वह १९०६ से दुगुना हो तो 'क' (१९३०)=२ 'क' (१९०६)।

[३] १९३० मे 'क' देश का जो जन्म-निष्पात था, यदि वही जन्म-निष्पात 'ख' देश का १९०५ मे था, तो उसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—'क' (१९३०)=२ 'ख' (१९०५)—इत्यादि।

आज-कल दुनिया के सब देशो मे जन्म-निष्पात घट रहा है। भेद केवल यही है कि कहीं घटना पहले प्रारभ हुआ, कही उसके बाद। सन् १८८४ तक जर्मनी और इँगलैड का जन्म-निष्पात बढ़ रहा था, पर उसके बाद से घटने लगा है। इटली मे जन्म-निष्पात १८९० तक बढ़ता रहा। तात्पर्य यह कि दुनिया के समस्त श्रेष्ठ देशो मे जन्म-निष्पात बढ रहा था और गत तीस, चालीस या पचास वर्ष से घटने लगा है, और आज-कल भी दुनिया के कई बडे देशो मे जो जन्म-निष्पात है वह भारत के अनेक प्रांतो मे पाया जाता है। बगाल का जन्म-निष्पात प्रति सहस्र २८.९ है और इटली का २९.२। इसलिये जन्म-निष्पात द्वारा यदि सभ्यता की परीक्षा हो तो इटली सभ्य और बगाल असभ्य नही कहा जा सकता। जन्म-निष्पात के समान मृत्यु-निष्पात भी सब जगह घट रहा है—भारत मे भी धीरे-धीरे घट रहा है। भारत के प्रांतों मे युक्तप्रांत का मृत्यु-निष्पात सबसे अधिक घटा है। शिशु-मृत्यु का निष्पात भी, दुनिया के विभिन्न देशो मे, घटना आरभ हो गया है। सन् १९२६-२७ मे बिहार का (एक वर्ष से कम उम्र के) शिशु-मृत्यु-निष्पात प्रति सहस्र १४७.७ था। भारत के विभिन्न प्रांतों के शिशु-मृत्यु-निष्पातो मे यह सबसे कम है। १९०५ मे फ्रांस का शिशु-मृत्यु-निष्पात प्रति सहस्र १४८.५ था। इससे देखा जाता है कि बिहार-प्रात फ्रांस से केवल इक्कीस वर्ष पीछे है। १९२६ मे बगाल का शिशु-मृत्यु-निष्पात प्रति सहस्र १९६.७६ था। १९०५ मे जर्मनी का शिशु-मृत्यु-निष्पात १९५ था। इसमे भी कहा जा सकता है कि बगाल जर्मनी से केवल इक्कीस वर्ष पीछे है। जन्म-निष्पात के सबध मे भी ठीक यही बात लागू होती है। १९२५ का बगाल का जन्म-निष्पात १९०५ से १९१४ तक के जर्मनी के जन्म-निष्पात के समान और १९०० से १९१० तक के इँगलैड के जन्म-निष्पात के समान था।

इन सब आँकडो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि योरप के प्रधान-प्रधान देश भारतवर्ष से केवल दस, पद्रह या बीस वर्ष आगे हैं।

प्रत्येक देश मे मृत्यु-निष्पात से जन्म-निष्पात जितना अधिक होता है उसी पर उस देश की जन-सख्या-वृद्धि निर्भर करती है। १८८१ मे भारत मे लोक-वृद्धि प्रति सहस्र १.५ थी, १९११ मे ९.६, १९२१ मे १२ और १९३१ मे १०.२। अन्य देशों मे लोक-वृद्धि एक निर्दिष्ट पथ पर होती है—या तो वृद्धि ही होती है या कमी। पर भारत के संबध मे यह नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष मे लोक-वृद्धि किसी एक नियम से नहीं होती। किन्ही दस वर्षों (दशक) मे वह बढती और किन्ही दस वर्षो मे घट जाती है। तात्पर्य यह कि भारत का लोक-वृद्धि-निष्पात दुनिया के अन्य पचीस देशो की अपेक्षा कम है। जिस प्रकार जन्म-मृत्यु के निष्पात की तुलना करके कहा जा सकता है कि भौगोलिक अवस्था

इत्यादि का निष्पात के ऊपर प्रभाव नहीं पडता, उसी प्रकार लोक-वृद्धि-निष्पात के सबध मे भी कहा जा सकता है कि यह भौगोलिक अवस्था पर निर्भर नही करता। आज-कल दुनिया के विभिन्न देशों में जो लोक-वृद्धि-निष्पात पाया जाता है उससे यदि दुनिया की लोक-सख्या की (अति) वृद्धि (over-population) हो तो भारत उसके लिये कहाँ तक दायी होगा? भारत का लोक-वृद्धि-निष्पात अनेक देशों के निष्पात से कम है। रूस, जापान आदि अनेक देशो का लोक-वृद्धि-निष्पात भारत की अपेक्षा अधिक है। ब्रिटिश भारत की लोक-सख्या चौबीस करोड है। इन चौबीस करोड मनुष्यो मे वृद्धि-निष्पात जिस गति से चल रहा है, पचास करोड जन-सख्यावाले अन्य बीस देशो मे उससे ज्यादा तेजी से चल रहा है। दुनिया के किसी-किसी देश मे जो वृद्धि-निष्पात देखा जाता है वह भारत मे कभी नही देखा गया। भारतवर्ष के लोक-वृद्धि-निष्पात का ह्रास केवल फ्रास को छोडकर अन्य सब देशो की अपेक्षा अधिक है। विभिन्न देशो की जन-सख्या कितने वर्षो मे, आज-कल के निष्पात को ध्यान मे रखते हुए, दूनी हो जायगी— इसकी तालिका नीचे दी जाती है। इन सख्याओ के देखने से यह भी पता चलेगा कि कौन-कौन देश दुनिया मे लोकाधिक्य (over-population) की समस्या उत्पन्न कर देंगे। सख्याएँ इस प्रकार हैं—

रूस	३३ वर्ष	इटली	६२ वर्ष
जापान	४५ ,,	युक्तराष्ट्र	८२ ,,
पोलैंड	४८ ,,	जेकोस्लोवाकिया	८५ ,,
कनाडा	५१ ,,	ब्रिटिश भारत	१०२ ,,

ऊपर लिखी बातो से यह सहज ही समझा जा सकता है कि दुनिया के लोकाधिक्य को अन्य देश जितना बढाएँगे, उतना भारतवर्ष नहीं। भारतवर्ष मे लोकाधिक्य हो रहा है कि नही, इस सबंध मे भी दो-एक बात कहने की आवश्यकता है। लोकाधिक्य एक आपेक्षिक वस्तु है। किसी देश मे लोकाधिक्य हो रहा है अथवा नही, इसका विचार करने के साथ-साथ इसका भी विचार करना होगा कि उस देश की जीवन-यात्रा-प्रणाली (standard of living) किस प्रकार की होनी चाहिए। कुछ देशो मे खाने-पहनने का खर्च घटाकर, आमदनी वही रहते हुए, अधिकसख्यक लोगों का निर्वाह सभव हो सकता है। दूसरी ओर, यदि खर्च बढ जाय, और जन-सख्या न बढते हुए भी आमदनी न बढे, तो लोकाधिक्य-समस्या और भी कठिन हो जाती है। भारतवर्ष यदि जापानी जीवन-यात्रा-प्रणाली को अपनावे तो उसके लिये अपनी वर्त्तमान जन-सख्या का पोषण करना असभव हो जायगा, और शायद उसे उस चाल-ढाल से रहने के लिये अपनी जन-सख्या घटाकर बीस करोड करनी पडेगी। यदि वह जर्मन जीवन-प्रणाली को अपनावे तो कदाचित् उसे अपनी सख्या घटाकर दस करोड करनी पडे। यदि अमेरिकन जीवन-प्रणाली अपनावे तो शायद छः करोड ही सख्या का पोषण वर्त्तमान आमदनी से हो सके—इत्यादि।

जो कुछ भी हो, भारत का मृत्यु-निष्पात घट रहा है। पर साथ ही साथ जन्म-निष्पात नही घट रहा है। इससे लोकाधिक्य-समस्या प्रबल हो जायगी, और इस समस्या को सुलझाने के लिये

जन्म-निष्पात कम करना पड़ेगा। जन्म-निष्पात कम करने के लिये जन्म-निरोध, अविवाहित रहना, अथवा देर से विवाह करना—इत्यादि अनेक उपाय काम मे लाने पडेंगे। लोक-वृद्धि के कुफलों से देश को बचाने के लिये देश की आर्थिक अवस्था का सुधार भी आवश्यक है। दुनिया के विभिन्न देशों में जनता की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये प्रति मनुष्य कितना खर्च होता है, वह आगे दिया जाता है—जापान ३।), इटली ३।), जर्मनी १।), फ्रांस १), इंगलैंड १), भारतवर्ष ।)॥। इससे यह स्पष्ट देखने मे आता है कि भारतवर्ष मे जनसाधारण के स्वास्थ्य की उन्नति के लिये कितना कम खर्च होता है। इसलिये भारतवर्ष प्रथम श्रेणी के अन्य राष्ट्रों से बीस-तीस वर्ष पीछे है। इसका कारण क्या है? साधारणतः हमारा यह विश्वास है कि हमारे देश का जलवायु स्वास्थ्य के लिये अहितकर है अथवा हमारे सामाजिक रीति-रवाजो मे अनेक अस्वास्थ्यकर बाते हैं—इत्यादि। भारतवर्ष मे स्वास्थ्य पर इतना कम खर्च होते हुए भी हमारा यह देश अन्य प्रधान देशों से केवल बीस या तीस वर्ष पीछे है; इससे इस विचार की पुष्टि होती है कि हमारे देश का जलवायु, सूर्यकिरणे अथवा सामाजिक रीति-रवाज—चाहे वे अभारतीयों के लिए मगलकारक न हो, पर—भारतीयो के लिये तो विशेषरूप से कल्याणकर हैं ही। सूर्य की किरणे, भारत का जलवायु, अथवा सामाजिक रीति-रवाज और जीवन-यात्रा-प्रणाली—इनमे कौन-सी भारतीयो के लिये हितकर है और कौन नही, यह प्रश्न चिकित्सकों के लिये विचारणीय है।

उनसे

प्राणों के दीप जलाए,
कब से पथ हेर रही हूँ।
भावो के सुमन मनोहर,
सब आज बिखेर रही हूँ॥

श्वासों की धूप बनाकर,
जीवन नैवेद्य बनाया।
तव चरणों की पूजा का
मैने है साज सजाया॥

आओ, चिर-सचित मेरी
यह साध पूर्ण होने दो।
निज पद-रज मे हे प्रियतम,
अब अपनापन खोने दो॥

कुमारी 'सत्य'

प्रकृति-पुरुष

चित्रकार—श्री० रविशंकर म० रावल

(चित्रकार के सौजन्य स)
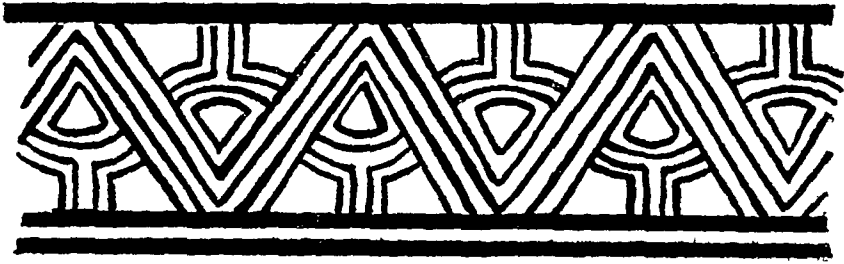
अंगिरस अग्नि

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल्-एल० बी०

ब्राह्मण-ग्रंथों मे कई स्थानों पर एक कथा पाई जाती है कि प्रजापति ने सृष्टि के सब पदार्थों को रचकर उनमे मृत्यु को भाग दे दिया। मृत्यु को भाग मिलने से सब पदार्थों मे नश्वर-धर्म का सस्पर्श हो गया। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसी को जराग्रस्त भी होना पडता है। यह प्राकृतिक अलघ्य विधान है। केवल एक वस्तु ऐसी थी जिसको प्रजापति ने अपने लिये प्रिय जानकर उसमे मृत्यु को हिस्सा नही दिया। वह ब्रह्मचारी था। मृत्यु उसमे हिस्सा पाने के लिये उपरोध करने लगा। मृत्यु के आग्रह से प्रजापति ने नियम कर दिया कि अच्छा, तुमको ब्रह्मचारी मे भी भाग लेने का अधिकार होगा, लेकिन एक शर्त है, वह यह कि जिस अहोरात्र मे ब्रह्मचारी समिधाधान से अग्निहोत्र नही करेगा उस दिन या रात्रि को तुम दबा लेना। जिस अहोरात्र मे अग्निहोत्र विधि-पूर्वक निष्पन्न किया जाता है, वह अमृतत्व का बढ़ानेवाला होता है। अग्निहोत्र के द्वारा ब्रह्मचारी उस अमृत अग्नि की परिचर्या करता है जो सब नरों मे अतिथि-रूप से बसा हुआ है। जीवात्मा ही वैश्वानर अतिथि है (शतपथ ११-३-३-१ तथा गोपथ पू० २-६)।

इस कथा का अभिप्राय वृद्धि और ह्रास के ब्रह्मांडव्यापी नियम के पिंडगत विधान को स्पष्ट करना है। ब्रह्मचर्य उस अवस्था का नाम है जिसमे मनुष्य ब्रह्म के साथ चलता है। ब्रह्म+चर्य= moving with the creative growth, बृहणत्व या बढ़ना स्वभावसिद्ध है। इस बृहण या ब्रह्म की शक्ति को जब हम अपने भीतर ही पचा लेते हैं तब हम ब्रह्मचर्य-दशा मे रहते हैं। कुमारावस्था मे ब्रह्म-धर्म प्रबल रहता है। उस समय शरीर के कोषो की अभिवृद्धि ही अधिक होती है। जो थोडे-बहुत कोष क्षय को भी प्राप्त होते हैं, उनका समुदाय बहुत ही अल्प होता है। वृद्धि और ह्रास के कार्य इस प्रकार जब व्यवस्थित हों कि वर्धिष्णु प्रवाह ह्रसिष्णु की अपेक्षा बहुत प्रबल रहे, तब शरीरस्थ विद्युत् या प्राण ब्रह्मचर्य-निष्ठित रहते हैं। वृद्धि का नाम प्राण (Anabolic force) और ह्रास का नाम अपान (Katalytic force) है। प्राणापान का समीकरण ही शरीर-स्थिति का प्रधान हेतु है। वृद्धि की

आवृत्ति का हम प्रति सवत्सर मे अनुभव करते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' मे अग्निहोत्र को 'जरामर्य सत्र' कहा गया है, अर्थात् जिस यज्ञ का सत्र (session) जरा-पर्यंत या मृत्यु-पर्यंत रहता है, वह अग्निहोत्र है— 'एतद्वै जरामर्यं ॐ सत्र यदग्निहोत्र, जरया व ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' (शतपथ १२-४-१-१)। इस सतत-प्रचारित अग्निहोत्र से तादात्म्य प्राप्त करने के लिये—उसके रहस्य को आत्मसात् करने के लिये ही वैदिक जीवन मे साय-प्रातः होनेवाले अग्निहोत्र की कल्पना की गई है। जीवन के अनवरत सग्राम मे हम अनेक विषम ध्वनियो से अभिभूत होकर अंतर्व्यापी सगीत की मधुर लय को खो बैठते हैं। हमारे चारो ओर नश्वर-धर्मवाले पदार्थों का जाल बिछा है। इन सबमे एक अविनाशी तत्त्व का सरस उद्गीथ (rhythm) छिपा हुआ है। साय-प्रातः के अग्निचयन से हम उसी सगीत को सुनने और उसके साथ समनस् होने को विचेष्टित होते हैं। जिन्हे यह दर्शन भी सुलभ नही है, उनका जीवन शक्ति का विवश अपव्यय ही है।

इस अग्निहोत्र की केवल दो ही प्रधान आहुतियाँ है। दो की सधि ही तीसरी आहुति है। यही त्रिक का मूल है। सर्वत्र ही त्रिकशास्त्र मे पूर्व-रूप और उत्तर-रूप तथा उनके सधान का वर्णन पाया जाता है। त्रिकविद्या की वैदिक सज्ञा ही त्रिणाचिकेत अग्नि है। जिस व्यक्ति ने सब जगत् के त्रिक को पहचान लिया है, वह शोकातीत होकर ज्योतिषावृत स्वर्ग मे आनंद करता है—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एव विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ (कठ-उपनिषद्)

इसी त्रिक के सज्ञान का कारण अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं—

भूः	भुवः	स्वः
प्राण	अपान	व्यान
अग्नि	वायु	आदित्य

ये ही अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं। इन्हीं देवों को उद्दिष्ट करके स्वाहाकार होता है। व्यक्त ब्रह्मांड (cosmos) का सगीत 'अ उ म्' की इन्ही तीन मात्राओ से प्रतीत हो रहा है। यही वामन-वेशधारी विष्णु (Macrocosm as microcosm) के तीन पैर है, त्रेधा विचक्रमण है, जिसके द्वारा विष्णु ने त्रिलोकी को नाप लिया है। जो वामन है, वही विष्णु है—'वामनो ह वै विष्णुरास'। अपने विराट् रूप मे जो आत्मा सहस्रशीर्षा और सहस्रपाद् है, वामन-वेष मे वही दस अंगुलियों के आधार से खडा है। दो चरणो से जिसकी स्थिति है, उसके विराट् रूप को जो पहचानते हैं, वे आत्मज्ञानी धन्य हैं। अध्यात्म विष्णु के तीन चरण वाक्, मन और प्राण है। इन्ही के नामांतर इस प्रकार हैं— वाक्=विज्ञात (Known), मन=विजिज्ञास्य (To be known), प्राण=अविज्ञात (Unknown)। वाक् ऋग्वेद, मन सामवेद और प्राण यजुर्वेद का सार है। भूत विज्ञात है, वर्त्तमान विजिज्ञास्य हैं, भविष्य अविज्ञात है। बिना इन तीन पहियों के ब्रह्माड का एक परमाणु भी आगे नही बढ़ सकता। इन्ही के ऐक्य-मर्म को जानने के लिये अग्निहोत्र की निम्न आहुतियाँ है—'ॐ भूरग्नये स्वाहा,

ॐ भुवर्वायवे स्वाहा, ॐ स्वरादित्याय स्वाहा।' इन्हीं आहुतियों मे प्राणापान और व्यान भी संमिलित हैं। ये ही अग्नीषोमात्मक आहुतियाँ हैं—"अग्नि—Metabolism, भरद्वाज = प्राण; सोम—Catalysis, च्यवन = अपान। अग्नये स्वाहा—यह उत्तरायण की आहुति है। सोमाय स्वाहा—यह दक्षिणायन की आहुति है।" सारा जगत् अग्नीषोमात्मक है। महाप्राण या विद्युत् द्विधा रूप होकर सबको बनाती और बिगाड़ती है। Positive—Negative का द्वंद्व ही अग्नीषोम या प्राणापान है—'प्राणापानौ अग्नीषोमौ' (ऐतरेय ब्राह्मण १–८)। "द्वय वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्क च। यच्छुष्क तदाग्नेय यदार्द्रं तत्सौम्यम्"—(शतपथ १–६–३–२३)। अग्नीषोम के अतिरिक्त तीसरा पदार्थ कुछ नहीं है। जो कुछ है वह इन्हीं की सधि है—इन्हीं का परस्पर आकर्षण है। इस ग्रथि के द्वारा अग्नि की शक्ति सोम मे और सोम की अग्नि मे अवतीर्ण होती है। Positive और Negative का समिलन ही व्यक्त प्रकाश या शक्ति का हेतु है। 'अहोरात्रे वा अग्नीषोमौ' (कौपीतकी, १०–३)। कर्मकांड मे अग्नीषोम की ही सज्ञा 'दर्श पौर्णमास' है। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष मासिक अहोरात्र के रूप हैं। इस मासव्यापी अग्निहोत्र से सोम की कलाओ की वृद्धि और क्षय होता है। 'यच्छुक्लं तदाग्नेयं, यत्कृष्ण तत्सौम्य'। चाहे इसे ही दूसरी तरह कह ले (यदि वेत रथा)। 'यदेव कृष्ण तदाग्नेय, यच्छुक्लं तत्सौम्यम्' (शतपथ १-६-३-४१)। एक ही वस्तुतत्त्व को कहने के अनेक प्रकार हैं। जो कभी positive है, वही negative बन जाता है। ब्रह्मचर्य-काल मे जो शक्ति प्राणात्मक है, जरावस्था मे वही अपानात्मक हो जाती है। सूर्य का ही तेज रात्रि के समय अग्नि मे प्रविष्ट हो जाता है। प्रातःकाल की आहुति सूर्य-निमित्त है, सायकाल की अग्नि-निमित्त—'ॐ सूर्यो ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः स्वाहा, सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा'। ज्योति और वर्च—ये सूर्य के दो रूप है। सूर्य की प्रातःकालीन ज्योति (प्राण) अपने वर्च (अपान) से रहित नही रह सकती। जयेति और वर्च दोनों दो होते हुए भी एक हैं, और एक ही सूर्य प्रातःकाल मे भी ज्योति + वर्च के रूप मे प्रकट होता है।

$$\text{सूर्य} = \begin{cases} \text{ज्योति} \\ \text{वर्च} \end{cases} \qquad\qquad \text{ज्योति} = \text{वर्च}$$

यही प्राणापान का संक्षिप्त समीकरण है। प्राणापान की ही वैदिक सज्ञा 'सविता' और 'सावित्री' है। गोपथ ब्राह्मण [पू० १-३२] मे मौद्गल्य और मैत्रेय के सवाद-रूप मे, सविता-सावित्री का विशद निरूपण है। सावित्री-शक्ति के बिना सविता निःशक्त रहती है। सविता देव और सावित्री उसकी देवी है।

मैत्रेय ने मौद्गल्य के चरण छुए और पूछा—कृपा कर पढ़ाइए, कौन सविता और कौन सावित्री है। इस पर मौद्गल्य ने द्वादश जोड़ोवाली सावित्री का निर्वचन किया। उदाहरणार्थ, वे बारह द्वद्व इस प्रकार हैं। सूर्य के द्वादशमासात्मक संवत्सर के ये द्वादश द्वंद्व हैं—

Positive	Negative
१ मन	वाक्
२ अग्नि	पृथिवी
३ वायु	अंतरिक्ष

कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह

Positive	Negative
४ आदित्य	द्यौः
५ चद्रमा	नक्षत्राणि
६ अहः	रात्रि
७ उष्ण	शीत
८ अभ्र	वर्ष
९ विद्युत्	स्तनयित्नु
१० प्राण	अन्न
११ वेदाः	छदासि
१२ यज्ञ	दक्षिणा

वस्तुतः सविता और सावित्री मूल मे एक हैं। 'मन एव सविता, वाक् सावित्री। यत्र ह्येव मनस्तद्वाक्, यत्र वै वाक् तन्मनः। इत्येते द्वे योनी, एक मिथुनम्।' अर्थात् 'जो मन है वही वाक् है। जहाँ वाक् है, वही मन है। योनियाँ दो हैं, पर मिथुन एक ही है।' जैसे स्त्री-पुरुष मे पृथक् दो योनियाँ होते हुए भी सृष्टि के लिये एक ही मिथुन है, वैसे ही सविता-सावित्री मिथुन हैं। सविता प्राण, सावित्री अपान है। सविता अमूर्त्त और सावित्री मूर्त्त है—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्त्त चामूर्त्त च।' सविता या ज्ञान अमूर्त्त है। सावित्री या कर्म मूर्त्त है। ज्ञान और कर्म को एक साथ प्रचोदित करने की प्रार्थना सावित्री या गायत्री मत्र है। अमूर्त्त ज्ञान के लिये मूर्त्त कर्म की नितांत आवश्यकता है। अव्यक्त ज्ञान का अवतार मूर्त्त कर्म मे होता है। अव्यक्त का व्यक्त रूप मे अवतार वैसे ही स्वाभाविक है, जैसे व्यक्त का अव्यक्त मे जाना। कारलाइल ने Sorrows of Teufels drochh मे एक स्थान पर कहा है—"The end of man is an Action, and not a Thought, though it were the noblest?" सविता का वरेण्य भर्ग विना सावित्री की शक्ति के कृतकार्य नहीं हो सकता। प्रातःकालीन सूर्य की सावित्री उषा है। उषा इंद्रवती या प्राणात्मिका है। इसलिये तीसरे मत्र मे सविता-सावित्री-(प्राणापान अथवा ज्योति-वर्च)-सयोग दिखाया गया है—'ॐ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा'—अर्थात् सूर्य के लिये स्वाहा हो, जो सूर्य सविता देव और सावित्री प्राणात्मक उषा से जुष्ट रहता है।

इसी प्रकार सायकाल के अग्निहोत्र मे अग्निसज्ञक प्राण के ज्योति और वर्च रूपो का स्मरण है। सायकाल का सविता अग्नि और इंद्रवती सावित्री रात्रि है। सूर्य और उषा, अग्नि और रात्रि—ये प्राणापान या अग्नीषोमाख्य द्वद्व के ही कल्पना-भेद हैं।

ये सब अग्निहोत्र-कल्प किस निमित्त हैं? उसी अग्नि की उपासना के लिये, जिसे प्रजापति ने ब्रह्मचारी को सौंपा था। वह अग्नि अतिथि-रूप से सब शरीरो मे रहता है, वह वैश्वानर है। प्रजापति ने जन्म लेने के साथ ही अपने आयु के उस पार को देख लिया था, एक तट पर आते ही उन्हे

दूसरे तट का ज्ञान हो गया। जो अतिथि आता है, उसका जाना (महायात्रा या महान् सांपराय) भी निश्चित है। वह अतिथि अग्नि अंगिरा बना है, सब अंगो मे रस बनकर वही व्याप्त है। उसके रस से सब अंग हरे रहते हैं, उस अंगिरा के पृथक् होते ही 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते' वाली गति हो जाती है, अस्थि-पजर सूखकर गिर जाता है। यह उसी अग्नि को ज्वाला, प्रभा या रोचना है जो प्राण से अपान तक दौड़ती है—"अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्"—(यजु० ३–७)। महिष ने द्युलोक को देख लिया है। 'अग्निर्वै महिषः' (शतपथ ७–३–१–३४) तथा 'द्यौर्वा अस्य (अग्नेः) परम जन्म' (शतपथ ९–२–३–३९)। जिस अंतर्यामी की दीप्ति के रूप प्राणापान हैं उसने अपने परम जन्म को जान लिया है। अतश्चारी प्राणापान के द्वारा उस अंगिरा अतिथि को समिद्ध और प्रवुद्ध करना ही दिव्य अग्निहोत्र है।

समिधाग्नि दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन्हव्या जुहोतन॥
सुसमिद्धाय शोचिषे घृत तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे॥
तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य॥

आयु का वसत-काल घृत है, यौवन समिधाएँ हैं। घृत और समिधाओ से अतिथि को समिद्ध करो। बिना जागे हुए जो अतिथि महानिद्रा मे सो गया, उसके लिये महती विनष्टि जानो। वह अंगिरा यविष्ठ्य—अर्थात् युवतम वा शाश्वत यौवन-सपन्न है। वह बृहच्छोचा है—अर्थात् जहाँ सूर्य-चद्र का भी तेज नही जाता, वहाँ उसके बृहत् शोच या तेज की गति होती है। प्राणापान के अग्निहोत्र के अतिरिक्त अतिथि को जगाने का और साधन नही है।
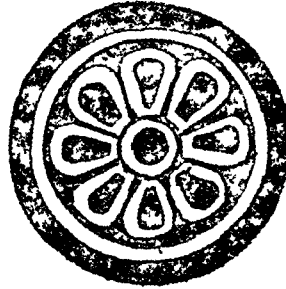
पर्दे के पीछे

सुनती हूँ, पार क्षितिज के, प्रियतम का सुदर घर है,
जिसके चरणो को छूने झुक गया वहीं अंबर है।
उस पर्दे के पीछे ही क्या रहता 'सत्य' 'अमर' है
जिसकी छवि रवि-शशि से भी सुंदर है, अजर, अमर है।

जिसके प्रकाश से होते आलोकित रवि-शशि-तारे,
सचालित करते जग को जिसके अविराम इशारे।
कहते हैं, मुझे उसी ने भेजा है जग-आँगन मे,
उसकी ही चचल गति है मेरे प्रत्येक चरण मे।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह

रायबहादुर हीरालाल, बी० ए०

मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में कटनी (मुडवारा) नामक एक प्रसिद्ध रेलवे जकशन है। वहाँ से बीस मील पर ठाकुर जगमोहनसिह का जन्म हुआ था। आपके पितामह ठाकुर प्रयागदाससिंह ने सन् १८२६ ई० के लगभग एक नई बस्ती बसाकर उसमे एक किला और किले के भीतर एक मंदिर बनवाया। मदिर मे श्री विजयराघव की स्थापना की गई। बस्ती का नाम भी इन्ही इष्टदेव के नाम पर 'विजय-राघव-गढ' रक्खा गया। इसी किले को ठाकुर प्रयागदास ने अपना निवास-स्थान बनाया। इसलिये उस ग्राम को राजधानी का गौरव प्राप्त हुआ। ठाकुर प्रयागदास उस आमेराधिपति के वशज थे, जिसके गढ की प्रशसा यशस्वी कवि पद्माकर भट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्विनोद' के आरभ ही में इस प्रकार की है—

> 'जय जय सक्ति सिलामयी जय जय गढ़ आमेर।
> जय जयपुर सुरपुर-सदस जो जाहिर चहुँ फेर ॥'

यह वश, लहुरे भाई की सतति होने के कारण, केवल जागीर पाने का अधिकारी हुआ। जब 'घाट-खुटेटा' नामक सवा लाख की जागीर मे अनेक पीढियाँ बीत चुकी, तब घर मे झगडा होने पर उनमें से एक व्यक्ति 'भीमसिंह' विदेश चल पडा। बुदेलखड की ओर आकर उसने पन्ना-नरेश का आश्रय लिया। कुछ काल में उसने पन्नाधीश को बहुत प्रसन्न कर लिया। अत मे उसने रणक्षेत्र मे अपने प्राण त्याग दिए। उसका नाती बेणीसिंह और भी अधिक पराक्रमी और बुद्धिमान् निकला। उसने पन्ना-राज्य की सीमा का विस्तार करने में विशेष सहायता की। इसलिये पन्ना-नरेश ने प्रसन्न होकर मुडवार मे—अर्थात् युद्ध-सेवा के बदले—अनेक जागीरे प्रदान की। अंत मे जब 'मैहर' का इलाका प्राप्त हुआ तब उसका एक लडका दुर्जनसिह मैहर चला आया और उस जागीर का स्वयं प्रबंध करने लगा।

दुर्जनसिह के दो पुत्र हुए—विष्णुसिह और प्रयागदाससिह। दुर्जनसिंह की मृत्यु के पश्चात् सन् १८२६ ईसवी मे दोनों भाइयों मे झगडा उठ खड़ा हुआ। परिणाम यह हुआ कि अँगरेजी सरकार ने मैहर-राज्य के दो तुल्य भाग कर बँटवारा कर दिया। विष्णुसिह मैहर मे रहे और प्रयागदास अपने हिस्से के इलाके के बीच नया किला अर्थात् विजय-राघवगढ़ वनवाकर वही रहने लगे। बँटवारे के समय दोनो भाइयो को सरकार से समान अधिकार मिले। प्रयागदास का इलाका वघेलखड से जुटा हुआ था। इसलिये बघेलो से इनकी मुठभेड़ हो गई, जिससे रीवाँ-राज्य के कुछ परगने इनके हस्तगत हो गए। बुंदेलखड मे उस समय जो उपद्रव खड़े हुए उनके निवारण करने मे इन्होंने अँगरेज-सरकार को अच्छी सहायता पहुँचाई, इसलिये इन्हे अनेक खिलअतो के साथ कुछ और परगने पुरस्कार-स्वरूप अर्पित किए गए। इससे इनके इलाके की विशेष वृद्धि हो गई। इन्होने उन्नीस वर्षो तक वडी योग्यता के साथ अपने इलाके का शासन किया। सन् १८४६ ई० मे इनकी मृत्यु हो गई। उस समय इनका इकलौता पुत्र सरयूप्रसादसिह केवल पाँच वर्ष का था। अपने पुत्र की अल्पवयस्कता के कारण मृत्यु के पूर्व ही इन्होंने अपने इलाके का प्रवध कोर्ट आफ वार्ड्स् के सुपुर्द कर दिया था। इसलिये विजय-राघवगढ़ मे एक सरकारी मैनेजर रहने लगा। जैसा वहुधा हुआ करता है, राजा को नावालिग पाकर स्वार्थ-लोलुप दरवारियों ने राजा के नाम की आड मे अनेक उपद्रव खडे करने आरभ किए। सन् सत्तावन के गदर के साल ऐसा षड्यन्त्र रचा कि सरकारी मैनेजर को अपने प्राण से हाथ धोना पडा। इसी सिलसिले मे उन लोगों ने और भी कई नाजायज कारवाइयाँ कीं। फलतः वेचारा सरयूप्रसाद गड्ढे में जा गिरा। इलाका जब्त हो गया और वेचारे को काले पानी की सजा मिली। बालक सरयूप्रसाद स्वभावतः यह दंड न सह सका। दड भोगने के पूर्व ही उसने आत्महत्या कर डाली।

इन्ही सरयूप्रसादसिंह के पुत्र जगमोहनसिह थे। आप गदर के समय ही, सवत् १९१४ की सावन सुदी चौदस को, विजय-राघवगढ़ के किले मे पैदा हुए थे। जव आप नौ वर्ष के हुए तव सरकार ने आपको वनारस के राजकुमार-विद्यालय (Wards Institute, Queen's College) में पढ़ने के लिये भेज दिया। आपकी परवरिश के लिये केवल वीस रुपये मासिक की पोलिटिकल पेशन मजूर की! इस छोटी रकम को देखकर बनारस के कमिश्नर को क्षोभ हुआ। उन्होंने लिखा-पढ़ी करके जीवन भर के लिये सौ रुपया मासिक कर दिया। राजकुमार-विद्यालय मे ठाकुर साहव ने बारह वर्ष अध्ययन किया। हिंदी, अँगरेजी और सस्कृत मे अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। आप उसी समय से हिंदी तथा सस्कृत मे पद्य-रचना करने लगे। आपने अपनी कतिपय पुस्तके भी उसी समय छपवा डाली थी। जब आप काशी से लौटकर अपने घर जाते समय कटनी (मुड़वारा) मे ठहरे, तव वहाँ के मिडिल स्कूल के शिक्षको ने आपको अपनी शाला के अवलोकन के लिये निमंत्रित किया। निमत्रण स्वीकार कर आपने केवल निरीक्षण ही न किया, वरन् प्रत्येक कक्षा की परीक्षा भी ली। जब आप हिंदी की तीसरी कक्षा मे पहुँचे और उसकी परीक्षा ली तव इन पंक्तियों के लेखक को पारितोषिक प्रदान कर वडी प्रसन्नता प्रकट की। उस कक्षा के शिक्षक संस्कृतज्ञ थे। वे ठाकुर साहव की रुचि से अनभिज्ञ न थे। अकस्मात् बोले—

स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष
(इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, के संस्थापक)
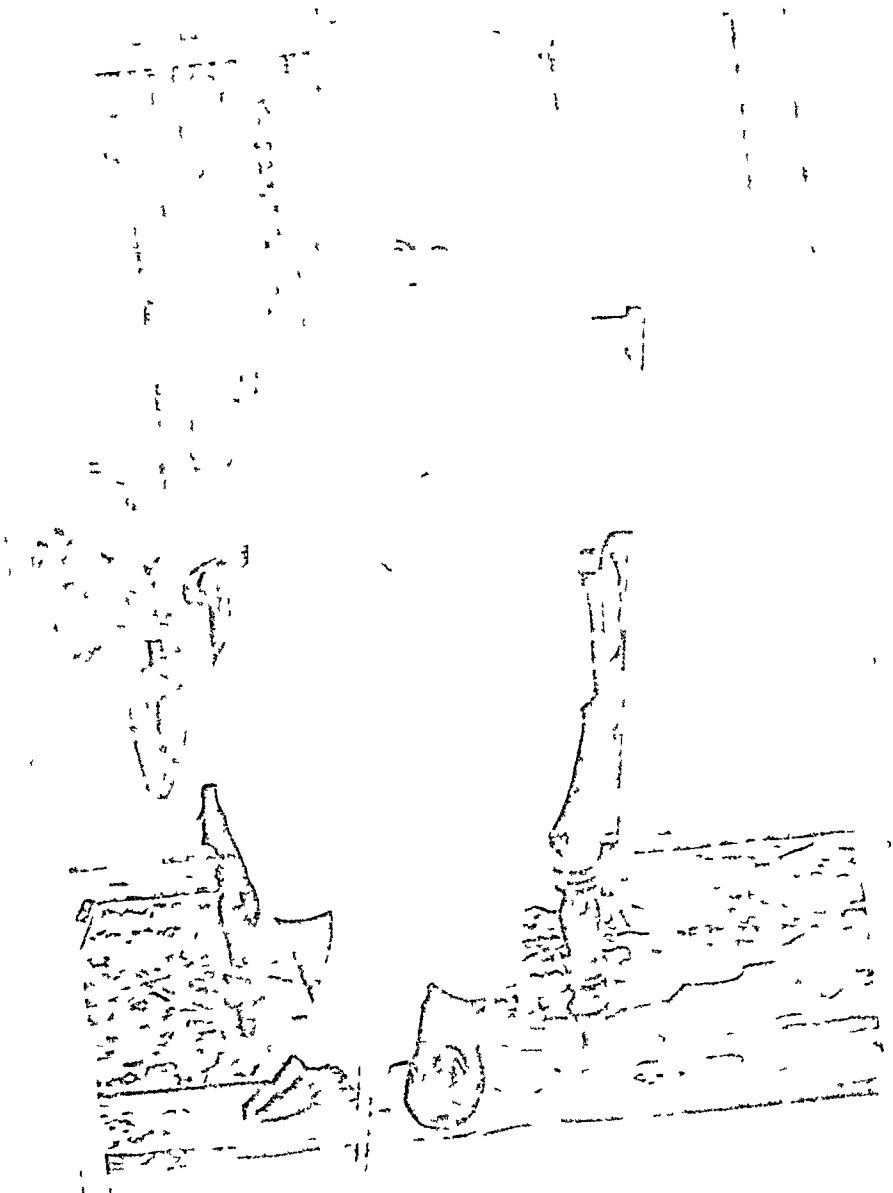
'होनहार विरवान के होत चीकने पात', यह लडका सस्कृत अच्छी पढ़ेगा। मैंने तब तक संस्कृत का नाम भी न सुना था। मैंने समझा, कदाचित् भूगोल आदि के समान ही सस्कृत भी कोई विषय होगा। इसलिये छुट्टी पाते ही एक पैसे का कागज खरीद लाया। शिक्षक के पास जाकर निवेदन किया—'आप इस पर सस्कृत लिख दीजिए, मै उसे दो-एक दिन मे पढ डालूँ।' शिक्षक वडे कृपालु थे, उत्साह भग न किया, वडी चतुराई के साथ समझा-बुझाकर अपना पिंड छुडाया। तात्पर्य यह कि ठाकुर जगमोहनसिंह के प्रथम तथा अंतिम दर्शन उसी समय हुए थे। ठीक स्मरण है, वे वडे तेजस्वी पुरुष थे। उस समय वे बीस वर्ष के रहे होंगे।

ठाकुर जगमोहनसिंह ने कोई पद्रह-सोलह ग्रथ रचे हैं—(१) श्यामा-स्वप्न—गद्यपद्यमय उपन्यास, (२) श्यामा-सरोजिनी, (३) श्यामा लता, (४) प्रेम-सपत्ति-लता, (५) ओंकार-चद्रिका, (६) प्रलय, (७) सज्जनाष्टक, (८) प्रतिमाक्षर-दीपिका, (९) देवयानी, (१०) साख्य-सूत्रों की भाषा-टीका, (११) ज्ञान-प्रदीपिका—महर्षि कपिल-कृत साख्यकारिका का छदोवद्ध अनुवाद, (१२) 'मेघदूत' का पद्यवद्ध अनुवाद, (१३) 'ऋतु-सहार' का पद्यात्मक अनुवाद, (१४) 'कुमार-सभव' का पद्यमय अनुवाद, (१५) 'हस-दूत' का पद्यवद्ध अनुवाद, (१६) शिलन का वदी—अँगरेजी काव्य (Byron's Prisoner of Chillon) का छदोवद्ध अनुवाद।

इनमे कई पुस्तके तो छप चुकी हैं और कई अप्रकाशित हैं।

ठाकुर साहव, भारतेंदु हरिश्चद्र के वडे मित्र थे—उनकी शैली के प्रतिपादक थे। आप प्रकृति के सच्चे उपासक और सुंदरता के सहृदय ग्राहक थे। मातृभूमि के भी अनन्य भक्त थे। स्वदेश के प्रताप का चित्रण करने मे तो परम प्रवीण थे। 'ऋतु-सहार' मे, जिसे छात्रावस्था मे लिखा था, भारत की भूरि-भूरि प्रशसा की है—

भुव-मधि जवू-द्वीप दीप सम अति छवि छायो। तामे भारत-खड मनहुँ विधि आपु वनायो॥
ताहू मे अति रम्य आरजावर्त्त मनोहर। सकल कर्म की भूमि धर्मरत जहँ के नरवर॥
मनु वालमीकि व्यासादि-से पूजनीय जहँ के अमित। भे मनुज अवौ जग के सवै मानत जिनकी आन नित॥
जहँ हरि लिय अवतार राम-कृष्णादि रूप धरि। जहँ विक्रम, वलि, भोज, धरम-नृप गे कीरति करि॥
जहँ की विद्या पाइ भए जग के नर सिच्छित। जहँ के दाता सदा करत पूरन मन-इच्छित॥
जहँ गगा-सी पावन नदी हिम-सॉ ऊँचो सैलवर। जहँ रत्न-खानि अगनित लसत मानहुँ मनिमय सकल घर॥

यही वाक्य जगमोहनसिह जी के समकालीन कवि 'कामताप्रसाद' ने ठाकुर साहव को लिखा था। जव उन्होंने ठाकुर साहव की प्रथम कृति (ऋतु-संहार) देखी तव यह पद्य लिख भेजा—

"जिहि सुचि 'ऋतु-संहार' कहँ भेजेहु नाथ लजाइ।
प्रथमहि सादर ताहि लै वाँच्यौं चित्त लगाइ॥
तासु सुघर रचना निरखि आयो हिए हठात।
होनहार विरवान के होत चीकने पात॥"

फिर अपने प्रांत और नगर का भी स्मरण किया है—

तामे खडबुँदेल को सोहत सब मनहारि। जहँ के छत्रिन की बिदित सब जग मे तरवारि॥
तामे नगर नवल विजय राघवगढ़ बिख्यात। महानदी के तट बसत धन-जन सौं अवदात॥

जिस प्रकार आप पद्य-रचना मे सिद्धहस्त थे उसी प्रकार गद्य-लेखन मे भी। 'श्यामा-स्वप्न' नामक उपन्यास मे दडकारण्य की शोभा का कैसा सुदर चित्र खींचा है!—"मै कहाँ तक इस सुदर देश का वर्णन करूँ?...जहाँ की निर्भरिणी—जिनके तीर वानीर से भिरे, मद-कल-कूजित विहगमों से शोभित हैं, जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जल-धारा बहती है और जिनके किनारे के श्याम जवू के निकुज फल-भार से नमित जनाते हैं—शब्दायमान होकर भरती हैं।.. ....जहाँ के शल्लकी-वृक्ष की छाल मे हाथी अपना बदन रगड़-रगड खुजली मिटाते हैं और उनमे से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है। मजु वजुल की लता और नाल निचुल के निकुज, जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य की किरनों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं..।" पडित रामचद्र शुक्ल ने अपने पांडित्यपूर्ण ग्रथ 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' मे ठीक ही लिखा है—"प्राचीन सस्कृत-साहित्य के अभ्यास और विध्याटवी के रमणीय प्रदेश मे निवास के कारण विविध-भावमयी प्रकृति के रूप-माधुर्य की जैसी सच्ची परख, जैसी सच्ची अनुभूति, इनमे थी वैसी उस काल के किसी हिदी-कवि या लेखक मे नही पाई जाती।... अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्राम्य जीवन के माधुर्य का जो सस्कार ठाकुर साहब ने अपने 'श्यामा-स्वप्न' मे व्यक्त किया है उसकी सरसता निराली है।...प्राचीन सस्कृत-साहित्य के रुचि-सस्कार के साथ भारत-भूमि की प्यारी रूप-रेखा को मन मे बसानेवाले ये पहले हिदी-लेखक थे।"

विद्याध्ययन पूरा करने पर सरकार ने आपको तहसीलदार के पद पर नियुक्त किया जिससे आपको मध्यप्रदेश के अनेक भागों मे भ्रमण करने और वनश्री का प्रकृत सौंदर्य देखने का अवसर मिला। इन स्थलों मे जिस दृश्य पर आपकी रुचि जमी उसका वर्णन किए बिना आप न रहे। जब आप दक्षिण-कोशल—अर्थात् छत्तीसगढ़ की शवरीनारायण तहसील—मे थे तब महानदी की प्रबल बाढ़ से उस ग्राम-तीर्थ की अत्यंत क्षति हुई। आपने उस पर 'प्रलय'-शीर्षक एक हृदयग्राही कविता लिख डाली। इसी प्रकार जब आप खडवा मे थे तब ओंकार-मांधाता—प्राचीन 'माहिष्मती' नगरी—का मनोहर वर्णन 'ओंकार-चद्रिका' नामक काव्य मे कर डाला।

आप बड़े विनोदी और आशु-कवि थे। एक बार आपकी अदालत मे एक बड़ी तोंदवाले बगाली वकील उपस्थित हुए। आपने मुकदमा लेने के पहले उनकी तोंद पर कविता कर डाली जिसको सुनकर अन्य लोग ही नही, वरन् तोंदवाले महाशय भी खुश हो गए!

आप सरकारी नौकरी मे आदि से अंत तक तहसीलदार ही बने रहे, क्योंकि आप बड़ी स्वतत्र प्रकृति के व्यक्ति थे—डिपुटी कमिश्नरो अथवा कमिश्नरों की भी कुछ परवा नही करते थे।

अंत मे सरकारी नौकरी से मुक्त होकर आप कूचबिहार-नरेश की कौसिल के सेक्रेटरी हो गए थे। सन् १८९९ ई० मे, ४ मार्च को, इस सहृदय कवि तथा स्वाभिमानी पुरुष का देहावसान हो गया!

कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह

आपके पुत्र-रत्न ठाकुर व्रजमोहनसिह, बी० ए०, वैरिस्टर, वड़े विद्यानुरागी और शांति-स्वरूप सज्जन हैं। वे अपने पूर्व-पुरुषो के ग्राम मे ही विद्या-विनोद मे काल-यापन करते हैं।

ठाकुर जगमोहनसिंह अपनी दिनचर्या लिखा करते थे, जो उनके पुस्तकालय मे सुरक्षित है। उससे, उनकी विस्तृत जीवनी लिखने के लिये, पर्याप्त सामग्री मिल सकती है।

सेवा

गगन चढ़ी बुदै बतावै अलबेली
गली-गली जाईं किरन चढ़ीं आई
हम तुम हैं सारी सहेली
गगन चढ़ी बुदै बतावै अलबेली

हिली-मिली गाढ़ी एकइ संग बाढ़ीं
ठाढ़ी धूपछाँही हवेली
गगन चढ़ी बुदै बतावै अलबेली

इतै-उतै धावै भुवन भरमावैं
हरि हलरावै नवेली
गगन चढ़ीं बुदै बतावै अलबेली

देव हमैं ताकै अदेव हमैं झाँकै
छाकै मन कोधौं अकेली
गगन चढ़ी बुदै बतावै अलबेली

प्रेममयी कूदै प्रमोदमयी कूदै
प्राणो की बूझै पहेली
गगन चढ़ीं बुदै बतावै अलबेली

शिवाधार पांडेय
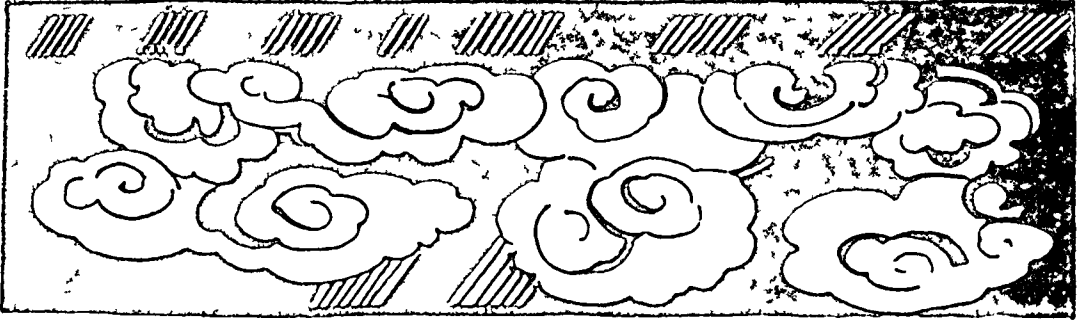
साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद

श्री रामचंद्र शुक्ल

किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयो को मन मे लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावो तथा सौंदर्य, रहस्य, गांभीर्य आदि भावनाओ का अनुभव करता है वे अकेले उसी के हृदय से सबध रखनेवाले नही होते, मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुननेवाले सहस्रो मनुष्य उन्ही भावो या भावनाओ का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नही लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलबन हो सके तब तक उसमे रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नही आती। इसी रूप मे लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धांत यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओ और विचित्रताओ के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय मे हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

किसी काव्य मे वर्णित किसी पात्र का किसी कुरूप और दु:शील स्त्री पर प्रेम हो सकता है; पर उस स्त्री के वर्णन द्वारा शृंगार रस का आलंबन नही खड़ा हो सकता। अतः ऐसा काव्य केवल भाव-प्रदर्शक ही होगा, विभाव-विधायक कभी नही हो सकता। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन मे जब तक आलबन का चित्रण इस रूप मे न होगा कि वह मनुष्य-मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव-प्रदर्शक मात्र रहेगा, उसका विभाव-पक्ष या तो शून्य अथवा अशक्त होगा। पर भाव और विभाव दोनो पक्षो के सामजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नही सकती। केवल भाव-प्रदर्शक काव्यो मे भी होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी भावना के अनुसार आलबन का आरोप किए रहता है।

काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नही, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नही। यह बात आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र मे पूर्णतया स्थिर हो चुकी है। अनेक व्यक्तियों के

रूप-गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत-सी बातो को लेकर कोई सामान्य सिद्धांत प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है—निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना मे 'बिब' (Images) या मूर्त्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नही। 'बिब' जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नही।[१]

इस सिद्धात का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की उक्ति सामान्य तथ्य-कथन या सिद्धांत के रूप मे नही होती। कविता वस्तुओ और व्यापारो का बिब-ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है, अर्थग्रहण मात्र से उसका काम नही चलता। बिब-ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नही। जैसे, यदि कहा जाय कि 'क्रोध मे मनुष्य बावला हो जाता है,' तो यह काव्य की उक्ति न होगी। काव्य की उक्ति तो किसी क्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनो और उन्मत्त चेष्टाओ को कल्पना मे उपस्थित भर कर देगी। कल्पना मे जो कुछ उपस्थित होगा वह व्यक्ति या वस्तु विशेष ही होगा। सामान्य या 'जाति' की तो मूर्त्त भावना हो ही नही सकती।[२]

अब यह देखना चाहिए कि हमारे यहाँ विभावन-व्यापार मे जो 'साधारणीकरण' कहा गया है उसके विरुद्ध तो यह सिद्धात नही जाता। विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि दोनो मे कोई विरोध नही पडता। विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नही है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन मे आलबन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त्त भावना के रूप मे न आकर सामान्यत व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र (जाति) के अर्थ-संकेत के रूप मे आते हैं। 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती

१. अभिव्यजना-वाद (Expressionism) के प्रवर्त्तक क्रोसे (Benedetto Croce) ने कला के बोध-पक्ष और तर्क के बोध-पक्ष को इस प्रकार अलग-अलग दिखाया है—(क) Intuitive knowledge, knowledge obtained through the imagination, knowledge of the individual or of individual things. (ख) Logical knowledge, knowledge obtained through the intellect, knowledge of the universal, knowledge of the relations between individual things.—'*Aesthetic*' by *Benedetto Croce*

२ साहित्य-शास्त्र मे नैयायिको की बाते ज्यो की त्यो ले लेने से काव्य के स्वरूप-निर्णय मे जो बाधा पडी है उसका एक उदाहरण 'शक्तिग्रह' का प्रसंग है। उसके अतर्गत कहा गया है कि संकेतग्रह 'व्यक्ति' का नहीं होता है, 'जाति' का होता है। तर्क मे भाषा के संकेत-पक्ष (Symbolic aspect) से ही काम चलता है जिसमे अर्थग्रहण मात्र पर्याप्त होता है। अत. न्याय मे तो जाति का संकेतग्रह कहना ठीक है। पर काव्य मे भाषा के प्रत्यक्षीकरण-पक्ष (Presentative aspect) से काम लिया जाता है जिसमे शब्द द्वारा सूचित वस्तु का बिब-ग्रहण होता है—अर्थात् उसकी मूर्त्ति कल्पना मे खड़ी हो जाती है। काव्य-मीमांसा के क्षेत्र मे न्याय का यह हाथ बढाना डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण को भी खटका है। उन्होने कहा है—It is, however, to be regretted that during the last 500 years the Nyaya has been mixed up with Law, Rhetoric, etc, and thereby has hampered the growth of those branches of knowledge upon which it has grown up as a sort of parasite —*Introduction* (*The Nyaya Sutras*).

है वह जैसे काव्य मे वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलबन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलबन हो जाती है। जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना मे वह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है। हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना मे उसी के समान-धर्मवाली कोई मूर्त्ति विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुंदरी से प्रेम है तो शृगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलबन-रूप मे उसकी प्रेयसी की मूर्त्ति ही उसकी कल्पना मे आएगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुदरी की कोई कल्पित मूर्त्ति उसके मन मे आएगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पित मूर्त्ति भी विशेष ही होगी—व्यक्ति की ही होगी।

कल्पना मे मूर्त्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्त्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलंबन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन मे भी जगाए जिसकी व्यजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलबनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमे प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन मे एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह कि आलबन रूप मे प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव-वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावो का आलंबन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप मे प्रतीत होते हैं—' इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन मे यह भेदभाव नही रहता कि यह आलबन मेरा है या दूसरे का। थोडी देर के लिये पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नही रहता।

'साधारणीकरण' के प्रतिपादन मे पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यजना करनेवाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमे आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप मे आलबन-रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यजना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रसरूप मे अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रथो मे विवेचन नही हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यजना करनेवाला, कोई क्रिया या व्यापार करनेवाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलंबन होता है। इस दशा मे श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नही करता जिसकी व्यजना पात्र अपने आलंबन के प्रति करता है, बल्कि व्यजना करनेवाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस-दशा ही है—यद्यपि इसमे आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलबन का साधारणीकरण नही रहता। जैसे, कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन मे क्रोध का रसात्मक सचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित

करनेवाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा मे आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप मे प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।

जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक मे सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील-द्रष्टा के रूप मे स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन मे कोई न कोई भाव थोडा-बहुत अवश्य जगा रहता है, अतर इतना ही पडता है कि उस पात्र का आलवन पाठक या दर्शक का आलवन नही होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलबन रहता है। इस दशा मे भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप सघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना मे लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलवन अवश्य होता है। अत पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलंवन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलंबन प्राय हो जाता है। जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे—हिमालय, विध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड देता है वहाॅ कवि ही आश्रय के रूप मे रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण वह उसके प्रति कोई भाव रखकर ही करता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है, उसी का आलवन पाठक या दर्शक का आलबन हो जाता है।

आश्रय की जिस भाव-व्यजना को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप मे होगा और उसके द्वारा घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतूहल इत्यादि मे से ही कोई भाव उत्पन्न होकर अपरितुष्ट दशा मे रह जाएगा। उस भाव की तुष्टि तभी होगी जब कोई दूसरा पात्र आकर उसकी व्यंजना वाणी और चेष्टा द्वारा उस वेमेल या अनुपयुक्त भाव की व्यजना करनेवाले प्रथम पात्र के प्रति करेगा। इस दूसरे पात्र की भाव-व्यजना के साथ श्रोता या दर्शक की पूर्ण सहानुभूति होगी। अपरितुष्ट भाव की आकुलता का अनुभव प्रबंध-काव्यो, नाटको और उपन्यासो के प्रत्येक पाठक को थोडा-बहुत होगा। जब कोई असामान्य दुष्ट अपनी मनोवृत्ति की व्यजना किसी स्थल पर करता है तब पाठक के मन मे बार-बार यही आता है कि उस दुष्ट के प्रति उसके मन मे जो घृणा या क्रोध है उसकी भरपूर व्यजना वचन या क्रिया द्वारा कोई पात्र आकर करता। क्रोधी परशुराम तथा अत्याचारी रावण की कठोर बातो का जो उत्तर लक्ष्मण और अंगद देते हैं उससे कथा-श्रोताओ की अपूर्व तुष्टि होती है।

इस सबध मे सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य-दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम मे श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है, द्वितीय मे अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणो के लिये विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता मे मिल जाता है। उदात्त वृत्तिवाले आश्रय की भाव-व्यजना मे भी यह होगा कि जिस समय तक पाठक या

श्रोता तादात्म्य की दशा मे पूर्ण रसमग्न रहेगा उस समय तक भाव-व्यजना करनेवाले आश्रय को अपने से अलग रखकर उसके शील आदि की ओर दत्तचित्त न रहेगा। उस दशा के आगे-पीछे ही वह उसकी भावात्मक सत्ता से अपनी भावात्मक सत्ता को अलग कर उसके शील-सौदर्य की भावना कर सकेगा। भाव-व्यजना करनेवाले किसी पात्र या आश्रय के शील-सौदर्य की भावना जिस समय रहेगी उस समय वही श्रोता या पाठक का आलवन रहेगा और उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रीति टिकी रहेगी।

हमारे यहाँ के आचार्यो ने श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य दोनो में रस की प्रधानता रक्खी है, इसी से दृश्य काव्य मे भी उनका लक्ष्य तादात्म्य और साधारणीकरण की ओर रहता है। पर योरप के दृश्य काव्यो मे शील-वैचित्र्य या अत:प्रकृति-वैचित्र्य की ओर ही प्रधान लक्ष्य रहता है जिसके साक्षात्कार से दर्शक को आश्चर्य या कुतूहल मात्र की अनुभूति होती है। अत. इस वैचित्र्य पर थोडा विचार कर लेना चाहिए। वैचित्र्थ के साक्षात्कार से केवल तीन वाते हो सकती हैं—(१) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, (२) आश्चर्य्यपूर्ण अवसादन, या (३) कुतूहल-मात्र।

आश्चर्यपूर्ण प्रसादन शील के चरम उत्कर्ष अर्थात् सात्विक आलोक के साक्षात्कार से होता है। भरत का राम की पादुका लेकर विरक्त रूप मे वैठना, राजा हरिश्चद्र का अपनी रानी से आधा कफन माँगना, नागानद नाटक मे जीमूतवाहन का भूखे गरुड से अपना मांस खाने के लिये अनुरोध करना इत्यादि शील-वैचित्र्य के ऐसे दृश्य हैं जिनसे श्रोता या दर्शक के हृदय मे आश्चर्य-मिश्रित श्रद्धा या भक्ति का सचार होता है। इस प्रकार के उत्कृष्ट शीलवाले पात्रो की भाव-व्यंजना को अपना कर वह उसमें लीन भी हो सकता है। ऐसे पात्रो का शील विचित्र होने पर भी भाव-व्यजना के समय उनके साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य हो सकता है।

आश्चर्यपूर्ण अवसादन शील के अत्यंत पतन अर्थात् तामसी घोरता के साक्षात्कार से होता है। यदि किसी काव्य या नाटक मे हूण-सम्राट् मिहिरगुल पहाड की चोटी पर से गिराए जाते हुए मनुष्य के तड़फने, चिल्लाने आदि की भिन्न-भिन्न चेष्टाओं पर भिन्न-भिन्न ढग से अपने आह्लाद की व्यजना करे तो उसके आह्लाद मे किसी श्रोता या दर्शक का हृदय योग न देगा, वल्कि उसकी मनोवृत्ति की विलक्षणता और घोरता पर स्तभित, क्षुब्ध या कुपित होगा। इसी प्रकार दु:शीलता की और-और विचित्रताओ के प्रति श्रोता की आश्चर्य-मिश्रित विरक्ति, घृणा आदि जगेगी।

जिन सात्त्विकी और तामसी प्रकृतियो की चरम सीमा का उल्लेख ऊपर हुआ है, सामान्य प्रकृति से उनकी आश्चर्यजनक विभिन्नता केवल उनकी मात्रा मे होती है। वे किसी वर्ग विशेष की सामान्य प्रकृति के भीतर समझी जा सकती हैं। जैसे, भरत आदि की प्रकृति शीलवानों की प्रकृति के भीतर और मिहिरगुल की प्रकृति क्रूरों की प्रकृति के भीतर मानी जा सकती है। पर कुछ लोगो के अनुसार ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी होती है जो किसी वर्ग विशेष की भी प्रकृति के भीतर नही होती। ऐसी प्रकृति के साक्षात्कार से न स्पष्ट प्रसादन होगा, न स्पष्ट अवसादन—एक प्रकार का मनोरजन या कुतूहल ही होगा। ऐसी अद्वितीय प्रकृति के चित्रण को डटन (Theodore Watts-Dunton) ने कवि

की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि (Diamatic or Absolute vision) का सूचक और काव्य-कला का चरम उत्कर्ष कहा है। उनका कहना है कि साधारणतः कवि या नाटककार भिन्न-भिन्न पात्रों की उक्तियों की कल्पना अपने ही को उनकी परिस्थिति मे अनुमान करके किया करते हैं। वे वास्तव मे यह अनुमान करते हैं कि यदि हम उनकी दशा में होते तो कैसे वचन मुँह से निकालते। तात्पर्य यह कि उनकी दृष्टि सापेक्ष होती है, वे अपनी ही प्रकृति के अनुसार चरित्र-चित्रण करते हैं। पर निरपेक्ष दृष्टिवाले नाटककार एक नवीन नर-प्रकृति की सृष्टि करते हैं। नूतन निर्माणवाली कल्पना उन्हीं की होती है।

डटन ने निरपेक्ष दृष्टि को उच्चतम शक्ति तो ठहराया, पर उन्हे ससार भर में दो ही तीन कवि उक्त दृष्टि से सपन्न मिले जिनमे मुख्य शेक्सपियर हैं। पर शेक्सपियर के नाटकों मे कुछ विचित्र अतः-प्रकृति के पात्रो के होते हुए भी अधिकाश ऐसे पात्र है जिनकी भाव-व्यजना के साथ पाठक या दर्शक का पूरा तादात्म्य रहता है। 'जूलियस सीजर' नाटक मे अटोनियो के लबे भाषण से जो क्षोभ उमडा पडता है उसमे किसका हृदय योग न देगा? डटन के अनुसार शेक्सपियर की दृष्टि की निरपेक्षता के उदाहरणो में हैमलेट का चरित्र-चित्रण है। पर विचारपूर्वक देखा जाय तो हैमलेट की मनोवृत्ति भी ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और जघन्य शीलच्युति देख अर्द्धविक्षिप्त-सा हो गया हो। परिस्थिति के साथ उसके वचनो का असामजस्य उसकी बुद्धि की अव्यवस्था का द्योतक है। अत उसका चरित्र भी एक वर्ग विशेष के चरित्र के भीतर आ जाता है। उसके बहुत से भाषणों को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है। उदाहरण के लिये आत्मग्लानि और क्षोभ से भरे हुए वे वचन जिनके द्वारा वह स्त्री-जाति की भर्त्सना करता है। अत॰ हमारे देखने मे ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन, जो किसी दशा मे किसी की हो ही नही सकती, केवल ऊपरी मन-बहलाव के लिये खडा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा। पर डटन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण होगा।

'नूतन सृष्टि-निर्माणवाली कल्पना' की चर्चा जिस प्रकार योरप मे चलती आ रही है उसी प्रकार भारतवर्ष में भी। पर हमारे यहाँ यह कथन अर्थवाद के रूप में—कवि और कवि-कर्म की स्तुति के रूप मे ही गृहीत हुआ, शास्त्रीय सिद्वात या विवेचन के रूप में नही। योरप मे अलबत यह एक सूत्र-सा बनकर काव्य-समीक्षा के क्षेत्र मे भी जा घुसा है। इसके प्रचार का परिणाम वहाँ यह हुआ कि कुछ रचनाएँ इस ढग की भी हो चली जिनमे कवि ऐसी अनुभूतियो की व्यजना की नकल करता है जो न वास्तव मे उसकी होती हैं और न किसी की हो सकती हैं। इस नूतन सृष्टि-निर्माण के अभिनय के बीच 'दूसरे जगत् के पक्षियों' की उडान शुरू हुई। शेली के पीछे पागलपन की नकल करनेवाले बहुत-से खडे हुए थे, वे अपनी बातो का ऐसा रूप-रग बनाते थे जो किसी और दुनिया का लगे या कही का न जान पडे।[१]

१ After Shelley's music began to captivate the world certain poets set to work upon the theory that between themselves and the other portion of the human race

यह उस प्रवृत्ति का हद के बाहर पहुँचा हुआ रूप है जिसका आरंभ योरप मे एक प्रकार से पुनरुत्थान-काल (Renaissance) के साथ ही हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि उस काल के पहले काव्य की रचना काल को अखड, अनंत और भेदातीत मानकर तथा लोक को एक सामान्य सत्ता समझकर की जाती थी। रचना करनेवाले यह ध्यान रखकर नही लिखते थे कि इस काल के आगे आनेवाला काल कुछ और प्रकार का होगा अथवा इस वर्त्तमान काल का स्वरूप सर्वत्र एक ही नही है—किसी जन-समूह के बीच पूर्ण सभ्य काल है, किसी के बीच उससे कुछ कम, किसी जन-समुदाय के बीच कुछ असभ्य काल है, किसी के बीच उससे बहुत अधिक। इसी प्रकार उन्हे इस बात की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नही होती थी कि लोक भिन्न-भिन्न व्यक्तियो से बना होता है जो भिन्न-भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के होते हैं। 'पुनरुत्थान-काल' से धीरे-धीरे इस तथ्य की ओर ध्यान बढता गया, प्राचीनो की भूल प्रकट होती गई। अंत मे इशारे पर आँख मूँदकर दौडनेवाले बडे-बडे पडितो ने पुनरुत्थान की कालधारा को मथकर 'व्यक्तिवाद' रूपी नया रत्न निकाला। फिर क्या था? शिक्षित-समाज मे व्यक्तिगत विशेषताएँ देखने-दिखाने की चाह बढ़ने लगी।

काव्यक्षेत्र मे किसी 'वाद' का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सार-सत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों मे लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं। कला या काव्य के क्षेत्र मे 'लोक' और 'व्यक्ति' की उपर्युक्त धारणा कहाँ तक सगत है, इस पर थोडा विचार कर लेना चाहिए। लोक के बीच जहाँ बहुत सी भिन्नताएँ देखने मे आती हैं वहाँ कुछ अभिन्नता भी पाई जाती है। एक मनुष्य की आकृति से दूसरे मनुष्य की आकृति नही मिलती, पर सब मनुष्यो की आकृतियों को एक साथ ले तो एक ऐसी सामान्य आकृति-भावना भी बँधती है जिसके कारण हम सबको मनुष्य कहते है। इसी प्रकार सबकी रुचि और प्रकृति मे भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अंतर्भूमियाँ हैं जहाँ पहुँचने पर अभिन्नता मिलती है। ये अंतर्भूमियाँ नर-समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर हैं। लोक-हृदय की यही सामान्य अंतर्भूमि परखकर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धांत की प्रतिष्ठा की गई है। वह सामान्य अंतर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है। काव्य-रचना की रूढ़ि या परपरा, सभ्यता के न्यूनाधिक विकास, जीवन-व्यापार के बदलनेवाले बाहरी रूप-रग इत्यादि पर यह स्थित नही है। इसकी नीवँ गहरी है। इसका संबंध हृदय के भीतरी मूल देश से है, उसका सामान्य वासनात्मक सत्ता से है।

there is a wide gulf fixed. Their theory was that they were to sing, as far as possible, like birds of another world. . .....It might also be said that the poetic atmosphere became that of the supreme palace of wonder—*Bedlam.*

Bailey, Dobell and Smith were not Bedlamites, but men of common sense They only affected madness. The country from which the followers of Shelley sing to our lower world was named 'Nowhere'.

—'*Poetry and the Renascence of Wonder*' by *Theodore Watts Dunton.*

जिस 'व्यक्तिवाद' का ऊपर उल्लेख हुआ है उसने स्वच्छदता के आदोलन (Romantic movement) के उत्तर-काल से वडा ही विकृत रूप धारण किया। यह 'व्यक्तिवाद' यदि पूर्णरूप से स्वीकार किया जाय तो कविता लिखना व्यर्थ ही समझिए। कविता इसी लिये लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकडों, हजारो क्या, लाखो दूसरे आदमी ग्रहण करे। जब एक के हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही नही तब एक के भावो को दूसरा क्यो और कैसे ग्रहण करेगा? ऐसी अवस्था मे तो यही सभव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की बात ही छोड दी जाय, व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य द्वारा ऊपरी कुतूहल मात्र उत्पन्न कर देना ही बहुत समझा जाय। हुआ भी यही। और हृदयो से अपने हृदय की भिन्नता और विचित्रता दिखाने के लिये बहुत-से लोग एक-एक काल्पनिक हृदय निर्मित करके दिखाने लगे। काव्यक्षेत्र 'नकली हृदयो' का एक कारखाना हो गया।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे जान पडेगा कि भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषो के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ के काव्यो मे आते रहे हैं। पर योरपीय काव्यदृष्टि इधर बहुत दिनो से विरल विशेष के विधान की ओर रही है। हमारे यहाँ के कवि उस सच्चे तार की झकार सुनाने मे ही सतुष्ट रहे जो मनुष्य-मात्र के हृदय के भीतर से होता हुआ गया है। पर उन्नीसवी शताब्दी के बहुत-से विलायती कवि ऐसे हृदयो के प्रदर्शन मे लगे जो न कही होते है और न हो सकते हैं। साराश यह कि हमारी वाणी भावक्षेत्र के बीच 'भेदो मे अभेद' को ऊपर करती रही और उनकी वाणी झूठे-सच्चे विलक्षण भेद खड़े करके लोगो को चमत्कृत करने मे लगी।

'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' की, पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र मे, इतनी अधिक मुनादी हुई कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि हटकर इन्ही दो पर जा जमी। 'कल्पना' काव्य का बोध-पक्ष है। कल्पना मे आई हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अत.साक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोधपक्ष के अतिरिक्त काव्य का भावपक्ष भी है। कल्पना को रूप योजना के लिये प्रेरित करनेवाले और कल्पना मे आई हुई वस्तुओं मे श्रोता या पाठक को रमानेवाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य इत्यादि भाव या मनोविकार होते हैं। इसी से भारतीय दृष्टि ने भावपक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धात की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम मे 'कल्पना' 'कल्पना' की पुकार के सामने धीरे-धीरे समीक्षको का ध्यान भावपक्ष से हट गया और बोधपक्ष ही पर भिड गया। काव्य की रमणीयता उस हलके आनद के रूप मे ही मानी जाने लगी जिस आनद के लिये हम नई-नई, सुदर, भडकीली और विलक्षण वस्तुओ को देखने जाते हैं। इस प्रकार कवि तमाशा दिखानेवाले के रूप मे और श्रोता या पाठक तटस्थ तमाशबीन के रूप मे समझे जाने लगे। केवल देखने का आनद कुछ विलक्षण को देखने का कुतूहल-मात्र होता है।

'व्यक्तित्व' ही को ले उडने से जो परिणाम हुआ है उसका कुछ आभास ऊपर दिया जा चुका है। 'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' पर एकदेशीय दृष्टि रखकर पश्चिम मे कई प्रसिद्ध 'वादो' की इमारतें खड़ी हुई। इटली-निवासी क्रोसे (Benedetto Croce) ने अपने 'अभिव्यजनावाद' के निरूपण मे बड़े कठोर

आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध-स्वरूप ही माना है। उन्होने उसे स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition)—प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना मे आई हुई वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञान-मात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार-प्रसूत ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतंत्र और स्वतःपूर्ण मानकर चले हैं। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ले गए हैं। भावो या मनोविकारों तक को उन्होंने काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नही माना है। पर न चाहने पर भी अभिव्यजना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्व रूप मे भावो की मत्ता उन्हे स्वीकार करनी पड़ी है। उससे अपना पीछा वे छुड़ा नही सके हैं।[१]

काव्य-समीक्षा के क्षेत्र मे व्यक्ति की ऐसी दीवार खडी हुई, 'विशेष' के स्थान पर सामान्य या विचार-सिद्ध ज्ञान के आ घुसने का इतना डर समाया कि कही-कही आलोचना भी काव्य-रचना के ही रूप मे होने लगी। कला की कृति की परीक्षा के लिये विवेचन-पद्धति का त्याग-सा होने लगा। हिंदी की मासिक पत्रिकाओ मे समालोचना के नाम पर आज-कल जो अद्भुत और रमणीय शब्द-योजना-मात्र कभी-कभी देखने मे आया करती है वह इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण है। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि योरप मे साहित्य-सबधी आंदोलनों की आयु बहुत थोडी होती है। कोई आंदोलन दस-बारह वर्ष से ज्यादा नही चलता। ऐसे आंदोलनों के कारण वहाँ इस बीसवीं शताब्दी मे आकर काव्यक्षेत्र के बीच बडी गहरी गड़बडी और अव्यवस्था फैली। काव्य की स्वाभाविक उमग के स्थान पर नवीनता के लिये आकुलता-मात्र रह गई। कविता चाहे हो, चाहे न हो, कोई नवीन रूप या रग-ढग अवश्य खडा हो। पर कोरी नवीनता केवल मरे हुए आंदोलन का इतिहास छोड जाय तो छोड जाय, कविता नही खड़ी कर सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बढ़ी-चढ़ी सनक मे सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है? कुछ लोग तो नए-नए ढग की उच्छृखलता, वक्रता, असबद्धता, अनर्गलता इत्यादि का ही प्रदर्शन करने मे लगे। थोड़े-से ही सच्ची भावनावाले कवि प्रकृत मार्ग पर चलते दिखाई पडने लगे। समालोचना भी अधिकतर हवाई ढग की होने लगी।[२]

योरप मे इधर पचास वर्ष के भीतर 'रहस्यवाद', 'कलावाद', 'व्यक्तिवाद' इत्यादि जो अनेक 'वाद' चले थे वे अब वहाँ मरे हुए आंदोलन समझे जाते हैं। इन नाना 'वादो' से ऊबकर लोग अब

१. *Matter* is emotivity not aesthetically elaborated *i e* impression *Form* is elaboration and expression. × × × × Sentiments or impressions pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the contemplative spirit.—'*Aesthetic*'

२ Wherever attempts at sheer newness in poetry were made, they merely ended in dead movements. × × × × Criticism became more dogmatic and unreal, poetry more eccentric and chastic

—"*A Survey of Modernist Poetry*" by *Laura Riding and Robert Graves (1927).*

फिर साफ हवा मे आना चाहते हैं। किसी कविता के सबध मे किसी 'वाद' का नाम लेना अब फैशन के खिलाफ माना जाने लगा है। अब कोई वादी समझे जाने मे कवि अपना मान नही समझते।[१]

१. The modeinist poet does not have to issue a piogiamme declaring his intentions toward the ieadei oi to issue an announcement of tactics He does not have to call himself an individualist (as the Imagist poet did) oi a mystic (as the poet of the Anglo-Iiish dead movement did) oi a natuialist (as the poet of the Georgian dead movement did) —"*A Suivey of Modeinist Poetiy*" by *Lauia Riding and Robeit Giaves (1927)*.

मृत्यु-जीवन

फूल फबीला झूम-झूमकर डाली पर इतराता था,
सौरभ-सुधा लुटा वसुधा पर फूला नही समाता था,
हरी-हरी पत्तियाँ प्रेम से, स्वागत कर सुख पाती थी,
ओस-बूंद दोनो हिलमिलकर भली भाँति नहलाती थी,
क्रूर काल के कुटिल करो ने सुदर सुमन मरोड़ दिया!
हरी पत्तियाँ हाय! सुखा दीं तरुवर का तन तोड दिया।
पर क्या दृश्य देखकर ऐसा, पुष्पो को कुछ त्रास हुआ?
सौरभ-सुषमा त्याग भला क्या कोई कभी उदास हुआ?
कर्मवीर के लिये मृत्यु का भय कब बाधक होता है?
कर्महीन ही कायरता से 'काल-काल' कह रोता है!
शैशव, यौवन और बुढापा, देह-दशा-परिवर्त्तन है,
इसी प्रकार मृत्यु,जीवन का बस अचूक आवर्त्तन है।
मरने की परवाह नही है, मरनेवाला मरता है,
जीते-जी जीवित रह जग मे कर्म विवेकी करता है।

हरिशंकर शर्मा
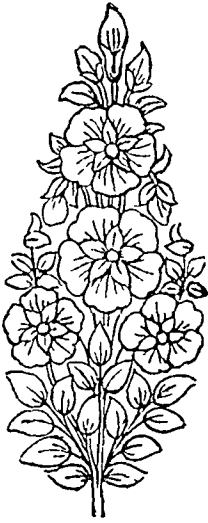
उद्यान

चौपदे

हरित तृण-राजि-विराजित भूमि, बनी रहती है बहु-छबिधाम।
बिहँस जिस पर प्रति दिवस प्रभात, बरस जाता है मुक्ता-दाम॥
पहन कमनीय कुसुम का हार, पवन से करती है कल केलि।
उड़े मंजुल दल-पुंज-दुकूल, बिलसती है अलबेली बेलि॥

छँटी मेँहदी के छोटे पेड़, लगे रविशो के दोनो ओर।
मिले घन-जैसा श्याम शरीर, नचाते हैं जन-मानस-मोर॥
क्यारियों का पाकर प्रिय अंक, आप ही अपनी छबि पर भूल।
लुटाकर सौरभ का सभार, खिले हैं सुंदर-सुंदर फूल॥

खोल मुँह हँसता उनको देख, विलोके उनका तन सुकुमार।
प्यार करता है हो अति मुग्ध, दिवाकर कर कमनीय पसार॥
खड़े है पंक्ति बाँध तरु-वृंद, विविध दल से बन बहु अभिराम।
लोचनो को लेते है मोल, डालियो के फल-फूल ललाम॥

प्रकृति-कोमल-कर से बन कांत, लताओ का अति ललित वितान।
बुलाता है सब काल समीप, कलित कुंजो का छाया-दान॥
लाल दलवाले लघुतम पेड़, लालिमा से बन मंजु महान।
दृगो को कर देते है मत्त, छलकते छबि-प्याले कर दान॥

बहुत बलखाती कर कल नाद, नालियाँ बहती हैं जिस काल।
तब रसिक-जन-मानस के मध्य, सरस बन रस देती है ढाल॥
कही मधु पीकर हो मद-मत्त, अलि-अवलि करती है गुजार।
कही पर दिखलाती है नृत्य, रँगोली तितली कर शृंगार॥

पढ़ाता है प्रिय रुचि का पाठ, कहीं पर पारावत हो प्रीत।
कही पर गाता है कलकठ, प्रकृति-छवि का उन्मादक गीत॥
सुने पुलकित बनता है चित्त, पपीहे की उन्मत्त पुकार।
कही पर स्वर भरता है मोर, छेडकर उर-तत्री के तार॥

कही क्षिति बनती है छवि मान, लाभ कर विलसे थल अरविद।
कही दिखलाते हैं दे मोद, विविध तरु पर बैठे शुक-वृद॥
मंजु गति से आ मद समीर, क्यारियो मे कुजो मे घूम।
छबीली लतिकाओं को छोड, कुसुम-कुल को लेता है चूम॥

करेगा किसको नहीं विमुग्ध, सरसता-वलित ललित तम-ओक।
न होगा विकसित मानस कौन, लसित कुसुमित उद्यान विलोक॥

'हरिऔध'

कौटलीय अर्थशास्त्र में राज्य द्वारा समाज का नियंत्रण

श्री सत्यकेतु विद्यालकार

प्राचीन भारत मे व्यक्ति और समाज के साथ सबध रखनेवाले मामलो मे राज्य के हस्तक्षेप की कोई सीमा न थी। राज्य 'कम से कम हस्तक्षेप' की नीति का अनुसरण नही करता था। फिर भी प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यो की तरह भारत मे भी समूह के समुख व्यक्ति की कोई स्थिति नही समझी जाती थी। व्यक्ति का जीवन-समूह और राज्य के लिये माना जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। उससे व्यक्ति और समाज के प्रायः सभी विषयो मे राज्य का हस्तक्षेप और नियत्रण सूचित होता है। हम कह नही सकते कि आचार्य कौटल्य द्वारा प्रतिपादित ये नियम कहाँ तक क्रियात्मक रूप मे आए हुए थे। पर इनके अध्ययन से यह तो ज्ञात हो ही जाएगा कि भारत के प्राचीन राजशास्त्री इस प्रश्न पर क्या विचार रखते थे। इस लेख मे हम इसी विषय पर प्रकाश डालेगे।

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार समाज का आधार 'स्वधर्म' या 'स्थिति' (Status) है। मनुष्य को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने का अधिकार नही है। जीवन मे प्रत्येक व्यक्ति का 'स्वधर्म' निश्चित है। व्यक्ति के अपने कल्याण के लिये, तथा सब मनुष्यो के सामूहिक हित के लिये, आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति 'स्वधर्म' पर कायम रहे। 'स्वधर्म' का पालन स्वर्ग तथा अनत सुख प्राप्त करने का हेतु है।[१] यदि स्वधर्म का उल्लघन किया जाएगा तो अव्यवस्था मच जाएगी और जनता नष्ट हो जाएगी।[२] राज्य की उत्पत्ति से पूर्व एक ऐसा समय था, जब राजसंस्था की स्थापना नही हुई थी। इस अराजक दशा को कौटल्य ने 'मात्स्य न्याय' के नाम से लिखा है।[३] मात्स्य न्याय की दशा मे कोई

१. स्वधर्मस्स्वर्गायानन्त्याय च।—कौ० अर्थ० १।३

२. तस्यातिक्रमे लोकस्सङ्करादुच्छिद्येत।—कौ० अर्थ० १।३

३. अप्रमितो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति।—कौ० अर्थ० १।४

व्यक्ति 'स्वधर्म' का पालन नहीं करता था। उस समय सब मनुष्य स्वच्छद थे। इसी कारण उस समय जनता नष्ट हो रही थी। अराजक दशा और समाज की व्यवस्थित दशा (राजसस्था की दशा) मे भेद ही यह है कि पहली अवस्था मे मनुष्य 'स्वधर्म' का पालन नही करते, किंतु राजसस्था के उत्पन्न होने पर 'स्वधर्म' पर स्थित रहते हैं।

परतु लोग अपना-अपना कार्य करते रहे, 'स्वधर्म' पर स्थित रहे, इसके लिये राजशक्ति की आवश्यकता होती है—उसके बिना कार्य नही चल सकता। केवल उपदेश से, हमारा तथा समूह का हित 'स्वधर्म'-पालन से होगा—इस तथ्य को दृष्टि मे रखकर जनता स्वय 'स्वधर्म' का उल्लघन न करेगी, यह नहीं हो सकता। इसके लिये दंड और राजशक्ति की आवश्यकता है ही। राजा को चाहिए कि अपनी राजशक्ति (कार्यानुशासन = Executive authority) से जनता को स्वधर्म मे स्थित रक्खे।[१] राजा का कर्त्तव्य है कि मनुष्यो को स्वधर्म का उल्लघन न करने दे। जनता को स्वधर्म मे स्थित रखकर ही राजा इहलोक तथा परलोक मे सुख प्राप्त कर सकता है।[२]

विविध लोगों के स्वधर्म क्या हैं, इसका भी आचार्य कौटल्य ने प्रदर्शन किया है। ब्राह्मण का 'स्वधर्म' अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के स्वधर्म गिनाए गए हैं।[३] मनुस्मृति और महाभारत मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के जो धर्म प्रतिपादित हैं, उनमे और कौटल्य द्वारा गिनाये गए 'स्वधर्मों' मे कोई विशेष भेद नही है। परतु कौटल्य के अनुसार शूद्र के 'स्वधर्म' मनु से सर्वथा भिन्न हैं। मनु के अनुसार शूद्रो का एकमात्र कर्म द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की सेवा करना है।[४] परतु चाणक्य के अनुसार शूद्र का 'स्वधर्म' है द्विजातियो की सेवा, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, कारीगरी और तमाशा करनेवालो के काम।[५] इस प्रकार कौटल्य के अनुसार शूद्रो की स्थिति अधिक समानास्पद तथा व्यापक है। चारो वर्णों के स्वधर्म का प्रतिपादन कर कौटल्य ने चारो आश्रमो के 'स्वधर्म' की भी व्यवस्था की है। गृहस्थ के धर्म बताते हुए वे 'स्वकर्मा जीव' (अपने निश्चित कर्म से ही आजीविका चलानेवाला) विशेषण का प्रयोग करते हैं। चारों वर्णो और आश्रमो के विविध मनुष्य अपने-अपने 'स्वधर्म' पर कायम रहे, यह उनकी इच्छा पर ही नही छोड़ दिया गया है। यह राज्य का काम है कि अपनी दडशक्ति द्वारा उन्हे 'स्वधर्म'

१ कार्यानुशासनेन स्वधर्मस्थापनम्।—कौ० अर्थ० १।६

२ तस्मात् स्वधर्मं भूताना राजा न व्यभिचारयेत्। स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥ —कौ० अर्थ० १।३

३ कौ० अर्थ० १।३

४ एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्। सर्वेषामेव वर्णाना शुश्रूषामनसूयया॥—मनुस्मृति १।९१

५ शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा वार्ता कारुकुशीलव कर्म च।—कौ० अर्थ० १।३
(कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता।—कौ० अर्थ० १।४)

पर स्थित रक्खे। "जब राजा चारो वर्णो और आश्रमो के 'स्वधर्म' का स्थापन कर आर्य-मर्यादा की व्यवस्था करता है तब यह ससार कभी कष्ट नही उठाता, अपितु सर्वदा उन्नति ही करता है।"[१] इसी प्रकार अन्यत्र लिखा है—"चारों वर्णो और आश्रमो से परिपूर्ण यह लोक जो अपने-अपने धर्म और कर्म मे रत हुआ अपने मार्ग पर चल रहा है, उसका कारण यही है कि राजा दडशक्ति से इसका पालन करता है।"[२]

जनता को 'स्वधर्म' मे कायम रखने के लिये राजा किस प्रकार अपनी राजशक्ति का उपयोग करता था, इस विषय पर कौटलीय अर्थशास्त्र विशेष प्रकाश नहीं डालता। परतु फिर भी कुछ ऐसे उपयोगी और मनोरजक निर्देश हमे प्राप्त हो जाते हैं, जो इस तथ्य मे किसी प्रकार का सदेह नही रहने देते। उदाहरण के लिये परिव्राजक और सन्यासी को लीजिए। कौटल्य के शासन-विधान मे चाहे जो मनुष्य सन्यासी नही बन सकता था। संन्यासी वनने के लिये यह आवश्यक था कि अपने वच्चो और स्त्री का ठीक प्रकार से प्रवंध कर दिया जाए। जो मनुष्य इनका समुचित प्रवध किए विना सन्यास लेता था उसे 'पूर्व-साहस-दड' मिलता था।[३] सन्यासी वनने के लिये धर्मस्थ (मजिस्ट्रेट) की अनुमति लेनी आवश्यक थी। धर्मस्थ, सन्यासी होने की अनुमति तभी देता था जव उसे विश्वास करा दिया जाता था कि सन्यासी होने के लिये इच्छुक मनुष्य की—सतानोत्पन्न करने की—शक्ति नष्ट हो गई है, अन्यथा वह निषेध कर देता था।[४] इसी प्रकार यह नियम था कि स्त्रियाँ सन्यास न ले सके। यदि कोई मनुष्य किसी स्त्री को सन्यास दिलाता था तो उसे सजा मिलती थी।[५] आचार्य कौटल्य को यह अभीष्ट न था कि वानप्रस्थ-आश्रम मे वाकायदा प्रविष्ट हुए विना कोई मनुष्य सीधे संन्यासी हो जाय। जो लोग पहले तीनो आश्रमो के कर्त्तव्यों का यथाविधि पालन कर संन्यास-आश्रम मे प्रवेश करना चाहते थे उन्हीं को इसके लिये अनुमति दी जाती थी।[६]

इसी प्रकार, गृहस्थ लोग अपने 'स्वधर्म' का ठीक-ठीक पालन करते रहे, इसके लिये राज्य की ओर से अनेक नियमों की व्यवस्था थी। यदि कोई गृहस्थ अपने वच्चो, पत्नी, माता-पिता, नावालिग भाई, वहन तथा विधवा कन्या का—अपने मे शक्ति रखते हुए भी—पालन न करे तो दड पाता था।[७]

१. व्यवस्थितार्यमर्याद. कृतवर्णाश्रमस्थिति.। त्रय्या हि रक्षितो लोक. प्रसीदति न सीदति॥ —कौ० अर्थ० १।३
२. चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालित । स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु॥—कौ० अर्थ० १।४
३. पुत्रदारमप्रतिविधाय प्रव्रजत. पूर्वस्साहसदण्ड.।—कौ० अर्थ० २।१
४. लुप्तव्यवाय. प्रव्रजेत् आपृच्छ्य धर्मस्थात्। अन्यथा नियम्येत।—कौ० अर्थ० २।१
५. स्त्रियं च प्रव्राजयत.।—कौ० अर्थ० २।१
६. वानप्रस्थादन्य प्रव्रजितभाव. .. नास्य जनपदमुपनिवेशेत।—कौ० अर्थ० २।१
७. अपत्यदार मातापितरौ भ्रातॄन् अप्राप्तव्यवहारान् भगिनी. कन्या विधवाश्च अविभ्रत· शक्तिमतो द्वादशपणो दण्ड.॥—कौ० अर्थ० २।१

विवाह के अनतर पुरुष और स्त्री मे किस प्रकार का सबध रहे—वे एक दूसरे से किस प्रकार का व्यवहार करे, इस विषय मे भी विस्तृत नियम बनाए गए थे। इन नियमो का उल्लघन करने पर दड की व्यवस्था भी आचार्य कौटल्य ने की है।[1] केवल स्त्री और पुरुष ही नही, गृहस्थ-आश्रम मे अन्य सबधियो को भी एक दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यो का पालन करना जरूरी है। यदि पिता और पुत्र, पति और पत्नी, भाई और बहन, मामा और भानजा तथा आचार्य और शिष्य मे से कोई एक अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा कर दूसरे का परित्याग करना चाहे, तो उस पर बाकायदा मुकदमा चलाया जाता था और अपराध के साबित होने पर उसे 'पूर्व-साहस-दड' दिया जाता था। पर यदि यह सिद्ध हो जाय कि इनमे से कोई 'पतित' हो गया था और 'पतित' होने के कारण दूसरे ने उसका परित्याग किया है तो दड से उसका छुटकारा हो जाता था।[2]

समाज को नियत्रित करने के विचार से आचार्य कौटल्य ने जो नियम बनाए हैं, उनकी समाप्ति केवल गृहस्थ-जीवन तक ही नही हो जाती। समाज के सामान्य जीवन मे भी एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के प्रति जो कर्त्तव्य है, उसे पूरा न करने पर दड की व्यवस्था की गई है। आग लगने पर यदि कोई आदमी आग बुझाने मे सहायता न देकर अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करे तो उस पर जुर्माना किया जाता था।[3] यदि कोई आदमी किसी दूसरे आदमी को अपने काम के लिये ले जाय और उसे बीच मे ही छोड दे, तो भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे विविध दडो की व्यवस्था की गई है।[4] यदि कोई यात्री एक साथ यात्रा के लिये चले और रास्ते मे एक दूसरे को छोडकर अलग हो जाय तो उसे सजा दी जाती थी।[5] यदि किसी मनुष्य की उपेक्षा के कारण दूसरे को चोट आ जाय तो उसे दंड मिलता था। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक नियम आचार्य कौटल्य ने लिखे हैं।

सामाजिक जीवन मे स्वामी अपने दासों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करे, इसके लिये भी कौटलीय अर्थशास्त्र मे नियम विद्यमान है। यदि कोई मालिक अपने दास को मारे-पीटे, गालियाँ दे या उसे जूठ खाने के लिये विवश करे तो उस पर जुर्माना किया जाता था। यदि कोई मनुष्य अपनी दासी, धाई, परिचारिका आदि पर बलात्कार करने का प्रयत्न करे तो उसके सबंध मे कौटल्य ने एक ही व्यवस्था की है—वह यह कि वह स्त्री एकदम दासता से मुक्त होकर स्वतत्र हो जाय।[6] दासों के अतिरिक्त अन्य मनुष्य जो अपनी इच्छा से नौकरी की शर्तें करके किसी के यहाँ नौकर बने, उनके सबध मे राज्य का हस्तक्षेप और भी अधिक था। नौकरी के लिये जो शर्तें तय हुई हो उनका परिज्ञान

१. कौ० अर्थ० ३।३
२ पितापुत्रयोर्दम्पत्योर्भ्रातृभगिन्योर्मातुलभागिनेययोश्शिष्याचार्ययोर्वा परस्परमपतितं त्यजत· .. .. पूर्वसाहसदण्ड· ॥—कौ० अर्थ० ३।२०
३. प्रदीप्तमनभिधावतो गृहस्वामिनो द्वादशपणो दण्ड· ।—कौ० अर्थ० २।३६
४. कौ० अर्थ० ३।२०
५. सहप्रस्थायिष्वन्येषु अर्धदण्ड ।—कौ० अर्थ० ३।२०
६. धात्रीपरिचारिकार्धसीतिकोपचारिकाणा च मोक्षकरम् ।—कौ० अर्थ० ३।१३

पड़ोसियों को अवश्य करा देना चाहिए। यदि किसी शर्त के सबध मे विवाद हो तो पडोसियों के साद्य के अनुसार उसका निर्णय किया जाता था।[१] आचार्य कौटल्य की यह व्यवस्था ध्यान देने योग्य है कि यदि कोई स्वामी अपने दासों, नौकरों या मजदूरो के दावो को न सुने, उनकी उपेक्षा करे, तो उसके लिये राजशक्ति का प्रयोग कर उसे ठीक रास्ते पर लाना चाहिए।[२]

ब्राह्मण भी राज्य के हस्तक्षेप से न बचे थे। राजशक्ति द्वारा उनका भी नियंत्रण किया जाता था। यदि कोई पुरोहित किसी अयाज्य (अछूत) को पढ़ाने या उसका यज्ञ करान के लिये नियत किया जाय और वह ऐसा करने से इनकार करे तो उसे दड दिया जाय।[३] ब्राह्मणो के सबध मे जो बहुत-सी व्यवस्थाएँ कौटलीय अर्थशास्त्र मे उपलब्ध होती हैं, वे उनके क्रियात्मक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालती है। कौटल्य ने अपनी व्यवस्थाओ का निर्माण करते हुए उन्हे राग-द्वेष और लोभ-मोह से शून्य लोकोत्तर मनुष्य नही माना है, अपितु अन्य मनुष्यो की तरह आजीविका उपार्जन करनेवाला ही समझा है। यज्ञ कराने के लिये जो विविध याज्ञिक ब्राह्मण नियुक्त हों वे दक्षिणा के धन को आपस मे किस तरह बाँटे, इस सबंध मे बहुत-से नियम अर्थशास्त्र मे दिए गए हैं। यदि ब्राह्मण यज्ञ कराते हुए अपना कार्य ठीक तरह से न करे तो उनके लिये अनेक प्रकार के दडो (शारीरिक और आर्थिक) की भी व्यवस्था की गई है।[४]

नगर मे कौन लोग कहाँ बसे, इस सबध मे निश्चित नियम थे। शराब, जुआ, वेश्यावृत्ति आदि को नियंत्रित करने के लिये राज्य की ओर से निश्चित व्यवस्था थी। शराब बनाने और बेचने का प्रबध राज्य की ओर से होता था। शराब निश्चित शराबखानों मे ही पी जा सकती थी, बाहर ले जाकर पीने की अनुमति नही मिलती थी। केवल वे ही लोग अपने घरो मे शराब पी सकते थे जिनके आचार की पवित्रता सब जगह ज्ञात हो।[५] राज्य द्वारा शराब को नियंत्रित करने के लिये कौटल्य ने निम्नलिखित कारण दिए हैं—कही काम मे लगे हुए श्रमी लोग आलसी न हो जाएँ, आर्य लोगो की मर्यादा भग न हो जाए, और तीक्ष्ण प्रकृति के लोग अव्यवस्था न मचा दे।[६] जूआ,[७] वेश्यावृत्ति[८] आदि के सबध मे भी इसी प्रकार के नियम मिलते हैं। और तो और, तमाशे दिखानेवाले, नट, वादक, गायक आदि को भी नियन्त्रित किया गया है। कौटल्य लिखते हैं—ये विविध तमाशे दिखाने-

१. कर्मकस्य कर्मसम्बन्धमासन्ना विद्यु'।—कौ० अर्थ० ३।१३
२ दासाहितकबधून शृण्वतो राजा विनय ग्राहयेत्।—कौ० अर्थ० २।१
३ पुरोहितमयाज्ययाजनाध्यापने नियुक्तममृष्यमाण राजा अवक्षिपेत्।—कौ० अर्थ० १।१०
४. कौ० अर्थ० ३।१४
५. वेदितज्ञातशौचा निर्हरेयु'।—कौ० अर्थ० २।२५
६ सुराया. प्रमादभयात् कर्मसु निर्दिष्टाना, मर्यादातिक्रमभयादार्याणा, उत्साहभयाच्च तीक्ष्णाना ।
—कौ० अर्थ० २।२५
७ कौ० अर्थ० ३।२०
८. कौ० अर्थ० २।२७

वाले लोग किसानो और शिल्पियो के कार्य मे विघ्न न करने पावे।[१] इन्हे तमाशा दिखाने के लिये लाइसेस लेना पडता था। लाइसेस के लिये इन्हे पॉच पण देने पडते थे।[२] कौटल्य इन तमाशाई लोगो को अपने राज्य मे जरा भी प्रोत्साहित नही करना चाहते थे, इसी लिये उन्होने इस प्रकार के तमाशो के निमित्त स्थिर शालाएँ बनाने का पूर्णतया निषेध कर दिया था।[३]

आर्थिक जीवन को नियत्रित करने के लिये बहुत-से नियमो की व्यवस्था आचार्य कौटल्य ने की है। जमीन के ऊपर किसान का अधिकार अपने जीवन तक ही होता था।[४] यदि कोई किसान स्वय खेती न करे तो उससे उसकी जमीन छीन ली जाती थी और दूसरे किसानो को दे दी जाती थी।[५] भूमि-सबंधी ये नियम विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। इन नियमों के कारण भूमि पर किसी व्यक्ति का पूर्ण अधिकार स्थापित नही होने पाता था। व्यक्ति का जमीन पर किस हद तक अधिकार है, इसका नियत्रण राज्य करता था। सूद की दर अधिक से अधिक कहॉ तक हो सके, इस विषय मे भी राज्य के नियम थे। अधिक सूद लेने पर सजा दी जाती थी।[६] वस्तुओ का मूल्य भी निश्चित करने का प्रयत्न किया जाता था। किस पदार्थ पर कितना मुनाफा लिया जा सके, इसके लिये निश्चित व्यवस्था थी।[७] वस्तुओ का मूल्य निश्चित करते समय उत्पत्ति के विविध खर्चों का परिगणन किया जाता था और उत्पत्ति-व्यय के साथ-साथ मार्ग के खर्च भी जोडे जाते थे।[८] यदि कोई व्यापारी परस्पर मिलकर कृत्रिम रूप से वस्तुओ की कीमत बढाने की कोशिश करे तो उन्हे दड मिलता था।

आर्थिक विषयो का नियत्रण राज्य द्वारा किस प्रकार किया जाता था, इस सबंध मे कौटलीय अर्थशास्त्र से बहुत-सी बाते ज्ञात होती है। उन सबका उल्लेख कर सकना कठिन है। इस लेख के विषय को स्पष्ट करने के लिये उन सबकी आवश्यकता भी नही है।

प्राचीन भारतवर्ष मे सामाजिक सगठन का आधार वर्णाश्रम-व्यवस्था थी। भारत के प्राय: सभी स्मृतिकारो तथा राजशास्त्रियों ने इस बात पर जोर दिया है कि राजा वर्णाश्रम-मर्यादा की स्थापना करे। यह स्पष्ट भी है कि केवल परपरा से, राजशक्ति की सहायता के बिना, यह मर्यादा स्थिर नहीं

१ नटनर्तनगायनवादकवाग्जीवनकुशीलवा वा न कर्मविघ्नं कुर्यु.।—कौ० अर्थ० २।१

२ तेषा तूर्यमागन्तुक पञ्चपण प्रेक्षावेतन दद्यु।—कौ० अर्थ० २।१

३ न च तत्रारामविहारार्था शालास्स्यु।—कौ० अर्थ० २।१

४ करदेभ्य कृतक्षेत्राण्यैकपुरुषिकाणि प्रयच्छेत्।—कौ० अर्थ० २।१

५ अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्य प्रयच्छेत्।—कौ० अर्थ० २।१

६ सपादपणा धर्म्या मासवृद्धि पणशतस्य। तत पर कर्तु कारयितुश्च पूर्वस्साहसदण्ड। श्रोतृणामेकैक प्रत्यर्धदण्ड।—कौ० अर्थ० ३।११

७ कौ० अर्थ० २।१६

८ वाणिज्ये च यानाभगकपथ्यदनपण्यप्रतिपण्यार्धप्रमाणयात्राकालभयप्रतीक पण्यपत्तनचारित्राण्युपलभेन।—कौ० अर्थ० २।१६

रह सकती। राज्य इसके लिये किस प्रकार अपने नियमो द्वारा वर्णाश्रम-धर्म की स्थापना कर समाज का नियत्रण करता था, इस सबध मे कौटलीय अर्थशास्त्र की ये व्यवस्थाएँ वस्तुतः बहुत महत्त्व रखती हैं।
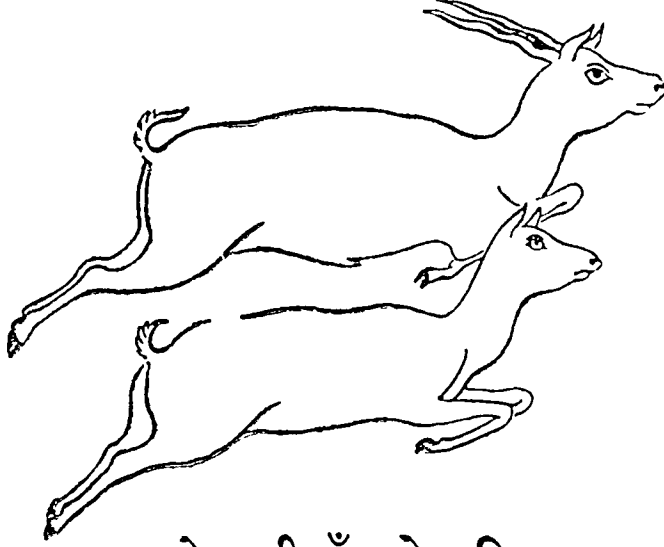
ओस की बूँद के प्रति

रम्य उषा के नव कलरव मे
तू क्या करने आया?
मेरे सोते दृग-जल को क्या
है चाहता जगाया?
क्या मुझ-सा हो जोड़ रहा तू
तार स्वप्न का टूटा?
बता-बता, क्या तेरा भी घर
गया रात मे लूटा?
निष्कलंक निष्पाप विमल तन!
किस अनिष्ट के डर से?
नव प्रभात मे मूक रुदन यह
करने निकला घर से?

जीवन के तममय प्रदेश मे
चलते-चलते थककर।
तुझ-सा मै भी झूल रहा हूँ
आशा के पल्लव पर।
रंग-भरी तितली के दर्पण
जग के जीवित मोती!
प्राण हथेली पर हो जिसके
हार न उसकी होती!
लाख हवा का झोका आए
अब न जरा घबराना।
दिव्य ज्योति वह दीख रही है
जिसमे है मिल जाना।

श्रीनाथसिंह
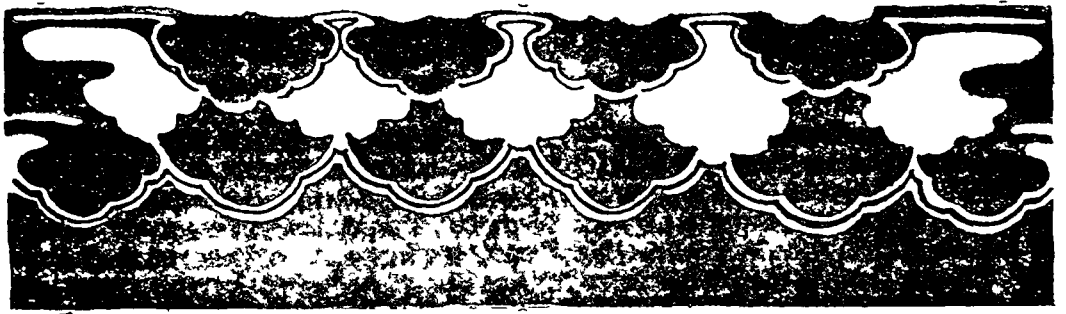
भविष्य का समाज

डॉक्टर वेनीप्रसाद, एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी०

यो तो इतिहास के बहुतेरे युगों मे बडे-बडे परिवर्त्तन हुए हैं, पर यह कहना बेजा न होगा कि उन्नीसवी ईसवी सदी मे जैसी उथल-पुथल हुई—वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण जैसी क्रांति पैदा हुई, वैसी पहले कभी न हुई थी। रेल, तार और जहाज ने दुनिया को एक कर दिया। पुतली-घरो ने उद्योग, व्यापार, रहन-सहन—अथवा यो कहिए कि सारे आर्थिक जीवन—का काया-पलट कर दिया। छापे की कल ने अखवार और किताबे ऐसी बहुतायत से और इतनी सस्ती छापना शुरू किया कि सर्वसाधारण के लिये ज्ञान के मार्ग खुल गए। उधर योरप और अमेरिका में सरकारो ने पुरानी सकुचित नीति छोडकर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य आदि की ओर ध्यान दिया और अपने-अपने देशों की उन्नति की। राज्य का भी रूप बदल गया। राष्ट्रीयता और जन-सत्ता ने अनेक देशो के शासन मे युगातर कर दिया। ससार के देशों के पारस्परिक सबध भी बदल गए। शिक्षा, विज्ञान और सगठन के द्वारा अपनी शक्ति बढ़ाकर योरोपियन राष्ट्रो ने एशिया और अफ्रिका के देशो पर प्रभुता जमाई और उनको अपने पुतली-घरो के लिये कच्चे माल की मंडी और बनाए हुए पदार्थो के लिये बाजार समझ लिया। इस साम्राज्यवाद—और विशेषकर आर्थिक साम्राज्यवाद—से जो असंतोष अवश्यभावी था, उसका आरभ भी उन्नीसवी सदी के अंत तक हो गया। जापान, चीन, हिंदुस्तान, फारस, मिस्र और तुर्की मे नई राजनीतिक तरगे नजर आई और अफ्रिकन जातियो मे भी कुछ ऐसे मद-मद स्वर सुनाई दिए जो पहले कान मे न पडते थे। उधर योरप मे भी मजदूरो ने अपनी गरीबी, कडी मिहनत, बेकारी या निरादर को दूर करने के लिये समितियाँ बनाकर आंदोलन, जलूस और हडताल के द्वारा पूँजीपतियो से गहरी छेडछाड़ शुरू कर दी थी।

अस्तु, उन्नीसवी सदी ने जहाँ पैदावार, उद्योग, व्यापार, विद्या और सगठन की अपूर्व वृद्धि की वहाँ सामाजिक और राजनीतिक विलवों के बीज भी बोए। बीसवी ईसवी सदी मे १९१४ से १९१८ तक महायुद्ध हुआ। योरप क्या, सारा ससार हिल गया। एक ओर आंदोलनों का वेग बढ़ गया और

दूसरी ओर उनके दबाने की चेष्टाएँ भी बहुत तीव्र हो गई। आज यह घमासान ससारव्यापी हो रहा है। यह राजनीतिक भी है, आर्थिक भी है, सामाजिक भी है, और मानसिक भी है। आज परिस्थिति यह है कि ससार मे सपत्ति तो बहुत है, सपत्ति बढ़ाने के साधन अपरिमित-से हैं, मशीनों के प्रयोग से मिहनत के घटे घटाना और मानसिक एव आध्यात्मिक प्रयासों के लिये सर्वसाधारण को यथेष्ट अवकाश देना सुगम हो गया है, पर जन-समुदायों के सबंध ऐसे पुराने ढग के हैं कि थोडे-से आदमी ही सुख के भोगी हैं और बाकी लोग तो जैसे-तैसे क्लेश से गुजारा करते है। बीसवीं सदी के सामने समस्या यह है कि यह सपत्ति-युग सुख-शांति के युग मे कैसे परिणत किया जाय।

विज्ञान ने मनुष्य को इतनी शक्ति दे दी है कि वह लड-भिडकर सभ्यता का सत्यानास भी कर सकता है और मिलजुलकर इस लोक को स्वर्ग-लोक भी बना सकता है। मनुष्य के समाजों और सस्थाओ का विकास अब तक कुछ तो परिस्थिति के अनुसार और कुछ मानवी सकल्पों के अनुसार हुआ है। भविष्य मे भी ऐसा ही होगा। पर वर्त्तमान युग और पिछले युगो मे अंतर यह है कि अब विज्ञान और आविष्कार की कुजी मनुष्य के हाथ मे आ गई है, वह परिस्थिति का नियमन भी सुगमता से कर सकता है, और समाज का सगठन भी मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र की कसौटी पर परखे हुए सिद्धातों के आधार पर कर सकता है। भविष्य के समाज का पूरा-पूरा ब्योरेवार चित्र कोई नही खीच सकता, पर परिस्थिति के अनुसार उसके कई सिद्धांत स्पष्ट किए जा सकते हैं। पहली बात तो यह है कि रेल, तार, बे-तार, जहाज, विमान आदि से सब देश एक दूसरे के इतने निकट आ गए हैं—एक दूसरे पर ऐसा घोर प्रभाव डालते हैं कि ससार एक हो गया है। इसलिये भविष्य का सगठन अतर्राष्ट्रीय होना चाहिए। मिहनत-मजदूरी के घंटे और वेतन, स्वास्थ्य के प्रयोग, अतर्राष्ट्रीय यात्रा के नियम, जल-थल और हवा की सेनाओं के परिमाण इत्यादि बाते अतर्राष्ट्रीय सभाओ के परामर्श से तय होनी चाहिए। इस प्रस्ताव के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वत्वाधिकार का कुछ अंश अतर्राष्ट्रीय सस्थाओ के सुपुर्द कर देगा।

यह बताने की आवश्यकता नही कि यह राजनीतिक परिवर्त्तन उस समय तक नही हो सकता जब तक वर्त्तमान परिस्थिति बदल न जाय। अंतर्राष्ट्रीय शासन विश्व-शांति पर निर्भर है। विश्व-शांति की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि मानव-सबध अहिसा के आधार पर स्थिर हो। जब तक एक वर्ग या देश दूसरे वर्गों या देशों से अपना मतलब निकालना चाहता है, जब तक पराधीनता और साम्राजिकता मौजूद है, तब तक न तो अधीन समुदाय चैन लेंगे और न स्वामि-समुदाय सुख की नीद सो सकेंगे, न तो निरस्त्रीकरण हो सकेगा और न शांति स्थापित हो सकेगी। अब तक मानवी संबध कुछ तो सकुचित सहयोग के सिद्धांत पर और कुछ 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'वाले सिद्धांत पर अवलबित है। भविष्य मे सहयोग विश्वव्यापी करना होगा और अंतर्वर्गीय या अतर्राष्ट्रीय अत्याचार को मिटाकर सब जगह अहिंसा और न्याय की स्थापना करनी होगी। यह सिद्धांत भविष्य के समाज का दूसरा सिद्धांत है।

यह कोरा स्वप्न नही है। विश्वव्यापी शांति और अहिसा अब तक अत्यंत कठिन या असभव थी, पर अब उनके लिये मार्ग बहुत-कुछ साफ़ हो गया है या हो रहा है। अब तक लड़ाइयाँ, मार-काट और

श्री काशीप्रसाद जायसवाल

पृष्ठ ३१

श्री संत निहालसिंह
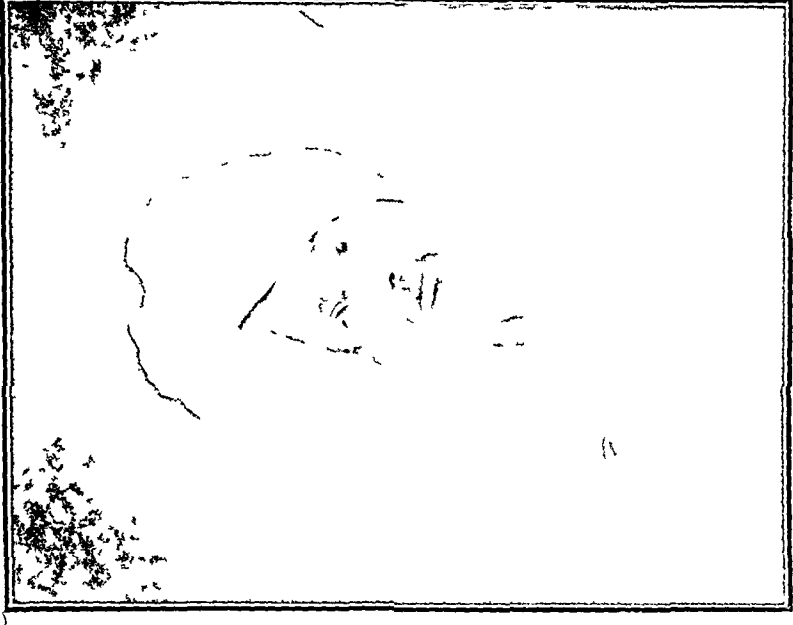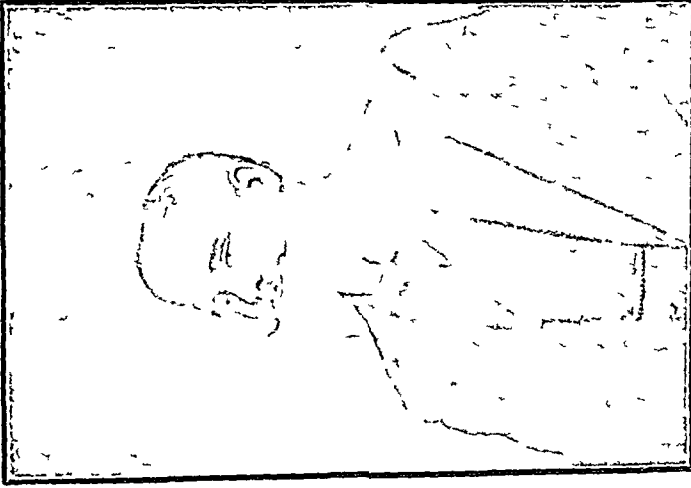
सपादकाचार्य श्रीरामानद चट्टोपाध्याय

(इडियन प्रेस और 'सरस्वती' के सस्थापक तथा स्वामी स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष न द्विवेदी जी के कार्य से सतुष्ट होकर एक बार कहा था—"हिदुस्तानी सपादको मे मैने वक्त के पाबद और कर्त्तव्य-पालन के विषय मे दृढप्रतिज्ञ दो ही आदमी देखे है—एक तो रामानद बाबू, दूसरे आप।")

सीनाजोरी क्यो होती रही हैं ? मुख्य कारण यह है कि अब तक खाने-पहनने की और अन्य आवश्यकताएँ पूरी करने की सामग्री बहुत परिमित थी और बहुत परिश्रम से प्राप्त होती थी। इसलिये वर्ग एक दूसरे से लडने लगे, एक दूसरे की भूमि इत्यादि पर अधिकार जमाने लगे, अपनी मिहनत बचाने के लिये दूसरो को दास या सेवक बनाने लगे। समर का और प्रात, वर्ग या वर्ण की पराधीनता का प्रधान कारण यही रहा है। समर मे निर्भीकता, त्याग, शूरता आदि जो गुण प्रकट होते हैं उनके कारण समर का महत्त्व बढ़ गया है और इतिहास मे बात-बात पर लडाई छिडती रही है। पर उसका मूल कारण सदा से यही रहा है कि जीवन के निर्वाह या सुख की सामग्री यथेष्ट नही थी। अब यह अवस्था बदल गई है। वैज्ञानिक आविष्कारो ने अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, रूस, जर्मनी आदि देशो मे खेती की पैदावार कई-गुना बढ़ा दी है और मशीनो के द्वारा किसानो की मिहनत भी बहुत घटा दी है। हिंदुस्तान, चीन आदि देशो मे भी यही हो सकता है। अब इतनी खाद्य-सामग्री आसानी से पैदा हो सकती है कि दुनिया भर मे किसी को खाने-पीने की तकलीफ न रहे। दूसरी चीजे भी मशीनो के द्वारा इतनी बनाई जा सकती हैं कि किसी को कमी न रहे। पराधीनता और स्वामित्व का मूल कारण अब मिट गया है। पर पुराने विचार, विद्वेष और गर्व के पर्दे अभी आदमी की अक्ल पर पडे हुए हैं। जैसे-जैसे लोग नई स्थिति के तत्त्व को समझते जाएँगे और पुरानी स्थिति से अनुचित लाभ उठानेवाले कुछ व्यक्तियो और वर्गो का प्रभाव कम होता जायगा तैसे-तैसे समाज स्वतत्रता, समानता और भ्रातृत्व की ओर बढता जायगा। इस नए समाज मे कोई देश या वर्ग किसी दूसरे के अधीन न रहेगा, जन्म से कोई ऊँचा-नीचा न होगा। छुआछूत, जात-पॉत का लेश न रहेगा। जीवन-निर्वाह की सामग्री सबके पास रहेगी और अपने परिश्रम से विशेष सुख-ऐश्वर्य पाने का अवसर सबको रहेगा। अर्थात्, शिक्षा विश्वव्यापी होगी और स्कूल छोडने के बाद भी स्त्री-पुरुषो को अध्ययन के अवकाश रहेगे। सामुदायिक मामले सबके परामर्श से, अर्थात् जनसत्ता के सिद्धात के अनुसार, तय होगे।

इस आदर्श को व्यवहार मे परिणत करने के लिये एक बात और आवश्यक होगी। पृथ्वी पर इस समय कोई एक अरब अस्सी करोड आदमी बसते है। विद्वानो ने हिसाब लगाया है कि पृथ्वी वैज्ञानिक आविष्कारो की सहायता से कोई पॉच अरब से नौ अरब आदमियो तक का पालन कर सकती है। पर, अगर जनसंख्या इसके भी आगे निकल जाय तो सामग्री की कमी पड़ जायगी।

ऊपर जिस भविष्य के समाज के सिद्धात बताए हैं उसकी स्थिरता इस बात पर निर्भर रहेगी कि जनसख्या बहुत ज्यादा न बढ़े। नही तो फिर पुरानी मार-काट और असमानता प्रकट हो जायगी। योरप और अमेरिका के पढ़े-लिखे वर्गो मे अब बहुत ज्यादा बच्चे नही पैदा होते। जैसे-जैसे जीवन का धरातल ऊँचा होता जायगा, स्त्रियॉ पढ-लिखकर निरे सतानोत्पादक यत्र बनने से इनकार करती जाएँगी और वैज्ञानिक प्रयोगो से भी कुटुब छोटा रखने मे सहायता मिलती जायगी, तैसे-तैसे पाश्चात्य देशो के अन्य वर्गो मे एव ससार के और सब देशो मे जनसख्या परिमित होती जायगी।

कहावत है कि 'अभी दिल्ली दूर है'। इस तरह का समाज आज असभव या दूरवर्त्ती भविष्य मे छिपा मालूम होता है। पर याद रखना चाहिए कि भविष्य मे जो परिवर्त्तन होगे, वे भूत काल के

परिवर्त्तनो की अपेक्षा बहुत जल्द होगे। विज्ञान, आविष्कार, सगठन और शिक्षा के कारण अब विचार और सस्थाओं मे बड़ी तेजी से परिवर्त्तन होता है। कुछ भी हो, इस युग मे हम सबका यह कर्त्तव्य अवश्य है कि नई शक्तियो के सहारे मानवी सबधो को न्याय, स्वतंत्रता और सहानुभूति की ओर बढ़ाएँ, भविष्य के लिये विश्वव्यापी शांति और सुख के आदर्श की कल्पना करे, और कल्पना को प्रकृत रूप देने की भरसक चेष्टा भी करे।

माली

ओ उपवन के माली!
तेरे श्रम-सीकर-सिचन से है इसकी हरियाली।
बंजर भूमि तोड़कर तूने कर दी जोत-बहाली,
आई ईति-भीति जब जो भी, सो तुरत सब टाली।
चौरस किते, पट्टियाँ चौडी, रविशे निपट निराली,
ऋतु-ऋतु के अनुकूल रुपाई बीच-बीच बिटपाली।
कभी हाथ मे खुरपी तेरे, कैंची कभी कुदाली,
तारतम्य मे तत्परता की तूने हद कर डाली।
काट झाड़-झखाड़, झुकाए ऊँचे तरु बलशाली,
छाँट फूल-फलवाले पौधे, रुचि से की रखवाली।
उनके प्रति पल्लव से प्रकटी तेरे रँग की लाली,
सु-फल फले, सत्वर झुक-झूली फूली डाली-डाली।
'कु-ऊ' कूजने लगी कोयले हो मद से मतवाली,
मधुप गूँजने लगे मुदित हो, सुधा सुरभि ने ढाली।
तब तूने सर्वस्व-सार से सज पूजा की थाली,
इष्ट देवता को अर्पण की फूल-फलों की डाली॥

मुंशी अजमेरी
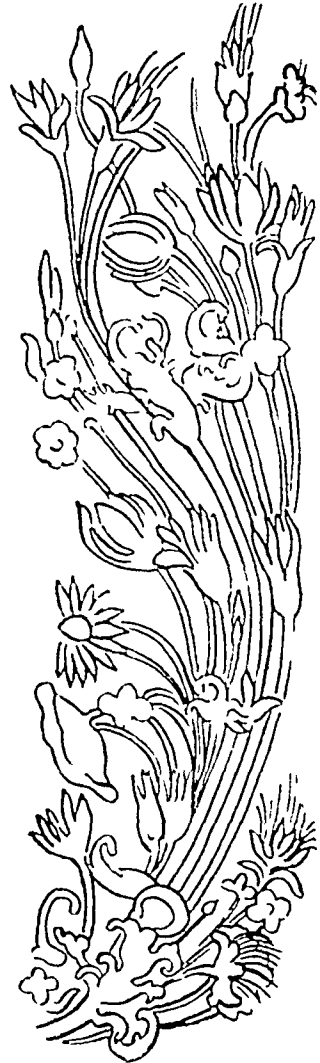
कुंडलिनी-तत्त्व

प्रिंसिपल गोपीनाथ कविराज, एम० ए०

१

बहुत दिनो से विद्वत्समाज मे, विशेषकर भारतीय दर्शनशास्त्र की तुलनामूलक-समालोचना-प्रिय पडित-मडली मे, एक सशय जागरूक अवस्था मे वर्त्तमान है। अनेक ग्रथो मे अनेक प्रकार से आलोचनाएँ हुई हैं, किंतु बडे खेद का विषय है कि उन सब आलोचनाओ से भी सशय की निवृत्ति नही होती। अपितु वह समस्या और भी जटिलता धारण कर लेती है। इस प्रबध मे उसी सशय को प्रदर्शित करके उसके समाधान के लिये प्रयत्न किया जायगा। यह विषय साधना-जगत् का एक गभीर रहस्य है। भाषा के साहाय्य से इस विषय की सपूर्ण आलोचना यद्यपि हो नहीं सकती, तथापि कुछ भी आलोचन न करना मानों भ्रांत धारणा के स्थायित्व को आश्रय देना है। अतएव यथाशक्ति स्पष्ट भाव से अपनी अनुभूति एव श्री गुरुदेव के 'मौन व्याख्यान' का अनुसरण करते हुए, शास्त्र के तात्पर्यानुसार, हम इस निगूढ तत्त्व की समालोचना करने मे प्रवृत्त होते हैं। सहस्र वत्सर के पूर्व काश्मीर देश की उपत्यका-भूमि मे बोधचक्षु श्री तात्पर्याचार्य देव 'संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्' इत्यादि वाक्यो से जिसकी जय-घोषणा कर चुके है, वर्त्तमान क्षेत्र मे भी वही भगवती सविदेवी वस्तु-निर्देश के मार्ग की प्रदर्शिका हैं। जो अनुभव-रसिक विद्वान् हैं, वे इस प्रबध मे शब्दो के ऊपर ध्यान न देकर तत्त्वांश को ही अपना लक्ष्य बनावे, यही प्रार्थना है।

हमारे प्राचीन सब दार्शनिक विद्वानो ने एक वाक्य से मुक्तकठ स्वीकार किया है कि धर्म, अर्थ, काम-रूपी तीन पुरुषार्थों के रहते हुए भी मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है। वे तो मुक्ति की अपेक्षा अपर

अथवा निकृष्ट हैं। वे परम पुरुपार्थ कहलाने योग्य नही हैं। आपाततः हम प्रेम-लक्षणा भक्ति के स्वरूप-निर्वचन अथवा उसके पुरुपार्थत्व-निर्णय के सवध मे कोई आलोचना नही करेंगे। पचम-पुरुपार्थ-वादी सम्प्रदाय बहुत प्राचीन काल से ही वर्त्तमान है। ज्ञान के विना मुक्ति नही हो सकती, इसको भक्ति-वादी भी अपने सिद्धातानुसार किसी न किसी प्रकार से स्वीकार करते ही है। जो कुछ हो, ज्ञान अथवा भक्ति, जो साक्षात् भाव से मुक्ति के कारण माने जाते हैं, किस प्रकार स्वायत्त किए जा सकते हैं, यही यहॉ प्रश्न का विषय है। मत्स्येद्रनाथ, गोरक्षनाथ प्रभृति हठयोग-प्रवर्त्तक नाथाचार्यगण एव आगम-विद्गण कहते हैं कि मूलाधार मे प्रसुप्ता कुडलिनी-शक्ति को उद्‌बुद्ध किए विना कर्म, ज्ञान किवा भक्ति आदि कोई साधन मुक्ति वा अनर्थ-निवृत्ति के उपाय-रूप मे परिणत नही हो सकता। जो कर्म, ज्ञान वा भक्ति कुडलिनी-शक्ति के जागरण मे सहायता करे, वे ही यथार्थ मे कर्म, ज्ञान और भक्ति, तथा कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग-पदवाच्य हैं। तद्भिन्न कर्मादि व्यर्थ प्रयास-मात्र के कारण होते हैं। वे किसी समय मे सिद्धिदायक नहा होते। कुडलिनी की निद्रा भग हुए विना आत्मा अथवा परमात्मा मे स्थिति का लाभ नही हो सकता।

अब यहॉ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह कुडलिनीवाद नवीन वादविशेप है वा यह प्राचीन काल से ही प्रचलित है। आपाततः मन मे यही आता है कि भारतीय दर्शन-शास्त्र मे कारणवश किसी काल-विशेष मे इस तत्त्व की आलोचना प्रवृत्त हुई है। किंतु मूलतः यह वैदिक सिद्धांतानुसार नही है, तथा वेदानुकूल दर्शन-शास्त्रो मे भी इसका ग्रहण नही हुआ है। अधिक क्या, पातजल योगशास्त्र मे कुडलिनी अथवा षट्चक्रादिको मे से किसी एक का उल्लेख भी नही प्राप्त होता। बौद्ध तथा जैनादि ग्रथो मे भी स्पष्ट रूप से कुडलिनी की कोई आलोचना नही है। किसी-किसी विद्वान् का मत है कि यह तत्र-शास्त्र का अंतरंग विपय है। कुछ विद्वानो का मत है कि यह अथवा एतत्सपर्कीय वर्णोपासना-प्रणाली भारत के बहिर्देश—सभवतः 'मग' देश—से यहाँ आई है। भारतवर्ष मे हठयोग एवं अक्षर-उपासना के विषय मे जिस समय एक नवीन आंदोलन का सूत्रपात हुआ था, उसी समय मे उसका प्राधान्य भी स्थापित हुआ। कोई यह कहते है कि कुडलिनी-योग मुक्ति का उपाय-विशेप है। इस योग के अवलबन बिना भी उपायांतर से मोक्षलाभ हो सकता है।

इसी प्रकार नाना रूप से सशय की अवतारणा होती है। यहाँ यह कहना पडता है कि उक्त सकल सशय का मूल कुडलिनी-तत्त्व के संबंध मे यथार्थ ज्ञानाभाव का फल-मात्र है।[१]

शुद्ध वैखरी वाग्रूप शब्दप्रवाह के ऊपर लक्ष्य करने तथा तत्प्रतिपाद्य अर्थ के अनुसधान मे उदासीन रहने से ही इस प्रकार का वृथा सदेह उदित होता है। हम सत्य मिथ्या नही जानते, किंतु हमारा

१ 'The Six Centres and the Serpent Power' नामक ग्रंथ मे Arthur Avalon कहते है – "But whereas the Jnana Yogi attains Svarupa Jnana by his mental efforts without rousing Kundali, the Hatha Yogi gets the Jnana through Kundalini Herself" (P 201)—'ज्ञान-योगी' श्रवण, मननादि किसी भी उपाय का आश्रय करे, किंतु कुडलिनी को जागृत किए बिना स्वरूप-ज्ञान को वह प्राप्त नही कर सकता, यह निर्विवाद सिद्ध है।

विश्वास है कि इसी प्रकार ग्रथ-मूलक वैकल्पिक ज्ञान (अर्थानुसधान-शून्य केवल शब्द-ज्ञान) से ही हमारे शास्त्रो मे मत-वैषम्य का आविर्भाव होता है।

कुडलिनी का प्रवोधन कोई नवीन वस्तु नही है। कुडलिनी का स्वरूप क्या है, और उसका जागरण (चैतन्य-सपादन) क्या है, यह जाने विना तत्सवधी कोई आलोचना फलप्रद नही हो सकती। कुडलिनी का दूसरा नाम आधार-शक्ति है। यह शक्ति यावन्मात्र पदार्थो को आश्रय देती हुई सपूर्ण पदार्थो के मूल-सत्ता-रूप मे वर्त्तमान रहती है। इसके चैतन्य-सपादन करने से यह निराधार (निरालव) होकर शुद्ध चित्स्वरूप मे स्थित हो जाती है, और जिस समय कुडलिनी आधार-शून्य हो जाएगी उस समय ससार की सव वस्तुएँ भी निराधार हो जाएँगी, तथा कुडलिनी जिस समय प्रबुद्ध होकर चिन्मयी होती है उस समय समस्त विश्व भी चैतन्यरूप धारण करता है। कुडलिनी का जागरण और 'सर्व खल्विद ब्रह्म'—इस श्रुतिनिष्ठ सर्वत्र ब्रह्मसाक्षात्कार वा चैतन्यमयता के अनुभव की साधना सुतरा एक ही वस्तु है। यह जागरण क्रम से होता है। कर्म, ज्ञान, भक्ति प्रभृति कुडलिनी के जागरण की ही भिन्न-भिन्न क्रमिक अवस्थाएँ हैं। जिस समय जागरण पूर्ण हो जाता है, अथवा निद्रा की लेशमात्र भी स्थिति अवशिष्ट नही रहती, उसी समय परिपूर्ण अद्वैत तत्त्व की सिद्धि होती है, इसके पूर्व द्वैत-स्फूर्त्ति अवश्यभावी है। तत्रशास्त्र मे 'पूर्णाहता' कहकर इसी का वर्णन किया गया है।

२

पारमार्थिक सत्ता आत्यंतिक साम्यावस्था-स्वरूप है। उपनिपद् ने भी इसके स्वरूप-निर्देश के प्रसग मे 'परम साम्यम्' कहा है। इस मूल वस्तु मे नाम-रूप की कल्पना नही होती, इसकी चिता नही होती, इसकी वर्णना नही होती, यह अवाड्मनसगोचर है। अथवा जितने नाम, रूप, चितन, वर्णन प्रभृति ससार मे किए जाते हैं उन सवका मूल उपादान यही है। इसको तत्त्व पद से कह सकते हैं, तथा नही भी कह सकते। इसी लिये आगम शास्त्र मे इसको तत्त्व वा तत्त्वातीत उभय रूप से ही कहा गया है। यह विश्वात्मक (immanent) होता हुआ भी विश्वातीत (transcendent) है और यही उपनिषदो मे कही गई पूर्ण वस्तु (The Absolute) है। कोई कभी ऐसा न समझे कि पारमार्थिक सत्ता का यह विश्वात्मकता-अंश मिथ्या है और विश्वातीत भाव ही सत्य है। सत्य बात यह है कि लक्ष्य-भेद के अनुसार जीव परमार्थ की स्थिति को किसी अंश मे प्राप्त कर सकता है, क्योंकि परमार्थ जब अभिन्न एव स्वप्रकाश है तव इन दोनो अशो मे से किसी एक मे भी जीव की स्थिति होने से वे दोनो ही अंश युगपत् प्रकाशित होते हैं, इसमे सदेह नही। यही विश्व के प्रादुर्भाव का द्वार है, यही 'अपर' साम्य है और महाविंदु कहा जाता है। इसी अवस्था मे शिव और शक्ति, ब्रह्म और माया, पुरुष और प्रकृति समरस-एकाकार रहते हैं। यह अवस्था नित्य वर्त्तमान रहती है। इसमे अनत वैचित्र्य हैं, किंतु वह भी एकाकार-स्वरूप-से ही हैं।

जिस समय इस सामरस्य वा साम्य का भग होता है, अर्थात् क्रमानुसार विश्व का प्रादुर्भाव होता है, उस समय यह विंदु ही शक्ति-रूप मे परिणत होता है, एव शिवांश साक्षी-रूप मे स्थित रहता है। साक्षी

अपरिणामी एव एक है, किंतु शक्ति क्रमशः भिन्न-भिन्न स्तर मे प्रसृत होती है। साक्षी केंद्रस्थ है, वैसे ही मूलशक्ति भी है—अर्थात् दोनों ही एकभावापन्न हैं। किंतु शक्ति की, प्रसार एवं सकोच, दोनो ही अवस्थाएँ होती है; और साक्षी की वे दोनो अवस्थाएँ नही होती—अर्थात् साक्षी सकल अवस्थाओ मे निरपेक्ष, द्रष्टामात्र है। जिस प्रकार यह साक्षी केंद्रस्थ आत्मभावापन्न साम्यरूपा शक्ति का द्रष्टा है, उसी प्रकार प्रसारण और सकोच नामक शक्ति के अवस्था-द्वय को भी देखता है। यह विश्वातीत होने से सदा के लिये कालचक्र के ऊपर अवस्थित रहता है। किंतु कालचक्र के नाभि-स्वरूप भी हैं। शक्ति का प्रसार ही सृष्टि तथा उसका संकोच ही सहार कहा जाता है। प्रसार और संकोच—इन दोनो के प्रारभ तथा अंत मे साम्यावस्था रहती है। मध्य मे इसका वैषम्य वा कालचक्र का आवर्त्तन रहता है। किंतु वैषम्य मे भी साम्यावस्था अंतर्निहित रहती है। सृष्टि और सहार—अर्थात् प्रसार और सकोच—शक्ति का अनपायी स्वभाव वा स्वधर्म है। यह नियत रूप से बराबर होता ही रहता है। यह बहिर्गति और अंतर्गति, अधोगति एव ऊर्ध्वगति, प्रवृत्ति और निवृत्ति, समिलित भाव से वृत्ताकार धारण करती हुई 'कालचक्र' नाम से पुकारी जाती है। प्रदीप से जिस प्रकार प्रभा निर्गत होती है, जलाशय मे पाषाण-निक्षेप करने से जिस प्रकार चारो तरफ जल का एक गोल मडल रचित होता है, ठीक उसी प्रकार बिंदु भी उसी स्वरूप मे प्रसृत होता है। यह प्रसार क्रम से बढ़ता रहता है, तथापि वह किसी अवस्था मे अवश्य निरुद्ध होता है। कारण, सृष्टि का प्रसार अनंत नही हो सकता, क्योकि यह सृष्टि का प्रसार प्रेरणा से होता है, और प्रेरणा अपरिच्छिन्न नही हो सकती।

हमने सकोच और प्रसार—इन दो धर्मो का उल्लेख कर दिया है। प्रसार-शक्ति के क्षीण होने पर सकोच-शक्ति पुष्ट होती है, तथा सकोच-शक्ति के क्षीण होने पर प्रसार-शक्ति पुष्ट होती है। सकोच-शक्ति और प्रसार-शक्ति क्रम से एक के अनतर दूसरी प्रकटित होती हुई कालचक्र के नाम से पुकारी जाती है—अर्थात् ऊर्ध्वतम स्थान से सर्वनिम्नतम भूमि-पर्यंत समग्र विश्व इसी चक्र मे घूम रहा है। बिंदु के केंद्रस्थल का आश्रय लेता हुआ यह कालचक्र भ्रमण करता है। इस प्रकार समस्त व्यक्त जगत् मध्यस्थ बिंदु की परिक्रमा कर रहा है[१]। इसमे बिंदु अपरिवर्त्तनशील, साक्षी और उदासीन है। जिस समय बिंदु-रूपा साम्यशक्ति विभक्त होती हुई व्याकृत रूप ग्रहण करती है, उस समय वह बिंदु अपना तीन स्वतत्र रूप धारण करता है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तुरीय बिंदु उस समय मे भी साक्षी से अभेद-भावापन्न एव अव्यक्त अवस्था मे ही वर्त्तमान रहती है। साम्यावस्था मे चतुर्थ बिंदु के सहित अपर बिंदुत्रय

१. इसी को 'सांख्य-दर्शन' मे परिणाम (सदृश और विसदृश, अनुलोम और प्रतिलोम) कहते हैं। वैदिक साहित्य मे इसी का नाम 'संवत्सरचक्र' है, और यही उत्तरायण और दक्षिणायन गति है। उत्तरायण वा ऊर्ध्वगति को 'देवयान' एवं दक्षिणायन वा अधोगति को 'पितृयान' कहते हैं। जिन्होंने तंत्र के षोडश नित्या का तत्त्व आलोचन किया है वे जानते हैं कि यह सृष्टि और संहार ही शुक्ल वा कृष्ण पक्षरूप से कल्पित मास-चक्र कहा जाता है, और चद्रमा की अमृतरूपा षोडशी (सोलहवीं) कला ही इस कालचक्र की मध्य-बिंदु-स्वरूपा है।

का कोई भेद नहीं रहता, किंतु वैषम्य-काल मे मूल विदु—अर्थात् चतुर्थ विदु—से ही विदुत्रय पृथक् भाव से प्रकटित होता है। विदु के प्रकट होने से ही रेखा की सृष्टि होती है, यह रेखागणित का सिद्धात है। विदु के कपन अथवा स्पदन से ही रेखा की उत्पत्ति होती है, तथा सकल्प ही स्पदन का कारण है। यही सकल्प जिस समय विकल्प-रहित—अर्थात् सकल्पातर-शून्य—होता है (जो शास्त्रीय भाषा मे 'सत्य संकल्प' कहा जाता है), उस समय रेखा भी अखड, अनवच्छिन्न एव अबाधित रहती है। उस विदु से सम भाव मे चारो तरफ रेखाओं के उत्पन्न होने पर मडलाकार से उनका प्रकाश होता है। इस प्रथम मडल को ही शास्त्रकारो ने 'सहस्रार' नाम दिया है। यह विदु ही ब्रह्मविदु वा आदिसूर्य, और इसकी सहस्र रेखा ही सहस्र अंशु—वा चारो तरफ प्रसारित सहस्र रश्मि—का रूप है। यही ज्योतिर्मय लोक, ब्रह्मलोक प्रभृति नाना नामो से, अपनी-अपनी भावना के भेद से विभिन्न भाव मे, सब शास्त्रो मे वर्णित हुआ है, और यही सत्त्वमय राज्य है। इस ज्योतिर्मडल के बाहर द्वितीय विदु का मडल है। हम इसको तटस्थ, मध्यस्थ एव उदासीन मडल के नाम से कह सकते हैं। इस द्वितीय मडल का केद्र 'रज' नाम का द्वितीय विदु है। 'रजस्' शब्द का अर्थ 'कण' वा 'अणु' है। पूर्वोक्त प्रथम मडल अखड ज्योतिर्मय स्वरूप है। प्रसारण-शक्ति जिस समय इस मडल की सीमा का—अर्थात् ज्योति-रेखा के अंत्य विदु का—अतिक्रमण करके उसके बहि.प्रदेश को प्राप्त करती है, उस समय उसी शक्ति की प्रेरणा से ज्योतीराशि से स्फुलिगवत् कणो का विक्षेप होता है। ये सब कण ज्योतिर्मय अखड सत्त्व के अंश हैं। अखड सत्त्व के समान ये सब खड सत्त्व भी (सत्त्वाश भी) ज्योतिर्मय वा चिन्मय हैं, यह विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नही। पचरात्र गण तथा भागवत संप्रदाय ने इन्ही सब कणो को 'चित्कण' नाम से व्यवहृत किया है,[1] और शैवाचार्यो की परिभाषा के अनुसार इनको ही 'विज्ञान-कल' कह सकते हैं। यही विशुद्ध जीव-भाव है। इसी के ऊपर से सहस्रार की प्रात-भूमि-पर्यंत शिव-भाव वा ईश्वर-भाव का आरभ होता है। श्रीमद्भगवद्गीता मे भी यही तटस्थ मडल 'ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन' वाक्य से 'सनातन जीवलोक' कहा गया है। ये सब नित्य जीव अनत शून्य गर्भ मे, रात्रि मे निर्मल आकाश मे चमकनेवाले उज्ज्वल नक्षत्र-मडल के समान, विराजमान रहते हैं। इनमे कोई-कोई जीव अपनी उपाधि को निरुद्ध करके कैवल्य-पद मे प्रतिष्ठित हो जाते हैं। उनका स्वरूप मूल साक्षी से अभिन्न तथा उनकी उपाधि नित्य होती हुई भी अव्यक्त रहती है—अर्थात् दिव्य दृष्टि से भी सब कैवल्य-पद-प्राप्त जीव नही देखे जा सकते। पहले जिस प्रकार से कहा गया है उसी से जाना जाता है कि प्रथम मडल के अनतर ही महाशून्य है और उसी के मध्य मे विशुद्ध जीवबिंदु की स्थिति है।

हम एक और आवश्यक बात यहाँ बतला देना चाहते हैं कि जो साक्षी की दृष्टि का क्षेत्र है वही आकाश-पदवाच्य है। यद्यपि साम्यावस्था अथवा महाप्रलय का आलोचन यहाँ नही करना है तथापि यह अवश्य कह देना है कि प्रथम बिंदु का प्रसार-क्षेत्र ही चिदाकाश है। यही किसी-किसी स्थान पर

१ पांचरात्र-संप्रदाय के ग्रथो मे मुक्त पुरुषो की इस प्रकार वर्णना प्राप्त होती है
—"त्रसरेणु प्रमाणास्ते रश्मिकोटिविभूषिता ।"

'परव्योम' पद से भी कहा गया है। द्वितीय विंदु के प्रसार-क्षेत्र को चित्ताकाश कहते हैं। इसके मध्य मे खद्योत-माला के समान कोटि-कोटि ब्रह्माड-श्रेणियाँ भासमान रहती हैं। इस द्वितीय मडल के बाहर गाढांधकारमय तृतीय मडल की सत्ता है। यह अखड तमोमय एव विभाग को प्राप्त हुए तृतीय विंदु के प्रसारण से उत्पन्न होता है। इसको 'भूताकाश' भी कह सकते हैं। यही 'माया' वा 'आवरण' कहा जाता है। वैष्णवगण इसी भूमि को 'वहिरग' कहते हैं। जिस प्रसारण-शक्ति मे विशुद्ध जीव-भाव-पर्यंत सृष्टि का आविर्भाव होता है वह उस समय मे भी क्रियाशील रहती है, और इसी के प्रभाव से जीवविंदु प्रसृत होकर रश्मि-रूप से इसी अंधकारमय मडल मे प्रवेश करता है। यही भूतावरण पॉच प्रकार से विभक्त है। अतएव वैषम्य अवस्था मे तटस्थ विंदु से पाँच विंदु विभक्त होकर आविर्भूत होते हैं और प्रसारण-शक्ति के कारण पच-मडल-रूपी परिणाम धारण करते हैं। ये पाँचों ही मडल योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार विशुद्ध-अनाहत प्रभृति पॉच चक्र हैं। तटस्थ विंदु मे जिस मडल का विकाश होता है उसी को 'आज्ञाचक्र' कहते हैं। इस आज्ञाचक्र की ऊर्ध्वभूमि मे सहस्रारचक्र रहता है। मूलाधार वा सर्वनिम्न भूमि का चक्र ही घोर अंधकार का केंद्रस्थल है। मूलाधार विंदु मे वहिर्भूत होते ही जीव-कण वा सुषुम्नावाही जीवरश्मिगण स्थूल वा पचीकृत भूतो के वधन मे पडते हैं। इस वाह्य प्रदेश मे स्थूल जगत् के जीव वद्धावस्था मे स्थित रहते हैं। समग्र ब्रह्मांड की—भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान-कालीन सपूर्ण स्थूल वस्तुओ का वीज इस प्रदेश मे सर्वदा वर्त्तमान रहता है। महाप्रलय के समय मे यह पचीकृत भूमि स्वभाव के नियम से अपचीकृत अवस्था को धारण करती हुई पॉच भागो मे विभक्त होकर विशुद्धादि पचचक्रो मे विलीन हो जाती है। इसमे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसार-शक्ति की क्रिया के समाप्त होने पर सकोच-शक्ति के उन्मेष के साथ ही इस अवस्था का उदय होता है। सकोच-शक्ति की क्रिया-वृद्धि के क्रम से पचचक्र उपसहृत होते हुए पचविंदु का रूप धारण करते हैं, पुन संकोच-क्रम से वे पचविंदु आपस मे समिलित होते हुए एक विंदु की आकृति मे परिणत हो जाते हैं। आज्ञा-मडल अथवा तटस्थ चित्परमाणुपुज भी इसी प्रकार उपसहृत होते हैं, तथा सहस्रार-मडल भी मूल-सत्त्वविंदु मे आकुचित होता है। तदनतर सत्व, रजस् और तमस्—ये तीन विंदु, अथवा मूल-त्रिकोण-रूपा महाशक्ति के तीन कोण, जिनका आविर्भाव सृष्टि के प्रारभ मे हुआ था, अपना वैषम्य-परित्याग कर अंत:स्थित महाविंदु मे साम्यभाव से अवस्थित रहते हैं। इसी महाविंदु को वैष्णवगण 'महाविष्णु' तथा त्रिक-मतावलंवी शैवाचार्य वा शाक्तागमविद्‌गण 'सदाशिव' कहते हैं। वेदात मे यह 'तुरीय' नाम से व्यवहृत होता है। वस यही सामरस्यावस्था है। इस समय साक्षी और साम्यशक्ति एकाकार, अर्थात् अद्वैतभावापन्न, रहते हैं। इस अवस्था मे न देश है, न काल है, न कला है, न मन की सत्ता है—अधिक क्या, उन्मनी शक्ति भी इस समय निष्क्रिय रूप धारण कर लेती है। इसके अनतर भी एक अवस्था है जिसका कुछ विद्वान् 'तुर्यातीत' पद से व्यवहार करते हैं। शैव एव शाक्तगण के शिव और शक्ति वा कामेश्वर-कामेश्वरी, तथा गौडीय वैष्णवो के राधा-कृष्ण, पूर्वोक्त महाविंदु से ऊर्ध्वभूमि मे अवस्थित रहते हैं।[1]

१. द्वारका, मथुरा एवं वृंदावन—ये तीनो धाम महाविंदु की सीमा से अतीत हैं। (इसकी विस्तृत आलोचना हम 'नित्यलीलातत्त्व' की समालोचना के प्रसंग से समयांतर मे करेंगे)। चिद्‌घन सदाशिवतत्त्व के
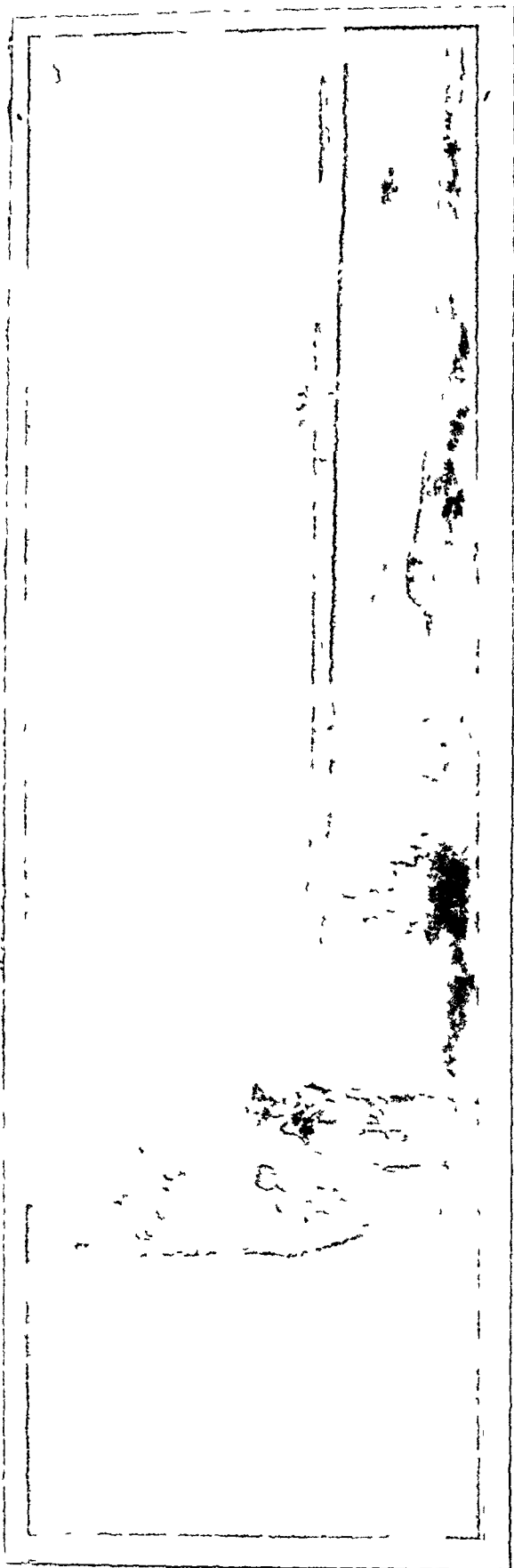
समुद्र-तट

चित्रकार—श्री० देवीप्रसाद राय-चौधुरी

(चित्रकार के सौजन्य से)

पचीकरण अथवा स्थूल जगत् वा बीजसृष्टि के सबंध मे हम यहाँ एक आवश्यक बात बतला देना चाहते हैं। विशुद्धादि पंच बिंदुओ से जो पाँच रश्मियाँ निर्गत होती हैं वे ही 'पंचतन्मात्राचक्र' कही जाती है। ये रश्मियाँ पृथक्-पृथक् निर्गत होती हुई भी परस्पर मे मिश्रित हो जाती हैं। अर्थात् प्रथम बिंदु से निर्गत रश्मिजाल, द्वितीयादि अन्य चार बिंदुओ से निर्गत रश्मियो के साथ एकत्र होकर, मिश्रीभाव को प्राप्त होता है। इसी प्रकार शब्दतन्मात्रा, स्पर्शादि चतुर्विधतन्मात्रा से मिश्रित होती हुई, प्रथम चक्र को आकाश-मडल-रूप मे परिणत करती है। इसी आकाश को 'स्थूलाकाश' कहते हैं। इसमे शब्दांश का प्राधान्य होने पर भी स्पर्शादि तन्मात्राओ का अवश्य समिश्रण है। इसी प्रकार द्वितीय बिंदु से विकीर्ण रश्मि, अन्यान्य बिंदुओ से निर्गत रश्मियो से मिश्रित होती हुई, स्थूल वायुमडल की रचना करती है। यह द्वितीय अधस्तन बिंदु का चक्र (स्थूल वायुमडल) आकाशमड़ल के मध्य मे अवस्थित रहता है। इसी प्रणाली से स्थूल तैजसमडल, जलमडल एव भूमडल रचित होते हुए क्रमशः पूर्व-पूर्व भूतमडलो के आभ्यंतर मे स्थित रहते हैं। अतः स्थूलतम भूमडल इन सब मडलों के मध्य स्थल मे, अर्थात् निम्नभाग मे, अवस्थित है—यह सहज ही जाना जा सकता है। 'भूमडल' कहने से केवल इसी पृथ्वी को न जानना चाहिए, किंतु यह पृथ्वी तथा असख्य पृथिवियाँ, अथवा जो कुछ पार्थिव वा पृथ्वी-बहुल पंचीकृत वस्तु हैं, सभी को इस 'भूमडल' वा भूलोक के अतर्गत समझना चाहिए। अन्यान्य मडल के संबध मे भी यही 'प्रकार' स्मरण रखना चाहिए। पंचीकरण के समय मे पचतन्मात्राओ के मिश्रण से, तारतम्य (न्यूनातिरेक) के कारण, अनत प्रकार के स्थूल कण वा अणु—जिनका पहले 'बीज' नाम से उल्लेख किया गया है—उत्पन्न होते है। एक-एक मडल मे एक-एक भाव का प्राधान्य स्थित होने से परमाणु भी पाँच प्रकार से विभक्त किया जाता है।[१] किंतु यह अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए कि भूलोक मे यद्यपि

भेद किए विना (जाने विना)—अर्थात् आचार्य शंकर-प्रदर्शित निर्गुण अद्वैत तत्त्व मे प्रतिष्ठित हुए विना—नित्य-लीला मे प्रवेश नही हो सकता। श्री-संप्रदाय के वैष्णवगण (रामानुजीय) सत्त्वमंडल का अतिक्रमण न कर सके। यद्यपि उन्होने विशुद्ध सत्त्व का स्वीकार किया है, और उसको प्राकृतिक सत्त्व से विलक्षण भी माना है, तथापि वे उसके जड स्वरूप का ही प्रतिपादन करते है। कोई-कोई रामानुजीय विद्वान् अवश्य इसको अजड कहते हैं, तथापि रामानुज-संप्रदाय के बहुत-से आचार्य इसका जडत्व वा अचित्त्व स्वीकार करते है। महायान-संप्रदाय के बौद्ध इसी को 'वज्रधातु' कहते है। उनकी सुखावती एव अन्यान्य नित्य-धाम इसी उपादान से बने है। जो कुछ हो, वैष्णवाचार्यों मे एकमात्र गौडीय संप्रदाय (चैतन्य संप्रदाय) ने ही इस सत्त्वमडल का अतिक्रम किया है, अर्थात् सत्त्वमडल के ऊपर भी तत्त्व स्वीकार किया है।

१. नैयायिक और वैशेपिक विद्वान् आकाश के परमाणु नहीं मानते। अन्य दार्शनिक विद्वानो मे कतिपय विद्वान् आकाश के परमाणु स्वीकार करते है तथा कतिपय स्वीकार नहीं करते। वास्तव मे भूत के चार प्रकार हैं वा पाँच प्रकार, पाँच भी प्रकार मानने पर आकाश आणविक सघात-विशेष अथवा विभु पदार्थ है, यहाँ इस विषय की विस्तृत भाव से आलोचना करना असबद्ध एव असभव है। केवल तत्त्व की तरफ ध्यान देने से जाना जाता है कि आपाततः प्रतीयमान मत-वैषम्य के मध्य मे भी साम्यभाव वर्त्तमान है ही। योगवार्त्तिक (३, ४०) मे 'विज्ञानभिक्षु' ने इसी लिये कारण और कार्य के भेद से आकाश के दो भेद माने हैं। विज्ञान-भिक्षु का कारणाकाश और हमारा पूर्ववर्णित तमोमंडल वा आवरण-शक्ति एक ही वस्तु है। विज्ञानभिक्षु-कृत महाभूताकाश की स्वीकृति से सिद्ध होता है कि वह अण्वात्मक आकाश का भी स्वीकार करता है। जो स्वरशोधन

सब परमाणु पार्थिव ही हैं, तथापि एक पृथ्वी-परमाणु अन्य पार्थिव परमाणु से अवश्य विलक्षण है। योगिगण विवेकज ज्ञान द्वारा उस परमाणुगत वैलक्षण्य का साक्षात्कार कर सकते हैं।[१] जिस प्रकार पार्थिव परमाणु मे परस्पर स्वगत भेद है, ठीक उसी प्रकार अन्यान्य परमाणुओ मे भी परस्पर स्वगत भेद है।

स्थूल भूमि की प्राप्ति होने पर प्रसारण-शक्ति प्रतिहत हो जाती है। यह स्थूल जगत् ही वाह्य जगत् कहा जाता है। वाह्य जगत् वा स्थूल देह मे कालचक्र भ्रमण कर रहा है। इसी आवर्त्तन-मार्ग का एकांश (वाम भाग) ईडा, और अपरांश (दक्षिणी भाग) पिगला, है। इन दोनो मार्गो मे प्रत्येक की असख्य शाखा-प्रशाखाओ ने मत्स्यजाल के समान समस्त देह को व्याप्त कर रक्खा है। यह तो पहले ही कहा गया है कि स्थूल भाव की प्राप्ति होने पर प्रसारण-शक्ति का निरोध हो जाता है। उस समय जीव भी स्थूल कोष मे पड़ा रहता है, पूर्व स्मृति को भूल जाता है, तथा वैष्णवी माया से विमोहित होता हुआ ईडा-पिगला-रूपी मार्ग से श्वास-प्रश्वास-रूप मे सचरण करता रहता है। यही सचार 'ससार-गति' अथवा 'कालचक्र का परिभ्रमण' कहा जाता है, तथा जो शक्ति-प्रवाह पहले ज्योती-रूप से, ततःपर नाद-रूप से, प्रकटित हुआ था वही स्थूलभाव (स्थूल भूमिका) को प्राप्त होता हुआ प्राण-रूप से[२] प्रकाशित होता है। ज्ञानेद्रिय, कर्मेंद्रिय, प्राणादि वायु प्रभृति सब इस प्राण-शक्ति का ही विकास है।

की प्रक्रिया से परिचित है वे ही आकाश के अणु देख सकते है। सर्वास्तिवादी बौद्धगण आकाश की असस्कृत धर्मों के मध्य मे गणना करते हुए इसको आवरणाभाव एवं अवकाशरूप मानते है। यह नित्य और विभु है, तथा अन्य पदार्थों का बाधक नहीं होता, एवं स्वय अन्य पदार्थों से बाधित भी नहीं होता—अर्थात् इसका ह्रास वा इसकी वृद्धि नहीं होती। यह नीरूप स्वप्रकाश वस्तु है। 'वसुबधु' ने कहा है कि आकाश यदि आवरणाभाव-स्वरूप न होता तो किसी भी वस्तु मे क्रिया न होती। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। यही हमारे पूर्ववर्णित साम्यशक्ति का स्वरूप है। स्थविरवादी बौद्धगण आकाश की, संस्कृत धर्म वा जन्य पदार्थों मे, गणना करते है। 'विज्ञानभिक्षु' के कार्याकाश से हमारे विशुद्ध चक्र के साथ कुछ सादृश्य अवश्य है।

१ वैशेपिकाचार्यगण प्रत्येक पार्थिव परमाणु मे द्विविध विशेप स्वीकार करते है—एक पाकज विशेप और एक अंत्य विशेप। अत्य विशेप अन्यान्य (वाय्वादि) परमाणुओं मे भी रहता है। यह पाकज विशेप, जब तक पार्थिव परमाणु की सत्ता है, तभी तक वर्त्तमान रहता है, और अत्य विशेप भी इसी प्रकार का है। अवांतर प्रलय मे पाकज विशेप वर्त्तमान रहता है। सृष्टि के प्रारभ मे इसी पाकज विशेप के वश से द्व्यणुकादि क्रम से यावन्मात्र पदार्थों की उत्पत्ति होती है। वैशेपिक लोग परमाणु का विश्लेपण (विभाग) नहीं कर सकते, अतएव कहा जा सकता है कि वे विशेप का (अत्य विशेप का) कोई अन्य मूल कारण (उपादान कारण) नहीं मानते, जैसा कि योगभाष्यकार ने 'अयुतसिद्धावयवसङ्घात परमाणु' वाक्य से स्पष्ट ही कहा है कि क्षुद्रतर अवयव की समष्टि का ही नाम 'परमाणु' है। इस अवयव-संनिवेश वा पचीकरण के तारतम्य से ही परमाणुओं मे परस्पर वैलक्षण्य होता है।

२. यथासंभव हम पारिभापिक शब्दो को प्रयोग मे न लाने की चेष्टा करते है, तथापि उन शब्दो का कहीं-कहीं प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। यहाँ 'नाद' एव 'ज्योति.' के पर्याय-रूप से व्यवहृत 'प्राण' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'स्पंदन' वा 'कंपन' भी प्राणतत्व के ही रूपातर है। ज्योति, नाद और तथोक्त प्राण—ये सब एक ही शक्ति के क्रमिक विकास-मात्र है, यह अवश्य जान लेना चाहिए।

जिस समय प्रसारण-शक्ति को बाधा प्राप्त हो जाती है उसी समय सकोच-शक्ति की क्रिया का आरभ हो जाता है। समग्र ब्रह्मांड मे सर्वत्र यही व्यवस्था है। ब्रह्माड इसी सकोच-शक्ति के प्रभाव से स्वगत वैषम्य का परित्याग करके साम्यावस्था के अभिमुख होता है। पृथक्-पृथक् चेष्टा न करने पर भी प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मांड की मुक्ति के साथ महाप्रलय के समय मे मोक्ष प्राप्त करता है। यदि पृथक् मोक्ष के लिये चेष्टा की जाय तो ब्रह्माड के मोक्ष-काल (महाप्रलय) की अपेक्षा किंवा प्रतीक्षा नही करनी पड़ती।

जीव स्थूल तत्त्व के आवरण से आवृत होता हुआ ही सूक्ष्म सुषुम्ना के मार्ग मे प्रविष्ट नही हो सकता। पूर्व सस्कार या वासना, अभिमान वा कर्तृत्वबोध, एव फलाकाक्षा वा भोगाभिलाषा (जिसको कामना भी कहते हैं), इन्ही तीन आवरणो के कारण जीव मे स्थूलत्व सपन्न हुआ है। विषयेंद्रियादि रूप यही स्थूलावरण जीव को अपने धाम मे वापस नही जाने देता। प्रत्येक जीव-मात्र ही ज्ञान चाहता है, आनद चाहता है, अमरत्व चाहता है, अधिक क्या, ब्राह्मी स्थिति की स्पृहा करता है, और उसी प्रत्याशा से विषय-राज्य मे परिभ्रमण करता है। वास्तव मे विषयादि उसके प्रार्थनीय नही हैं, किंतु प्रार्थनीय है आनद। आनद की सिद्धि के लिये वह गौणसाधनरूप विषयादि की आकांक्षा करता रहता है। किंतु युग-युगातर मे, कल्प-कल्पातर मे, एव लोक-लोकातर मे सचरण करता हुआ भी अपनी आकाक्षा की तृप्ति को नही प्राप्त करता। इसका एक-मात्र कारण यह है कि वह सभी स्थानो मे अपनी वासना एवं कर्तृत्वादि अभिमान के साथ ही परिभ्रमण करता रहता है। जब तक वासना का उच्छेद, अंततः एक निमेष-पर्यंत भी, न होगा तब तक सुषुम्ना के प्रवेश का मार्ग नही मिल सकता। कारण, स्थूल वस्तु सूक्ष्म मार्ग मे प्रवृष्ट नही हो सकती। भूत-शुद्धि, चित्त-शुद्धि प्रभृति क्रियाओ का भी तात्पर्य स्थूलता के विसर्जन को छोड़कर अन्यत्र नही है। पचभूत जब शुद्ध हो जाएँगे तब पचीकरण की स्थिति नही रह सकती। अधिक क्या, पचबिंदु भी एकबिंदु के रूप मे परिणत हो जाते हैं। उसके अनतर चित्त-शुद्धि होती है। उसी एकबिंदु के निर्मल होने से ज्ञान-चक्षु अथवा तृतीय नेत्र का उन्मीलन होता है। यही जीव की विशुद्ध अवस्था है। इसके अनतर जीव ईश्वर-तत्त्व के सामुल्य को धारण करता हुआ क्रम से अग्रसर होता जाता है। बस इसी को दूसरे शब्दो मे उपासना कह देते हैं। उपासना के समय मे आज्ञा-चक्रस्थ बिंदु और सहस्रारस्थित महाबिंदु मे भेद और अभेद दोनों ही रहते है। क्रमशः इसी भेदाभेद के मध्य का भेदाश विगलित होने पर अभेद की ही प्रतिष्ठा के कारण ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। इसके अनतर त्रिगुणातीत परम साम्यावस्था वा ब्रह्मत्व प्रतिष्ठित रहता है।

३

हमारे उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट भाव से प्रतीत होता है कि कुडलिनी-शक्ति के उद्बोधन के बिना जीव की ऊर्ध्वगति नही हो सकती। अरणि-मथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है, अर्थात् अरणिस्थ सुप्त (Latent) अग्नि जिस प्रकार सघर्षण से उद्दीपित होती है, उसी प्रकार साधन-प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुडलिनी को जगाना पडता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुडलिनी चैतन्य होने पर साधना-विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधना-मात्र—अर्थात् विचार, भक्ति वा हठ किंवा मत्रयोगादि—यह सपूर्ण उपासना पुरुषकार सापेक्ष

अथवा कर्तृत्वाभिमान-जन्य है। यह कर्तृत्व-वोध क्रम से कुडलिनी-चैतन्य के समय मे लुप्त हो जाता है, और कर्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुडलिनी अधिक जागृत होती है। जिस समय एक बार कुडलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वय ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत मे नौका छोड देने पर उसको समुद्र मे पहुँचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नही होती, उसी प्रकार कुडलिनी के जगाने से और उसके प्रवाह मे प्राण वा मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिये पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नही रहती।[१] सकोच-शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिंदुस्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव मे अंतर्मुखगति क्रमशः वृद्धि को प्राप्त करती है, और अंत मे साम्यावस्था मे स्थिर हो जाती है।

कुडलिनी जागरण के साथ ही साथ ईडा-पिगला मे प्रवहमान स्रोत सूक्ष्मता को प्राप्त करता हुआ सुषुम्ना के मार्ग मे प्रवेश करता है, एव सुषुम्ना के मार्ग से भी ऊर्ध्व उठता हुआ क्रम से और भी अधिकतर सूक्ष्मता को प्राप्त करता रहता है। इसी रूप मे जीव की शक्ति को, वज्रा और चित्रिणी नाडी का भेद करके, अवशेष मे ब्रह्मनाडी अथवा आनदमय कोश मे गमन करना पडता है। बस यही ऐश्वर्यावस्था है। जिस समय मे आनंदमय कोष की तरफ ध्यान नही रहता, उस समय मे गुणातीत परम साम्यावस्था की प्राप्ति होती है।

ऊर्ध्व सत्त्वबिंदु से अधःस्थ तमोबिंदु पर्यंत जानेवाली रेखा ही मेरु (Axis) कही जाती है। इसी रेखा का ऊर्ध्वबिंदु उत्तरमेरु एव अधोबिंदु दक्षिणमेरु (North and South Poles) नाम से व्यवहृत होता है। इन दोनों बिंदुओ मे आकर्षण-शक्ति विद्यमान रहती है। अधोबिंदु के आकर्षण का नाम माध्याकर्षण है, और यह भूमध्य से प्रसृत होता है। ऊर्ध्वबिंदु के आकर्षण का नाम सकर्षण कहा जाता है जिसका कृपा शब्द से भी व्यवहार होता है। यह कृपा ऊर्ध्वबिंदु अथवा आदिसूर्य वा ईश्वरोपाधि के केंद्र से ही चारो ओर प्रसृत होती है। आज्ञाचक्रस्थ विशुद्ध जीव वा कैवल्यप्राप्त पुरुष—ये दोनों आकर्षण के ठीक मध्यस्थल मे तटस्थ भाव से वर्त्तमान रहते हैं। उनकी उपाधि निर्मल है, अतएव उनके प्रति माध्याकर्षण की क्रिया नहीं होती। इसी लिये ब्रह्मांड-भांड के मध्य मे उनकी स्थिति भी नही रह सकती; तथा ऊर्ध्वदृष्टि न होने से उनके प्रति भगवान् की कृपा-शक्ति भी आकर्षण नही करती। शास्त्र मे इनका वर्णन सांख्यज्ञानी कहकर किया गया है। ये जीव ईश्वर के शुद्ध सत्त्वात्मक धाम मे स्थिति को नही प्राप्त करते। ये माया से अतीत होते हुए भी महामाया के अधीन रहते हैं। आगमशास्त्र इन्हीं जीवों को 'विज्ञानकला' कहता है।

१. प्राचीन बौद्धगण इसको 'स्रोत आपन्न' कहते है। बुद्धदेव शक्ति-सचारपूर्वक शिष्य को इसी ऊर्ध्वस्रोत मे स्थापित करते थे। यह सुषुम्नावाही ऊर्ध्वस्रोत से भिन्न और कुछ नही है। इस स्रोत को प्राप्त किए हुए जीव को कदापि 'अपाय' मे गिरने का भय नही रहता। कारण, उस समय मे उसके सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा एवं शीलव्रतपरामर्श नामक त्रिविध बधन वा 'संयोजन' छिन्न हो जाते है। संचारित शक्ति की न्यूनाधिकता, एवं सचित वासनादिकों की गाढता के तारतम्य के कारण अवश्य 'स्रोत आपन्न' अवस्था नाना प्रकार की होती है।

इस स्थिति मे क्रम अवश्य माना जाता है। जिस समय किसी अनिवचनीय कारण से यह तटस्थ विंदु ऊर्ध्वमुख हो जाती है, उसी समय मे अखड सत्त्वविंदु के साथ उसका सामुख्य हो जाता है। इसी को ईश्वर-साक्षात्कार कहते हैं। इस समय यह बिंदु तटस्थ नही रहता, किंतु वह सहस्रार मे प्रविष्ट होकर तथा अपनी रेखा के आलवन से केंद्र के अभिमुख अग्रसर रहता है। यही भाव-साधना है। यह स्वय स्वभाव से ही हो जाती है। तमोविंदु जिस प्रकार पाँच प्रकार से विभक्त रहते हैं, उसी प्रकार शुद्ध सत्त्व के भी पाँच विभाग होते हैं। प्रत्येक विभाग मे एकैक भाव का प्राधान्य रहता है। शांत से लेकर माधुर्यपर्यंत ये पाँच विभाग प्रसृत रहते हैं। अंतिम माधुर्य ही शुद्ध सत्त्वविंदु का अतरतम अथवा ऊर्ध्वतम भाव माना जाता है। जिस समय मे इस माधुर्य-भाव को भी पुरुष अतिक्रांत करता है, उसी समय वह पूर्णावस्था को प्राप्त कर लेता है, इसके पूर्व नहीं। तम:, रज:, और सत्त्व—इन त्रिविध मडल के अतिक्रमण से ही कुंडलिनी का चैतन्य पूर्ण होता है, यह कह सकते हैं। कुडलिनी के पूर्ण जागरण से एकमात्र, अद्वितीय और पूर्ण वस्तु मे ही स्थिति रहती है। समग्र जगत् निराधार होता हुआ ब्रह्मरूप मे परिणत होता है, तथा आत्यंतिक और एकांतिक ब्राह्मी स्थिति एव शाश्वत पद की प्राप्ति सुसिद्ध हो जाती है।

४

हमारे इस पूर्वोक्त कथन से यह अवश्य प्रतिपादित हो चुका कि कुडलिनी-तत्त्व के साथ देह-तत्त्व का—केवल देहतत्त्व का ही नही, जगत् के यावन्मात्र तत्त्वों का—अवश्य घनिष्ठ सबध विद्यमान है। जो मुक्ति-मार्ग के पथिक हैं वे जडतत्त्व, चित्तत्त्व एव ईश्वरतत्त्व—अर्थात् सकल तत्त्वों का अतिक्रम करके अग्रसर होते हैं, क्योंकि यावन्मात्र तत्त्व वैषम्यावस्था के अतर्गत हैं। साम्यावस्था ही तत्त्वातीत अवस्था है। ऐसी अवस्था मे कही-कही जिनका तत्त्व कहकर वर्णन किया गया है वह केवल व्यवहार-सौंदर्य के अनुरोध से ही जानना चाहिए।

कुंडलिनी के किंचित् जाग्रत होने पर ही जीव ऊर्ध्वगति अथवा क्रममुक्ति के अनुकूल आरोहण करने लगता है। समाधि का क्रम-विकास अथवा कुडलिनी की क्रमोन्नति, दोनो एक ही पदार्थ हैं। जितने समय तक चित्त एकाग्र भूमि मे रहता है, उतने ही समय तक उसको अवलबन प्राप्त रहता है। अवश्य यही स्थूल अवलंबन सूक्ष्म भाव को प्राप्त होता हुआ अवशेष मे बिंदुरूप मे परिणत होता है। प्रचलित पातंजल योग के मतानुसार इसी बिंदु को 'अस्मिता' कहते हैं। इसी लिये सास्मित समाधि संप्रज्ञात समाधि की चरम सीमा है। इसी भूमि मे प्रज्ञा के उदित होने से चित्त निरालंबन होता हुआ परिपूर्ण शुद्धि को प्राप्त करता है। उस समय मे उपायप्रत्ययात्मक असप्रज्ञात समाधि का उदय होता है। इस अवस्था मे क्लेश नही रहता, कर्माशय नही रहते, पूर्व सस्कार, कर्तृत्वबोध आदि कुछ भी नही रहते—अर्थात् चित्त सकल प्रकार के आवरणो से विमुक्त होता हुआ पूर्ण चद्रमा के समान विमल, स्निग्ध ज्योति से समुद्भासित होता है। यह शुद्ध सत्त्व ही निर्माणचित्त और निर्माणकायादिक का उद्भव-स्थान है। यह शुद्ध सत्त्व

दो प्रकार से स्थित रहता है। सकोच-काल मे इसके निरोधस पुरुष को कैवल्य-सिद्धि प्राप्त होती है तथा विकाश-काल मे इसके आविर्भाव से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है[१]।

सांख्यशास्त्र का कैवल्य पूर्ण अवस्था नहीं कहा जा सकता। इस कथन की आवश्यकता नही, यह स्वय ही विदित हो रहा है, क्योंकि वास्तव मे चैतन्य स्वरूप पुरुप एक किवा वहु हो ही नहीं सकता। उपाधि-विहीन शुद्ध चैतन्य मे भेद-प्रतीति अथवा अभेद-प्रतीति कुछ भी संभव नहीं है। उपाधि के एक होने पर ही तदुपहित चैतन्य को भी एक कह सकते हैं। उसी प्रकार उपाधि के वाहुल्य के कारण ही तदुपहित चैतन्य मे भी वहुत्व स्वीकार किया जा सकता है। सांख्य का पुरुप वहुत्व वस्तुतः बहुसत्त्व से परिच्छिन्न चैतन्यस्वरूप है। सत्त्व की खडता के कारण ही सत्त्व का वाहुल्य उनको अवश्य मानना पड़ेगा। पूर्वोक्त एक अखड सत्त्व ही खडित (अथवा खडितवत्) होता हुआ वहुरूप से प्रतिभासित होता है। एक से ही वहुत्व की उत्पत्ति, स्थिति और संहार होवा है।

अतएव बहु पुरुष जव तक एक उत्तम पुरुप को नही प्राप्त कर लेते हैं तब तक यथार्थ साम्य-भाव की आशा करना दुराशा-मात्र है। एकाग्र-भूमि का आश्रय किए विना निरोध-भूमि मे पदार्पण नही होता। द्वैताद्वैत-रूपी उभय भाव से अतीत होने के लिये प्रथम द्वैत से अद्वैत मे उपस्थित होना चाहिए। इसके अनतर स्वाभाविक नियम से अद्वैत भूमि भी अतिक्रांत होती है, फिर विकल्पोपशमा वा साम्यावस्था की प्राप्ति अपने-आप ही हो जाती है'। द्वैतभाव को अद्वैत भाव मे परिणत किए विना उसको निर्वृत्त करने से व्युत्थान अवश्य हो जाता है, क्योकि जिस कारण से जलमग्न लघु वस्तु के उत्थान की तरह प्रकृति मे लीन पुरुषो का पुनरुत्थान होता है, ठीक उसी कारण से साख्य के कैवल्यपद को प्राप्त पुरुपो का भी पुनरुत्थान होना समझना चाहिए।

अतएव वैशेषिको की मुक्ति तो दूर रही, सांख्यवालो की मुक्ति भी वास्तविक मुक्ति नहीं है, यह सुतरां सिद्ध होता है, क्योकि उस समय मे भी कुडलिनी का सपूर्ण जागरण नहीं होता है। निरीश्वर सांख्य मे ईश्वरतत्व नही माना गया। जिस नित्यमुक्त और नित्यैश्वर्यसपन्न ईश्वर की उपाधि को योगभाष्यकार 'प्रकृष्ट सत्त्व' कह करके व्याख्यान करते हैं, एव जिसको क्लेशादि विहीन परम गुरुदेव-रूप बतलाते है, उस 'कारण ईश्वर' को भी सांख्यदर्शन स्वीकार नही करता। सांख्य के मत मे हिरण्यगर्भादि 'कार्येश्वर' ही ईश्वर हैं। साधना के परिपाक के कारण साधक पुरुष के चित्त मे अणिमादि अष्टैश्वर्य का विकाश होना ही साख्य-मत से ईश्वरत्व-लाभ करना है, यह कह सकते हैं। किंतु यह ऐश्वर्य अनित्य है; क्योंकि यह द्वैत-बोध से ही उत्पन्न होता है, इसलिए कैवल्यपद का परिपथी है। तात्पर्य यह है

१. जिस समय शक्ति रहती है, उसी समय संकोच-विकास के खेल होते है। सत्वादि गुणत्रय भी शक्ति का ही स्फुरण है। यह साख्ययोग-शास्त्र मे यद्यपि स्पष्ट भाव से नहीं उल्लिखित किया गया तथापि सर्वोच्च भूमि से लक्ष्य करने पर उक्त सिद्धांत सहज मे जाना जा सकता है। मुक्ति का आदर्श विभिन्न प्रकार से माना गया है, इसलिये जीवन्मुक्ति भी अनेक प्रकार की है। जिस मत मे, जिस अवस्था को मुक्ति माना है, उस मत मे उस अवस्था का जीवद्दशा मे प्रकाश होना ही जीवन्मुक्ति समझना चाहिए।

कि सांख्य-निर्दिष्ट साधना से जीव तटस्थ भाव को प्राप्त करके ऊर्ध्व उत्थित नही हो सकता। तटस्थ बिन्दु ऊर्ध्वबिंदु के आकर्षण की सीमा के बहिःप्रदेश मे अवस्थित रहने के कारण सहस्रार के मार्ग को नही प्राप्त कर सकता। उस समय मे उसका सपूर्ण आवरण तिरोहित नही होता, क्योंकि कुडलिनी आंशिक रूप से प्रसुप्त रहती है। शैवागम के मत से यह एक 'विज्ञान-कल'-रूप अवस्था है। भक्ति (वैधी) एव उपासना के बल से अखडसत्त्व की धारा के साथ, अर्थात् आदिसूर्य की एक रश्मि के साथ, खड-सत्त्व सयोग को प्राप्त होता है और क्रम से उसी रश्मि के आश्रय से केंद्र के निकटवर्त्ती होता रहता है। खडसत्त्व मे भाव के विकसित होने पर सहस्रदल कमल की नित्यविभूति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वह भाव धीरे-धीरे प्रगाढ़ होता हुआ विधि कोटि (वैधी भक्ति) को अतिक्रम करके रागरूप मे परिणत होता है। राग का भी क्रमिक विकास है। ऐश्वर्यावस्था का अनुभव दास्यभावपर्यंत ही होता है, इसके अनतर दास्यभाव के अतिक्रमण करने पर माधुर्यावस्था का विकास होता है। यह माधुर्यावस्था सख्य, वात्सल्य और कांत रूप से तीन प्रकार की होती है। इन तीनो मे कांत-भाव मे ही माधुर्य की पराकाष्ठा है। इसके अनतर यह कांत-भाव क्रम से महाभाव रूप मे परिणत होता है। यही महाभाव, विभाव और अनुभाव प्रभृति कारणो से शृंगार रस का रूप धारण करता है, और यही आदिरस कहा जाता है।[१]

इस प्रकार कुडलिनी के क्रमिक जागरण से ऊर्ध्वविंदुपर्यंत ही जीव उत्थित होता है, और केंद्र मे प्रविष्ट होते ही लीलाभूमि के अपर प्रात को अपने आयत्त कर लेता है। इस समय मे साम्यभाव से स्थिति रहती है, और यही उपशम वा शातावस्था है। किसी-किसी शास्त्र के परिभाषानुसार यही निर्वाण-पद कहा जा सकता है। अतएव शुद्ध सत्त्व के प्रकट होने पर शृंगार रस ही सब रसो का सार-भूत एवं आदिरस है, यह बिना प्रयास के ही सिद्ध होता है। गुणातीत अवस्था मे इसका आस्वादन भी नही रहता।

हमने जो पूर्व मे कहा था कि कुडलिनी का पूर्ण-चैतन्य-सपादन करना तथा परमैश्वर्य-लाभ—ये दोनों एक ही बात हैं, यह इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है।

१ शांत और शृंगार—इन दोनों रसो मे कौन आदिरस है, इस विषय मे साधक-संप्रदाय मे बड़ा मतभेद चलता है। जो लीलानुरागी है वह संप्रदाय शृंगार को ही आदिरस कहता है। गौडीय वैष्णवगण शात रस को सर्वापेक्षा निम्न मानते है। मुख्य बात यह है कि शांत और शृंगार दोनों ही रसास्वादन की प्रांतावस्था है। काश्मीरीय शैवाचार्य यद्यपि शांत रस को प्रधान बतलाते है तथापि वे शिव-शक्ति के सामरस्य रूप मे शृंगार का शांत के साथ समन्वय करते है। यहाँ तक कि चैतन्य महाप्रभु के रसतत्त्व की शिक्षा भी शृंगार रस की ही प्राधान्य-ख्यापिका है।
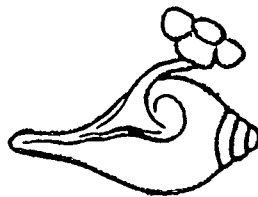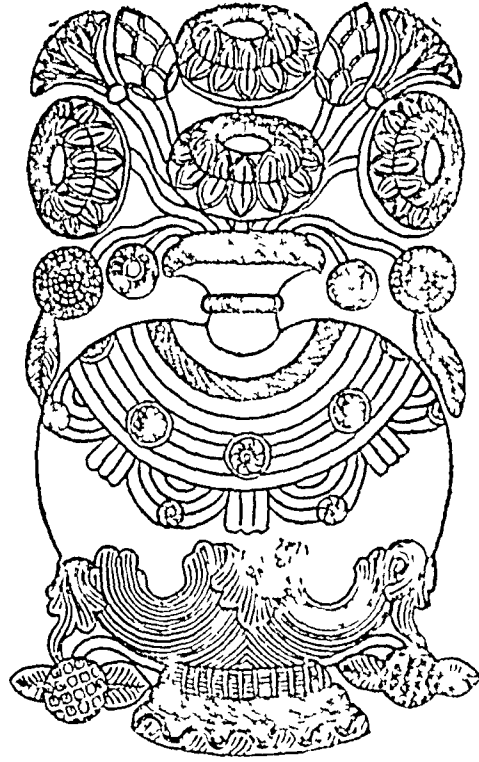
भावी भारत के पत्रकार

श्री रामानंद चट्टोपाध्याय

जिस समय अमेरिका के दासत्व-प्रथा-विरोधी सुधारक तथा वक्ता वेंडेल फिलिप्स ने ये शब्द कहे थे—"मुझे समाचारपत्र निकालने की शक्ति दे दो, फिर मैं इसकी परवा नही करता कि कौन कानून बनाता है अथवा कौन धर्म चलाता है," उस समय उनके मन मे केवल उन्ही आदर्श समाचारपत्रों का ध्यान रहा होगा, जो पर्याप्त नैतिक और बौद्धिक योग्यता रखनेवाले पत्रकारों द्वारा परिचालित होते हैं। मै इस लेख मे यह बताने की चेष्टा करूँगा कि भारतवर्ष की विशेष परिस्थिति को देखते हुए पत्रकारो मे यह योग्यता किस प्रकार की होनी चाहिए।

औसत दर्जे का भारतीय पत्रकार, जो जीविका के लिये मेहनत करता है, एक उच्च ध्येय को लेकर इस पेशे मे प्रवेश कर सकता है। परतु उसकी सफलता उसके चरित्र, उसके अध्यवसाय, उसकी क्षमता तथा उसके अर्जित गुणो के अनुपात मे ही होगी। उसका अध्यवसाय, उसकी क्षमता, अथवा उसके अर्जित गुण चाहे कैसे भी क्यो न हो, वह तब तक कभी जनता के लिये हितकारी सिद्ध नही हो सकता जब तक उसमे चरित्र-बल न हो। पत्रकार को इस योग्य होना भी जरूरी है कि वह नियमित रूप से कठोर परिश्रम कर सके। सब प्रकार के मद्य तथा अन्य नशीली वस्तुओं से दूर रहना, उसे इस परिश्रम के योग्य बनने मे सहायता देगा। पत्रकार के लिये बिलकुल प्रतिभा-हीन होना आवश्यक नही। उसमे प्रतिभा

स्वर्गीय पंडित गोविंदनारायण मिश्र

स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्ट
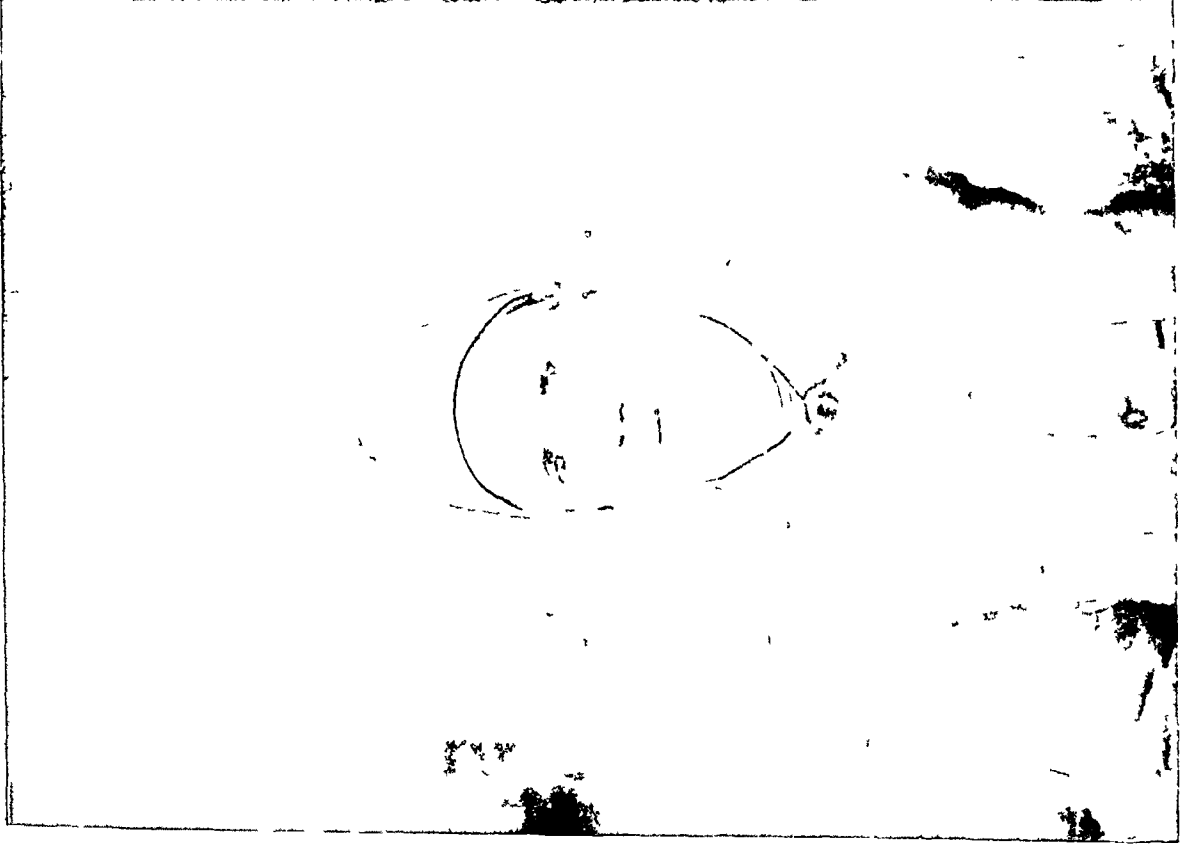
स्वर्गीय पडित पद्मसिंह शर्मा

स्वर्गीय पडित माधवराव सप्रे

होनी चाहिए; परतु साथ ही यह बात भी याद रखनी चाहिए कि प्रत्येक पत्रकार को, चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यो न हो, शुरू से ही अत्यत कठोर, परिश्रमी जीवन के लिये—चक्की पीसने के लिये—तैयार रहना चाहिए।

तत्परता एक ऐसा गुण है जो पत्रकार के लिये अत्यत आवश्यक है। उसे हर समय अपने होश-हवास को दुरुस्त और विवेक-बुद्धि को तैयार रखना चाहिए। कोई भी पत्रकार तब तक अपने पेशे में सफल नही हो सकता, जब तक उसकी स्मरण-शक्ति बहुत विस्तृत और ग्रहण-शील न हो, क्योंकि हर समय और हर स्थान पर 'रिफरेंस' की पुस्तकों का पुस्तकालय नही मिल सकता। किंतु यह ध्यान रहे कि स्मरण-शक्ति का सहारा लेते हुए भी किसी बात की विशुद्धता मे फर्क न आने देना चाहिए। इसके अतिरिक्त बहुत-सी बाते ऐसी होती हैं, जो किसी मुद्रित ग्रथ मे नही मिलती। उन्हे हम केवल अपनी आँखो और कानों को खुला रखकर ही सीखते हैं। यद्यपि प्रत्येक पत्रकार को हमेशा अपने पास नोटबुक और पेंसिल रखनी चाहिए, और बहुतेरे रखते भी हैं, फिर भी प्रत्येक वस्तु—जिसे हम देखते और सुनते हैं—नोटबुक मे नहीं लिखी जा सकती। अतः पत्रकार के लिये अपनी स्मरण-शक्ति को विकसित करना और उससे काम लेना आवश्यक है।

पत्रकारों को इस बात की आदत डालनी चाहिए कि वे प्रत्येक बात को जितनी विभिन्न दृष्टियों से देखना और तोलना सभव हो उतनी दृष्टियों से देखे और तोले, फिर उस पर पक्षपात-रहित होकर अपना न्याय-सगत, स्थिर और समतुल्य मत निर्धारित करे। भावोद्दीपक और उत्तेजनापूर्ण लेख बाद में लिखे जा सकते हैं। यह समझना भूल है कि कोई व्यक्ति बिना प्रयत्न के, बिना साधना के, अपने-आपको पक्षपात और विद्वेष से मुक्त कर सकता है। अतः पत्रकार को अपने मन से पक्षपात, विद्वेष, आसक्ति, स्वार्थपरता तथा दलबंदी के भावों को दूर करने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। किसी वीर पुरुष के लिये यह आवश्यक नही कि वह हर समय खतरे मे पड़ता रहे और मौत का सामना करता रहे, और न किसी सैनिक के लिये ही यह आदर्श बात है कि वह हमेशा अनावश्यक जोखिम उठाता रहे, परतु प्रत्येक आदर्श पत्रकार के लिये यह अत्यत आवश्यक है कि वह सदा—प्रत्येक क्षण—एकदम निर्भय रहे।

पत्रकार के लिये यह बात सचमुच ही कही जा सकती है कि सब तरह की जानकारी में उसका दखल होना चाहिए। यह कहना बहुत कठिन है कि संसार मे कौन-सी चीज ऐसी है जिसकी जानकारी पत्रकार के लिये बिलकुल अनुपयोगी या अनावश्यक है। सपादको की सर्वज्ञता तो एक पुराना मजाक है। यह कहना तो व्यर्थ ही है कि अन्य साधारण मनुष्यों की भाँति बेचारा सपादक भी सर्वज्ञ नही हो सकता, परतु इसमें सदेह नही कि किसी पत्रकार को जितने अधिक विषयो की—जितनी अधिक चीजो की जानकारी होगी, अपने काम के लिये वह उतना ही अधिक उपयुक्त और उतना ही अधिक योग्य सिद्ध होगा।

साधारणतः समाचारपत्रो मे वाद-विवाद और आलोचना का मुख्य विषय राजनीति होता है। अतः पत्रकारो को चाहिए कि वे राजनीति का—उसके सार-रूप मे तथा विभिन्न राष्ट्रो के इतिहासो, कानूनो और शासन-विधानो मे उसके विस्तृत रूप मे—भली भाँति अध्ययन करे।

हम लोग भारत मे रहते हैं, अतः हमारे लिये केवल पाश्चात्य राजनीति का—अरस्तू और मैशेविली से लेकर अब तक की राजनीति का—अध्ययन करना ही पर्याप्त नही है। भारतीय पत्रकारो के लिये आवश्यक है कि वे शुक्रनीति को पढ़े, कौटल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन करे, कामदक के सूत्रो को समझें, महाभारत का शांतिपर्व देखे, और हाल मे प्राचीन हिंदू राजनीति तथा भारत के पुरातन शासन-विधानो पर भारतीय विद्वानो के जो ग्रंथ प्रकाशित हुए है उनका अच्छी तरह मनन करे। अप-टु-डेट पत्रकारो के लिये यह भी आवश्यक है कि वे ससार की नवीनतम लोकप्रिय शासन-पद्धतियो से परिचित हो। उदाहरण के लिये उन्हे यह ज्ञात होना चाहिए कि रूस का सोवियट शासन-विधान कैसा है, उसका लक्ष्य क्या है और उसे कहाँ तक सफलता मिली है।

भारतवर्ष जिस परिस्थिति मे है, उसमे अपने इतिहास के पूर्ण अध्ययन के विना हमारा काम नही चल सकता, क्योंकि राष्ट्रीय नैराश्य के लिये अपने इतिहास का अध्ययन ही एकमात्र रामवाण ओषधि है, राष्ट्रीय दुर्बलता मिटाने के लिये वह टॉनिक है। जो देश सभ्यता के शिखर पर चढ़कर गिरे थे, या जिनकी उन्नति रुक गई थी, और जो राष्ट्रो की दौड मे पुनः अग्रसर हो रहे हैं, उनके—ऐसे देशो के—इतिहास का हमे विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए। यह अध्ययन निश्चय ही हममे नवीन आशा और नवीन जीवन का सचार करेगा। जापान, टर्की, ईरान, स्याम आदि देशो का इतिहास मनन करने योग्य है। भारतीय पत्रकारो के लिये अपने देश के इतिहास के विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है, ताकि वे यह जान सके कि हम आज जिस अवस्था मे हैं वह क्यों हुई, कैसे हुई और हमे जो होना चाहिए वह हम कैसे हो सकते हैं।

पिछले योरोपियन महायुद्ध और उसके परिणामो से समस्त सभ्य देशो के विचारशील व्यक्तियो का यह विश्वास हो गया है कि ससार की समस्त जातियो और समस्त राष्ट्रो का भाग्य एक दूसरे से ऐसा संबद्ध है जो पृथक् नही किया जा सकता। इससे अव यह आवश्यक हो गया है कि प्रत्येक सार्वजनिक नेता तथा प्रत्येक पत्रकार ससार के वर्त्तमान इतिहास और वर्त्तमान राजनीति से भली भॉति परिचित हो। सामयिक भारतीय समाचारपत्र प्रायः विदेशी राजनीति की आलोचना से मुँह चुराते हैं। इसका आंशिक कारण यह है कि विदेशी राजनीति के सबध मे हमारा ज्ञान बहुत कम है, परतु मुख्य कारण यह है कि हम अपनी दुरवस्था, अपनी अक्षमता और अपनी शिकायतो मे ही इतने ग्रस्त रहते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की ओर हमारा ध्यान ही नही जाता। यह उत्तम होगा कि भारतीय पत्रकार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति मे एकदम अजनबी की भॉति न हो, वे उसका कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करे। यद्यपि नियमानुसार सरकारी तौर पर ससार के अन्य देशों के साथ भारत का स्वतत्र सबध नही है, हमारे वैदेशिक सबध ब्रिटिश सरकार के हाथ मे हैं, तथापि हम लोग गैर सरकारी और निजी तरीके पर विदेशी राष्ट्रो को प्रभावित कर सकते है और उनसे प्रभावित हो सकते हैं। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने निर्णय किया है कि भारत का विदेशी विभाग उत्तरदायी मत्रियो के हाथ मे न रहकर गवर्नर-जनरल के हाथ मे रहे, तथापि उसका यह निर्णय कोई ब्रह्मा की लीक तो है नहीं जिसमे परिवर्त्तन न हो सके। वैदेशिक विभाग को भी अंत मे लोकप्रिय नियत्रण मे आना ही पड़ेगा, और वह हमारे हाथ मे आएगा ही।

राजनीतिक स्वतत्रता की अपेक्षा आर्थिक स्वतत्रता कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही है। राष्ट्र की सुख-समृद्धि और योग्यता के लिये आर्थिक समस्याओ का—जिनमे औद्योगिक समस्या भी समिलित है—पर्याप्त ज्ञान भी आवश्यक है। इसलिये हमारे पत्रकारो को अर्थशास्त्र का ज्ञान होना नितांत आवश्यक है। यह तो साधारण से साधारण मनुष्य भी—जो थोडा भी ज्ञान रखता और सोचता है—जानता है कि ससार के विभिन्न राष्ट्र राजनीतिक बातो की अपेक्षा व्यापार, उद्योग-धधे, बैकिंग, सर्राफी, रोजगार और आर्थिक बातो मे एक दूसरे पर अधिक निर्भर करते हैं। अतः समाचारपत्रवालो को अर्थशास्त्र और तत्सबधी सपूर्ण बातो और विषयो पर पूरा दखल रखना चाहिए।

२

मकानो, मशीनो और गाड़ियो आदि की भाँति हमारे सामाजिक सगठन और प्रणालियाँ भी समय पाकर जीर्ण-शीर्ण और अनुपयोगी हो जाती हैं। उस समय उनकी मरम्मत और पुनर्निर्माण करके उन्हे फिर जन-साधारण के लिये उपयोगी बनाना पडता है। यह काम वे ही कर सकते हैं, जो मानव-मनोवृत्ति, नीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र के सिद्धातो को भली भाँति जानते हो। मानव-विज्ञान, पैतृक गुण-दोष-सबधी नियम तथा जातीय अनुशीलन (Racial Cultuie) की कला और विज्ञान का समाज-शास्त्र से घनिष्ठ सबध है, अतः उनकी ओर भी हमे ध्यान देना चाहिए।

बिना शिक्षा के किसी जाति के लिये उन्नति करना या अग्रसर होना असभव है। शिक्षा-विज्ञान और शिक्षण कला के साथ-साथ शासन-तत्र और शिक्षा का क्या सबध होना चाहिए, साहित्य, विज्ञान, कला और धर्म का राष्ट्र के चरित्र पर क्या प्रभाव पडता है तथा ये चारो चीजे राष्ट्र के चरित्र से कितनी प्रभावित होती हैं—इन सब विषयो पर उन लोगो को गभीरता से ध्यान देना चाहिए, जो सच्चे हृदय से अपने राष्ट्र की सेवा करना चाहते हैं। इसमे रत्ती-भर सदेह नही है कि बाल-मनोवृत्ति के सबध मे ससार मे जो अज्ञान फैला है, उसके कारण बालको को और उनके साथ सारी मानव-जाति को अनेक दुःख झेलने पड़े है। नारियो की क्षमता से अनभिज्ञ होने के कारण तथा उनके सबध मे बहुत-सी कल्पित धारणाएँ कर लेने के कारण भी हमारी कुछ कम हानि नही हुई। भारत के वर्त्तमान राष्ट्रीय आदोलन मे स्त्रियो ने जो भाग लिया है, उससे कम से कम ये धारणाएँ तो दूर हो जानी चाहिए। पत्रकारो को स्त्रियो का इतना अप-टु-डेट और काफी ज्ञान होना चाहिए कि वे उनके हितो के साथ पूरा न्याय कर सके। फिर एक कवि के कथनानुसार स्त्रियो के हित केवल उन्ही के हित नही हैं, वरन् वे पुरुषो के भी हित हैं।

अपराध, गिरफ्तारी, मुकदमे, फैसले, जेल, जेलो का सुधार, फाँसी आदि के समाचार और उनकी आलोचना समाचारपत्रो का कोई तुच्छ अंश नही है। अतः पत्रकारो को कानून, अदालती विधान, व्यवस्था-पद्धति, अपराध-विज्ञान और दंडविधि आदि से भी परिचित होने की जरूरत है।

सपादको को बहुधा ग्राम-सुधार और नगर सुधार की योजनाओ, ग्राम्य जीवन और नागरिक जीवन की आपेक्षित सुविधाओ-असुविधाओ, तथा नगरो और ग्रामो की सफाई आदि की आलोचना करनी

पड़ती है। इसलिये हम लोगों के साज-सामान मे महामारियों का इतिहास तथा उनके कारण, सफाई, नगरों की बनावट आदि विषयो की जानकारी भी चाहिए।

समाज के अस्तित्व और उन्नति के लिये नागरिक तथा ग्रामीण उद्योग-धधे, पेशे, कारबार, खेती आदि बाते आवश्यक हैं। प्रत्येक प्रकार के उत्पादन-कार्य मे कोई न कोई असुविधा अवश्य होती है। इसलिये प्रकाशन-कार्य से संबंध रखनेवालो को इस योग्य होना चाहिए कि वे उन असुविधाओं के उपचार बता सके, उनकी आलोचना कर सके। इसके लिये इन उद्योग-धधों, पेशो और रोजगारो का पर्याप्त ज्ञान आवश्यक है। जंगलात के कानून और खानों के नियम आदि इस प्रकार के होने चाहिए जिनसे देश की जनता मे इन बातो के लिये अनुराग उत्पन्न हो सके और वे उनके लिये हितकर हों। इस प्रकार के हितो की रक्षा के लिये आवश्यक है कि हम इन कानूनों से परिचित हो; विशेषकर खानो के संबंध मे तो हमे ससार के समस्त उन्नतिशील और जनतत्रवादी देशो के कानूनो से परिचित होना चाहिए। भूतत्त्व और खनिज-विद्या का ज्ञान भी हमारे लिये अनुपयोगी न होगा।

खेतो, कारखानो और प्लैटेशनो पर काम करनेवाले मजदूरो के सबध के सब कानूनों और विधानो का हमे अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए। इन विषयों पर 'जेनेवा' के अतर्राष्ट्रीय श्रमजीवि-कार्यालय द्वारा प्रकाशित पुस्तको तथा डॉक्टर रजनीकांतदास-सरीखे भारतीय लेखकों की कृतियो से हमे बहुत सहायता मिल सकती है।

रेल, तार, टेलीफोन, रेडियो, सुदूर समुद्रो मे और भारतीय समुद्र-तट पर चलनेवाले जहाजो, पहाड़ों पर जानेवाली मोटरो, आमद्-रफ्त के साधनो, हवाई जहाजो, टर्मिनल टैक्स, चुगी, आयात-निर्यात कर, डाकखाने, एक्सचेज, करेसी आदि बातो का खेती तथा उद्योग-धधो से बडा घनिष्ठ—जीवन-मरण का—सबंध है। पाश्चात्य देशो तथा जापान मे लाभदायक ढग से इन विषयो के परिचालित करने मे बड़ी उन्नति हुई है। हमे ससार के समस्त उन्नतिशील देशो मे इन चीजो की अवस्था का ज्ञान रखना चाहिए। इन सब बातो के अध्ययन के लिये व्यापारिक भूगोल (Commercial Geography) का सर्वांगपूर्ण ज्ञान होना और उस पर अधिकार रखना आधार का काम देगा।

भूगोल के सबध मे निश्चित रूप से यह जानना बहुत उपयोगी होगा कि संसार के बडे-बड़े स्वतत्र देशो मे—जैसे सयुक्तराज्य (अमेरिका) अथवा रूस मे—कितनी जातियाँ बसती हैं, कितनी भाषाएँ बोली जाती हैं और कितने धर्मों के अनुयायी रहते हैं। यह जानना भी उपयोगी है कि धार्मिक और सांप्रदायिक झगड़े और खून-खराबे केवल अकेले भारत मे ही नहीं होते, बल्कि ससार के अन्य स्वाधीन देशो मे भी होते हैं और हुए हैं। इस ज्ञान से हमारे देश-भाई यह जान सकेंगे कि भारतीय स्वतंत्रता के विरोधी जो दलीले दिया करते हैं, वे अकाट्य नहीं हैं।

आज-कल हम देखते हैं कि दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक जनसमूह राजनीति, उद्योग-धंधो तथा ट्रांसपोर्ट (वहन-कार्य)-सबधी कामो मे भाग ले रहे हैं। इसलिये हमे भीड़ की तथा दलो की मनोवृत्ति (Crowd Psychology and Group Mind) का भी अध्ययन करना चाहिए।

पत्रकार का कर्त्तव्य है कि वह वर्त्तमान मे जो कुछ सत्य, शिव और सुदर है उसकी रक्षा करे, अतीत मे जो सत्य, शिव और सुदर था उसे पुनर्जीवित करने का प्रयत्न करे, सत्य, शिव और सुदर की रक्षा मे जहाँ-कही भी कदाचार आ गया हो उसे दूर करे तथा जन-साधारण के लाभ के लिये—'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय'—नई बातें और नए विधानो को सुझाए तथा उन्हे परिचालित करने मे सहायता दे।

जीवन के किसी एक क्षेत्र की उन्नति प्राय अन्य सब क्षेत्रो की—सार्वजनीन—उन्नति पर निर्भर करती है। इसलिये प्रत्येक पत्रकार या सपादक को, जो वास्तव मे सच्चे हृदय से जीवन के किसी क्षेत्र की उन्नति का आकांक्षी हो, चाहिए कि वह अन्य सब क्षेत्रो की उन्नति से सहानुभूति रक्खे तथा उनमे सहायता दे। परतु जीवन के किसी एक क्षेत्र की उन्नति मे अथवा सभी क्षेत्रो की उन्नति मे हमे तभी विश्वास हो सकता है, जब हम ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से मानव-मात्र की उन्नति मे निर्भ्रांत विश्वास रक्खे। यह विश्वास एक अन्य विश्वास पर स्थित है। वह अन्य विश्वास यह है कि इस ब्रह्मांड का परिचालन सत्य और पुण्य के द्वारा होता है तथा एक सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् शक्ति इस विश्व की नियता है, जिसकी इच्छा से ही मनुष्य का कल्याण होता है।

इसलिये जब वेडल फिलिप ने पूर्वोक्त शब्द कहे थे, तब उनके मन मे निश्चय ही उन आदर्श समाचारपत्रो का ध्यान था, जो ऐसे लोगो द्वारा परिचालित होते हैं जो राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ उच्चचरित्र, परिपक्वबुद्धि, उच्चादर्श और महान् क्षमताशाली होते हैं—जिन्हे इस बात का विश्वास होता है कि मानव-ससार उन्नति करके सपूर्णता को प्राप्त करेगा—तथा जो उस पवित्र प्रकाश के सहारे अपना मार्ग खोजते हैं जिस प्रकाश से यह विश्व प्रकाशित है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि पत्रकारो को अपने मन से पक्षपात, विद्वेष, किसी एक ओर को विशेष झुकाव तथा दलबदी के भावो को दूर करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। भारतवर्ष मे इस प्रकार का प्रयत्न अत्यत आवश्यक है। यह हमारा बडा भारी सौभाग्य है कि हमारे देश मे ससार के सभी प्रधान-प्रधान धर्मो के अनुयायी बसते हैं। सत्य अत्यत व्यापक है, उसमे अगणित पहलू है। किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के एक सम्प्रदाय के लिये यह सभव नही है कि वह सत्य के सभी पहलुओ को देख सके और ग्रहण कर सके। सत्य की समस्त दिशाओ को देखने के लिये अनेक सच्ची आत्माएँ चाहिए। परतु कुछ सकीर्ण विचारवाले धर्मांधो की कट्टरता ने और उन लोगो ने, जो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये इस कट्टरता का दुरुपयोग करते हैं, भारत के इस वरदान को अभिशाप बना डाला है। प्रत्येक सद्विवेकी पत्रकार का यह लक्ष्य तथा कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह इस प्रकार की धर्मांधता तथा उसके दुरुपयोग को मिटाने की चेष्टा करे। वह ऐसा तभी कर सकता है जब उसके मन मे सभी धर्मो के प्रति श्रद्धा हो, और यह श्रद्धा तभी प्राप्त हो सकती है जब हम परिश्रम करके सब धर्मो के आतरिक सत्यो तथा प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय के सुकृत्यो से परिचित हो। यह भी हमारे पत्रकारो के अध्ययन-विषयो का एक अंग होना चाहिए।

३

यद्यपि कुछ अत्यत प्रतिभाशाली व्यक्तियो ने पत्रकार का काम किया है, किंतु साधारण तौर पर पत्रकार के लिये तो बहुत उच्च कोटि की प्रतिभा आवश्यक नही है। उसके लिये तो केवल उसी प्रकार की योग्यता, क्षमता तथा अर्जित गुण चाहिए, जिनका वर्णन मै ऊपर कर चुका हूँ। निस्सदेह कोई भी व्यक्ति सभी विषयो का ज्ञाता नहीं हो सकता, और न कोई चलता-फिरता विश्वकोष ही बन सकता है। अतः पत्रकारो को चाहिए कि वे उपरि-वर्णित अधिकाश आवश्यक विषयो का स्थूल ज्ञान प्राप्त करे, तथा एक या दो विषयो की पूरी विस्तृत जानकारी रक्खे। लेकिन हमारी योग्यता, क्षमता तथा कृतियाँ चाहे कितनी ही ऊँची क्यो न हो, यह न समझ लेना चाहिए कि उनके द्वारा कोई भी सफल पत्रकार अमर व्यक्तियो की गिनती मे आ सकता है। बहुधा हम इस तथ्य को अच्छी तरह दृढ़तापूर्वक ग्रहण नही कर पाते हैं, क्योंकि हमारा काम ऐसा है कि हमे अकसर बडे से बडे कवियो, दार्शनिको, कलाकारो, वैज्ञानिको तथा राजनीतिज्ञो आदि का निर्णायक बनकर बैठना पड़ता है, और उनकी कृतियो पर अपना फैसला देना पड़ता है। अतः हमारे मन मे यह भ्रमपूर्ण धारणा उत्पन्न हो जाना कुछ कठिन नहीं है कि हम उन लोगों की बराबरी के हैं, अथवा उनसे भी ऊँचे हैं जिन पर हम अपना निर्णय देते हैं या जिनकी हम आलोचना करते है।

चूँकि पत्रकार एक प्रकार से एक लोकप्रिय शिक्षक है, अतः उसका एक मुख्य कार्य यह है कि वह कठिन से कठिन और गूढ़ बातो को भी ऐसे मनोरजक और सरल ढग से पाठको के सामने रक्खे, जिसे राहचलता आदमी भी आसानी से समझ ले। इसलिये पत्रकारो को चाहिए कि वे ज्ञान, सौंदर्य, समस्त उन्नतिशील प्रभावों तथा उन सब बातो को—जो मानव-हृदय मे बल और प्रसन्नता का संचार करती हैं—सुदर, और रोचक ढग से—सनसनीदार ढग से नही—जन-साधारण के द्वार-द्वार पहुँचावे।

पत्रकार का मुख्य कार्य है कि जो कुछ घटना घटे, उसकी रिपोर्ट दे और उसे प्रकाशित करे। ये घटनाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं—कुछ अच्छी, कुछ बुरी, कुछ सनसनीदार और कुछ ऊटपटॉग। जो घटनाएँ बुरी हैं उनके समाचार अच्छी घटनाओ के समाचारो की अपेक्षा कही अधिक छापे जाते है। ससार मे अनेक भाँति के अगणित भले कार्य हो रहे हैं, उनको कोई नही पूछता। इसके विपरीत नाना प्रकार के अपराधो के समाचार तथा अदालतो की कारवाई अखबारो के लिये मनोरजक मसाला समझा जाता है। केवल बडे-बड़े भले कार्यो का ही समाचार यदा-कदा प्रकाशित किया जाता है, लेकिन यदि हम चाहे तो दयालुता और भलमनसी की अनेक छोटी-छोटी बातो को भी बडे रोचक तथा प्रेरणोत्पादक ढग से लिख सकते हैं। मैने इस विषय की ओर विशेषकर इसलिये ध्यान आकृष्ट किया है कि दयालुता और भलमनसी की बातो के समाचार आम तौर पर नही छपते। हाँ, रूढता और निर्दयता की बाते विस्तृत रूप से प्रकाशित की जाती है। इससे यह धारणा उत्पन्न हो सकती है कि ससार मे दयालुता और भलमनसी की अपेक्षा रूढता और निर्दयता ही बहुत अधिक है, लेकिन यह धारणा शायद सत्य नही है।

विभिन्न देशों, जातियो, राष्ट्रो और सरकारो के वीच मे अनवन के छोटे से छोटे चिह्न, सदेह, सशयजनक कल्पनाएँ और आतकोत्पादक वाते समाचारपत्रों मे फौरन छप जाती हैं। परतु जिन वातो से विभिन्न जातियो मे मैत्री उत्पन्न हो, जो वाते स्वभावत लोगो मे सद्भाव पैदा करे, उनके प्रकाशन मे यह तत्परता नहीं दिखाई जाती, वहुधा तो वे प्रकाशित ही नही की जाती। इस प्रकार ससार की जनता को यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि समस्त जातियाँ और राष्ट्र हमेशा इसी ताक मे रहते हैं कि कव मौका मिले और वे एक दूसरे पर टूट पडे। वास्तव मे यह वात नही है। मुझे बहुधा यह भासित होता है कि पृथ्वी की विभिन्न जातियो मे मैत्री और सद्भाव उत्पन्न करने के लिये हम पत्रकारो को जो कुछ करना चाहिए, हम वह नही करते। यदि हम लोग विभिन्न जातियो के साहित्य, कला, मनुष्यता तथा उदारता की सुकृतियो आदि विषयो को समाचारपत्रो मे अधिक स्थान देते तो आज विभिन्न जातियो मे एक दूसरे के प्रति जितना प्रेम और समान है उससे कही अधिक होता। इस प्रकार के कार्य औरो की अपेक्षा शक्तिशाली राष्ट्रो के समाचारपत्र अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं, परतु वे करते नही। यदि वे वास्तव मे शाति के इच्छुक है तो उन्हे यह कार्य करना चाहिए।

हमारा कर्त्तव्य है कि ससार मे जो कुछ हो रहा है उसका समाचार दे। हमे केवल नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो और अन्वेषणो की ही खवर न देनी चाहिए, वल्कि विभिन्न देशो के आधुनिक कवियो, कलाकारो और दार्शनिको के नवीन भावो, विचारो, प्रेरणाओ और सौदर्य पर भी ध्यान देना चाहिए। इसमे सदेह नही कि अन्य साधारण वातो की अपेक्षा, जिनके समाचार हम रोज छापते हैं, नवीन विचारो, नवीन सिद्धातो तथा सौंदर्य की नवीन वातो को समझना और उन पर लिखना जरा टेढा काम है। फिर भी यह न होना चाहिए कि वाह्य जगत् की स्थूल घटनाएँ ही, मनुष्यो के आतरिक ससार की वातो को दूर रखकर, हमारे समूचे ध्यान पर एकाधिपत्य जमा ले।

प्रसन्नता की बात है कि अव देश, जाति, राष्ट्र, धर्म तथा भाषाओ की सीमा पार करनेवाले आंदोलनो और सस्थाओ की ओर हमारा ध्यान जाने लगा है। एक समय था जव कि इतिहास का अर्थ 'किसी राजवश के राजाओ की सूची अथवा महत्त्वाकाक्षा के फेर मे राजवशो के युद्ध और उनकी जय-पराजय आदि' ही समझा जाता था। मगर अव कुछ समय से इतिहास का वास्तविक विस्तृत अर्थ समझा जाने लगा है। आजकल आदर्श इतिहास-ग्रथ वे ही समझे जाते हैं, जिनमे किसी जाति का इतिहास, उसकी सभ्यता, सस्कृति, सस्थाओ, समाज, कला, साहित्य, व्यापार और उद्योग-धधो का विकास और उनका एक दूसरे पर प्रभाव आदि वाते होती है। अव इतिहासकार यह भी देखते हैं कि किसी जाति ने किसी दूसरी जाति या देश पर राजनीतिक या आर्थिक आधिपत्य जमाए विना किस प्रकार अपना सास्कृतिक प्रभाव डाला है। प्राचीन काल मे भारतवर्ष ने अनेक ऐसे देशो पर अपना गहरा प्रभाव डाला था, जिन पर उसने कभी विजय प्राप्त नही की। और आज भी—यद्यपि वह परतंत्र देश है—उसके दर्शनशास्त्र, उसका धर्म, उसका साहित्य और उसकी कला सारी मानव-जाति पर अपना प्रभाव डाल रही है।

इतिहास की धारणा मे उपर्युक्त परिवर्त्तन हो जाने के कारण पत्रकारो के कर्त्तव्यो की धारणा मे भी अतर आ गया है, क्योकि सामयिक तथा समाचारपत्र हमारे वर्त्तमान-कालीन इतिहास के एक अंश

ही तो हैं। पत्रकारो के पेशे के संवध मे मेरा यह विचार है कि हम लोगों को इस योग्य वनना चाहिए कि हम केवल अपने वर्त्तमान इतिहास के लेखक या आलोचक ही न वने, वल्कि मनुष्यों के वाह्य तथा अंतरंग जीवन के इतिहास-निर्माता भी बनें।

४

यद्यपि भारत की जनसंख्या बहुत वडी है, तथापि भाषाओं की वहुलता और उसके साथ शिक्षा की कमी के कारण देशी भाषाओ के समाचारपत्रो के अधिक प्रचार मे वडी वाधा पहुँचती है। समस्त भारतीय भाषाओ मे हिंदी बोलनेवालो की संख्या सबसे अधिक, अर्थात् १२,१२,५४,८९८ है। परंतु दुर्भाग्यवश हिंदी-भाषा-भाषी प्रदेशो मे ही सबसे अधिक निरक्षरता है। इसके अतिरिक्त हिंदी बोलनेवाला जनसमूह चार-पाँच विभिन्न प्रांतो मे वॅटा होने के कारण तथा दूरी और अन्यान्य कारणो से एक प्रांत में प्रकाशित होनेवाले पत्रो का अन्य प्रांतो मे प्रचार नही होता। इस प्रकार वर्त्तमान परिस्थिति मे हिंदी-पत्रो का अधिक प्रचार दुस्तर है। बॅगला बोलनेवालो की सख्या प्राय. पॉच करोड से कुछ अधिक है, जो अधिकांश मे वगाल मे ही रहते हैं। परतु यहाँ भी निरक्षरता के कारण बँगला-पत्रो का अधिक प्रचार नही हो सकता। अन्य भारतीय भाषाओ मे प्रत्येक के बोलनेवालो की सख्या ढाई करोड़ से भी कम है। कुछ की तो केवल कुछ लाख ही है। कुछ अँगरेजी के पत्रो का, विशेषकर उनका जिनके मालिक और सपादक अँगरेज है, एक से अधिक प्रांतो मे प्रचार है। ये गोरे पत्र भारतीय पत्रो से अधिक सपन्न हैं, क्योकि जो गोरे यहॉ पैसे कमाने के लिये आते हैं, वे सभी काफी पैसे कमाते हैं, और समाचारपत्र खरीद सकते हैं। फिर उनमे से प्रत्येक वयप्राप्त स्त्री-पुरुष साक्षर होता है। दूसरा कारण यह है कि भारत का व्यापार, कारवार, उद्योग-धंधे और ट्रांसपोर्ट आदि सभी चीजे अधिकांश मे गोरों ही के हाथ मे हैं इसलिये गोरे पत्रो को उनसे वहुत विज्ञापन मिलते हैं। हमारे भारतीय पत्र तव तक नही फूल-फल सकते जब तक हमारी सपूर्ण वयप्राप्त जनसख्या साक्षर नही हो जाती, और जब तक देश के सारे रोजगार, उद्योग-धधे आदि हमारे हाथ मे नही आ जाते।

निरक्षरता तथा अन्यान्य कारणो के अलावा हमारे देश के पोस्टेज के ऊँचे रेट भी समाचार-पत्रो के प्रचार मे बहुत बाधक है। जापान मे पोस्टकार्ड साढ़े चार पाई मे जाता है, हमारे यहाँ नौ पाई लगती हैं। जापान मे अखबारो के लिये कम से कम पोस्टेज आधा सेन यानी डेढ़ पाई है, मगर भारत मे तीन पाई से कम पोस्टेज नही। तुलना करने से यहॉ और जापान की अन्य बातों मे भी अतर मिलता है, मगर वह अंतर जापानियो के पक्ष मे ही है। इस कारण से तथा कुछ अन्य कारणों से, जापान की आबादी भारत की आबादी से बहुत कम होते हुए भी, वहॉ के डाकखानों मे साल-भर मे जितनी चिट्ठियाँ, पोस्टकार्ड, पैकेट आदि जाते हैं, भारत के डाकखानों मे उससे कम जाते हैं। यह बात नीचे के ऑकड़ों से प्रत्यक्ष हो जायगी—

देश	आबादी	चिट्ठियों की सख्या	वर्ष
भारतवर्ष	३१,८९,४२,४८०	१,२४,४४,२५,२३५	१९२४-२५
जापान	६,१०,८१,९५४	३,८०,६१,२०,०००	१९२०-२१

टाइप-राइटर के आविष्कार से अँगरेजी मे प्रेस के लिये सुपाठ्य 'कापी' तैयार करने मे बडी आसानी होती है। मगर हमारी देशी भाषाओं को टाइप-राइटर से अभी तक कोई विशेष लाभ नही हुआ। हमारी देशी भाषाओ की वर्णमाला और अक्षर भिन्न प्रकार के हैं, उनके लिये टाइप-राइटर बने भी नही, और जिनके लिये बने भी हैं वे वैसी सुविधा से और वैसा संतोषजनक काम नही देते जैसा रोमन लिपि मे। बडी भारी असुविधा यह है कि सस्कृत-वर्णमाला मे सयुक्त अक्षरो की बहुलता है, दूसरी बात यह है कि व्यजनो से मिलकर स्वर एक नया ही रूप धारण कर लेते हैं। ये दोनों कठिनाइयाँ इस प्रकार दूर हो सकती हैं कि हम विना हलंत चिह्न के ही यह मानने लगें कि प्रत्येक व्यजन मे स्वर 'अ' समिलित नही है। अभी तक हम लोग सपूर्ण व्यजनो मे 'अ' की उपस्थिति मानते हैं। उदाहरण के लिये—'करके' शब्द इस प्रकार लिखा जाय 'कअरअकए' जो रोमन मे Karake होगा, या 'भक्ति' शब्द यों लिखा जाय 'भअकतइ' जो रोमन अक्षरो मे Bhakti होगा।

टाइपराइटिंग मशीनो की कमी देशी भाषाओं के पत्रो के प्रचार मे जितनी बाधक है उससे कही बढ़कर बाधक देशी भाषाओ के 'लिनोटाइप' 'मोनोटाइप' आदि टाइप ढालने की मशीनों का न होना है। जब तक इस प्रकार की मशीने नही बनती तब तक देशी भाषाओ के दैनिक पत्र उतनी शीघ्रता से और उतनी ताजी खबरे पाठको तक नही पहुँचा सकेंगे, जितनी अँगरेजी दैनिक पहुँचाते हैं। एक और बडी असुविधा यह है कि देशी और विदेशी समाचारों के तार अँगरेजी भाषा मे आते हैं। अँगरेजी पत्र उन्हे सीधे प्रेस मे कपोजीटरो के पास भेज देते हैं, परतु देशी भाषा के पत्रो को उनका अनुवाद करना पडता है। रिपोर्ट लेने मे भी देशी भाषाओं मे उतनी उन्नति नही हुई जितनी अँगरेजी मे हुई है, अत' रिपोर्ट भी अँगरेजी मे लेकर उसका अनुवाद करना पडता है। मै इन बातो पर इसलिये विशेष जोर दे रहा हूँ कि अँगरेजी के पत्र भारत के जन-साधारण की समाचार-तृषा, मत-तृषा और ज्ञान-तृषा को कभी सतुष्ट नही कर सकते, क्योकि भारत के सवा दो करोड साक्षर लोगों मे अँगरेजी जाननेवालों की सख्या केवल ढाई लाख या एक-दशांश ही है। जब भारत मे प्रारभिक शिक्षा अनिवार्य हो जाएगी तब देशी भाषाओ के पढ़े-लिखो और अँगरेजी पढे-लिखो की सख्याओ का यह अंतर घटने के स्थान मे कही अधिक बढ़ जायगा। अतएव भारत मे पत्रकार-कला के विकास के लिये हमे देशी भाषाओं के पत्रो पर ही निर्भर करना पडेगा।

हिंदी-भाषा-भाषियो की सख्या देश में सबसे अधिक है, इस कारण से भविष्य मे पत्रकारो के लिये सबसे वड़ा क्षेत्र हिंदी ही मे है।
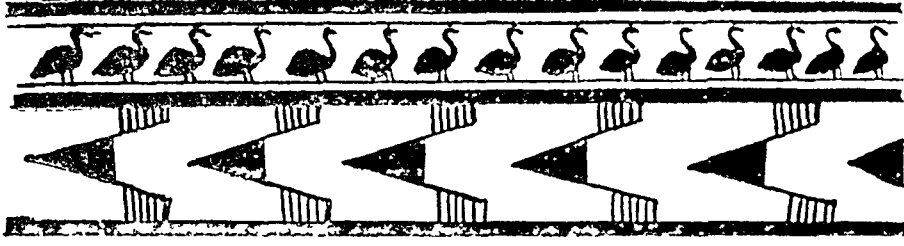
हिंदुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण

डॉक्टर सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय, एम० ए० (कलकत्ता), डी० लिट्० (लंडन)

देश-भाषा का व्याकरण लिखना भारतवर्ष मे कुछ नई बात नहीं। ऋषि पाणिनि ने जब सस्कृत का व्याकरण बनाया तब उन्होने सस्कृत को देश-भाषा मे ही लिया था। अष्टाध्यायी मे सस्कृत का नाम 'लौकिक' ही बताया गया है। इसके परवर्त्ती काल मे प्राकृतो के कई व्याकरण रचे गए, अपभ्रश की भी आलोचना हुई, इधर सस्कृत ने प्राचीन होने के कारण 'लौकिक' पदवी से 'देव-भाषा' की पदवी पाई, उधर सस्कृत के सिवा और भाषाओ को ही देश-भाषा या चालू बोली समझकर लोगो ने व्याकरणो का सहारा लेकर इनकी चर्चा की। पर प्राकृतोत्तर युग मे पडितो मे देश-भाषा का आदर कम होता गया, यहाँ तक कि विद्वत्समाज मे देश-भाषा की चर्चा करने की आवश्यकता भी किसी को प्रतीत नही हुई। मुसलमानो के आक्रमण से प्राचीन विद्या के सरक्षण मे ही पडित लोग इतने व्यस्त थे कि देश की चालू बोलियो पर नजर डालने का किसी को अवसर ही न था। सस्कृत और कही-कही प्राकृत के पठन-पाठन के लिये नए व्याकरण लिखे गए, सैकडो टीका-टिप्पणियाँ बनी, पर किसी विद्वान् ने पूर्वी, व्रज, डिगल, गुजराती, मराठी, मैथिल, बँगला, ओडिया आदि भाषाएँ सिखाने का प्रयत्न नही किया—मातृभाषा के विषय मे अपने सहज तथा साधारण ज्ञान को ही मातृभाषा मे कवितादि रचना के लिये लोग काफी समझते थे।

मुसलमान-युग मे भारतवर्ष की चालू बोलियो पर विदेशी लोगों ने सर्वप्रथम दृष्टि डाली। तुर्की और फारसी बोलनेवाले विदेशी मुसलमानों को आहिस्ता-आहिस्ता हिदुस्तानी बनना पडना, उत्तर-भारत मे इन्हे दो-तीन पीढ़ियो मे ही हिदवी या हिदी को मातृभाषा के रूप मे स्वीकृत करना पड़ा। तुर्की या फारसी भाषा बोलनेवाले विजेता मुसलमान देशवासियो से मिलने लगे। उनकी औलादो की नसो मे हिदुओ का खून बहा। बहुत-से हिदू मुसलमान बने। मुसलमान होते हुए भी उनके रोम-रोम मे हिदू-पन विराजमान था। इन मिश्रित मुसलमानों मे जो शिक्षित तथा कौतूहलप्रिय थे और जिनमे इस्लामी कट्टरपन नही था, वे फारसी और अरबी की तालीम खतम करके अपने वतन की हिदू-सस्कृति से आकृष्ट हुए। ऐसे ही विदेशी खानदानों मे अमीर खुसरो, अकबर, फैजी, अबुल फजल, खानखाना अब्दुर्रहीम

और दारा शेकोह की पैदाइश हुई। भारतीय मुसलमान भी अपनी जातीय संस्कृति से विच्युत नही हुए। इन दोनों किस्म के आदमियो मे भाषा-साहित्य का आदर हुआ, भाषा सीखने का आग्रह दिखाई दिया, और इन्ही की चेष्टा तथा इन्ही के उत्साह से मुगल-युग मे भारतीय देश-भाषा के दो-एक व्याकरण बने। मेरे मित्र, शातिनिकेतन-विश्वभारती के फारसी तथा उर्दू के अध्यापक, मौलवी जियाउद्दीन साहब को किसी भारतीय मुसलमान विद्वान् ने फारसी मे लिखे हुए व्रजभाषा के एक व्याकरण तथा व्रजभाषा-काव्य एव अलकार-विषयक ग्रथ का पता बताया, जो औरगजेब बादशाह के शासन-काल मे रचा गया था। आप इस समय इस पुस्तक को प्रकाशित करने का प्रबध कर रहे हैं। पुस्तक निकलने से हमे ईसा की सत्रहवी सदी के अंतिम भाग के फारसी-दाँ मुसलमानों के व्यवहार के लिये लिखी हुई भाषा-विज्ञान की एक अच्छी पुस्तक मिलेगी, जिसमे दिए हुए व्रजभाषा के व्याकरण को हम हिंदी के एक विशिष्ट रूप का सबसे प्राचीन व्याकरण कह सकते हैं।

व्रजभाषा तथा साहित्य-विषयक फारसी मे लिखी हुई इस पुस्तक का रचना-काल हम नहीं जानते हैं। लेखक ने अपनी किताब मे सिर्फ इतना ही कहा है कि औरगजेब बादशाह के जमाने मे यह पुस्तक रची गई। समय शायद सत्रहवी शताब्दी का अतिम चरण होगा। पर इसी समय के एक योरोपियन की लिखी हुई हिंदुस्तानी—खडी बोली—के व्याकरण की एक पुस्तक हमारे समक्ष है, जो हिंदुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण है। ऐसी पुस्तक का विवेचन हिंदी-ससार के लिये कौतूहलोद्दीपक होगा।

सन् १८९५ के जनवरी महीने मे इटली के रोम नगर की Reale Accademia dei Lincei सभा मे इटली-देशीय पडित 'सिञोर एमिल्यो तेत्सा' (Signor Emilio Teza) ने इस व्याकरण पर आधुनिक विद्वन्मडली का ध्यान आकृष्ट किया था। भारतीय भाषातत्त्व के आलोचको के अग्रणी सर जार्ज अब्रहम ग्रियर्सन ने तदनंतर भारतवर्ष मे इस पुस्तक को बात सुनाई। अपने विराट् ग्रथ 'Linguistic Survey of India' के हिंदी-विषयक खड मे ग्रियर्सन साहब ने इस व्याकरण का एक छोटा-सा वर्णन और इसके लेखक का कुछ परिचय भी दिया है (L. S. I., Vol. IX, Part I, पृष्ठ ६-८)।

उपर्युक्त वर्णन पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि सिञोर-तेत्सा और ग्रियर्सन साहब—इन दोनों महोदयो—ने मूल पुस्तक का अवलोकन नही किया। पुस्तक तो 'जोहन जोशुआ केटेलेर' (Johan Joshua Ketelaer) की लिखी हुई थी, पर प्रकाशित की गई थी हालैंड के लाइडन (Leyden) नगर से सन् १७४३ ईसवी मे 'दावीद मिल् वा मिल्लिउस्' (David Mill या Millius) नामक एक पडित द्वारा। 'केटेलेर' हालैंड की ईस्ट इंडियन कपनी के एलची थे और उन्हे सूरत से दिल्ली, आगरा और लाहौर आना पडा था। ग्रियर्सन साहब का अनुमान है कि सन् १७१५ ईसवी के करीब केटेलेर ने अपना व्याकरण रचा होगा।

इॅगलैड मे अवस्थान करते समय दावीद मिल् या मिल्लिउस् द्वारा प्रकाशित केटेलेर की इस दुष्प्राप्य व्याकरण-पुस्तक की एक प्रति मेरे हाथ आई। मैने उसे एक पुरानी पुस्तको की दूकान से खरीदा। यह पुस्तक लैटिन मे है और इसमे इस्लाम तथा यहूदी धर्मों के विषय मे कई प्रबधो के साथ-साथ लैटिन मे केटेलेर का हिंदुस्तानी व्याकरण, फारसी व्याकरण, लैटिन-हिंदुस्तानी-फारसी-धातुपाठ, लैटिन-हिंदुस्तानी-फारसी-अरबी-शब्दकोष, तथा हिंदुस्तानी के समोच्चारणयुक्त कुछ शब्दो

का सग्रह आदि बातें दी हुई हैं। पुस्तक-प्रकाशक मिल् ने अपनी भूमिका मे लिखा है कि केटेलेर की पुस्तके हालैंड की भाषा—डच—मे थी, जिनका स्वय उन्होने (मिल् ने) लैटिन मे अनुवाद किया। मिल् अरबी, हिब्रू आदि प्राच्य भाषाओ के पंडित थे, और हालैंड की उत्रेखट् (Utiecht) नगरी के विश्वविद्यालय मे प्राच्य भाषाओ के अध्यापक थे।

हालैंड के लाइडन नगर मे 'कर्न इस्टीट्यूट (Kein Institute) नामक एक नवीन सभा है। वह भारत तथा बृहत्तर भारत की सस्कृति की आलोचना के लिये स्थापित की गई है। उसके मुख्य अधिष्ठाता स्वनामधन्य पडित 'डाक्टर फोगल' (Di. J Ph. Vogel) ने अपने औदार्य से स्वय हमे एक पत्र लिखकर केटेलेर के व्याकरण के विषय मे बहुत-कुछ तथ्य बताए हैं। उनसे पता चलता है कि केटेलेर ने हिदुस्तानी और फारसी दोनों भाषाओ के व्याकरण डच भाषा मे लिखे थे और इस मूल डच पुस्तक की एक नकल 'इसाक फान दर् हूफे' (Isaac van dei Hoeve) नामक एक हालैंडीय ने सन् १६९८ ईसवी मे लखनऊ में की थी। यह नकल आज-कल हालैंड के हेग (Hague) नगर के पुराने राजकीय पत्रो के सग्रहालय मे सरक्षित है, और मिल् ने शायद इसी प्रति से अपना लैटिन उल्था किया था।

अब मै इस पुस्तक का कुछ परिचय दूँगा। यह व्याकरण सचमुच एक छोटी पुस्तक है। हिंदुस्तानी पदसाधन के कुछ सूत्रमात्र उदाहरण के साथ इसमे दिए गए हैं। ४५५ पृष्ठ से ४८८ पृष्ठ तक, इन बत्तीस पन्नो मे ही, कुल व्याकरण आ गया है। आज-कल इतनी छोटी पुस्तक काफी नही समझी जाएगी।

पुस्तक आद्यत रोमन लिपि मे छपी है—हिदुस्तानी शब्द रोमन ही मे दिए गए हैं। केटेलेर की मातृभाषा जर्मन थी, पर उसने यह पुस्तक डच भाषा मे—विशेषतया डच लोगों के लिये ही—लिखी थी; इसलिये रोमन वर्णो के मुख्यतः डच उच्चारण ही इसमे व्यवहृत हुए हैं। डच भाषा मे हमारे परिचित रोमन अक्षरो के उच्चारण मे कुछ विशेषता आ जाती है। पुस्तक के प्रथम पैराग्राफ मे ग्रथकार ने Akāi Nágari या नागराक्षर के सबध मे कुछ विचार किया है। ग्रथकार का कहना है कि ब्राह्मणों मे एक प्रकार की पवित्र वर्णमाला का व्यवहार है जो विशेषतया Bhanaias (बनारस) या Kascha (काशी) के विद्यालय मे पाई जाती है। साधारण अ-मुसलमान हिदुस्तानियो मे एक दूसरे प्रकार की वर्णमाला का प्रचलन है जो Akài Nágari 'अक्षर नागरी' कहलाती है। इस उक्ति से ज्ञात होता है कि केटेलेर साहब ने गलती से सस्कृत को भाषा न समझकर लिपि-रूप से ही उस पर विचार किया था। ब्राह्मणो मे व्यवहृत प्राचीनतम लिपि का नाम उन्होने 'देवनागर' बताया है। उन्होने यह भी लिखा है कि महाराष्ट्रीय ब्राह्मणो मे देवनागरी अक्षर 'बालबधु' नाम से प्रचलित हैं। तगुती या प्राचीन तथा आधुनिक तिब्बती और मगोल-जाति की वर्णमालाओं के साथ हिदुस्तान के हिदुओ की वर्णमाला बराबरी रखती है। मुसलमानो मे फारसी अक्षर प्रचलित हैं। उनका कथन है कि हिदुस्तानी भाषा दो प्रकार की है—एक Padtanica (पटनाई), जो Patthana (पटना) शहर के नाम से विदित है, और दूसरी Daknica (दखनी) अर्थात् 'Dhakon', 'Dhakan' या दखन (दक्षिण ?) प्रदेश की।

पुस्तक मे वर्णमाला के पाँच चित्र दिए गए है—प्रथम मे नागरी अक्षर (Akār Nágaii) नाम से और द्वितीय मे 'देवनागरम्' (Devanagaiam) और 'बालबधु' (Balabandu) नाम से। ऐसे ही तीन

दफे नागरी वर्णमाला दी गई है। तृतीय चित्र मे प्राचीन और नवीन तिब्बती अक्षर तथा मगोल अक्षर हैं। इन तीनों चित्रो के अक्षर बहुत खराब है। चतुर्थ चित्र मे 'ब्राह्मण वर्णमाला' (Alphabetum Biahm) नाम से फिर देवनागर-वर्णमाला, और पचम चित्र मे बँगला-वर्णमाला हैं। इन दोनों चित्रो की लिपियाँ बडी ही सुदर हैं। ये अतिम दोनो चित्र बगाल से मिले हैं, क्योकि इनमे वर्णों के साथ-साथ रोमन अक्षरो मे जो उच्चारण दिए गए है वे बगालियो के उच्चारण के अनुसार हैं (जैसे 'ङ' वर्ण का नाम दिया है oua—बँगला नाम 'उवाँ', 'ञ'=iha—अर्थात् ia, बँगला नाम 'इयाँ', 'ण'=ana=बँगला 'आनो', 'श, ष, स'=sha, sa, sa, यदि हिंदी के अनुसार होता तो sha, kha, sa लिखा जाता, 'क्ष'=kha, बँगला 'ख्य')। प्रथम चित्र मे अक्षरो के नीचे सख्या-चिह्न दिए हैं, और इन संख्याओ के अनुसार पुस्तक मे अक्षरो के उच्चारण छपे हैं। द्वितीय चित्र मे 'देवनागरी' और 'बालबधु' अक्षरो के साथ-साथ रोमन अक्षरों मे उच्चारण लिखे हैं। प्रथम और द्वितीय चित्र मे जो तीन दफे देवनागरी अक्षर लिखे हैं, उनके रोमन प्रत्यक्षरीकरण (Roman tiansliteration) मे बहुत-कुछ अतर है। इससे प्रकट होता है कि ग्रथकार या प्रकाशक ने विभिन्न स्थानो से सोच्चारण नागरी लिपि संग्रह की है।

पुस्तक मे नागरी अक्षरो के प्रत्यक्षर इस प्रकार दिए हैं—अं=ang, अः=gha, क=ka, ष (=ख) ka, ग=ka, घ=dgja, ङ=nia, च=tgja, छ=tscha, ज=dhea, झ=dgja, ञ=nia, ट=tha, ठ=tscha, ड=dha, ढ=dhgja, ण=nrha, त=ta, थ=tha, द=dha, ध=dh, न=na, प=pa, फ=p'ha, ब=ba, भ=bham, म=ma, य=ja, र=ra, ल=la, व=wa, श=sjang, ष=k'cho (अर्थात 'ख'), स=ssa, ह=ha, ल=lang, क्ष=k'cha।

आज से ढाई सौ साल पहले जिन बेचारे योरोपीय लोगो ने नागरी अक्षरो की आवाज कान से सुनकर उन्हे अपनी लिपि मे प्रकट करने की चेष्टा की थी, वे कैसी आफत मे फँसे, यह ऊपर के तीन-चार प्रत्यक्षरीकरण से प्रकट होती है। सौभाग्य से लेखक ने हिंदी-शब्दो का इस प्रकार का 'स्पेलिग' केवल आरभ मे अक्षरो मे ही व्यवहृत किया है। व्याकरण मे सरल रोमन स्पेलिग ही काम मे लाया गया है, नही तो व्याकरण के हिंदी-शब्दो का पढना लोहे के चने चबाना हो जाता। अस्तु, हिंदुस्तानी उच्चारण के विषय मे पुस्तक मे कुछ उपदेश नही दिया गया है। शब्द-रूप इस प्रकार दिए गए हैं—

Beetha बेटा शब्द

Nominativus—beetha बेटा—beethe बेटे

Genitivus—beetha ka बेटा का—beethon ka बेटो का

Dativus—beetha kon—बेटा कों—beethon kon बेटो को

Accusativus—beetha kon—"—"—"—"—"

Vocativus—E beetha ऐ बेटा—E beethe ऐ बेटे

Ablativus—beetha se बेटा से—beethe se बेटे से

Boedia बुढ़िया शब्द

N. boedia बुढिया—boedien बुढ़िये

G. boedia ka बुढिया का—boedion ka बुढ़ियों का

D. boedia kon बुढ़िया कों—boedion kon बुढ़ियों कों

Acc. boedia kon—"— —"— —"—

Voc E boedia ए बुढ़िया—E boedien ए बुढ़िये

Abl. boedia se बुढ़िया से—boedion se बुढियों से

Admi आदमी शब्द

admi आदमी—admion आदमीओ (आदमियों ?)

admi ka, ke आदमी का, के—admion ka आदमीओ का

admi kon आदमी कों—admion kon आदमीओ कों

e admi ए आदमी—e admion ए आदमीओ

admi se आदमी से—admion se आदमीओ से

और शब्द—beethi बेटी, बहुवचन मे beetia बेटिया (बेटियाँ ?), aandhoe आँडू (बैल), बहुवचन मे aandhoeon आँडूओ, dsjoeroe जोरू, बहुवचन dsjoeroeon जोरूओ, baab बाप, बहुवचन baabe बापे, ank आँख, बहुवचन anke आँखे (आँखे ?)—इत्यादि।

शब्द-रूप मे कर्त्तृकारक और कर्त्तृकारक के सिवा अन्य कारकों के प्रातिपदिक मे पार्थक्य नहीं दिखाया गया है। 'का, के, की' का भेद कुछ नहीं बताया है। सर्वनाम शब्दों के रूप इस प्रकार दिखाए गए हैं—

N. me मैं—ham हम

G. meere मेरे—apre अपरे (=अपणे ? अपने)

D. mukon मुको, मोको—hamkon हमकों

Ac. meera मेरा—hammare हमारे

V. e me ऐ मै—e ham ऐ हम

Ab. mese मैसे (मोसे, मुझसे)—hamse हमसे

N toe तू—tom तोम्=तुम

G. teera तेरे—tommare तोम्मारे=तुम्हारे

D. teere kon तेरे कों—tomkon तुमकों

Ac. teera तेरा—tommare=तुम्हारे

V e toe ऐ तू—e tom ऐ तुम

Ab. toese तू से—tomse तुमसे।

सर्वनाम के उत्तम और मध्यम पुरुष के कर्म-कारक के रूप 'मुझे' और 'तुझे' कर्मवाच्य क्रियापद के विवेचन मे लाए गए हैं।

N. whe वह—inne इन (इन्हे ?)

G. isseka इसका—inneke इनके

D. issekon इसको—innekon इनको

Ac whe वह—inneka इनका

V. e whe ऐ वह—e inne ऐ इन

Ab. isse इससे—innese इनसे

प्रश्नसूचक सर्वनाम भी दिए गए हैं। kjа क्या, kjon, kon क्यो, कौन—ये दोनो व्यक्तिवाचक बताए गए हैं। प्रश्नसूचक सर्वनाम के प्रयोग इस प्रकार हैं—

kon he कौन है	kja tsjeyte क्या चाहता
kon he oedeı कौन है उधर	kjon ney क्यो नही
kon douıte कौन दौड़ता	kıs waste किस वास्ते
kon bolte कौन बोलता	kjon क्यो (=कैसे)
kja ghabber क्या खबर	kıtte कित्ता (=कितना)

सर्वनाम षष्ठी विभक्ति से संबद्ध पद स्त्रीलिंग होने से षष्ठी विभक्ति मे जो 'ई' प्रत्यय आता है उसका यह उदाहरण दिया है—Meera baab मेरा बाप, teere baab तेरे (=तेरा) बाप, meerı maa मेरी माँ, teeıı maa तेरी माँ, hammare bhay हमारा भाई, tommaıı bhen तुम्हारी बहन, apre goıı a अपणे घोडा, apre maal अपणे माल।

उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनामो मे 'गौरवे बहुवचनम्' सूत्र के अनुसार, अर्थात् आदर प्रदर्शित करने के लिये, जो एकवचन के स्थान मे बहुवचन का व्यवहार किया जाता है, उसके रूप इस प्रकार दिए गए हैं—ham हम = nos etıam ego 'हम तथा मैं' दोनों अर्थ मे, तद्वत् tom तुम = एकवचन (आदरे) तथा बहुवचन, तैसे ही hammare, tommaıe—एकवचन तथा बहुवचन मे। पुनः Toe, Tom 'तू, तुम' का पार्थक्य इस प्रकार बताया है—Tom saheb haı तुम साहब है, tom meeıa saheb he तुम मेरा साहब है, Toe tsjakeı he तू चाकर है, Toe meeıa goelam he तू मेरा गुलाम है।

नञर्थक अनुज्ञा मे क्रियापद के साथ mat 'मत' अव्यय का प्रयोग दिखाया है—mat dsjauw मत् जाओ, mat kauw मत् खाओ, doure mat दौडे मत्, koo mat कहो मत्, sooè mat सोए मत्।

इस प्रकार सर्वनाम-पर्व समाप्त करके, ग्रंथकार ने ıe, je 'ई' तद्धित के सयोग से विशेषण शब्द किस रीति से भाववाचक विशेष्य बन जाते हैं उसके उदाहरण दिए हैं—

Ghoeb खूब—Ghoebje खूबी	Sorauwer जोरावर—Sorauwerıen जोरावरी
Gosse गुस्सह—Gossıe गुस्सी	Tsjenga चगा—Tsjengãıe चगाई
Duwanna दिवाना—Duwannıe दिवानी	Sacht सख्त—Sachtıe सख्ती

Alla अल्लाह—Allahıe अल्लाही

इसके बाद विशेषण-पर्याय है। पहले ही तारतम्य का विचार लिखा है—ıssoe 'इससू' (=इससों, इससे), और sabsoe 'सबसू' प्रयोग द्वारा कैसे हिंदुस्तानी का काम चलता, यह दिखाया है—

kalla काला, ıssoe kalla इससू काला,	gerra गहरा, ıssoe gerra इससू गहरा,
karwa कडुवा, ıssoe karwa इससू कडुवा,	moetha, ıssoe moetha मोटा, इससू मोटा,

Sabsoe ghoeb सबसू खूब, sabsoe kerwa सबसू कडुवा, इत्यादि।

तदनतर daar, gaar, tsje, wala, daas अर्थात् 'दार, गार, ची, वाला, दाज' प्रत्ययों के योग से कर्त्तृवाचक विशेष्य बनाने की रीति उदाहरणों द्वारा दिखाई है—

Carres, carresdaar कर्ज, कर्जदार, Toop, Tooptsje तोप, तोपची;
Darrie, darriedaar दाढ़ी, दाढ़ीदार, Banduch, Banduchtsje बंदूक, बदूकची,
Tsjockje, tsjockjedaar चौकी, चौकीदार; Lackri, Lackriwalla लकडी, लकडीवाला
Kesmet, kesmetdaar खेजमत् (खिदमत), खेजमददार, Patter, Patterwalla पत्थ., ...,

Tier, Tierendaas तीर, तीरदाज, Degge, Deggedaas दिक्क, दिक्कदाज।

और, Nischan—Nischanberdar निशान, निशानबरदार; तथा Sonna—Sonnaar सोना, सोनार—ये दो शब्द गलती से 'दार'-प्रत्ययांत शब्दो मे शामिल किए गए हैं।

कई 'I' 'ई'कारांत शब्दो के उत्तर स्त्रीलिंग मे en 'इन' प्रत्यय होता है, उसके उदाहरण ये हैं—Dhoobi—dhooben धोबी, धोबिन, Gharadi—gharaden गरेडी (गडेरी ?), गरेडिन, Malie—Malen माली, मालिन, Mootsje—Moetsjen मोची, मोचिन।

आदरार्थे dsjieve 'जीव' (जी) शब्द का व्यवहार बताया है—

Baab dsjieve बाप जीव, Saheb dsjieve साहब जीव, Bhen dsjieve बहन जीव, Doost dsjieve दोस्त जीव, Doostiu (शायद मुद्रण-प्रमाद से doostni हो गया होगा) dsjieve दोस्तनी जीव।

'अमुक' अर्थ मे Fallaan 'फलाँ' शब्द हिंदुस्तानी मे व्यवहृत होता है, यह भी बताया है।

तदनतर soe 'सू' और se 'से' post position या अनुसर्ग से कैसे तारतम्य प्रदर्शित होता है, उसके दो उदाहरण देकर विशेषण-पर्याय समाप्त किया गया है—Admi gora soe ghoeb ha आदमी घोडा सू खूब है, Hatti bhel se barra he हाथी बैल से बडा है।

इसके बाद, क्रियापद की आलोचना की गई है। अस्ति-वाचक 'हो' धातु का रूप सबसे पहले दिया गया है। इस धातुरूप मे बहुत-कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई गई हैं जो आज-कल की बोली मे नही दिखाई देती। सभव है कि बहुत-से प्रयोग या उदाहरण लेखक ने गलती से दिए हों।

[१] Præsens (वर्त्तमान)
Me he मै है (=हूँ)—Hom hoe हम हू
Toe he तू है—Tom hoe तुम हू
Whe he वह है—Inne hoe इने हू

[२] Imperfectum (अतीत)
Me hoea मैं हुआ—Ham hoee हम हुए
Toe hoea तू हुआ—Tom hoee तुम हुए
Whe hoea वह हुआ—Inne hoee इने हुए

[३] Perfectum (अनद्यतन अतीत)
Me, Toe, whe hoee tha मै, तू, वह हुए था
Ham, Tom, Inne hoee the हुए थे

[४] Plusquam Perfectum (समाप्त अतीत)
Me, Toe, whe hougea हो गया
Ham, Tom, Inne hougee होगे (=गए)

[५] Futurum (भविष्यत्)
एकवचन (तीनों पुरुषो मे) hunga हूँगा
बहुवचन——"——hunge हूँगे

[६] Futurum Secundum (द्वितीय प्रकार का भविष्यत्)
एकवचन (तीन पुरुष) hoonga होवोंगा
बहुवचन (") hoonge होवोगे (=होऊँगा, होवेंगे)

कवि निज़ामी

चित्रकार श्री० अब्दुर्रहमान चग़ताई

(चित्रकार के सौजन्य से)

[७] Impeiativus (अनुज्ञा) [८] Infinitivus (असमापिका क्रिया)

Toe 10 तू रह, Tom 10e तुम रहो (?) Hoea हुआ, Hoee होइ(=हो ? हुए ?)

इसी प्रकार kaina 'करना' धातु के सपूर्ण रूप दिए हैं—

Piæsens (वर्त्तमान)—Kaitæ करता, वहुवचन karte करते,

Impeifectum—Kaita tha करता था, karte the करते थे,

Peifectum—Kai tsjoekæ कर चुका, kai tsjoeke कर चुके,

Peifectum Secundum—Kia किया, वहुवचन मे kie किए (कर्त्तरि प्रयोग माना गया है, अर्थात् क्रियापद कर्त्ता के अनुसार वदलता है, कर्म के अनुसार नही)।

Plusquam Peifectum— kia tha किया था, kie the किए थे।

Futuium—kaionga करूँगा, kaionge करूँगे।

Futurum Secundum—karrega करेगा, karrige करीगे।

(ये दोनो प्रकार के भविष्यत् काल कैसे दिए गए हैं, इसका पता नही चलता—सभवतः लेखक की भूल से ऐसा हुआ है)।

Impeiativus—Toe kaiio तू करो, Tom kaiie तुम करे।

Infinitivus—kaire करे, अथवा kaine करने।

ऐसे ही और पाँच धातुओं के रूप भी प्रदर्शित किए गए हैं। यथा—

[१] खा धातु—kghattæ खाता, kghatte खाते, kghatta tha खाता था, kghatte the खाते थे, khoeya खूया=खाया, khoeye खूए=खाए। दो प्रकार के भविष्यत्—Khaoungæ खाऊँगा, Khaounge खाऊँगे, तथा khavigæ खाविगा, khavigé खाविगे। अनुज्ञा—Toe, Tom kau तू, तुम खाओ।

[२] पी धातु—piethæ पीता, piethe पीते, piee thæ पिए था, pie the पिए थे (गलती से ऐसा छपा है, असल मे—pieta tha पीता था, piete the पीते थे—होना चाहिए।) piea पिया, piee पिए, piee tha पिए था=पिया था, pie the पिए थे, भविष्यत् pieonga पीऊँगा, pieonge पीऊँगे। (इस धातु मे तथा इसके वाद 'गा' धातु तथा 'हँस' धातु के रूपो मे भविष्यत् एक ही प्रकार का माना गया है)।

[३] गाना धातु—(gauna गावना धातु)=gauta गावता, gaija गाइया (गाया), Me gauta tha tsjoeka मैं गावता था चुका, gauonga गावोगा, Toe gau तू गाव, gauwena गावना—इत्यादि।

[४] 'हँस' धातु—haste हँसते, hasta tha हँसता था, hassæ, hasse हँसा, हँसे, hassonga हँसोंगा (हँसूँगा), इत्यादि।

इसके वाद पृष्ठ ४७४ पृष्ठ ४८५ तक क्रियापदों के अनेक प्रकार के रूप और प्रयोग दिखाए गए हैं। दृष्टात-स्वरूप कुछ प्रयोग उद्धृत किए जाते हैं—Tad me kay tsjoeke तद मै खाय चुका, Me nimaas kar tjoekke मै नमाज कर चुका, Me somsjoenge मै समझाऊँगा, Me dsjievong मैं जीऊँगा, Me tsjets bol tsjoekkha tha मै सच वोल चुका था, Me lerieghe=मैं लडेगा, Me kut kaye मैं कद

खाया (अतीत कर्त्तरि), Me dsjawaab dia tha मै जवाब दिया था, Me lechte मै लिखता, Me tsjop reonga मै चुप रहूँगा; इत्यादि ।

कर्मवाच्य की क्रिया की आलोचना मे सर्वनाम misjæ 'मुझे' और toesjæ 'तुझे' का प्रयोग दिखलाया गया है। यथा—

Misjæ peaar karte मुझे प्यार करते, Toesjæ pakkeitaja तुझे पकड़ता है, तथा—Ikkon poslaute एक कों फुसलावते, Hamkon deelassa deete हमकों दिलासा देते, Tomkon dsjellaia तुमकों जलाया, Innekon doente इन्हेंकों ढूँढ़ते, Sjad me kappia penne hœæ जद् मै कपड़ा पहने हुआ, Sjad me mœae hœae जद् मै मूआ हुआ, Sjad toe ceire hœae जद् तू खड़ा हुआ, Sjad whe bea karie hœae जद् वह ब्याह करा हुआ, Sjad ham pokkaie hœae जद् हम पुकारे हुए, इत्यादि ।

ईसाई धर्म के कुछ उपदेश और विनय देकर (लैटिन मूल और हिंदुस्तानी अनुवाद, दोनों मे) पुस्तक समाप्त की गई है। इन उपदेशो की भाषा भी देखने योग्य है—

Dsjoemmaka din tom jaet oor saaf racke, tsjæ din tom kam oor tommaie gesmet karro, wasteke Saatme din he Godda saheb tommare allaka, tad tom mat kam karro, tom oor tommaie beetha, oor tommaie beethi, oor tommaie londi, oor tommaie dsjanauwer, oor tommaie moessaffer, we tommaie derwaesjæ me he, waste tsjæ din me Godda asmaan, oor sjimien benaie, derriauw oor sabke ender he, oor sustaie Saatme din, is waste Saheb saffa rackte, oor inne saat karte.

जुम्मा का दिन तुम याद और साफ राखे, छे दिन तुम काम और तुम्हारे खेजमत करो, वास्ते कि सातमो दिन है खुदा साहब तुम्हारे अल्लाह का, तद् तुम मत काम करो, तुम और तुम्हारे बेटा, और तुम्हारी बेटी, और तुम्हारी लौंडी, और तुम्हारे जनावर, और तुम्हारे मुसाफर, वह तुम्हारे दरवाजा मे है, वास्ते छे दिन मे खुदा आसमान औ जमी बनाया, दर्या और सबके अंदर है; और सुस्ताई सातमी दिन, इस वास्ते साहब साफा रखते, और इन्हे साथ करते ।

इस पुस्तक मे दिया हुआ ईसा-मसीह् की विख्यात प्रार्थना (Lord's Prayer) का अनुवाद इससे पहले ग्रियर्सन साहब की पुस्तक मे प्रकाशित हो चुका है।

केटेलेर का हिंदुस्तानी व्याकरण यही पर समाप्त होता है। व्याकरण के सूत्र नितांत संक्षिप्त है, पर थोड़ा-सा भाषाज्ञान प्राप्त कराने के लिये काफी हैं। जो हिंदुस्तानी केटेलेर ने सीखी थी और जिसे उन्होंने दूसरो को सिखाने की कोशिश की थी, उदाहरण और अनुवाद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शुद्ध खड़ी बोली नही, बाजारू बोली है—और विशेषतया बंबई, सूरत आदि दक्षिणी भू-भाग के ढंग की बाजारू हिंदुस्तानी है। थोडी सूक्ष्मता के साथ विचार करने से ही यह बात मालूम हो जाएगी। इसकी भाषा चाहे जैसी हो, परंतु खड़ी बोली के इतिहास की चर्चा करते समय इस व्याकरण की उपयोगिता को सभी विद्वान् स्वीकार करेंगे ।

Latine	Hinduſt	Perſ
Accuſo	*me ferriaat karte*	داوا مىكنم
Invideo	*me hias karte*	حسد مىبرم
Polliceor	*me ſey dete*	احب كردم
Facio	*me karte*	مىكنم
Baiulo	*me oethoute*	مىبرم
Torqueo	*me charadi karte*	مىطسم
Bibo	*me piete*	مىنوشم
Poſtulo	*me mangte*	مىطلم
Edo	*me kanre katte*	مىخرم
Do	*me deete*	مىدهم
Credo	*me ituaar karte*	باور مىكنم
Ambulo	*me dsjate*	مىراوى
Oſculor	*me tsjoemte*	مىبوسم
Impero	*me vermaute*	مىفرمىم
Claudico	*me lergeraute*	مى لدكم
Audio	*me ſunte*	مىشنوم
Poſſum	*me dsjante*	مىتونم
Spero	*me doorte*	مىلوم
Emo	*me mool leete*	مىخرم
Lego	*me ſiche*	مىخوارم
Vivo	*me dsjieuwte*	مىزىم
Facio	*me benate*	مىسازم
Molo	*me pieſte*	مىارد كردم
Sumo	*me liete*	مى حرم

Bel-

'हिंदुस्तानी का प्राचीन व्याकरण' का एक पृष्ठ

Niger	*kalla*	Nigrior	*iſſoe kalla*
Vetus	*poeranne*	Vetuſtior	*iſſoe poeranne.*
Bonus	*ghoeb*	Melior	*iſſoe ghoeb*
Longus	*lamba*	Longior	*iſſoe lamba*
Brevis	*tengna*	Brevior	*iſſoe tengna*
Amarus	*karwa*	Amarior	*iſſoe karwa*
Prope	*naſiek*	Propius	*iſſoe naſiek*
Profundus	*gerra*	Profundior	*iſſoe gerra*
Tenuis	*patla*	Tenuior	*iſſoe patla*
Denſus	*moetha*	Denſior	*iſſoe moetha*
Siccus	*ſukka*	Siccior	*iſſoe ſukka*
Obſcurus	*andeer.*	Obſcurior	*iſſoe andeer.*
Magnus	*barra.*	Major	*iſſoe barra*

Ex comparativis fiunt ſuperlativi, abjecto vocabulo *iſſoe*, & præpoſito vocabulo *ſabſoe*, exempli gratia

Nigrior	*iſſoe kalla*	Nigerrimus	*ſabſoe kalla*
Vetuſtior	*iſſoe poeranne*	Vetuſtiſſimus	*ſabſoe poeranne.*
Melior	*iſſoe ghoeb*	Optimus	*ſabſoe ghoeb*
Longior	*iſſoe lamba*	Longiſſimus	*ſabſoe lamba.*
Brevior	*iſſoe tengna.*	Breviſſimus	*ſabſoe tengna*
Amarior	*iſſoe kerwa*	Amariſſimus	*ſabſoe kerwa*

Adjectiva quædam oriuntur à ſuis ſubſtantivis, quando poſſeſſionem ſive qualitatem denotant, poſtpoſito vocabulo *daar* vel *gaar*, exempli gratia

Gonna	*peccatum*	Gonnagaar	*peccator*
Carres	*debitum*	Carresdaar	*debitor.*
Darrie	*barba*	Darriedaar	*barbatus*
Tsjockje	*vigilia*	Tsjockjedaar	*vigil*
Cir	*caput*	Cirdaar	*capitaneus.*
Niſchan	*vexillum*	Niſchanberdaar	*vexillifer*
Beeld	*ferrum effoſſum*	Beeldaar	*ferri effoſſor.*
Dsjiemien	*terra*	Dsjimidaar	*ſatrapa*
Kesmet	*ſervitium*	Kesmetdaar	*ſervus*
Tanna	*poſtis*	Tannadaar	*caput poſtis*
Sonna	*aurum*	Sonnaar	*faber aurarius*

Re-

'हिंदुस्तानी का प्राचीन व्याकरण' का एक पृष्ठ

हिदुस्तानी व्याकरण के पीछे केटेलेर का फारसी व्याकरण मुद्रित है (पृष्ठ ४८६ से पृष्ठ ५०३ तक)। यह हिदुस्तानी व्याकरण से भी सक्षिप्त है, और इसमे फारसी शब्द सिर्फ फारसी हरफो मे ही दिए गए हैं, रोमन मे नही। तदनतर फारसी व्याकरण के शेषाश मे लैटिन, हिदुस्तानी और फारसी के १३६ क्रियापद लिखे हैं। जैसे—

Amo.—me pıaar kaıte (मै प्यार करता) دوست دارم

Decıpıo —me deggabası kaıte (मै दगाबाजी करता) گول زدن

Bajulo —me oethoute (मै उठावता) میبرم

Audıo —me sunte (मै सुनता) میشنوم

Facıo —me benate (मै बनाता) میسازم

Gusto —me tsakte (मै चखता) میچشم

Pugno.—me koestı karte (मै कुश्ती करता) جدل داشتم

Prodo —me tsjogglıe kaıte (मै चुगली करता) خيانت میکنم

Mentıoı —me djoet bolte (मै झूठ बोलता) دروغ میگویم

Laetor —me ghossjaal he (मै खुशहाल है) شاد شدم

फिर लैटिन-हिदुस्तानी-फारसी-अरबी का एक छोटा-सा शब्दकोष दिया है, जिसमे करीब ६२५ शब्द हैं (पृष्ठ ५१० से पृष्ठ ५६८ तक)। इस शब्दकोष के अरबी शब्दो पर कुछ टिप्पणियाँ दी गई हैं—पन्नों का आधे से अधिक भाग इसी मे लग गया है—अरबी शब्दो के धातुओ के विभिन्न वजन के शब्द और अरबी बाइबिल मे इन शब्दो का अवस्थान तथा हिब्रू प्रतिशब्द बताए गए हैं। इस शब्द-कोष के हिदुस्तानी शब्द अलग छपाने के लायक हैं।

अंतिम तीन पृष्ठो मे कुछ ऐसे हिदुस्तानी शब्द दिए गए हैं जिनके उच्चारणो का अतर बेचारे जर्मन और डच भाषी ग्रथकार के कान पहचान न सके। जैसे—Baagh (बाग), Bhagh (बाघ), Bag (भाग), Kham (खाम, खभा), Kaam (काम), Kam (कम), bhaar (बार=दरवाज़ा), baare (बारह), haser (हाजिर), hazaaı (हजार), aazaaı (आजार), hızaı (इजार), doo (दे), dhooe (धोय), hoea (हुआ), Koea (कूवा), noen (नून=नमक), oen (ऊन), Sjooı (जोर), soor (शोर), gullaab (गुलाब), Sjullab (जुलाब), इत्यादि।

मै कृतज्ञता के साथ स्वीकार करता हूँ कि मेरे मित्र श्रीयुत ब्रजमोहनजी वर्मा (सहकारी सपादक 'विशाल भारत') ने इस प्रबध की भाषा-सबधी त्रुटियाँ सशोधित कर मुझे अनुगृहीत किया है।

An Englishman's Stray Thoughts on Hindi Literature

Rev. Edwin Greaves

A foreigner's views of a literature may be of little value but may possibly not be altogether devoid of interest.

One is naturally tempted to turn one's mind to a comparison of English and Hindi literature but it is wise to resist the temptation, because the Englishman regards the two literatures from different standpoints. When I read English it is almost entirely for the sake of the *matter*, in reading Hindi my thought is largely engrossed in the *language* Of course in neither case is the attention given exclusively to either the language or the matter but on one or other lies the main stress

Other considerations also bear directly on the question. One's reading in English is, comparatively, wide, in Hindi it is very limited Again, in English probably ninety-nine per cent of the books read are in prose, where practically no difficulty arises through the language, in studying Hindi literature the outstanding works are in poetry and demand no small labour on the part of the foreigner in his endeavour to thoroughly understand the meaning.

This opens up a question of general interest. Is it to the Englishman alone that the reading of the great Hindi works involves difficulty ? The Ramayan of Tulsidas is widely known and widely read, even among the illiterate, but how far is each verse fully understood ? Do the moderately educated always understand the exact meaning of each word and sentence ? The fact of so many commentaries and paraphrases being published indicates a fairly clear answer to this question. Bihari Lal's *Satsai* is given a very exalted position in Hindi Literature but how many well educated Indians could give an exact paraphrase of each couplet ? I have frequently been greatly surprised at the ineffective attempts of men who may be rightly regarded as Hindi scholars to elucidate the meaning of some of the dohas. The same may be said of much that Kabir has written As a matter of fact

many thoroughly educated Indians experience as much difficulty in understanding the exact meaning of each sentence in the great Hindi classics as Englishmen do in explaining the exact meaning and bearing of every sentence in Shakespeare or Browning.

In Hindi Literature there is much that is difficult by reason of the archaic language and involved construction (or want of construction) of the sentences, and in more modern literature on account of the lavish use of Sanskrit words

In discussing Hindi Literature no severely restricted use of the word *literature* should be adopted As the word *poetry* is allowed to cover all versification, much of which is certainly not true poetry, so Literature must be taken to cover all written compositions,—ancient and modern, prose and verse, history, biography, fiction, essays, dissertations on every subject,—whether they be so written as to justify a claim to be included in Literature, as connoisseurs would define the term, or are simply written or printed productions, however loose they may be as regards their grammar, syntax or style In this broad sense articles in magazines and journalism must be granted a place We must also include not only the writings which are in more or less pure Hindi, but bilingual productions which might more precisely be spoken of as Hindustani

Adopting this broad meaning of Hindi Literature we find a vast field, from such works as Prithvi Raj Raso and Padamavata to the innumerable magazines and journals and papers and books which issue from the presses year by year

No foreigner,—certainly not he who writes this,—can be so omnivcrous (should Sir George Grierson be excluded from this statement ?) as to venture on generalisations covering the whole range of Hindi Literature All the writer can do is to give some of the impressions that have come to him in his limited Hindi reading

Prithvi Raj Raso must be accepted as a work worthy of a hard tussel but I confess its archaic language and style are beyond me and I have not attempted more than just to dip into it Padamavata is undoubtedly a great book but the matter does not appeal greatly to me and in its language and style presents difficulties not easily surmounted My enjoyment of its perusal was consequently *subdued* The writer who has above any other appealed to me is Goswami Tulsidas, especially

in his Ramcharitmanas or Ramayan Some have given a higher place to Binaya Patrika It may be an abler book from a purely literary standpoint but it lacks the freshness and *abandon* of the Ramayan Here the dear saint revels in his subject. He settles down to tell out the whole story, leisurely, wholeheartedly, he wanders aside to deal with anything in any way related to his theme. He will not be hurried, there is no impatience as he deals with any matter which arises on the way, he maunders along as happy as a child gathering flowers from the hedges of a country lane He responds to each detail which invites his attention and his mood and style conform to each. Does the sun shine brightly? His verses glitter and gleam, are there lowering clouds? You feel the weight of the atmosphere in his lines What a wealth and rush of words and what ringing stanzas as he sweeps along to describe the battles What tenderness and gentleness as he dwells on the sweet loyalties of Sita What transport as he enlarges on the excellences of Ram and the devotion of Lakshman and Bharat. How deeply reverent and resplendent are his paeans of praise of God. What humour he manifests as he recounts the meeting with Parashuram Has any Hindi poet ever reached the range and heights which we find in Tulsidas? You recognize that he is completely possessed by his subject and with a complete mastery of language and metre flows gloriously along his way, now the gentle ripple of a sylvan stream, now the stately sweep of a broad river, now the roar of a Niagara, now the mighty torrent rushes along sweeping everything before it His canvas is covered with great figures, the details are filled in with delicate tracery. The picture is rich in colour, here beauty and grace, there uproar and horror. My own feeling is that not only does Tulsidas take the foremost place in Hindi Literature but that he stands head and shoulders above all other writers.

I am not in a position to write much about Surdas, but my feeling is something like what Carlyle once observed about an English writer,—"Flow on thou shining river" The verses may be smooth and melodious but lack the *bite* and *nip* which are necessary to make works stand out as really great.

The writer has never been able to share the appreciation of Bihari Lal which so many Indians manifest He may be a magician with words but has so little matter that is worth while. He is a remarkably clever manipulator of words

but having said this you have said about all Literature demands more than dexterity in the handling and arrangement of words One is reminded of Sartor Resartus, you may admire the clothes but what about the man?

One of the hindrances to a fuller development of Hindi Literature in the past was the tendency for it to drift into grooves At certain times and certain places certain lines of composition prevailed, it might be bardic or erotic, or become largely concentrated on the rules of literary composition Sometimes it developed in rendering service to the Bhakti movement Frequently translations and adaptations from Sanskrit works rather than original productions enlisted the energies of writers

While verse practically monopolized the field it was inevitable that the bounds of literature should be restricted Until the days of Lalluji Lal prose was not even in its infancy, a prose book was simply a *sport* From his days, however, prose entered upon its career and its spread has greatly enlarged the field in many and outstanding ways Literature is no longer a mere accessory and adornment of life, it is a means of imparting and disseminating knowledge, a veritable part of life At the same time the instrument is not wholly subordinated to the ends for which it is used, it is very evident that beauty and power of language are not confined to poetry but play a distinctly important part in prose

Raja Shiva Prasad, Bharatendu Harischandra and Raja Lakshman Sinha are outstanding figures at a very important stage of the development and are largely accountable for it Pundit Mahabir Prasad Dvivedi also deserves very honourable mention Not only did he contribute many works to literature but as Editor of the Saraswati he exercised a wide influence on other writers and gave a helpful impulse to the cause of literature By the adoption of prose, Literature became capable of fulfilling its proper functions, not merely gratifying literary tastes but enlarging the domain of knowledge, developing the mind, and quickening many important impulses which make for a larger life

The question of style as affected by language cannot be enlarged on Two tendencies have had a long and severe struggle and it cannot be said that the conflict is absolutely over On the one side there was a desire to preserve the purity of Hindi, and the adoption of many Sanskrit words (in their tatsama or tadbhava form) On the other a readiness to accept many Urdu words Pundit Mahamahopadhyaya

Sudhakar Dvivedi took a brave stand during the discussion of this much vexed question. He advocated simplicity as the supreme end. Purism must go, it must be sacrificed to clearness of meaning for ordinary readers. Let the conveyance of the author's meaning be the dominant factor in the situation and the words selected which are most widely known and used regardless of their origin. Sanskrit words may be accepted but in limited measure and in their tadbhava forms; Urdu words and even English are not to be excluded but discriminately enlisted. The writer ventures to suggest that many modern authors would do wisely to follow these lines and not load their sentences with so many Sanskrit words which many of the ordinary readers do not understand.

Much has been done during recent years to settle many grammatical difficulties. It was necessary and is bearing fruit. The observance of the rules of Grammar, attention to Idiom and Syntax make for clearness and beauty. Slovenliness in these matters should be severely deprecated.

What is to be the future of *khari boli* verse? The demand for verses free from dialectical peculiarities seems reasonable but can the demand be met without sacrificing one of poetry's chief charms? It is perfectly evident that many specimens of *khari boli* verses that have been published have exhibited more loss than gain. It may be true that they have gained much in simplicity and clearness but what has happened to the music? Have not the poetry and melody suffered greatly? Without attempting to explain the reasons does not the fact stand out clearly that such verses are not to be compared for beauty with those of writers like Tulsidas and Surdas? *Khari boli* poetry is only in an experimental stage and its success is by no means assured.

The work of the Nagari Pracharini Sabha deserves special notice and in its history Babu Shyamsunderdas holds a foremost place. His zeal, his ability and untiring industry have been very pervasive. The scope of the Sabha's activities has been very wide. The publication of the Dictionary and Grammar, the collating and editing of many valuable Hindi works, the encouragement of authorship, the search for Hindi manuscripts, the Conferences and other enterprises have been highly important auxiliaries in the development of Hindi Literature.

Such presses as the Indian Press have greatly furthered the movement,

It would be invidious to omit any word of appreciation of men who have written so ably and fully on Hindi Literature The three volumes on the History of Hindi Literature by the three brothers, Pundits Ganesh, Shyama and Shukdeva Bihari Mishra is a book of great value and Shri Jagannath Prasad Sharma has given us a very useful work on the development of Hindi Prose Babu Shyamsundardas in his numerous writings, especially in *Bhasha Vigyan* and *Sahityālochan*, and Pandit Mahabir Prasad Dvivedi in his many writings and others have rendered invaluable service to the cause

The writer recognizes his limitations in writing on so large a subject, but he can claim a keen interest in it and associations with it extending over fifty years He lived for many years in Benares and was an active member of the Nagari Pracharini Sabha He enjoyed the acquaintance, and in some cases the friendship of leaders such as Babu Shyamsundardas, Pundit Ramnarayan Mishra, Pundit Mahamahopadhyaya Sudhakar, Pundit Shyambihari Mishra, Babu Radha Krishna Das, Shri Jagannath Das (Ratnakar), Lala Sita Ram and others There have been great changes during the last fifty years and very substantial progress. The scope has been extended and advances made in many directions Hindi Literature has an honourable past, is full of vitality to-day, and a future rich in promise and opportunity

May its course be one of patient endeavour and glorious success
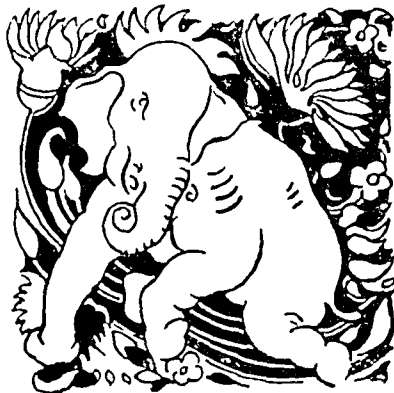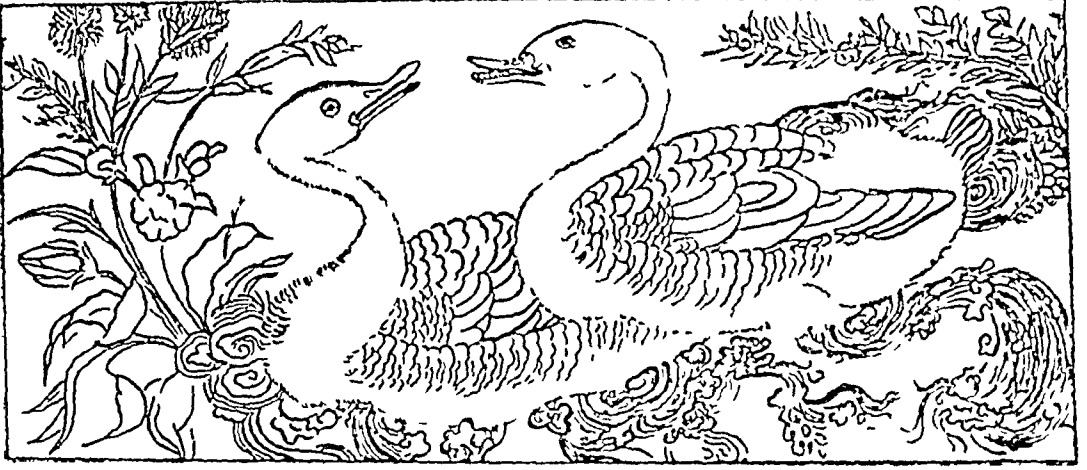
प्राचीन अरबी कविता

प्रोफेसर मुंशी महेशप्रसाद मौलवी आलिम फाजिल

अरब के लोग वर्त्तमान काल मे भी लूट-मार कुछ कम नही किया करते। प्राचीन काल मे तो वे लूट-खसूट और मार-काट के ऐसे प्रेमी थे कि उसके लिये कहा ही क्या जाय; पर उसी काल मे इस बात के साथ ही साथ जो वस्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उनसे सबध रखनेवाली थी, वह है उनकी कविता जिसकी बदौलत अरब का प्राचीन इतिहास बहुत-कुछ सुरक्षित है, क्योकि कविताओ के सिवा अन्य ऐसी सामग्री बहुत ही कम है जिससे प्राचीन अरब के इतिहास पर रोशनी पड सकती है। अन्य भाषाओ के जिन कवियो ने किसी युद्ध का वर्णन किया है उनमे बहुत ही कम ऐसे हुए हैं जिन्होने स्वय युद्ध मे वास्तविक भाग लिया है। पर अरबी भाषा मे ऐसे कवियों की सख्या बहुत ही ज्यादा है जिन्होने किसी युद्ध की जो चर्चा की है वह उनकी आप-बीती है। यही कारण है कि उनकी कविता मनुष्यो के जगल मे शेर की गूँज है।

अनेक इतिहासवेत्ता इस बात से सहमत हैं कि हजरत मुहम्मद के जन्म से पूर्व अरब मे 'उमर बिन हिंद' नाम का एक बड़ा बादशाह हुआ है। कहा जाता है कि एक दिन उसने अपने दरबारियो से पूछा—"क्या अरब मे अब कोई ऐसा है जो मेरा लोहा न मानता हो और जिसकी माता को मेरी माता की आज्ञा का पालन करना स्वीकार न हो?" उत्तर मिला—"केवल 'उमर बिन कलसूम' है जो तगलब-समुदाय का एक कवि है।" बादशाह ने कहा—"अच्छा, इस बात की परीक्षा की जाय।" कविवर उमर और उनकी माता आदर-पूर्वक निमत्रित होकर आए। उनका बड़ा स्वागत हुआ। कविवर दरबार मे रहे। उनकी माता और साथ की अन्य स्त्रियाँ महल मे पहुँचीं। इधर-उधर की बाते हो रही थीं। इतने मे बादशाह की माता ने कविवर की माता से, किसी वस्तु की ओर सकेत करके, कहा—"मुझे वह चीज उठाकर

दे दो।" कविवर की माता ने उत्तर दिया—"मनुष्य को अपना कार्य स्वय करना चाहिए।" ऐसा सुनकर भी बादशाह की माता ने फिर उस वस्तु को उठाकर देने के लिये कहा। इस पर कविवर की माता ने चीख मारकर कहा—"हाय! मेरे तगलब-समुदाय का अपमान!" कविवर की माता के ये शब्द गूँजते हुए दरबार तक पहुँचे। कविवर ने निश्चित रूप से समझ लिया कि मेरी माता के साथ अवश्य कोई अपमान-जनक व्यवहार हुआ है। ऐसा विश्वास हो जाने पर कविवर ने उसी दम बादशाह का सर उडा दिया, और स्वय बचकर निकल आए। इसके पश्चात् बडा घोर युद्ध हुआ, जिसका वर्णन कविवर ने बडे जोरो के साथ किया है। यहाँ उस कविता के कुछ पद्यो का अनुवाद दिया जाता है—"(१) ऐ हमारे सबोधित व्यक्ति अबू हिंद! तू जल्दी न कर और हमे अवकाश दे कि तुझे सच्ची घटना बतावे। (२) हम अपने नेजो को शत्रुओ की छाती मे उतारते हैं। वे नेजे उस समय सफेद होते हैं, पर जब वे लाल रग के हो जाते हैं तब हम उन्हे निकालते हैं। (३) जब हम अपनी चक्की किसी जाति की ओर ले जाते हैं तब वह जाति युद्ध के समय उस चक्की का आटा बन जाती है। (४) जब तक शत्रु हमसे दूर रहते हैं, हम नेजा मारते हैं। जब हम पर शत्रु आकर टूटते हैं तब हम तलवार चलाते हैं। (५) वीरो की खोपडियाँ युद्धस्थल मे ऐसी प्रतीत होती हैं मानो ऊँटो के बोझ कँकरीली भूमि मे गिरे हुए हैं। (६) हम शत्रुओं के सरो को तलवारो से चीरते हैं और गर्दनो को काटते हैं—यहाँ तक कि वे कट जाती हैं। (७) कोई हमारे साथ उजड्डपन न करे, क्योकि हम उजड्ड के साथ बहुत ज्यादा उजड्डपन करते हैं। (८) हमारा नेजा शत्रुओ ने पहले भी लचाया, पर वह लचा नही। (९) हम जिसको चाहते हैं, रोक देते हैं और जहाँ चाहते हैं, डेरा डाल देते हैं।"

कविवर की जिस कविता के ये पद्य हैं, वह पूरी कविता अरब मे एक उत्तम कविता मानी गई थी। उसको सुनहरे अक्षरो मे लिखकर मक्का मे काबा (मदिर) की दीवार पर लटकाया गया था। बहुत-से लोगों ने तो उसे जबानी याद कर लिया था। पर कविवर के समुदाय के लोग तो उसे बहुत दिनो तक विशेष रूप से याद करते और गौरव के साथ अनेक अवसरो पर पढ़ते रहे।

अरब का सुप्रसिद्ध कवि 'अतर:' दासी-पुत्र था, पर उसका पिता और स्वामी बडा कुलीन था—वह 'अतर:' को पहले अपना पुत्र कहते लजाता था। एक बार जब 'अंतर.' ने अपने बुद्धि और बल का विशेष परिचय दिया तब पिता ने बहुत स्नेह प्रकट किया। बात यह हुई कि अरब के कई समुदायो ने मिलकर 'अबस'-समुदायवालो पर आक्रमण किया, जिसमे 'अतर.' का पिता भी था। आक्रमण करनेवालों ने अबसियो मे से बहुतो को खूब मारा-पीटा और उनके ऊँट लूट ले चले। इस पर अबसियो ने कुछ तैयारी करके आक्रमण करनेवालो का पीछा किया और मार्ग मे उनको जा पकडा। 'अंतर:' भी अपने पिता के सग पीछा करनेवालों के साथ ही गया था। लडाई के अवसर पर पिता ने 'अंतर' से कहा—"अतर:, खूब लड।" पुत्र ने उत्तर दिया—"दास को लडाई-भिडाई से क्या मतलब? मै तो दास हूँ, पशुओ को चराना और उनका दूध दुहना मेरा धर्म है।" बाप ने कहा—"तू अब दास न रहा। मै तुझे स्वतत्र करता हूँ।" यह सुनते ही 'अंतर:' ने ऐसे शौर्य का परिचय दिया कि अबसी भी दग रह गए और आक्रमण करनेवाले भी लूट का माल छोड जान बचाकर भागे। 'अंतर:' के इस प्रशसनीय कार्य

से अबस-समुदायवालों की जब जीत हुई तब बाप की प्रसन्नता का कुछ ठिकाना ही न रहा। उसके हृदय मे अपने शूर-वीर दासी-पुत्र के लिये इतना स्थान हो गया कि उसने 'अतर:' को अपनी सारी संपत्ति का उत्तराधिकारी बना दिया।

इस घटना के पश्चात् भी 'अंतर:' ने अपने बुद्धि और पराक्रम का अपूर्व परिचय दिया। अरब मे घुड़दौड़ की एक लडाई चालीस वर्षों तक चली थी। उसमे भी 'अतर:' ने अक्षय्य कीर्त्ति प्राप्त की थी। इस युद्धप्रिय कवि ने क्या खूब कहा है—"(१) मैं खूब तेज तलवार से मार-काट करने को बहुत पसद करता हूँ और सर फोड देनेवाले नेजो को हृदय से चाहता हूँ। (२) जिस समय मेरे सर पर आपदाओ के बाण बरस रहे हो उस समय यदि मान-मर्यादा के साथ मरना पड़े तो मेरा हृदय मृत्यु के प्यालो को ही प्रसन्नता-पूर्वक पीना पसद करेगा। (३) जब नेजे आपस मे टकराते हैं तब सेनाओ की मुठभेड और योद्धाओ को मृत्यु की ओर हाँकना मुझे बहुत ही भाता है। (४) घोडों की टापों से जो धूल रात्रि के समान आकाश-मडल मे छा जाती है, जिसके अंधकार मे लोगो के सर उडे फिरते हैं[1]—यहाँ तक कि जगमगाते तारों के समान टूटे पडते हैं, और जिसमे उज्ज्वल तलवारे घनघोर काली घटा मे बिजली के समान चमकती हैं, उस धूल की छत्रच्छाया-तले तलवार चलाना और नेजाबाजी करना मुझे अति प्रिय है। (५) तेरे जान की सौगंद! श्रेष्ठता, बड़प्पन, आदरणीय स्थान, कामनाओ की पूर्त्ति और उच्च पदो की प्राप्ति उस व्यक्ति के निमित्त हैं जो तलवारो की खटाखटी के समय शूर-सामतों से हार्दिक धैर्य के साथ मुठभेड करता है और जो तलवार की धार से ऊँचे आकाश पर तारो से भी ऊपर स्थायी श्रेष्ठता की नीव डालता है। (६) जिस समय गंदुमी रग के नेजे और तेज तलवारे परस्पर गुत्थमगुत्था हो उस समय जो मनुष्य अपने नेजे को शत्रुओ के रक्त से नहीं सीचता—खत्ती[2] नेजे को यथोचित प्रयोग मे नही लाता—तलवार की धार से गर्दन को नहीं उड़ाता, वह अपमानयुक्त निकृष्ट अवस्था मे जीवन व्यतीत करेगा और यदि मरेगा तो कोई रोनेवाली स्त्री उसके निमित्त आँसू न बहाएगी। (७) साहस के ये गुण किसी नीच के हिस्से मे नहीं आते, और विद्वत्ता के रहस्य किसी जड के समुख प्रकट नहीं किए जाते। (८) जिस समय सेनाओं की धूल के सिवा कोई और सूरमा आँखो के लिये पर्याप्त न था, उस समय भी मैं इन्हीं गुणों के सहारे प्रत्येक आपत्ति मे सफल रहा। यह सभव है कि आकाश की बिजली चमके, पर वर्षा न हो, किंतु यह नहीं हो सकता कि मेरी तलवार की बिजली चमके और खून न बरसावे।"

अब 'अंतर:' की उस सुप्रसिद्ध कविता के कुछ पद्यो का अनुवाद नीचे दिया जाता हे, जो अपनी उत्तमता के कारण मक्का मे काबा (मदिर) की दीवार पर सुनहरे अक्षरो मे लिखकर लटकाई गई थी। पूरी कविता मे कई बाते हैं, पर यहाँ केवल शौर्य और शत्रु-वध से सबध रखनेवाली बाते ही दी जा रही

१. लड़नेवाले वीर सर पर 'खोद' (लोहे की सफेद टोपी) पहने रहते थे, इस कारण सर अवश्य ही पृथ्वी पर टूटकर गिरते हुए तारो के समान प्रतीत होगे।

२. 'खत्ती' का संकेत अरब के 'खत्त' नगर की ओर है, जहाँ के नेजे बहुत अच्छे होते थे।

हैं—"मैने अनेक ऐसे बाँके-तिरछे जवानो को मार गिराया है जिनकी स्त्रियाँ अति सौंदर्य [1] के कारण बनाव-सिंगार की आवश्यकता नही रखती थी। ऐसे रण-बाँकुरे जब मेरे भाले से घायल होकर गिरे तब उनके शरीर से रक्त निकलने की ध्वनि वैसी हो थी जैसी होठ कटे हुए व्यक्ति के साँस लेने से पैदा होती है।"

लडाई की कई किस्मे हैं। बाण-विद्या की लडाई दूर से हुआ करती है। इसलिये कम से कम अरबो की दृष्टि मे यह लडाई अधिक महत्त्व की नही मानी गई, बल्कि घोडे पर चढकर नेजे और तलवार से लडना अधिक महत्त्व का युद्ध माना गया, क्योकि इसमे शत्रुओ के आगे अथवा निकट होकर लडना पडता है—चोट खाने या मरने का अधिक भय हुआ करता है। अस्तु, एक कवि कहता है—"लोग युद्ध मे सबसे आगे रहा करते है और भयभीत स्थान मे अपने पग को 'यमन' की बनी हुई दुधारी तलवार से मिलाते हैं—अर्थात् जहाँ यमन की बनी हुई दुधारी तलवारो से मार-काट हो रही हो वहाँ भी उन्हे भय नही होता।" इसी प्रकार एक अन्य कवि का कथन है—"(१) जब हमारे शत्रु ओले बरसानेवाले बादलो के समान आए तो हम भी बाढ़ के समान चल निकले, और हम दोनो अपना-अपना बदोबस्त करते थे [2]। (२) उन्होने जब हमे देखा तब अपने सहायकों को पुकारा और हमने अपने सहायको को नेजा और तलवार ठीक करने के लिये कहा। (३) जब हम कुछ निकट पहुँचे तब अपने ऊँट बैठा दिए और बाण चलाने लगे। (४) जब हमारे पास धनुष और बाण बाकी न रहे तब हम अपने शत्रुओ की ओर बढे और वे हमारी ओर बढ़े। (५) अंत मे वे लोग टूटे हुए नेजे लेकर लौटे और हम ऐसी तलवारे लेकर लौटे जो गोठिल हो गई थीं। (६) उन लोगो ने 'सईद' नामक स्थान मे प्यासे रहकर रात बिताई और हम घायलो के कारण वही (युद्धस्थल मे) पडे रहे।" यहाँ नेजा के टूटने अथवा तलवार के गोठिल हो जाने से घोर युद्ध की ओर सकेत है। फिर एक और कवि ने भी कहा है—"हमारी तलवारो के विषय मे यह बात समस्त पूर्व और पश्चिम मे विख्यात है कि कवचधारी रणधीरो पर चलने के कारण वे गोठिल हो गई हैं।" अरब लोग किस प्रकार युद्ध मे मरना अच्छा समझते थे और अपने मृतक का बदला लेना क्योंकर प्रशसनीय कार्य समझते थे, इन बातो का अदाजा बहुत-कुछ निम्नलिखित भावो से हो सकता है—"(१) हमारा कोई सरदार बिछौने पर पडा हुआ नहीं मरता, और हमारा कोई मनुष्य ऐसा नही है जो मारा गया हो और हमने उसका बदला न लिया हो। (२) हमारा रक्त तलवारो की धार पर बहता है, तलवारो की धारो को छोडकर अन्यत्र कही नही।"

'साबित बिन जाबिर' नामक सुप्रसिद्ध अरबी कवि प्राय' 'ताबत शर' के नाम से विख्यात है। उसको शत्रुओ ने मार डाला। इस पर उसके भानजे ने शत्रुओ से बदला चुकाने की शपथ ली। इस्लाम धर्म के जन्म से पहले अरब लोग खूब मदिरा [3] पिया करते थे। निदान ऐसा प्रतीत

१ अरब के कुलीन लोग बडे सुदर होते है, अत सौंदर्य से कुलीनता का परिचय मिलता है।

२ अरबी कविता मे शत्रु को कही बोदा, कमजोर या हीन दशावाला कदापि नही दिखाया गया, क्योंकि यदि कोई इस प्रकार के शत्रु से युद्ध करके विजयी हुआ तो क्या हुआ!

३. मदिरा की प्रशंसा मे बहुत-से अरबी पद्य मिलते है।

होता है कि कविवर के भानजे ने मदिरा-पान न करने की शपथ ली थी। इसी कारण उसने प्रतिशोध के विषय मे जो कुछ कहा है उसमे मदिरा की चर्चा पहले है। देखिए—"(१) शपथ के कारण मेरे लिये मदिरा-पान वर्जित हो गया था। वह अब अवर्जित हो गया है। वास्तव मे वहुत दिनों के वाद मदिरा अब अवर्जित रूप मे मेरे निकट आई है। (२) हे उमर के पुत्र स्वाद ! तू मुझे मदिरा पिला, क्योंकि मेरा शरीर मेरे मामा के पश्चात् दुर्वल हो गया है। (३) मेरे शत्रु 'हजैल' के मृतों पर 'विज्जू' हँसता है और तू वहाँ पर भेडियो को शोर मचाते हुए देखेगा। (४) मुरदार खानेवाले पक्षी प्रातःकाल ही इतना भोजन कर लेते हैं कि वे उनकी (मेरे मारे हुए शत्रुओ की) लाशो के चारो ओर पग से ही फिरते है, उड नही सकते।" अरब मे अपने सैन्य के एक मृतक के वदले मे शत्रु-दल के वहुत-से आदमियों को मारना अत्युत्तम समझा जाता था, पर मृतक के घर-घरानेवालो अथवा सबधियों को कुछ देकर संतुष्ट कर देना भी गौरव की वात मानी जाती थी। इससे घातक-समुदाय को अपूर्व शक्ति का लोहा माना जाता था। एक कवि ने कहा है—"हमारे सर सफेद हैं, हमारी नसों मे वरावर जोश रहता है, और हम उन घावो का इलाज स्वय अपनी सपत्ति से किया करते हैं, जो हमारे हाथो की वदौलत हुआ करते है।" आवश्यकता पड़ने पर अत्याचार से पीडित लोगो की सहायता भी अरव लोगो मे वीरता या गौरव की वात समझी जाती थी। एक ऐसे ही उदार समुदाय की प्रशंसा मे एक कवि ने कहा है—"जब उनसे सहायता माँगी जाती है तव वे बुलानेवाले से कभी यह नही पूछा करते कि किस युद्ध अथवा स्थान के लिये वे वुलाए जा रहे है—अर्थात् वे तुरत सहायक होते है।"

मनुष्य के हृदय पर जो चीजे अधिक प्रभाव डालनेवाली हुआ करती हैं, उन्हीं मे शोकात्मक बाते भी हैं। निदान करुण रस की अरवी कविताएँ भी कुछ कम प्रभावशालिनी नही हैं। 'मुहल्हल' नामी कवि ने—जिसको अरबी-साहित्य मे वही पद प्राप्त है जो सस्कृत मे आदिकवि वाल्मीकि को है—अपने भाई 'कुलैब' के शोक मे कहा है, जिसे शत्रुओं ने मारा था—"(१) ऐ मेरे भाई कुलैव ! मुझे समाचार मिला कि तेरी मृत्यु के पश्चात् वह (युद्ध की) अग्नि प्रज्वलित की गई और तेरे वाद सभा मे वाद-विवाद भी हुआ। (२) प्रत्येक वड़े मामले मे लोगों ने वार्त्तालाप किया। यदि तू उपस्थित होता तो लोग कदापि न बोल सकते। (३) यदि तू चाहे तो उन स्त्रियो को देख सकता है जो शोक का वस्त्र धारण किए हुई हैं और सर खोले हुए तेरे शोक मे छाती और मुँह पीट रही हैं। (४) प्रत्येक रोनेवाली तुझ पर रोती है। कुलीन स्त्रियाँ जो तेरे शोक मे रो रही है, मै उनको रोक नही सकता, मजबूर हूँ।"

करुणामयी बातो के लिये स्त्रियो का हृदय कैसा वना है, कहने की आवश्यकता नही। यही कारण है कि स्त्रियों के कहे हुए शोकोद्गारपूर्ण पद्य बडे मर्मस्पर्शी हैं। स्त्री-मडल के कविता-क्षेत्र मे सबसे अधिक प्रसिद्धि 'तुमाजिर' नामक स्त्री की है, जो प्रायः 'खन्सा' के नाम से विख्यात है। यह प्राचीन काल की कवयित्रियो मे सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसकी कविताओं का एक सग्रह छप चुका है। अनेक लोगो ने इसकी कवित्व-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशसा की है। निदान इसने अपने दोनों भाइयो—'माविया' और 'सखर'—की स्मृति मे बड़े ही भावपूर्ण शोकसूचक पद्य कहे हैं। दो-चार देखिए—(१) "मै प्रति दिन सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय अपने भाई 'सखर' का स्मरण करके रोती हूँ। (२) यदि मेरे साथ

और भी स्त्रियाँ विलाप करनेवाली न होती तो निस्सदेह मैं अपने-आपको मार डाले होती।" एक अन्य शोक-सूचक पद्य मे उसी ने इस प्रकार कहा है—"(१) ऐ मेरे भाई सखर! मै अब तेरे लिये रोती हूँ। वास्तव मे तेरे कारण मुझे बहुत दिनो तक आराम मिल चुका है। (२) केवल मैं ही नही रोती, बल्कि कुटुंब की अन्य स्त्रियाँ भी रोती हैं, पर जो दु:ख मुझ पर पडा है वह किसी अन्य पर नही। (३) जब तू जीवित था तब तेरी बदौलत मैंने बहुत-सी बडी-बडी आपत्तियाँ दूर की थी, अब भला तेरे बिना असह्य आपत्तियो को कौन दूर करेगा। (४) किसी समाज में जब कि शोक-विलाप बुरा समझा जाय, तब भी—उस दशा मे भी—तेरे लिये रोना-धोना मै अच्छा ही समझती हूँ।"

'साबित बिन जाबिर'—अर्थात् कविवर 'ताबत शर'—का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वह लूट-मार के विचार से बाहर गया था, पर शत्रुओ के हाथ से मारा गया। वह लौटकर घर न आ सका। उसकी माता के विलाप-कलाप इस भाव को दरसाते हैं। देखिए कुछ पद्यो का आशय—"(१) वह (मेरा पुत्र) इस विचार से बाहर गया था कि लूट-मारकर कुछ लाए, पर वह स्वय मृत्यु का आखेट हो गया। (२) मैं नही जानती कि उसको किसने मृत्यु का आखेट बनाया! क्या ही अच्छा होता यदि मुझे यह बात ठीक-ठीक ज्ञात हो जाती। (३) ऐ मेरे पुत्र! क्या तू बीमार पड गया है? अथवा किसी के हथकडे मे फँस गया है? (४) मनुष्य चाहे जहाँ जाय, मृत्यु सदा उसकी घात मे लगी रहती है। (५) कोई ऐसा गुण नही जो मेरे पुत्र मे न रहा हो। (६) निस्सदेह कोई भीषण आपत्ति-जनक बात है जिसने तुझको रोक रक्खा है और तू मेरी बात का उत्तर तक नहीं देता। (७) अब मै धैर्य ही धारण करूँगी, क्योंकि तू मेरे प्रश्नो का उत्तर भी नही दे रहा है।"

यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि प्राचीन-कालीन अरब मे शिक्षा-प्रचार नही था। फिर भी वहाँ के लोगो मे दैवी कवित्व-शक्ति थी। इसी कारण पुरुषो के सिवा अनेक स्त्रियाँ भी कवि हुई हैं। उन स्त्री-कवियो की कविताएँ केवल करुण-रसात्मक ही नहीं, बल्कि अन्य काव्य-रसो से भी युक्त हैं। इतिहासकार इस बात से सहमत हैं कि अरबी भाषा के कवि-सम्राट् 'इमरूल कैस' और अन्य कवियो के बीच मे एक कविता-सबधी वाद-विवाद हुआ था, जिसे एक स्त्री ने ही बडी योग्यता के साथ निपटाया था। इतना ही नही, प्राचीन अरब मे आत्म-समान, कुलीनता, क्रियात्मक जीवन और कार्य-कुशलता आदि बातो का बडा उच्च स्थान था। इसी लिये उनकी अनेक कविताओ मे इस प्रकार की बातो की झलक है। जिन लोगो मे कोई प्रशसनीय गुण नही होता उनकी प्रशसा करना अधिकाश कवि अपना कर्त्तव्य न समझते थे—चाहे वह शक्तिशाली या धनवान् व्यक्ति ही क्यों न हो। एक बार अरब के एक बादशाह ने किसी कवि से कहा कि तुम मेरी प्रशसा मे पद्य कहो। इस पर कवि ने उत्तर दिया कि पहले कुछ करके दिखाओ तो मैं कहूँ। इन बातो से ऐसा प्रतीत होता है कि यह गुण अनेक अरबी कवियो में, प्राचीन काल के बाद भी, बहुत दिनो तक रहा। मुसलमानो के समय मे 'फरजदक' नामी एक कवि हुआ है। अब्दुल मलिक के पुत्र सुलेमान बादशाह ने उक्त कवि से कुछ प्रशसात्मक पद्य पढ़ने के लिये कहा। स्वाधीनचेता कवि ने सुलेमान के बदले अपने कुटुबियो की प्रशसा मे पद्य पढ़ दिए!

हजरत मुहम्मद साहब सन् ५७० ई० मे पैदा हुए थे। सन् ६२० ई० मे इस्लाम धर्म का प्रकाश उदित हुआ था। सन् ६२० ई० से पहले का समय अरबी मे 'अय्याम जाहिलियत'—अर्थात् 'अज्ञानता का युग'--माना जाता है। ऊपर जो कुछ बाते कविता-सबधी कही गई हैं, सब उसी 'अज्ञान-युग' की हैं। पर बडे महत्त्व की बात यह है कि उस 'अज्ञान-युग' की कविताओ मे भी ज्ञान-युक्त बातों की कुछ मात्रा पाई जाती है। उसी काल के 'मुतलम्मिस' नामक कवि ने क्या खूब कहा है—"क्या तू नहीं देखता कि मनुष्य वास्तव मे मृत्यु के हाथ गिरवी रक्खा गया है! मनुष्य वास्तव मे मुरदार खानेवाले पक्षियों के निमित्त है अथवा कुछ काल के बाद कब्र मे गाडे जाने के लिये।" इसी तरह 'मुतलम्मिस' के समकालीन 'तुरफा' नामक एक महाकवि ने बडे महत्त्व की बाते कही हैं—"(१) जिस मनुष्य ने अपने-आपको वास्तविक सुख पहुँचाया है वह यदि कल मरेगा तो आनद के साथ ही मरेगा। (२) जिसने समस्त सुख-साधन के होते हुए भी दरिद्रता और कजूसी से काम लिया है, वह मृत्यु के समय तृष्णा और दुःख से ग्रस्त होकर मरेगा।" पुनः 'जुहैर बिन अबी सलमा' नामक कवि ने भी अच्छा कहा है— "युवा (पुरुष) का आधा अंग तो उसकी जिह्वा है और आधा अंग उसका दिल है। इन दोनों के सिवा जो कुछ है वह मांस और रक्त है।"

प्राचीन अरबी कविता मे बनावट नहीं है। वह सीधी-सादी है, क्योकि कवियो ने जो कुछ जैसा देखा उसको वैसा ही चित्रित किया है। इस कारण अरबी कविता मे नाना प्रकार की अनोखी उपमाएँ या रूपक आदि नही हैं। अत: प्राचीन अरबी कविता विलक्षण अलकारो से शून्य है। एक कवि ने कहा है—"(१) जब हमने शत्रुओ पर भाले मारे तब उनके शरीर से वैसे ही रक्त बहा जैसे भरी हुई मशक के मुँह खोल देने से पानी बह निकलता है। (२) तू उसके आँगन मे सफेद हरिनियो की मीगनियों को गोल-मिर्च के दानों के समान देखेगा। (३) हम मेघ के जल के समान शुद्ध हैं, हमारे कुटुब मे कोई दोष नही है और न हममे कोई कजूस ही है।"

प्राचीन अरब-निवासी पूर्ण स्वतंत्र थे। जल के अभाव से वे एक ही स्थान पर बहुत दिनों तक नही रह सकते थे। अपनी जीविका के लिये उन्हे लूट-मार की आवश्यकता पडती थी। इसके लिये, अथवा अपने बचाव के लिये, उन्हे परिश्रमी भी बनना पड़ता था। उनका जीवन बडा सादा था। उनकी कविताओ से जहाँ उनकी अपूर्व कवित्व-शक्ति का पता चलता है, वहाँ उनके आचार-विचार और घरेलू जीवन आदि का साक्षात् परिचय भी मिल जाता है। इसी कारण प्राचीन अरबी पद्य, जो हजारों और लाखों की सख्या मे हैं, 'अरब का दफ़्तर' कहे गए हैं।

मराठा वीर बाजी प्रभु

चित्रकार—श्री० प्रमोदकुमार चट्टोपाध्याय

(चित्रकार के सौजन्य से)
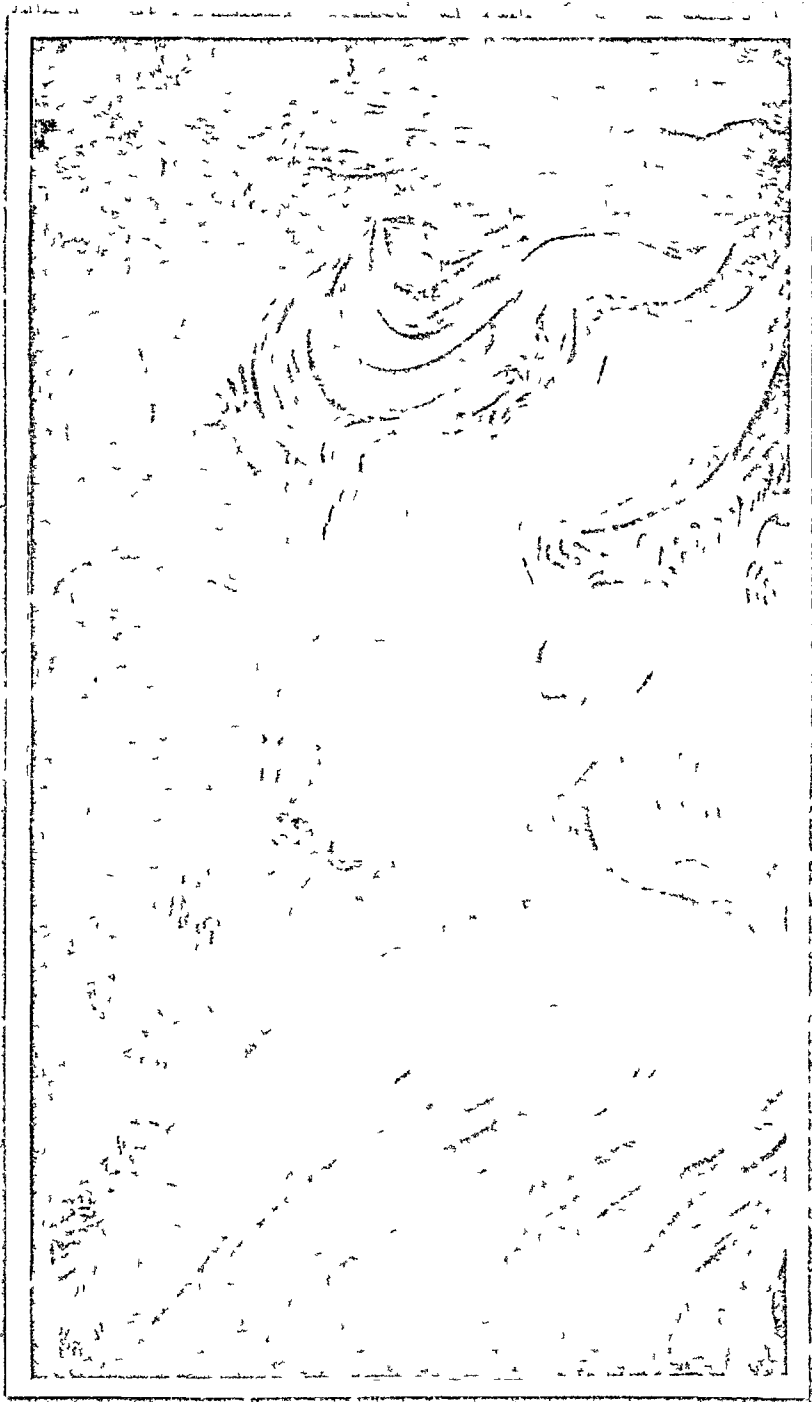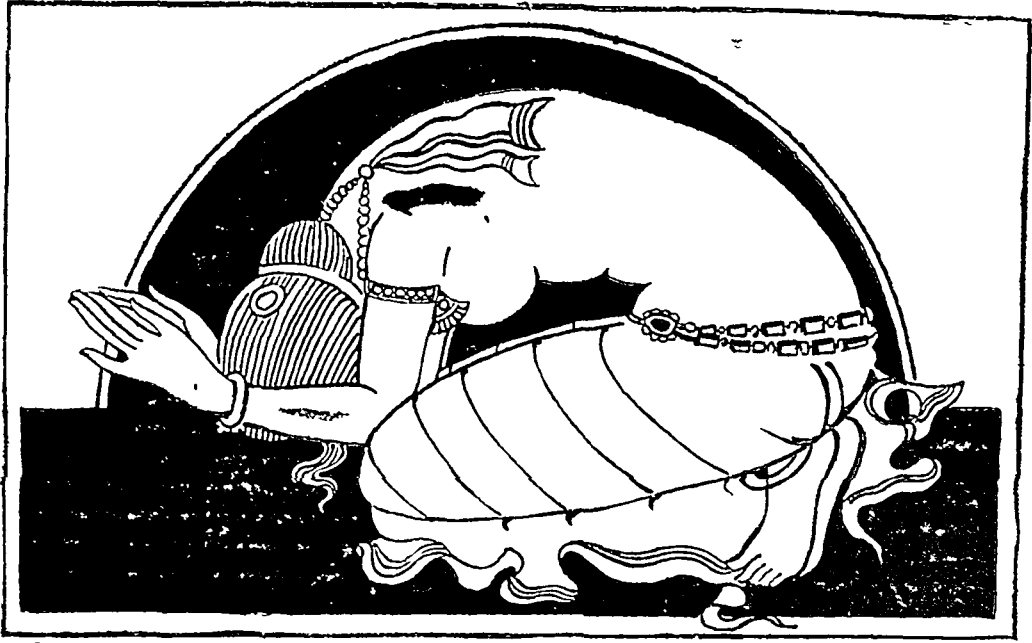
गुरुता से लघुता की ओर

१

घन के प्रथम स्नेह-कण से जो पाता है अभिनव अभिषेक,
पर, जीवन से जिसे पृथक् कर देता वैभव का अविवेक,
जिसे अरुण की प्रथम किरण से मिलता है पहला आलोक,
पर, जग का सुख, दुख अनुभव कर जिसे न होता हर्ष, न शोक,
हम न बने वह गर्वोन्नत गिरि,
हम न विजन मे बने महान्।

सध्या को गृहिणी की आशा जिस पर पलक बिछाती है,
प्रात:काल सरल श्रमिकों की टोली गाती जाती है,
हास, अश्रु पथिको के जिसको अस्थिर रखते हैं दिन-रात,
उस पथ मे घुल-मिल जो जीवन काट दिया करता अज्ञात,
चलो बने हम वह लघु रज-कण,
सुख, दुख से कर ले पहचान।

२

चपल तरंगों का कोलाहल जिसकी महिमा गाता है,
पर, न मधुर जल का कण जिससे कभी तृषित जग पाता है,
चद्र-किरण के चुबन पर जो हो उठता आनद-विभोर,
पर, जग के सुख, दुख पर जिसके उर मे उठती नहीं हिलोर,
हम न बने 'अपने ही मे रत',
मुखरित, वह विस्तृत सागर।

चिंतित कृपक, तृपित चातक, जब, वचित मीन, भग्न-उर मोर,
जग के अगणित नयन ताकते अपलक सूने नभ की ओर,
अंबर से, हो द्रवित, उमडता सदय सजल जो श्यामल घन,
उसको जो चुपचाप सौपता अपना नन्हा-सा जीवन,
वह नीरव लघु विदु वने हम,
हों जग-हित पर न्योछावर।

३

घन-गर्जन जिसकी जय-ध्वनि है, है साम्राज्य अखिल अंवर,
भय, आतक और विस्मय से स्वागत होता है घर-घर,
छिप जाती आकर्षित जग का पल-भर जो करके उपहास,
जिसे न जग अनुभव कर पाता, 'अपनी' कहकर, अपने पास,
हम न वने वह अस्थिर विद्युत्,
हृदयहीन सुख की मुसकान।

पल-पल तिल-तिल जल-जल भरता कुटिया मे जो मधुर प्रकाश,
जलन छिपी जिसके अंतर् मे, अधरो पर अक्षय मृदु हास,
जिसे देख भूले-भटको को मिल जाता पथ का संधान,
बलिदानों का ध्यान न जिसको, मूक त्याग का जिसे न भान,
चलो वने हम वह लघु दीपक,
'कुटिया मे सीमित', अनजान।

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद'
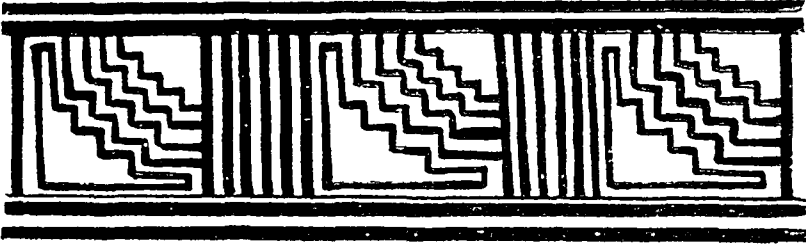
जावा के प्राचीन संस्कृत-शिलालेख

श्री बहादुरचंद्र शास्त्री, हिंदी-प्रभाकर, एम० ए०, डी० लिट्०

भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और सस्कृति का प्रभाव देशांतरो और द्वीपातरों में किस तरह फैला, यह आज-कल इतिहास-प्रिय विद्वानो का एक रोचक विषय है। इसी प्रभाव की एक धारा पूर्व की ओर बही और जावा, सुमात्रा, वाल आदि द्वीप-समूह मे जा फैली, और वह, जैसा कि वहाँ के लोगों के आचार-व्यवहार और रीति-रवाज से स्पष्ट है, आज-कल भी किसी न किसी—घटे-बढ़े या अदले-बदले—रूप मे प्रचलित है। इसका शृखलाबद्ध इतिहास खोजना एक कर्त्तव्य है जिसकी पूर्त्ति के लिये भारत के विद्वान् थोडी सख्या मे और योरप के विद्वान् अधिक सख्या मे तत्पर हैं। हाँ, यह सच है कि भारत के विद्वानो का ध्यान यदि इस ओर एक बार विशेष रूप से आकृष्ट हुआ तो सभी ग्रथियाँ आप से आप खुल जाएँगी और विदेशी विद्वानो की मेहनत बच जायगी।

जैसे भारत अँगरेजो के अधीन है, वैसे ही जावा डच लोगो के। भारत के इतिहास-सबधी ग्रंथ प्राय अँगरेजी भाषा मे मिलते हैं, वैसे ही जावा के डच भाषा मे। भारत और जावा आदि द्वीपों मे सभ्यता और सस्कृति के विषय मे जो घनिष्ठ सबध है उसकी दृष्टि से दोनो के इतिहास की तुलनात्मक खोज होनी चाहिए। जावा आदि द्वीपो से कई ऐसी बातो का पता चलता है जो भारत के इतिहास पर विशेष प्रकाश डालती हैं, और भारत मे जावा के इतिहास के निर्माण के लिये बहुत-सी सामग्री ऐसी है जिसका उपयोग अभी तक नही किया गया। इस तुलनात्मक खोज के क्षेत्र मे कर्न (Kern), ब्राडस (Brandes), फोखल (Vogel) आदि डच विद्वानो के उद्योग प्रशसनीय हैं। किंतु अपेक्षा-बुद्धि से अभी बहुत-सा क्षेत्र अक्षुण्ण ही पडा है। टूटे-फूटे मदिर, विहार, चैत्य, साहित्य मे विविध उल्लेख, विदेशी यात्रियो की नोट-बुके इत्यादि प्रचुर सामग्री है जिससे आज-कल भारत एव विशाल भारत का इतिहास-निर्माण हो रहा है। ऐसी हालत मे शिलालेखो की कीमत और कदर कितनी ऊँची है, यह किसी से छिपा नहीं। शिलालेख इतिहास के प्रौढतम प्रमाण और जीवित साक्षी हैं। विशेषकर भारत और विशाल भारत के इतिहास के विषय मे तो वे अँधेरे मे देदीप्यमान किरणे हैं। प्रस्तुत लेख मे जावा-द्वीप से प्राप्त सात सस्कृत-लेखों का वर्णन किया गया है। ये वहाँ के आज तक के उपलब्ध लेखो मे प्राचीनतम गिने जाते हैं।

इतिहास की दृष्टि से ये कितने महत्त्व के हैं, यह पढ़ते ही पता लग जाएगा। इस लेख का उद्देश्य भारत के विद्वानों का ध्यान विशाल भारत के इतिहास की ओर आकृष्ट करना और इस विषय मे उनकी रुचि पैदा करना है, इस कारण से शिलालेखो के वर्णन में लबी-चौडी नुक्ताचीनी नहीं की गई, न आज तक उन पर दी हुई विद्वानों की विविध सम्मतियों पर समालोचना की गई है। जिज्ञासुओं के लिये अंत में मुख्य-मुख्य आर्टिकलों (Articles) की सूची भी दी गई है।

पहले चार—'चि-अरुतन्, जबु, कबोन् कोपि और तुगु'वाले—लेख 'पूर्णवर्मा' से सबध रखते हैं। इनमे सवत् आदि न होने से इसके काल का निर्णय न हो सका। हाँ, लेखों की लिपि के प्रकार से—ग्रंथ-लिपि से—अनुमान किया जाता है कि पाँचवी शताब्दी के होगे। पूर्णवर्मा की वंशावली भी नही दी गई, किंतु नाम वर्मांत होने से दक्षिणी भारत का मालूम होता है। लेखों के साथ जो पूर्णवर्मा के पद-चिह्न भी अकित हैं और एक लेख के साथ उसके हाथी के पैर चिह्नित हैं, इनका क्या अभिप्राय और प्रयोजन था, सो अभी तक पता नही लगा। और भी कई प्रश्न खुले पडे हैं, जिनका जिक्र प्रसगवश किया गया है। पाँचवाँ लेख 'चगल' से है। इसके सबध मे भी आगे लिखा जायगा। यह, और आगे के दोनों लेख भी, सवत् तिथि आदि से युक्त हैं। छठा लेख 'दिनय' और सातवाँ 'कलस्सन्' से है। इनका भी वर्णन यथास्थान किया जायगा। चि-अरुतन्, जबु, कबोन् कोपि और तुगु—ये चारों स्थान पश्चिम जावा मे, चगल और कलस्सन् मध्य जावा मे और दिनय पूर्व जावा मे है।

यह लेख कई डच विद्वानों के लेखों से सगृहीत किया गया है। इसलिये मै उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। मेरे अध्यापक, और 'लयिदन्'-विश्वविद्यालय के सस्कृत एव भारतीय पुरातत्त्वेतिहास के प्रोफेसर, डॉक्टर फोखल (Dr. Vogel) का, और नेदरलाँद पुरातत्त्व-विभाग के प्रधान (Director) डॉक्टर बॅास (Dr Bosch) का नाम यहाँ विशेष उल्लेखनीय है। इन्ही के लेखो से मैने बहुत-सी सामग्री ली है।

१—चि-अरुतन् का शिलालेख [The Ci-aruton Rock-Inscription]

जिस पत्थर पर यह लेख खुदा हुआ है, वह चि-अरुतन् नामी नाले के मध्य मे पडा था। बरसात मे बाढ़ आने से लेख को क्षति न पहुँचे, इस दृष्टि से अब यह भारी पत्थर ज्यो-त्यो करके किनारे तक लाया गया है। वह स्थान, जहाँ यह पत्थर पड़ा है, 'चपेय' (Tjampea) नामक रियासत के अंतर्गत है और समीपवर्त्ती गाँव का नाम 'कपङ् ग्रदक्' (Kampong Gradak) है। लेख मे विष्णु का उल्लेख होने से प्लेय्यट महोदय (Mr. Pleyte) ने यह तात्पर्य निकाला था कि पूर्णवर्मा के राज्य मे वैष्णव धर्म का प्राधान्य था और पूर्णवर्मा स्वय विष्णु का अवतार समझा जाता था। पर प्रोफेसर कर्न (Kern) ने इसका निराकरण किया है और स्वय एक मार्मिक नुक्ता यह निकाला है कि इस लेख के सर्वप्रथम अर्थात् 'विक्रांत' शब्द से विष्णु के त्रिविक्रम अर्थात् वामन-अवतार का स्मरण होता है, और फलतः श्लोक-गत उपमा इस बात को व्यक्त करती है कि पूर्णवर्मा के चरण ऐसे पूज्य हैं जैसे वामन-अवतार के, जिसने

चि-ग्ररुतन् का शिलालेख (१)
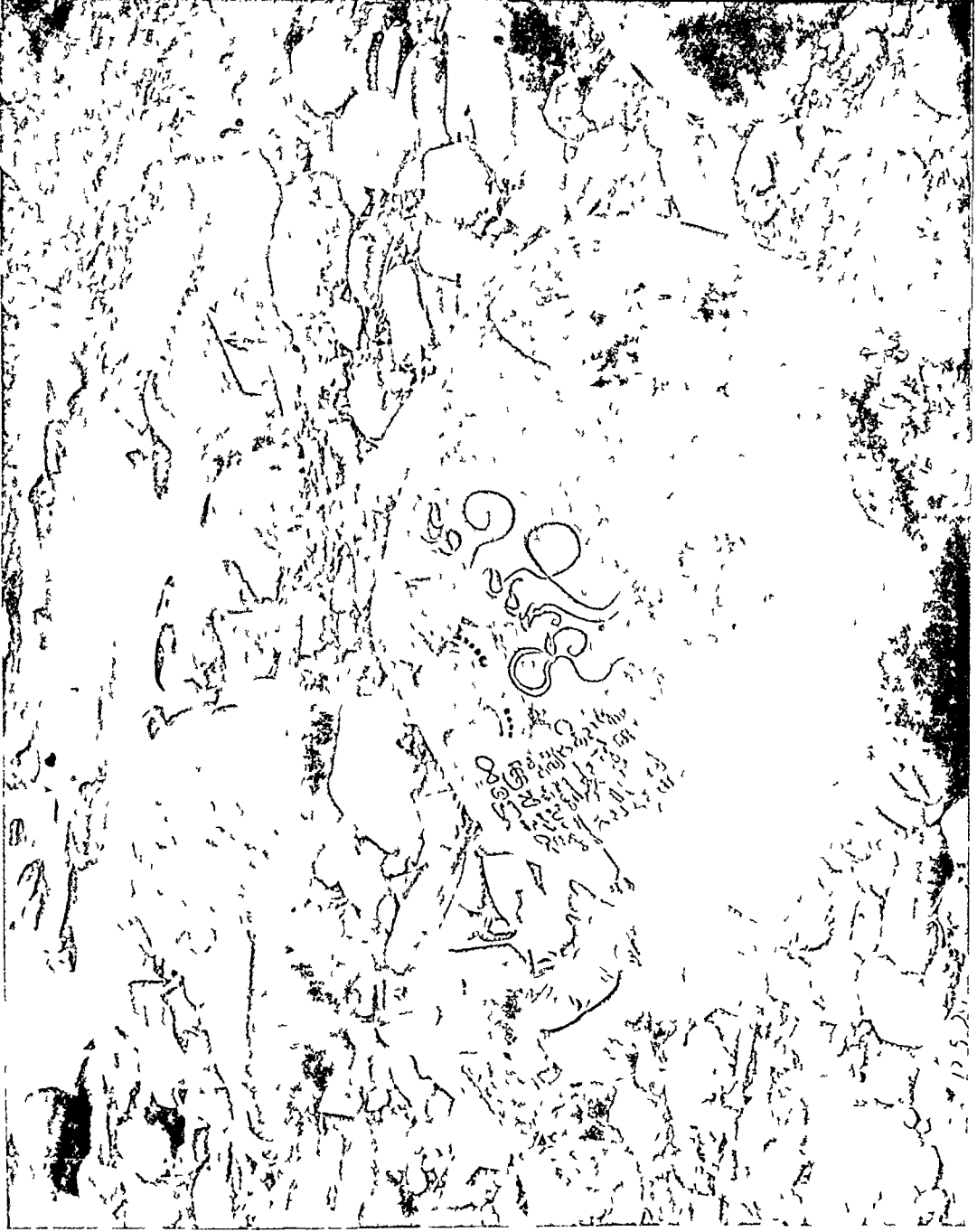
पृष्ठ २२०

चि-अरुतन् का शिलालेख (२)

जवु का शिलालेख (१)

जंबु का शिलालेख (२)

पृष्ठ २२१
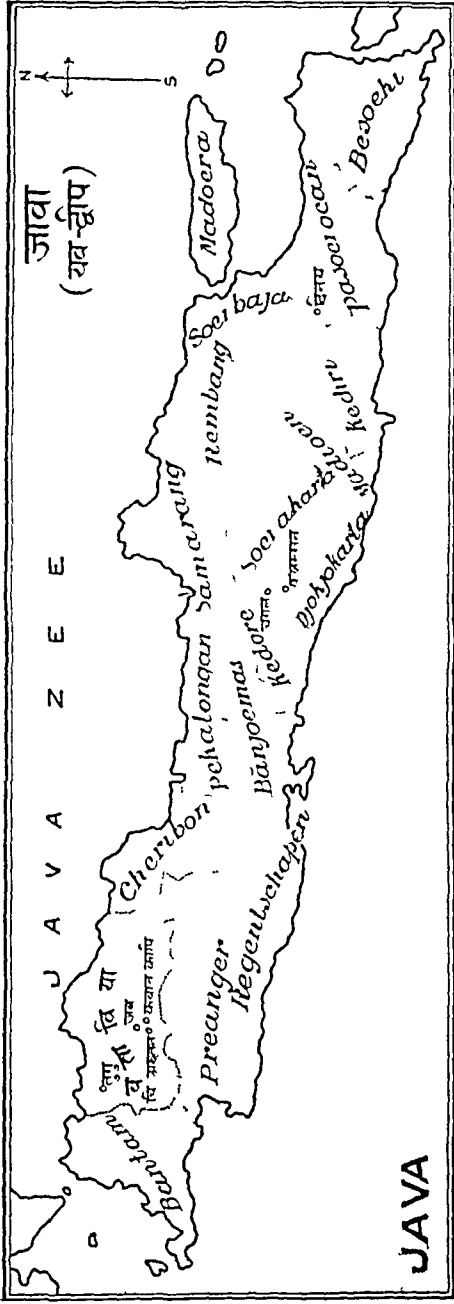
चि-श्ररुतन्, जबु, कवोन् कोपि, तुगु, चगल, दिनय और कलस्सन् का स्थान-निर्देश
(२२०, २२१, २२२, २२३, २२५, २२६ और २३१ पृष्ठों में परिचय है)

त्रिलोक को तीन पादक्रमो से व्याप्त कर लिया था। लेख सरल, स्पष्ट और सपूर्ण है। उसकी प्रतिलिपि यह है—

(१) विक्क्रान्तस्यावनिपते. (३) तारुमनगरेन्द्रस्य
(२) श्रीमतः पूर्ण्णवर्म्मण (४) विष्णोरिव पदद्वयम्

अनुवाद—विष्णु के-से ये चरण-युगल तारुम नगर के अधिपति विक्रमशाली भूपति श्रीमान् पूर्णवर्मा के हैं।

समीक्षा—छद यहाँ अनुष्टुप् है। एक-एक रेखा मे छंद का एक-एक चरण है। ऐसा विन्यास पल्लववशी राजा महेद्रवर्मा प्रथम के महेद्रवाडी और दालवाणूर आदि स्थानो से प्राप्त कई लेखो मे भी पाया जाता है। इस पत्थर पर उक्त लेख और पैरो की छाप के अतिरिक्त कुछ ऐसे चिह्न और अक्षर भी उत्कीर्ण हैं जिनका अर्थ अभी तक नही खुला। धागे द्वारा दोनो पैरो के अँगूठो से दो छल्ले-से बँधे हुए हैं। इनका आकार मकडी का-सा होने से विद्वान् लोग इनको अभी तक प्राय: 'दो मकड़ियाँ' (Two Spiders) कहते चले आते हैं। इन पर कई कल्पनाएँ की गई हैं, पर अभी तक कोई अर्थ निर्धारित नही हुआ। इन दो मकडियो के आगे कुछ अक्षर लिखे हुए हैं। ये भी अभी तक पूरी तरह नही पढे गए। इन मकडियों और अक्षरो पर विद्वानो ने क्या-क्या दलीले दे रक्खी हैं, उनका उल्लेख इस लेख मे नही हो सकता। स्वतंत्र रूप से सोचने पर सभवत पाठको मे से किसी को वास्तविक अर्थ स्फुरित हो उठे! हाँ, यह बात ध्यान देने योग्य है कि एक तो इन अपठित अक्षरो के लिखने का ढग, प्रधान लेख के लिपि-प्रकार से, बिलकुल निराला है। और दूसरे, जम्बुवाले लेख का विषय भी चरण-युगल ही है, पर वहाँ न मकड़ियाँ हैं, न निराले अक्षर! इससे जान पडता है कि चि-अरुतन् के पत्थर पर ये मकडियाँ और अक्षर (अथवा केवल अक्षर) किसी ने बाद को जोड दिए हैं। कुछ भी हो, यह सारी समस्या यहाँ अपूर्ण ही छोड़नी पडती है।

२—जंबु का शिलालेख [The Jambu Rock-Inscription]

यह शिलालेख जबु रियासत के अंतर्गत 'पसिर् कोलयकक् (Pasir Koleangkak)' नामक पहाड़ी की चोटी पर है। चि-अरुतन् शिलालेख के समान इस लेख का विषय भी पूर्णवर्मा के चरण-युगल ही है। एक-आध स्थल पर कुछ अक्षर अस्पष्ट हो गए है, अन्यथा लेख सपूर्ण सुरक्षित है। उसकी प्रतिलिपि यहाँ दी जाती है—

(१) श्रीमान् दाता कृतज्ञो नरपतिरसमो य⌒पुरा तारुमायान्नाम्ना श्रीपूर्ण्णवर्म्मा प्रचुररिपु-शराभेद्यविख्यातवर्म्मा

(२) तस्येदम्पादविम्बद्वयमरिनगरोत्सादने नित्यदक्षम् भक्तानां यन्द्रिपाणाम्भवति सुखकर शल्यभूत रिपूणाम्

अनुवाद—श्री पूर्णवर्मा नामक तारुम नगर का जो ऐश्वर्यसपन्न, दानी, भृत्यवत्सल और असामान्य राजा है—जिसका कवच शत्रुओ के असख्य बाणो से भी न टूटने के कारण विख्यात है—उसके

पद-युगल की यह छाप है, जो शत्रुओ के नगरो का विध्वस करने मे सदा समर्थ तथा मित्रभूत राजाओं के लिये सुखकर और शत्रुभूत राजाओ के लिये शल्यभूत हैं।

समीक्षा—स्रग्धरा छंद है। आधा पहली रेखा मे और शेषार्द्ध दूसरी रेखा मे। 'य~पुरा' मे उपध्मानीय का प्रयोग किया गया है। इस 'पुरा' शब्द के आधार पर प्रोफेसर फोखल (Vogel) ने अनुमान किया है कि यह लेख पूर्णवर्मा की मृत्यु के बाद का है। किंतु मेरी समझ मे यह 'पुरा' शब्द भूतकालार्थद्योतक अव्यय न होकर 'पुर्' अथवा 'पुरी' शब्द का कोई रूप है, और इसका अन्वय आगे के 'तारुमा' शब्द के साथ है। यदि 'तारुमा' शब्द यहाँ अधिकरण अर्थात् सप्तमी मे है तो उसे 'पुरि' 'पुर्याम्' बनना चाहिए; किंतु इन दोनो हालतो मे छंदोभंग होता है। इसी तरह षष्ठी भी असंभव है। 'पुर्याः' के लिये तो यहाँ जगह ही नही, 'पुरः' कहे तो सधि द्वारा 'पुरस्तारुमायाः' होगा और लेख मे '-स्ता-' का कोई चिह्न नही दिखाई देता, प्रत्युत -'रा'- अर्थात् दीर्घ अकारयुक्त रेफ स्पष्ट दिखाई दे रहा है। 'पुरा' शब्द ही ले और इसे तृतीया का एकवचन मान ले, तो भी काम नही चलता; क्योंकि उस दशा मे 'तारुमा' को भी 'तारुमया' होना पड़ेगा जिससे फिर वही छंदोभंग आ पड़ेगा। यदि कहे कि यह शब्द 'पुरी' है और 'तारुमा' शब्द के साथ समस्त है, एवं छंदोनुरोध से 'तारुमापुर्याम्' न लिखकर 'पुरीतारुमायाम्' लिखा गया है, तो किसी तरह गुजारा हो सकता है, मगर ठीक यह भी नही जँचता। एक तो 'पुरीतारुमायाम्' प्रयोग अप्रसिद्ध-सा है, दूसरे, लेख मे 'पुरा' स्पष्ट दिखाई दे रहा है, दीर्घ ईकार की कोई सभावना नही। तो फिर क्यों न प्रोफेसर फोखल का मत ही स्वीकार कर ले? कर तो ले, पर उसमे भी एक आपत्ति यह है कि सारे लेख मे भूतकाल-द्योतक कोई भी क्रियापद नही। 'अस्तिभवत्योरध्याहारः' ठीक है, किंतु यह अध्याहार वर्त्तमान काल मे ही होता है, और केवल 'पुरा' शब्द इतनी सामर्थ्य नही रखता। केवल 'नरपतिः पुरा तारुमायाम्' कहने पर 'किमकरोत्?' की आकांक्षा बनी ही रहती है। दूसरे, चि-अरुतन्वाले लेख मे प्रयुक्त 'तारुमनगर—' और तुगुवाले लेख मे प्रयुक्त केवल 'पुरी' शब्द यहाँ भी 'तारुमा' के साथ 'नगर' या 'पुरी' आदि शब्द का प्रयोग होना सभव बता रहे हैं। चौथे चरण मे 'यन्द्रपाणां' लिखा है। यह लिपिकार का प्रमाद ही प्रतीत होता है। पाठ निस्सदेह 'यन्नृपाणां' ही ठीक है।

३—कबोन् कोपि का शिलालेख [The Kebon Kopi Rock-Inscription]

यह लेख एक बड़ी भारी शिला पर खुदा हुआ है। वह शिला चि-सदने (Ci-Sadane) और चि-अरुतन् नामक दो नदियों के अंतरालवर्त्ती जगल मे पड़ी हुई है। पिछली शताब्दी मे उस जंगल की कटाई कराई गई। वहाँ काफी की खेती होने लगी। इसी लिये अब यह स्थान 'कबोन् कोपि' अर्थात् 'काफी का बाग' कहा जाता है। कहते है कि इस पत्थर पर भैंसें पीठ रगड़ा करती थीं। यह उसी का परिणाम है कि लेख के कई अक्षर तो बिलकुल गायब हो गए है और कई मद पड़ गए हैं। तथापि, जो कुछ बचा है उसे प्रोफेसर फोखल ने यथावत् पढ़ लिया है और श्लोक का पूरा भाव पा लिया

तुगु (वकस्सि) का शिलालेख

कलस्सन का शिलालेख

पृष्ठ २३१

कवोन् कोपि का शिलालेख (१)

पृष्ठ २२२
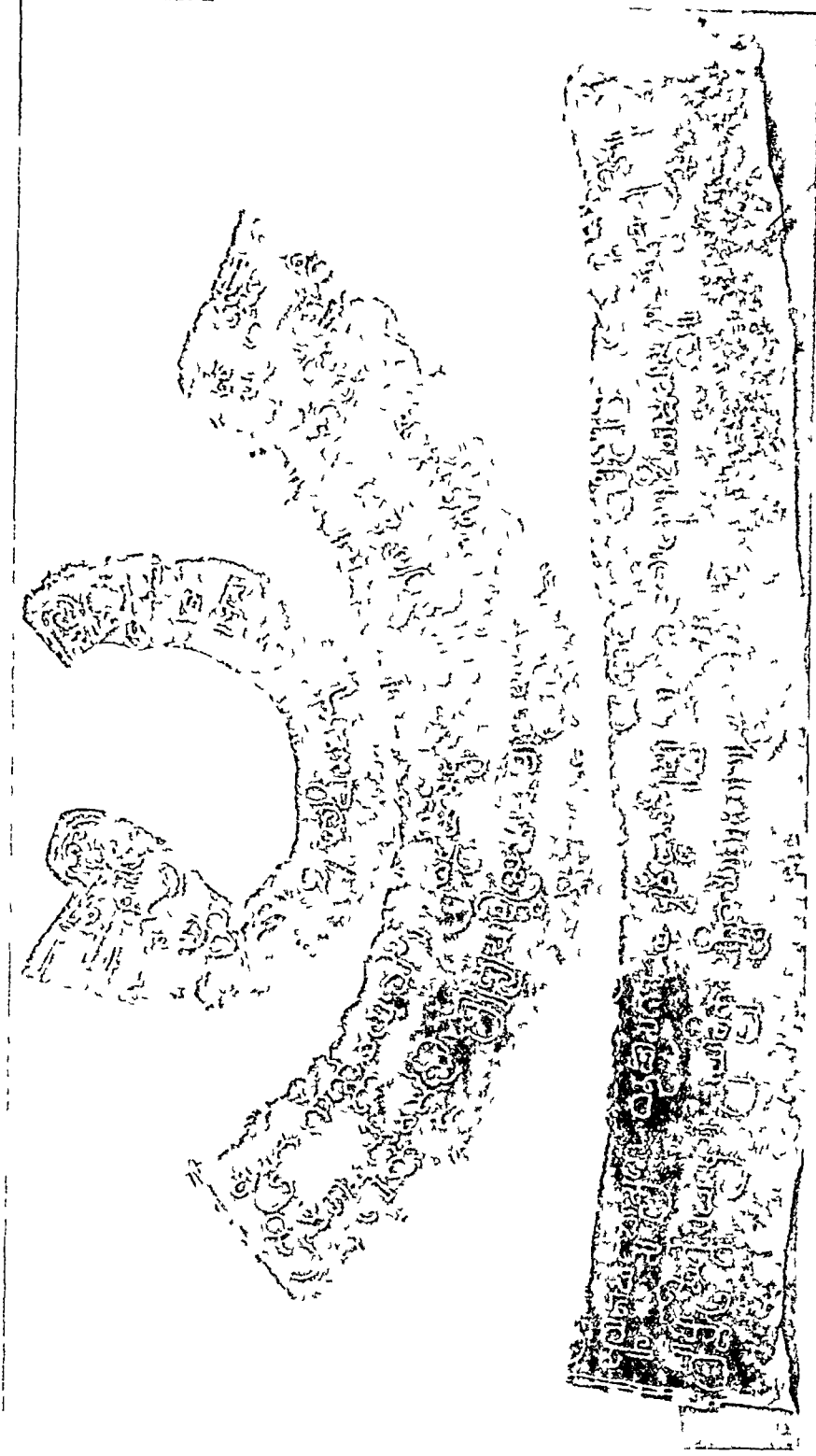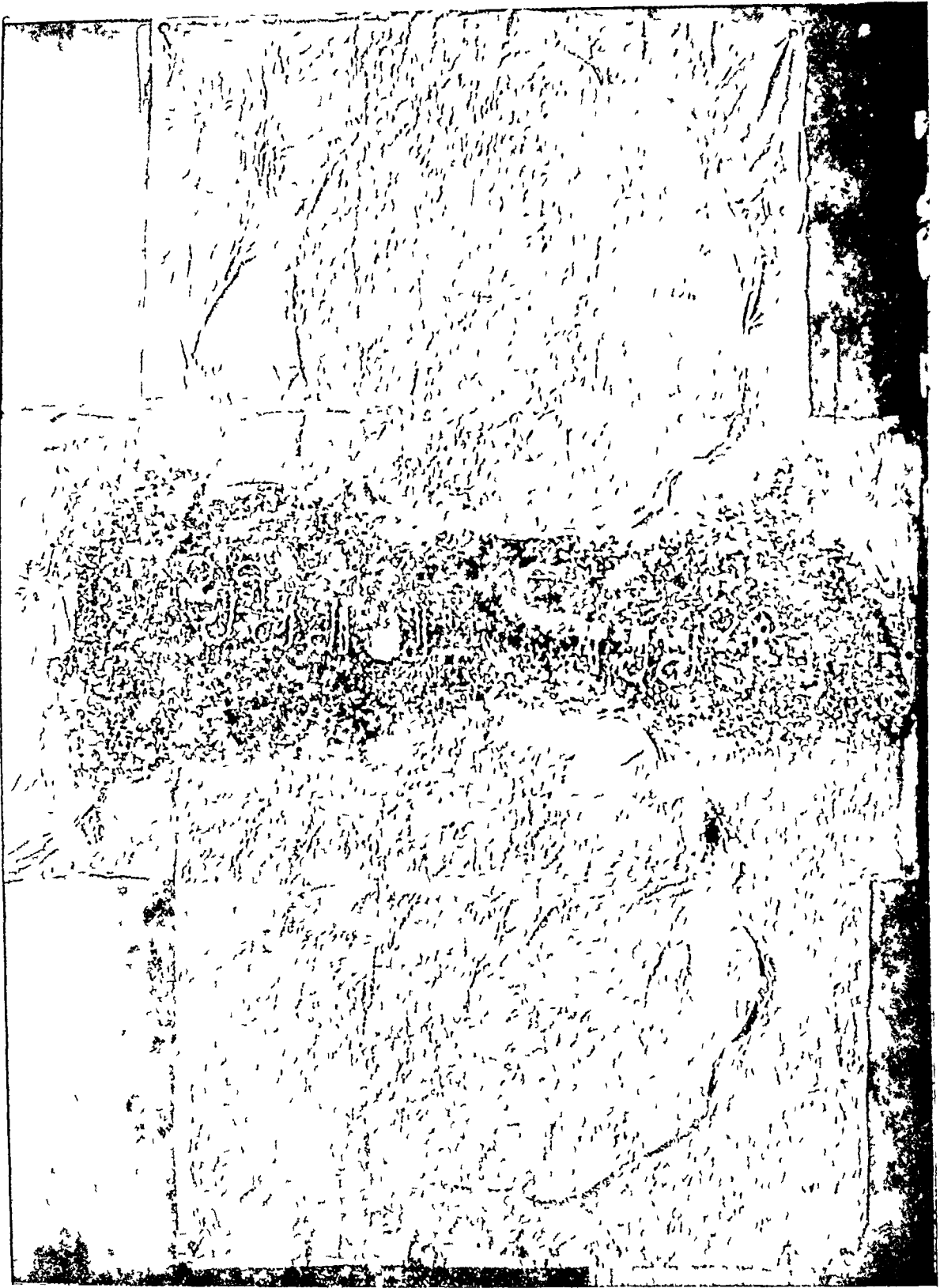
कबोन् कोपि का शिलालेख (२)

है। इस लेख का विषय पूर्णवर्मा के हाथी का पदद्वय है। भाषा और रीति के संबध मे पूर्व के दो लेखों के साथ इस लेख का कितना घनिष्ठ संबध है, यह पढते ही स्पष्ट हो जाता है। प्रतिलिपि देखिए—

(१) जयविशालस्य तारुमे[न्द्र]स्य ह[स्त]नः
[ऐरा]वताभस्य विभातीदम्पदद्वयम्

अनुवाद—विजयशाली तारुमाधिपति के ऐरावतोपम हाथी के ये पदद्वय शोभा दे रहे हैं।

समीक्षा—छद यहाँ भी अनुष्टुप् है, और सारा एक ही सतर मे लिखा गया है। हाथी के पाँवो की छाप ने बहुत जगह घेर ली है, अन्यथा यहाँ भी एक सतर मे एक चरणवाला विन्यास होता, जैसा चि-अरुतन्‌वाले शिलालेख मे है। प्रथम और तृतीय चरण के पहले दो-दो अक्षर बिलकुल गायब हैं। दूसरे चरण मे 'न्द्र' और 'स्त' बहुत धुँधले हैं। तीसरे चरण के तीसरे और चौथे अक्षरो की मात्राएँ ही दिखाई देती है, तो भी '—आभस्य' कहने से यह स्पष्ट ही है कि हाथी को कोई उपमा दी गई है, और 'तारुमा' के 'इद्र' के हाथी की उपमा देवराज इद्र के ऐरावत नामक हाथी से न दी जाय तो और किससे दी जाय! इस तरह ये लुप्त अक्षर भी ढूँढ लिए गए, और यह सारा श्रेय प्रोफेसर फोखल को है।

४—तुगु (बकस्सि) का शिलालेख [The Tugu (Bekasih) Rock-Inscription]

यह शिला सन् १९११ तक 'बकस्सि' जिले के अतर्गत 'तुगु' नामक गॉव मे पडी थी। बाद को बताविया (Batavia) के म्यूजियम मे लाई गई। इसकी शकल मदिर के शिखर की तरह है, और लेख उसके इर्द-गिर्द इस तरह लिखा हुआ है कि हर-एक रेखा के आद्य और अत्य अक्षर आमने-सामने आ जाते हैं। इस स्थान पर नीचे से ऊपर तक एक द्विगुण रेखा खीची हुई है ताकि पढ़नेवाला भ्रम मे न पड जाय कि लेख की रेखाओ का आरभ कहॉ से होता है और समाप्ति कहाँ पर होती है। इस दडायमान द्विगुण रेखा के सिरे पर फूल, दीवट, अथवा त्रिशूल का-सा एक निशान बना है। इसके भी कोई विशेष अर्थ हैं या यह एक सजावट मात्र ही है, इस बात का अभी तक कोई निर्णय नही हुआ। लेख मे पॉच अनुष्टुप् छद हैं और पॉच ही सतरे हैं। पत्थर को जहॉ-तहॉ क्षति पहुँची है, तो भी लेख प्रायः सारा सुपठ है। प्रतिलिपि उसकी यह है—

(१) पुरा राजाधिराजेन गुरुणा पीनबाहुना
खाता ख्यातां पुरी प्राप्य

(२) चन्द्रभागाएर्णव ययौ ॥
प्रवर्द्धमानद्वाविङ्शद्वत्सर (रे) श्रीगुणौजसा
नरेन्द्रध्वजभूनेन (भूतेन)

(३) श्रीमता पूरर्णवर्म्मेण ॥
प्रारभ्य फाल्गुणे (ने) मासे खाता कृष्णाष्टमी तिथौ
चैत्रशुक्लत्रयोदश्याम् दिनैस्सिद्धैकविङ्शकै [.]

(४) आयता षट्सहस्रेण धनुषा [–] सशतेन च
द्वाविङ्शेन नदी रम्या गोमती निर्मलोदका ॥
पितामहस्य राजर्षेर्व्विदार्य्य शिबिरावनि
(५) ब्राह्मणैर्गोसहस्रेना (ण) प्रयाति कृतदक्षिणा ॥

अनुवाद—पहले राजाधिराज पीनबाहु गुरु द्वारा खुदाई हुई चंद्रभागा, प्रसिद्ध नगरी से होती हुई, समुद्र मे बही। बढ़ते हुए बाईसवे वर्ष मे, ऐश्वर्यवान्, गुणशाली, तेजस्वी एव राजाओं में श्रेष्ठ श्रीपूर्णवर्मा द्वारा, फागुन महीने के अँधेरे पक्ष की अष्टमी तिथि से आरभ कर और चैत महीने के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी तिथि को—अर्थात् इक्कीस दिनो मे—समाप्त कर, खुदाई हुई छः हजार एक सौ बाईस धनुष लबी स्वच्छ जलवाली सुंदर गोमती नदी, पितामह राजर्षि की छावनी को चीरती हुई, ब्राह्मणो को हजारो गौएँ दान दिलाकर, वह रही है।

समीक्षा—लेख की रचना सरल है, किंतु भाव पूर्णतया स्पष्ट नहीं। पहले के तीन लेखा की तरह विषय यहाँ चरण-युगल नही, बल्कि एक नहर की खुदाई है। जावा मे वरसात के दिनों मे नदियों मे बाढ़ बहुत आती है और बहुत नुकसान पहुँचाती है। इससे वहाँ प्रायः नहरे खुदवाई जाती थी, जिनके द्वारा बाढ़ का पानी समुद्र मे बहाया जाता था। अथवा, नदियों के किनारो पर ऊँचे-ऊँचे बाँध बँधवाए जाते थे, और इस प्रकार पानी के चढ़ाव से गाँव आदि की रक्षा की जाती थी। इस विषय का जिक्र जावा के बाद के लेखो मे, जो जावा की ही भाषा मे है, बहुत वार आता है। प्रस्तुत लेख मे चद्रभागा और गोमती, ये दो नाम उल्लेखनीय हैं। चद्रभागा पंजाब-प्रांत की पॉच मुख्य नदियों मे एक है, जिसे आज-कल 'चनाब' कहते है। 'गोमती' युक्तप्रांत मे गंगा की एक शाखा-नदी है, जिसके किनारे पर लखनऊ आबाद है। ये दोनो नाम जावा मे किस तरह गए, यह भी एक रुचिकर विषय है। स्मरण रहे कि जावा मे बहुत-से नगर, गॉव, पहाड़, नदी आदि भारतीय नगरादिकों के नामों से प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ—सुमेरु, सरयू इत्यादि। अस्तु, यह एक स्वतत्र लेख का विषय है।

लेख के पहले श्लोक मे पड़ा हुआ 'गुरु' शब्द और पाँचवे श्लोक मे 'पितामह राजर्षि' शब्द सभवतः एक ही व्यक्ति के बोधक हैं। 'पीनबाहु' विशेषण मात्र है अथवा विशेष सज्ञा है, इसका निर्णायक कोई प्रमाण नही। 'ख्याता पुरी' से तारुमा पुरी समझी जाय या और कोई, यह भी संदेहास्पद है। चारो लेखों मे से इसी एक लेख मे वर्ष आदि का उल्लेख हुआ है, किंतु उसका सबंध केवल शासन-काल से ही है। शक आदि संवत् का उल्लेख न होने से पूर्णवर्मा के काल-निर्णय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा। फाल्गुन-कृष्ण अष्टमी से लेकर चैत्र-शुक्ल त्रयोदशी तक इक्कीस दिन गिने गए हैं, इससे स्पष्ट है कि महीना शुक्ल पक्ष से शुरू होता है, अर्थात् यहाँ अमांत रीति का अनुसरण किया गया है, पूर्णिमांत का नहीं। छः हजार एक सौ बाईस धनुष लंबी गोमती केवल इक्कीस दिनो मे खोदी गई, यह कुछ असंभव-सा जान पड़ता है। 'धनुष' का परिमाण चार हाथ का है। इस हिसाब से छः हजार एक सौ बाईस धनुष का विस्तार लगभग सात मील होता है। पूर्णवर्मा ने आखिर कितने मजदूर लगवाए होगे? 'शिबिरावनि' का अनुवाद 'छावनी' कर दिया है, किंतु इससे क्या

समझा जाय, यह स्पष्ट नही। क्या गोमती उस स्थल से होकर बही जहाँ सेना के तबू लगा करते थे? अथवा, तबू लगे हुए थे और बरसात मे उमडती हुई गोमती उन्हे बहा ले गई? अथवा कोई और ही अर्थ है? जब तक प्रमाणांतर नहीं मिलता, यह प्रश्न भी खुला पडा है। हाँ, अंत मे पडे हुए 'दक्षिणा' शब्द से एक ध्वनि उठती है जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि गोमती वस्तुतः 'शिबिर' को बहा ले गई, और नदी का फिर ऐसा प्रकोप न हो—इस उद्देश्य से उसके निमित्त गोदान आदि किया गया। व्याकरण की दृष्टि से तो लेख की रचना मे कई त्रुटियाँ हैं, किंतु वे अभिप्रेत अर्थ मे बाधक नही हैं। फिर भी वह अभिप्रेत अर्थ इतना सकुचित है कि पढ़नेवाला पूछता ही रह जाता है—'गुरु' ने 'चद्रभागा' कब खुदाई थी? क्यों खुदाई थी? 'पुरी' कौन-सी थी? 'प्रवर्धमान'-'वत्सर' पूर्णवर्मा के अपने राज्य का ही है न? गोमती लबी तो उतनी थी, चौडी और गहरी कितनी थी? इत्यादि।

५—चंगल का शिलालेख, शक-संवत् ६५४ [The Changal Inscription]

चगल, जहाँ से यह शिलालेख मिला है, कलस्सन् से उत्तर की ओर थोड़ी ही दूर है। यह शिलालेख भी आज-कल बताविया के म्यूजियम मे पड़ा है। शिलापट्ट एक सौ दस सेटीमीटर ऊँचा और अठहत्तर सेटीमीटर चौडा है। लेख मे पचीस सतरे हैं और बारह पद्य। उनमे से पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और बारहवाँ शार्दूलविक्रीडित है। तीसरा, आठवाँ और ग्यारहवाँ स्रग्धरा है। नवाँ वसततिलका और दसवाँ पृथ्वी है। संवत, मिति आदि से युक्त लेखो मे यह प्राचीनतम है। शक-सवत् ६५४ मे यह लिखा गया था। भाषा इसकी प्रौढ़ और कवित्वपूर्ण है।

शब्द-सधियों के विषय मे यह लेख 'दिनय' के लेख का बिलकुल प्रतिरूप है। शिव, ब्रह्मा और विष्णु को क्रमशः नमस्कार कर लेखक ने जावा-द्वीप का कुछ वर्णन किया है और (सभवतः) दक्षिणी भारत से आए हुए एक राजवंश का वहाँ आधिपत्य वर्णित किया है। पहले राजा का नाम 'सन्न' अथवा 'सन्नाह' था। अनतर उसका लडका 'सजय' राज करता था। प्रस्तुत लेख 'सजय' के ही राज्यकाल मे लिखा गया है। उक्त राजवंश और राजाओ के विशेष इतिहास पर अभी बहुत कुछ जानने की अपेक्षा है। कहीं-कहीं शब्द स्पष्ट नही, और एकाध जगह पर अक्षर बिलकुल गायब हैं, अन्यथा सारा लेख सुरक्षित दशा मे है। प्रतिलिपि से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

(१) शाकेन्द्रेतिगते श्रुतीन्द्रियरसैरङ्गीकृते वत्सरे
वारेन्दौ धवलत्रयोदशि तिथौ भद्रोत्तरे कार्त्तिके

(२) लग्ने कुम्भमये स्थिराङ्गविदिते प्रातिष्ठिपत्पर्व्वते
लिङ्ग लक्षणलक्षितन्नरपतिश्श्रीसञ्जयश्शान्तये ॥

(३) गङ्गोत्तुङ्गतरङ्गरञ्जितजटामौलीन्दुचूडामणि
र्भास्वत्यंतिविभूतिदेहविकसन्नागेन्द्रहारद्युतिः

(४) श्रीमत्स्वाञ्जलिकोशकोमलकरैर्देवैस्तु य स्तूयते

स श्रेयो भवतां भवो भवतमस्सूर्य्यो ददात्वद्भुतम्

(५) भक्तिप्रह्वैर्मुनीन्द्रैरभिनुतमसकृत् स्वर्गनिर्व्वाणहेतो

र्देवैर्लेखर्षभाद्यैरवनतमकुटैश्चुम्बित ष

(६) ट्पदाभैः

अङ्गुल्याताम्रपत्रन्नखकिरणलसत्केसरारञ्जितान्तं

देयात् श शाश्वतम्वस्त्रिनयनचर

(७) णानिन्दिताम्भोजयुग्म ॥

ऐश्वर्य्यातिशयोद्भवात्सुमहतामप्यद्भुतानान्निधि

स्त्यागैकान्तरतस्तनोति

(८) सतत यो विस्मय योगिनाम्

योष्टाभिस्तनुभिर्जगत्करुणया पुष्णाति न स्वार्थतो

भूतेशश्शशिखण्डभू

(९) षितजटस्स त्र्यम्बकः पातु वः ॥

विभ्रद्धेमवपुस्स्वदोषदहनज्वाला इवोद्यज्जटा

वेदस्तम्भसुव

(१०) द्धलोकसमयो धर्म्मार्थकामोद्भवः

देवैर्व्वन्दितपादपङ्कजयुगो योगीश्वरो योगिनां

मान्यो लोक

(११) गुरुर्द्ददातु भवतां सिद्धिं स्वयम्भूर्व्विभुः ॥

नागेन्द्रोत्फणरत्नभित्तिपतितां दृष्ट्वात्मगिम्वश्रिय

सभ्रू

(१२) भङ्गकटाक्षया कुपितया दूर श्रिया वीक्षितः

यो योगारुणलोचनोत्पलदलश्शेतेम्वुशय्यात

(१३) ले

त्राणार्थन्त्रिदशैस्स्तुतस्य भवतान्देयात् श्रिय श्रीपतिः ॥

आसीद्द्वीपवरं यवाख्यमतुलं धान्या

(१४) दिवीजाधिकं

सम्पन्नं कनकाकरैस्तदमरै दिनोपार्जितम्

श्रीमत्कुञ्जरकुञ्जदेशनिहितव

(१५) ङ्शादितीवाद्भुतं

स्थानन्दिव्यतम शिवाय जगतश्शम्भोस्तु यत्राद्भुतम् ॥

तस्मिन्द्वीपे यवाख्ये पुरुषपद

(१६) महालक्ष्मभूते प्रशस्ते

राजोग्रोदग्रजन्मा प्रथितपृथुयशस्सामदानेन सम्यक्

शास्ता सर्व्वत्र

(१७) जानाञ्जनक इव शिशोर्जन्मतो वत्सलत्वा

त्सन्नाख्यस्सन्नतारिर्म्मनुरिव सुचिरम्पाति धर्म्मेण पृथ्वीम्

(१८) एवङ्गते समनुशासति राज्यलक्ष्मी सन्नाह्वयेन्वयविधौ समतीतकाले

स्वर्ग्गे सुख फलकुलो

(१९) पचितम्प्रयाते भिन्नञ्जगद्भ्रमति शोकवशादनाथम् ॥

ज्वलज्ज्वलनविद्रवत्कनकगौरवर्णः...

म

(२०) हद्भुजनितम्वतुङ्गतममूर्द्ध श्रृङ्गोन्नतः

भुवि स्थितकुलाचलक्षितिधरोच्चपादोच्छ्रयः

प्रभूत

(२१) गुणसम्पदोद्भवति यस्ततो मेरुवत् ॥

श्रीमान् यो माननीयो बुधजननिकरैश्शास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी

रा

(२२) जा शौर्य्यादिगुण्यो रघुरिव विजितानेकसामन्तचक्रः

राजा श्रीसञ्जयाख्यो रविरिव यशसा दि

(२३) ग्विदिक्ख्यातलक्ष्मी

सूनुस्सन्नाहनाम्नस्स्वसुर . .. न्यायतः शास्ति राज्यम् ॥

यस्मिञ्छासतिसाग

(२४) रोर्म्मिरशनां शैलस्तनीम्मेदिनीं

शेते राजपथे जनो न चकितश्चौरैर्न चान्यैर्भयैः

कीर्त्यार्द्यैरलम

(२५) र्जिताश्च सततन्धर्म्मार्थकामा नरैः

नून रोदिति रोदिति स कलिर्नास्त्यङ्शशेषो यत. ॥

अनुवाद—[१—२] शक राजा के बाद छ सौ चौवनवे बरस मे, सोमवार, कार्त्तिक की भद्रोत्तरा त्रयोदशी के दिन, स्थिरांग कुभलग्न मे, श्रीमान् सजय नामक राजा ने, 'राज्य मे शांति रहे'—इस उद्देश्य से, पर्वत पर सर्वलक्षण-सपन्न शिवलिग की स्थापना कराई। [३—४] जिनके—गंगा की उमड़ती हुई तरगो से शवलित जटाओवाले—सिर पर चूडामणि के समान चंद्रमा विराजमान है, जिसकी

चमकीली पवित्र (?) भस्म से रमी हुई देह पर कलोले करते हुए साँप हारो की-सी शोभा दे रहे हैं, तथा देवता लोग अपने सुंदर कर-कमलो को मुकुलित कर प्रणाम करते हुए जिसकी स्तुति करते हैं, वह—जन्ममरणादि दुःख-रूप अंधकार के विनाश करने मे सूर्य-रूप—महादेव आपको श्रेयः प्रदान करे। [५—६] स्वर्गप्राप्ति एवं मोक्ष की कामना से मुनिगण श्रद्धा-भक्ति से झुककर सदा जिनको प्रणाम करते है, लेख ऋषभ आदि देववृंद सिर झुकाकर अपने मुकुटो से भ्रमरवत् जिनका चुंबन करते हैं, वे—गुलाबी अंगुलियो की पँखड़ियोवाले, नखो की किरणो से सुशोभित सुदर किंजल्कोंवाले—भगवान् महादेव के स्वच्छ चरणारबिंद सदा आपका कल्याण करे। [७—६] अनत ऐश्वर्य की खान होने से जो बड़ी से बड़ी आश्चर्यजनक वस्तुओ का खजाना है, जो निरतर केवल त्याग मे निरत रहते हुए योगियों को (भी) आश्चर्य मे डालता है, जो दया और निःस्वार्थ भाव से (पृथ्वी, जल, तेज आदि) आठ मूर्त्तियों मे (साक्षात् हो) जगत् का पालन करता है, वह—भूतपति, अर्धचद्र से सुशोभित जटाओवाला—त्रिलोचन महादेव आपकी रक्षा करे। [९—११] जिसका शरीर सुवर्ण के समान उज्ज्वल है; जो जटाएँ क्या, अग्नि की लपटे धारण किए हुए है—वह अग्नि जो उसने रागद्वेषादि दोषों को भस्मसात् करने के लिये जला रक्खी है; जिसने लोक को वेदो के अनुसार वैसे ही मर्यादाबद्ध कर रक्खा है जैसे कोई किसी को स्तभ से बाँध देता है; जो त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम—की खान है; देवगण जिसके चरण-कमलों की वदना करते हैं और जो योगियो का योगीश्वर है, वह सर्वमान्य जगद्गुरु स्वयभू विधाता—ब्रह्मा—आपको सिद्धि प्रदान करे। [११—१३] ऊपर उठी हुई अनत नाग की फटाओ मे स्थित रत्नो के फलक पर पड़े हुए अपने ही प्रतिबिंब को देखकर कुपित हुई—भवे चढ़ाती और कटाक्ष मारती हुई—लक्ष्मी से देखा जाता हुआ, योग-समाधि मे अपने नेत्र-रूपी कमल-दल लाल किए, समुद्र मे जो शयन कर रहा है, वह—रक्षा के निमित्त देवताओं द्वारा स्तुत—भगवान् विष्णु आपको श्रीसपन्न करे। [१३—१५] 'यव' (जावा) एक अनुपम द्वीप है, जहाँ सर्व प्रकार के धान्य बहुतायत से हैं, जो सोने की खानो से संपन्न है, जिसे अमरो ने ......(?) से उपार्जित किया है, वहाँ जगत् के कल्याणार्थ महादेव का एक अतिमनोज्ञ दिव्य स्थान है, जो कुंजरकुज देश के वंशजों के अधीन है। [१५—१७] उस पुरुष (पुरुषोत्तम—विष्णु—त्रिविक्रम—वामन ?) के चरणो की विशाल छाप के शकलवाले प्रशस्य 'यव' नामक द्वीप मे 'सन्न' नामक प्रतापी और कुलीन राजा है, जिसका विपुल यश (चारों ओर) फैला हुआ है, जो साम-दानादि उपायो से यथोचित शासन करता है, जो जन्म से ही मृदुस्वभाव होने के कारण प्रजा के लिये वैसा ही है जैसा बच्चे के लिये बाप, जो शत्रुओ पर विजय प्राप्त किए हुए है, और जो मनु के समान बहुत काल से धर्मनीति से राज कर रहा है। [१८—१९] इस प्रकार राज्य-शासन करते हुए काल-क्रम से कुलीन 'सन्न' नामक राजा के अपने गुणो से अर्जित सुख का उपभोग करने के लिये स्वर्गारोहण करने पर, शोक से विह्वल हो, सारा ससार अनाथ की भाँति व्यामोह मे पड गया। [१९—२०] धधकती आग मे पिघलते हुए सोने के समान भड़कीली कांतिवाला, पीन भुजाओ और नितबों तथा सबसे ऊँचे उठे हुए सिर से उन्नत शिखरवाला, ससार भर के राजवशो मे उच्चतम स्थान रखने से अन्य भूधरो की अपेक्षा अधिक ऊँचाईवाला, और अपने गुण-माहात्म्य से जो उनमे से उन्नततम होकर अवस्थित है—[२१—२३]

जो श्रीसपन्न है, जो विद्वानों का माननीय है, जो शास्त्रों का विशेषज्ञ है, जो शूरता आदि गुणों में राजा रघु के समान है, जिसने अनेक रजवाडे वश मे कर रक्खे हैं, जो यश मे सूर्य के समान है, जिसकी शोभा चारो ओर फैली हुई है, वह—'सन्नाह' (राजा) का लडका श्रीमान् 'सजय'—न्यायपूर्वक राज कर रहा है। [२३—२५] जिसके—समुद्र की लहरो से काचीवाली, पर्वतों से कुचशालिनी पृथ्वी (रूपी रमणी) पर—शासन करते समय लोग चोरो अथवा अन्य प्रकार के भय से नि:शक हो सरे बाजार सोते हैं, कीर्त्तिसपन्न हैं और निरतर धर्म-अर्थ-काम का अर्जन करते हैं, ऐसा मालूम होता है कि कलियुग ढाढे मार-मारकर रो रहा है, क्योंकि उसका अंश-मात्र भी शेष न रहा।

समीक्षा—पहले पद्य के 'त्रयोदशितिथौ' मे 'शी' को छदोनुरोध से ह्रस्व कर दिया है, जैसे 'दिनय' वाले लेख मे 'परि' को 'परी' किया है। फिर छठे पद्य मे भ्रांतिमान् अलकार अच्छा बाँधा है। किंतु 'दृष्ट्वा... .श्रिय..... कुपितया श्रिया वीक्षितः. देयात् श्रिय श्रीपतिः' मे बार-बार 'श्री' शब्द के प्रयोग से अनवीकृत दोष है या नही, यह तो जुदा रहा, 'श्री के पति अपनी श्री को आप लोगों के हवाले कर दे—कुपित होने का जरा वह भी मजा चख ले—'इस अनभिमत अर्थ की प्रतीति हुए विना नहीं रहती। शेष रचना मे कोई ऐसी शिकायत नही।

६—दिनय का शिलालेख, शक-संवत् ६८२ [The Dinaya Inscription]

'दिनय' नामक स्थान से प्राप्त होने के कारण यह शिलालेख उपर्युक्त नाम से प्रसिद्ध है। यह शिलापट्ट तीन टुकडों मे टूटा पडा था। .पहले केवल मध्य का टुकडा ही मिला था, पर भाग्य से कुछ साल बाद शेष दो टुकड़े भी मिल गए। लेख, सवत् मिति आदि से सपूर्ण है, परतु किस राजवश का जिक्र है—यह अभी तक मालूम नहीं हुआ। सवत् ६८२ शक है। लकडी की अगस्त्य-मूर्त्ति टूटी देख लिब (?) राजा ने प्रस्तरमयी मूर्त्ति बनवाई और बडी धूमधाम से मूर्त्ति की प्रतिष्ठापना कराई, दान-पुण्य किया—इत्यादि इस लेख का विषय है। कई स्थलो पर इसके अक्षर मिटे हुए हैं, और कई स्थानो पर अर्थ भी अस्पष्ट हैं। प्रतिलिपि इस प्रकार है—

(१) स्वस्ति शकवर्षातीत ६८२
(२) आसीत् नरपतिः धीमान् देवसिहः प्र
(३) तापवान् येन गुप्त (:) परीभाति पूतिकेश्व
(४) र पाविता ॥ लिम्व. अपि तनयः तस्य गजयान.
(५) इति स्मृतः ररक्ष स्वर्गगे ताते सुतान् पुरुषान् मह—
(६) ॥ लिम्वस्य दुहिता जज्ञे प्रदपुत्रस्य भूपतेः उत्तेज
(७) ना इति महिषी जननी यस्य धीमतः ॥ अ .नन कलश
(८) जे भगवति अगस्त्ये भक्तः द्विजातिहितकृद् गजयानना (मा)
(९) मौनैः सनायकगणैः समकारयत् तद् रम्यम् मह (र)
(१०) षिभवनम् वलहाजिरिभ्यः ॥ पूर्वैं. कृताम् तु सुरदारुमयी

(११) समीक्ष्य कीर्त्तिप्रियः तलगतप्रतिमां मनस्वि आज्ञा
(१२) प्य शिल्पिनम् अरम् सः. .दीर्घदर्शी कृष्णाद्भुतोपलम
(१३) यीम् नृपतिः चकार ।। राज्ञागस्त्यः शकाब्दे नयनवसु
(१४) रसे मार्ग्गशीर्षे च मासे आर्द्रर्थ्ये शुक्रवारे प्रतिप
(१५) द्दिवसे पक्षसन्धौ ध्रुवे. .ऋत्विग्भिः वेदविद्भिः यतिवर
(१६) सहितैः स्थापकाद्यै(ः) समेतैः कर्मज्ञैः कुम्भलग्ने सुदृढ
(१७) मतिमता स्थापितः कुम्भयोनिः ।। क्षेत्र गावः सपुष्पाः महिष
(१८) गणयुताः दासदासीपुरोगाः दत्ता राज्ञा महर्षिप्रवरचरुह
(१९) विस्स्नानसम्वर्धनादि व्यापारार्थम् द्विजानाम् भवनम् अपि गृहम
(२०) उत्तरम् च अद्भुतम् च विस्रम्भाय अतिथीनाम् यवयवि
(२१) कशयाच्छादनैः सुप्रयुक्तम् ।। ये बान्धवाः नृपसुताः च
(२२) सुमन्त्रिमुख्याः दत्तौ नृपस्य यदि ते प्रतिकूलचित्ताः नास्ति
(२३) क्यदोषकुटिलाः नरके पतेयुः न अमुत्र च नेह च गतिम्
(२४) ······लभन्ते ।। वश्याः नृपस्य रुधिताः यदि दत्तिवृद्धौ आस्तिक्य
(२५) शुद्धमतय(ः)··· · ··पूजाः दानाद्य पुण्ययजनाद्ध्ययना
(२६) दिशीलाः रक्षन्तु राज्यम्··· · नृपतिर् यथैवम्

अनुवाद—[१] स्वस्ति शक-सवत् के छः सौ बयासी वर्ष व्यतीत होने पर [२—४] देवसिंह (नामक) बुद्धिमान् और प्रतापशाली एक राजा हुआ, जिसके द्वारा सुरक्षित पूतिकेश्वर पविता (?) शोभायमान है। [४—५] उसका भी 'लिव' नामक एक लडका था, जो 'गजयान' उपनाम से प्रसिद्ध था। पिता के स्वर्गारोहण के बाद उसने प्रजा की पुत्रवत् रक्षा की। [६—७] लिव के 'उत्तेजना' नामक पुत्री हुई, जो बुद्धिमान् प्रदपुत्र जननीय (?) राजा की रानी बनी। [७—१०] कुभयोनि महर्षि अगस्त्य के भक्त एवं द्विजो के हितैषी 'गजयान' नामक (राजा) ने मुनिगण और नायक-वृंद की सहायता से वलहाजिरियो (?) के लिये यह रमणीय महर्षि-(अगस्त्य का)-भवन बनवाया। [१०—१३] पूर्वजो द्वारा चंदन के लकड़ी की बनवाई हुई मूर्त्ति को (टूटकर) भूमि पर पडी देख, उस बुद्धिमान् दूरदर्शी कीर्त्तिप्रिय राजा ने, 'अर' (नामक ?) कारीगर को आज्ञा देकर काले पत्थर की (एक) अति सुंदर (मूर्त्ति) बनवाई। [१३—१७] शक-संवत् ६८२ के अगहन महीने मे, शुक्रवार प्रतिपदा तिथि को, पक्षसधि मे ध्रुव के आने पर; कुभ लग्न मे; आर्द्रर्थ्य (वृष्टयर्थ ?); वेदविद् याज्ञिको, यतियों, मुनियो और मेमार आदि कारीगरो की सहायता से; बुद्धिमान् राजा ने कुभयोनि अगस्त्य (ऋषि की मूर्त्ति) की स्थापना की। [१७—२१] (इस अवसर पर) राजा ने भूमि, पुष्पमालाओ से सुशोभित गौओ और भैसो का समूह, दास-दासियाँ, महर्षियो के स्नानादि याज्ञिक कर्मो की अभिवृद्धि के उद्देश्य से चरु-हवि आदि सामग्री, ब्राह्मणो के निवासस्थान, और अतिथियो के आराम के लिये भोजनाच्छादनादि से युक्त उत्तम तथा रम्य भवन दान किया। [२१—२४] राजा के पुत्र, पौत्र, मुख्यामात्य तथा और भी जो संबधी हैं उन्होने यदि राजा के इस दान मे

कुछ हस्तक्षेप करना चाहा, तो वे नास्तिकता के दोष के भागी होंगे, कपटी समझे जाएँगे, नरक मे पडेंगे, और न इस लोक मे सुख पाएँगे न परलोक मे। [२४—२६] (इसके विपरीत) राजा के वशज यदि इस दान की वृद्धि मे तत्पर रहे, तो वे आस्तिक · पूजा के भागी होंगे, और इस राजा की भाँति दानादि पुण्य, यजन, अध्ययन आदि कर्मों मे रुचि रखते हुए राज्य की रक्षा करेंगे।

समीक्षा—'स्वस्ति शकवर्षातीत ६८२' को छोड़ बाकी लेख पद्यमय है। नौ पद्य हैं। पहले के तीन अनुष्टुप्, आगे के दो वसततिलका, फिर दो स्रग्धरा और अंतिम दो फिर वसततिलका। शब्दो मे सधि नही की गई, किंतु छदो के प्रमाण से स्पष्ट है कि लेखक ने सुखबोध के लिये ऐसा किया है। प्रथम पद्य के 'परीभाति' मे मालूम होता है कि लेखक ने 'परि' को दीर्घ करते हुए 'अपि माष मष कुर्याच्छन्दोभङ्ग न कारयेत्' का अनुसरण किया है। 'पूतिकेश्वर पाविता' अस्पष्ट है। डा० बॅास (Dr F D K Bosch) ने इसका अर्थ 'अग्नि' लिया है। दूसरे पद्य मे 'लिम्व' सज्ञा-पद और 'गजयान' उपाधि है, किंतु विशिष्टार्थ क्या है, सो अभी तक पता नही। 'सुतान् पुरुषान् '—ऐसा पढ़ने से छद ठीक नही बैठता। तीसरे पद्य मे भी, किसकी लड़की, किसका पुत्र, किसकी महारानी इत्यादि यहाँ सुस्पष्ट नही है। 'जननीयस्य धीमत:' पढ़े या 'जननी यस्य धीमत:'? चौथे पद्य मे 'गजयान नामा' है। यहाँ '-नामा' कहने से 'गजयान' सज्ञा-पद प्रतीत होता है। परतु 'कलस्सन्' वाले लेख के 'करियान' और ऊपर के 'गजयान इतिस्मृत:' से पता लगता है कि यह नाम नही, उपनाम है। ये 'वलहाजिरि' कौन हैं? पुन: पाँचवे पद्य के 'सुरदारु' और देवदारु से जावा, बाली आदि द्वीपों मे 'चदन की लकडी' का अर्थ लिया जाता है, देवदारु नही। 'अरम्'—यह 'अर' उस शिल्पी का नाम है या कुछ और? 'दीर्घदर्शी' के पहले कौन-सा अक्षर है? 'अ'? छठे पद्य के 'आर्द्रर्थ्ये' का क्या मतलब? अथवा यह कोई और ही शब्द है? आठवे पद्य मे 'न अमुत्र' के आगे का 'च' भ्रम से लिखा हुआ प्रतीत होता है, छंद उसे नही चाहता।

७—कलस्सन् का शिलालेख, शक-संवत् ७०० [The Kalasan Inscription]

यह लेख सतसठ सेंटीमीटर लबे और छियालीस सेटीमीटर चौडे शिलापट्ट पर खुदा हुआ है। यह शिलापट्ट कलस्सन् और परबनन् के बीच रेलवे लाइन के समीप मिला था। आज-कल यह 'योग्यकर्त्ता' मे पड़ा हुआ है। यह लेख चौदह सतरो मे, नागरी लिपि मे, लिखा हुआ है। सवत् ७०० शक दिया हुआ है। इस समय के उत्तरी भारत के लेख भी ऐसी ही नागरी लिपि मे लिखे मिलते हैं। उदाहरणार्थ, महेद्रपाल की प्रशस्ति (A. D 761, in Indian Antiquary, XV, 112) शैलेंद्रवश के महाराज 'द्या: पचपण पणकरण' ने अपने गुरुओ अथवा गुरु के कथनानुसार तारादेवी की प्रतिमा बनवाई—उसका मंदिर बनवाया और महायानिक बौद्ध भिक्षुओ के लिये विहार बनवाया तथा (उनके भोजनाच्छादनादि के निमित्त) 'कालस' नामक गाँव दान दिया। यही इस लेख का विषय है। 'पचपण पणकरण' राजा का पूरा परिचय अभी तक नहीं मिला। लेख मे कुछ शब्द यव-द्वीपीय भाषा के भी हैं। 'नमो भगवत्यै—'

इत्यादि को छोड़कर बाकी सारा लेख पद्यमय है। दो-चार शब्द विवादास्पद हैं, अन्यथा सब सुपठ हैं। उसकी प्रतिलिपि नीचे दी जाती है—

(१) नमो भगवत्यै आर्यतारायै ॥
या तारयत्यमितदुःखभवाब्धिमग्न
लोक विलोक्य विधिवन्त्रिविधैरु

(२) पायैः ।
सा वः सुरेन्द्रनरलोकविभूतिसारं
तारा दिशत्वभिमत जगदेकतारा ॥ [१]
आवर्ज महाराज द्याः पञ्च

(३) पणां पणकरणम् ।
शैलेन्द्रराजगुरुभिस्ताराभवन हि कारित श्रीमत् ॥ [२]
गुर्वाज्ञया कृतज्ञैस्तारादेवी

(४) कृतापि तद्भवनम् ।
विनयमहायानविदां भवन चाप्यार्यभिक्षूणाम् ॥ [३]
पङ्कुरतवानतीरिप

(५) नामभिरादेशशस्त्रिभी राज्ञः ।
ताराभवनं कारितमिदमपि चाप्यार्यभिक्षूणाम् ॥
राज्ये प्रवर्द्धमा

(६) ने राज्ञः शैलेन्द्रवङ्शतिलकस्य ।
शैलेन्द्रराजगुरुभिस्ताराभवनं कृतं कृतिभिः ॥
शकनृपकालातीतै

(७) र्वर्षशतैः सप्तभिर्म्महाराजः ।
अकरोद्गुरुपूजार्थं ताराभवन पणांकरणः ॥
ग्रामः कालसनामा

(८) दत्तः सघाय साक्षिणः कृत्वा ।
पङ्कुर तवान तीरिप देशाध्यक्षान्महापुरुषान ॥
भुरूद

(९) क्षिणेयमतुला दत्ता सघाय राजसिहेन ।
शैलेन्द्रवङ्शभूपैरनुपरिपाल्यार्यसन्तत्या ॥

(१०) सङ् पङ्करादिभिः सन्तवानकादिभिः ।
सङ् तीरिपादिभिः पत्तिभिश्च साधुभिः ॥ अपि च ॥

सावित्री-सत्यवान

चित्रकार—श्री० ए० पी० बनर्जी

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)
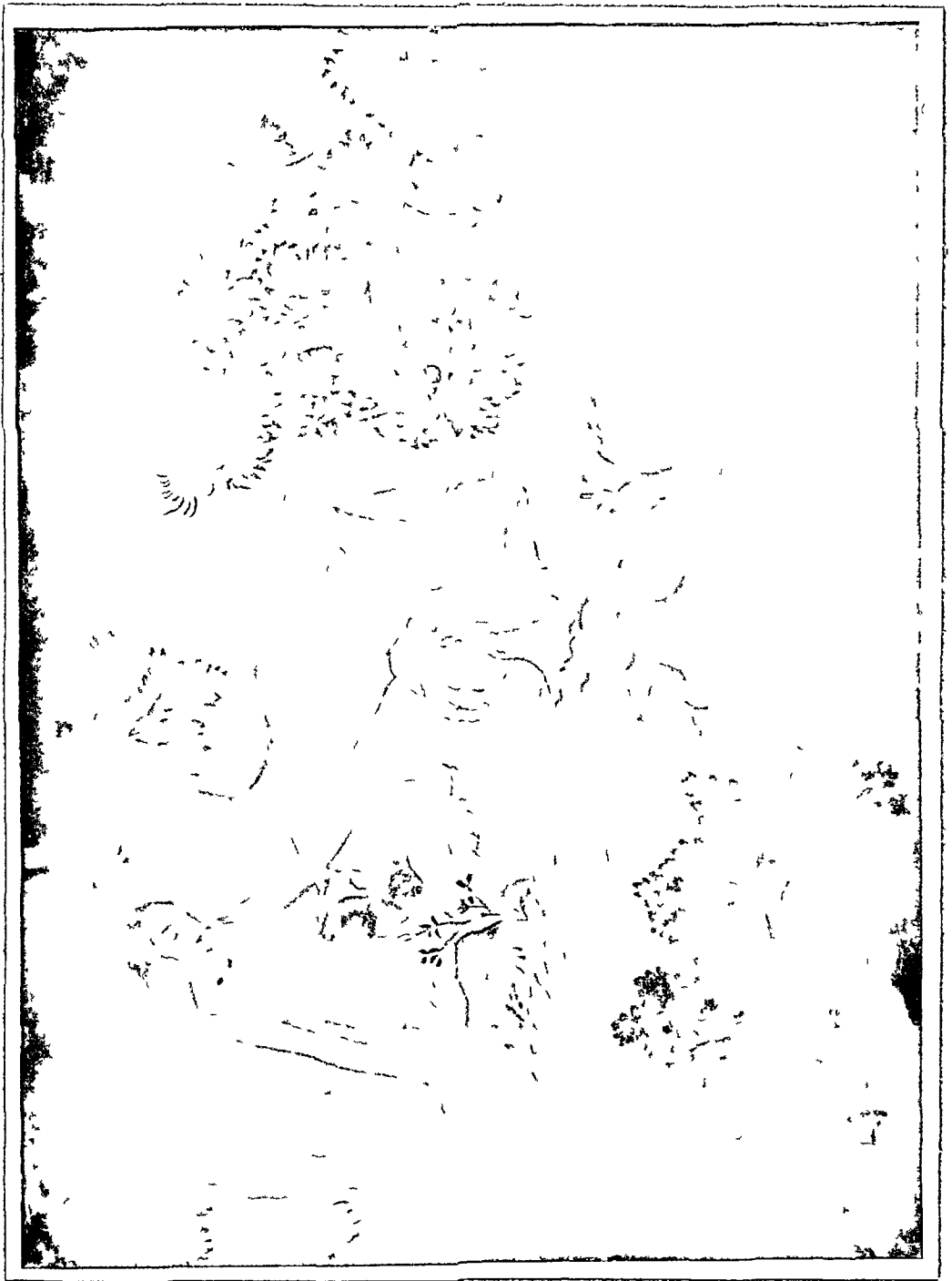
(११) सर्वानेवागामिनः पार्थिवेन्द्रान् भूयो भूयो याचते राजसिङ्हः ।
सामान्यो यन्धर्म्मसेतुर्न

(१२) राणां काले काले पालनीयो भवद्भिः ॥
अनेन पुण्येन विहारजेन प्रतीत्य जातार्थविभागवि

(१३) ज्ञाः ।
भवन्तु सर्वे त्रिभवोपपन्ना जना जिनानामनुशासनज्ञाः ॥
करियानपणकरणः श्री

(१४) मानभियाचतेत्र भाविनृपान् ।
भूयो भूयो विधिवद्विहारपरिपालनार्थमिति ॥

अनुवाद—[१—२] भगवती आर्य तारा के प्रति नमस्कार। दुःखमय अपार ससार-सागर मे डूबे हुए लोगो को देखकर जो (उन्हे वहाँ से) यथावत् तीन उपायों द्वारा उबारती है वह—जगत् की एक-मात्र निस्तारिणी, देवलोक और मर्त्यलोक के वैभव की सारभूता—तारादेवी आपको अभीष्ट फल दे। [२—३] शैलेंद्रराज (वश) के गुरुवर्ग ने महाराज 'द्याः (?) पचपण पणकरण' को प्रेरित कर तारादेवी का सुदर मदिर बनवाया। [३—४] गुरुवर्ग की आज्ञा से कारीगरो ने तारादेवी (की मूर्त्ति) रची, उसका मदिर भी (बनाया), और विनयपिटक (एव अन्य) महायान शास्त्रो के विद्वान् आर्यभिक्षुओ के लिये विहार भी बनाया। [४—५] राजा के 'पकुर', 'तवान' और 'तीरिप' नामधारी अधिकारियों ने तारा का मदिर और आर्यभिक्षुओ का यह भवन भी बनवाया। [५—६] शैलेंद्रवश के तिलक-भूत राजा वृद्धिशाली ने राज्य मे, शैलेंद्रराज (वश) के भाग्यवान् गुरुवर्ग ने, तारा का मदिर बनवाया। [६—७] शक राजा के समय से लेकर सात सौ बरस बीतने पर महाराज पणकरण ने गुरुओ के गौरवार्थ तारा-भवन बनवाया। [७—८] (और) पकुर-तवान-तीरिप-उपाधिधारी प्रतिष्ठित देशाध्यक्षो को साक्षी बनाकर सघ को 'कालस' नामक गाँव प्रदान किया। [८—९] राजश्रेष्ठ ने सघ को यह अतुल भू-दक्षिणा दी। आर्यसतान, अर्थात् शैलेंद्र-वश के (आगामी) राजा लोग, इसे सुरक्षित रक्खे। [१०] (और) पकुर, तवान, तीरिप तथा उनके अधीनस्थ अधिकारिवर्ग और सुशील पदातिगण (उक्त भू-दक्षिणा को सुरक्षित रक्खें)। [११—१२] राजश्रेष्ठ सभी आगामी राजाओ से बार-बार यह अभ्यर्थना करता है कि यह (भू-दान) सर्वसाधारण के लिये एक धर्मसेतु है, (इसलिये) समय-समय पर आप (इसका अनुमोदन कर) इसे सुरक्षित रक्खे। [१२—१३] (राजश्रेष्ठ आशा करता है कि) सभी लोग विहार-प्रतिष्ठापन के इस पुण्यकर्म से प्रसन्न, सर्वविध ज्ञान मे विशेषज्ञ और वैभवसपन्न हो तथा बोधिसत्त्वो के उपदेश (के सार) को समझनेवाले हों। [१३—१४] यहाँ (इस शिलालेख मे) श्रीमान् करियान-पणकरण आगामी राजाओ से (इस) विहार को यथावत् सुरक्षित रखने के लिये बार-बार प्रार्थना करता है।

समीक्षा—'नमो भगवत्यै आर्यतारायै' के अतिरिक्त यहाँ बारह पद्य हैं, जिनमे पहला वसततिलका, दूसरा आर्या का उद्गीति-भेद, तीसरे से आठवे तक आर्या, दसवाँ शालिनी, ग्यारहवाँ उपेद्रवज्रा और बारहवाँ फिर आर्या है। नवाँ पद्य कोई प्रसिद्ध छद नही, अथवा इसके पद्य होने मे

भी सदेह है। यदि यह पद्य है तो पहले और तीसरे पाद मे छः-छः अक्षर हैं एवं दूसरे और चौथे मे सात-सात। गणो अथवा मात्राओ का क्रम भी विषम-विषम और सम-सम है! आगे के 'अपि च' शब्द भी गद्य के भाग हैं। लेख मे पुनरुक्ति उद्वेजक है। प्रथम पद्य का 'त्रिविधैरुपायैः' अस्पष्ट-सा है। साम, दान, भेद, दड—ये चार उपाय हैं। सभव है, त्रिविध उपाय त्रिविध ताप के—मानसिक, वाचिक और कायिक ताप के—प्रतिरूप हो। यह भी सभव है कि 'त्रिविधैरुपायै.' की जगह 'विविधैरुपायैः' पाठ हो। दूसरे पद्य मे भी 'आवर्ज' के स्थान पर सभवतः 'आवर्ज्य' पाठ हो। 'द्याः' भी कल्पना-मात्र है। 'पचपण' भी जावा-निवासियों मे किसी उपनाम अथवा उपाधि के रूप मे प्रसिद्ध है। 'पणकरण' तो राजा की विशेष संज्ञा, अर्थात् राजा का अपना नाम, है। 'गुरुभिः' का अनुवाद 'गुरुवर्ग' किया है, किंतु संभवतः यहाँ बहुवचन आदर-सूचक है और केवल एक ही व्यक्ति का बोधक है, ऐसी हालत मे 'गुरुवर्ग' के स्थान पर केवल 'गुरु' ही अर्थ लेना चाहिए। 'तारा' से यह 'दुर्गा' न समझिए, क्योंकि यह लेख बौद्ध मत का है। बौद्धो मे भी बाद मे कई देवी-देवता माने गए हैं। प्रस्तुत तारा 'अमोघसिद्ध' नामक ध्यानी बुद्ध की पत्नी मानी गई है। विशेष वर्णन अन्यत्र देखिए। तीसरे पद्य में 'कृतज्ञैः' का अर्थ 'कारीगर' किया है। दिनयवाले लेख मे 'स्थापकाद्यै. समौनै. कर्मज्ञैः' इत्यादि पाठ है। वहाँ के 'कर्मज्ञैः' और यहाँ के 'कृतज्ञैः' संभवतः समानार्थक ही हैं, छदोनुरोध से 'कर्म' की जगह 'कृत' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'भवन चापि आर्यभिक्षूणाम्' से अंतिम पद्य मे पडा हुआ 'विहार' ही अभिप्रेत है। चौथे पद्य के 'पकुर, तवान और तीरिप' भी यवद्वीपीय भाषा मे अध्यक्ष-विशेषो के नाम हैं। इनका पूर्ण परिचय अभी तक नही मिला। '—शत्रिभि॰' पद अभी तक सदिग्ध ही है। पाँचवे पद्य का 'शैलेन्द्रवश-तिलक' और ऊपर आए हुए 'पणकरण' एक ही व्यक्ति हैं या नही, इस विषय मे विद्वान् लोग अभी सदेह मे ही पड़े हुए हैं। 'पणकरण' को कोई-कोई 'शैलेद्रवंशतिलक' का वायसराय कहते हैं; क्योंकि शैलेद्रवश और उनका 'श्रीविजय' तथा 'कटाह' नामक देश सुमात्रा मे था। सातवे पद्य मे जो 'ग्रामः कालसनामा' है, वह 'कालस' गाँव आज-कल का 'कलस्सन्' ही प्रतीत होता है। आठवे पद्य मे 'भुर्दक्षिणा' लिखा है, पर मतलब 'भूर्दक्षिणा' से ही है। बारहवे पद्य मे 'करियान' है—अर्थात् 'जिसका वाहन हाथी है'। दिनयवाले लेख मे 'गजयान' शब्द आया है। उसका भी अर्थ वही है। इन शब्दो का पूरा-पूरा तात्पर्य अभी तक नहीं खुला।

लेखांतर-सूची—[१] "The Earliest Sanskrit Inscriptions of Java" by Dr. J. Ph. Vogel. in "Publicaties van den Oudheidkundigen Dienst in Nederlandsche-Indie" Deel I—1925. यह लेख अँगरेजी मे है और साथ मे शिलालेखो के डबल फोटोग्राफ दिए गए हैं। 'पूर्णवर्मा' के चारो लेखो का यहाँ वर्णन है, और उन पर जिन-जिन विद्वानों ने आज तक जो कुछ लिखा है उसकी समालोचना की गई है। [२] "De Sanskrit-inscriptie van Canggal (Kĕdu), uit 654 Cāka" नामक लेख 'चगल' के शिलालेख पर है और प्रोफेसर कर्न के लेख-सग्रह की सातवीं जिल्द मे है, जहाँ और भी बहुत-से शिलालेखो पर लिखा हुआ है—Prof. H. Kern "Verspreide Geschriften, Deel VII." यह लेख डच भाषा मे है। साथ मे शिलालेख का चित्र,

फोटोग्राफ, नहीं दिया हुआ है। [३] "De Sanskrit-inscriptie op den Steen van Dinaja. (682 Caka)" door Dr F D. K. Bosch, in Het Tijdschrift van het Bataviaasch Genootschap van kunsten in Wetenschappen (deel LVII. afleevering 5) और Het Lingga-Heiligdom van Dinaja" इसी लेखक द्वारा, इसी पत्रिका मे (अर्थात् Het Tijdschrift इत्यादि), परंतु Deel LXIV मे, है। यह लेख 'दिनय' के शिलालेख के संबंध मे है और डच भाषा में ही है। [४] "Een Nāgarī-opschrift gevonden tusschen Kalasan en Prambanan" door J Brandes उपर्युक्त पत्रिका के अप्रैल (१८८६) नंबर मे यह लेख 'कलस्सन्'वाले शिलालेख पर है। लेखक के पास शिलालेख का अच्छा फोटोग्राफ न होने से शिलालेख के पढने मे बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिन्हे डाक्टर बॅस्स ने इस शिलालेख को पुनः प्रकाशित कर दूर कर दिया है। यह डॉक्टर बॅस्स का लेख उक्त पत्रिका मे ही १६२९—अर्थात् Deel LXVIII—मे छपा है।
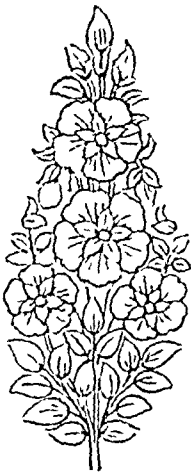
एक

वही एक हम हैं अनेक मे
उसी एक मे व्याप्त अनेक,
तुझमें मुझमे इसमे उसमे
सबमे वही झलकता एक।
भाँति-भाँति के रंग-रूप हैं
अलग-अलग सबकी अनुभूति,
भिन्न-भिन्न हैं भाव पदो के
वही एक है लय की टेक।

मदनमोहन मिहिर
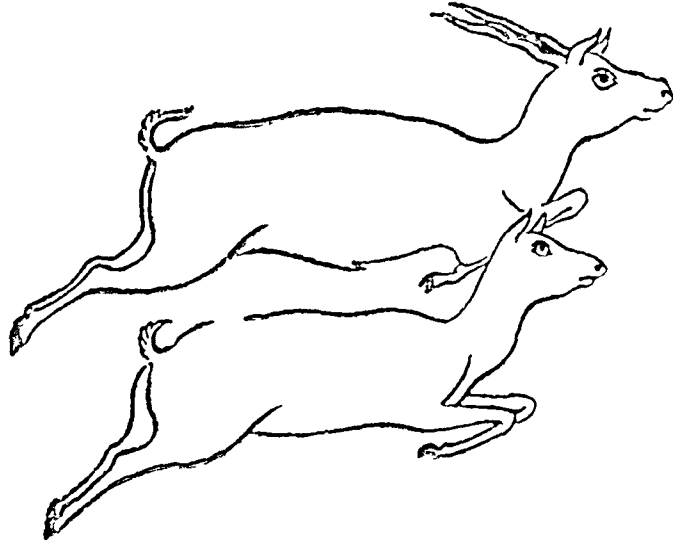
दुखी जीवन

श्री प्रेमचंद

हिंदू दर्शन दुःखवाद है, बौद्ध दर्शन दुःखवाद है और ईसाई दर्शन भी दुःखवाद है! मनुष्य सुख की खोज मे आदि-काल से रहा है और इसी की प्राप्ति उसके जीवन का सदैव मुख्य उद्देश्य रही है। दुख से वह इतना घबराता है कि इस जीवन मे ही नही, आनेवाले जीवन के लिये भी ऐसी व्यवस्था करना चाहता है कि वहाँ भी सुख का उपभोग कर सके। जन्नत और स्वर्ग, मोक्ष और निर्वाण, सब उसी आकांक्षा की रचनाएँ हैं। सुख की प्राप्ति के लिये ही हमने जीवन को निस्सार और ससार को अनित्य कहकर अपने मन को शांत करने की चेष्टा की। जब जीवन मे कोई सार ही नही, और ससार अनित्य ही है, तो फिर क्यो न इनसे मुँह मोड़कर बैठे? लेकिन हम क्यों दुखी होते हैं, वह कौन-सी मनोवृत्ति है जो हमे दुख की ओर ले जाती है, इस पर हमने विचार नही किया। आज हम इसी प्रश्न की मीमांसा करेंगे और देखेंगे कि इस अंधकार मे कही प्रकाश भी मिल सकता है या नही।

दुख के दो बड़े कारण हैं—एक तो वे रूढ़ियाँ जिनमे हमने अपने को और समाज को जकड़ रक्खा है, दूसरा वे व्यक्तिगत मनोवृत्तियाँ हैं जो हमारे मन को सकुचित रखती हैं और उसमे बाहर की वायु और प्रकाश नहीं जाने देती। रूढ़ियों से तो हम इस समय बहस नही करना चाहते, क्योंकि उनका सुधार हमारे बस की बात नहीं, वह समष्टि की जागृति पर निर्भर है, लेकिन व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का सस्कार हमारे बस की बात है, और हम अपना विचार यही तक परिमित रक्खेंगे।

अक्सर ऐसे लोग बहुत दुखी देखे जाते हैं जो असयम के कारण अपना स्वास्थ्य खो बैठे है, या जिन पर लक्ष्मी की अकृपा है। लेकिन वास्तव मे सुख के लिये न धन अनिवार्य है न स्वास्थ्य। कितने ही धनी आदमी दुखी हैं, कितने ही रोगी सुखी हैं। सुखी जीवन के लिये मन का स्वस्थ होना अत्यत आवश्यक है। लेकिन फिर भी सुखी जीवन के लिये नीरोग शरीर लाजिमी चीज है

सभी तो ऋषि नहीं होते। वलवान् और स्वस्थ मन, वलवान् और स्वस्थ देह मे ही, रह सकता है। साधना और तप इस नियम मे अपवाद उत्पन्न कर सकते हैं, लेकिन साधारणत स्वस्थ देह और स्वस्थ मन मे कारण और कार्य का सवध है। यद्यपि वर्त्तमान रहन-सहन ने इसे दुस्तर वना दिया है, तथापि सामान्य मनुष्य अगर वुद्धि से काम ले और प्राकृतिक जीवन के आदर्श की तरफ से आँखे न वद कर ले, तो वह अपनी देह को नीरोग रख सकता है। देह तो एक मशीन है। इसे जिस तरह कोयले-पानी की जरूरत है उसी तरह इससे काम लेने की जरूरत है। अगर हम इस मशीन से काम न ले तो वहुत थोडे दिनो मे इसके पुर्जो मे मोरचा लग जायगा। मजदूरो के लिये यह प्रश्न ही नही उठता। यह प्रश्न तो केवल उन लोगो के लिये है जो गद्दी या कुर्सी पर वैठकर काम करते हैं। उन्हे कोई न कोई कसरत जरूर ही करनी चाहिए। क्रिकेट और टेनिस के लिये हमारे पास साधन नही है तो क्या, हम अपने घर मे सौ-पचास डड-वैठक भी नही लगा सकते? अगर हम स्वास्थ्य के लिये एक घटा भी समय नही दे सकते तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि हम सुख को ठोकरो से मारकर अपने द्वार से भगाते हैं।

भोजन का प्रश्न भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही है। क्या चीज किस तरह और कितनी खाई जाय, इस विषय मे मूर्खों से अधिक शिक्षित लोग गलती करते हैं। अधिकतर तो ऐसे आदमी मिलेगे जो इस विषय मे कुछ जानते ही नही। जिदगी का सवसे वडा काम है भोजन। इसी धुरी पर ससार का सारा चक्र चलता है, और उसी के विषय मे हम कुछ नही जानते! वच्चो मे शील और विनय का, तथा वडो मे सयम का, पहला पाठ भोजन से आरभ होता है। यह हास्यास्पद-सी वात है, पर वास्तव मे आत्मोन्नति का पहला मत्र भोजन मे पथ्यापथ्य का विचार है।

दुख का एक वडा कारण है अपने-ही-आपमे डूवे रहना, हमेशा अपने ही विषय मे सोचते रहना। हम यों करते तो यों होते, वकालत पास करके अपना मिट्टी खराव की, इससे कही अच्छा होता कि नौकरी कर ली होती। अगर नौकर हैं तो यह पछतावा है कि वकालत क्यों न कर ली। लड़के नहीं हैं तो यह फिक्र मारे डालती है कि लडके कव होगे। लडके हैं तो रो रहे हैं कि ये क्यो हुए, ये कच्चे-वच्चे न होते तो कितने आराम से जिदगी कटती। कितने ही ऐसे हैं जो अपने वैवाहिक जीवन से असतुष्ट हैं। कोई माँ-वाप को कोसता है जिन्होंने उसके गले मे जवरदस्ती जुआ डाल दिया—कोई मामा या फूफा को जिन्होने विवाह पक्का किया! अव उनकी सूरत भी उसे पसद नही। वीवी से आए दिन ठनी रहती है—वह सलीका नही रखती, मैली है, फूहड है, मुर्दा है, या मुहर्रमी है। जव देखो, मुँह लटकाए वैठी रहती है। यह नही कि पति महोदय दिन-भर के वाद घर मे आए हैं तो लपक कर उनके गले से लिपट जाय! इस श्रेणी मे अधिकतर लेखक-समाज और नवशिक्षित युवक हैं। ये दूसरो की वीवियो को देखकर अपनी किस्मत ठोकते हैं—वह कितनी सुघड है, कितनी हँसमुख, कितनी सुरुचि रखनेवाली! दिन-रात वेचारे इसी डाह मे जला करते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो चाहते हैं कि सारी दुनिया उनकी प्रशसा करती रहे। खुद जव मौका पाते हैं, अपनी तारीफ शुरू कर देते हैं। वे खुद किसी के प्रशंसक नही वनते, किसी से प्रेम नही करते। लेकिन इच्छुक है कि दुनिया

उनके आगे नतमस्तक खडी रहे, उनका गुण-गान करती रहे। दुनिया उनकी कद्र नहीं करती, इस फिक्र मे घुले जाते है, इससे उनके स्वभाव और व्यवहार मे कटुता आ जाती है। और, ऐसे लोग तो घर-घर मिलेगे जो निन्नानवे के फेर मे पड़कर जीवन को भार बना लेते हैं। सचय, सचय, लगातार सचय! इसी मे उनके प्राण बसते है। ऐसा आदमी केवल उन्ही से प्रसन्न रहता है जो सचय में उसके सहायक होते है। और किसी से उसे सरोकार नही। बीबी से हँसने-बोलने का उसके पास समय नही, लडकों को प्यार करने और दुलारने का उसे बिलकुल अवकाश नही। घर मे किसी से धेले का नुकसान भी हो गया तो उसके सिर हो जाता है। बीबी ने अगर एक आने की जगह पॉच पैसे की तरकारी मॅगवा ली तो पति को रात-भर भीकने का मसाला मिल गया—तुम घर लुटा दोगी, तुम्हे क्या खबर पैसे कैसे आते है, आज मर जाऊँ तो भीख माँगती फिरो। ऐसी-ऐसी दिल जलानेवाली बाते करके आप रोता है और दूसरो को रुलाता है। लडके से कोई चिमनी टूट गई, तो कुछ न पूछो, बेचारे निरपराध बालक की शामत आ गई। मारते-मारते उसकी खाल उधेड़ डाली। माना, लड़के से नुकसान हुआ, तुम गरीब हो और तुम्हारे लिये दो-चार आने का नुकसान भी कठिन है। लेकिन लड़के को पीटकर तुमने क्या पाया? चिमनी तो जुड़ नही गई! हॉ, स्नेह का बधन जरूर टूटने-टूटने हो गया। यह सब अपने-आपमे डूबे रहनेवालो का हाल है। उनके लिये केवल यही औषध है कि अपने विषय मे इतनी चिता न करे, दूसरो मे भी दिलचस्पी लेना सीखे—चिड़िया पालना, फूल-पौधे लगाना, गाना-बजाना, गपशप करना, किसी आंदोलन मे भाग लेना। गरज मन को अपनी ओर से हटाकर बाहर की ओर ले जाना ही ऐसे चिताशील प्रकृतिवालो के लिये दुःखनिवारक हो सकता है।

उदासीन प्रकृतिवाले भी अक्सर दुखी रहते हैं। संसार मे इनके लिये कोई सार वस्तु नहीं। यह मरज अधिकतर उच्च कोटि के विद्वानो को होता है। उन्होने ससार के तत्त्व को पहचान लिया है और जीवन मे अब ऐसी उन्हे कोई वस्तु नही मिलती जिसके लिये वे जिएँ! संसार रसातल की ओर जा रहा है, लोगो से प्रेम उठ गया, सहानुभूति का कही नाम नही, साहित्य का डोगा डूब गया, जिससे प्रेम करो वही बेवफाई करता है, ससार मे विश्वास किस पर किया जाय?—यह चीज तो उठ गई, अब लखन-से भाई और हनुमान-से सेवक कहॉ? यह उदासीनता अधिकतर उन्ही लोगो मे होती है जो सपन्न हैं, जिन्हे जीविका के लिये कोई काम नही करना पड़ता। मजे से खाते हैं और सोते हैं। क्रियाशीलता का उनमे अभाव होता है। वे दुनिया मे केवल रोने के लिये आए हैं, किसी का उनकी जात से उपकार नही होता। हर-एक चीज मे ऐब निकालना, हर-एक चीज से असतुष्ट रहना, यही उनका उद्यम है। ऐसे लोगो का इलाज यही है कि तुरत किसी काम मे लग जायॅ। और कुछ न हो सके तो ताश खेलना ही शुरू कर दे। कोई भी व्यसन उस रोने से अच्छा है। संसार कब रसातल की ओर नही जा रहा था? जब कौरवो ने द्रौपदी को भरी सभा मे नगा करना चाहा और पांडव बैठे टुकुर-टुकुर देखते रहे, क्या तब ससार रसातल को नही जा रहा था? किस युग मे भाई ने भाई का गला नही काटा, मित्रो ने विश्वासघात नही किया, व्यभिचार नही हुआ, शराब के दौर नही चले, लड़ाइयाँ नहीं हुई, अधर्म नही हुआ? मगर पृथ्वी आज भी वही है जहॉ दस हजार बरस पहले थी! न रसातल गई

न पाताल! और इसी तरह अनत काल तक रहेगी। सदेह जीवन का तत्त्व है। स्वस्थ मन मे सदैव सदेह उठते हैं और ससार मे जो कुछ उन्नति है उसमे सदेह का बहुत हाथ है। लेकिन संदेह क्रियाशील होना चाहिए, जो नित नए आविष्कार करता है, जो साहित्य और दर्शन की सृष्टि करता है। ससार अनित्य है तो आपको इसकी क्या चिता है? विश्वास मानिए, आपके जीवन मे प्रलय न होगा। और अगर प्रलय भी हो जाय तो आपके चिता करने की वजह? जो सबकी गति होगी वही आपकी भी होगी। घर से बाहर निकलकर देखिए--मैदान मे कितनी मनोहर हरियाली है, वृक्षो पर पक्षियो का कितना मीठा गाना हो रहा है, नदी मे चाँद कैसा थिरक रहा है। क्या इन दृश्यो से आपको जरा भी आनद नही आता? किसी झोपड़ी मे जाकर देखिए। माता फाके कर रही है, पर कितने प्रेम से बालक को अपने सूखे स्तन से चिमटाए हुए है! पत्नी अपने बीमार पति के सिरहाने बैठी मोती बरसा रही है और ईश्वर से मनाती है कि पति की जगह वह खुद बीमार हो जाय। विश्वास कीजिए, आप सेवा और त्याग तथा विश्वास के ऐसे-ऐसे कृत्य देखेगे कि आपकी आँखे खुल जाएँगी। हो सके तो उनकी कुछ मदद कीजिए, प्रेम करना सीखिए। उस उदासीनता की, उस मानसिक व्यभिचार की, यही दवा है।

आज-कल दुख की एक नई टकसाल खुल गई है और वह है—जीवन-सग्राम! जीवन-सग्राम! जिधर देखिए, यही आवाज सुनाई देती है! इस सग्राम मे आप किसी से सहानुभूति की, क्षमा की, प्रोत्साहन की, आशा नही कर सकते। सभी अपने-अपने नख और दंत निकाले शिकार की ताक मे बैठे हैं। उनकी क्षुधा प्रशात-महासागर से भी गहरी है, किसी तरह शांत नही होती। काश! यह दिन चौबीस घटो की जगह अड़तालीस घटो का होता! इधर सूर्य निकला और उधर मशीन चली। फिर वह दो बजे रात से पहले नही बद हो सकती—एक मिनट के लिये भी नही। नाश्ता खडे-खडे कीजिए, खाना दौडते-दौडते खाइए, मित्रो से मिलने का समय नही, फालतू बाते सुनने की फुर्सत नही। मतलब की बात कहिए साहब, चटपट! समय का एक-एक मिनट अशरफी है, मोती है, उसे व्यर्थ नही खो सकते। यह सग्राम की मनोवृत्ति पच्छिम से आई है और बडे वेग से भारत मे फैल रही है। बडे-बड़े शहरो पर तो उसका अधिकार हो चुका। अब छोटे-छोटे शहरो और कस्बो मे भी उसकी अमलदारी होती जाती है। मदी, तेजी, बाजार के चढ़ाव-उतार, हिस्सो का घटना-बढ़ना—यही जीवन है। नीद मे भी यही मदी-तेजी का स्वप्न देखते है! पुस्तके पढ़ने की किसे फुर्सत, सिनेमा देख लेगे। उपन्यास कौन पढ़े, छोटी कहानियो से मनोरजन कर लेते है। लेकिन यह खब्त भी है कि हम किसी क्षेत्र मे भी किसी से पीछे न रहे। साहित्य और दर्शन और राजनीति, हर विषय मे नई से नई बाते भी हमसे बचने न पावे। सुरुचि और सर्वज्ञता के प्रदर्शन के लिये नई से नई पुस्तके तो मेज पर होनी ही चाहिएँ। किसी तरह उनका खुलासा मिल जाय तो क्या कहना, दस मिनट मे किताब का लुब्बे-लवाब मालूम हो जाय। आलोचना पढ़कर भी तो काम चल सकता है। इसी लिये लोग आलोचनाएँ बड़े शौक से पढ़ते है। अब हम उन ग्रंथो पर अपनी राय देने के अधिकारी है! सभ्य समाज मे कोई हमे मूर्ख नही कह सकता। इस भाग-दौड के जीवन मे आनद के लिये कहाँ स्थान हो सकता है? जीवन मे सफलता अवश्य आनद का एक अंग है, और बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग, लेकिन हमे उस तेज घोड़े को अपनी रानो के नीचे रखना

चाहिए। यह नहीं कि वह हमे जिधर चाहे लिए दौडता फिरे। जीवन को सग्राम समझना—यह समझना कि यह केवल पहलवानो का अखाडा है और हम केवल अपने प्रतिद्वद्वियों को पछाडने के लिये ही ससार मे आए है, उन्माद है। इसका परिणाम यह होता है कि हमारी इच्छा तो बलवान् हो जाती है, लेकिन विचार और विवेक का सर्वनाश हो जाता है। इसका इलाज केवल यह है कि हम सतोष और शांति का मूल्य समझे। जीवन का आनद खोकर जो सफलता मिले वह वैसी ही है जैसे अंधी आँखो के सामने कोई तमाशा। सफलता का उद्देश्य है आनद। अगर सफलता से दुख बढे, अशांति बढ़े, तो वह वास्तविक सफलता नही।

भविष्य की चिंता दुख का कारण ही नहीं, प्रधान कारण है। कल कही चल बसे तो क्या होगा! घर का कुछ भी इंतजाम न कर सके। मकान न बनवा सके। पोते का विवाह भी न देखा। इधर हमने आँखे बद की और उधर सारी गृहस्थी तीन-तेरह हुई! लडका उडाऊ है, पैसे की कद्र नही करता, न जमाने का रुख देखता है। इस चिता मे अक्सर रात को नीद नही आती, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा असर पडता है। ऐसी मनोवृत्ति नई-नई शकाओ की सृष्टि करने मे निपुण होती है। दो-चार दिन खाँसी आई तो तुरंत तपेदिक की शंका होने लगी। दो-चार दिन हल्का ज्वर आ गया तो शका हुई, जीर्ण-ज्वर है! अगर जवानी मे आँखे बहक गई हैं तो अब पाप की भावना हृदय को दबाए हुए है। यही शका लगी हुई है कि उस अपराध के दड-स्वरूप न जाने क्या आफत आनेवाली है। लडका बीमार हुआ और मान-मनौती होने लगी। बस वही दड है। किसी बडे मुकदमे मे हारे और वही शंका सिर पर सवार हुई। बस यह सब उसी का फल है। इतना बोझ लेकर वैतरणी कैसे पार होगी! नरक की भीषण कल्पना खाना-पीना हराम किए देती है। इसका इलाज यही है कि आदमी हर-एक विषय पर ठडे मन से विचार करे, यहाँ तक कि उस पर उसके सारे पहलू रोशन हो जायँ। तुम क्यो समझते हो कि तुम्हारे लडके तुमसे ज्यादा नालायक होगे? इसी तरह तुम्हारे बाप ने भी तो तुम्हे नालायक समझा था! पर तुम तो लायक हो गए और आज गृहस्थी की देख-भाल मजे से कर रहे हो। तुम्हारे बाद इसी तरह तुम्हारा लडका भी घर सँभाल लेगा। मुमकिन है, वह तुमसे ज्यादा चतुर निकले। और पाप तो केवल पथो का ढकोसला है। हमारे समुदाय मे कोई शराबी नही, हमने पी ली तो पाप किया। क्यो पाप किया? करोडो आदमी रोज पीते हैं, खुले-खजाने पीते हैं। वे इसे पाप नहीं समझते, बल्कि उनकी निगाह मे जो शराब न पिए वही पापी है। हमारे कुल मे मांस खाना वर्जित है, हमने खा लिया तो कोई पाप नही किया। सारी दुनिया खाती है, फिर हमारे लिये ही क्यो मास खाना पाप है? पाप वही है जिससे अपना या दूसरो का अहित होता हो। अगर शराब पीने से तुम्हारे सिर मे दर्द होने लगता है या तुम बहककर गालियाँ बकने लगते हो, तो बेशक तुम्हारे लिये शराब पीना पाप है। अगर तुम शराब के पीछे बाल-बच्चो को खाने-पीने का कष्ट देते हो, तो बेशक शराब पीना तुम्हारे लिये पाप है, उसे तुरन्त छोड़ दो। इसी तरह मांस खाने से अगर तुम्हारे पेट मे दर्द होने लगे तो वह तुम्हारे लिये वर्जित है। मांस ही क्यो, दूध पीने से तुम्हारी पाचनक्रिया बिगड जाय तो दूध भी तुम्हारे लिये वर्जित है। धर्म-अधर्म के मिथ्या विचारो मे पड़कर, दैवी दड की कल्पनाएँ

करके, क्यों अपने को दुखी करते हो ? बाबा-वाक्य की गुलामी—केवल इसलिये कि बाबा-वाक्य है—चाहे कट्टरपथियो में तुम्हारा सम्मान बढ़ा दे, पर है मूर्खता। स्वय विचार करो कि वास्तव मे दुष्कर्म क्या है। अपने कारोबार मे काइयाँपन, नौकरो से कटु व्यवहार, बाल-बच्चो पर अत्याचार, अपने सहवर्गियो से ईर्ष्या और द्वेष, प्रतिद्वद्वियो पर मिथ्या आरोप, बुरी नीयत, दगा-फरेब—ये सब वास्तव में दुष्कर्म हैं जिनकी कानून मे भी सजा नही, लेकिन जिनसे मानव-समाज का सर्वनाश हो रहा है। मन मे पाप की कल्पना का बैठ जाना हमारे आत्म-सम्मान को मिटा देता है और जब आत्म-सम्मान चला गया तब समझ लो कि बहुत-कुछ चला गया। पापाक्रांत मन सदैव ईर्ष्या से जला करता है, सदैव दूसरो के ऐब देखता रहता है, सदैव धर्म का ढोग रचा करता है। जब तक वह दूसरों के पाप का पर्दा न खोल दे और अपनी धर्म-परायणता प्रमाणित न कर दे, उसको शांति नही !

हमारे दो-एक मित्र ऐसे हैं जिन्हे हमेशा यह फिक्र सताया करती है कि लोग उनसे जलते हैं, उनके लेखो की कोई प्रशसा नही करता, उनकी पुस्तको की बुरी आलोचनाएँ ही होती हैं। अवश्य ही कुछ लोगों ने एक गुट बनाकर उनका अनादर करना ही अपना ध्येय बना लिया है। ऐसे आदमी सदैव दूसरों से इस तरह सशक रहते हैं मानो वे खुफिया पुलिस हो। बस, जिसने उनकी प्रशसा न की उसे अपना दुश्मन समझ लिया। इसका कारण इसके सिवा और क्या है कि वे अपने को उससे कही बडा आदमी समझते है जितने वे हैं। ससार को क्या गरज पडी है कि उनके पीछे हाथ धोकर पड जाय। हम अपनी रचना को अमूल्य समझे, इसका हमे अधिकार है, लेकिन दूसरे तो उसे तभी अमूल्य समझेंगे जब वह अमूल्य होगी। यह मनोवृत्ति जब बहुत बढ़ जाती है तब आदमी अपने लडकों को ही अपना बैरी समझने लगता है। वह कदाचित् आशा करता है कि उसके लड़के अपने लडकों से ज्यादा उसका खयाल रक्खे। यह अस्वाभाविक है। किसी को यह अधिकार नहीं कि वह किसी दूसरे को, चाहे वह उसका लड़का ही क्यो न हो, उसके स्वाभाविक मार्ग से हटाकर अपनी राह पर लगाए।

भूमि की 'पादावर्त्त' नामक प्राचीन माप

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर-हीराचंद ओझा

कौटलीय अर्थशास्त्र तथा प्राचीन ताम्रपत्रादि मे कई सस्कृत-शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनका ठीक अर्थ सस्कृत-कोषो मे नहीं मिलता। ऐसे ही दुर्बोध शब्दो मे एक 'पादावर्त्त' भी है। 'पादावर्त्त' भूमि की एक नाप भी था, जिसका ठीक मान अज्ञात है। 'वाचस्पत्यबृहदभिधान' मे प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचद्र के आधार पर उसका अर्थ 'कुएँ आदि से जल निकालने का यत्र'[1]—अर्थात् 'अरहट' (रहँट)—दिया है। 'शब्दकल्पद्रुम' मे हेमचद्र के उसी हवाले से वही अर्थ दिया है और हिंदी मे 'रहट्' अर्थ[2] बतलाया है। 'शब्दार्थचितामणि'-कोष का कर्त्ता भी वही अर्थ देकर भाषा मे 'रहट' अर्थ बतलाता है[3]। परतु कई ताम्रपत्रो से उसका दूसरा अर्थ 'भूमि की एक नाप' होना भी पाया जाता है, जिसके कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

[१] लगभग दो वर्ष पूर्व काठियावाड के प्रसिद्ध और प्राचीन नगर 'वलभी' (वळा) में खुदाई करते समय दस पत्रो पर खुदे हुए पाँच बडे-बडे ताम्रपत्र मिले, जो मेरे पास पढ़ने के लिये लाए गए थे। उनमे से एक गारुलक-वशी महाराज वराहदास (दूसरे) का (गुप्त) सवत् २३० (ईसवी सन् ५४९) का था। उसमे लिखा है—"श्रीमहाराज ध्रुवसेन के दिए हुए वलभी के निकटवर्ती 'भट्टिपद्रक' (गाँव) मे दग्धक कुटुंबी (कुनबी) के पास (अधिकार) की सौ 'पादावर्त्त' भूमि (वहाँ के) विहार मे रहनेवाली भिक्षुणियों के वस्त्र, भोजन तथा भगवान् (बुद्ध) के धूप, दीप, तैल आदि के निमित्त मैंने (वराहदास ने) अपने माता-पिता और निज के उभय लोक के सुख एव यश के हेतु—जब तक सूर्य, चद्र, समुद्र और पृथ्वी रहे तब तक के लिये—प्रदान की[4]।"

१. कूपादितो जलोद्धारणे यन्त्रभेदे। अरघट्टे। हेमचंद्र (वाचस्पत्य, जिल्द ४, पृष्ठ ४३०४)

२. अरघट्टकः—इति हेमचन्द्र., ४, १५६। रहट् इति हिन्दीभाषा।
(शब्दकल्पद्रुम, तृतीय काड, पृष्ठ १११)

३. अरघट्टके। रहँट्—इति भाषा। (शब्दार्थचिंतामणि, तृतीय भाग, पृष्ठ १२१)

४ श्रीमहासामन्तमहाराजवराहदास. कुशली......यथास्मिन्नेव वलभीसनिकृष्टे श्रीमहाराजध्रुवसेन-प्रसादीकृतभट्टीपद्रग्रामे दग्धककुटुम्बिप्रत्ययक्षेत्रपादावर्त्तशत......विहारभिक्षुणीनां चीवरपिण्डपात भगवत्पादानां

[२] वलभी (वळा) के राजा ध्रुवसेन (दूसरे) के (गुप्त) सवत् ३१३ (ई० सन् ६३२) के दानपत्र मे लिखा है—"मैंने (ध्रुवसेन ने) माता-पिता के पुण्यनिमित्त ब्राह्मण शर्म के पुत्र ब्राह्मण देवकुल, तथा उसके भ्रातृव्य (भतीजे) ब्राह्मण दत्तिल के पुत्र ब्राह्मण भादा—इन दोनों—को सौराष्ट्र देश के वट-पल्लिका-विभाग के अतर्गत 'वहुमूल' गॉव मे तीन विभागोवाला सौ 'पादावर्त्त' नाप का क्षेत्र दान किया[१]।"

[३] बडौदा-राज्य के दामनगर ताल्लुके (जिले) के गणेशगढ़ गाँव से मिले हुए वलभी (वळा) के राजा ध्रुवसेन (प्रथम) के (गुप्त) स० २०७ (ई० स० ५२६–२७) के ताम्रपत्र मे लिखा है—"उसने हस्तवप्र-आहरणी (जिले) के अक्षसरक-विभाग के 'हरियानक' गॉव मे, पश्चिमोत्तर सीमा के चार क्षेत्र-खड और पूर्वोत्तर सीमा के चार क्षेत्र-खड—अर्थात् आठ क्षेत्र-खड—तीन सौ पादावर्त्त नाप के, तथा उसी गाँव की पश्चिमोत्तर सीमा पर चालीस पादावर्त्त भूमि-सहित बावडी, और एक दूसरी बावडी जिसके साथ वीस पादावर्त्त भूमि है, इस प्रकार तीन सौ साठ पादावर्त्त भूमि, वही के रहनेवाले दर्भगोत्री वाजसनेय शाखावाले ब्रह्मचारी ब्राह्मण धम्मिल को, माता-पिता के तथा अपने इहलोक एवं परलोक मे पुण्य-प्राप्ति के निमित्त—जब तक सूर्य, चद्र, समुद्र, पृथ्वी, नदी और पर्वत बने रहे तब तक के लिये—उदक-पूर्वक दान की[२]।"

[४] जूनागढ़-राज्य के मालिया जिले के मुख्य स्थान 'मालिया' से मिले हुए वलभी (वळा) के राजा धरसेन (दूसरे) के (गुप्त) स० २५२ (ई० स० ५७१—७२) के ताम्रपत्र मे लिखा है—"मैंने (धरसेन ने) 'शिव पद्रक' (गाँव) मे सौ पादावर्त्त भूमि जो वीरसेन दतिल के पास है, तथा इससे पश्चिम की पद्रह पादावर्त्त भूमि, एव पश्चिमी सीमा पर एक सौ वीस पादावर्त्त भूमि जो स्कभसेन के पास है, और पूर्वी सीमा पर दस पादावर्त्त भूमि, इसी तरह 'डभी' गाँव की पूर्वी

च धूपदीपतैलाद्युपपादित मया मातापित्र्यो(त्रो)रात्मनश्चोभयलोकसुखयशसे आचन्द्रार्कार्णववक्षितिस्थितिसमकालीनं समनुज्ञात. . ।—(गारुलक महाराज वराहदास के अप्रकाशित दानपत्र से)

१ परमेश्वर श्रीध्रुवसेन कुशली समाज्ञापयत्यस्तु वस्सविदित यथा मया मातापित्रोः पुण्याप्यायनाय व(वे)लापद्रविनिर्गत ब्राह्मणशर्म्मपुत्रब्राह्मणदेवकुलतथैतद्भ्रातृव्यब्राह्मणदत्तिलपुत्रब्राह्मणभादाभ्यां सुराष्ट्रेपु वटपल्लिकास्थल्यान्तर्गतवहुमूलग्रामे त्रिखण्डावस्थितपादावर्त्तशतपरिमाण क्षेत्रं .. उदकातिसर्गेण धर्म्मदायो निसृष्ट. . ।—(वबई की एशियाटिक् सोसाइटी का जर्नल, न्यू सीरीज, जिल्द १, पृष्ठ ४५-४७, ई० सन् १९२५)

२ महाराजध्रुवसेन कुशली समाज्ञापयत्यस्तु वस्सविदित यथा हस्तवप्राहरण्या अक्षसरक-प्रापीयहरियानकग्रामे अपरोत्तरसीम्नि क्षेत्रखण्डचतुष्टय पूर्वोत्तरसीम्नि क्षेत्रखण्डचतुष्टय एवं क्षेत्रखण्डान्यष्टौ यत्र पादावर्त्तशतत्रय पा ३०० अस्मिने(न्ने)व ग्रामे अपरोत्तरसीम्नि ज(य)मलवापि(पी) चत्वारिंशत् पादावर्त्तपरिसरा द्वितीया वापि(पी) विंशत्पादावर्त्तपरिसरा एवमेकत्र सर्व्वम् पादावर्त्तशतत्रय षष्ट्यधिक अत्रैव वास्तव्यब्राह्मणधम्मिलाय दर्भसगोत्राय वाजसनय (वाजसनेय) सब्रह्मचारिणे मातापित्रो पुण्याप्यायनायात्मन-श्चैहिकामुष्मिकयथाभिलषितफलावाप्त(प्ति)निमित्तमाचन्द्रार्कार्णववक्षितिस्थितिसरित्पर्व्वतसमकालि (ली) न... .. उदकातिसर्गेण ब्रह्मदायोतिसृष्ट......। —(एपिग्राफिया इडिका, जिल्द ३, पृष्ठ ३२०-२१)

सीमा पर नब्बे पादावर्त्त भूमि जो वर्द्धकी के पास है, और 'वज्रक' गाँव मे पश्चिमी सीमा पर सौ पादावर्त्त भूमि जो महत्तर-वीकिदिन्न के पास मे है, तथा एक वावड़ी जिसके साथ अठाइस पादावर्त्त भूमि है, ऐसे ही सौ पादावर्त्त भूमि जो 'भूभस' गॉव के कुटुवी (कुनवी) वोटक के पास है, और एक अन्य बावड़ी, (यह सब भूमि) वलि, चरु, वैश्वदेव, अग्निहोत्र तथा अतिथि—इन पॉच यज्ञों के निर्वाह के निमित्त उनके करनेवाले 'उन्नत' गाँव के निवासी वाजसनेयी कण्व-शाखा के वत्सगोत्री ब्राह्मण 'रुद्रभूति' को, अपने माता-पिता के और अपने इहलोक तथा परलोक मे पुण्य-प्राप्ति के लिये, दान की[1] ।"

पादावर्त्त नाप के ऐसे अनेक अवतरण मिलते हैं, परतु उन सवको उद्धृत कर लेख का कलेवर बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। ऊपर उद्धृत किए गए चार अवतरणों से ही ज्ञात हो जाएगा कि 'पादावर्त्त' अवश्य भूमि की नाप भी था, जिसका स्पष्टीकरण इस देश के किसी प्राचीन कोपकार ने नहीं किया—उन्होने तो उसका अर्थ 'कुएँ से जल निकालने का यन्त्र' अथवा 'रहँट' किया है, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है। हाँ, प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् 'वॉथलिग और रॉथ (Bohtlingk and Röth)' के 'सस्कृत वॉर्टेबुक (Sanskrit Worterbuch)' नामक सुप्रसिद्ध वृहत् संस्कृत-जर्मन-कोप मे इस शब्द का अर्थ 'अरहट' के अतिरिक्त, कात्यायन के श्रौतसूत्र की टीका के आधार पर, 'एक वर्गफीट' भी दिया है[2] । उसी कोप के आधार पर, प्रसिद्ध सस्कृतज्ञ मोनियर विलियम्स ने भी, अपने सस्कृत-अँगरेजी-कोप मे, उसका अर्थ 'अरहट' और 'एक वर्गफीट' भूमि ही दिया है[3] । परतु ताम्रपत्रो के देखने से प्रतीत होता है कि यह शब्द 'एक वर्गफीट भूमि' का सूचक नही, किंतु भूमि की किसी बड़ी नाप का सूचक है। उपर्युक्त योरोपियन विद्वानो के कथनानुसार यदि 'पादावर्त्त' केवल एक ही वर्गफीट भूमि का सूचक माना जाय, तो सौ पादावर्त्त भूमि केवल दस फीट लवी और उतनी ही चौड़ी होती है। इतना छोटा कोई क्षेत्र नहीं होता और न ऐसे तुच्छ दान के लिये लवे-चौडे दानपत्र अंकित कराने की आवश्यकता जान पड़ती है। यही आपत्ति देखकर डॉक्टर फ्लीट ने उपर्युक्त 'मालिया' के दानपत्र का सपादन करते समय सौ पादावर्त्त भूमि का आशय 'सौ फीट लंबो और उतनी ही चौड़ी भूमि' बताया है[4]—यह आध वीघे से कुछ ही अधिक होती है। उस समय जमीन की पैदावार का केवल

१. महाराज श्री धरसेनः कुशली···· ··· समाज्ञापयत्यस्तु वः संविदितं यथा मया मातापित्रो पुण्याप्यायनायात्मनश्चैहिकामुष्मिकयथाभिलपितफलावाप्तये अन्तरत्राया शिवकपद्रके वीरसेनदन्तिकप्रत्ययपादावर्त्तशत एतस्मादपरतः पादावर्त्तपन्चदश तथा अपरसीम्नि स्कंभसेनप्रत्ययपादावर्त्तशतं विंशाधिक पूर्वसीम्नि पादावर्त्ता दश डंभिग्रामे पूर्व्वसीम्नि वर्द्धकिप्रत्यय पादावर्त्ता नवति. वज्रग्रामेपरसीम्नि ग्रामशिखरपादावर्त्तशतं वीकिदिन्नमहत्तरप्रत्यया अष्टाविंशतिपादावर्त्तपरिसरा वापी। भुम्भुसपद्रके कुटुम्बिवोटकप्रत्ययपादावर्त्तशतं वापी च। एतत् ··· · उन्नतनिवासिवाजसनेयिकण्ववत्ससगोत्रब्राह्मणरुद्रभूतये वलिचरुवैश्वदेवाग्निहोत्रातिथिपंचमहायाज्ञिकानां क्रियाणां समुत्सर्प्पणार्थमाचन्द्रार्क्कार्ण्णवसरित्क्षितिस्थितिसमकालीन पुत्रपौत्रान्वयभोग्यं उदकसर्ग्गेण निसृष्टं..... ......।

— ('फ्लीट'—गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १६६-६७)

२. देखिए—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ३, पृष्ठ ३२३, टिप्पण ३

३. पृष्ठ ६१८

४. फ्लीट—गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १७०

छठा हिस्सा ही स्वामी को मिलता था। ऐसी दशा मे यदि डॉक्टर फ्लीट का अनुमान स्वीकार किया जाय तो करीब आध बीघा भूमि की आय से, प्रथम अवतरण मे कहे हुए विहार मे रहनेवाली भिक्षुणियो के भोजनाच्छादन तथा भगवान् बुद्ध के धूप-दीपादि का खर्च निकलना, किस प्रकार सभव हो सकता है ? हॉ, यदि यहाँ सौ पादावर्त्त भूमि को सौ बीघा माना जाय तो दान का उद्देश्य सफल हो सकता है।

ऊपर के दूसरे अवतरण मे सौ पादावर्त्त भूमि के तीन विभाग (टुकडे) बतलाए हैं, और वे दो व्यक्तियों को दान किए गए हैं। यदि पादावर्त्त को 'एक वर्गफीट भूमि' माने तो प्रत्येक के हिस्से मे करीब सात फीट लबी और उतनी ही चौडी भूमि होनी चाहिए। डॉक्टर फ्लीट के कथनानुसार सौ फीट लबी और सौ फीट चौड़ी भूमि करीब तैंतीस गज लबी और उतनी ही चौडी—अर्थात् आध बीघे से कुछ ही अधिक—होती है। इस हिसाब से प्रत्येक व्यक्ति के भाग मे पाव बीघे के लगभग भूमि आती है। प्राचीन काल के दानी राजा इतना अल्प भूमि-दान कभी नही करते थे। यदि यहाँ भी 'पादावर्त्त' को एक बीघा मान ले, तो प्रत्येक के भाग मे पचास बीघा भूमि हो सकती है, जिसका दान युक्ति-सगत कहा जा सकता है।

तीसरे अवतरण मे भी एक बावडी के साथ चालीस और दूसरी बावडी के साथ बीस पादावर्त्त भूमि देने का उल्लेख है। 'बॉथलिग' और 'मोनियर विलियम्स' के कथनानुसार 'चालीस पादावर्त्त (चालीस वर्गफीट) भूमि' करीब सवा दो गज लबी और उतनी ही चौडी, तथा डॉक्टर फ्लीट के मतानुसार करीब तेरह गज लबी और उतनी ही चौडी, होती है। ऐसे छोटे परिमाण के भूमि-खड की सिचाई के लिये ही कोई व्यक्ति बावडी (कुऑ) नही बनवाता, और कम से कम इतनी जमीन तो बावड़ी के बनाने मे ही खप जाती है। यदि यहॉ भी 'पादावर्त्त' का अर्थ 'बीघा' मान लिया जाय तो इन बावड़ियो से बीस या चालीस बीघे जमीन की सिचाई होना सभव है।

चौथे अवतरण मे दी हुई सारी भूमि का योग 'पॉच सौ तिरसठ पादावर्त्त' है, जिसमे एक क्षेत्र तो केवल दस पादावर्त्त का ही है—जिसे बॉथलिग आदि के कथनानुसार करीब एक गज लबा और उतना ही चौड़ा, तथा फ्लीट के मतानुसार करीब सवा तीन गज लबा और उतना ही चौड़ा, मानना पड़ता है। इतने छोटे भूमि-भाग को खेत नही कह सकते। इसी तरह बॉथलिग आदि के कहने के मुताबिक 'पाँच सौ तिरसठ पादावर्त्त भूमि' चौबीस फीट लबी और चौबीस फीट चौडी (आठ गज लबी और आठ गज चौडी), और फ्लीट के कथनानुसार लगभग एक सौ नब्बे गज लबी और उतनी ही चौड़ी (अर्थात् उन्नीस बीघे से भी कम) भूमि, होती है। इतनी थोड़ी भूमि की आय से अग्निहोत्र आदि प्रतिदिन के पच-महायज्ञो का व्यय निकलना कदापि सभव नही। हाँ, यदि यहाँ भी 'पाँच सौ तिरसठ पादावर्त्त' को उतने ही बीघे मान ले, तो दान का उद्देश्य सार्थक हो सकता है।

'मालिया' के उक्त दानपत्र के सपादन के अनतर कई ऐसे दानपत्र मिले हैं, जिनमे दान मे दी हुई भूमि का परिमाण 'पादावर्त्त' मे ही दिया हुआ है; परतु उनके विद्वान् सपादको मे से किसी ने 'पादावर्त्त' के ठीक मान का पता लगाने का कष्ट नही उठाया, और जहाँ-जहॉ 'पादावर्त्त' शब्द आया है

वहाँ-वहाँ 'पादावर्त्त' का ही ज्यो का त्यो प्रयोग किया है। सभव तो यही है कि 'पादावर्त्त' बीघे का सूचक होना चाहिए, जैसा हमने ऊपर अनुमान किया है। कौटल्य के अर्थशास्त्र मे 'पादावर्त्त' शब्द का उल्लेख तो नही है, किंतु उसमे भूमि की नाप का परिमाण अवश्य दिया हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि कौटल्य के समय (पूर्वी प्रदेशो मे) दान मे दी जानेवाली भूमि का मान इस प्रकार था—

८ अंगुल की १ धनुर्मुष्टि या कस, ६ कसो का १ दड (दो हाथ)।

१० दड का १ रज्जु (बीस हाथ), ३ रज्जु का १ निवर्त्तन (साठ हाथ)[१]।

विक्रम की तेरहवी शताब्दी मे ज्योतिष के अपूर्व विद्वान् भास्कराचार्य ने 'लीलावती' नामक गणित-विषयक ग्रथ की रचना की। उसमे चौबीस अगुल का एक हाथ, दस हाथ का एक बाँस और बीस बाँस (दो सौ हाथ) का 'एक निवर्त्तन' लिखा है,[२] जो दक्षिण-भारत की नाप होनी चाहिए। जिन ताम्रपत्रो मे 'पादावर्त्त' नाप का उल्लेख है वे सब गुजरात और काठियावाड से सबंध रखते हैं। वहाँ सौ हाथ लबी और उतनी ही चौडी जमीन को 'एक बीघा' कहते हैं[३]। गुजरातवालो का यह 'बीघा' कौटल्य के 'निवर्त्तन' से ड्योढ़े से कुछ अधिक और भास्कराचार्य के 'निवर्त्तन' से आधा है। प्राचीन काल से आज तक, नाप-तौल मे, देश-भेद से भिन्नता चली आती है। 'पादावर्त्त' शब्द सस्कृत भाषा का है और उसका प्रयोग गुजरात के प्राचीन दानपत्रो मे ही मिलता है। अतएव सभव है कि 'पादावर्त्त' गुजरात का बीघा हो।

मेरा यह अनुमान कहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय विद्वानों पर ही निर्भर है।

१ कौटलीयं अर्थशास्त्रम्, (माइसोर संस्करण) पृष्ठ १०६–७

२. लीलावती, परिभाषाप्रकरणम्, पृष्ठ ४। —[हरिप्रसाद भगीरथ (बंबई) के यहाँ का, विक्रम-संवत् १९६३ का, मुद्रित संस्करण]।

३. लालशकर उमीआशंकर त्रवाडी—अकगणित (गुजराती), पृष्ठ ५४ का टिप्पण।

महिम्न-स्तोत्र की प्राचीनता और उसका मूल पाठ

प्रोफेसर रामेश्वर-गौरीशंकर ओझा, एम० ए०

'महिम्नो नापरा स्तुतिः'

भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है। इस देश का धार्मिक साहित्य अत्यत प्राचीन है। इस साहित्य मे समय की आवश्यकता के अनुसार यदा-कदा यथेष्ट परिवर्त्तन होते रहे हैं। पौराणिक काल से स्तोत्र अथवा स्तव-सवधी साहित्य का विशेष प्रचार होने लगा। अधिकांश प्राचीन स्तोत्रो की रचना सस्कृत भाषा मे हुई। देवी-देवताओ के सैकडो स्तव आज भी उपलब्ध हैं। स्तोत्र-मालिका मे शिव, विष्णु और देवी से सवध रखनेवाले स्तोत्रो [१] की प्रधानता है। शिवस्तोत्रो मे 'शिवमहिम्नस्तोत्र' की बहुत अधिक प्रसिद्धि है।[२] यजुर्वेद के रुद्राध्याय के समान इस पवित्र स्तोत्र मे भी धर्मप्राण हिंदू-समाज की बहुत अधिक श्रद्धा है। भगवान् शकर के अभिषेक मे इस पवित्र स्तव का प्रायः पाठ हुआ करता है। इस स्तोत्र की भाषा बहुत सुंदर है। साथ ही, छोटा होने से इसे कंठाग्र करने मे कठिनाई नहीं होती। इसी लिये अनेक शिवभक्त इस भक्तिरस-पूर्ण स्तोत्र को प्राय. कठ कर लेते हैं।

१ स्तोत्र-साहित्य के संबध मे विशेष परिचय के लिये देखिए—दि इडियन हिस्टोरिकल कार्टर्ली (जिल्द १, पृष्ठ ३४०-६०)

२. 'धार'-राज्य (मध्यभारत) के इतिहास-कार्यालय के अध्यक्ष श्रीयुत काशिनाथ लेले महोदय ने मुझे अमरेश्वर-मदिर से मिले हुए इस महिम्नस्तव पर लिखने के लिये प्रोत्साहित किया और इस संबंध मे मुझे उनसे कुछ परामर्श भी मिला है।

मध्यभारत के 'इदौर' नगर से करीब पचास मील दक्षिण-पश्चिम में, मध्यप्रदेश के 'नीमाड़' जिले मे, 'ओकारेश्वर' नामक बहुत पुराना कस्बा है। भारत के प्रमुख तीर्थस्थानो मे इसकी गणना होती है। सुप्रसिद्ध द्वादश ज्योतिर्लिंगों मे एक की स्थिति इसी कस्बे मे बतलाई जाती है। इसके प्राचीन महत्त्व का स्मरण कर एक अर्से से मैं 'ओंकारेश्वर' जाना चाहता था। सन् १९३० ई० के दिसबर मे वह सुअवसर प्राप्त हुआ। एक दिन इदौर के सुप्रसिद्ध हिंदी-प्रेमी रायबहादुर डॉक्टर सरयूप्रसादजी ने मुझसे कहा कि ओकारेश्वर मे 'ममलेश्वर' नामक शिवालय कीं दीवार पर कुछ लेख खुदे हुए हैं जो अक्षरों की प्राचीनता के कारण ठीक-ठीक पढ़े नही जाते। डॉक्टर साहब ने मुझे वहाँ जाकर उन्हे देखने को प्रोत्साहित किया। डॉक्टर साहब से 'ममलेश्वर' नाम सुनकर मुझे ज्योतिर्लिंगों की गणना का यह प्राचीन श्लोक याद आ गया—

सौराष्ट्रे सोमनाथञ्च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालमोकारममलेश्वरम्॥

इस श्लोक मे 'ममलेश्वर' का नाम-निर्देश होने से मुझे अनुमान हुआ कि आज-कल वहाँ जो शिव-मदिर 'ममलेश्वर' कहा जाता है, वह अवश्यमेव कोई प्राचीन देवालय है। 'ओंकारममलेश्वरम्' पद का सधि-विच्छेद करने से 'ओकारम्+अमलेश्वरम्' बनता है। इससे सहज ही अनुमान हो सकता है कि 'ममलेश्वर' का शुद्ध रूप 'अमलेश्वर' अथवा 'अमरेश्वर' (रलयोरभेदात्) होना चाहिए। इसके साथ ही यह शंका भी उत्पन्न हुई कि ज्योतिर्लिंग की वास्तविक स्थिति ओकारेश्वर के देवालय मे है अथवा ममलेश्वर मे। सोचा, ओंकारेश्वर जाने पर ही शका निवृत्त हो सकेगी। अस्तु, तारीख ९ अप्रेल सन् १९३१ को मै इंदौर से ओकारेश्वर पहुँचा। दूसरे दिन वहाँ के बहुत-से देवालय देखे। ओकारेश्वर का मंदिर नर्मदा के उत्तरी तीर पर और ममलेश्वर दक्षिणी तट पर है। ओकारेश्वर जाने के लिये नाव से नर्मदा पार करनी होती है। ओकारेश्वर के मदिर की अपेक्षा मुझे ममलेश्वर का देवालय कही पुराना प्रतीत हुआ। इस मदिर मे लगे हुए शिलालेखो मे, देवालय मे अवस्थित शिवलिग का, 'अमरेश्वर' नाम देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अमरेश्वर-मदिर का शिल्प और उसकी वर्त्तमान स्थिति उसकी विशेष प्राचीनता के प्रमाण है। उस दिन उक्त शिवालय को देखकर मुझे तो यही जान पड़ा कि वस्तुतः ज्योतिर्लिंग की स्थिति अमरेश्वर-मदिर मे होनी चाहिए, न कि ओकारेश्वर के देवालय मे—जहाँ अगणित हिंदू भाई प्रति वर्ष ज्योतिर्लिंग का माहात्म्य समझते हुए 'कर' चुकाकर भी दूर-दूर से दर्शन करने जाते हैं। अमरेश्वर मे इंदौर-राज्य की ओर से प्रति दिन लिगार्चन होता है।

अमरेश्वर-मदिर के सभामडप और गर्भगृह के बीच एक कमरा बना हुआ है, जिसमे प्रायः घना अँधेरा बना रहता है। वहाँ जाकर पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि उसमे दाहिनी और बाई ओर की दीवारो पर अनेक छोटे-बड़े लेख खुदे हुए हैं। उन लेखो की जाँच-पड़ताल करने के लिये उस कमरे मे गैस की बत्ती का प्रबध कर जब उन्हे देखना आरभ किया, तब जान पड़ा कि दीवारो पर की गई मिट्टी की पुताई के भीतर उनका अधिकांश ढँका हुआ है! इसलिये कोई तीन घंटे के परिश्रम से बरसों की जमी हुई मिट्टी को बार-बार धोकर उस भाग को भली भाँति साफ किया! तत्पश्चात् ध्यानपूर्वक

गुड़िया

चित्रकार—श्री० रसिकलाल पारीख

(चित्रकार के सौजन्य से)

देखने से ज्ञात हुआ कि उस कमरे के अनेक लेखो मे से, विक्रम-सवत् ११२० (ईसवी सन् १०६३) मे खुदे हुए, चार सस्कृत-स्तोत्र महत्त्वपूर्ण हैं। ये स्तोत्र मालवा के परमार-वशी राजा उदयादित्य (सन् १०५९—८१ ई०) के राजत्वकाल मे खोदे गए थे। इनमे से दो—क्रमश· नर्मदा और अमरेश्वर महादेव के सवध के—अष्टक हैं जिनकी रचना 'देवप्रसाद' नामक किसी विद्वान् ने की थी। तीसरा तिरसठ श्लोकों का एक शिव-स्तोत्र है जिसका रचयिता वगाल के राढा-प्रात के नवग्राम (नौगाँव) से आया हुआ 'हलायुध' नामक पडित था। चौथा उल्लेखनीय स्तोत्र, जो बाई ओर की दीवार के नीचे के भाग मे खुदा हुआ है, शिवमहिम्नस्तव[1] है। यह पवित्र स्तोत्र तीन फीट दस इच लवे और एक फुट तीन इंच चौडे स्थान मे वीस पक्तियो मे खुदा हुआ है। इसकी लिपि देवनागरी और अक्षर सुडौल हैं। कही-कही पत्थर टूट जाने से कुछ अक्षर नष्ट हो गए हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि महिम्नस्तव खोदे जाने से पूर्व पत्थर का कुछ हिस्सा टूट गया था और उस पर (अठारहवी-उन्नीसवी पक्ति के आरभ में) किसी ने वडे-वडे अक्षरों मे 'पप्रणमती सदा' और उसके नीचे छोटे अक्षरो मे '॥ॐ॥ॐ॥ॐ॥ॐ॥ॐ॥ ॥ॐ॥ॐ॥' खोदा था, जिससे यह स्तव टूटे हुए स्थान एव इन अक्षरो को छोडकर खोदा गया है। इसका भी समय विक्रम-सवत् ११२० (ई० सन् १०६३) है और इसे शिवभक्त 'भट्टारक गधध्वज' ने सावधानी के साथ लिखा था। शुद्ध लेखन की दृष्टि से जान पडता है कि इसमे 'व' के स्थान मे 'व' का प्रचुर प्रयोग हुआ है। जैसे—'व्रह्मादीनां' (पक्ति १), 'व्रह्मन्' (पक्ति २), 'व्रह्मांड' (प० ८) एव 'वत' (प०१४) आदि। इसी प्रकार 'श' के स्थान मे कही-कही 'स' प्रयुक्त हुआ है। यथा—सिरसि (प० ७), परवसान् (प० ७) एव सश्वद्वद्धिः (प० १९) सयुक्त वर्ण मे 'र्' पूर्व-वर्ण रहते हुए भी उत्तर वर्ण को विकल्प से एक और द्वित्व लिखा गया है, किंतु द्वित्व-प्रयोग प्राय देख पडता है। जैसे—'अतर्क्यैश्वर्यै' (प० ३), 'सर्व्व·' (प०१), 'त्वर्व्वाचीने' (प० २), 'कुतर्क्कोय' (प० ३), 'शर्व्वो' (प० १६), 'चद्रार्क्कौ' (प० ११) आदि। पदात का हलत वर्ण उसके पश्चात् लिखे जानेवाले वर्ण से प्राय. मिला दिया गया है जो कुछ अखरता है। यथा—'व्रह्मन्कि' (प० १४) तथा 'स्तुवन्जिह्रेमि' (प० ६)। लेखक को पर-सवर्ण की अपेक्षा अनुस्वार अधिक पसद था, जैसा 'सांख्ये' (प० ४), 'खट्वांग' (प० ५), 'निवर्त्तते' (प० ९) आदि शब्दो मे देख पडता है। विसर्ग का एक उल्लेखनीय प्रयोग बारहवी-तेरहवीं पक्ति मे हुआ है। बारहवी पक्ति के अंत मे 'कत्तु॰' शब्द का विसर्ग तेरहवी के आरभ मे लिखा गया है। इससे लेखक की असावधानी प्रकट होती है। जो हो, इस स्तोत्र की लिपि वारहवी शताब्दी मे मालवा मे प्रचलित देवनागरी है। यह मालवा के परमारो के शिलालेखो की लिपि से मिलती-जुलती है। इसमे यत्र-तत्र पृष्ठमात्राओ का प्रयोग हुआ है। 'इ', 'भ', 'ध', 'श' आदि अक्षरो मे प्राचीन रूप देख पडते हैं। 'व' और 'ध' परस्पर बहुत मिलते-जुलते-से हैं। इसी तरह 'प'

१ यह निर्विवाद जान पड़ता है कि अमरेश्वर-मदिर मे ये स्तोत्र, धार्मिक भाव से प्रेरित होकर ही, खोदे गए थे। प्राचीन काल मे इस देवालय का, धार्मिक दृष्टि से, विशेष महत्त्व होगा। इसी लिये विक्रम-संवत् ११२० मे ये चार सुदर स्तोत्र इसकी दीवारो पर खोदे गए। इससे भी इस मंदिर मे ज्योतिर्लिंग की स्थिति का अनुमान पुष्ट होता है।

और 'ष' मे भी कोई अंतर नही देख पड़ता। इस सबध मे 'वपुष:' (प० ६) तथा '०मोच्चैरपि' का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ पंक्ति की सख्या 'अमरेश्वर के पाठ की प्रतिलिपि' के अनुसार है, जो अंत मे दी गई है।

अमरेश्वर-देवालय से मुझे महिम्नस्तव[1] की जो प्रस्तरांकित प्रति मिली है, उसमे केवल इकतीस श्लोक हैं। इकतीसवे श्लोक के पश्चात लिखा है कि 'इति महिम्नस्तव समाप्तमिति'। इससे जान पड़ता है कि आज से करीब आठ सौ सत्तर वर्ष पूर्व—जब यह स्तोत्र वहाँ खोदा गया था—महिम्नस्तव मे आज-कल की प्रतियो मे मिलनेवाले चालीस, इकतालीस, बयालीस या तैतालीस श्लोको के स्थान में केवल इकतीस ही श्लोक प्रचलित थे। इससे यह अनुमान हो सकता है कि इकतीस से आगे के श्लोक पीछे से जोड़ दिए गए हैं। आज-कल की प्रतियों से इकतीसवे श्लोक के पश्चात् निम्नलिखित विशेष श्लोक (क्रम-भेद के साथ) पाए जाते हैं—

[2]असितगिरिसम स्यात्कज्जल सिन्धुपात्रे सुरतरुवरशाखालेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकाल तदपि तव गुणानामीश पार न याति ॥३२॥
असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौलेर्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य।
[3]सकलगणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार ॥३३॥
अहरहरनवद्य धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान्यः।
स भवति शिवलोके [4]रुद्रतुल्यस्तथाऽत्र प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान्कीर्त्तिमांश्च ॥३४॥

१. महिम्नस्तव के पाठ आदि के संबंध मे मैंने निम्नलिखित पुस्तकों का उपयोग किया है—[क] निर्णय-सागर प्रेस (बबई) से प्रकाशित "बृहत्स्तोत्ररत्नाकर." (गुटका साइज), ईसवी सन् १९२६ का छपा हुआ, महिम्नस्तोत्र की श्लोकसंख्या ४०। [ख] निर्णयसागर प्रेस (बं०) से प्र० 'शिवमहिम्नस्तोत्रम्' (मूलपाठ), ई० सन् १९२८ (श्लो० ४३)। [ग] निर्णयसागर प्रेस (बं०) से प्र० 'महिम्नस्तोत्रम्' (मधुसूदन-सरस्वती-प्रणीत शिव और विष्णु दोनों के अर्थ को प्रकट करनेवाली संस्कृत-टीका से युक्त, छठा सस्करण, ई० सन् १९३० (३६ श्लोक)। [घ] हरिप्रसादभगीरथजी (बं०) द्वारा प्रकाशित 'बृहत्स्तोत्ररत्नाकर.' (गुटका साइज), विक्रम-संवत् १९७३, (४० श्लोक)। [ङ] गुजराती प्रेस (बं०) द्वारा प्र० 'बृहत्स्तोत्रमुक्ताहार.' (द्वितीयावृत्ति), वि० सं० १९७९ (श्लो० ४०)। [च] गंगाविष्णु-श्रीकृष्णदास (बं०) द्वारा प्र० 'शाक्तप्रमोद' का शिवतंत्र, वि० सं० १९६८ (श्लो० ४०)। [छ] वेंकटेश्वर प्रेस (बं०) से प्र० 'शिवमहिम्नस्तोत्र-वेदांतसारशिवस्तोत्र,' वि० सं० १९८२ (श्लो० ४०) [ज] श्रीधर शिवलाल (बं०) द्वारा प्र० 'महिम्नचन्द्रशेखरशिवरामाष्टकानि,' संवत् १९७२ (श्लो० ४१)। [झ] पुरंदरे आणि कंपनी (बं०) द्वारा प्र० 'शिवमहिम्नस्तोत्रम्', ई० सन् १९१५ (श्लो० ४२)। [ट] खेमराज-श्रीकृष्णदास (बं०) द्वारा प्र० 'शिवमहिम्नस्तोत्रम्,' वि० सं० १९७७ (श्लो० ४०)। [ठ] भार्गव-पुस्तकालय (बनारस) से प्र० 'शिव-महिम्नस्तोत्रम्', हिंदी-अनुवाद-सहित, (श्लो० ४२)। [ड] उदयपुर-निवासी पंडित श्यामसुंदर द्विवेदी के पास, अनुमानत. सौ वर्ष पूर्व की, 'महिम्नस्तोत्रम्' की हस्तलिखित प्रति (श्लो० ४०)।

२. इन श्लोकों का यह पाठ 'ख' पुस्तक के अनुसार दिया गया है।

३. 'ट' मे 'सकलगुणवरिष्ठ' पाठ मिलता है।

४. 'ट' मे 'रुद्रतुल्यः सदात्मा' पाठ है।

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुति । अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्व गुरोः परम्[1] ॥३५॥
दीक्षादान[2] तपस्तीर्थं ज्ञान यागादिका[3] क्रियाः । महिम्नस्तवपाठस्य कला नार्हन्ति षोडशीम्[4] ॥३६॥

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराज शिशुशशिधरमौले[5]र्देवदेवस्य दास ।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषात्स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्य महिम्न[6] ॥३७॥
सुरवरमुनिपूज्य[7] स्वर्गमोक्षैकहेतु पठति यदि मनुष्य प्राञ्जलिर्नान्यचेताः ।
व्रजति शिवसमीप किन्नरैः स्तूयमानः स्तवनमिदममोघ पुष्पदन्तप्रणीतम् ॥३८॥

[8]आसमाप्तमिद[9] स्तोत्र पुण्य गन्धर्वभाषितम्[10] । अनौपम्य[11] मनोहारि शिवमीश्वर[12] वर्णनम्[13] ॥३९॥
इत्येषा[14] वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छङ्करपादयो. । अर्पिता तेन देवेशः प्रीयता मे सदाशिवः[15] ॥४०॥
तव[16] तत्त्व[17] न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर. । यादृशोऽसि महादेव तादृशाय नमो नमः[18] ॥४१॥
एककाल[19] द्विकाल वा त्रिकाल य पठेन्नरः[20] । सर्वपापविनिर्मुक्तः[21] शिवलोके[22] महीयते[23] ॥४२॥

१ 'ज', 'ट', 'ठ' और 'ड' पुस्तको मे यह सैंतीसवाँ श्लोक है।
२ 'ज' मे 'दान दीक्षा' पाठ मिलता है।
३. 'ट' मे 'होमयज्ञादिका' पाठ हे।
४ 'ज' 'ट' और 'ठ' मे यह पैंतीसवाँ श्लोक है।
५ 'ग' के सिवा अन्य पुस्तको मे 'शशिधरवरमौले' पाठ मिलता है।
६ 'च', 'ज', 'ट', 'ठ' और 'ड' मे यह अडतीसवाँ श्लोक है।
७ 'च', 'ट', 'ठ' एवं 'ड' मे यह उनतालीसवाँ श्लोक है।
८. 'क', 'घ', 'ङ' और 'छ' मे यह श्लोक नहीं मिलता!
९ 'ट' और 'ठ' मे क्रमश 'समाप्त तदिद' एव 'समाप्तिमगमत्' पाठ है।
१० 'ट' एव 'ड' मे इस श्लोक का दूसरा चरण 'सर्वमीश्वरवर्णनम्' और 'ठ' मे 'पुष्पगन्धर्वभाषितम्' मिलता है।
११. 'ट', 'ठ' एवं 'ड' मे 'अनूपम' पाठ मिलता है।
१२. 'ट' एव 'ड' मे चौथा चरण 'पुण्य गन्धर्वभाषितम्' और 'ठ' मे 'पुण्यमीश्वरवर्णनम्' मिलता है।
१३ यह 'ज', 'ट', 'ठ' तथा 'ड' मे छत्तीसवाँ, 'च' मे सैंतीसवाँ और 'झ' मे इकतालीसवाँ श्लोक है।
१४ 'च', 'ट' और 'ड' मे यह श्लोक नहीं है!
१५ 'ज' मे यह इकतालीसवाँ और 'झ' तथा 'ठ' मे बयालीसवाँ श्लोक है।
१६. 'क', 'घ', 'ङ', 'च', 'छ', 'ज', 'ट', 'ठ' और 'ड' मे यह श्लोक नहीं मिलता!
१७ 'झ' मे 'शिवतत्त्व' पाठ है।
१८ 'ख' तथा 'ग' मे यह इकतालीसवाँ और 'झ' मे चालीसवाँ श्लोक है।
१९ 'ख', 'ग' एव 'ठ' के सिवा अन्य पुस्तको मे यह श्लोक नही मिलता!
२० 'ठ' मे 'पठेत्सदा' पाठ मिलता है।
२१ 'ठ' मे 'भवपाश०' पाठ है।
२२ 'ठ' मे 'शिवलोक' पाठ है।
२३ 'ठ' मे 'स गच्छति' पाठ मिलता है।

वह अन्यत्र भी मुद्रित हुई है। इसमे केवल छत्तीस श्लोक दिए गए हैं। उनमे भी मधुसूदन सरस्वती ने केवल इकतीस पर ही अपनी विशद व्याख्या लिखी है और शेष पॉच को सुगम जानकर छोड दिया है। उस सस्करण के सपादक (वासुदेव लक्ष्मण पणशीकर) ने पाद-टिप्पणी मे लिखा है—"मधुसूदन सरस्वती ने केवल इकतीस श्लोको पर अपनी टीका लिखी और आगे के पॉच को सरल जानकर छोड दिया, तो भी लोकपाठ का अनुसरण कर हमने यहॉ इनसे आगे के श्लोक भी दे दिए हैं।[१]" मधुसूदन एव अमरेश्वर के पाठ का मिलान करने पर जान पडता है कि दोनो एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। इससे पता चलता है कि मधुसूदन सरस्वती के समय तक स्तोत्र के प्राचीन पाठ मे कोई विशेष अंतर नही पडा था। पहले के इकतीस श्लोक प्रधान माने जाते थे और उनके आगे के पॉच गौण। समय बीतने पर कुछ और श्लोक जोड़े गए, जिससे धीरे-धीरे स्तोत्र चालीस और फिर तैतालीस श्लोको का बन गया।

महिम्नस्तव बहुत प्राचीन एव पवित्र स्तोत्र[२] है। मुझे इसकी आठ सौ सत्तर वर्ष की एक पुरानी प्रति मिली है, जिससे इसके प्राचीन एव मूल पाठ का पता चल सकता है। इसलिये यहाँ अमरेश्वर की प्रति के अनुसार पक्ति-क्रम से इस स्तव का पाठ देना आवश्यक प्रतीत होता है। उसकी प्रति-लिपि रहने से पाठको को विशेष सुविधा होगी। वर्त्तमान प्रतियो तथा इस प्रति के पाठ मे जहाँ अंतर देख पडता है, वह टिप्पणो मे दिखलाया गया है। इसके सिवा लेखन-सबधी दोष भी ठीक किए गए हैं। आशा है, इस पाठ के मुद्रित होने के पश्चात्, महिम्नस्तव अथवा स्तोत्र-सग्रहो के विद्वान् सपादक, भविष्य मे प्रकाशित होनेवाले सस्करणो मे, पहले इस पवित्र स्तोत्र के मूल पाठ को छापकर उसके बाद स्तोत्र-प्रणेता एव माहात्म्य-सबधी श्लोको को उससे पृथक् स्थान देंगे, ताकि पाठको को मूल एव क्षेपक का भेद भली भाँति मालूम हो जाय। यहाँ स्पष्ट शब्दो मे यह प्रकट कर देना आवश्यक है कि मुझे यह हठधर्मी कदापि

लिखीं जिनके नाम यहाँ अकारादि-क्रम से पाठकों के परिचय के लिये दिए जाते है—(१) अद्वैतब्रह्मसिद्धि, (२) अद्वैत-रत्नरक्षण, (३) आत्मबोधटीका, (४) आनंदमंदाकिनी, (५) ऋग्वेदजटाद्यष्टविकृतिविवरण, (६) कृष्णकुतूहल नाटक, (७) प्रस्थानभेद, (८) भक्तिसामान्यनिरूपण, (९) भगवद्गीतागूढार्थदीपिका, (१०) भगवद्गीतातात्पर्यकारिका, (११) भगवद्भक्तिरसायन, (१२) भागवतपुराणप्रथमश्लोकव्याख्या, (१३) भागवतपुराणाद्यश्लोकत्रयव्याख्या, (१४) महिम्नस्तोत्रटीका, (१५) राज्ञां प्रतिबोध, (१६) वेदस्तुतिटीका, (१७) वेदांतकल्पलतिका, (१८) शांडिल्य-सूत्रटीका, (१९) शास्त्रसिद्धांतलेशटीका, (२०) सक्षेपशारीरकसारसंग्रह, (२१) सर्वविद्यासिद्धातवर्णन, (२२) सिद्धांत-तत्त्वबिंदु, और (२३) हरलीलाव्याख्या।—ऑफ्रेक्ट, कॅटॅलॉगस् कॅटॅलॉगरम्, जिल्द १, पृष्ठ ४२७, जि० २, पृ० ९२

१ पुस्तक 'ग', पृष्ठ ६३

२ शिवमहिम्नस्तव का महत्त्व इसी से प्रकट है कि अब तक अनेक विद्वानो ने इस पर टीकाएँ लिखी है। यहा कतिपय टीकाकारो एवं कुछ की टीकाओ का नाम-निर्देश किया जाता है—अमरकठ, अहोबल, उपदेव, कृष्णनृप, कैवल्यानद, गोपालभट्ट (स्तुतिचद्रिका), गोविदराम (प्रकाश), गोविदानद (कौमुदी), जगदीशपंचानन (रहस्यप्रकाश), देचयात्मा, परमानद चक्रवर्ती, भगीरथ मिश्र, मधुसूदन सरस्वती, रामजीवन तर्कवागीश, रामदेव, रामानदतीर्थ, विश्वेश्वर सरस्वती, वोपदेव (पजिकाद्व्यर्थी), शंकर, श्रीकृष्ण तर्कालंकार, श्रीधर स्वामी (शिवविष्णुपक्षोभयार्थिका महिम्नस्तवटीका), और हरगोविदशर्मन् (वैष्णवी)।—ऑफ्रेक्ट; कॅटॅलॉगस् कॅटॅलॉगरम्, जिल्द १, पृष्ठ ४४४, जिल्द २, पृष्ठ १०२ और जिल्द ३, पृष्ठ ९६

अभीष्ट नही है कि मेरा ही पाठ भविष्य के लिये मूल पाठ माना जाय। गुजरात, राजपूताना के कुछ राज्यो, तजोर, पूना, काशी, कलकत्ता, नेपाल-राज्य तथा योरप और अमेरिका के बडे-बड़े पुस्तकालयो मे हस्तलिखित सस्कृत-ग्रथो के अनेक बृहत् सग्रह विद्यमान हैं। सभव है, उनमे अथवा किन्ही विद्वान् पडितो के निजी सग्रहो मे अमरेश्वर की इस प्रति से भी प्राचीन प्रतियाँ हो। साथ ही साथ यह भी विचारणीय है कि भट्टारक गधध्वज ने विक्रम-सवत् ११२० मे अमरेश्वर-मदिर की दीवार पर इस स्तोत्र को खुदवाकर अपनी शिव-भक्ति का परिचय दिया था। इससे यह अनुमान युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि उस समय से कइ शताब्दियाँ पूर्व इस पवित्र स्तव की रचना हुई होगी और उस समय तक यह बहुत-कुछ प्रसिद्धि पा चुका होगा। इसलिये अमरेश्वर की प्रति से प्राचीनतर प्रति मिलना असभव नही है।

हमारा काम तो केवल इस दिशा मे कुछ चर्चा छेड देना ही है। आशा है, विद्वान् पाठक इस विषय पर नवीन प्रकाश डालने का प्रयत्न करेगे।

अमरेश्वर के पाठ की प्रतिलिपि

पक्ति १ ॐ नमः शिवाय ॥ महिम्न [1] पार ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि [2] तदवसन्नास्त्वयि गिरः।
अथावाच्यः सर्व्वः स्वमतिपरिणामावधि गृण-
न्ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ॥१॥

अतीतः पथान तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्या[3] य चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स क-
२ -स्य स्तोतव्य. कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्व्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥२॥

मधुस्फीता वाच· परमममृत वि (नि) र्मितवत-
स्तव ब्रह्मन्कि [4] वागपि सुरगुरोर्व्विस्मयपद (दम्)।
मम त्वेतां वाणी गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेस्मिन्पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता[5] ॥३॥

१ श्लोक १-२६ मे शिखरिणी वृत्त है।

२ 'ब्रह्मादीना०' पढना चाहिए।

३ 'रतद्व्यावृत्त्या' होना चाहिए।

४ 'ब्रह्मन् किं' पढना चाहिए।

५. 'बुद्धिर्व्यवसिता' चाहिए।

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षा प्रलयकृ-
स्त्रयी-
३. वस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु ।
अभव्यानामस्मिन्वरद रमणीयामरमणी
विहतु[1] व्याक्रोशी विदधत इहैके जडधियः ॥४॥

किमीहः किं कायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।
अतर्क्यैश्वर्यै[2] त्वय्यनवसरदुस्थो[3] हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥५॥

४. अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति ।
अनीशो वा कुर्याद्भुवनजनने कः परिकरो
यतो मदास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ॥६॥

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
५. नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥७॥

महोक्षः खट्वांगं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरण (णम्) ।
सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रूप्रणिहितां
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥८॥

ध्रुवं कश्चित्सर्व्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये ।
समस्तेप्येतस्मि-
६. न्पुरमथन तैर्व्विस्मित इव
स्तुवन्जिह्रेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥९॥

१ 'विहन्तु' होना चाहिए ।
२. 'अतर्क्यैश्वर्ये' पढना चाहिए ।
३. 'दुःस्थो' चाहिए ।

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिंचो हरिरधः

परिच्छेतु[1] जाता[2]वनिल[3]मनलस्कंधवपुषः

ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश [य] त्

स्वय त [स्थे ता] भ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥१०॥

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकर

दशास्यो यद्बाहू—

७. नभृत रणकडूपरवसा(शा)न् ।

शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाभोरुहबले.

स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्ज्जितमिद(दम्) ॥११॥

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवन

वला[4]त्कैलासेपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।

अलभ्या पातालेप्यलसचलितागुष्ठसि(शि)रसि

प्रतिष्ठा त्वय्यासीद्ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥१२॥

यद्दद्धि

८ सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि स [ती-

म] धश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः ।

न तच्चित्रं तस्मिन्वरिवसतरि[5] त्वच्चरणयो-

र्न कस्या उन्नत्यै[6] भवति शिरसस्त्वय्यनवतिः[7] ॥१३॥

अकाड ब्रह्मांड[8]क्षयचकितदेवासुरकृपा-

विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विष संहृतवतः ।

स कल्माषः कठे तव न कुरुते न श्रियमहो

विकारोपि श्ला-

९ घ्यो भुवनभयभगव्यसनिनः ॥१४॥

१ 'परिच्छेत्तुं' होना चाहिए ।

२ 'यातौ' चाहिए। आज-कल की प्रतियों मे यही पाठ मिलता है और अर्थ की दृष्टि से भी यही उत्तम जान पड़ता है ।

३ 'अनल०' पढना चाहिए। अर्थ-सगति न होने से 'अनिल०' पाठ ठीक प्रतीत नहीं होता। प्रचलित 'अनल०' पाठ ही युक्तियुक्त है ।

४ 'वलात्कैलासे०' होना चाहिए ।

५ '०वसितरि' चाहिए ।

६ कुछ प्रचलित प्रतियों मे 'कस्याप्युन्नत्यै' पाठ मिलता है ।

७ '०य्यवनतिः' होना चाहिए, यही पाठ ठीक जान पड़ता है ।

८. '०कांडब्रह्मांड०' पढ़ना चाहिए ।

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्त्तंते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः ।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभू-
त्स्मरः स्मर्त्तव्यात्मा न हि वशिपु पथ्यः परिभवः ॥१५॥
महीपादाघातादूव्रजसि[1] सहसा सशयपद
पद विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहग्र

१०. ण (णम्) ।

मुहुर्द्यौर्दौस्थ्य यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्व नटसि ननु वामैव विभुता ॥१६॥
वियद्व्यापी तारागणगुणितफनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृपतलघुदृष्टः शिरसि त[2] ।
जगद्द्वीपाकार जलधिवलय तेनकृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्य तव वपुः ॥१७॥
रथः क्षोणी यता शतधृतिरगेंद्रो धनुर-

११. थो

रथांगे चद्रार्क्कौ रथचरणपाणिः शर इति ।
दिधक्षोस्ते कोयं त्रिपुरतृणमाडंवरविधि[3]-
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतत्राः प्रभुधियः ॥१८॥
हरिस्ते साहस्रं कमलवलि[4]माधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमल(लम्) ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्त्ति जगतां (ताम्) ॥१९॥

१२. क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्त फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुव
श्रुतौ श्रद्धां बध्वा कृतपरिकरः कर्मसु जनः ॥२०॥
क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्य शरणद सदस्याः सुरगणाः ।

१. '०द्व्रजति' चाहिए ।
२. 'तं' की अपेक्षा 'ते' ठीक है, क्योंकि उससे युक्तिसंगत अर्थ निकलता है ।
३. 'माडंबरविधि०' पढना चाहिए ।
४. 'कमलबलि०' चाहिए ।

क्रतुभ्रेषस्त्वत्त. क्रतुफलविधानव्यसनिना
ध्रुव कर्तु-

१३ :श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः ॥२१॥

प्रजानाथ नाथ प्रसभमभिक स्वा दुहितर
गतं रोहिद्भूता रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा।
धनुःपाणेर्यात दिवमपि सपत्राकृतमसु
त्रसत तेद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ॥२२॥
स्वलावण्याशसाधृतधनुपमह्राय तृणव
त्पुरः प्लुष्ट दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि।

१४. यदि स्त्रैण देवी य-
मनिरत देहार्द्धघटना-
दवेति[1] त्वामद्धा वत[2] वरद मुग्धा युवतयः ॥२३॥
श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोडी[3]परिकरः।
अमगल्य शील तव भवतु मामैवमखिलं[4]
तथापि स्मर्तॄणा वरद परम मगलमसि ॥२४॥
मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुत.

१५. प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सगितदृशः।
यदालोक्याह्लाद ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्व किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ॥२५॥
त्वमर्कस्त्व सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह -
स्त्वमापस्त्व व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेव त्वयि परिणता विभ्रति[5] गिर
न विद्मस्तत्तत्त्व वय-

१६ मिह यस्त्वं न भवसि ॥२६॥

त्रयी तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्ण विकृति।

१ '०त्वैति' होना चाहिए।
२ 'वत' पढ़ना चाहिए।
३ '०करोटी०' पढना चाहिए।
४. 'नामैव०' होना चाहिए।
५ 'बिभ्रति' चाहिए। 'ख' और 'ग' मे 'बिभ्रतु' पाठ मिलता है।

तुरीयन्ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धान[१]मणुभिः
समस्त व्यस्तं[२] त्वां शरणद गृणात्योमिति पदं(दम्) ॥२७॥
भवः शर्व्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहां -
स्तथा भीमे -
१७. [शा] नाविति यदभिधानाष्टकमिदं(दम्) ।
अमुष्मिन्प्रत्येक प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रविहि [तनम-]
१८. स्योस्मि भवते ॥२८॥
नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः ।
न वर्हिष्ठाय[३] त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्व्वस्मै ते तदिदमिति शर्व्वाय[४] च नमः ॥२९॥
बहुलरजसे[५] विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे
१९. तत्संहारे हराय नमो नमः ।
जनसुखकृते सत्त्वोत्पत्तौ[६] मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः[७] ॥३०॥
[८]कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लघिनी स(श)श्वदृद्धिः ।
इति चकितममंदीकृत्य मां भक्तिराधा -
द्वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहा-
२०. रं (रम्) ॥३१

१. '०विरुन्धान०' पाठ भी कुछ प्रतियों मे मिलता है

२. 'ठ' मे 'समस्तव्यस्तं' पाठ मिलता है, जो ठीक है ।

३. प्रचलित प्रतियों में मिलनेवाला 'वर्षिष्ठाय' पाठ अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि 'यविष्ठाय' के साथ 'वर्षिष्ठाय' का जोड़ा ठीक जँचता है । 'वर्हिष्ठाय' व्याकरण के अनुसार ठीक नहीं जान पड़ता ।

४. कुछ प्रचलित प्रतियों मे 'सर्वाय' मिलता है ।

५. 'बहुलरजसे' होना चाहिए । प्रचलित प्रतियों मे 'बहलरजसे' पाठ मिलता है ।

६ प्रचलित प्रतियों मे 'सत्त्वोद्रिक्तौ' पाठ है ।

७ इस श्लोक मे हरिणी वृत्त है ।

८. मालिनी वृत्त ।

इति महिम्नस्तवं समाप्तमिति ॥ॐ॥ श्रीअमरेश्वरदेवाग्रतः शिवभक्तभट्टारकगन्धध्वजः परमभक्त्या स्तुतिरियं स्वयमालिखत् ॥ संवत् ११२० मङ्गल महाश्रीः ॥ इति शुभ ॥ यमनियमस्वाध्यायाभिरत-जगद्विख्यातकीर्त्तिः ...

२१ · ...अमरेश्वरदेवपादाब्ज भक्त्या प्रणमति ॥ भट्टारकश्रीअङ्गदास ·...... पाशुपतदर्शनविधानाभिरतश्री अमरेश्वरदेवपादाब्जं नित्य प्रणमति ॥ ·· ...भट्टारक [सुशील] पंडित-ज्ञानराशिः परमभक्त्या निःशेषसुरासुराधिपश्रीअमरेश्वरदेवपादान् सदा नित्यं प्रणमति[1] ॥

२२. ·· · ·· · ··श्रीअमरदेव भक्त्या नित्य प्रणमति ॥

१ इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि भट्टारक गंधध्वज के साथ रहनेवाले अन्य भट्टारक तथा पंडितों आदि ने शिव-भक्ति से प्रेरित होकर अमरेश्वर-मंदिर में इस स्तोत्र के अंत में अपने-अपने नाम खुदवाए हैं।

कौन था ?

दूर हँसते तारकों से रूठकर, कंटकों की सेज पर सपने बिछा;
मंद मारुत के करुण संगीत से, सो गई मैं एक अलस गुलाब-सी,
आँसुओं का ताज तब पहना गया,
जो मुझे चुपचाप वह अलि कौन था ?
शून्य निशि में भ्रांत झंझावात से, चौंकता जब विश्व निद्रित बाल-सा,
वन पपीहे के हृदय की 'पी कहाँ', मैं भटकती थी गगन पथहीन में,
तब खड़ा था जो घनों की ओट में,
दीप विद्युत् का लिए, वह कौन था ?
काल के जब कूलहीन प्रवाह में, वह चला निःसार जीवन सीप-सा;
अश्रु इसमें एक जिसका टूटकर, वेदना का मंजु मोती बन गया,
आज भी है तृषित जग जिसके लिये,
वह सुनहला मेघ जाने कौन था !

महादेवी वर्मा
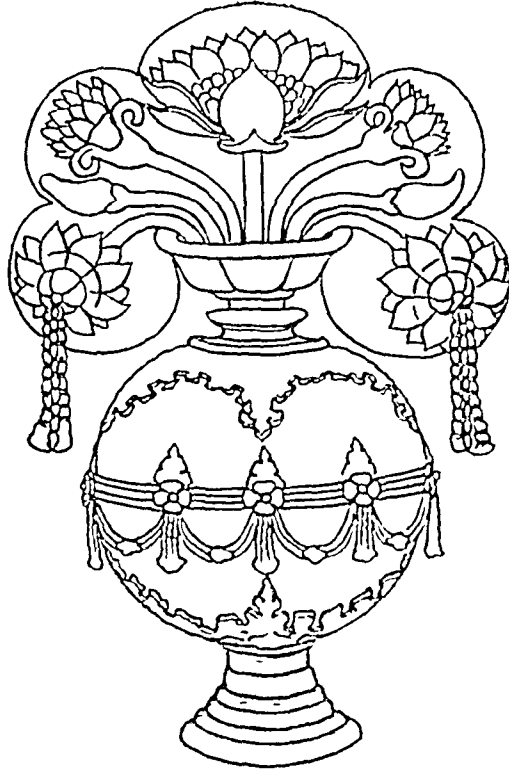
अलंकार

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

काव्य मे अलकार क्या पदार्थ है, इस विषय मे संक्षेप मे यही कहना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार लौकिक व्यवहार मे सुवर्ण और रत्नो द्वारा निर्मित आभूषण शरीर को अलकृत करने के कारण 'अलकार' कहे जाते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थमय काव्य को अलकृत करनेवाली शब्दार्थ-रचना को काव्य मे 'अलकार' कहते हैं। अग्निपुराण (३४२,१७) मे कहा है—'काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते'। काव्य, शब्द और अर्थ उभयात्मक है, अतः अलकार भी दो वर्गो मे विभक्त है—शब्द और अर्थ। शब्द-रचना के वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को सुशोभित करते हैं वे 'शब्दालकार', और अर्थ-वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को सुशोभित करते हैं वे 'अर्थालकार'—एव शब्द तथा अर्थ दोनों के वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को चमत्कृत करते हैं, वे उभयालकार कहे जाते हैं। शब्द-रचना की विचित्रता प्रायः वर्णो और शब्दो की पुनरावृत्ति पर अवलबित है, जैसे अनुप्रास और यमकादि मे, एव अर्थ की विचित्रता विभिन्न प्रकार के अर्थ-वैचित्र्य पर निर्भर है। विचित्रता कहते हैं 'लोकोत्तर शैली'—अर्थात् साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा अतिशय चमत्कारक वर्णन—को। अभिनवगुप्ताचार्य ने कहा है—'लोकोत्तरेण चैवातिशय... अनया अतिशयोक्त्या......विचित्रतया भाव्यते[१]। जैसे—"(१) बनगाय गैया के जैसी है, (२) क्या यह

१. 'ध्वन्यालोक'-व्याख्या, पृष्ठ २०८

वनगाय है अथवा गैया ? (३) यह वनगाय नही, किंतु गैया है, (४) वनगाय को मै गैया समझता हूँ।" ये वाक्य साधारण बोलचाल मे कहे गए हैं। इनमे उक्ति-वैचित्र्य नही जो कहने और सुनने मे कुछ चमत्कारक हो, अतएव इनमे अलकार की स्थिति नही—यद्यपि इनमे क्रमश उपमा, सदेह, अपह्नुति और उत्प्रेक्षा आदि अलकारो के लक्षणो का समन्वय हो सकता है। किंतु, यदि इन वाक्यो के स्थान पर—"(१) मुख चद्रमा के समान है, (२) यह मुख है या चद्रमा, (३) यह मुख नही किंतु चद्रमा है, (४) मुख मानो चंद्रमा है"—इस प्रकार कहा जाय तो इनमे क्रमशः उपमा, सदेह, अपह्नुति और उत्प्रेक्षा अलकारो की स्थिति हो जाती है, क्योंकि इनमे उक्ति-वैचित्र्य का चमत्कार है। इस प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य को सुशोभित करता है। आचार्य भामह ने कहा है—

"सैपा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥[1]"

यहाँ 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग सामान्यतया व्यापक अर्थ मे किया गया है—'वक्रा वैचित्र्याधायिका लोकातिशायिनी उक्ति. कथनम्[2]'। निष्कर्ष यह कि उक्तिवैचित्र्य ही अलकार है। वह उक्ति-वैचित्र्य भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उस उक्ति-वैचित्र्य की विभिन्नता के आधार पर ही महान् काव्याचार्यो द्वारा अलकारो के भिन्न-भिन्न नाम निर्दिष्ट किए गए हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'जब विभिन्न उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर अलकारों के नाम निर्दिष्ट किए गए हैं तब अलकार के नाम के द्वारा ही उसका स्वरूप एव अन्य अलकार से पार्थक्य प्रकट हो जाता है, फिर अलकारो के पृथक्-पृथक् लक्षण निर्मित करके प्राचीनाचार्यो ने क्यो व्यर्थ विस्तार किया ?' यह प्रश्न साधारणतया सारगर्भित प्रतीत हो सकता है, किंतु बात यह है कि जिस अलकार मे जैसी उक्ति का वैचित्र्य अथवा चमत्कार है उसको लक्ष्य में रखकर उस चमत्कार का सकेत मात्र अलकार के नाम द्वारा सूचित किया गया है। किंतु जब तक उसका स्वरूप लक्षण द्वारा स्पष्ट न समझाया जाय, उसके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नाम मात्र के सकेत से नही हो सकता, क्योंकि अलकार-विषय अत्यत जटिल है। प्रायः बहुत-से अलकार ऐसे हैं जिनका दूसरे—उनके सजातीय—अलकार से पार्थक्य करने मे बहुत ही मार्मिक विचार किया जाना परमावश्यक है। अतएव प्राचीनाचार्यो ने लक्षण द्वारा उसका यथार्थ स्वरूप समझाने की कृपा की है। कहने का अभिप्राय यह है कि लक्षण-निर्माण किया जाना अत्यत उपयोगी एव परमावश्यक है। किंतु प्राचीन साहित्याचार्यो के लक्षण-निर्माण को, स्वर्गीय कविराजा मुरारिदान जी ने, व्यर्थ बतलाकर उन पर बडा क्रूर आक्षेप किया है। उनके इस मत पर कुछ प्रकाश डालने के पहले उनका यहाँ कुछ परिचय दिया जाना आवश्यक है, क्योकि वे साधारण कवि न थे। वे जोधपुर के सुप्रसिद्ध स्वर्गीय महाराजा जसवतसिंह बहादुर के चारणकुलावतंस राजकवि थे। उन्होने हिंदीभाषा मे 'जसवतजसोभूषन' नामक एक बडा महत्त्वपूर्ण बृहत्काय ग्रथ रचा है। उन्होने श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री-जैसे उत्कट विद्वान् द्वारा साहित्यिक शिक्षा प्राप्त की थी। शास्त्री जी को उदयपुराधीश स्वनामधन्य स्वर्गीय महाराणा फतहसिंह बहादुर ने

१ 'काव्यालंकार'—२,८५

२. 'काव्यप्रकाश' (वामनाचार्य-टीका), पृष्ठ ६०६

इसी लिये जोधपुर भेजा था। कविराजा मुरारिदान जी स्वय ही बड़े मार्मिक साहित्यज्ञ थे, फिर उक्त ग्रंथ की रचना मे शास्त्री जी की सहायता का सुयोग भी प्राप्त था। यही नही, शास्त्री जी का किया हुआ 'जसवतजसोभूषन' का सस्कृतानुवाद (यशवतयशोभूषण) भी मुद्रित हुआ है [१]। वस्तुतः ये दोनो ग्रथ अत्यत विद्वत्ता-पूर्ण और मार्मिक आलोचनात्मक है। निस्सदेह ये साहित्य-ससार मे कविराजा की कीर्त्ति के रत्न-स्तभ हैं। अस्तु। कविराजा मुरारिदान जी ने इस ग्रंथ मे अत्यत गर्व के साथ यह घोषणा की है कि अलकारो के नामो मे ही लक्षण हैं। आज तक किसी प्राचीन आचार्य ने यह रहस्य नहीं समझा। खेद है कि कविराजा ने साहित्य के आद्याचार्य भरत मुनि और भगवान् वेदव्यास को भी इस रहस्य से अनभिज्ञ बतलाकर उन महानुभावो का अपमान करने का दुस्साहस किया है। कविराजा की विद्वत्ता प्रशंसनीय होने पर भी उनकी यह गर्वोक्ति निर्मूल होने के कारण सर्वथा मिथ्यालाप है, क्योकि न तो इस रहस्य से प्राचीनाचार्य अनभिज्ञ ही थे, न सभी अलकारो के नामार्थ मे लक्षण ही है और न अपने इस भ्रांत मत के कविराजा निर्भ्रांत सिद्ध ही कर सके हैं। अतएव इस रहस्य पर सर्वप्रथम प्रकाश डालने के गौरव के अधिकारी कविराजा कदापि नही हो सकते। उन्होने अपने इस मिथ्यालाप की पुष्टि मे एक विभ्राट् प्रमाण उपस्थित किया है। वे कहते हैं—"कवि जयदेव-प्रणीत 'चद्रालोक' की 'स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसन्देहै-स्तदङ्कालङ्कतित्रयम्' इस कारिका द्वारा सिद्ध होता है कि जयदेव के मत मे भी इन तीन अलंकारों के अतिरिक्त अलकारो के नाम ही लक्षण नहीं [२]।" किंतु इस कारिका द्वारा कविराजा महाशय के कथन का किसी अंश मे भी समर्थन नही हो सकता। इस कारिका के कहने का अभिप्राय तो केवल यही है कि स्मृति, भ्रांति और सदेह—ये तीन अलकार स्पष्ट हैं, इन तीनो मे लोक-प्रसिद्ध वैचित्र्य है, इनके लक्षण समझाना अनावश्यक है। किंतु सारे अलकार ऐसे सरल नहीं जिनके यथार्थ स्वरूप नाम मात्र के द्वारा ही ज्ञात हो जायँ, क्योंकि अलकारो के नाम मे केवल उनके चमत्कार का सकेत मात्र ही सूचित है। और, यही बात प्राचीनाचार्यों के स्वीकृत थी, अतएव 'नाम ही लक्षण' वाली बात वे अवश्य नही मानते थे, क्योकि अलकार के नाम मात्र मे उसका लक्षण नही हो सकता, जैसा आगे दिखाया जायगा। यदि प्राचीनाचार्यों के यह ज्ञात न होता कि अलकारों के नाम उनके चमत्कार के सकेत-सूचक हैं, तो काव्य-प्रकाशादि मे अलकारो के नामार्थ की व्युत्पत्ति किस प्रकार दिखाई जा सकती थी। देखिए, 'काव्यप्रकाश' मे अलकारो के नामार्थ इस प्रकार व्युत्पत्ति द्वारा समझाए गए हैं—(१) 'उपमेयोपमा'—उपमेयेन उपमा उपमेयोपमा, (२) 'समासोक्ति'—समासेन सक्षेपेणार्थद्वयकथनं समासोक्तिः, (३) 'निदर्शना'—निदर्शन दृष्टान्तकरणम्, (४) 'दृष्टान्त'—दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः, (५) 'दीपक'—एकस्यैव समस्तवाक्य-दीपनात् दीपकम्। यह दिग्दर्शन मात्र है। कविराजा जी द्वारा भी अलकारों के नामार्थ की स्पष्टता

१ ये देनों ग्रंथ जोधपुर (मारवाड़) के स्टेट प्रेस मे, राजसंस्करण-रूप मे, मुद्रित हुए है। जोधपुर-नरेश के आज्ञानुसार कविराजा जी साहित्यिक विद्वानों के यह ग्रंथ अ-मूल्य वितरण करते थे। हमको भी साहित्यिक संबंध से ही कविराजा जी ने एक प्रति प्रेषित की थी।

२, जसवंतजसोभूषन, पृष्ठ ३

उषा और संध्या

चित्रकार—श्री० मनीषि दे

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

प्राय: इसी प्रकार है। देखिए, उपर्युक्त अलकारों का नामार्थ उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—(१) 'उपमेयोपमा'—उपमेयेन उपमा, (२) 'समासोक्ति'—थोरे करके बहुत कहने रूप उक्ति—समास, संक्षेप, ये सब पर्याय है, (३) 'निदर्शना'—कर दिखाना, (४) 'दृष्टांत'—दृष्ट.ऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः, (५) 'दीपक'—दीपयतीति दीपकम्। इन अवतरणो द्वारा स्पष्ट है कि कविराजा ने नामार्थ स्पष्ट करने मे प्राय: 'काव्यप्रकाश' का अनुसरण ही किया है। फिर भी वे उपमा का नामार्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"यहाँ 'उप' उपसर्ग का अर्थ है 'समीपता'। कहा है 'चितामणि'-कोषकार ने—'उप सामीप्ये'। 'माङ्' धातु से 'मा' शब्द बना है। 'माङ्' धातु 'मान'-अर्थ मे है। कहा है 'धातुपाठ' मे—माङ् माने; उप सामीप्याद् मा मान उपमा—समीपता करके किया हुआ मान—अर्थात् विशेष ज्ञान। यह 'उपमा' का अक्षरार्थ है। यह उपमा के नाम का साक्षात् अर्थ प्राचीनों के ध्यान मे नही आया। आया होता तो यह व्युत्पत्ति क्यो नही लिखते।"[१]

खेद है कि कविराजा-जैसे सहृदय काव्यमर्मज्ञ विद्वान् की लेखनी द्वारा ऐसे अनौचित्यपूर्ण वाक्य लिखे गए, जब कि उपमा का नामार्थ 'काव्यप्रकाश' मे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"उपमेति। उप सामीप्ये मीयते परिच्छिद्यते (उपमानेन कर्त्रा उपमेय कर्म) अनयेत्युपमा। उप पूर्वात् 'माङ् माने' इति जौहोत्यादिकान्माधातोः आतश्चोपसर्गे (३, ३, १०६) इति पाणिनिसूत्रेण करणे अङ् प्रत्ययः, तत्र 'अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्'। पङ्कजादिवत् योगरूढमिदमुपमापदम्[२]।" कहना अनावश्यक है कि संस्कृत मे ('काव्यप्रकाश' मे) 'उपमा' के नामार्थ की व्याख्या मे जो कुछ कहा गया है, कविराजा जी ने उसी का संक्षिप्त भावार्थ हिंदी मे रख दिया है। हाँ, चिंतामणि-कोष और 'धातुपाठ' का नामोल्लेख उन्होने अवश्य बढ़ा दिया है। अतएव, उनकी इस गर्वोक्ति—'अलकारो के नामार्थ का ज्ञान प्राचीनाचार्यो को न था'—को अकाडताडव के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

अब रहा उनका दूसरा यह आक्षेप कि 'प्राचीनाचार्यों को नामार्थ का ज्ञान होता तो वे लक्षण क्यो निर्माण करते'। इसका संक्षेप मे यही उत्तर है कि अलकारो के नाम-मात्र मे लक्षण हो ही नही सकते। अलकार के नाम मे केवल चमत्कार-सूचक सकेत-मात्र है, जैसा हम पहले कह चुके हैं। इस सिद्धांत को स्थापित करने मे कविराजा भी कृतकार्य न हो सके हैं। उदाहरणार्थ 'प्रथमे ग्रासे मक्षिकापात' की लोकोक्ति को चरितार्थ करनेवाला 'वक्रोक्ति' अलकार ही लीजिए। इस अलकार मे वक्र-उक्ति मे चमत्कार होता है, इसलिये इसके चमत्कार का सकेत-सूचक 'वक्रोक्ति' नाम है। किंतु किस प्रकार की वक्रोक्ति के चमत्कार मे अलकार होता है, यह बात इसके नामार्थ से नही स्पष्ट हो सकती, इसलिये 'काव्यप्रकाश' मे इस अलकार का यह लक्षण बतलाया गया है—

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काका वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा॥

१ जसवंतजसोभूषन, पृष्ठ १७२
२ 'काव्य-प्रकाश', वामनाचार्य-सस्करण, पृष्ठ ६४८—४६

अर्थात् 'अन्य अभिप्राय से कहे हुए वाक्य को दूसरे द्वारा श्लेष अथवा काकु से अन्यथा—वक्ता के अभिप्राय के अतिरिक्त दूसरा अभिप्राय—कल्पित किया जाय।' निष्कर्ष यह कि जहाँ वक्ता के वाक्य का दूसरे व्यक्ति द्वारा अन्य अर्थ कल्पित किया जाय वही वक्रोक्ति अलकार हो सकता है। वह अन्यार्थ-कल्पना, श्लेष अथवा काकु उक्ति द्वारा होती है। किंतु वक्रोक्ति के नामार्थ मे यह वात स्पष्ट नहीं हो सकती, इसलिये लक्षण-निर्माण किया जाना अनिवार्य है।

अच्छा, अब 'नाम मे ही लक्षण' बतलानेवाले कविराजा जी ने वक्रोक्ति अलकार के नामार्थ की स्पष्टता किस प्रकार की है, वह भी देखिए—"वक्र शब्द का अर्थ है 'कुटिल'। इसका पर्याय है बाँका, टेढ़ा इत्यादि। 'वक्रोक्ति' नाम की व्युत्पत्ति है—वक्रीकृत उक्ति—बाँकी की हुई उक्ति। उक्ति का बाँका करना तो पर की उक्ति का ही होता है। .वक्रोक्ति मे कही श्लेष होता है, परतु वह गौण रहता है।" बस, इतना लिखकर वे फिर 'जसवतजसोभूषन' मे ही कहते हैं—

"वक्र करन पर उक्ति को नृप वक्रोक्ति निहार।
स्वर विकार श्लेषादि सौ होत जु वहुत प्रकार।"

विज्ञ पाठकवृद! ध्यान दीजिए। कविराजा ने 'वक्रोक्ति' नाम का अर्थ करते हुए जो यह लिखा है कि 'उक्ति का बाँका करना तो पर की उक्ति का ही होता है', तो यह अर्थ 'वक्रोक्ति' के अर्थ मे कहाँ से निकल सकता है? इसके अतिरिक्त 'स्वर-विकार' और 'श्लेपादि' का अर्थ भी वक्रोक्ति शब्द से कहाँ निकल सकता है? उनका यह कहना कहाँ तक प्रामाणिक है कि 'वक्रोक्ति पर की उक्ति ही की हो सकती है'? यह कथन तो सर्वथा प्रमाद है, क्योंकि 'वक्रोक्ति' स्वय वक्ता अपनी उक्ति मे भी कर सकता है। देखिए—

मथ्नामि कौरवशत समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिर न पिबाम्युरस्तः।
सचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सधि करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥

—'वेणीसहार' (नाटक)

इसमे सहदेव के प्रति स्वय वक्ता भीमसेन की वक्रोक्ति है। किंतु इसमे वक्रोक्ति अलकार नही, क्योंकि प्राचीनाचार्यों ने वक्रोक्ति अलकार को—वक्ता की उक्ति को किसी अन्य द्वारा अयथार्थ कल्पित किए जाने मे ही—सीमावद्ध कर दिया है। अतएव जहाँ स्वय वक्ता की वक्रोक्ति होती है वहाँ अलकार नही, किंतु काकाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य अथवा अवस्था-विशेष मे काकु ध्वनिकाव्य होता है। किंतु 'वक्रोक्ति' के नामार्थ के अनुसार तो पर-उक्ति और वक्ता की स्व-उक्ति दोनों ही ग्रहण की जा सकती हैं। इसी लिये अगत्या कविराजा जी को भी वक्रोक्ति के नामार्थ की स्पष्टता मे—'वक्रोक्ति' के अर्थ मे सभव न होने पर भी—'पर की उक्ति' नामक वाक्य ऊपर से अधिक कहना ही पडा है। 'नामार्थ ही लक्षण' है, यह सिद्धांत तो तभी सिद्ध हो सकता था जब वे ऊपर से कुछ न कहकर केवल अलकार के नाम-मात्र के अक्षरार्थ ही मे अलंकार का सर्वांग लक्षण स्पष्ट करके दिखलाने मे कृतकार्य हो सकते। अतएव, कविराजा जी के 'नाम ही लक्षण'वाले सिद्धांत मे अतिव्याप्तिदोष अनिवार्य-रूपेण उपस्थित हो जाता है। ऐसी अवस्था मे उनका यह कहना कि "हमारे 'नाम ही लक्षण' वाले सिद्धांत मे अव्याप्ति एव अतिव्याप्ति दोष नही हो सकता"

मनोमोदक का आस्वाद-मात्र है। महान् आश्चर्य तो यह है कि जिस लक्षण-निर्माण के विषय में कविराजा जी ने केवल प्राचीन मान्य साहित्याचार्य भरत मुनि आदि महानुभावो पर ही नही, किंतु भगवान् वेदव्यास पर भी घोर आक्षेप किया है, उसी लक्षण-निर्माण के मार्ग का स्वय भी अनुसरण किया है! यहाँ तक कि अलकारो के लक्षण के लिये उन्होने जो भाषा-छद लिखे हैं, वे प्राय: सस्कृत के अनुवाद-मात्र हैं! यह बात वक्रोक्ति की स्पष्टता के लिये निर्मित उनके उपर्युक्त दोहे से विदित हो जाती है। वह दोहा ऊपर उद्धृत की गई काव्यप्रकाशोक्त कारिका का अनुवाद-मात्र है!

सत्य तो यह है कि अलकारो के स्वरूप समझाने के लिये महानुभाव प्राचीन साहित्याचार्यो ने जो बात लक्षणात्मक कारिका या सूत्र द्वारा सक्षेप मे कह दी है, उसी को समझाने के लिये, कोषादि के अनेक प्रमाणो द्वारा, अत्यत विस्तार के साथ, बडी कष्ट-कल्पना एव अनुपयुक्त खैचातानी करके भी, कविराजा अपने सिद्धात की स्थापना करने मे सर्वथा सफल न हो सके! अंततो गत्वा उन्हे प्राचीनो का ही अनुसरण करना पडा। ऐसी अवस्था मे उनकी इस गर्वोक्ति का मूल्य ही क्या हो सकता है!—

"भोज समय निकली नही भरतादिक की भूल।
सो निकसी जसवॅत-समय भए भाग्य अनुकूल ॥"

परम श्रद्धेय पूज्यपाद द्विवेदी जी जैसे प्राचीन सस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ एवं सत्य के पक्षपाती महानुभाव की सेवा मे इस क्षुद्र सेवक की यह श्रद्धांजलि सादर समर्पित है।

उर्दू-शायर और शेख जी

श्री व्रजमोहन वर्मा

उर्दू-काव्य-साहित्य मे—और शायद ससार के साहित्य मे—सबसे निरीह, सबसे असहाय, सबसे गरीब, सबसे लांछित और सबसे अधिक उत्पीड़ित यदि कोई व्यक्ति है, तो वह बेचारा 'शेख' है। उर्दू-शायर उस गरीब पर वक्त-बेवक्त, जा-बेजा, उचित-अनुचित और अंधाधुध हमले किया करते हैं। शेख या उनका कोई अन्य रूप—जैसे वायज, नासेह, जाहिद आदि—उर्दू-कवियों की जिंदादिली के लिये 'गेद-धड़ल्ले' के मैदान हैं, मजाक के तख्तए-मश्क हैं। यदि आप उर्दू-शायर हैं और किसी की खिल्ली उड़ाना चाहते हैं तो 'जनाबे शेख' मौजूद है, किसी के खरी-खोटी सुनाने के इच्छुक हैं तो 'नासेह' को आड़े हाथो लीजिए, यदि किसी को उल्लू बनाने के लिये तबीयत मचल रही है तो 'हजरते जाहिद' पर हाथ साफ कीजिए। 'सरशार' कहते है—"बदमस्त हो पीके एक चुल्लू, जाहिद को बनाएँ खूब उल्लू!" गरज यह कि उर्दू-शायर अपने व्यगो की अनी और कटाक्षो की छुरियाँ इसी बेचारे पर पैनाते हैं। उसका मजाक उड़ाना, उस पर फब्तियाँ कसना मानों शायरो का पुश्तैनी हक है। केवल कुछ ऐरे-गैरे टुटपुँजिए शायरो ने ही शेख जी की पवित्र शान मे यह धृष्टता दिखलाई हो, सो बात नहीं। उर्दू के दिग्गज महारथियो— सौदा-से उस्ताद, मीर-से रुदनशील, गालिब-से गूढ़ और दार्शनिक,

जौक-से राजगुरु, आतिश और नासिख सरीखे सर्वमान्य, हाली-से सदाचारी, अकबर-से जिंदादिल और इकबाल-सरीखे प्रकृति-प्रेमी से लेकर दो मिसरो की चूल बैठा लेनेवाले तुक्कड, नाई-हज्जाम और लौंडी-दासियों तक ने बेचारे शेख की पगडी उतारने मे रत्ती भर हिचक या दया नही दिखलाई है। इसी पर मौलवी मुहम्मद इस्माइल ने जलकर उर्दू-शायरो को शीतला-वाहन बनाते हुए लिखा है—"गरीब शेख पर हरदम दुलत्तियाँ झाडे, करे मसजिदो काबा से दुम दबा के फरार।" ऐसी हालत मे स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह शेख या जाहिद है कौन ? किस देश का रहनेवाला है ? किस तरह का जीव है ? क्या करता है ? उससे उर्दू-शायरो को इतना द्वेष—यह जन्मजात घृणा—क्यो है ? इस 'बुग्जलिल्लाही' का कारण क्या है ? शेख ने किस शायर की लुटिया चुराई है, या किस शायर का बाप मारा है जो सबके सब उस पर टूटे पडते हैं ?

'शेख' अरबी भाषा मे बुजुर्ग, सभ्रांत और बडे विद्वान् को कहते हैं। 'जाहिद' का अर्थ ईश्वर-भक्त और तपस्वी है। 'वायज' और 'नासेह' धार्मिक उपदेश देनेवाले और नसीहत करनेवाले को कहते हैं। परतु उर्दू-शायरी मे ये सब शब्द रूढ़ बनकर एक-दूसरे के पर्यायवाची बन गए हैं। शेख, जाहिद, वायज और नासेह शब्दो से, मोटे अर्थ मे, ऐसे व्यक्ति का बोध होता है जो भावुकता-हीन, कट्टर, संकीर्ण धार्मिक विचारो का हो और स्वच्छंद प्रकृतिवाले तथा धर्म के बँधे ढर्रे पर न चलनेवाले व्यक्तियो को सदा उपदेश, लेक्चरबाजी, डाँट-डपट और समझा-बुझाकर कट्टर पथ की ओर ले जाने की चेष्टा करता हो। अधिकाश शेख 'पर-उपदेश-कुशल' माने जाते हैं। शेख यद्यपि धार्मिकता का दम भरता है तथापि वह धर्म की गंभीरता, उदारता और आंतरिक तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ होता है, और केवल धर्म के बाह्याचारो पर ही जान देता नजर आता है। 'चकबस्त' कहते हैं—"जनाबे शेख को यह मश्क है यादे इलाही की, खबर होती नही दिल को जबाँ से याद करते हैं।" अर्थात् शेख जी को ईश्वर की याद का इतना अभ्यास है कि मुँह से तो वे बराबर खुदा को याद करते रहते हैं, मगर उनके दिल को खबर भी नही होती कि वे क्या रटते हैं।

इस्लाम के धर्म-याजको के विरुद्ध उर्दू-शायरो का इतना द्वेष, इतना लाछन आश्चर्य की बात होनी चाहिए, जब हम यह देखते हैं कि लगभग नब्बे फी सदी उर्दू-शायर स्वय भी इस्लाम के अनुयायी हैं। वास्तव मे यदि देखा जाय तो उर्दू-शायरों को शेख से इस कदर खार खाने का कोई उचित कारण नही है। यह उनका सरासर अन्याय है, और है अंधाधुध नकल का परिणाम। उर्दू के कवि नक्काली के फन मे अपना सानी नही रखते। उर्दू की कविता—कम से कम उसका बहुत बड़ा भाग—फारसी कविता की नकल है, वास्तविकता-हीन प्रतिबिब है। उर्दू-शायरी का विकास फारसी-शायरी के ढग पर—उसी साँचे मे ढलकर—हुआ है। उर्दू-शायरो ने अपनी कल्पना के दर्पण मे फारसी कविता की शैली, गठन, सजावट, मुहाविरे, गुण-दोष, अच्छाई-बुराई—प्रत्येक वस्तु का हू-बहू अक्स उतारकर धर दिया है। कही-कही यह अक्स इतना चटक हो गया है कि उसके सामने असली मूल भी फीका जँचने लगता है। फारसी कविता मे हजरते शेख पर जा-बजा फब्तियाँ चुस्त की गई हैं। बस, उर्दू के नक्काल शायर इसी बात को ले उडे और बेचारे शेख पर वह-वह हाथ जमाए कि खुदा की पनाह।

फारसी कविता मे शेख साहब की लेव-देव क्यो की गई है, इसका उत्तर ढूँढ़ने के लिये हमे ईरान के इतिहास पर एक दृष्टि डालनी पडेगी। ईरानी लोग आर्य जाति के हैं, और उनकी सभ्यता भारतीय सभ्यता के समान ही पुरानी है। जिस प्रकार भारत मे बसनेवाले आर्यो के धर्म और सभ्यता ने विकसित होकर वैदिक धर्म और वैदिक सभ्यता का रूप ग्रहण किया, उसी प्रकार ईरानी आर्यो के विकास ने पारसी धर्म और ईरानी सभ्यता का आकार ग्रहण किया। किसी समय समस्त पश्चिमी एशिया मे ईरानी साम्राज्य और ईरानी सभ्यता का बोलबाला था। ईरानियो ने बलूचिस्तान से लेकर यूनान तक अपना राज्य स्थापित किया था। उनकी विजय-वाहिनी ने कई रोमन सम्राटों के दाँत खट्टे करके योरप मे डैन्यूब और वाल्गा नदियों तक अपना झडा फहराया था। पार्सिपोलिस, नक्श-ए-शापुर और नक्श-ए-रुस्तम के बचे-खुचे भग्नावशेष आज भी अपनी मूक वाणी मे उस महान् ईरानी सभ्यता के भूले हुए अस्पष्ट गान गा रहे है। जिस प्रकार कुछ फलो के पूर्ण परिपक हो जाने पर उनमे कीड़े लगकर उन्हे नष्ट कर देते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक सभ्यता के चरमोत्कर्ष पर पहुँचते ही उसमे विलासिता के कीटाणु घुसकर उसका नाश कर देते है। ईरान मे भी यही हुआ। जिस समय अरब मे इस्लाम का जन्म हुआ, उस समय ये कीटाणु ईरानी सभ्यता मे दूर तक प्रवेश कर चुके थे। तत्कालीन शाशानीय शासक विलासिता मे इतने डूबे थे कि उन्हे प्रजा के सुख-दुख का कुछ ध्यान न था। प्रजा दुखी थी। फल यह हुआ कि नए धार्मिक जोश से भरे हुए अरबो के पहले ही हमले मे कादसिया के युद्ध (सन् ६३७ ई०) मे ईरानी साम्राज्य का पतन हो गया, और जिस प्रकार अँगरेजो ने बिना अधिक प्रयास के भारतवर्ष के एक के बाद दूसरे प्रांत पर अधिकार जमाया, उसी प्रकार ईरान के विभिन्न प्रांत भी—एक के बाद एक—बढ़ते हुए अरबो के आगे झुकते गए।

अरबो की राजनीतिक विजय के साथ ही साथ ईरान मे इस्लाम धर्म का प्रचार भी होता गया। कहते है कि इस्लाम तलवार के जोर और पाशविक बल के बूते पर फैला, मगर ईरान के सबध मे यह कथन ठीक नही है। वहाँ के लोगों ने तलवार के डर के मारे इस्लाम ग्रहण नही किया, बल्कि एक दूसरी मार के डर से—जो तलवार से कही अधिक भयकर थी—इस्लाम को अपनाया। वह मार थी आर्थिक मार, पेट की ज्वाला! विजयी अरबो ने मुसलमानें को सब प्रकार के टैक्सों से मुक्त रक्खा और गैर-मुसलिमों पर 'जजिया कर' लगा दिया। हर-एक आदमी को चार दीनार (दस रुपए) प्रति वर्ष 'जजिया' के देने पड़ते थे[१]। यदि किसी परिवार मे छ· व्यक्ति हुए तो उसे साठ रुपए सालाना का दंड लग गया! यह पहले ही कहा जा चुका है कि तत्कालीन शाशानीय शासकों की विलासिता के कारण ईरानी प्रजा दुखी और गरीब थी, अत: वह इस भारी-भरकम टैक्स का भार न उठा सकी। देश मे ऐसी कोई शक्ति न थी, जो उन्हे इस भयकर 'कर' से बचाती; मजबूर होकर वे मुसलमान हो गए! थोड़े-से व्यक्ति—जो इस 'कर' से तथा विदेशी शासकों की अन्य कठोरताओ से बचना भी चाहते थे,

१. शिबली—'अलफारूक', दूसरा भाग, पृष्ठ १६८

साथ ही अपना धर्म भी नहीं छोड़ना चाहते थे—अपनी मातृभूमि से सदा के लिये विदा होकर भारत-माता की शरण आए। भारत के मौजूदा पारसी उन्ही प्रवासी ईरानियो की सतान हैं।

यद्यपि अरबो को ईरान पर आधिपत्य जमाने और इस्लाम को जरथुष्ट्रि धर्म पर विजय प्राप्त करने मे बहुत अधिक प्रयास और लडाई-झगडे की आवश्यकता नही पडी थी—दोनो ही बाते आसानी से हो गई थी, तथापि वास्तविक सघर्ष इन दोनो प्रकार की विजयों के बाद आरभ हुआ, और किसी हद तक आज भी जारी है। यह सघर्ष तिहरा सघर्ष था—राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और धार्मिक। यद्यपि अरबो ने ईरान पर राजनीतिक विजय पाई, तथापि वे ईरानियो की राष्ट्रीय भावना को न कुचल सके। ईरानी राष्ट्रीयता रह-रहकर अरबो के विरुद्ध विद्रोह करती रही, और ईरानियो की राष्ट्रीय भावना की बदौलत ही उम्मायद खलीफो का पतन हुआ[1]। आज भी ईरानी राष्ट्रीयता अरबो के विरुद्ध विद्रोह कर रही है, जिसके फल-स्वरूप नई पौध के ईरानी अरबी अक्षरो का बहिष्कार कर रहे हैं और अरबी नामो के बदले इस्लाम के आगमन के पहले के ईरानी नामो को अपना रहे हैं। ईरान के मौजूदा शासक रजाशाह की 'पहलवी' उपाधि इसका प्रमाण है।

अरबो की अपनी कोई प्राचीन, उन्नत और गर्व करने योग्य सस्कृति न थी। इसके विरुद्ध ईरानी सस्कृति इतनी प्राचीन और आगे बढी हुई थी, जिस पर कोई भी देश गर्व कर सकता था। फल यह हुआ कि विजेता अरबो की रेगिस्तानी सस्कृति और विजित ईरानियो की प्राचीन परिमार्जित सस्कृति मे सघर्ष आरभ हुआ। यद्यपि सुदीर्घकालीन राजनीतिक शक्ति और धार्मिक प्रभाव के कारण ईरानी सस्कृति मे अनेक परिवर्त्तन हुए—उसे बहुत-से समझौते करने पडे, तथापि अंत मे विजय ईरानी सस्कृति की ही हुई। चूँकि अधिकांश ईरानियो ने आतरिक विश्वास के कारण नही, वरन् 'जजिया' से बचने के लिये ही अरबो का धर्म ग्रहण किया था, इसलिये उनका इस्लाम नाम-मात्र का इस्लाम था, वे उसका अक्षरश: पालन न करते थे। कादसिया की हार के बाद हजरत अली के पुत्र हजरत हुसेन ने, चंद्रगुप्त मौर्य की भाँति, हारे हुए ईरानी सम्राट् 'यज्दगर्द' की लडकी से विवाह कर लिया। एक तो हजरत अली पैगंबर के दामाद थे, दूसरे इस वैवाहिक सबध से ईरानियो की राष्ट्रीय भावना ने उनके वशधरो के साथ अधिक आत्मीयता का अनुभव किया। फल-स्वरूप ईरानियो ने 'सहाबा' के स्वत्वो से इनकार करके अली और उनके वशधरों का समर्थन किया, और अरबी मुसलमानो से पृथक् अपना एक नया फिरका बनाया। आज भी जब संसार के अन्य भागों के मुसलमान 'सुन्नी' हैं, ईरानी मुसलमान 'शिया' सम्प्रदाय के हैं।

अरबी विजेताओ ने इन तीनों प्रकार के—राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और धार्मिक—प्रतिरोधो को काबू मे लाने के लिये, नाम-मात्र के मुसलमानो को पक्का कट्टर मुसलमान बनाने के लिये, प्रचार तथा उपदेश और नसीहत से काम लिया[2]। प्रारभ मे इस्लामी शासक और उपदेशक प्राय: सभी अरब थे,

१ इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, चौदहवाँ सस्करण, सत्रहवाँ भाग, पृष्ठ ५८६
२ शिबली—'अलफारूक', दूसरा भाग, पृष्ठ १५६

जो वशपरम्परा, उपाधि अथवा सम्मान के लिये 'शेख' कहलाते थे। ईरानी उनके विरोधी थे, बस शेख के प्रति द्वेष के कीटाणु यही से पैदा हुए।

इस सबध मे ईरान की प्राकृतिक अवस्था को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है। ईरान का एक काफी बड़ा भाग ऊसर, पेड-पत्ती से हीन और निचाट बियावान है। वहाँ आबादी भी कम है। इसके विपरीत अन्य भाग, विशेष कर पहाडो और नदियो की घाटियाँ खूब हरी-भरी, सरसब्ज और लहलही हैं। वहाँ अनेक प्रकार के फूल फूलते है। गुलाब इतनी इफरात से शायद ही कही होता हो। बाग-बगीचो की भरमार है। फलो के उत्पन्न करने मे प्रकृति ने दरियादिली से काम लिया है। सेब, नासपाती, अनार, आड, सरदा, खूबानी आदि के साथ अगूर भी बहुतायत से होता है। जब अंगूर बहुतायत से हो तब भला यह कैसे संभव है कि अंगूर की बेटी (दुख्तरे-रज) मदिरा न हो! ईरान मे बोतल की परी का दौर अतीत काल से चला आता था और आज भी चलता है। शीराज की 'शीराजी' तो ससार-प्रसिद्ध है। धनी तथा मध्यश्रेणी के ईरानी सदा से अंगूर की दुहिता (मदिरा) के प्रेमी रहे हैं। इस्लाम मे शराब हराम है। मुसलमान प्रचारको ने अपने उपदेशो मे मदिरा-प्रेमियों की खबर ली, फारसी कवियों मे भी मदिरा-प्रेमियों की कमी न होगी। बस, विरोध के लिये एक काफी बडा अखाडा मिल गया और मद्यपान का विषय लेकर इस्लाम धर्मयाजकों—शेखों—पर कवियों की लेखनी के भाले चलने लगे।

प्रत्येक धर्म के सस्थापक अत्यंत उदार, दूरदर्शी और महान् व्यक्ति होने के साथ-साथ बडे व्यावहारिक हुआ करते हैं। वे अपने अनुयायियों की भौतिक, आध्यात्मिक, नैतिक तथा मानसिक योग्यता और आवश्यकता को देखकर नित्य-प्रति के जीवन-सबधी आचार-व्यवहार बनाते है, और समय-समय पर उनमे आवश्यक परिवर्त्तन भी करते रहते हैं। इस्लाम के सस्थापक हजरत मुहम्मद मे भी ये गुण प्रचुर मात्रा मे मौजूद थे। इस दूरदर्शी महापुरुष को मद्यपान की हानियाँ ज्ञात हो गई थी, इसी लिये उन्होने अपने धर्म मे शराब को हराम बनाया। मगर उन्हे काम पडा रेगिस्तान के खानाबदोश, जाहिल, अर्ध-सभ्य अरबो और बद्दुओ से—जिनकी अपनी कोई परिमार्जित सस्कृति या सभ्यता न थी। अतः उन्हे अपनी बातो को ऐसा जामा पहनाना पडा जो उन अशिक्षित अरबो को आसानी से अपील करे। उन्होंने बताया कि सत्कर्म करनेवालों को जन्नत मिलेगी जहाँ दूध, शहद और शराब की नदियाँ बहती हैं, प्रत्येक व्यक्ति को हूरे (अप्सराएँ) मिलेगी। प्यासे रेगिस्तान के भूखे जगली अरबो के लिये इससे अधिक मधुर कल्पना और क्या हो सकती थी[१]? जन्नत का यह आकर्षण तथा जहन्नुम की यत्रणाओं का डर अशिक्षित अरबो को सत्पथ पर रखने के लिये पर्याप्त था। मगर ईरानियों-जैसी सुसभ्य जाति के लिये कुछ अधिक युक्ति और बुद्धि-सगत दलीलो की आवश्यकता थी। यह निश्चय है कि यदि हजरत मुहम्मद ईरान मे पैदा होते अथवा उनके सामने ही ईरान मे इस्लाम का प्रचार होता, तो उनकी युक्तियाँ और दलीले बिलकुल ही दूसरे प्रकार की होती। मगर ईरान मे इस्लाम पहुँचा हजरत उमर की खिलाफत मे। हजरत उमर स्वय

१. जस्टिस अमीर अली—"स्पिरिट आफ इस्लाम," पृष्ठ १६८

बड़े बुद्धिमान् और दूरदर्शी थे, लेकिन उनकी खिलाफत बहुत थोडे ही समय मे समाप्त हो गई। प्रत्येक धर्म के सस्थापक के बाद उसके जो अनुयायी उत्तराधिकारी होते हैं वे अपने सस्थापक के समान उच्च, दूरदर्शी, उदार और व्यावहारिक न होकर प्राय: कट्टर, तअस्सुबी और सकीर्ण विचारो के हुआ करते हैं। ईसाई, बौद्ध, हिंदू—सभी धर्मो मे यह बात दिखलाई देती है। इस्लाम मे भी यही हुआ। इस्लामी प्रचारकों ने पैगंबर के धर्म की अतरात्मा को न लेकर उसके शाब्दिक अर्थ की दुहाई देनी शुरू की। जिन दलीलो से उन्होने अपढ़ अरबो को समझाया था, उन्हीं दलीलो से वे सुसभ्य ईरानियो को हॉकने लगे। अत: पढे-लिखे ईरानियो ने उनका मजाक उडाना आरभ किया। मद्यपान-निषेध के लिये मद्य से होनेवाली शारीरिक हानियो और नैतिक अध पतन पर जोर न देकर बहिश्त का लालच और जहन्नुम का डर दिखाया जाने लगा। मद्य-प्रेमियों की तीव्र भर्त्सना की गई। कवि स्वभाव से ही स्वतत्रता प्रेमी होते हैं, अत: उनकी आत्मा विद्रोही हो उठी और उन्होने शेख जी को उन्ही के सिक्को मे बदला देना अपना हक बना लिया। दुर्भाग्यवश धर्मोपदेशको मे दो-चार ऐसे भी लोग आ गए थे जो बाहर तो धर्म का उपदेश करते थे, परतु भीतर-भीतर अनेक धर्म वर्जित कार्य किया करते थे, जैसे खलीफा उस्मान के मुताही भाई वालिद[1]। ऐसे रँगे महात्माओ को पाकर कवियो को शेख पर फब्तियाँ कसने का और भी अनमोल मौका मिल गया, और उसमे उन्होने कोई कसर भी न उठा रक्खी। शेख के विरुद्ध व्यंगोक्तियों मे कवियों ने केवल बेचारे शेख जी तक ही सतोष न किया, बल्कि उनकी लपेट मे उनके धार्मिक उपदेश, कर्मकाड और नसीहतो से लेकर जन्नत और फरिश्तो तक की खबर ली है, और खूब खबर ली है। अच्छा, अब जरा यह देखिए कि उर्दू-शायरो ने शेख जी और उनके विश्वासो तथा उपदेशो पर क्या-क्या कहा है—

फिरे है शेख यह कहता कि मैं दुनिया से मुँह मोडा,
इलाही इसने दाढी के सिवा किस चीज को छोडा ? (सौदा)

शेख अपने त्याग की डीग हाँकता हुआ कहता फिरता है कि उसने ससार से मुख मोड लिया है। सौदा कहते हैं, या खुदा ! इसने दाढी के सिवा कौन-सी चीज छोडी है ?

होते हैं मैकदे के जवाँ शेख जी बुरे,
फिर दरगुजर ये करते नही गो कि पीर हो। (मीर)

शेख जी मैकदे (शराबखाने) मे जाकर मद्य-प्रेमियों को कुछ बुरा-भला कहने लगे। मीर साहब उन्हे सावधान करके कहते हैं—अजी शेख जी, शराबखाने के जवान बडे बेढब होते हैं, जब ये बिगडते हैं तब बुजुर्गो को भी नही बख्शते। इसलिये जरा सँभलकर !

जन्नत पाने के लिये शेख जी का उपदेश है कि शराब मत पियो, पाँच वक्त नमाज पढ़ो, रमजान भर रोजा रखो, यह करो, वह करो। मीर साहब इन प्रतिबधो से ऊबकर फरमाते हैं—

"जाय है जी नजात के गम मे, ऐसी जन्नत गई जहन्नुम मे।" (मीर)

1. अमीर अली—"स्पिरिट आफ इस्लाम," पृष्ठ २६५

मुक्ति-प्राप्ति की—जन्नत मे जाने की—चिता मे जी निकलता है, ऐसी जन्नत जहन्नुम मे जाय। हम उससे दरगुजरे।

कवि के सिवा शायद अल्लाह मियाँ भी जन्नत को जहन्नुम मे भेजने की शक्ति न रखते होंगे!

"तरदामनी पर शेख हमारी न जाइयो, दामन निचोड दूँ तो फरिश्ते वजू करे।" (मीर दर्द)

शेख जी ने कवि के दामन को शराब से तर देखकर नाक-भौह सिकोडी, इस पर कवि कहता है—शेख जी! मेरे भीगे दामन पर नाक-भौह न चढाइए, यदि मै अपना दामन निचोड दूँ तो स्वर्ग के देवदूत भी इस पवित्र रस से वजू—नमाज के पूर्व का प्रक्षालन—करने के लिये लालायित होंगे।

"मजलिसे-वाज तो तादेर रहेगी 'कायम', यह है मैखाना अभी पी के चले आते हैं।" (कायम)

शेख जी मद्यप्रेमी को समझा-बुझाकर एक उपदेश की सभा मे ले गए। सोचा था कि उपदेश सुनकर यह मद्यपान छोड देगा, तोबा कर लेगा। मद्यप्रेमी थोडी देर तक तो उपदेश सुनता रहा, फिर शेख जी से बोला—आपकी उपदेश-सभा तो देर तक कायम रहेगी, (हाथ के इशारे से) यह पास ही मे शराबखाना है, थोडी-सी पीकर अभी आता हूँ!

शेर मे कवि ने अपने उपनाम का प्रयोग किस सुदरता से किया है!

"कब हक-परस्त जाहिदे जन्नत-परस्त है? हूरो पै मर रहा है यह शहवत-परस्त है!" (जौक)

अपने को ईश्वर-भक्त कहनेवाला जाहिद ईश्वर-पूजक कहाँ है? यह तो जन्नत का इच्छुक है, जन्नत का पुजारी है। जन्नत मे हूरे मिलती हैं। यह उन्ही हूरो पर मर रहा है। अत: यह तो इद्रिय-लोलुप है—वासना का पुजारी है।

"जाहिद! शराब पीने से काफिर बना मै क्यो? क्या डेढ़ चुल्लू पानी मे ईमान बह गया!" (जौक)

इस्लाम मे शराब हराम और शराबी काफिर—धर्मद्रोही—है। जौक साहब फरमाते हैं—हजरते जाहिद! शराब पीने से मै काफिर कैसे बन गया? क्या ईमान (धर्म) ऐसी चीज है जो सिर्फ डेढ चुल्लू पानी मे बह जाय?

'जनाबे शेख बस अपनी तो इतनी बादह नोशी है, नशीली अँखड़ियो को देखना मखमूर हो जाना।' (अज्ञात)

किसी को मस्ती से झूमता-झामता देखकर शेख जी ने समझा कि यह शराब मे चूर है, अत: लगे उसकी लानत-मलामत करने। उसने उत्तर मे कहा—जनाबे शेख! यह न समझिए कि मै शराब के नशे मे चूर हूँ। मेरा मद्यपान तो केवल इतना ही है कि नशीली अँखडियों को देखा और मस्त हो गया—खुमार छा गया!

"ये कहाँ की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासह, कोई चारहसाज होता कोई गमगुसार होता।" (गालिब)

किसी प्रेम-पीडा या विरह-वेदना से व्यथित व्यक्ति के पास हजरते नासह, सहानुभूति प्रदर्शित करने और समझाने-बुझाने के लिये, पहुँचे। वह कहता है—यह कहाँ की दोस्ती है जो नीरस धार्मिक उपदेश देनेवाले उपदेशक महाशय दोस्त बने हैं! दोस्ती के लिये कोई कुछ तदबीर करनेवाला हमदर्द होता, कोई गम बटानेवाला होता, न कि हृदय-हीन सूखा उपदेशक।

"वायज, न खुद पियो न किसी को पिला सको, क्या बात है तुम्हारी शराबे तहूर की!" (गालिब)

शेख जी लोगों को समझाते हैं कि यहाँ शराब न पियो तो तुम्हे जन्नत मे स्वर्गीय शराब 'तहूरा' मिलेगी। इस पर कवि ताना देकर कहता है—जनाबे वायज ! न तो तुम स्वय पीते हो और न किसी को पिला सकते हो, वल्लाह ! तुम्हारी शराबे तहूर की भी क्या बात है !

"हिर्स से जाहिद यह कहता है जो गिर जाएँगे दाँत,

क्या कुशादह बहरे रिज्क अपना दहाँ हो जाएगा ! (नासिख)

लोलुप जाहिद कहता है—यदि दाँत गिर जाएँगे तो पेट-पूजा के लिये भोजन का मार्ग कैसा प्रशस्त हो जायगा ! सब कुछ हडपने के लिये कोई रुकावट ही न रहेगी !

"मस्जिद मे बुलाता है हमे जाहिदे नाफहम, होता अगर कुछ होश तो मैखाने न जाते।" (अमीर)

बुद्धिहीन जाहिद हमे मसजिद मे बुलाता है ! भला उससे पूछो कि यदि हमे कहीं जाने-आने का ही होश होता तो शराबखाने न जाते !

"लुत्फ मैं तुझसे क्या कहूँ जाहिद, हाय कम्बख्त तू ने पी ही नही !" (दाग)

जाहिद ! मै तुझसे मधुपान का आनद क्या कहूँ, हाय रे अभागे ! तू ने पी ही नहीं !

उर्दू-शायरा का काल्पनिक शेख लबी दाढी वाला हुआ करता है, और अक्सर खिजाब लगाया करता है। कवियो ने उसकी दाढ़ी पर भी जा-बजा फब्तियाँ कसी हैं—

"बाकी है दिल मे शेख के हसरत गुनाह की, काला करेगा मुँह भी जो दाढ़ी सियाह की।" (जौक)

अभी शेख जी के हृदय मे पाप करने की लालसा बाकी है। उन्होने जो अपनी दाढ़ी काली की है तो मुँह भी काला करेंगे !

'हर दिन की बाँधबूँध से वायज, नजात हो,

हरताल आप क्यो न मिला ले खिजाब मे।' (सरपट बदायूनी)

हजरते वायज ! आप अक्सर खिजाब लगाने मे दाढ़ी बाँधा करते हैं। इस आए दिन की बाँध-बूँध से छुट्टी पाने के लिये खिजाब मे थोडी-सी हरताल क्यों नही मिला लेते ?

क्या नायाब नुस्खा है ! हरताल बालसफा होती है !

शायर लोग शेख जी की काल्पनिक लडाई मे सिर्फ तू-तू मैं-मैं पर ही नही रुकते, बल्कि हाथापाई पर भी उतर आते हैं—

"ऐ शेख, जो बताए मए-इश्क को हराम, ऐसे को दो लगाए भिगोकर शराब मे।" (दाग)

ऐ शेख जी, जो प्रेम-मदिरा को हराम बताए, ऐसे व्यक्ति के तो शराब मे भिगोकर दो (!!) रसीद करना चाहिए।

'इक टीप मारी जोर से जाहिद के ऐ 'रियाज', अब हाथ मल रहे हैं कि अच्छी पडी नहीं !" (रियाज)

रियाज साहब ने हजरते जाहिद के सिर-मुबारक पर पहले तो एक जोर की चपत लगाई, फिर हाथ मलकर पछताने लगे कि अफसोस, अच्छी नही पडी !

"कल कस्द है जो नासह तशरीफ आवरी का,

पिसवा के थोड़ी हल्दी रख आइएगा घर मे।" (अहमक फफूँदी)

नासह साहब! कल आप जो हम लोगों मे तशरीफ लाने का विचार रखते है, तो घर मे थोड़ी हल्दी पिसवाकर रख आइएगा। (क्योकि यहाँ पर आपकी ऐसी करारी खातिर की जायगी कि घर लौटकर चोट पर हल्दी-चूना चढ़ाने की जरूरत होगी !!)

"उतर गई सरे बाजार शेख की पगडी, गिरह मे दाम न होंगे उधार पी होगी।" (रियाज)

बीच बाजार मे शेख जी की पगडी उतर गई! मालूम होता है, उधार पी होगी, इसी कारण कलवार ने पैसे वसूलने के लिये उनकी खबर ली है!

"समझा कि सर पर रख के मेरा चाक ले चले, दौडा कुम्हार शेख की दस्तार देखकर।" (अज्ञात)

शेख जी की लंबी-चौड़ी पगडी को दूर से देखकर कुम्हार ने समझा कि मेरा चाक चुराए लिए जाता है, अतः वह उनके पीछे लपका!

आज-कल नए जमाने मे शायरो को व्यगोक्तियो के लिये एक नई चीज मिल गई है—हर बात मे योरोपियनों की नकल करनेवाले फैशनेबिल हिंदोस्तानी! अतः अब शेख जी व्यग तथा कटूक्तियों के पात्र न होकर दया के पात्र बनते जान पड़ते हैं—

"साथ उनके मेरा शेख तो चल ही नहीं सकता, वदर की तरह ऊँट उछल ही नही सकता।" (अकबर)

नए फैशन के वदरो के साथ पुरानी चाल के ऊँटों के लिये उछलना-कूदना दरअस्ल असंभव है!

'शेख साहब चल बसे, कालिज के लोग उभरे है अब, ऊँट रुखसत हो गए, पोलो के घोडे रह गए।' (अकबर)

आज-कल शेख जी की प्रधानता का जमाना चला गया, अब तो कालेजवाले (नई अँगरेजी शिक्षा पाए हुए) उभर रहे हैं; उन्ही का दौर-दौरा है। ऊँट बेचारे चल बसे, अब तो पोलो के घोडे ही बाकी हैं!

कुछ क्षण

१

कुछ क्षण, जीवन के कुछ छोटे-से क्षण ये !
अस्तित्व-ज्ञान के कुछ बिखरे-से कण ये !
जिनमे कुरूपता जग की, अपनेपन की
प्रतिबिंबित है, वे क्षत-विक्षत दर्पण ये !
लेकर निज उर मे आग, नयन मे पानी,
कहने बैठा हूँ उनकी आज कहानी।

२

यह जीवन क्या है ? केवल एक पहेली,
यह यौवन क्या है ? विस्मृति से रँगरेली,
यह आत्म-ज्ञान तो भ्रम है ! भ्रम है ! भ्रम है !
ममता रहती है निशि-दिन यहाँ अकेली।
जी भरकर मिल लो आज, ठिकाना कल का ?
युग का वियोग, सयोग एक ही पल का !

३

जग क्या है ? उसको जान नहीं पाता हूँ,
मै निज को ही पहचान नही पाता हूँ,
जग है तो मै हूँ, मै हूँ तो यह जग है,
जग मुझमें, मै भी जग मे मिल जाता हूँ !
यह एक समस्या कठिन जिसे सुलझाना,
सुलझानेवाला हाय बना दीवाना !

४

दीवानापन है पाप ?—नही जीवन है !
ज्ञानी का केवल ज्ञान व्यर्थ क्रदन है।
ममता पर प्रति पल हँस-हँसकर, घुल-घुलकर,
मरनेवाले का यहाँ मृत्यु ही धन है !
कामना कसक है, और तृप्ति सूनापन !
हँसना ही तो है मृत्यु, रुदन है जीवन।

५

उसने जाना है निशि-दिन सुख से सोना,
जिसने जाना है रात-रात-भर रोना !
जो रो न सका वह नही जानता हँसना,
सुख मे दुख, दुख मे सुख, यह जग का टोना !
वह पा न सका है, पा न सकेगा सुख को,
जो जान सका है नही अभी तक दुख को !

६

वैभव-सागर का बूँद-बूँद उत्पीड़न,
आहो के जग का प्रति कण पुलकित स्पदन,
नादान विश्व क्या समझ सकेगा इसको ?
मर मिटने मे ही अरे यहाँ है जीवन !
चातक से सीखो तड़प-तड़प मर जाना।
सीखो पतंग से निज अस्तित्व मिटाना।

७

मधुकर क्या जाने प्रेम? प्रेम है पीड़ा!
पीड़ा है अविकल त्याग, सौख्य की व्रीडा।
कलिका का ले सर्वस्व, नष्ट कर उसको
उड़ जाने मे ही है मधुकर की क्रीडा।
रस मे मिल जाना ही है रस का पीना।
जो मिट न सका वह नही जानता जीना।

८

लेना पल-भर का, युग-युग-भर का देना,
निज का देना ही है जीवन का लेना,
बाजार उठ रहा और दूर जाना है,
जितना बन पावे कर लो लेना-देना!
उर की लाली से मुख की कालिख धो लो।
सर आज हथेली पर है बोली बोलो!

९

यह खेल नही है, प्राणों का विक्रय है!
जीवन पर मिट-मिट जाओ! किसका भय है?
यदि आज नही तो निश्चय जानो कल ही
ले लेगा तुमको काल बडा निर्दय है!
मिटनेवाले को मरने से क्या डरना?
जिसमे ममता है उसको ही है मरना!

१०

है एक सत्य विश्वास, चलो खुल खेलो।
निर्भय हो जग के कठिन वार को झेलो।
हैं 'अविश्वास, भय' पाप! छोड़कर इनको
यश-अपयश जो कुछ मिले उसे ही ले लो।
हैं अमर यहाँ पर खुलकर करनेवाले—
पग-पग पर मरते रहते डरनेवाले!

११

मस्ती से हस्ती भरी हुई गाफिल की,
मत बात चलाना अरे अभी मजिल की।
चलना है हमको, बरबस जाना होगा—
फिर क्यों रह जाने पावे दिल मे दिल की?
मै समय-सिधु मे डुबा चुका अपनापन!
कल एक कल्पना और आज है जीवन!

भगवतीचरण वर्मा
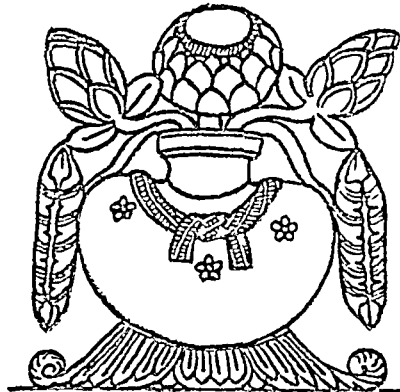
चित्र-मीमांसा

श्री न्हानालाल चमनलाल मेहता, आइ० सी० एस्०

रूपभेदा प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम् ।
सादृश्य वर्णिकाभङ्ग इति चित्रषडङ्गकम् ॥

चित्रो के विषय मे आधुनिक जनता एव शिक्षित जन कुछ ऐसे उदासीन हैं कि कला के इतिहास मे चित्र का क्या स्थान है, उसकी गुण-परीक्षा किस प्रकार की जाती है, और साहित्य एव कला मे जिसे रस कहते हैं वह क्या है—आदि बातो पर ध्यान ही नही देते। अतएव इन विषयो की विवेचना यहाँ अप्रासगिक न होगी। वैसे तो भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के समय से हमारे आचार्यो ने सदियों तक इस विषय पर विचार किया कि 'कविता क्या वस्तु है'। सच पूछिए तो 'कविता' कला का एक अंग है। उसके विषय मे हमारे प्राचीन साहित्यकारो ने जो कुछ चितन किया है, उसका सबध अन्य कलाओ से भी है। खास चित्रकला के सबध मे भी कई प्राचीन ग्रथो मे उल्लेख मिलते हैं। उनमें सबसे सुविस्तृत और सरस उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर-पुराण के प्रसिद्ध अध्याय 'चित्रसूत्र' मे है। डॉक्टर स्टेला-क्रामरिश ने इसका अँगरेजी-अनुवाद किया है। इससे अच्छा अनुवाद डॉक्टर आनदकुमार स्वामी अभी हाल मे प्रकाशित कर रहे हैं। शिल्प, नृत्य और चित्र का रहस्य समझने के लिये 'चित्रसूत्र' इतना महत्त्वपूर्ण निबध है कि उसका प्रामाणिक अनुवाद हिंदी मे तुरत होना चाहिए। ग्रथ के प्रारभ मे ही मार्कंडेय मुनि कहते हैं—"विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्र सुदुर्विदम्'—अर्थात् नृत्यशास्त्र के अभ्यास के विना चित्रसूत्र समझना कठिन है।" वास्तव मे चित्रकार का काम खिलवाड नही है। वह एक अति गभीर और पवित्र कार्य है। लिखा है—चित्रकार को अपने इष्ट देवताओ का अभिवादन करके ही आलेखन आरभ करना चाहिए—

ब्राह्मणान्पूजयित्वा तु स्वस्तिवाच्य प्रणम्य च ।
तद्विदश्च यथान्याय गुरूंश्च गुरुवत्सलः ॥—(अध्याय ४०, श्लोक १२)

इकतालीसवे अध्याय मे इन चार प्रकार के चित्रो का वर्णन किया गया है—सत्य, वैणिक, नागर और मिश्र। उसी अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों मे इन चित्रो की विशेषता भी वर्णित है—

यत्किञ्चिल्लोकसादृश्यं चित्र तत्सत्यमुच्यते।
दीर्घाङ्गं सप्रमाण च सुकुमार सुभूमिकम्॥
चतुरस्र सुसम्पूर्ण दीर्घ च नोल्वणाकृतिम्।
प्रमाण स्थानलम्भाढ्य वैणिक तन्निगद्यते॥
दृढोपचितसर्वाङ्ग वर्त्तुलं नन्यनुल्वणम्।
चित्रं तन्नागरं ज्ञेय स्वल्पमाल्यविभूषणम्॥

रेखा-सौंदर्य्य पर एशिया-भर की चित्रकला का दारमदार है। यहाँ तक कि यह कहना भी अनुचित न होगा कि प्राच्य चित्र केवल रगीन रेखा-चित्र हैं। आलेख्य वस्तु का रेखांकण करके ही रग-विधान किया जाता है। आधुनिक चित्रकारी की भाषा मे इसे 'टिपाई' (टीपना) कहते हैं, फिर उसमे रग भरा जाता है, जिसे 'गदकारी' कहते हैं। गदकारी करके पुनः रेखाओ से ही चित्र के सारे ब्योरो को व्यक्त करने हैं—इस प्रक्रिया को 'खोलाई' कहते हैं। सस्कृत मे इस प्रक्रिया को 'उन्मीलन'[1] कहते थे। बताने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक भारतीय चित्रकारी का उक्त 'खोलाई' शब्द 'उन्मीलन' का ठीक अनुवाद है, अतः यह भारतीय चित्रकारी की परपरा की अक्षुण्णता सिद्ध करता है। 'खोलाई' की रेखाओ को 'सरहद' कहते हैं—यह भी सस्कृत की 'पर्य्यंतरेखा'[2] का पर्याय है—अर्थात् यह प्रक्रिया भी पारपरीण है। मुगल सम्राट् अकबर के जमाने के महाभारत के फारसी अनुवाद 'रज्मनामा' के अतीव सुदर चित्र दो-दो तीन-तीन चित्रकारो के हाथ से बने हुए हैं। एक ने रेखा खीची है, जिसे उस समय के चित्रकारो की भाषा मे 'तरह करना' कहते हैं। दूसरे ने रग भरा है, जिसे 'रँगरेज' कहते हैं। एक चित्र मे कभी-कभी तरह के, रंग के, हाशिए के, बिलकुल अलग-अलग कारीगर हुआ करते थे। सत्रहवी, अठारहवीं और उन्नीसवी शताब्दी के अनेक चित्र बिना रग के भी मिलते हैं—इन्हे 'स्याहकलम' कहते हैं। तैयार चित्रो की रेखाओ से ही झिल्ली पर खाका उतार लेते थे। पुराने चित्रो के इन खाको को एक प्रकार का 'स्याहकलम' कहना चाहिए, जो चित्रकारो के वशजों के लिये बड़े ही उपयोगी और मूल्यवान् साबित हुए, क्योकि बीसवी सदी मे उनसे, अमेरिका और योरप के श्रीमत जनो के लिये, हजारो की सख्या मे चित्र बने और बिके।

भारतीय चित्रकला मे सादृश्य को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। चित्रसूत्रकार ने यहाँ तक कहा है कि 'चित्रे सादृश्यकरण प्रधान परिकीर्त्तितम्'[3]—चित्र मे सादृश्य लाना ही उसकी विशेषता

१. उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्......... ।—'कुमार-संभव'
२ पर्यन्तरेखांऽगविभागहीनं चित्रम्..... .... ।—'शिवलीलार्णव'
३ अध्याय ४२, श्लोक ४८

है। परंतु इस सादृश्य से केमरा (Camera) का यांत्रिक प्रतिकृति न समझना चाहिए। कला के और यंत्र के नियम बिलकुल पृथक् हैं। एक का संबंध सजीव कल्पना से है, दूसरे का निर्जीव अनुकृति से। कल्पना की प्रेरणा के बिना कला-सृष्टि होना ही असंभव है—फिर चाहे उसका वाहन कविता हो, चाहे मूर्त्ति एवं स्थापत्य, चित्र वा अन्य शिल्प।

चित्रसूत्रकार ने बहुत ही सुंदर ढंग से इसका वर्णन किया है कि नाना विषयों में किस तरह चित्रकला का उपयोग करना चाहिए। नदियों को वाहनों पर दिखाना चाहिए, देवताओं को अपनी पत्नियों के साथ माल्यालंकारधारी बनाना चाहिए, ब्राह्मणों को शुक्लांबरधर, ऋषियों को जटाजूटोप-शोभित, प्रजाजन को शुभवस्त्र-विभूषित और गायक तथा नर्त्तकगण को बाँकी पोशाक में। आकाश को तारागण से विभूषित, विवर्ण और पक्षियों से भरा हुआ बनाना चाहिए। पर्वतों को उत्तुंग शिखरों के साथ अनेक वृक्षों से सुशोभित, निर्झरों को जल-बिंदुओं से छहराता हुआ, वनों को नाना प्रकार के वृक्ष और विहग तथा पशुओं से युक्त, जलाशयों को अनेक मत्स्य-कच्छप आदि से भरा हुआ और नगरों को अनेक सुंदर राजमार्गों और उद्यानों से सुशोभित बनाना चाहिए। ऋतु-चित्र बनाने की भी नियमावली दी गई है—

दर्शयेत्सरजस्या च शय्या वर्णोत्करावृताम्। सद्वृत्तामानवप्राया वृष्टिं वृष्ट्या प्रदर्शयेत्॥ ७२॥
प्राणिना क्लेशतप्तानामादित्येन निदर्शनम्। वृक्षैर्वसन्तजैः फुल्लैः कोकिलामधुपोत्कटैः॥ ७३॥
प्रहृष्टनरनारीकं वसन्तं च प्रदर्शयेत्। क्लान्तैः कार्यं नरैर्ग्रीष्मं मृगैश्छायागतैस्तथा॥ ७४॥
महिषैः पङ्कमलिनैस्तथा शुष्कजलाशयम्। विहङ्गैर्द्रुमसंलीनैः सिंहव्याघ्रैर्गुहागतैः॥ ७५॥
तोयनम्रघनैर्युक्तं सेन्द्रचापविभूषणैः। विद्युद्विद्योतनैर्युक्ता प्रावृषं दर्शयेत्तथा॥ ७६॥
सफलद्रुमसंयुक्ता पक्वसस्या वसुन्धराम्। सहंसपद्मसलिलां शरदं तु तथा लिखेत्॥ ७७॥
सबाष्पसलिलस्थानं तप्यालूनवसुन्धरम्। सनीहारदिगन्तं च हेमन्तं दर्शयेद्बुधः॥ ७८॥
हृष्टवायसमातङ्गं शीतार्त्तजनसंकुलम्। शिशिरं तु लिखेद्विद्वान्हिमच्छन्नदिगन्तरम्॥ ७९॥
वृक्षाणां पुष्पफलतः प्राणिनां मदतस्तथा। ऋतूनां दर्शनं कार्यं लोकान्दृष्ट्वा नराधिप॥ ८०॥

इसी भाँति, संध्या और उषा के चित्र-विधान के भी उपयुक्त नियम दिए गए हैं।

कुछ श्रेणी के चित्र कई स्थानों के लिये निषिद्ध गिने गए हैं। युद्ध के, श्मशान के तथा करुणात्मक और अमंगलसूचक चित्र कभी आवास में न बनाना चाहिए। राजसभा और देवमंदिरों में सब प्रकार के चित्र रह सकते हैं, परंतु साधारण निवासस्थान में केवल शृंगार, हास्य और शांत रस के ही चित्र होने चाहिए। चित्रकार को अपने मकान में चित्र बनाने का निषेध क्यों किया गया है,[१] इसका कारण यही

१. "चित्रकर्म न कर्तव्यमात्मना स्वगृहे नृप"—(अध्याय ४३, श्लोक १७)। अच्छे चित्रों के विषय में लिखा है—

लसतीव च भूलम्बो विभ्यतीव (?) तथा नृप। हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते॥२१॥
सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्। (अध्याय ४३)

जान पडता है कि चित्रकार यदि अपने ही घर मे काम करता रहेगा तो वह अन्य चित्रकारो के सघर्ष मे, प्रतिद्वद्विता मे, न आवेगा और उसकी कला जहाँ की तहाँ रह जाएगी।

सुदर चित्र की व्याख्या यही है कि उसमे माधुर्य, ओज और सजीवता हो। जीवित प्राणी की भाँति चित्र मे भी एक प्रकार की चेतना होनी चाहिए। बाकी तो जैसे चित्रसूत्रकार कहते हैं—"अशक्यो विस्तराद्वक्तु बहुवर्षशतैरपि[१]"—यह विषय ऐसा है कि विस्तार से सैकडों वर्ष मे भी नही समझाया जा सकता। फिर मार्कंडेय मुनि कहते हैं—'*कलाना प्रवर चित्र धर्मकामार्थमोक्षदम्, मङ्गल्य प्रथम चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्*[२]।' करीब-करीब उन्हीं शब्दो मे, सात शताब्दियो के बाद अबुलफजल ने अकबर के विचार भी प्रकट किए है। अकबर के विचारानुसार 'चित्र-कला' मुक्ति और ईश्वर-सान्निध्य प्राप्त करने का एक मुख्य साधन है।

'चित्रसूत्र' बडी सुदर और सरल भाषा मे लिखा गया है। हमारी प्राचीन कला का रहस्य समझने के लिये वह परम आवश्यक ग्रथ है। चित्र-सूत्रकार ने चित्र और नृत्य का जो विशेष साम्य बताया है, वह थोड़ा-सा विचार करने से समीचीन प्रतीत होता है। नृत्य और चित्र का प्राण, अभिनय और मुद्रा मे है। नेत्र, अंगुलि, चरण तथा अन्य अगो की भावमयी चेष्टाओ और भगियों को 'नृत्य' कहते हैं। शिल्पकार और चित्रकार का प्रधान कार्य भी इन्हीं चेष्टाओ को उपयुक्त स्वरूप मे परिणत करना है। इसी कारण चित्रसूत्रकार ने भी उन्ही रसों का वर्णन किया है, जो भरत के नाट्यशास्त्र और उनके पीछे के सैकडों अलकार-ग्रथो मे वर्णित हैं। शृगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत—यही नौ चित्ररस भी गिनाए गए है। सगीत, नृत्य, शिल्प, चित्र और कविता का घनिष्ठ सबध प्राचीन काल से ही लोगो को मालूम है। इसी कारण जिस कसौटी से कवि-प्रतिभा की परीक्षा होती है, उसी से चित्र, शिल्प और नृत्य की भी होनी चाहिए। फिर भी चित्र और शिल्प का स्थान कविता से ऊँचा है। जो वस्तु इनके द्वारा व्यक्त की जा सकती है, वह शब्द द्वारा पूर्णतः कभी व्यक्त नहीं हो सकती। किंतु 'चित्र' रेखा-बद्ध कविता तो जरूर है। चित्र को कविता कहने से संभवतः कुछ लोगो को सतोष न होगा। इसी कारण, रस के विषय मे, शताब्दियो से हमारे यहाँ जो चर्चा होती आई है, उसका निर्देश करना जरूरी है। सस्कृत-साहित्य मे 'रस'-जैसा शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिसका इतने दिनों तक विवेचन होता रहा और अभी तक पूर्ण अर्थ निश्चित नहीं हुआ। 'रस' शब्द का मूल अर्थ तो रसनेंद्रिय द्वारा जो स्वाद उत्पन्न होता है वह है। मूल अर्थ से रस का साहित्यिक प्रयोग बहुत-कुछ भिन्न है और माया तथा ब्रह्म की तरह दर्शन का एक गहन विषय हो गया है। नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय मे भरत मुनि स्वय ही प्रश्न पूछते हैं—"रस इति कः पदार्थः? आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? यथा हि नानाव्यञ्जनसस्कृतमन्न भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति"—अर्थात् रस क्या वस्तु है? कहा जाता है कि आस्वादन से रस की प्रतीति

१. अध्याय ४३, श्लोक ३६

२, अध्याय ४३, श्लोक ३८

होती है। जैसे विविध व्यजनों के उपयोग से आस्वादन की प्रतीति होती है, वैसे ही विविध भाँति के हृदय-गत भावो के अनुभव से रस उत्पन्न होता है। भरत मुनि इनकी कुल सख्या तैंतीस बताते हैं। इनमे से आठ स्थायीभाव माने गए है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय। इन्हीं भावो का अनुसरण करके आठ रस बताए गए हैं। भरत तो मूल मे चार ही रस मानते हैं—शृगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। शृगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत, बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति दिखाई गई है। भरत कहते है—"रसाद्दते नहि कश्चिदथः प्रवर्त्तते—रस बिना अथ का उद्भव ही नही होता।" और, इसके पश्चात् भरत के प्रख्यात सूत्र 'तत्र विभावानुभावव्यभिचारि-सयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के अर्थ के विषय पर प्राचीन पडितो ने शताब्दियो तक विचार किया। इस सब दोहन का तात्पर्य इतना ही है कि रस का पूरा आस्वादन, उसका पूरा उपभोग, रसज्ञ जन ही कर सकते हैं। इस 'रसज्ञ' की व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त, जो काश्मीर मे दसवी शताब्दी के धुरधर साहित्यकार हुए, इस तरह करते हैं—"अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय"—विमल प्रतिभा जिसके हृदय मे है, वही रसास्वादन का अधिकारी है। और, यह गुण भी पुण्यवान् व्यक्तियो को ही प्राप्त होता है। उनकी तुलना योगियों के साथ की गई है, और फिर अभिनवगुप्ताचार्य विस्तार से उनका इस प्रकार वर्णन करते हैं—"येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसवादभाज' सहृदया'—अर्थात् यह रसज्ञता अनुशीलन और अभ्यास से प्राप्त होती है।" स्मरण रखना चाहिए कि यह रसज्ञता किसी भाव मे तन्मय होने की—लीन होने की—शक्ति है। इस शक्ति का यदि अभाव हो तो रस की प्रतीति असभव है, जैसे बधिर सगीत के आस्वादन मे अशक्य है। सक्षेप मे प्राचीन साहित्यकारो का, विशेष करके अभिनवगुप्ताचार्य और उनके बाद के आचार्यो का, मंतव्य है कि 'रसास्वादन' एक सहृदय व्यक्ति का विशेष गुण अथवा ईश्वरदत्त एक विशेष प्रतिभा है। रसानुभव से जो आनद प्राप्त होता है, उसकी तुलना प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचद्र सूरि अपने 'काव्यानुशासन' के दूसरे अध्याय मे परब्रह्मास्वाद के साथ करते हैं—'परब्रह्मास्वादसोदरो निमीलितनयनैः कविसहृदयैरस्यमानः स्वसवेदनसिद्धो रसः।' यही रसास्वादन की परिसीमा है।

श्रीहर्षवर्धन का विद्यानुराग और कवित्व-शक्ति

डॉक्टर रमाशंकर त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंडन)

श्रीहर्षवर्धन प्राचीन भारतवर्ष के एक प्रतिभाशाली एव शक्तिसंपन्न नरेश थे। उनके राजत्वकाल मे, जो ६०६ से ६४७ ईसवी तक माना जाता है, कन्नौज सर्वथा उन्नति के शिखर पर पहुँचा। उस समय पाटलिपुत्र का, जो बौद्धकाल से लेकर गुप्त-शासन-पर्यंत राजनीतिक तथा धार्मिक ज्ञान का केद्र माना जाता था, सूर्य अस्त हो चुका था। इसलिये, कन्नौज का कोई प्रतिद्वद्वी न होने के कारण, वही नगर उत्तरीय भारत मे सर्वश्रेष्ठ तथा सुरम्य माना जाने लगा। किंतु हर्ष के शासन का महत्त्व केवल इतना ही नहीं कि उन्होने कन्नौज-राज्य को चतुर्दिक् विस्तृत किया और बौद्धधर्म मे पुनः जागृति उत्पन्न की; इतिहास मे उनकी ख्याति का एक मुख्य कारण यह भी है कि उनकी नीति बहुत ही उदार और हितकारी थी—उन्होने विद्वानो का समान बढ़ाया, अपनी प्रजा मे शिक्षा का प्रचार किया। प्रसिद्ध चीनी यात्री 'ह्वानच्वाँग' के अनुसार हर्ष भूमि-कर का चतुर्थांश तत्कालीन उच्च कोटि के विद्वानो, ग्रंथकर्त्ताओ तथा धार्मिक नेताओ को पुरस्कृत करने के लिये पृथक् रखते थे[1]। इस प्रकार राजा से प्रतिष्ठा पाकर उन लोगों के उत्साह की वृद्धि होती थी—वे दत्तचित्त होकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने ही मे अपना कालक्षेप करते थे, जिसका उल्लेख स्वय ह्वानच्वॉग ने ही अन्यत्र किया है[2]। 'हुइली'-(Hwui-li)-रचित ह्वानच्वाँग के जीवनचरित से यह भी विदित होता है कि हर्ष ने 'जयसेन' के पांडित्य से प्रसन्न होकर उसको उड़ीसा के अस्सी नगरो का कर प्रदान किया-था। किंतु धन्य है जयसेन का आत्मत्याग कि उसने इस प्रचुर

१. देखिए "ह्वानच्वाँग का वृत्तांत"—वाटर्स का अँगरेजी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ १७६

२. देखिए उसी ग्रथ का पृष्ठ १६१

संपत्ति को भी अस्वीकृत कर दिया। उस समय जयसेन की कीर्त्तिपताका, उसकी विद्वत्ता और धर्मनिष्ठा के कारण, समस्त बौद्ध ससार में फहरा रही थी[१]।

'हर्ष' प्रसिद्ध नालदा-विश्वविद्यालय के भी सरक्षक थे। वहाँ पर उन्होंने एक सुदर मदिर का निर्माण कराया, जो पीतल की चादरो से आच्छादित था[२]। नालदा-विश्वविद्यालय उस समय सब विद्याओं का केद्र था। उसकी मर्यादा इतनी बढी-चढी थी कि उसके प्रति उदारता प्रदर्शित करने के हेतु राजाओं मे प्राय' प्रतिस्पर्द्धा हुआ करती थी। ह्वानच्वाँग का जीवनचरित हमे यह बताता है कि उसके भव्य भवनों के निर्माण का श्रेय एक के बाद दूसरे—इस प्रकार छ'—नृपो को प्राप्त है[३]। देश के अधीश्वर (हर्ष) ने उसके लिये एक सौ ग्रामो का 'कर' प्रदान किया था[४]। ह्वानच्वाँग ने उसके विशाल एव कई मजिलोवाले भवनों की अत्यधिक प्रशसा की है। उन भवनो के शिखर बहुमूल्य रत्नो से जटित और ऊपरी प्रकोष्ठ गगनचुबी थे[५]। नालदा-विश्वभारती मे कई सहस्र छात्र विद्योपार्जन करते थे। उनमे से बहुतेरे छात्र तो अपनी ज्ञानपिपासा को तृप्त करने तथा अज्ञानजनित अंधकार को दूर करने के लिये विदेशो से आते थे[६]। वे अपने सघ के आचार और नियमों के पालन मे बडे कट्टर होते थे, इसलिये अखिल भारतवर्ष मे आदर्श माने जाते थे। अध्ययन एव शास्त्रार्थ मे वे इतना व्यस्त रहते थे कि दिन कब बीत गया—इसका उन्हे ज्ञान तक न होता था। अहर्निश शास्त्रचर्चा से उनकी ज्ञानक्षुधा उत्तेजित हुआ करती थी। उच्च तथा निम्न श्रेणी के 'भ्रातृगण' परस्पर के सहयोग से विद्या प्राप्त करने मे सर्वथा सफल होते थे[७]। वे महायान तथा अष्टादश बौद्ध सम्प्रदायो के ग्रथों का भी अध्ययन करते थे। यही नही, किंतु साधारण पुस्तकों, वेदादि, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साविद्या, इद्रजालविद्या, अथर्ववेद तथा साख्यादि के अतिरिक्त वे 'अन्यान्य ग्रथों' का भी अवलोकन तथा पाठ करते थे[८]। इससे यह स्पष्ट है कि नालदा-विद्यापीठ का उद्देश्य विद्यार्थियों को केवल प्राचीन रूढियो एवं परपराओ की शिक्षा देना न था, किंतु विशेषकर उसका लक्ष्य छात्रो मे बौद्धिक और आत्मिक ज्ञान-ज्योति को जागरित करना था। उसकी सफलता का परिचय उसके कुछ स्नातको के नामोल्लेख ही से भली भाँति मिल सकता है। उन स्नातकों में धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति, चद्रपालादि ऐसे प्रगाढ़ पडित थे कि इनकी बुद्धि के चमत्कार तथा सदाचार से समस्त बौद्धससार गौरवान्वित था। नालदा की कीर्त्ति यहाँ तक चतुर्दिक् फैल गई थी कि जो कोई अपने को इसका स्नातक बताता, वह सर्वत्र समानास्पद समझा जाता था[९]।

१ 'लाइफ'—बील का अँगरेजी अनुवाद, पृष्ठ १५४
२ वही, पृष्ठ १५६, वाटर्स, दूसरी जिल्द, पृष्ठ १७१
३ 'लाइफ'—बील का अनुवाद, पृष्ठ १११
४. वही, पृष्ठ ११२
५ वही, पृष्ठ १११
६ वाटर्स, दूसरी जिल्द, पृष्ठ १६५
७ वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ १६५
८ 'लाइफ'—पृष्ठ ११२
९ वाटर्स—जिल्द २, पृष्ठ १६५

हर्षवर्धन स्वयं कई प्रख्यात विद्वानो के सरक्षक थे। इस बात से भी हम जान सकते हैं कि साहित्य मे उनकी कितनी अधिक अभिरुचि थी। उनकी सभा के मार्त्तंड 'बाणभट्ट' थे, जिन्होंने अपने संरक्षक की प्रशस्ति मे 'हर्षचरित' नामक ग्रथ लिखा है। बाणभट्ट-रचित और भी कई ग्रथ हैं—चंडीशतक, कादबरी और पार्वतीपरिणय[1]। आश्चर्य की बात है कि 'कादबरी' तथा 'हर्षचरित' दोनों कथाओ को बाणभट्ट अपूर्ण ही छोड़ गए। पश्चात् बाण के पुत्र भूपणभट्ट ने—जहाँ कादबरी के शोक का वर्णन है वहाँ से लेकर अत तक—इस कथा की समाप्ति की। भाग्यवश भूषणभट्ट भी एक उद्भट विद्वान् था, इसलिये उत्तरार्द्ध की शैली और भाषा पूर्वार्द्ध ही के अनुरूप है। वस्तुतः अनुकरण इतना उत्तम है कि दोनों एक ही लेखक के लिखे मालूम होते हैं।

हर्ष के साहित्य-दल का दूसरा सदस्य 'मयूर' कवि था। तत्कालीन साहित्य-भांडार मे 'सूर्यशतक' उसकी प्रधान कृति है। इसके पूर्व उसने 'मयूरशतक' लिखा था। इन दोनों के क्रमसबध मे एक जनोक्ति प्रसिद्ध है कि 'मयूरशतक' की रचना के पश्चात् कवि को कुष्ठ-व्याधि हो गई थी, और जब उसने 'सूर्यशतक' बनाया तब रोग शांत हो गया[2]। मयूर कवि हर्ष ही का सभासद् था, इसकी पुष्टि 'सारगधरपद्धति' तथा 'सूक्तिमुक्तावलि' के इस पद्य से भी होती है—"अहो प्रभावो वाग्देव्या यन् मातङ्ग-दिवाकरः, श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः—अर्थात् श्री सरस्वतीदेवी की महिमा इतनी है कि दिवाकर नाम का अछूत भी बाण और मयूर के समान श्रीहर्ष की सभा का सभासद् हुआ[3]।" इस प्रसिद्ध श्लोक मे 'मातग-दिवाकर' नाम के एक और कवि का भी उल्लेख है। खेद है कि इस विद्वान् के सबंध मे अभी तक कोई प्रकाश नही डाला गया, किंतु साहित्य-गगन मे इसकी ज्योति का इसी से पता लग सकता है कि इसको हर्ष द्वारा पर्याप्त समान और आदर प्राप्त हुआ[4] था।

हर्ष केवल विद्वानो के तटस्थ सरक्षक ही न थे। वे जैसे शूरवीर थे वैसे ही कदाचित् प्रकांड पंडित भी। रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानद नामक तीनो नाटक हर्षदेव नामक एक राजा की कृति कहे जाते हैं। ऐसा अनुमान है कि ये वही हर्ष है जिनकी राजधानी कन्नौज थी, क्योंकि इस नाम का अन्य कोई नरेश कसौटी पर खरा नही उतरता। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास मे कन्नौज के अधिपति शीलादित्य के अतिरिक्त तीन और नृपों का नाम 'हर्ष' था। प्रथम—काश्मीर का वह अत्याचारी राजा

१ यह एक नाटक है, किंतु इसके रचयिता 'बाण' ही थे—इसमे कुछ संशय है।

२ कुछ लोगों का मत है कि 'मयूरशतक' और 'सूर्यशतक' दो भिन्न ग्रंथ नहीं, प्रत्युत एक ही ग्रंथ के दो नाम है। मयूर कवि के जीवन तथा उसके ग्रंथो के लिये देखिए—क्वैकनबास (Quackenbos) द्वारा संपादित "मयूर की संस्कृत कविता" नामक ग्रंथ (कोलंबिया-विश्वविद्यालय का संस्करण, जिल्द ९)।

३ देखिए पिटर्सन द्वारा संपादित 'सारगधरपद्धति' (बबई, १८८८), श्लोक १८९; और 'सुभाषितरत्न-भांडागार,' पृष्ठ ४४, श्लोक ३६

४. डॉक्टर कीथ कहते है कि इस कवि के कुछ पद्य मिलते हैं ("क्लासिकल संस्कृतसाहित्य," पृष्ठ १२०)

जिसका शासन-काल 'राजतरंगिणी' के अनुसार १०८६—११०१ ईसवी तक था[१]। द्वितीय—वह 'हर्ष' जो धारानगरी के प्रसिद्ध राजा भोज का पितामह था, इसने लगभग ९७२-९८७ ईसवी तक राज किया। तृतीय—उज्जैन का महाराज हर्ष-विक्रमादित्य[२] जिसका दूसरा नाम डॉक्टर हर्नले (Hoernle) के मतानुसार 'यशोधर्मन्' था[३]। इनमे से दो तो कालभेद के कारण सुगमता से हटाए जा सकते हैं, क्योंकि तीनों नाटकों के नाम कुछ ऐसे लेखको ने अपने ग्रथो मे लिखे हैं जो इन राजाओ के कई शताब्दी पूर्व जीवित थे। यथा—दामोदरगुप्त, जो काश्मीर के राजा जयापीड (७७९-८१३ ईसवी) का राजानक था, अपनी 'कुट्टनीमत' नामक पुस्तक मे रत्नावली की कथा को उद्धृत करता है और यह भी बताता है कि यह किसी राजा की कृति थी। डॉक्टर कीथ का भी मत है कि महाकवि माघ, जिनका काल प्राय ७०० ईसवी है, 'शिशुपालवध' मे नागानद का उल्लेख करते हैं[४]। हाँ, उपर्युक्त तृतीय हर्ष के सबध मे, 'कल्हण' के आधार पर, हम जानते हैं कि हर्ष केवल उसका दूसरा नाम था, और विक्रमादित्य उसकी उपाधि थी। इसलिये, यदि वह हर्ष नाटको का रचयिता है, तो यह बात समझ मे नही आती कि उसने प्रस्तावना मे 'अपनी आदरणीय एव श्रेष्ठ उपाधि 'विक्रमादित्य' का विवरण क्यो नही दिया। इसके अतिरिक्त वह बौद्धधर्मावलंबी नही था, इसलिये शुद्ध बौद्धधर्म-सबधी 'नागानद' नाटक का रचयिता वह कैसे माना जा सकता है। सच तो यह है कि कन्नौज के हर्ष के अतिरिक्त, इतिहास किसी अन्य हर्ष को—जो इस नाटक का कर्त्ता माना जाय—जानता ही नही[५]। फिर भी, अंतरग प्रमाणो से भी, इन रचनाओ के लेखक यही 'हर्ष' कहे जा सकते हैं। प्रथमत: ये निस्सदेह एक ही कवि के लिखे हैं, क्योंकि इनमे केवल समान भाव ही नही प्रतिबिबित होते, बल्कि इनकी विचारधारा, भाषा और लेखनशैली मे भी बहुत-कुछ सादृश्य पाया जाता है। कही-कही इनमे उक्ति तथा चरणो की तो बिलकुल समानता है[६]। पुन: इन तीनो नाटको मे यत्र-तत्र हर्ष के जीवन की घटनाओ और उनके आदर्शों तथा कार्यों का भी दिग्दर्शन होता है[७]। किंतु केवल ऐसे ही तर्कों के आधार पर किसी सिद्धात को मान बैठना हम ठीक नही समझते। यह तो प्राय: सभी समालोचक स्वीकार करेंगे—अथवा करते हैं—कि ये तीनों नाटक एक ही कवि के लिखे हुए हैं। किंतु ऐसा कहा जा सकता है—

१ 'राजतरंगिणी'—स्टाइन का अँगरेजी अनुवाद, सातवाँ भाग, पृष्ठ ३३३ आदि।

२ वही, भाग तीसरा, श्लोक १२५, पृष्ठ ८३

३ जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (J R A S), १९०६, पृष्ठ ४४६ आदि।

४. 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर'—पृष्ठ ५४

५ देखिए—कीथ-लिखित—'संस्कृत ड्रामा' (१९२४), पृष्ठ १७०-१८१

६ देखिए—नाटकों मे समानता के लिये नॉरीमन, जैक्सन और ओग्डन द्वारा सपादित 'प्रियदर्शिका' (कोलंबिया-विश्वविद्यालय-ग्रथमाला, भाग १, पृष्ठ ७७-८७)। इस पुस्तक से मुझे इस लेख मे कुछ सहायता भी मिली है।

७, देखिए—मुकुर्जी-लिखित 'हर्ष' (रूलर्स आफ इडिया सीरीज), पृष्ठ १५३-१५६

और निस्संदेह यह अभियोग लगाया भी गया है, जैसा हम नीचे लिखेंगे—कि कदाचित् इनकी रचना हर्ष की विद्वन्मडली के किसी सभासद् ने की है, जो अपने स्वामी के धार्मिक भावों तथा जीवन की घटनाओ का पूर्ण ज्ञान रखता था। सभव है कि ये नाटक कन्नौज की प्रजा के मनोरजनार्थ लिखे गए हों, और कवि ने राजा हर्ष का—जो अत्यत आत्मवैभवाभिलाषी थे—मान बढ़ाने के लिये, अथवा प्रचुर पुरस्कार पाने पर राजा के प्रति अपनी कृतज्ञता और भक्ति प्रकट करने के लिये, इस ग्रथ को राजा के ही नाम से प्रकाशित कराया हो। किंतु इन शकाओं के विपरीत हम कुछ ऐसे बहिरंग प्रमाण देंगे जिनसे यह सिद्ध होता है कि हर्ष अवश्यमेव साहित्यिक महारथी थे। हर्ष की प्रशसा करते हुए बाणभट्ट लिखते है--'काव्यकथास्वपीतममृतमुद्वमन्तम्'—अर्थात् 'काव्यचर्चा मे वे उन अमृतमय वाक्यों की वर्षा करते थे, जो उसने किसी अन्य से नही सीखा था[1]। दूसरे स्थान पर 'बाण' फिर लिखते है--"अपि चास्य ..कवित्वस्य वाचः...न पर्याप्तो विषयः—अर्थात् उनकी काव्यशक्ति के लिये वाक्य पर्याप्त नही थे[2]।" किंतु बाण के वचनो को प्रमाण-स्वरूप दिखाते हुए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उन्होने हर्ष के सबध मे कही-कही अतिशयोक्ति की है। इसलिये उनकी बातो पर अंधविश्वास कर लेना उचित नहीं। फिर भी ग्यारहवी ईसवी सदी का प्रसिद्ध लेखक 'सोड्ढल' अपने ग्रथ 'उदयसुदरी-कथा' मे हर्ष को साहित्य का सरक्षक एवं कविभूप बताता है जिनको काव्यरचना मे बडा आनंद मिलता था। यथा—

श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
गीर्हर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः[3] ॥

सस्कृत के मनोहर कवि 'जयदेव' ने—जिनका जीवन-काल बारहवी ईसवी सदी है—हर्ष का उल्लेख 'भास' तथा 'कालिदास' के साथ किया है। इसी संबध मे उन्होंने अपने प्रिय कवि 'बाण', 'मयूर' तथा 'चोर' का भी नाम लिखा है। यथा—

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो, भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणश्च बाणः, केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय[4] ॥

'सुभाषितरत्नभांडागार' मे जहाँ धुरधर कवियों की नामावलि है वहाँ हर्ष की गणना उन पडितो मे की गई है जो अपनी कृतियों से ससार को आह्लादित करते हैं। यथा—

'माघश्चोरो मयूरो मुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः
श्रीहर्षः कालिदासः कविरथभवभूत्याह्वयो भोजराजः।
श्रीदण्डी डिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लटो भट्टबाणः
ख्याताश्चान्ये सुबन्ध्वादय इह कृतिभिर्विश्वमाह्लादयन्ति[5] ॥

१ 'हर्षचरित'—कावेल तथा टॉमस का अँगरेजी अनुवाद, पृष्ठ ५८। २ उसी ग्रंथ का पृष्ठ ६५

३. 'उदयसुंदरी-कथा'—सी० डी० दलाल तथा कृष्णमाचार्य द्वारा संपादित, पृष्ठ २ (बड़ौदा, १९२०)

४ देखिए—क्वैकनबास के 'मयूर'वाले ग्रंथ का पृष्ठ ५४-५५

५ देखिए—परब द्वारा संपादित, तृतीय संस्करण, श्लोक ७०, पृष्ठ ५६ (बबई, १८९१)

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

श्री प्यारेलाल मिश्र, बारिस्टर

पडित वेकटेशनारायण त्रिपाठी, एम० ए०
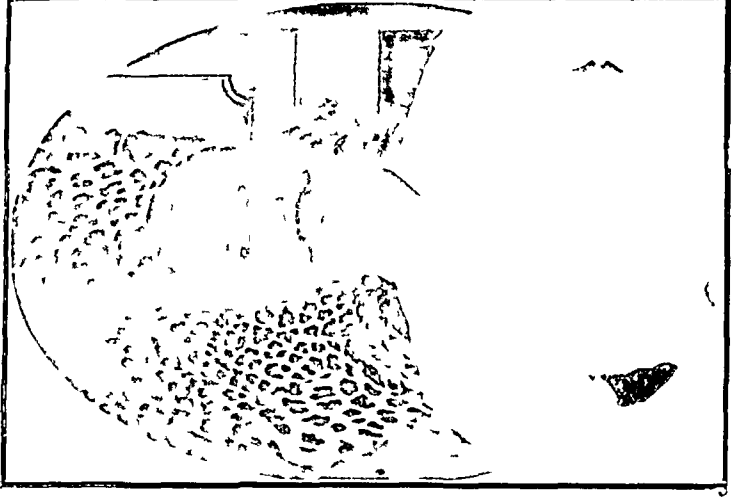
पडित लोचनप्रसाद पाडेय

पुनश्च, डॉक्टर "ब्यूलर का कथन है कि सत्रहवीं शताब्दी की मधुसूदन-कृत 'भावबोधिनी' मे निम्नांकित पाठ है—"मालवराजस्योज्जयिनीराजधानीकस्य कविजनमूर्द्धन्यस्य रत्नावल्याख्यनाटिकाकर्त्तु-र्महाराजश्रीहर्षस्य अर्थात् कविकुलचूडामणि महाराज श्रीहर्ष का, जिन्होंने 'रत्नावली' नाम की नाटिका बनाई थी, और मालवाधिपति होने के कारण जिनकी राजधानी उज्जयिनी थी[१] ।" मधुसूदन की यह उक्ति, जो हर्ष के सहस्र वर्ष पश्चात् लिखी गई थी और जिसको उसने कदाचित् वृद्धो ही के मुख से सुनी होगी, बहुत अंशो मे भ्रमात्मक है, क्योंकि इसमे हर्ष का संबध मालवा तथा उज्जयिनी से जोड़ा गया है, तथापि इसमे इतनी सत्यता तो अवश्यमेव प्रतीत होती है कि हर्ष स्वयं कवि थे, और वे बाण तथा मयूर के समकालीन भी थे, जैसा इसी अवतरण से मालूम होता है।

अंत मे हम इत्सिग (I-tsing) नामक चीनी यात्री के आधार पर यह जानते हैं कि राजा शीलादित्य (हर्ष) साहित्य के बडे प्रेमी थे, और उत्तम पद्यो के सग्रह कराने के अतिरिक्त उन्होंने स्वय बोधिसत्व जीमूतवाहन की कथा पर—जिसने नाग के हेतु आत्मसमर्पण किया—एक नाटक की रचना की। तत्पश्चात् एक मडली ने नृत्य तथा गान के साथ इसका अभिनय किया। इस प्रकार हर्ष ने अपने जीवन-काल ही मे जनसमूह मे इस रचना की प्रसिद्धि कराई[२]। हर्ष की साहित्यिक योग्यता तथा रचना के सबंध मे मुझे 'इत्सिग' का यह कथन अत्यत प्रामाणिक तथा विश्वसनीय मालूम पडता है, क्योकि यह चीनी यात्री हर्ष की मृत्यु के केवल पचीस वर्ष उपरांत भारत मे आया था, और लगभग समकालीन तथा विदेशी होने के कारण तटस्थता के साथ उसके तथ्यातथ्य जानने की विशेष संभावना थी।[३] इन सब प्रमाणो के होने पर भी प्राचीन काल ही से सस्कृत-ग्रथकारो मे तीनो नाटको के रचयिता के सबध मे सशय रहा। सर्वप्रथम, ग्यारहवी शताब्दी के एक काश्मीरी लेखक 'मम्मट' ने कुछ शका की थी। वह अपने ग्रथ 'काव्यप्रकाश' मे लिखता है कि काव्य से यश और धन दोनो ही पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं—'काव्य यशसेऽर्थकृते'। इसकी व्याख्या करते हुए वह आगे लिखता है—'कालिदासादीनामिव यश श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्'—अर्थात 'काव्यरचना से कालिदासादि के समान यश प्राप्त होता

१. 'इंडियन ऐंटिक्वैरी'—जिल्द २, पृष्ठ १२७-१२८

२. 'भारत तथा मलयद्वीपों में बौद्धधर्म का हाल'—जे० टकाकुसु द्वारा अनुवादित, पृष्ठ १६२-१६४ (ऑक्सफर्ड, १८९६)

३. (क) 'सुप्रभास्तोत्र' की पुष्पिका से यह मालूम पड़ता है कि उसकी भी रचना हर्ष ही ने की थी (देखिए—जे० आर० ए० एस०, १९०३, पृष्ठ ७०३—२२)

(ख) डॉक्टर ब्यूलर के मतानुसार मधुवन-शिलालेख की कुछ पक्तियो को हर्ष ने लिखा था। (देखिए—एपिग्रैफिया इडिका, जिल्द १, पृष्ठ ७१)

(ग) ह्वानच्वाँग तो 'अष्टमहाश्रीचैत्यसंस्कृतस्तोत्र' को राजा शीलादित्य की रचना बताता है। यह उपाधि श्रीहर्ष की थी, इसलिये इस पुस्तक को हम इन्हीं की लिखी मान सकते है। (देखिए डॉक्टर कीथ का लिखा 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' (१९२८)

है, और श्रीहर्ष तथा अन्य नृपो से धावक आदि के समान कवियो को धन मिलता है[1]।' अतः मम्मट के मतानुसार धावक कवि को श्रीहर्ष से कदाचित् इन्हीं नाटको के कारण बहुत धन मिला था। किंतु डॉक्टर ब्यूलर कहते हैं कि काश्मीरी 'काव्यप्रकाश' की कुछ हस्तलिखित प्रतियो मे 'धावक' के स्थान मे 'बाण' का नाम मिलता है। मेरी बुद्धि मे तो बाणभट्ट कदापि इन नाटको का रचयिता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी कृतियो—कादबरी और हर्षचरित—की शैली बहुत ही क्लिष्ट और गूढ़ है, और इन नाटको की भाषा बहुत ही सरल तथा साधारण है, और वे अलंकार तथा अस्वाभाविकता से सर्वथा रहित हैं। ये नाटक किसी रूप मे उच्च कोटि के नहीं कहे जा सकते, और बाण-सरीखे उद्भट विद्वान् की लेखनी के अयोग्य भी हैं। सत्रहवी ईसवी के भी अनेक ग्रथकारों को इन नाटकों के रचयिता के बारे मे बहुत-कुछ सशय था। उनका यह विश्वास था कि हर्ष के नाम से धावक ही ने उपर्युक्त नाटको की रचना की। यथा—नागोजी ने अपने 'काव्यप्रदीपोद्योत' मे लिखा है—'धावकः कविः स हि श्रीहर्षनाम्ना रत्नावलीं कृत्वा बहु धन लब्धवान् इति प्रसिद्धम्'—अर्थात् 'धावक कवि ने हर्ष के नाम से रत्नावली नाटिका लिखकर बहुत धन पाया, ऐसी उक्ति प्रसिद्ध है'[2]। इसी प्रकार 'परमानद' नामक एक दूसरे विद्वान भी इस सबध मे एक कथा लिखते हैं कि प्राचीन काल मे धावक कवि ने अपनी 'रत्नावली' नाम की कृति को राजा हर्ष के हाथ बेचकर बहुत धन पाया। यथा—'धावक नाम कविः स्वकृति रत्नावली नाम नाटिकां विक्रीय श्रीहर्षनाम्नो राज्ञः सकाशाद् बहुधनमवापेति पुरावृत्तम्'[3]।

अब स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या ये सब निर्मूल दंतकथाएँ हैं, अथवा सत्य की भित्ति पर अवलंबित हैं। बिना किसी निश्चित प्रमाण के कोई उत्तर दे देना कल्पना-मात्र ही होगा। किंतु इन वाक्यो पर विश्वास करने के मार्ग मे कुछ कठिनाइयाँ अवश्य हैं। एक तो सस्कृत-साहित्य मे धावक कवि का कोई ग्रथ उपलब्ध नही हुआ, और यहाँ तक कि 'सुभाषितावलि' मे भी इसका कोई पद उद्धृत नहीं किया गया है। दूसरे, सशय रखनेवाले अधिकतर विद्वान् सोलहवी अथवा सत्रहवी खीष्ट शताब्दी के हैं, और हर्ष-काल से इतना अंतर होने के कारण इनकी प्रामाणिकता सहसा मान बैठना ठीक नही मालूम होता। तीसरे, मम्मट के—जो संभवतः इन सब लेखको के कथन के आधार हैं—वाक्य से यह स्पष्ट नही होता कि श्रीहर्ष अपनी विद्वत्परिषद् के सभासदों को एक सरक्षक के नाते पुरस्कार-रूप मे धन देते थे अथवा उनके ग्रथकर्तृत्व को मोल लेने के कारण। सत्य बात तो यह है कि इन तीनों नाटको के रचयिता 'हर्ष' को मान लेने मे हमे कोई विशेष आपत्ति नही दीखती। इतिहास मे साहित्यप्रेमी राजाओं

१ 'काव्यप्रकाश'—बी० वी० झलकीकर द्वारा संपादित, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ८-९ (बंबई, १९०१), काव्यप्रकाश, गगानाथ झा द्वारा संपादित, पृष्ठ १-२ (१९२५)

२. डी० चंदोर्कर द्वारा संपादित, पृष्ठ ५ (पूना १८९८)

३ देखिए—भंडारकर, १८८२ की हस्तलिखित-संस्कृत पुस्तकों की रिपोर्ट, तथा नॉरीमन, जैक्सन आदि की 'प्रियदर्शिका' पृष्ठ ४७।

के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यथा--समुद्रगुप्त, पल्लवराज महेंद्रविक्रमवर्मन्[1], बाबर, जहाँगीर आदि। किंतु इतना संभव है कि हर्ष के आश्रित विद्वानों मे से किसी ने इन नाटको के पद-लालित्य तथा अर्थ-गौरव को कुछ अश मे अपनी लेखनी से बढ़ाया हो, जैसी एक कहावत है कि राजलेखक केवल अधूरे ही ग्रथकर्त्ता होते हैं।

१ देखिए—डॉक्टर एल० डी० बार्नेट का लेख जो स्कूल आफ ओरियंटल स्टडीज की बुलेटिन (१६२०, पृष्ठ ३७-३८) मे छपा है।
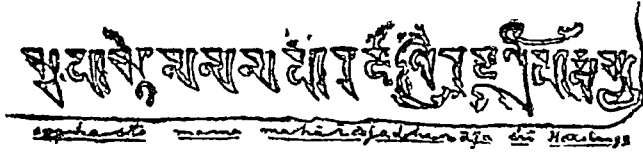
उसी ओर

पगली! मदिर का यह उत्तुग स्वर्ण-शिखर, मसजिद का यह धवल गोल गुंबद और गिरजाघर की यह गगनचुबी मीनार, सब उसी ओर सकेत कर रहे हैं जहाँ तेरा कृष्ण बाँसुरी बजाकर ग्वाल-बाल के साथ नृत्य किया करता है—जहाँ तेरा मुहम्मद फटे-चिथडे लपेटे दुनिया के दरिद्रों को अपनी छाती से लगाया करता है—जहाँ तेरा ईसा कॉटों का मुकुट पहने हुए शाति और अहिंसा का उपदेश दिया करता है।

पगली! इस श्रमित कृषक की देह से टपकती हुई पसीने की बूँदे, इस भिखारिन के सूखे गालो पर ढुलकते हुए आँसू और इस वृद्ध बैल के घावों से टपकते हुए रक्त-बिंदु उसी ओर सकेत कर रहे हैं—जहाँ तेरा कृष्ण गाएँ चराते-चराते थककर चूर हो गया है—जहाँ तेरे मुहम्मद की आँखों मे दुनिया के पीड़ित प्राणियों का दुख देखकर आँसू छलछला आए हैं—जहाँ तेरा ईसा ससार के कल्याण के लिये क्रॉस पर लटक रहा है।

पगली! तू किसकी प्रतीक्षा कर रही है? इस मदिर की स्वच्छ सीढ़ियाँ, इस मसजिद का खुला हुआ द्वार और इस गिरजाघर का भव्य फाटक उसी ओर सकेत कर रहा है—जहाँ तेरा कृष्ण—तेरा मुहम्मद—तेरा ईसा—तेरा प्रियतम स्वय तेरी ही प्रतीक्षा में बडी देर से बैठा हुआ है।

—तेजनारायण काक 'क्रांति'
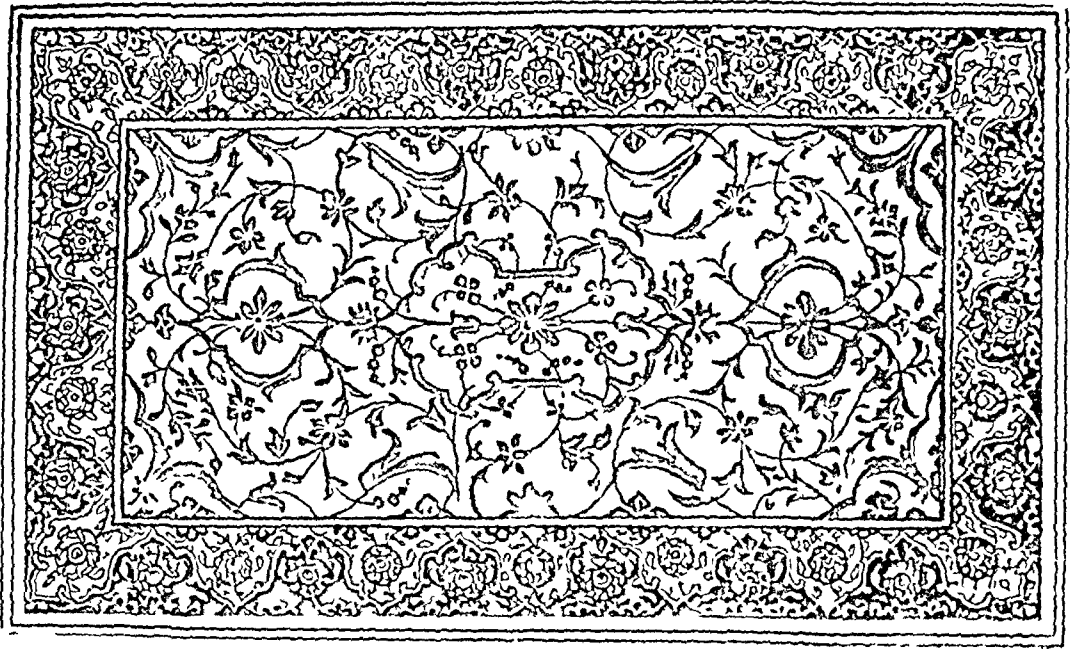
दिल्ली की पठान-कालीन मुस्लिम वास्तु-कला

प्रोफेसर परमात्माशरण, एम० ए०

सन् ६२२ ईसवी की पद्रहवी जुलाई (बृहस्पतिवार) की रात को इस्लाम-मत के प्रवर्त्तक हजरत मुहम्मद, अपने साथियों के साथ, मक्के की जनता के विरोध से तग आकर, वहाँ से हिजरत करके (भाग कर), 'यथरीब (मदीने)' पहुँचे। यथरीब मे उनके अनुयायी बड़े प्रभावशाली थे। इसी समय से उनको अपने मत की रक्षा एव उसके विस्तार के लिये सैन्य-बल की आवश्यकता जान पड़ी। इस जद्दोजहद का फल यह हुआ कि उनकी मृत्यु तक—अर्थात् दस वर्ष के अंदर ही—एक ईश-सत्तात्मक साम्राज्य (Theocratic Empire) की नीव पड़ गई। परिस्थिति अनुकूल पाकर यह साम्राज्य एक शताब्दी मे ही, पश्चिम की ओर उत्तरी अफ्रिका और स्पेन तक—तथा पूरब मे समस्त अरब, सीरिया और ईरान तक—फैल गया। इसी युग मे अरबो ने, आठवी शताब्दी के शुरू मे, भारतीय प्रांत 'सिंध' को बड़े प्रयत्न से जीता और उस पर अपना राज्य स्थापित किया। यह थोडे ही दिनों मे खिलाफत को लात मारकर स्वतंत्र हो गया। नवी शताब्दी तक 'खिलाफत' एशिया की उत्कृष्ट सभ्यता और विद्योन्नति का केंद्र रही। बगदाद के खलीफो ने हजारों संस्कृतग्रथों के अनुवाद, भारत के पडितों को बुला-बुलाकर, अरबी भाषा मे कराए। इसी प्रकार यूनान से भी इस्लाम ने एक नया चोला पहना। परतु अरबी सभ्यता ने किसी मौलिक विद्या अथवा कला की सृष्टि नही की। कला की उन्नति का तो उन्होने कोई परिचय ही नहीं दिया। यदि अरब-साम्राज्यांतर्गत किसी देश मे किसी कला की उन्नति हुई तो वह पराजित या पड़ोसी

जाति के द्वारा—जैसे स्पेन और सीरिया मे स्थानीय अथवा रूमी कलाकारों के द्वारा। किंतु दसवी शताब्दी मे 'खिलाफत' की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। उसके स्थान पर छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए। इस राजनीतिक क्रांति का प्रभाव यह हुआ कि फारस (ईरान) की पुरातन सस्कृति—जो लुप्तप्राय हो गई थी—फिर से सजग हो गई। उसके चमत्कार मे इस्लाम को फिर से एक नया चोला बदलना पड़ा। ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी ईरानी सस्कृति के उत्कर्ष का युग थी। इस समय इस्लाम मध्य-एशिया की जातियों मे भी फैल चुका था। परंतु आंतरिक कलह के कारण फारस-साम्राज्य का पतन हो रहा था। फारस के राजा इतने निर्बल हो गए थे कि उन्हे आत्मरक्षा के लिये मध्य-एशियाई तुर्की सैनिको का सहारा लेना पड़ा। इन लोगों के हाथ मे शक्ति आते ही एक नया सैलाब उठा, जिसका स्रोत 'बल्ख' और 'बुखारा' के हरे-भरे दोआब मे था। इस सैलाब के शिकार पहले फारस और पच्छिम-एशिया के अन्य देश हुए। अंत को सोलहवी शताब्दी मे कुस्तुतुनिया से लेकर उत्तर-पच्छिम एशिया के प्रायः सब देशो और लगभग सारे भारतवर्ष तक पर तुर्क-राज्य कायम हो गया। जब ग्यारहवी शताब्दी मे फारस मे तुर्कों का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ा तब वे फारस की उत्कृष्ट सभ्यता और सस्कृति से प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसी समय महमूद गजनवी ने भारत पर चढ़ाइयाँ शुरू की। मथुरा और कन्नौज के गगनस्पर्शी भवनो को देखकर वह विस्मय-सागर मे डूब गया। वह अपने हृदय मे न केवल यह आकांक्षा ही ले गया कि गजनी को भी वह वैसे ही विशाल भवनों से मडित करे, बल्कि इस काम की पूर्त्ति के लिये भारत से हजारों कलाकार, प्रवीण शिल्पी, मैमार आदि भी बदी करके ले गया। इस प्रकार तुर्क-सुलतानों का साम्राज्य भारतीय, ईरानी और तुर्क—इन तीन—सभ्यताओं के सम्मेलन का केंद्र बन गया, जिससे एक नई सभ्यता का जन्म हुआ। सेमिटिक (अरब) जाति ने तो किसी प्रकार की कला की उन्नति ही नही की, परतु तुर्कों ने इसके विपरीत प्रत्येक देश मे बड़े विशाल भवनों की सृष्टि की। वास्तु-कला मे उनकी रुचि भी थी और बुद्धि भी। उनका एक बडा प्रशसनीय गुण यह था कि वे जिस देश मे जाते, वहाँ की कला और संस्कृति को अपनाकर अपनी कृतियो को ऐसा स्वाभाविक रूप दे देते कि जिसमे फिर कोई असमानता ही न रह जाती।

महमूद गजनवी ने पजाब को अपने साम्राज्य का पूर्वी सीमाप्रात बनाया, परतु उसके मरते ही उसके वश का ह्रास शुरू हो गया। इसके बाद बारहवी शताब्दी के अंत मे, मुहम्मद गोरी और उसके सैनिको ने, थोडे ही दिनो मे, समस्त उत्तरी भारत को जीतकर एक स्थायी राज्य की नींव डाल दी। उसी दिन से मुसलमान शासकों ने बडे-बडे भवन बनवाने शुरू किए। वे लोग वास्तु-कला से अनभिज्ञ न थे, वरन् उनको इसका काफी अनुभव था, जिसका परिचय उन्होने भारतवर्ष मे खूब दिया[१]। पूरे पाँच

[१] पहले-पहल कुरान की शिक्षा के कारण, जिसके अनुसार किसी प्रकार की चित्रकारी कुफ्र (नास्तिकता) मानी जाती थी, तुर्क और अफगान सुलतानो के समय मे चित्र-कला का अभाव-सा रहा। हाँ, गायन-कला की पर्याप्त उन्नति हुई। परतु मुगल-बादशाहो ने अधिक स्वतन्त्रता दिखाई। उनके प्रोत्साहन से चित्र-कला की बड़ी अनुपम उन्नति हुई।

सौ वर्षों तक मुसलमान-बादशाहो ने भारतवर्ष पर राज किया। इतने समय मे भारत के सामाजिक, नैतिक और मानसिक जीवन पर इस्लाम का बडा गहरा प्रभाव पड़ा। मुस्लिम सभ्यता का सबसे बहुमूल्य स्मारक आज हमे उनके विशाल भवनों के रूप मे देख पडता है।

तुर्कों की सयोज्यशक्ति (adaptability) इतनी उत्तम थी कि उन्होंने प्रत्येक प्रांत मे एक नई शैली का विकास किया, जो अन्य सब शैलियों से निराली और स्थानीय परिस्थिति के अनुकूल थी। फर्गुसन, मार्शल आदि पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि भारत मे मुस्लिम वास्तु-कला की दस-बारह भिन्न-भिन्न शैलियाँ पाई जाती हैं, जो अपने रूपरेखा और अन्य स्थानीय लक्षणो मे एक दूसरे से अलहदा हैं। उन सबमे मौलिक लक्षण प्रायः सामान्य होते हुए भी उनका व्यक्तित्व सर्वथा स्वतत्र है। अन्य सब कलाओं की भाँति भारत के पुरातन वास्तु-कला की शैलियों पर भी नस्लों का, धर्म और सामाजिक आवश्यकताओं का, जलवायु और भौगोलिक अवस्था का, प्रभाव देख पड़ता है। किसी शैली का रूप-रग और ढाँचा चाहे जिन कारणों से विकसित हुआ हो, परंतु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक का विकास—स्थानीय धार्मिक और सामाजिक आवश्यकताओ के अनुकूल—एक प्रकार की अंतःप्रेरणा और स्वेच्छावृत्ति से हुआ है। मुस्लिम वास्तु-कला इन पुरातन शैलियों का ही परिवर्त्तित रूप है। पुराने हिंदूभवन—प्रायः मदिर—अथवा उनके ढाँचे इस प्रकार परिवर्त्तित एव परिवर्द्धित किए गए कि जिससे वे इस्लाम के आदर्शो और सिद्धांतो के अनुकूल हो सके। इस परिवर्त्तन मे कही हिंदू-प्रभाव बहुत अधिक मात्रा मे पाया जाता है, कहीं कम। तथापि, यह मानना पडेगा कि हिंदू-कला के ढाँचे ही नही, वरन् प्रायः सभी भाव और कल्पनाएँ (ideas and concepts) मुसलमानी कला मे इस प्रकार लीन हो गई कि शायद ही कोई हिंदू आदर्शचित्र (motif) या रूप (form) ऐसा हो, जिसको मुसलमानों ने न अपनाया हो। परंतु इन सब पार्थिव वस्तुओं का जो ऋण मुस्लिम कला पर है, उससे भी कही भारी ऋण हिंदू-कला के दो अद्वितीय गुणों—दृढ़ता और सौंदर्य—का है। सर जॉन मार्शल का मत है कि सौंदर्य और दृढ़ता का जैसा उत्तम सयोग भारतीय वास्तु मे पाया जाता है वैसा अन्यत्र कही नही। ये दो गुण इस देश को विशेषता हैं और वास्तु-कला के अन्य समस्त गुणो मे उत्कृष्ट हैं।[१]

प्राचीन आर्य वास्तु-कला मे राजप्रासादो और मदिरों का विशेष स्थान था।[२] बौद्ध काल मे स्तूपों और विहारों का विशेष विकास हुआ। ये विहार प्राचीन आर्य-आवास के नमूने पर ही बनते थे। इसके बाद जैन और हिंदू मदिरों का विकास भी उसी पद्धति पर हुआ। फिर मुस्लिम कला मे हिंदू (राजपूत) राजाओं ने जो अपने महल बनवाए, वे उसी प्राचीन मर्यादा के अनुकूल थे। 'दतिया' और 'दीग' के राजमहलो के देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। मुसलमानों के महल इनका किसी तरह

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड ३, अध्याय २३, पृष्ठ ५७१ (सन् १९२८ ई० का संस्करण)

२ यद्यपि प्राचीन राजप्रासाद अद्यावधि विद्यमान नहीं रह सके है तथापि 'मानसार', 'शुक्रनीति' आदि अनेक ग्रंथो से ज्ञात होता है कि उस समय वास्तु-कला की कितनी उन्नति थो।

भी मुकाबला नहीं कर सकते (देखिए चित्र नबर १ और २)। इनकी विशेषता मसजिदों और मकबरों मे पाई जाती है। इनकी रचना एवं अलकरण मे उन्होंने (हिंदू राजाओ ने) अनुपम उन्नति की।

जिस समय मुसलमानों ने मसजिद और मकबरे बनाने शुरू किए, हमारा देश हिंदू और जैन मदिरो से भरपूर था। इन्ही को या तो तोडफोडकर या परिवर्त्तित करके मुसलमानों ने सर्व-प्रथम इमारतें बनाई। दोनों वर्ग की इमारतो के देखने से ज्ञात होता है कि इनमे कितना भेद है। हिंदू-मदिरों के देवालय (shiine) छोटे और तंग होते थे, परतु मसजिद की नमाजगाह बहुत खुली और विशाल। देवालय अँधेरा और गुह्य होता था, मसजिद हवादार। हिंदुओं की छत और डाट, प्राय: सीधे तोरण या पट्टे को सतून के ऊपर रखकर, (tiabeate) बनी हुई हैं, और मुसलमान प्राय. कमानी का प्रयोग करते थे। मदिरो पर प्राय: लबे-पतले शिखर बनाए जाते थे और मसजिदो पर फैले हुए गुबद (स्तूपी)। इस्लाम-धर्म के अनुसार किसी जीवधारो का चित्र या प्रतिमा बनाना घोर पाप था, इसके विपरीत हिंदू-धर्म को सांसारिक रूप मे व्यक्त करने के लिये देवताओं की मूर्त्तियाँ ही एकमात्र उपाय थी। इसलिये मदिर मूर्त्तियो से भरपूर थे। बाहरी अलंकरण (सजावट) मे हिंदू लोग नैसर्गिक, नम्य आकृतियाँ (plastic modelling) बनाना पसद करते थे, जिसमे कोई रूढिबद्ध (conventional) नमूने नही होते थे। उनकी सजावट बहुत घनी होती थी। मुसलमानों ने इसके स्थान पर सीधी रेखा के चित्र और चिपटी खुदाई और जडाई की सजावट का विकास किया। यह सजावट रूढिबद्ध अरबी फूल-बेल या भूमितिक नमूनो की शकल की होती थी। इसके अलावा वे कुरान की आयतें को भी खुदाई मे लिखवाते थे। इसके उदाहरण हमे दिल्ली के कुवतुलइस्लाम मसजिद की टट्टी की खुदाई मे मिलते हैं—जैसा पाठक आगे भी देखेंगे। (देखिए चित्र नबर ७ और ११)। इस प्रकार की अनेक भिन्नताएँ हिंदू और मुस्लिम शैलियो मे विद्यमान हैं। कारण यह कि दोनो के ध्येय और प्रयोजन ही भिन्न थे। ऐसी दशा मे जिस चतुराई से मुसलमान विजेताओ ने हिंदू और जैन मदिरो को घटा-बढ़ाकर मसजिदो के रूप मे परिवर्त्तित कर लिया और जिस बुद्धिमत्ता से हिंदू कलाकारो द्वारा उनकी सजावट कराई, वह बड़ी विलक्षण थी। इससे यह अवश्य विदित होता है कि वे लोग गुणग्राही थे। हाँ, कुछ ऐमे चिह्न भी थे जो दोनों कलाओ मे समान रूप से मिलते थे। जैसे—चौक (सहन), उसके चारो ओर दालान, दुवारी (द्वारी), निकेतन (niche), अलंकरण (ornamentation) इत्यादि।[१] इन समानताओ के कारण मुसलमानों को इन दोनो शैलियो के सयोजन मे अवश्य ही बड़ी सुविधा हुई होगी।

त्रिज्याकार डाट और डाटदार छत तथा गुवद का मुसलमानो ने विशेष सवर्द्धन किया। यह न कहना होगा कि हिंदुओ को डाट और गुवद का ज्ञान नही था। वे चूने का प्रयोग कम करते थे, इस

१ दालान और सहन तो प्राचीन भारतीय भवनो के मुख्य भाग थे और यहीं से मुसलमानो ने सीखे थे। सजावट उन्होने प्राय रूम (टर्की) से ली थी। देखिए—'हेवेल्' की "हैंडबुक आफ इडियन आर्ट" नामक पुस्तक (संस्करण सन् १९२०), पृष्ठ १०४-६। केंब्रिज हि० इ०-खड ३, पृष्ठ ४७१

कारण गोल गुबद या बड़ी-बड़ी डाटें कम बनाते थे। मुसलमान भी अक्सर चौरस पाट की छतें बनाते थे। इसके अतिरिक्त उन्होने लबी-पतली मीनारों, प्रालब (pendentive) [1], कोनिहाई डाट (squinch arch) [2], अर्द्धगोलाच्छादित, मधुमक्खी के छत्ते के समान लटकती छतवाले दोहरे द्वार (खिडकीदार द्वार) और बडे सुंदर परिष्कृत अलकरणों की बड़ी उन्नति की। इसके अतिरिक्त उन्होने सजावट में रगो का भी बहुत प्रयोग किया, जिसके लिये फारस के चीनी की टाइल (tile), रगो और फिर बहुमूल्य पत्थरो का प्रयोग किया। कीमती पत्थरो की जडाई का काम, जो मुगलो के काल मे हुआ, pietra dura work कहलाता है। इन सब चीजो का सयोग ऐसी दक्षता से किया गया कि—मुस्लिम वास्तु का प्रत्येक भाग भारत से उधार लिया हुआ होने पर भी—कुल इमारत का रूप-रग और ढाँचा एक निराले ढंग का देख पडता है। प्रत्येक मुस्लिम शैली की प्रशंसनीय विशेषता यह है कि उसके स्वरूप और रचना मे अपने रचयिता के चरित्र एव इतिहास का सजीव प्रतिबिब है। जेम्स बर्जेस्स ने कहा है—"यदि यह कहना ठीक हो कि किसी देश का इतिहास उसकी वास्तु-कला पर अंकित होता है तो भारत के इतिहास पर उससे जितना प्रखर, अनवरत और विविध पहलुओ पर प्रकाश पड़ता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं।" यह कथन मुस्लिम वास्तु-कला के सबध मे भी पूर्णतया लागू है। किसी बादशाह के चरित्र को समझने के लिये उसके भवनो को देख लेना पर्याप्त है।

यहाँ की मुस्लिम कला के उद्गम के बारे मे अभी विद्वानों मे बड़ा मतभेद है। इस पर शीघ्र ही कोई एक-मत हो जाने की विशेष आशा भी नही। इसका एक मुख्य कारण यह है कि कतिपय पाश्चात्य विद्वानो का दृष्टिकोण ही इतना वक्र और सकीर्ण है कि यदि किसी प्राच्य जाति की सभ्यता मे कोई अत्यत उत्कृष्टता का चिह्न देख पड़े, तो उनका हृदय तुरत इस भय से दहलने लगता है कि इस प्रकार के उदाहरणो से उनकी इस प्रिय धारणा और सिद्धांत की जड़े हिल जाएँगी कि 'प्राच्य जातियो मे सभ्यता के किसी अंग का भी विकास उतनी ऊँचाई को पहुँचा ही नही जितना पाश्चात्य देशो मे'। उनको यह विश्वास ही नही हो सकता कि प्राच्य जातियाँ भी इतनी ऊँची सभ्यता का निर्माण कर सकती थी। विवश होकर ऐसी परिस्थिति मे वे तुरत यह टटोलने लगते हैं कि इसका स्रोत अवश्य किसी पाश्चात्य जाति मे मिलेगा। इस प्रवृत्ति के मनुष्य—जहाँ उन्हे कोई नाम-मात्र को भी सहारा देख पड़ा, तुरत उससे चिपट जाते हैं, और फिर बड़े गर्व के साथ यह समझते हैं कि उनकी अद्भुत खोज ने उनके प्रिय सिद्धांत की रक्षा कर ली और पाश्चात्य सभ्यता को नीचा देखने से भी बचा लिया! इस वर्ग के लोगो मे स्वर्गीय डॉक्टर विसेंट स्मिथ का नाम अग्रगण्य है! जिस प्रकार उनको यह कहकर बड़ा संतोष होता है कि सिकदरे-आजम के पाश्चात्य सैनिक-बुद्धिबल के सामने प्राच्य देशो की सेनाएँ ठहर ही नही सकती थी—यद्यपि इस सिद्धांत की वास्तविकता विद्वानो से छिपी नही है—उसी प्रकार उनको केवल इतना ही पता चल जाने मे बड़ा सतोष होता है कि 'ताजमहल'-जैसी

१ देखिए चित्र नंबर ३
२. देखिए चित्र नबर ४
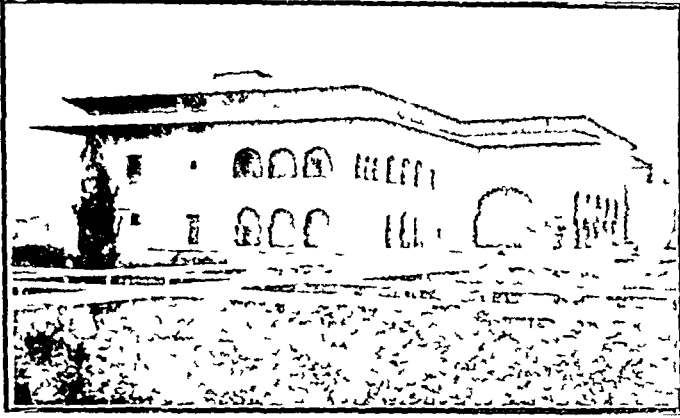
नं० १ —जाट राजाओं के समय का राजप्रासाद, डीग। (पृष्ठ २६५)

नं० २—राजा वीरसिह बुदेला का राजप्रासाद, दतिया। (पृष्ठ २६५)
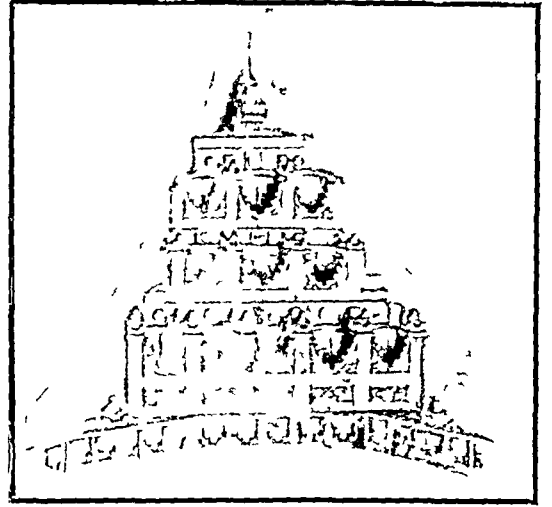
नं० ३ —प्रालब (Pendentive)। (पृष्ठ २६६)
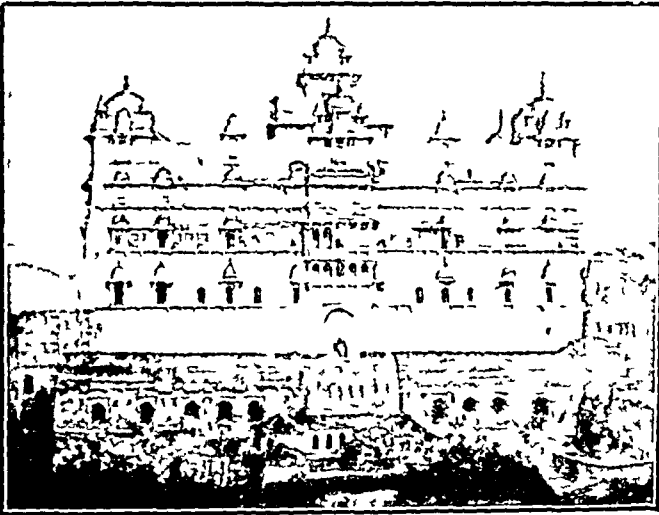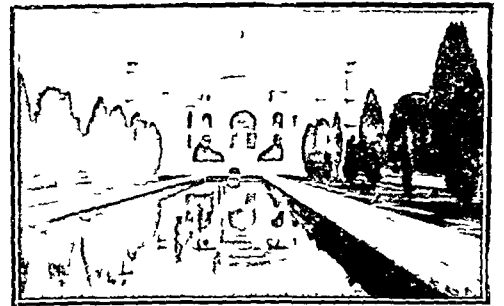
नं० ५ —ताजमहल, आगरा। (पृष्ठ २६७)
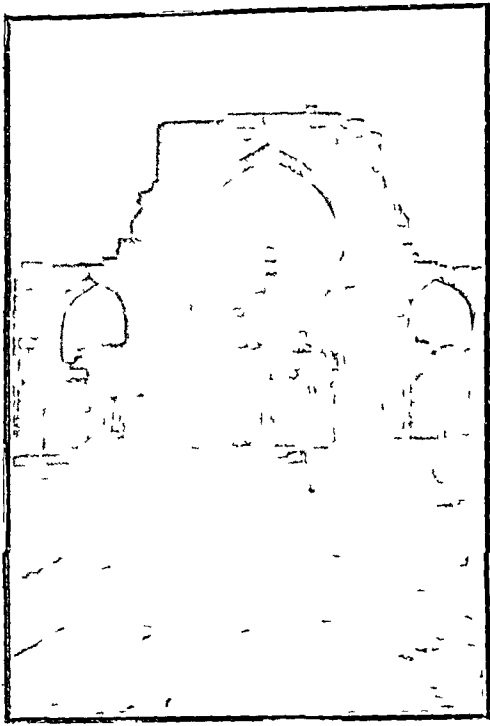
नं० ६—कुव्रतुल इसलाम मसजिद के सामने की टट्टी का वह भाग जिसे 'ईबक' ने बनवाया था। इसके पीछे नमाज के कमरे के पतले छोटे सतून और छत तथा सामने प्राचीन लोहे की लाट स्पष्ट देख पड़ती है। इसकी रचना प्राचीन नियम के अनुसार, अर्थात् टेंडो के आधार पर (corbelled), है—यह भी साफ देख पड़ता है। (पृष्ठ २९८)

नं० १०—'ढाई दिन का झोपड़ा' के सफेद पत्थर की मेहराब, अजमेर। (पृष्ठ २९९)
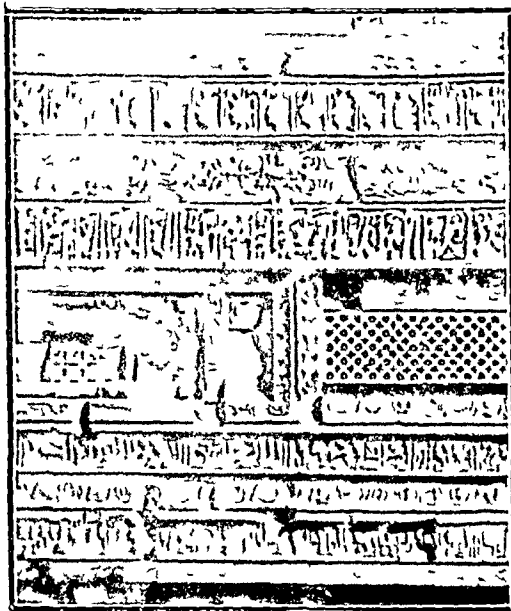
नं० ११—चपटी, रेखाबद्ध, निरूढ खुदाई का एक नमूना। (पृष्ठ २९९)
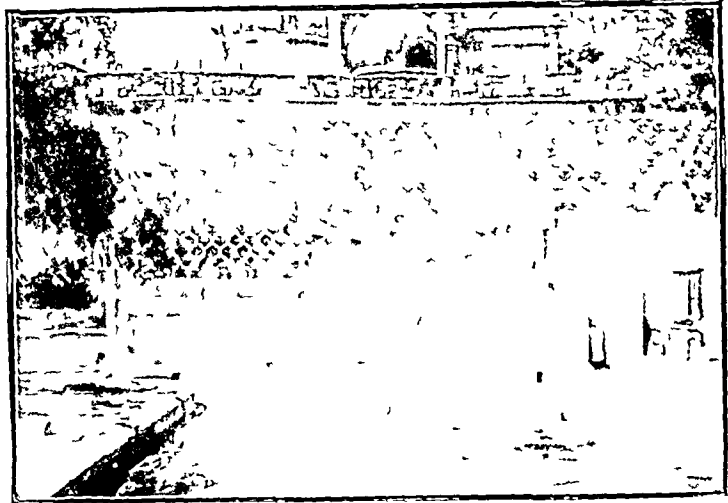
नं०१२—ख्वाजा कुतबुद्दीन काफी, ऊपी की कब्र। (पृष्ठ ३००)

अलौकिकसौंदर्य-मंडित इमारत के मुख्य शिल्पी योरोपीय टर्की के निवासी थे और उसका परिलेखक (designer) एक इटेलियन था। इस सिद्धांत की ऐतिहासिक नीव कितनी पोली है, सो यहाँ बतलाने का न अवकाश है न आवश्यकता। इसकी असलियत समझने के लिये वास्तु-कला के मोटे-मोटे चिह्नो को जाननेवाले के लिये भी 'ताज' को एक बार देख लेना काफी है। उसमे पाश्चात्य कला का चिह्न ही नही है—उसका आदर्श, उद्देश्य और कल्पना सर्वथा भारतीय हैं (देखिए चित्र नंबर ५)। 'ताज' अपने रचयिताओ के बारे मे स्वय अपना साक्षी है। परतु इस सबध मे मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि अमुक भवन के रचयिताओ मे कोई पाश्चात्य भी थे या नही, वरन् यह है कि भारत की मुस्लिम कला का क्या कोई अग अथवा उसके उद्देश्य और आदर्श बाहरी हैं? इस प्रश्न पर किसी निष्पक्ष विद्वान् के दो मत नही हो सकते, क्योकि यहाँ भी मुसलमानो ने वही काम किया जो वे अन्य सब देशो मे करते आए थे—अर्थात् उन्होने स्थानीय वास्तु-कला को अपनी आवश्यकता और सिद्धांतो के अनुकूल बदल डाला। 'फर्गुसन'-जैसे विद्वान् ने भी यह समझने मे भूल की है कि पठान-सुलतानो ने एक नई शैली का आविष्कार किया। वास्तव मे न तो पठानों की कोई नई शैली थी, न तुर्कों या मुगलो की। वे सब पुरातन कला के रूपातर थे। हिंदू-घरो और मदिरों तथा बौद्ध विहारो के चौक और दालान मसजिदो के नमाज-गाह बन गए। देवालय (niches) मेहराब के रूप मे मसजिदो मे मक्के की तरफ बनाए जाने लगे, क्योकि वे वहाँ भी खुदा का स्थान माने जाते हैं, केवल वहाँ कोई प्रतिमा नही होती। भारतीय जयस्तभो को देखकर महमूद गजनवी ने यही के कारीगरो से गजनी मे मीनारे बनवाई। उसी की नकल करके मसजिदो के ऊपर, और अलग जयस्तभ-रूप मे भी, मीनारे यहाँ बनाई गई। सतून, वेदिका (railing), छज्जे (eaves), टोडे (bracket), अलिंद (balcony), कानस (cornice), तोरण (lintel), प्रस्तर (entablature) इत्यादि अनेक वस्तुएँ बिलकुल भारतीय ही मुस्लिम वास्तु मे पाई जाती हैं। सजावट या खुदाई मे भी बहुत-से भारतीय आदर्श चित्रो (नमूने, motifs) का प्रयोग हुआ, परंतु इसमे बहुत सी बाहरी मिलावट भी हुई। गुबद और अर्धस्तूपी डाट (semi-dome arch) के उद्गम के प्रश्न पर बड़ा मत-भेद है, परतु इतना निश्चय है कि इन दोनो का विकास भी भारतीय कला के मूल तत्त्वो के आधार पर ही हुआ है। इस प्रकार अपनी वास्तु-कला के प्रायः सभी अवयव मुसलमानो ने भारतीय कला से लिए, परतु केवल इतने ही से कला के नए रग-रूप मे लालित्य और अन्य आवश्यक लक्षण आ जायँ, यह आवश्यक नही। इसके लिये उन अवयवो के समुचित सयोग की परम आवश्यकता है। मुसलमानो की प्रतिभा का प्रमाण इसी मे है कि उन्होने इस सामग्री का ऐसी उत्तम रीति से प्रयोग किया कि उसमे से एक सर्व-गुण-सपन्न नवीन कला अपना स्वतत्र व्यक्तित्व लिए हुए उद्भासित हो उठी।[१]

मुस्लिम वास्तु-कला मे सर्वोपरि महत्त्व दिल्ली का है। यहाँ की शैली को प्रांतीय शैलियो की अपेक्षा से हम केंद्रीय शैली कहेगे। यही पर पहले-पहल मुसलमानो ने मसजिदे आदि बनाई,

१ इस विषय की विस्तृत विवेचना करने का यहाँ अवकाश नही। इसलिये अति संक्षेप मे ही उसके मुख्य अगो के दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया गया है।

जो कला की दृष्टि से अत्युत्तम कोटि की इमारते हैं। यहाँ पर उनके आदर्श उदाहरणो का वर्णन करना ही पर्याप्त होगा। सन् ११९१ ई० मे महाराजा पृथ्वीराज को हराकर, उसकी राजधानी पर अधिकार करते ही, मुहम्मद गोरी के सेनापति कुतबुद्दीन ईबक ने सैकडो मदिरो को तोड़कर कई इमारते 'लालकोट' नामी किले के अंदर बनवाई। इनमे सबसे पहली और उत्तम 'कुवतुल् इस्लाम मसजिद' है। यह साधारण मसजिदो के आसन (ground plan) पर ही बनी है। चार तरफ दालान, बीच मे बडा सहन और पच्छिम तरफ का दालान पूजागृह (जाए-नमाज) है। बाकी तीन तरफ बीच मे दरवाजे हैं। इसे देखने से साफ पता लग जाता है कि उसी स्थान पर पहले कोई हिंदू-मदिर था, जिसका आसन (plinth) अब तक विद्यमान है। इसमे सिर्फ पच्छिम के दीवार की पाँच मेहराबो (niches) को छोडकर, जो नए प्रकार की हैं, शेष सब चीजे हिंदू-प्रकार की हैं। इसके स्तभ, तोरण, छत आदि तो ज्यों के त्यों मदिरो से लाकर लगा दिए गए हैं, केवल उनके ऊपर की मूर्त्तियाँ तोड़ दी गई हैं। सन् ११९८ ई० मे पूजा-गृह (नमाज के कमरे) के सामने तीन सादी डाटों की टट्टी बनवाई गई, जिसमे बीच की डाट तिरपन फीट ऊँची है और बाकी दो छोटी हैं जो पहले दुमजिला थी। (देखिए चित्र नबर ६)। इनको, त्रिकोणाकार होने के कारण, फर्गुसन ने 'घोडे की नाल के आकार की डाट' (horse-shoe arch) नाम दिया है, परतु हेवेल् 'पद्मपत्राकार डाट' (lotus-leaf arch) कहता है। इन डाटों के अग्रभाग (facade) की खुदाई बडी अद्भुत है। नम्य फूल-पत्तियाँ और नैसर्गिक बेलों की सजीव पट्टी पर पट्टी और तुगरा-लिपि मे कुरानी आयते बडी अद्वितीय दक्षता से खोदी गई हैं। (देखिए चित्र नबर ७)। यह डाट भी पुरातन रचना-नियम (principle of construction) के अनुसार,
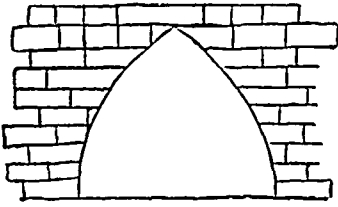
रेखा-चित्र नं० १
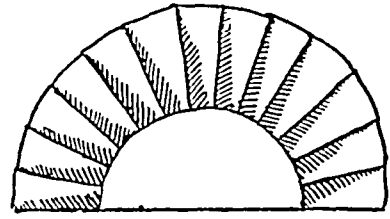
रेखा-चित्र नं० २

अर्थात् टोडों (corbels) पर बनी है (रेखा-चित्र न० १), त्रिज्याकार (radiating principle) पर नहीं (रेखा-चित्र न० २)। यह टट्टी वैसे तो बडी उत्तम है, परंतु इतनी भारी और दीर्घकाय है कि पीछे के पूजागृह और उसके पतले-पतले सतूनो के साथ बड़ी ही बे-जोड प्रतीत होती है। पुरातन लोहे की लाट, जिसे कदाचित् अनंगपाल सन् १०५२ ई० मे मथुरा से लाया हो, इसी टट्टी के सामने खडी है। यह मसजिद मुसलमानों की सबसे पहली इमारत है। फिर सन् १२०० ई० मे महाराज पृथ्वीराज के पितामह विग्रहपाल—या बीसलदेव—के बनवाए हुए सस्कृत-विद्यालय को तुडवाकर कुतबुद्दीन ने एक वैसी ही मसजिद अजमेर मे बनवाई। यह 'ढाई दिन का झोपड़ा' नाम से मशहूर है (देखिए चित्र नंबर ८)। इस नाम के बारे मे कई दतकथाएँ प्रचलित हैं। कोई कहता है, यह ढाई दिन मे बनी

थी। कोई कहता है, यहाँ ढाई दिन तक मरहठो का एक मेला लगा करता था। इन सबमे यही कथा सबसे अधिक सभाव्य मालूम होती है कि इसमे प्रति वष कलंदर[1] लोग ढाई दिन के लिये एकत्र हुआ करते थे, और चूँकि वे अपने रहने के स्थान को 'झोपड़ा' ही कहते हैं (अर्थात् महलो मे रहना पसद नहीं करते), इसलिये इसे भी झोपडा ही कहते थे। इस मसजिद का क्षेत्र अपनी दिल्ली की बहन से दुगुना बडा है और अधिक शानदार भो है। इसका नमाज-घर उससे बडा और छते भी ऊँची हैं। सतून भी अधिक अच्छे ढग पर लगाए गए हैं। (देखिए चित्र नबर ९)। बाकी तीन दालान अधिक चौडे और बजाय कई स्तभ-पक्तियो के (colonnades) एक ही पक्ति पर पटे हैं। दिल्ली मे कई पक्ति और छत नीची होने से दालान काफी खुला नही है। पिछला दालान, जो जाए-नमाज है, बडा सुदर और निर्दोष है। उसके पीठ की दीवार के बीचोबीच सफेद पत्थर की मिहराब (चित्र नं० १०), जिस पर अत्युत्तम खुदाई का काम है, लाल पत्थर मे एक रत्न-सी प्रतीत होती है। पूरब की दीवार के कोनों पर दो बड़े-बड़े गोल 'वप्र' (bastions) हैं, जो दिल्ली में नही हैं। यहाँ भी अल्तमिश ने नमाज-घर के सामने एक टट्टी खडी करवाई। परंतु यह उतनी सुदर नही है। रचना-नियम और दृढ़ता मे तो यह ठीक है, परतु बहुत ही भारी और असंगत है। इसकी बाहरी खुदाई और सजावट भी उतनी अच्छी नहीं है। बीच की डाट के ऊपर दो मीनारे एकदम व्यर्थ रख दी गई हैं। डाट के कोनो मे कमल बहुत छोटे और निर्जीव हैं। इसी प्रकार के कई दोष इस टट्टी मे हैं। सन् १२३० ई० मे अल्तमिश ने दिल्ली के मसजिद की टट्टी के दोनो तरफ मिहरावे बढाकर और सहन को नए दालान बनाकर इतना बढ़ा दिया कि उसका क्षेत्र-फल दुगुना हो गया और कुतुबमीनार भी इसके अंदर आ गई। नए दालानों केस तून आदि सब नए पत्थरो के बनवाए गए, परतु फिर भी सब हिंदू-प्रकार के ही हैं। टट्टी की डाटे भी टोडों के नियम पर ही हैं। हाँ, इसकी खुदाई मे विशेष परिवर्त्तन किया गया। पहली डाटों की खुदाई मे तुगरा-लेखो को छोड़कर और सब कुछ हिंदू-प्रकार का काम है, परतु नई डाटो मे वह निर्जीव, चपटी, रेखाबद्ध और निरूढ़ है। (चित्र न० १२)। उसके प्रतिरूप (models) अन्य मुस्लिम देशों के समान हैं। इस कारण यह पहली टट्टी-जैसी सुदर और सजीव तो नही है, पर एक मुस्लिम इमारत मे सुसगत है। इसके बाद अलाउद्दीन खिलजी ने मसजिद का तीसरा सहन बनवाया जो बहुत ही बड़ा है।

कुतुबमीनार—इसके विषय मे अभी कोई मत स्थिर नहीं है कि यह विशुद्ध मुस्लिम इमारत है या कोई हिंदू-जयस्तभ, जिसको बदलकर मुसलमानो ने अपनी फतह की यादगार बना ली हो। मार्शल कहते हैं—'ऐसा जान पडता है कि यह कुतुबी मसजिद का मुआज्जिना (जहाँ से अजाॅ दी जाती है) है।' किंतु उनका यह मत बिलकुल निराधार है। इन दोनो को देखते ही पता चल जाता है कि इसका मसजिद से कोई सबध ही नही है। इसकी थली मसजिद के आसन से बहुत नीची है। फारसी और अरबी लिखावट इसमे पीछे खोदी गई जान पडती है। अतएव सभव है कि बीसलदेव ने दिल्ली-विजय करने पर इस

[1] वे फकीर जो शरीयत के पाबद न हो।

जयस्तभ को बनवाना शुरू किया हो। आंतरिक प्रमाणो से जान पडता है कि 'ईबक' के समय मे इसकी एक ही मजिल थी और शेष अल्तमिश ने बनवाई। फीरोज तुगलक और सिकदर लोदी ने भी इसकी मरम्मत कराई। इसकी ऊँचाई लगभग ढाई सौ फीट है। नीचे की तीन मजिले अंदर तो हरे चट्टानी पत्थर की हैं और बाहरी आवरण लाल पत्थर का है। ऊपर की दो मजिले अदर लाल पत्थर की हैं और उनका बाहरी आवरण अधिकतर सफेद पत्थर का है। यह मीनार इतनी गभीर और दिग्गज है कि इसके पास जाते ही इसका रोब मन को प्रभावित कर लेता है। परतु इसमे वह भव्यता और गुह्य सौंदर्य नही है जो राणा कुभ के चित्तौरगढवाले जयस्तभ मे है। इसका नाम एक सूफी ख्वाजा कुतबुद्दीन काकी, उष-नगर-निवासी, की स्मृति मे रक्खा गया था। इस सूफी को कब्र थोडी ही दूर पर 'महरोली' (मेहरेवली) गाँव मे है। (चित्र न० १२)

इस प्रकार मुस्लिम वास्तु-कला का एक पद (stage) समाप्त हुआ। यहाँ तक कि इमारते प्राय: सपूर्णतया हिंदू-प्रकार की थी। इसके बाद इसमे उत्तरोत्तर परिवर्त्तन शुरू हुआ। सबसे पहले हिंदू-प्रभाव से बचने का यत्न अल्तमिश की कब्र मे, जो मसजिद के उत्तर-पश्चिम मे है, किया गया। परतु यह प्रयत्न असफल रहा—इमारत की रचना-शैली न इधर की रही न उधर की, बहुत भद्दी हो गई। फिर भी इसमे खुदाई और तुगरा-लेख अत्युत्तम हैं। इसकी छत पर एक चपटा-सा गुबद रहा होगा, ऐसा जान पड़ता है। इसके बाद खिल्जी-काल तक कोई उल्लेखनीय इमारत न बनी। जो कुछ कब्रे आदि बनीं भी, उनमे 'बलबन' के समय तक रचना-शैली भी वही रही। बलबन के समय मे एक विशेष महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन यह हुआ कि डाटे पहले-पहल त्रिज्याकार (radiating) नियम पर बनी। हिंदू-रचना-शैली के विरुद्ध प्रतिकार का यह बडा आवश्यक चिह्न था। इसी प्रकार धीरे-धीरे पुरातन शैली को बदलते हुए, खिल्जी-काल तक, मुस्लिम रचना-शैली के सिद्धांत और उसकी परपराएँ स्थिर एव परिपक्व हो गई। इस परिवर्त्तन मे दो बाते मुख्य थीं—(१) निर्माण-विधि (method of construction) मे परिवर्त्तन, और (२) अलकरण-(सजावट)-विधि मे परिवर्त्तन। हिंदू अलकरण एक सर्वथा स्वतत्र और भिन्न विषय है। जैसे हरे फूल-पत्तों के तोरण, वदनवार आदि मडपो के अलकरण के लिये लगाए जाते हैं वैसे ही पत्थर के फूल-बेल उन्ही के अनुरूप मानों सजीव ही होते है। इसके प्रतिकूल मुसलमानों ने अपने अलकरण के विषयों को वास्तु का एक अभिन्न भाग बना लिया। इस परिवर्त्तन का प्रभाव खिल्जी इमारतो मे स्पष्ट दीखता है। इनमे दो इमारते उल्लेखनीय हैं—(१) अलाई-दरवाजा, और (२) जमाअतखाना मसजिद।

अलाई-दरवाजा—(चित्र नबर १३) हम ऊपर कह आए हैं कि अलाउद्दीन ने कुवतुल इस्लाम मसजिद के सहन को बहुत बढ़वाया था। उसके दक्खिन की ओर यह दरवाजा बनाया गया था। इसका कुछ भाग गिर भी गया है। यह चौकोर इमारत है जिसकी चारो दीवारो के बीच मे द्वार, उनके इधर-उधर जालीदार खिड़कियाँ और छत एक चपटे गुबद की है। यह द्वार सर्वांगसुदर और निर्दोष है। इसमे खुदाई और संगमरमर की जड़ाई का काम इतना घना और सुदर है कि जिसकी उपमा
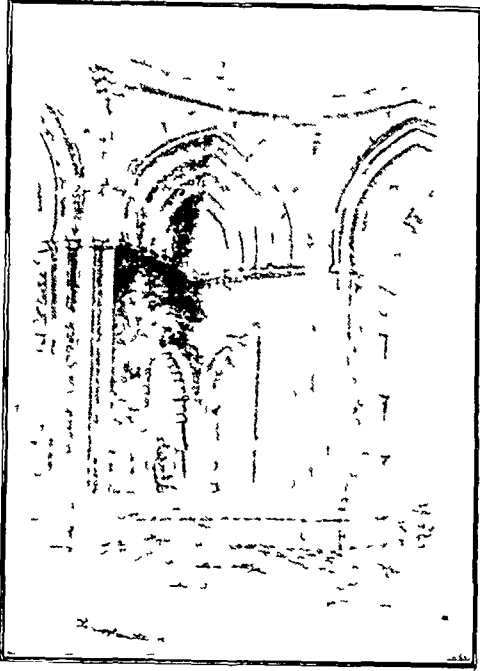
न० ४ —कोनिहाई डाट (कमानी, squinch arch) । (पृष्ठ २९६)

न० १३ —अलाई-दरवाजा, दिल्ली। (पृष्ठ ३००)

न० ७ —कुवतुल इसलाम मसजिद की टट्टी के 'ईवक'-रचित भाग के सामने की खुदाई, जिसमें फूल-वेल नैसर्गिक और सर्वथा हिंदू-प्रकार के है। (पृष्ठ २९८)
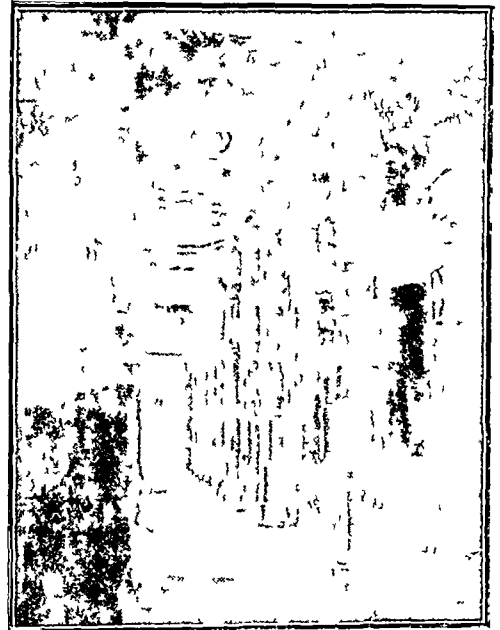
नं० ९—'ढाई दिन का झोपडा' के नमाज के दालान का एक भाग, अजमेर। (पृष्ठ २९९)

न० ८ —'ढाई दिन का झोपडा,' अजमेर। (पृष्ठ २९८)
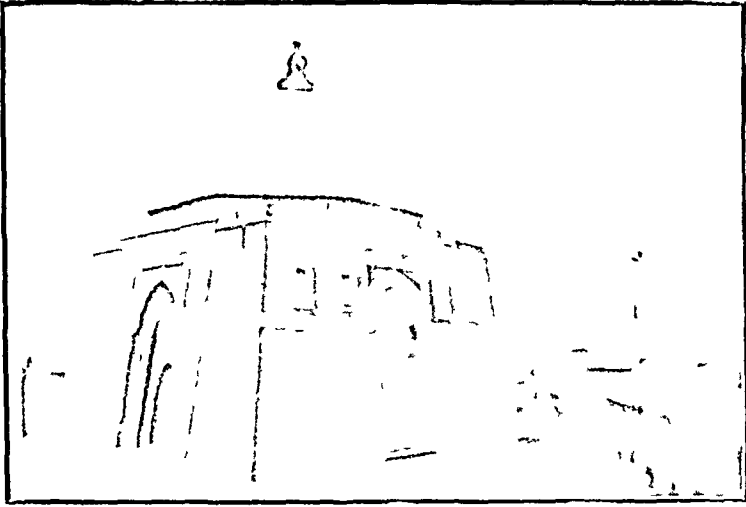
न० १५—गयासुद्दीन तुगलक (तुगलकशाह) की कब्र। (पृष्ठ ३०३)
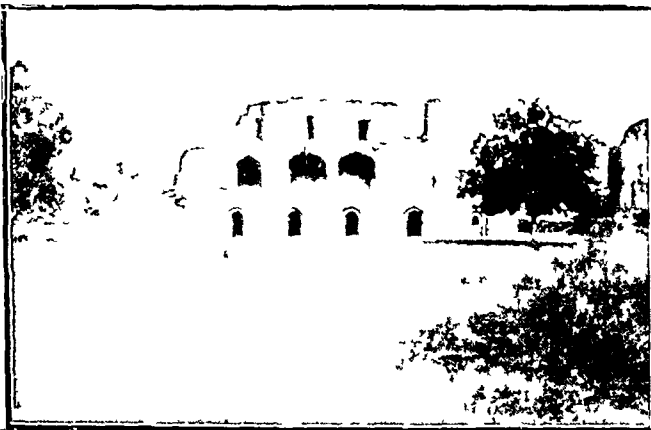
न० १६—फीरोज तुगलक के किले मे अशोक-स्तंभ।
(पृष्ठ ३०५)

मिलना कठिन है। द्वारों की डाटो के अंदर (inteıados पर) एक पुष्प-माला की झालर अत्यत सुंदरता से लगाई है। लाल पत्थर के अंदर सफेद पत्थर की जड़ाई इसकी विशेषता है। दीवारो पर रेखाबद्ध प्रतिरूप (geometrıcal patterns), अरबी रेखा-चित्र और तुगरा-लेख बडी सुदरता से खुदे हैं। समस्त सजावट अत्यत सुव्यवस्थित और सुसगत है। दरवाजे के अंदर उसके बाहरी सौदर्य के स्थान पर एक गाभीर्य का दृश्य प्रतीत होता है। इसका सपूर्ण समत्व इसकी विशेषता है।

जमाअतखाना मसजिद—यह लगभग सर्वांग मुस्लिम शैली पर बनी हुई पहली मसजिद है। (चित्र न० १४)। यह कुतुब से कोई छ मील उत्तर-पूर्व की तरफ, निजामुद्दीन औलिया की दरगाह मे, स्थित है। इसमे तीन कमरे हैं—बीच का चैाकोर और दो आयताकार (oblong), तीनों मे बडे-बडे डाटदार द्वार हैं। यह ध्यान देने की बात है कि इन डाटो के कोनो (spendrıls) मे पद्म-मुद्रा (lotus) विद्यमान है, जो हिंदू-कला का मूलाधार और सर्वव्यापक अलकरण है। मुसलमानो ने उसके तत्त्व को शायद कभी समझा ही नही, परतु बहुत उपयुक्त पाकर सदैव उसका उपयोग करते रहे। कहा जाता है कि पहले तो अलाउद्दीन के बेटे 'खिज्र खाँ' ने इस मसजिद का बीचवाला कमरा निजामुद्दीन की कब्र के लिये बनवाया था, फिर शेरशाह ने बाकी दो कमरे बनवाए। परतु ये दोनों इतनी उत्तमता से पहले की दीवारो मे मिला दिए गए है कि सारी इमारत एक साथ ही बनी जान पडती है। बीच के कमरे पर एक गुबद कोनिहाई डाटो (squınch archs) पर बना है। दोनों तरफ के कमरों पर दो-दो छोटे गुबद त्रिकोण प्रालबो (pendentıves) पर टिके हुए हैं।

अब यहाँ पर सक्षेप मे इस बात की व्याख्या कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कोनिहाई डाट, प्रालब आदि का विकास क्यों और किस प्रकार हुआ तथा छतो के बनाने मे इनसे किस प्रकार
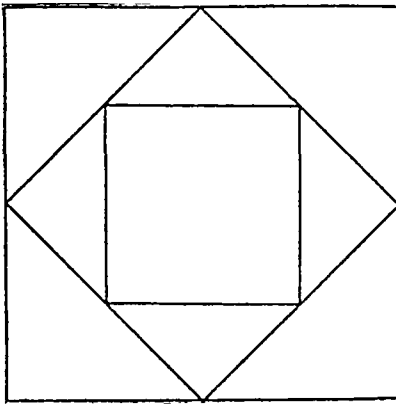
रेखा-चित्र न० ३
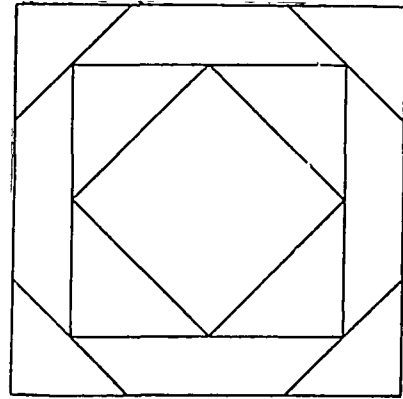
रेखा-चित्र न० ४

सहायता ली गई। पहले से ही इस विषय मे दो मुख्य समस्याएँ थी—(१) किसी इतने बडे मडप का आच्छादन (ıoof) बनाना जिसके लिये काफी बडी गोपानक (beam) या पत्थर की पट्टी न मिले, (२) इसमे कला के नियमों का उल्लघन न करना। ये दोनों प्रयोजन बडी उत्तमता से सिद्ध किए गए।

बड़े मडप को आच्छादित करने की एक रीति तो यह थी कि दीवारो के ऊपर चारों कोनों पर तिकोनी पट्टियाँ रखकर खुली जगह को धीरे-धीरे कम कर देते थे और फिर बीच मे एक चौरस पट्टा रख दिया जाता था। (देखिए रेखा-चित्र न० ३ और ४)। छत बनाने की यह रीति मुस्लिम काल मे बहुत प्रचलित रही, विशेषतया अकबर की इमारतों मे। यदि चौरस छत के स्थान पर गुबद (स्तूपी) बनाना हो, तो पहले यह आवश्यक है कि उसका आधार (basement) गोल होना चाहिए और इतना मजबूत भी कि गुंबद का बोझ सँभाल सके। इस समस्या को हल करने के लिये पहले पटाव के स्थान के कोनों पर कोनिहाई डाट या प्रालब (squinch aich oi pendentive) इस प्रकार बनाया जाता है कि लब्ध आकार अष्टभुजा हो जाय। फिर इस अष्टभुजा को सीधी पट्टियाँ रखकर षोडशभुजा-रूप दे दिया जाता है, जो लगभग वृत्ताकार (cucular) ही होता है। इस पर यदि आवश्यकता हो तो एक छोटी वृत्ताकार ग्रीवा भी बना दी जाती है और तब उसके ऊपर स्तूपी बनाया जाता है। (देखिए रेखा-चित्र न० ५)। पहले तो इसके ऊपर ही गुबद उठा दिया जाता था, परतु बाद मे ग्रीवा को लबा बनाने की आवश्यकता हुई, जिसकी
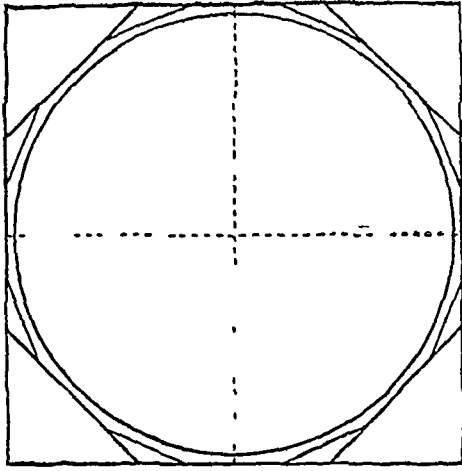
रेखा-चित्र नं० ५
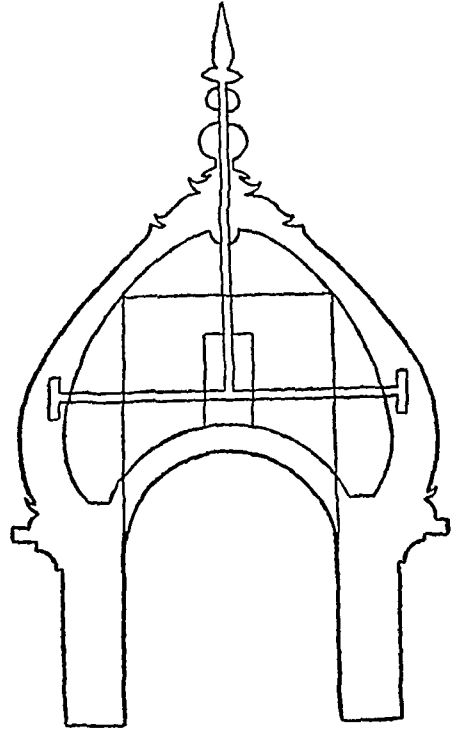
रेखा-चित्र न० ६

व्याख्या आगे की जाएगी। इस प्रकार, कोई मडप चाहे बाहर से अष्टभुज हो या चतुर्भुज, उसके ऊपर गुंबद बनाने मे दृढ़ता और सुंदरता का सयोग बडी विलक्षणता एव उत्तमता से किया गया। आगे चलकर गुबद की रचना मे बहुत बडा विकास हुआ। पठान-काल मे प्राय: सभी गुबद बैठे हुए और अर्द्धगोलाकार बनते थे, उनका आधार किसी उठी हुई ग्रीवा (neck) पर नही होता था। वे चपटे और गैठे देख पडते हैं। लोदियो के समय तक उनके चारों ओर छोटी-छोटी छतरियाँ और दीवारो के ऊपर कँगूरे बनाने की रीति भी प्रचलित हो गई। इनके कारण गुबद पीछे पड़ जाता और ढँक जाता।

अतएव उसे ऊँची ग्रीवा के ऊपर बनाना शुरू किया और साथ ही स्वय उसका रूप भी पूर्ण गोलाकार—अर्थात् कुछ लबा—हो गया। परतु ग्रीवा और गुबद दोनों के ऊँचा हो जाने से अंदर की ऊँचाई बेडौल दीखने लगी। इसे सुडौल और परिमित करने के लिये दोहरे गुबद (double-dome) की रचना हुई। (देखिए रेखा-चित्र न० ६)। इस गुबद के बारे मे कतिपय पाश्चात्य लेखको का मत है कि यह फारस के द्वारा बगदाद से यहाँ लाया गया। परतु हेवेल् एव अन्य कई पुरातत्त्वज्ञो का मत यह है—"यदि तत्कालीन हिंदू-मदिरो के मडप के छत की ऊपरी खुदाई और सजावट को छील दिया जाय तो उसका वही आकार निकल आवेगा जो पठानी गुबदो का है। हिंदू कारीगरो ने जैसी आवश्यकता देखी वैसा परिवर्त्तन करके उसे बना दिया, क्योकि इस्लाम मे मूर्त्तियों का बनाना निषिद्ध था।"[1] तथापि प्रत्येक गुबद के ऊपर 'आमलक' (पद्म-फल)—जो बौद्ध और हिंदू चिह्न है—अवश्य मिलता है, क्योंकि मुसलमानो को यह पता ही न लगा कि इसका सबध विष्णु-पूजा से है। उक्त महाशय के मतानुसार अर्द्धस्तूपाकार दोहरी डाट (semi-dome, recessed arch) फारस की मुस्लिम इमारतो से ली गई, परतु वहाँ भी वह बौद्ध स्थविरो के देवालयो के निकेतन (Niched Shrine) का ही रूपातर थी।

खिलजी-वश की कला के सबध मे केवल एक बात और उल्लेखनीय है। दिल्ली बहुत बार बसाई गई। कम से कम दिल्ली के सात पृथक्-पृथक् नगरो के खँड़हर तो अब तक मिलते हैं। उनमे से दूसरी दिल्ली अलाउद्दीन की थी, जो 'सिरी' के नाम से विख्यात है। इसके भग्नावशेषो से उस समय की सामरिक वास्तु-कला का पता लगता है। चहारदीवारी मे अंदर की तरफ एक चौडी ऊँची पटरी (berm) डाटो पर बनी हुई है। बाहर की तरफ पटरी के सामने दीवार ऊँची उठी हुई है और कँगूरेदार है, जिसमे निशाना लगाने के छिद्रो की एक पक्ति है।

तुगलक-कालीन शैली—इस काल मे वास्तु-कला मे बड़ा गहरा परिवर्त्तन हुआ। एक तो खिलजी-सुलतानो की फजूलखर्ची और अत्याचारो से जनता मे बड़ा असंतोष था। दूसरे, तुगलकशाह स्वय सादे चरित्र का था। इसका प्रभाव उसकी कब्र पर पूरी तरह देख पड़ता है (चित्र न० १५)। इसे 'गयासुद्दीन' ने स्वय अपने लिये बनवाया था। इसमे खिलजी-इमारतो की-सी सजावट, तड़क-भड़क और प्रतिभा नही है, बल्कि इसकी आकृति से शात और गांभीर्य टपकता है। धीरे-धीरे यह गाभीर्य इतना बढ़ा कि इसने कठोर सादगी का रूप धारण कर लिया। इस शैली पर उस घटना का भी बहुत प्रभाव पडा होगा—जब मुहम्मद तुगलक दिल्ली से राजधानी उठाकर देवगिरि ले गया तब दिल्ली ऊजड हो गई और वहाँ कोई प्रवीण कारीगर न रहा। परतु ऐसा प्रतीत होता है कि सबसे गहरा प्रभाव तत्कालीन सामरिक परिस्थिति का पडा है। उस समय स्थानीय वायुमडल मे भी बहुत विद्रोह-विष भरा हुआ था और मुगलों के बडे भयानक आक्रमण हो रहे थे। गयास का बनवाया हुआ 'तुगलकाबाद' (तीसरी दिल्ली) एक बडा बीहड और भयावह किला है। इसकी दीवारे और 'वप्र' (bastions) बडे डरावने मालूम होते हैं। इसके द्वार बड़े ढालू, तग और खुरदरे चट्टानो के बने हुए हैं। दीवारों में

१, "हैंडबुक आफ इडियन आर्ट"—(सस्करण १६२०) पृष्ठ ११२

निशाना लगाने के छिद्रो (loop-holes) की कई पक्तियाँ ऊपर-नीचे हैं। इससे स्पष्ट है कि यह किला किसी बडे भय के समय जल्दी मे बनाया गया था। तथापि गयासुद्दीन की कब्र, उतनी ही गभीर होने पर भी, इतनी भयानक नही है। उसकी मोटो-मोटी ढालू दीवारो को देखकर मिस्र के सूची (pyramids) याद आ जाते है। इस गहरे गांभीर्य को कुछ हल्का करने के लिये दीवार के उत्तरार्द्ध मे सफेद पत्थर का जड़ाव है और गुवद सारा का सारा सफेद पत्थर का है। परतु इसका शिल्प-संपादन पर्याप्त रूप से परिष्कृत नही हुआ है।

मुहम्मद तुगलक की कुछ उल्लेखनीय इमारते ये हैं—(१) 'आदिलाबाद', जो तुगलकाबाद का परिशिष्ट मात्र है। (२) 'जहाँपनाह', जो चौथी दिल्ली है—पुरानी दिल्ली (पृथ्वीराज की) और 'सिरी' के बीच मे जो अरक्षित भाग था वह उन दोनों शहरो को दीवारो को दो तरफ से जोड़कर रक्षित कर दिया गया—ये नई दीवारे बारह गज चौडी और बिना कटे पत्थरो (rubble) की बनी हैं। (३) 'विजय-मडल', जो एक मीनारनुमा महल है और जिसकी विशेपता यह है कि इसमे पद्म-पत्राकार डाटे खिलजी की-सी है और चौपडनुमा डाटदार छत का दालान है, यह दालान तुगलक-इमारतो का एक विशेष चिह्न था। (४) 'एक अज्ञात कब्र', जिसकी खिड़कीदार ग्रीवा और उस पर एक बैठा हुआ गुबद है, यह तुगलक-शैली की इमारतों मे अत्यत सुदर है। (५) 'एक दुमंजिला पुल', जिसके द्वारा एक झील से पानी उठाकर शहर के अंदर पहुँचाया जाता था। ध्यान रहे कि तुगलक-इमारतों मे प्रायः लाल पत्थर की जगह स्थानीय पहाड़ी अनगढ़ चट्टानों का उपयोग किया गया है।

कहा जाता है कि फीरोज तुगलक ने बहुत-से किले, शहर, महल, नहरे, कब्रे, मसजिदे, मदरसे, सराय, पुश्ते इत्यादि बनवाए थे। उसकी सभी इमारते स्थानीय पत्थर के अनगढ़ टुकड़ों की बनी हैं। इसकी आवश्यकता इसी लिये पड़ी कि इतनी अनगिनत इमारतों को बनाने के लिये न तो आसानी से बढ़िया पत्थर ही काफी मिल सकता था, न रुपया ही। इन इमारतों पर सफेद पलस्तर था, जो अब गिर गया है। फीरोज की इमारतो मे सादगी और सरलता के साथ दृढ़ता और नीरस उपयोगिता का बड़ा विलक्षण सयोग है। उदाहरण के लिये कह सकते है कि इसकी छते छोटे-छोटे गुबदों की हैं, सतून छोटे और मोटे तथा मजबूत हैं, परतु उनको आभूषित करके आकर्षक बनाने का यत्न नही किया गया है। 'मार्शल' की राय है कि इन इमारतो मे हिंदू कारीगरो से काम नही लिया गया, यह स्पष्ट है, अन्यथा वे उनमे अवश्य सजीवता का मत्र फूँक देते। देखने मे इनका रंग-रूप बहुत-कुछ मुसलमानी ढंग का हो गया है, तो भी हिंदू आदर्श-चित्रो (motifs) का बहुत अधिक प्रयोग किया है। पद्म-पत्राकार डाट की जगह सीधा तोरण, सतून, टोड़े (brackets), ताजनुमा खिड़कियाँ (balconied windows), वेदिका (railing) इत्यादि अनेक हिंदू वास्तुओ का प्रयोग हुआ है। इसका कारण यह है कि इन इमारतो के रचयिता भले ही मुसलमान थे, परतु भारतीय ही थे और यही की शिक्षा पाए हुए थे। इनके चित्रीकरण (designing) की जड़ मे हिंदू आदर्श ही काम कर रहे थे। यदि इनके बनाने मे भी हिंदू कारीगर लगाए जाते, तो वे इनको अवश्य बहुत ही सुंदर बना देते।
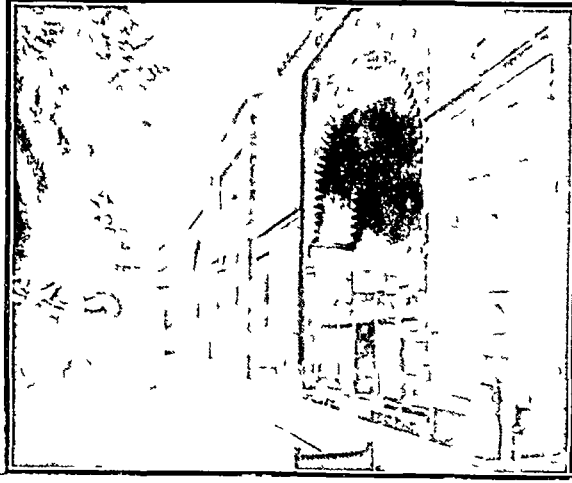
नं० १४—जमाअ्रतखाना मसजिद, दिल्ली। (पृष्ठ २०१)
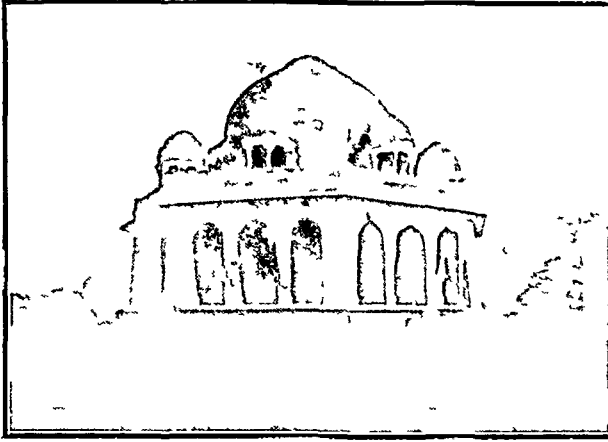
नं० १८—मुबारकशाह सैयद की कब्र। (पृष्ठ २०६)
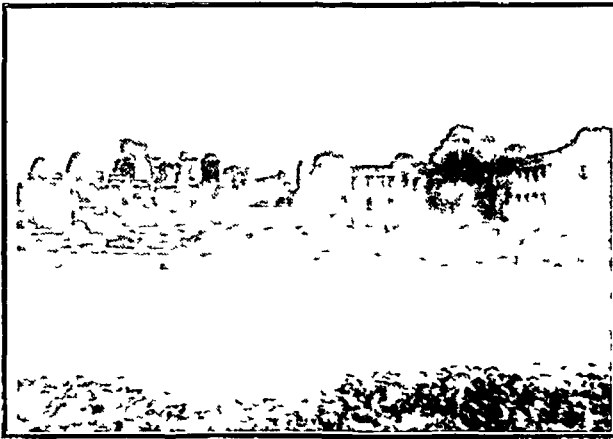
नं० १७—फीरोज तुगलक की कब्र और कालेज। (पृष्ठ २०५)

फीरोजशाह ने अपनी नई दिल्ली भी बनवाई थी। इसका विस्तार, 'आफिफ' के कथनानुसार, शाहजहानाबाद से दुगुना था। फीरोज की मुख्य इमारतो मे पहली इमारत है 'फीरोज कोटला या किला', जिसकी दीवारो मे एक नई बात यह है कि निशाना लगाने के छिद्रो तक पहुँचने के लिये कोई पटरी (beım) नही है। फिर कैसे काम चलता होगा? इसका उत्तर यही जान पडता है कि शायद लकड़ी की पटरी बनाने का विचार रहा हो। परंतु इसकी जगह एक बाहर को निकली हुई मुँडेर (machıcolatıon या machıconlıs) है, जिसमे शत्रु के ऊपर पिघली और जलती हुई धातुएँ डालने के छिद्र बने हैं। इस मुँडेर के बनाने का रिवाज नया ही था। किले के अंदर एक सूच्याकार (pyramıdal) तिमंजिला इमारत है, (चित्र न० १६)। जिसके ऊपर एक अशोक-स्तंभ खडा है—जिसे फीरोज अंबाला-प्रात से लाया था। फीरोज की दूसरी इमारत 'जामा मस्जिद' है, जो उक्त पहली इमारत के पास ही है। किले के अतिरिक्त अलाई-हौज के पास फीरोज की कब्र और उसका बनाया हुआ कॉलेज है (चित्र नं० १७)। ये दोनो इमारतें सजावट मे उसकी सब इमारतो से बढ़कर हैं। पुनः इसी काल की एक और कब्र बडे महत्त्व की है। यह कब्र फीरोज के वजीर 'खाँजहाँ तिलंगानी' की है और निजामुद्दीन-औलिया की दरगाह के पास बनी हुई है। इसे खाँजहाँ के पुत्र 'जूनाशाह' ने बनवाया था। इसके चारो ओर किलानुमा चहारदीवारी है। इसमे नवीनता यह है कि चैाकोर होने के बजाय यह अष्टभुजी है। ऊपर एक गु बद और चारों ओर एक नीचा डाटदार बरामदा है। इस नमूने की यह पहली इमारत होने से इसमे कई दोष रह गए हैं—जैसे, बहुत बैठा हुआ गु बद, नीचा बरामदा इत्यादि। इसी के नमूने पर भविष्य मे सैयद और अफगान सुलतानो ने अपनी इमारते बनवाई और धीरे-धीरे इसके सब दोष भी निकाल दिए गए। अंत मे यही शैली इतनी विलक्षण उत्तमता को पहुँची कि इसका परम उत्कृष्ट उदाहरण हम शेरशाह के मकबरे मे पाते हैं। जूनाशाह ने इसी के पास एक मसजिद बनवाई। इसमे भी उसने एक नई बात यह बढ़ाई कि सहन के आरपार चैापड के रूप मे दो डाटदार अलिंद (gallerıes) बनवाई। यह नमूना एक-दो और मसजिदो को छोडकर अन्यत्र कहीं प्रचलित न हुआ।

तुगलक-काल की एक और इमारत—अर्थात् कबीरुद्दीन औलिया की कब्र—उल्लेखनीय है। यह कुतुबमीनार से कोई आध मील उत्तर-पूरब की तरफ स्थित है, और 'लाल गुबद' के नाम से विख्यात है। यह कब्र तुगलक-काल के अंतिम दिनों की जान पड़ती है। देखने मे यह तुगलकशाह के कब्र की नकल है। इसमे खिल्जी-काल की-सी सजावट और चमक-दमक फिर से शुरू हो जाती है, जिसका तुगलक-शैली मे सर्वथा अभाव है।

सैयद और लोदी-काल मे फिर से एक उदार और उत्पादक शक्ति को प्रोत्साहन मिला। परंतु खिल्जी वास्तु-कला मे जो काव्यरस था—जिस अनर्गलता से हिंदू और फारसी आदर्शों का संयोग करके एक सौदर्य की सृष्टि उसमे की गई थी—वह अत्यत प्रयत्न करने पर भी मुस्लिम वास्तु मे पुनर्जीवित न हो सका। कारण यह कि तुगलक-काल से वह शैली इतनी रूढ़ि-बद्ध हो गई थी कि उसका प्रभाव सदा ही बना रहा—उसके बधन फिर कभी न टूट सके।

सैयद सुलतानों के समय मे सलतनत बहुत सकुचित एव निर्धन हो चुकी थी। फलतः वे कोई विशाल भवन न बना सके। उनकी प्रायः सब कब्रे तिलंगानी के नमूने पर हैं। इनमे क्रमशः उन्नति होती गई है। इस वर्ग मे सबसे पहली मुबारकशाह सैयद की कब्र 'मुबारकपुर' नामक ग्राम मे है। इसमे ये विशेषताएँ हैं—ग्रीवा (drum) के कोनों पर गुलदस्ते, गुंबद पहले की अपेक्षा लबोतरा, उसकी चोटी पर एक डाटदार दीपक, बरामदा काफी ऊँचा और खुला, और आठ छोटे गुबदों के स्थान पर सतूनदार अठपहलू छतरियाँ। इसके बाद की कब्रो मे गुबद और छतरियाँ और भी ऊँची होती गई हैं। बरामदे के कोनों पर भी गुलदस्ते लगा दिए गए हैं। इनमे पद्म आदि कई हिंदू-प्रतिरूपों के अतिरिक्त चीनी की टाइल का भी प्रयोग शुरू हो जाता है, जो आगे चलकर बहुत बढ़ा। इसके बाद दोहरा गुबद (double-dome)—जिसकी हम ऊपर व्याख्या कर आए है—सबसे पहले शिहाबुद्दीन ताजखाँ की कब्र मे और फिर सिकदर लोदी की कब्र मे बनना शुरू हुआ।

शाही मकबरों के अलावा दरबारियों के कब्रो की रचना का एक अलग ही नमूना था। एक चौकोर कमरे पर कोनिहाई डाटे, उनके ऊपर गुबद, और चारों कोने पर अठपहलू छतरियाँ। इनकी विशेषता यह थी कि बीच का सामनेवाला द्वार, दीवार से कुछ आगे बढ़ाकर, एक डाट से आच्छादित बनाया जाता था। इन सबका यही सामान्य नमूना है।

रूप-राशि

ये प्रसून हैं—यौवन के सुख-क्षण बिखरे सुकुमार,
मृदु ऋतुराज-साज है इस जीवन का सुखमय सार,
इन सुमनों को—जो मदिरा के हैं कोमल अवतार,
अधर-नीड़ में छिपी कोकिला सुख से रही पुकार,
धूममयी-सी संध्या जो है,
उदय अस्त से हीन,
उसके अविदित धुँधलेपन से,
है यह विश्व मलीन।
पथ-विहीन जल-राशि-सदृश है यह भविष्य का भार,
कितनी आकांक्षा है! पर दिन हैं केवल दो-चार,
छोटे क्षण!—पर वे हैं विस्तृत आशाओं के द्वार,
जीवन का है तत्त्व—एक मुस्कान—एक चीत्कार,
परिवर्त्तन ही जीवन है,
अथवा जीवन का नाम,
केवल रात्रि-दिवस ही में है,
वर्षों का विश्राम!
एक किरण जो प्राची में लाती है उषा नवीन,
संध्या के चंचल क्षण में होती है वही विलीन,
जीवन ही क्रीडा है, प्रेयसि! देखो उसके रूप,
हम तुम हैं दो बिंदु—परस्पर है प्रतिबिंब अनूप,
जीवन-उपवन में मिल जावें,
हम हो एकाकार,
ये प्रसून हैं—यौवन के सुख—
क्षण बिखरे सुकुमार।

रामकुमार वर्मा

मनुस्मृति के संबंध में कुछ नए अनुसंधान

डोक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम० ए०, डि० फिल्० (ओक्सन्)

मनुस्मृति का महत्त्व सस्कृत-साहित्य म कई दृष्टियों से अत्यधिक है। हिंदुओ के बडे लंबे इतिहास के आधुनिक कल्प के धर्मशास्त्र का शिलान्यास इसी ग्रथ से हुआ है। अन्य इतिहासो की तरह भारतीय इतिहास मे भी समय-समय पर धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रांतियाँ होती रही हैं। उन्ही क्रातियों मे से एक क्रांति के परिणाम स्वरूप इस 'मनुस्मृति' का निर्माण हुआ था—ऐसी हमारी धारणा है। इस ग्रथ के अध्ययन तथा अनुशीलन से कुछ नई बाते हमारी बुद्धि मे आई हैं, उन्ही मे से कुछ का विचार यहाँ करना चाहते है। जहाँ तक हमे स्मरण है; अभी तक इन बातो पर—हमारी दृष्टि से—विचार नही किया गया है।

[१] कुछ क्षत्रिय-जातियाँ—मनुस्मृति के दसवे अध्याय मे निम्नलिखित श्लोक हैं—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडः कम्बोजा यवनाः शकाः। पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥

आपाततः ये वचन महत्त्व के नही प्रतीत होते। कोई-कोई इनको प्रक्षिप्त भी कह देते हैं। पर हमारी दृष्टि से इन श्लोकों का बड़ा महत्त्व है। इनका अर्थ यही है कि "शनैः शनैः आर्य या वैदिक सदाचार को छोड़ देने से और ब्राह्मणो के अदर्शन से कंबोज, यवन, शक आदि जातियाँ—जो पहले क्षत्रिय थी—वृषलता (या शूद्रता) को प्राप्त हो गई।" इससे स्पष्ट है कि एक ऐसा समय था, जब उक्त जातियाँ क्षत्रिय समझी जाती थी। यद्यपि उक्त श्लोकों मे अनेक जातियों का वर्णन है तथापि इस प्रसंग मे हमारे विचार का संबध प्राधान्येन कंबोज, यवन और शक जातियों से ही है। अब देखना यह है कि इन जातियों का क्षत्रियत्वेन व्यवहार भी किसी ग्रथ मे किया गया है या नही। पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी क चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद मे 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' (सूत्र १६८) इत्यादि सूत्रो का एक प्रकरण है। इस प्रकरण मे 'पचाल', 'विदेह' आदि ऐसे शब्दो से अपत्यार्थ मे प्रत्ययों का विधान

है जो देशवाची होने के साथ-साथ क्षत्रिय-जाति-विशेषो के भी द्योतक समझे जाते थे। इसी प्रकरण मे पाणिनि के 'कम्बोजाल्लुक्' (सूत्र १७५) सूत्र पर कात्यायन मुनि का 'कम्बोजादिभ्यो लुग्वचनं चोलाद्यर्थम्' यह वार्त्तिक है। इस वार्त्तिक के उदाहरणो मे 'कम्बोज:', 'यवन:' और 'शक:' शब्द जयादित्य (काशिकाकार) आदि टीकाकारो ने दिए हैं। परतु महाभाष्य मे इसकी व्याख्या मे 'शक', 'यवन' को छोडकर और-और शब्दो के साथ 'कबोज' शब्द भी दिया है। इन बातो से यह तो स्पष्ट है कि कम से कम पाणिनि मुनि के समय मे तो अवश्य ही कबोज आदि जातियाँ क्षत्रिय समझी जाती थीं। कात्यायन मुनि के समय मे भी यही दशा रही। नही तो वे अपने वार्त्तिक मे उक्त व्यवहार का प्रतिषेध करते। पतजलि मुनि के समय मे (ईसा से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व) भी, कम से कम, 'कबोज' क्षत्रिय ही समझे जाते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार पतंजलि मुनि के समय मे, पाणिनि और कात्यायन के समय के सदृश ही, 'कबोज' तो क्षत्रिय ही समझे जाते थे, पर 'शक' और 'यवन' शूद्र माने जाने लगे थे। तभी तो पाणिनि के 'शूद्राणामनिर्वसितानाम्' (२, ४, १०) के महाभाष्य मे शक और यवनों को शूद्र माना है। इससे स्पष्ट है कि धीरे-धीरे ही आरभ मे क्षत्रिय मानी जानेवाली कबोजादि जातियों की गणना शूद्रो मे होने लगी होगी। मनुस्मृति का उक्त वचन भी उक्त जातियो के शूद्रत्वेन व्यवहार का विधायक नही है, कितु विद्यमान व्यवहार का अनुवादक या परिचायक ही है, और यह व्यवहार धीरे-धीरे ही प्रचलित हुआ होगा। इस व्यवहार मे परिवर्त्तन का क्या कारण था, इस विषय पर मनुस्मृति का उक्त वचन ही कुछ प्रकाश डालता है। मनुस्मृति का कहना है—'क्रियालोपात्' और 'ब्राह्मणादर्शनेन च'—अर्थात् आर्य-सदाचार के छोड देने से और ब्राह्मणो के अदर्शन से। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी सीमा पर बौद्ध धर्म के फैल जाने तथा और दूसरे कारणो (जैसे, विदेशीय सभ्यता के प्रचार) से अनेक जातियाँ—जो पहले क्षत्रिय समझी जाती थी—अब शूद्र समझी जाने लगी। इस व्यवहार-परिवर्त्तन के और भी कारण हो सकते हैं।[१]

यह स्पष्ट है कि उक्त विचार से मनुस्मृति के निर्माणकाल पर बडा प्रकाश पडता है। स्पष्टतया मनुस्मृति का निर्माण पाणिनि और कात्यायन के समय के पश्चात् हुआ, और यह भी प्रायः स्पष्ट ही है कि यह पतजलि के समय के बाद ही बनाई गई। नीचे के लेख से तो इस बात की और भी पुष्टि हो जाती है।

[२] आर्यावर्त्त की परिभाषा—पाणिनि मुनि के सूत्र "शूद्राणामनिर्वसितानाम्" (२, ४, १०) के ऊपर महाभाष्य मे एक बडे महत्त्व का विचार है जिससे प्राचीन भारतवर्ष की सामाजिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश पडता है। इसी संदर्भ मे—"कः पुनरार्यावर्त्त. प्रागादर्शात्प्रत्यक्कालकवनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम्"—इन शब्दो मे भाष्यकार ने आर्यावर्त्त की परिभाषा दी है। यह

१ कुछ कारणो का वर्णन हमने अपने "जातिभेद और वर्णभेद का परस्पर संबंध" शीर्षक एक अन्य लेख मे किया है।

परिभाषा बडे महत्त्व की है, और इससे मनुस्मृति के निर्माण-काल पर, एक नई दृष्टि से, काफी प्रकाश पड़ता है। इस परिभाषा के अर्थ पर विचार करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि यह परिभाषा महाभाष्यकार की अपनी ही है या उन्होने इसे किसी प्राचीन ग्रंथ से उद्धत किया है। यह एक स्वतत्र विचार है कि महाभाष्य मे प्राचीन ग्रथो से उद्धरण करने का क्या प्रकार है। परंतु इस परिभाषा के विषय मे तो कोई सदेह ही नही कि यह उद्धृत है। इसमे एक प्रमाण तो यही है कि महाभाष्य मे ही, एक दूसरे स्थान पर भी, ठीक इन्हीं शब्दों मे यह परिभाषा दुहराई गई है। देखिए—'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६, ३, १०९) सूत्र का महाभाष्य। हमारे खयाल मे एक ही आनुपूर्वी मे इसका दो जगह आना यह सिद्ध करता है कि यह किसी दूसरे ग्रंथ से उद्धृत है। दूसरा प्रमाण आर्यावर्त्त की लगभग इसी तरह की परिभाषा का कई धर्मसूत्रो मे पाया जाता है। कई बार (देखिए १, १, ४७ और ५, १, ११९) महाभाष्यकार ने धर्मसूत्रकारो का उल्लेख किया है, अतएव इसमे सदेह नहीं हो सकता कि धर्मसूत्रो का साहित्य महाभाष्य से पहले का है। 'वासिष्ठ धर्मसूत्र' (१, ८) मे "आर्यावर्त्तः प्रागादर्शात्[1] प्रत्यक्कालकवनाद् उदक् पारियात्राद् दक्षिणेन हिमवतः"—इन शब्दो मे, और 'बौधायन धर्मसूत्र' (१, १, २५) मे "प्रागदर्शनात्[2] प्रत्यक्कालकवनात् दक्षिणेन हिमवन्तमुदक्पारियात्रमेतदार्यावर्त्तम्"—इस प्रकार, आर्यावर्त्त की परिभाषा दी हुई है। अभी तक हमको आर्यावर्त्त की यह परिभाषा इन्हीं दो प्राचीन ग्रथो मे मिली है। यह तो स्पष्ट ही है कि धर्मसूत्रो की इन दो परिषाभाओं के साथ महाभाष्य की परिभाषा लगभग शब्दशः मिलती है। इन परिभाषाओ की, मनुस्मृति के आर्यावर्त्त[3] और मध्यदेश[4] की परिभाषाओ के साथ, तुलना करने से यही प्रतीत होता है कि मनुस्मृति का 'मध्यदेश' और महाभाष्यादि का 'आर्यावर्त्त' एक ही है। साथ ही, मनुस्मृति का आर्यावर्त्त महाभाष्यादि के आर्यावर्त्त से कहीं अधिक विस्तृत है। मनुस्मृति के 'विनशन' और बौधायन धर्मसूत्र के 'अदर्शन' का एक ही अर्थ प्रतीत होता है। मनुस्मृति के 'विनशन' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'विनशन सरस्वत्या अंतर्धानदेशः' (मेधातिथि) या 'विनशनात् कुरुक्षेत्रात्' (राघवानद) किया है। 'आदर्श'[5] शब्द भी वास्तव मे 'विनशन' के समानार्थक 'अदर्शन' से ही सबध रखनेवाला प्रतीत होता है।

ऊपर महाभाष्यादि मे आर्यावर्त्त की पूर्वीय सीमा 'कालक वन' तक बतलाई है। यह स्पष्ट नही कि 'कालक वन' से क्या अभिप्राय है। तो भी यह देखते हुए कि मनुस्मृति के 'मध्यदेश' की शेष तीनों

१ कुछ हस्तलिखित पोथियो मे 'प्रागादर्शनात्' पाठ है। ब्युलर महाशय ने 'प्रागदर्शनात्' पाठ माना है।

२. कहीं-कही 'प्राग्विनशनात्' पाठ है।

३. आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥ (२, २२)

४ 'हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः॥ (२, २१)

५. देखिए 'बृहत्संहिता' (१४,२५)

सीमाएँ महाभाष्यादि के 'आर्यावर्त्त' की उन तीनों सीमाओं के समान हैं, यही प्रतीत होता है कि मनुस्मृति की चौथी सीमा 'प्रयाग' का और महाभाष्यादि के 'कालक वन' का लगभग एक ही अभिप्राय है। वाल्मीकि-रामायण के अयोध्याकाड के चौवन-पचपन सर्ग देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे प्रयाग के समीप मे ही एक बहुत बड़ा जगल था। चौवनवे सर्ग के द्वितीय श्लोक ('यत्र भागीरथी गङ्गा यमुनाभिप्रवर्त्तते, जग्मुस्त देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम्') मे एक 'सुमहद्वन' का—और पचपनवे सर्ग के अष्टम श्लोक ('क्रोशमात्र ततो गत्वा नील ददृयथ काननम्, पलाशबदरीमिश्र रम्य वंशैश्च यामुनैः) मे 'नील कानन' का—वर्णन है। प्रतीत होता है कि यह 'सुमहद्वन' और 'नील कानन' तथा 'कालक वन' लगभग एक ही वन के नाम है, जो किसी समय प्रयाग के समीप था। वासिष्ठ धर्मसूत्र (१,१२) और बौधायन धर्मसूत्र (१,१,२६) की—'गगा और यमुना के बीच के देश को आर्यावर्त्त कहते हैं, एतदर्थक आर्यावर्त्त की—दूसरी परिभाषा से भी यही प्रतीत होता है कि उपर्युक्त परिभाषाओ मे आर्यावर्त्त की पश्चिमीय और पूर्वीय सीमाएँ गगा-यमुना के दोआब से अधिक दूर न थी।[१] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाभाष्य का 'आर्यावर्त्त' और मनुस्मृति का 'मध्यदेश' दोनो एक ही हैं। बौधायन धर्मसूत्र मे इसी प्रकरण के—"आवन्तयोऽङ्गमगधाः सुराष्ट्रा दक्षिणापथा। उपावृत्सिन्धुसौवीरा एते सकीर्णयोनय.॥ आरट्टान् कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान् वङ्गान् कलिङ्गान् प्रानूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा।" (१,१,२९-३०) इत्यादि—सूत्रो से यह स्पष्ट है कि उस समय पूर्व मे अंग, वग, कलिग आदि और पश्चिम मे सिधु, सौवीर आदि कई देश आर्यावर्त्त से बाहर माने जाते थे। जहाँ तक हम कह सकते हैं, लगभग दो सहस्र वर्षों से आर्यावर्त्त की परिभाषा मनुस्मृति के अनुसार ही मानी जाती रही है। इससे प्रतीत होता है कि बहुत करके यह परिभाषा मनुस्मृतिकार ने ही प्रथम बार चलाई होगी। धर्मसूत्रो मे अग आदि देशो को आर्यावर्त्त से बाहर का कहने से आर्यावर्त्त की उक्त सकुचित परिभाषा मनुस्मृति से पूर्व की ही प्रतीत होती है। ऐसी दशा मे महाभाष्य मे इस प्राचीन परिभाषा का दो बार उद्धरण-रूप से देना, हमारी सम्मति मे, स्पष्टतया इस बात को सिद्ध करता है कि वर्त्तमान मनुस्मृति का निर्माण महाभाष्य के निर्माण से पीछे का है।

१ देखिए—कनिंघम-कृत "Ancient Geography of India"—सुरेन्द्रनाथ मजुमदार शास्त्री द्वारा संपादित, (सस्करण सन् १९२४) भूमिका, पृष्ठ ४१
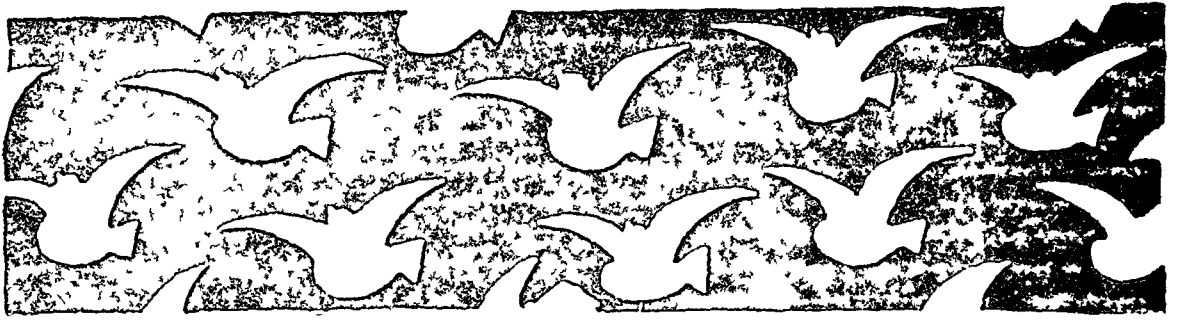
परदे में

हैं परदे मे बालाएँ,
मृदु मंजुल मणि-मालाएँ।
सुरराज-सदन-सी सुदर,
हैं सजी रगशालाएँ॥
ज्योतियाँ रुचिर रत्नो की,
है जगमग-जगमग जगती।
परदे के भीतर प्रति दिन,
हैं इद्र-सभाएँ लगतीं॥
शशि की कल कोमल किरणे,
हैं कभी न बाहर आतीं।
परदे के भीतर ही वे,
है सुधा-सलिल बरसातीं॥
परदे मे सुख का घर है,
संपदा स्वय है चेरी।
पर दुःख-शोक भी हरदम,
हैं वहाँ लगाते फेरी॥
जीवन, जीवन के सुख को,
अपने ही से खोता है।
मृदुता का कठोरता से,
दुख-मूल मिलन होता है॥

कितनी ही कोमल कलियाँ,
मुँह को भी खोल न पातीं।
हो दलित कठोर करो से,
मुरझाकर है झड़ जाती॥
शुचि ज्ञान-भानु उर मे ही,
है सदा छिपा रह जाता।
उसका प्रकाश अवनी मे,
है कभी न होने पाता॥
गगा-यमुना की धारा,
बहती सूने सदनों मे।
परदे के भीतर सागर,
लहराता है नयनों मे॥
कोयले कैद पिंजर मे,
सिर धुन-धुनकर हैं रोतीं।
सुमनों की सुख-शय्या पर,
हैं विरह-व्यथाएँ सोतीं॥
परदे के भीतर कोई,
है कभी न जाने पाता।
तो भी ईर्षानल जाकर,
है कोमल हृदय जलाता॥

काशी के घाट की एक झलक

चित्रकार—श्री० मनीषि दे

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)
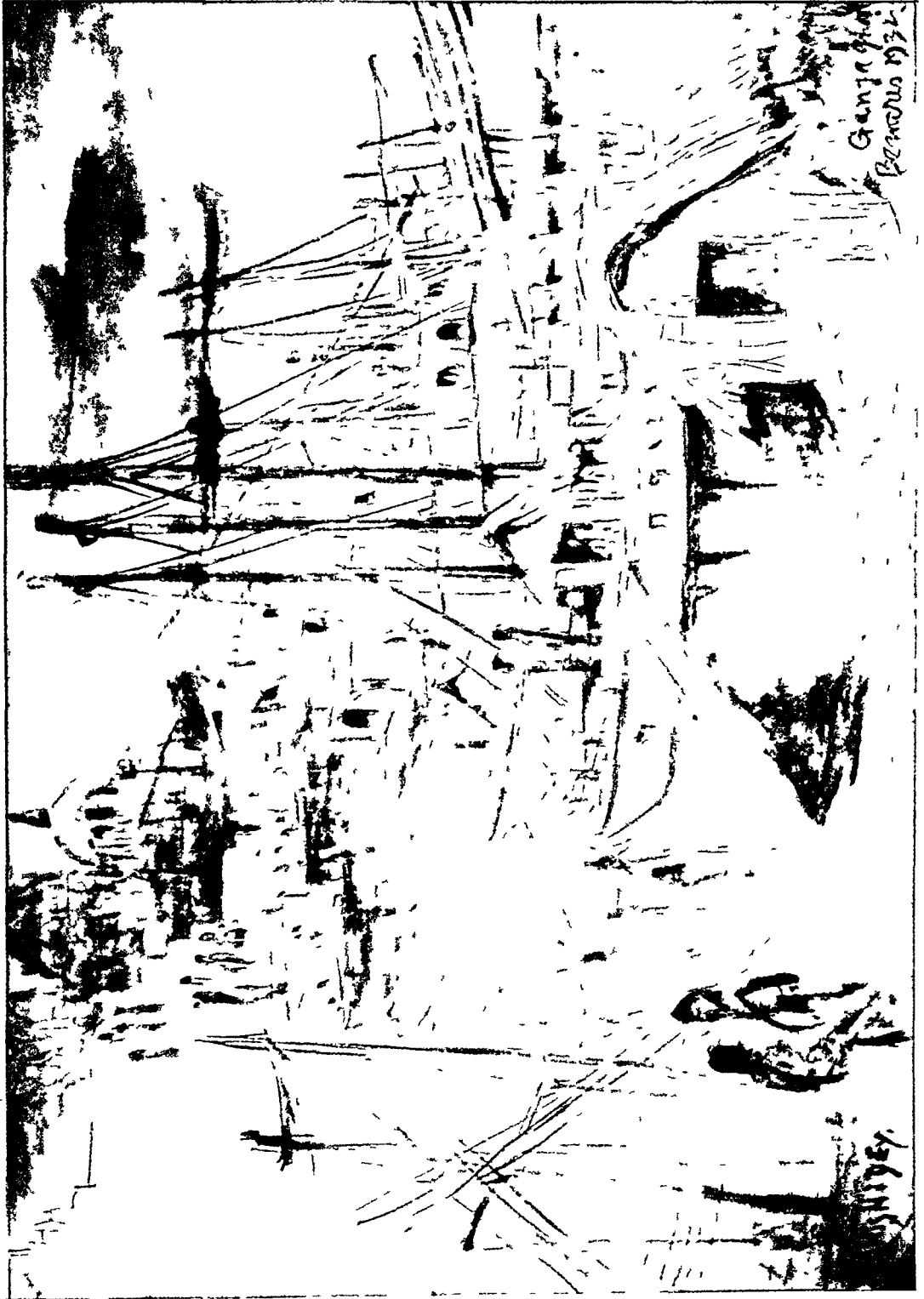
लोनी-लोनी लतिकाएँ,
दुख के तुषार की मारी।
हैं नित्य सूखती जातीं,
भोली-भाली बेचारी॥
हैं गूँज रही परदे मे,
कितनी ही क्लेश-कथाएँ।
महलों के भीतर छिपकर,
रहती हैं विविध व्यथाएँ॥
साथ ही साथ रहती हैं,
अबलाएँ और बलाएँ।
शशि की सपूर्ण कलाएँ,
घन की भी घोर घटाएँ॥
कहती हैं करुण कहानी,
रोकर आँखे बेचारी।
उत्तर उनको मिलता है,
लाचारी है लाचारी॥
लज्जा का निठुर करो से,
है गला दबाया जाता।
सुख से वंचित बेचारा,
है प्यार ठोकरे खाता॥

करुणा की करुण पुकारे,
दीवारो से टकरातीं।
मन की सब अभिलाषाएँ,
मन मे ही हैं रह जाती॥
हैं झूम रही मस्ती से,
मस्ती की ही तसवीरें।
परदे मे सिर धुनती हैं,
कितनी फूटी तकदीरे॥
काजल के काले-काले,
गिरते हैं आँसू-मोती।
घर के भीतर कोनों मे,
है दीप-शिखाएँ रोतीं॥
उर-तंत्री के तारों को
है बारबार बजाती।
अंतर्वेदना व्यथा के
है नीरव गाने गाती॥
रजनी मे दिन रहता है,
दिन मे रजनी है काली।
परदे मे छिपी हुई है
दुनिया ही एक निराली॥

—गोपालशरणसिंह
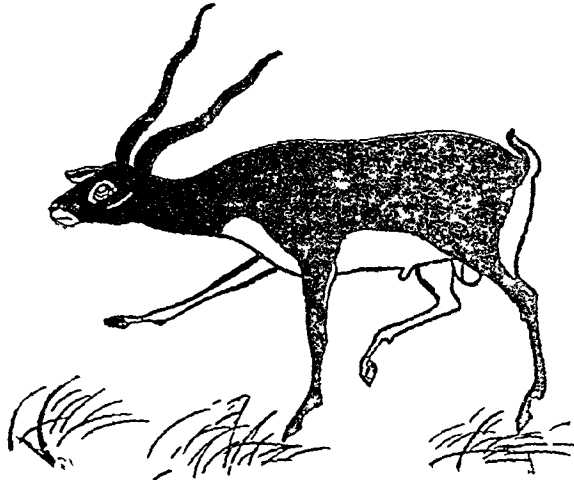
नालंदा-विश्वविद्यालय

साहित्याचार्य प्रोफेसर विश्वनाथप्रसाद, एम० ए०, साहित्यरत्न

उदय, अस्त और पुनर्दर्शन

गुप्त-काल भारतवर्ष का स्वर्ण-युग कहा जाता है। नालदा-विश्वविद्यालय का पूर्ण विकास उसी स्वर्ण-युग मे हुआ था। तब से लगातार सात सौ वर्ष तक क्रमशः गुप्त, वर्धन और पाल वशों के राजाओ के सरक्षण मे यह विद्यालय ज्ञान का केद्र बना रहा। यही से ज्ञान की वह ललकार उठी थी—वह "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः" की उत्साह-वर्द्धक पुकार! इस विश्वविद्यालय के अतर्राष्ट्रीय स्वरूप का अनुमान हम इसी बात से कर सकते हैं कि चीन, तिब्बत, तुर्किस्तान, सिहल आदि सुदूर देशो के विद्यार्थी यहाँ ज्ञानार्जन करने के लिये आते थे। इसके इतिहास मे भारतवर्ष का लगभग सात सौ वर्षों का इतिहास छिपा हुआ है। आज भी ससार के विरले ही विश्वविद्यालय इतने दीर्घकालीन जीवन का दावा कर सकते हैं। यह सब केवल नालदा के तेजस्वी भिक्षुको के आत्मत्याग का प्रभाव था। विक्रम की तेरहवी शताब्दी मे, देश के दुर्दिन मे, इस महाविद्यालय का अतिम सहार हुआ था। पर इसकी उज्ज्वल कीर्त्ति का प्रकाश छिपनेवाली चीज न थी। फिर बीसवी विक्रमीय शताब्दी के प्रारभिक काल मे इसके कुछ प्राचीन चिह्नो के दर्शन हुए। ज्योही प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसॉग की यात्राओ का विवरण प्रकाशित हुआ, त्योही विद्वानो को इसके महत्त्व का अनुभव हुआ। विक्रम-संवत् १९१८-१९ मे, महानुभाव कनिघम की खोज के प्रभाव से, मालूम हुआ कि जहाँ इस समय पटना जिले का 'बड़गॉव' नामक ग्राम है वही प्राचीन 'नालदा' बसा हुआ था। फिर क्या, वहाँ चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा, सिहल आदि देशो के तीर्थयात्री आने लगे। इसके बाद ही लंडन की 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' ने हिदुस्तान के पुरातत्त्व-विभाग द्वारा 'बड़गॉव' मे खुदाई का प्रबध कराया और प्रांतीय सग्रहालय (Museum)

में वहाँ से प्राप्त हुई सभी चीजो को सुरक्षित रखने की अनुमति दी।[१] सवत् १९७२ मे यहाँ खुदाई शुरू करने के लिये प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डॉक्टर स्पूनर भेजे गए।[२] तब से आज तक खुदाई का काम जारी है, और अभी इसके पूरा होने मे कई साल लगेंगे। इस खुदाई से यहाँ की इमारतों की भव्यता प्रकट होती है। कई बहुमूल्य चीजे मिलती जा रही हैं। इस प्रकार भारतवर्ष के बौद्ध-कालीन इतिहास को पूर्ण करने की बहुत-सी चमत्कारपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती जा रही है।

'बडगाँव' राजगृह से लगभग आठ मील उत्तर की ओर है—पटना जिले के 'बिहारशरीफ' कस्बे से लगभग छ' मील दक्षिण है। बिहार-बख्तियारपुर-लाइट-रेलवे के 'नालदा' नामक स्टेशन से यह लगभग ढाई मील है। यहाँ कनिंघम ने दो शिलालेख पाए थे, जिनमे इस स्थान का 'नालदा' नाम उल्लिखित है। हुएनसाँग के वर्णन के अनुसार 'नालदा' बोध-गया के पवित्र बोधि-वृक्ष से सात योजन (अर्थात् उनचास मील) और राजगृह से तीस 'ली' (अर्थात् कोई पाँच मील) उत्तर है। 'बडगाँव' के सबध मे यह दूरी प्राय: ठीक निकलती है। हाल की खुदाई मे भी यहाँ ऐसे शिलालेख मिले है, जिन पर 'नालदा' नाम खुदा हुआ है। कई ऐसी-ऐसी मुहरें मिली हैं, जिन पर स्पष्ट 'श्रीनालदा-महाविहारीय आर्य-भिक्षुसघस्य' लिखा हुआ है।[३] आधुनिक नाम 'बडगाँव' शब्द यहाँ की एक भग्न इमारत पर जमे हुए 'बड़' (वट) वृक्ष से व्युत्पन्न हुआ है।

'नालंदा' की खोज

किंतु इधर हाल मे 'बडगाँव से कुछ उत्तर हटकर पूर्व की ओर, चार-पाँच मील की दूरी पर, 'नानद' नामक एक गाँव का पता चला है। 'नानंद' भी 'नालदा' का ही विकृत रूप जान पड़ता है। यहाँ भी दूर तक विस्तीर्ण खँडहर हैं, कई प्राचीन जलाशय भी हैं। हुएनसाँग का बतलाया हुआ 'दूरी का हिसाब' भी इस स्थान के सबध मे बड़गाँव से अधिक ठीक उतरता है। 'नानद' राजगृह से लगभग पाँच मील की ही दूरी पर है। भग्नावस्था मे पडे हुए यहाँ के एक विहार मे स्थित बुद्ध की एक बडी मूर्त्ति, बैठी हुई मुद्रा मे, मिली है। उसके ऊपर कुछ लेख भी है। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने उसे पढ़ा है, पर उससे किसी महत्त्वपूर्ण बात का पता नही चलता। श्री पी० सी० चैाधरी, आइ० सी० एस० ने इस विषय मे कुछ जाँच-पडताल भी की है। आपका तो यह अनुमान है कि यथार्थ मे 'नानद' ही असल 'नालंदा'

'बडगाँव' और 'नानद'

१ कुछ छोटी-छोटी चीजे 'नालंदा' (बडगाँव) मे भी सुरक्षित है। इसके लिये खनन-विभाग के ऑफिस के निकट ही एक छोटा-सा सग्रहालय बना हुआ है।

२ स्पूनर साहब के बाद पेज साहब—और कुछ दिनो तक पंडित हीरानंद शास्त्री—की अध्यक्षता मे खुदाई का काम जारी रहा। इधर कुछ दिन श्री एम्० ए० कुरेशी स्थानापन्न कार्य-संचालक रहे।

३. Annual Report of the Archæological Survey of India, Eastern Circle, 1916-17, P. 43

है--'बड़गाँव' तो 'नालदा' हो ही नहीं सकता। 'वडगाँव', जिसकी व्युत्पत्ति ब्रॉडले साहब ने 'विहार-ग्राम' से बतलाई है, स्कदगुप्त द्वारा स्थापित विहार-ग्राम है। यहाँ के सघारामो के सस्थापक वही होगे। किंतु यह अभी अनुमान-ही-अनुमान है। इस सवध मे जो कुछ सामग्री मिल सकी है, वह वार्नेट् साहब के पास जाँच के लिये भेजी गई है। देखे, वे किस निर्णय पर पहुँचते हैं। असल मे जव तक इस भाग मे खुदाई न हो तव तक निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना सभव नही। जो हो, नानद के 'नालदा' होने की सभावना मे विश्वास रखते हुए भी हम यह मानने को तैयार नहीं कि 'वड़गॉव' नालंदा है ही नही। हम यह जानते हैं कि नालदा-महाविहार मे दस हजार विद्यार्थियों के रहने का प्रवध था। यह सभव नही कि इतने अधिक विद्यार्थियों के रहने का स्थान एक-डेढ मील मे ही सीमित हो। उसके लिये चार-पाँच मील या इससे भी अधिक विस्तार का होना सभव है। इस प्रकार, यदि निश्चयात्मक रूप से भी यह मान लिया जाय कि 'नानंद' मे ही 'नालंदा' वसा हुआ था, तो भी उसके विस्तार का बडगाँव तक पहुँचना असंभव नही हो सकता। नालदा, असल मे, वहुत विस्तृत प्रदेश था, और वडगाँव निस्सदेह उसका एक अतस्थ भाग था। इसमे भ्रम या तर्क की कोई गुजायश नही।[१] इसके अनेक प्रमाणो मे सबसे वड़ा प्रमाण तो यह है कि कनिघम साहव की खोज के वहुत पहले से 'बड़गाँव' के ही प्राचीन 'नालदा' होने का विश्वास प्रचलित था। विक्रम-सवत् १५६५ मे रचित हससोम के 'पूर्वदेशचैत्यपरिपाटी' ग्रंथ मे नालदा के साथ उसके वर्त्तमान नाम 'वडगाँव' का भी उल्लेख है। लिखा है—

"नालंदे पाडै चैाद चैामास सुणीजै
होड़ा लोक-प्रसिद्ध ते वड़गॉव कहीजै।
सोल प्रसाद तिहाँ अच्छै जिन विंव नमीजै[२]॥"

इस प्रकार यह प्रकट है कि विक्रम की सोलहवी शताब्दी से भी पहले लोगों को यह मालूम था कि यह वड़गाँव उस प्राचीन नालदा का ही वर्त्तमान रूप है। प्राचीन नालदा की स्थिति वे भूले न थे, फिर भी इसमे सदेह नही कि नानदा मे यदि खुदाई का काम जारी हो तो उससे हमारे नालदा-विषयक ज्ञान मे अत्यंत महत्त्वपूर्ण सत्य का विकास होगा।

नालदा का उल्लेख कई वौद्ध ग्रथो मे भी हुआ है। शांतरक्षित का 'तत्त्वसग्रह', कमलशील की 'तत्त्वसग्रहपजिका' तथा नालदा के पडितों के और भी कई तांत्रिक ग्रथ मिलते हैं। किंतु नालदा के

१. ब्रॉडले न लिखा है—"वड़गॉव का उस विहार-ग्राम से समीकरण (identification) संदेह से परे है, जहाँ हजार वर्ष पहले विशाल नालदा-महाविहार विराजमान था।"

२. अनुवाद—"सुनते है कि नालदा मे श्री महावीर स्वामी ने चौदह साल बिताए थे। अब इसे वड़गॉव कहते है। यहाँ सोलह सुदर मंदिर है जिनमे जैन-मूर्त्तियाँ है।"

वर्णन मे उनसे विशेष सहायता नही मिलती। केवल 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' और कुछ अन्य प्राचीन ग्रथ—जिनकी प्रतिलिपि पालवशी राजाओ के समय मे तैयार की गई थी—ऐसे हैं जिनसे कुछ विशेष सूचनाएँ मिलती है।[१] पालि-ग्रथ महाविहार की स्थापना के बहुत पहले की बातो का उल्लेख करते है, जब इस स्थान का सबध स्वयं भगवान् बुद्ध से था। इस सबध मे हमे हुएनसॉग, इत्सिग, बुकुग[२] आदि चीनी यात्रियो तथा तिब्बती 'तारानाथ' के विवरणो से ही विशेष सहायता मिलती है। और, अब तो खुदाई मे बहुत-से ऐसे शिलालेखादि भी मिले है जिनसे महाविहार-सबधी कई बातो पर प्रचुर प्रकाश पडता है।

'नालंदा' के प्राचीन संसर्ग

श्री महावीर स्वामी तथा उनके एक श्रेष्ठ और प्राचीन शिष्य 'इद्रभूति' के सबध के कारण जैनी लोग भी अब इस स्थान को एक तीर्थ समझते हैं। 'सूत्रकृताग' सरीखे कुछ जैन ग्रथो मे नालंदा का अच्छा वर्णन है, जिससे मालूम होता है कि ईसवी सन् के पहले भी नालदा बहुत समृद्ध और समुन्नत नगर था। 'कल्पसूत्र' मे लिखा है कि यहॉ भगवान् महावीर स्वामी ने चातुर्मास्य बिताया था। इतना ही नही, भगवान् बुद्ध ने 'सपसादनीय सुत्त' और 'केवद्ध सुत्त' का प्रवर्त्तन नालदा मे ही किया था। हुएनसॉग ने लिखा है—'इस स्थान पर प्राचीन काल मे एक आम्र-वाटिका थी, जिसको पाँच सौ व्यापारियो ने दश कोटि स्वर्ण-मुद्रा मे मोल लेकर बुद्धदेव को समर्पित कर दिया।' नालदा के 'लेप' नामक एक निवासी के धन, जन, यश और वैभव की बड़ी प्रशसा थी। यहॉ के 'केवद्ध' नामक एक धनी सज्जन को हम भगवान् बुद्ध के सामने नालदा के प्रभाव और पवित्रता की बडी बडाई करते हुए पाते हैं। 'आनद' के मत से तो नालदा 'पाटलिपुत्र' से भी बढकर था, क्योकि नालदा ही भगवान् बुद्ध के निर्वाण के लिये उपयुक्त स्थान था, पाटलिपुत्र नही। इससे नालंदा के, पाटलिपुत्र से अधिक, प्राचीन और श्रेष्ठ होने का परिचय मिलता है। फाहियान के अनुसार सारिपुत्त का जन्मस्थान 'नाल' ग्राम था। कुछ विद्वानो का खयाल है कि यह 'नाल' नालदा का ही द्योतक है। यही बुद्धदेव से सारिपुत्त की भेट हुई और भगवान् ने अपने प्रिय शिष्य की कठिनाइयो का समाधान किया। तिब्बती लामा तारानाथ के अनुसार यही सारिपुत्त ने अस्सी हजार अर्हतो के साथ निर्वाण प्राप्त किया। बडगाँव मे, हाल की खुदाई मे, भूमि-स्पर्श-मुद्रा मे, भगवान् बुद्ध की एक मूर्त्ति मिली है जिसमे आर्य सारिपुत्त और आर्य मौद्गल्यायन उडते हुए रूप मे चित्रित हैं। ये दोनो भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य थे। इन पवित्र ससर्गो के कारण नालदा बहुत प्राचीन समय से पुण्यस्थान माना जाता था। इसके अतिरिक्त यह 'राजगृह' से बहुत निकट है, जो बौद्धो का प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र भी इस स्थान से बहुत दूर नही है। यहॉ की प्राकृतिक शोभा और शाति भी बड़ी चित्ताकर्षिणी थी। इस स्थान की इन्ही विशेषताओ से आकृष्ट होकर, एक महान् उच्च आदर्श को लिए हुए, आत्मव्रती बौद्ध भिक्षुओ ने यहॉ नालदा-महाविहार की स्थापना की थी।

१. Prof Samadar: "The Glories of Magadh," P 132

२. 'बुकुग' के यात्रा-वृत्तात का अँगरेजी अनुवाद हमारे परम मित्र स्वर्गीय फणीद्रनाथ वसु का किया है। स्व० वसु महाशय का सचित्र परिचय 'विशाल भारत' मे, सन् १९३१ के किसी अक मे, प्रकाशित हो चुका है।

परतु यह स्थापना कब हुई, इस सबध मे मतभेद है। तारानाथ के अनुसार इसके सर्वप्रथम स्थापक अशोक थे। हुएनसॉग ने भी लिखा है कि 'बुद्ध-निर्वाण के थोडे ही दिन बाद यहाँ के प्रथम सघाराम का निर्माण हुआ'। पर नालदा-महाविहार की इतनी अधिक प्राचीनता का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण अभी तक नही मिला है। फाहियान ने (सन् ४५८ के लगभग) नालंदा का कोई उल्लेख नही किया है। उसने 'नालो' नामक एक स्थान का जिक्र किया है, जिसे कुछ लोग 'नालदा' शब्द का ही रूपांतर समझते हैं। जो हो, यह तो स्पष्ट है कि उस समय नालदा मे कोई ऐसा विशेष महत्त्व न रहा, जो फाहियान को आकृष्ट करता। विक्रम की सातवी सदी (सवत् ६८७-७०३) मे हुएनसॉग आया था। उस समय नालदा महत्त्व और ख्याति की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था। इस बात के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि नालदा-महाविहार की स्थापना फाहियान के आने के बाद और हुएनसाँग के आने के पहले हुई थी—पॉचवी और सातवी सदी के बीच मे। कनिघम और स्पूनर ने पॉचवीं ईसवी सदी के मध्य मे इसकी स्थापना का समय निश्चित किया है। मगध के राजा बालादित्य, जिन्होंने नालदा मे एक उच्च विहार का निर्माण कराया था, हूणाधिपति मिहिरकुल के समकालीन थे। मिहिरकुल सवत् ५७२ (सन् ५१५ ई०) मे राज्य करता था। इसलिये बालादित्य का भी समय यही हुआ। विसेंट स्मिथ के अनुसार बालादित्य का भी राज्य-काल सन् ४६७ ई० से ४७३ तक होना चाहिए। बालादित्य के पहले उनके तीन पूर्वजों ने भी यहॉ सघाराम बनवाए थे, और उनमे शक्रादित्य सर्वप्रथम थे। इस तरह नालदा-महाविहार की स्थापना का समय विक्रम की पॉचवी सदी के उत्तरार्द्ध मे जान पड़ता है[1]। पर मेरा अपना अनुमान तो यह है कि नालदा मे, बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय बाद विश्वविद्यालय की न सही, पर किसी विहार की स्थापना अवश्य हुई होगी। हुएनसाँग के कथन मे, जिसका समर्थन लामा तारानाथ भी करते हैं, तब तक बिलकुल अविश्वास करना अनुचित है जब तक खुदाई समाप्त न हो जाय। मेरा विश्वास है कि 'नानद' नामक गॉव मे अब यदि खुदाई का काम जारी किया जाय, तो बहुत सभव है कि नालदा की और अधिक प्राचीनता के प्रमाण मिले।

महाविहार की स्थापना का काल-निर्णय

नालदा के प्रथम सघाराम के बनवानेवाले शक्रादित्य थे। हुएनसाँग के अनुसार इनका समय ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी मे होना चाहिए। पर यह मत विद्वानो को मान्य नही। शक्रादित्य के पुत्र और उत्तराधिकारी बुधगुप्तराज ने प्रथम सघाराम के दक्षिण मे एक दूसरा सघाराम बनवाया। तीसरे राजा तथागतगुप्त ने दूसरे के पूर्व मे एक तीसरा सघाराम बनवाया। इसके उत्तर-पूर्व मे बालादित्य ने एक चौथा सघाराम बनवाया। उनके पुत्र वज्र ने अपने पिता के बनवाए हुए सघाराम के पश्चिम मे एक और संघाराम बनवाया। अत मे फिर उनके सघाराम के उत्तर मे मध्यभारत के किसी राजा ने एक और

महाविहार के संस्थापक और संरक्षक

1. बालादित्य के संबंध मे विंसेंट स्मिथ द्वारा निरूपित उक्त तिथि के अनुसार यह समय सन् ४१० ई० तक पहुँचता है।

संघाराम बनवा दिया और इन सभी सघारामो को एक ऊँची चहारदीवारी से घिरवा भी दिया। इसके बाद भी अनेक राजा, सुदर तथा भव्य मदिरो के निर्माण से, नालदा को सुशोभित[1] करते रहे। रेवरेंड हिरास ने एक विद्वत्तापूर्ण लेख[2] मे उक्त चारो राजाओ के नाम को गुप्तवशीय प्रसिद्ध राजाओ का नामातर सिद्ध किया है। उनका समीकरण इस प्रकार है—

शक्रादित्य	कुमारगुप्त (प्रथम)
बुधगुप्त-राज	स्कदगुप्त
तथागतगुप्त-राज	पुरगुप्त
बालादित्य-राज	नरसिहगुप्त

यद्यपि विद्वानो ने अभी इस समीकरण पर विशेष विचार नही किया है, तथापि इसकी सत्यता मे हमे सदेह नहीं। कम से कम यह तो सबको मानना पडेगा कि बालादित्य-राज और कोई नही—नरसिंहगुप्त ही थे। नरसिहगुप्त की मुद्राओ[3] मे बालादित्य की उपाधि है। इसी तरह शक्रादित्य का प्रथम कुमारगुप्त होना सर्वथा सभव है। कुमारगुप्त की मुद्राओं पर महेद्रादित्य की उपाधि अंकित है। 'महेद्र' और 'शक्र' का अर्थ एक ही है। अतएव शक्रादित्य सभवत: कुमारगुप्त (प्रथम) के सिवा और कोई न थे। आचार्य वामन के 'काव्यालकार-सूत्रवृत्ति' मे कुमारगुप्त के विद्यानुराग का उल्लेख है। उनके समय मे गुप्तो का पराक्रम बडा प्रखर था। अतएव उनका नालदा-महाविहार जैसे विद्या-केद्र का प्रथम स्थापक होना कोई आश्चर्य की बात नहा। उनके बाद उनके वशज राजा, नालदा की श्री-वृद्धि और सरक्षण मे, दत्तचित्त रहे। गुप्तवशी राजाओ का समय भारतवर्ष का स्वर्णयुग कहा जाता है। उस समय देश बडा उन्नत और समृद्ध था। ऐसे समय मे नालदा-महाविहार की स्थापना होना सर्वथा स्वाभाविक है। यद्यपि ये राजा हिंदू थे, तथापि इन्होने अपने विद्या-प्रेम तथा धार्मिक सहिष्णुता से प्रेरित होकर महाविहार की स्थापना की और उसकी उन्नति करने मे निरतर तत्पर रहे। कुमारगुप्त (प्रथम) का एक शिलालेख भिक्षु बुधमित्र द्वारा बुद्ध की एक मूर्त्ति के निर्माण का सस्मारक है। ऐसी दशा मे यह बात सदेहातीत जान पडती है कि इन पराक्रमी और विद्याप्रेमी राजाओ द्वारा 'नालदा' महाविहार का उत्तरोत्तर अभ्युदय होता गया।

(१) गुप्त-वश

बालादित्य (नरसिहगुप्त) के पुत्र वज्र (कुमारगुप्त—द्वितीय) के बाद, नालदा-महाविहार के सरक्षको मे, हुएनसाँग ने मध्यभारत के जिस राजा का उल्लेख किया है, वह सभवत: कन्नौज के हर्षवर्धन ही थे। हुएनसाँग आगे चलकर नालदा-महाविहार के सबध मे इनका स्पष्ट उल्लेख करता है। वह लिखता है—"इसके दक्षिण मे शिलादित्य-राज का बनवाया हुआ पीतल का एक विहार है। यद्यपि यह अभी पूरा तैयार नही है, तथापि बनकर तैयार

(२) हर्षवर्धन

१ तिब्वती प्रमाण से मालूम होता है कि नालदा मे 'सुविष्णु' नामक एक ब्राह्मण ने भी एक सौ आठ मदिर बनवाए थे।

२ Journal of Bihar and Orissa Research Society, Vol. XIV, Part I

३. Allan Gupta Coins

होने पर इसका विस्तार सौ फीट होगा।" यह तो सब जानते हैं कि 'शिलादित्य-राज' हर्षवर्धन की ही उपाधि थी। उनकी मुद्राओ मे यह अंकित है। 'हर्ष' का बौद्ध धर्म से प्रेम प्रसिद्ध ही है। महायान के सिद्धांतो के प्रचार के लिये कन्नौज मे हर्ष ने एक सभा की थी। बडगॉव की खुदाई मे हर्ष की दो मुहरे मिली हैं। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि गुप्तो के बाद नालदा के प्रधान सरक्षक हर्ष ही रहे। उनके समय मे यह विद्यालय अपने अभ्युदय की चरम सीमा को पहुँचा हुआ था। उनसे इसको अनेक प्रकार की सहायता मिलती थी। हुएनसॉग ने तो लिखा है कि और भी कई राजाओ से इसको आवश्यक सामग्री तथा सहायता मिलती रही। बडगाँव मे मौखरियों की दो मुद्राएँ मिली हैं। मौखरी राजा पूर्णवर्मा के सबध मे हुएनसॉग ने स्पष्ट लिखा है कि उन्होने नालदा मे बुद्ध की एक खडी ताम्र-प्रतिमा बनवाई थी, जिसकी ऊँचाई अस्सी फीट थी और जिसके रखने के लिये छः मजिल ऊँचे भवन की आवश्यकता थी। इसी प्रकार हर्षवर्धन के अन्य मित्र राजाओं से भी सहायता मिलती थी।

(३) पाल-वंश

हर्षवर्धन के बाद नालदा-महाविहार का सरक्षण प्रधानतः पालवंशी राजाओं द्वारा होता रहा। पालों के आधिपत्य का सूत्रपात आठवी ईसवी सदी के आरभ मे होता है। उस समय से बारहवीं सदी तक विश्वविद्यालय उन्ही के सरक्षण मे रहा। खुदाई मे पालवशियों की कई मुद्राएँ मिली है। देवपाल के शिलालेख से मालूम होता है कि उन्होने वीरदेव को विद्यालय का प्रधानाध्यक्ष बनाया था। पालवश के प्रथम राजा 'गोपाल' (प्रथम) ने (ई० सन् ७३०—७६९) ओदतपुर[१] मे एक विहार की स्थापना की और धर्मपाल ने (ई० सन् ७६९—८०९) विक्रमशिला[२] मे एक दूसरे विहार की स्थापना की।[३] फिर भी नालदा-महाविहार को इन पाल-वशी राजाओ से समुचित सहायता मिलती गई। इन राजाओ के ऐसे शिलालेख मिले हैं, जिनमे विश्वविद्यालय के लिये दिए गए इनके दानो का उल्लेख है। इस वश के अतिम राजा 'गोविदपाल' का नाम भी नालदा से सबद्ध है। 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापालिका' की एक प्रतिलिपि नालदा मे गोविदपाल के राज्य के चौथे वर्ष (ई० सन् ११६५) मे तैयार हुई थी। इसके थोडे ही दिन बाद मुसलमानों के हाथ से इस विशाल विद्यालय का ध्वस हुआ। इसके बाद फिर एक बार इसे पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा का उल्लेख है, पर वह चेष्टा विफल हुई। अत मे कुछ तीर्थिकों ने आग लगाकर इसे जला डाला।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि आरभ से ही नालदा को देश के विद्यानुरागी राजा-महाराजाओं से अपरिमित सहायता मिलती रही। सभव है कि इसी कारण इस स्थान का नाम 'नालदा' (अनत दान) पड़ गया हो। पर इस नाम के सबध मे हुएनसॉग ने बडी दिलचस्प बाते लिखी हैं। जनश्रुति

१. ओदतपुर (उद्दडपुर) का समीकरण विहार से हुआ है।—Journal of Behar and Orissa Research Society, XIV, P 511

२. डाक्टर बनर्जी शास्त्री ने विक्रमशिला का समीकरण आधुनिक 'कियूर' नामक ग्राम से किया है, जो 'हिलसा' थाना के निकट, नालदा से पद्रह मील दूर है।

३. R. D. Banerji Pāla Chronology, J. B. O. R. S., XIV. P. 538.
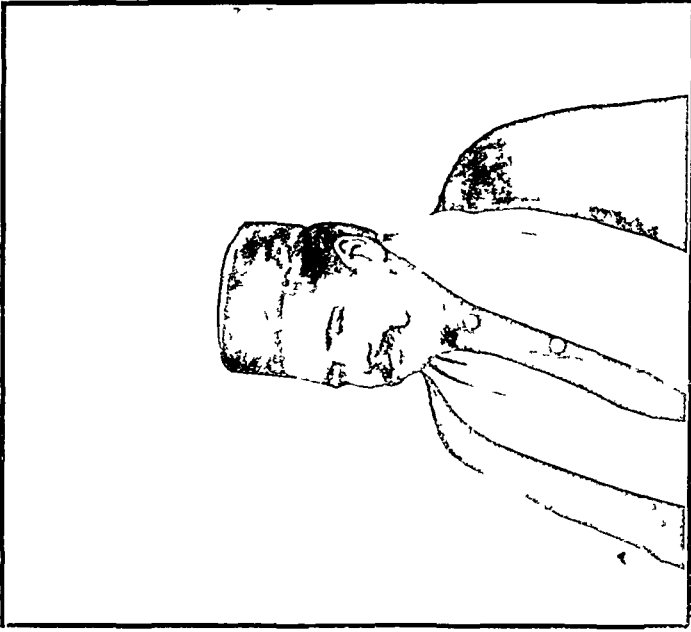
स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद गुप्त
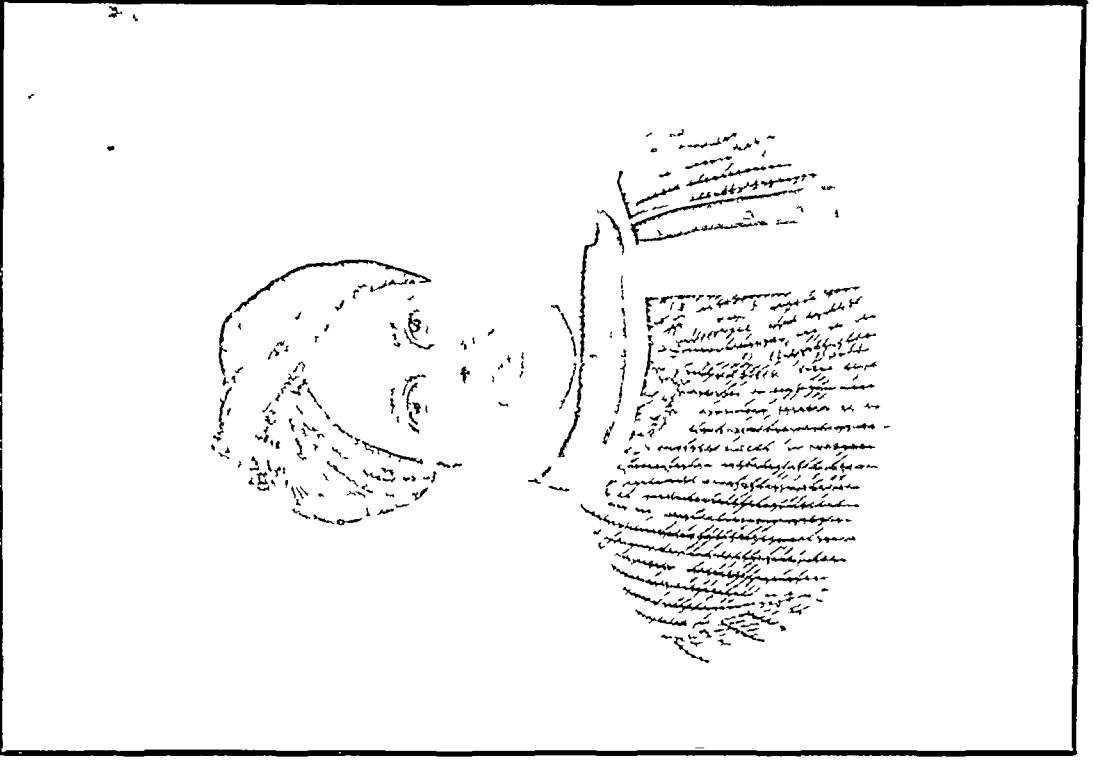
स्वर्गीय पंडित रामजीलाल शर्म्मा
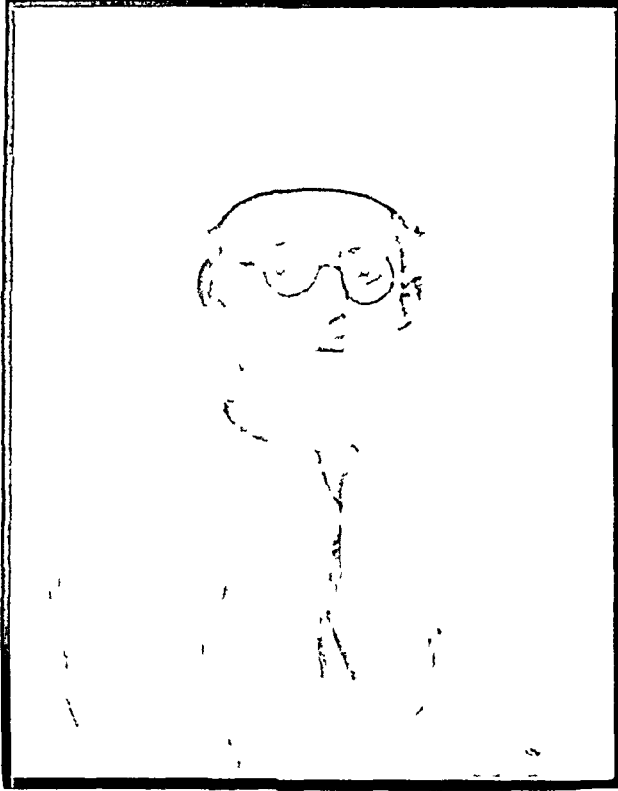
स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी

(द्विवेदी जी के समय में आप 'सरस्वती' के सहकारी संपादक थे। आप पर द्विवेदी जी का अत्यधिक स्नेह था, और आप भी द्विवेदी जी के अनन्य भक्त थे।)

यह थी कि संघाराम के दक्षिण मे आम्र-वाटिका के बीच एक तालाब था। उसके निवासी 'नाग' का नाम नालंदा था और उसी से इस स्थान का यह नाम पड गया। किंतु हुएनसाँग यह मत स्वीकार नही करता। प्राचीन काल मे तथागत भगवान् जब बोधिसत्त्व का जीवन व्यतीत कर रहे थे तब एक बार एक बडे देश के राजा हुए और इसी स्थान को अपनी राजधानी बनाई। करुणा से आर्द्र होकर वे निरंतर यहाँ के जीवो के दुःख दूर करने मे तल्लीन रहते थे। इसकी स्मृति मे वे 'अनंत उदारता के अवतार'—अथवा 'न-अल-दा' (अप्रतिम दानी)—कहे जाने लगे, और संघाराम का यह नामकरण उसी स्मृति की रक्षा के लिये हुआ। हुएनसाँग 'जातक-कथा' के आधार पर नालंदा नाम की यही व्युत्पत्ति मानता है। किंतु इत्सिंग उपर्युक्त जनश्रुति वाली बात को ही सच बताता है। हाल मे पंडित हीरानंद शास्त्री ने एक और मनोरंजक सिद्धांत पेश किया है। वे नालंदा की व्युत्पत्ति 'नल'—अर्थात् कमल—के फूलो से बतलाते हैं। कमल के फूल आज भी नालंदा मे प्रचुरता से पाए जाते हैं। पर जो हो, हुएनसाँग और इत्सिंग के प्राचीन मत के सामने यह मत मान्य नही हो सकता। हुएनसाँग के समय मे 'नालंदा' का नाम दिग्दिगंत मे व्याप्त हो गया था। इसकी उज्ज्वल कीर्त्ति-कौमुदी विश्व-विस्तृत हो चली थी। इसके यशःसौरभ से आकृष्ट होकर ही सुदूर देशो से हजारो यात्री और विद्यार्थी यहाँ आते थे। उन दिनो रेल न थी। मार्ग मे बीहड से बीहड स्थल थे। डाकुओ और वन्य जंतुओ का भय था। इत्सिंग और हुएनसाँग के विवरणो के पढ़ने से यह पता लगता है कि कैसी-कैसी कठिनाइयों को पार कर वे यहाँ पहुँचे थे। वैसे दिनों मे, दारुण कष्टो और विघ्नो का सामना करते हुए, विदेशियों के दल-के-दल का यहाँ आना 'नालंदा' की महत्ता का द्योतक है। उस महत्ता की कथा को सुरक्षित रखने का श्रेय चीनी यात्रियों को है, जिनके यात्रा-विवरण हमारे इतिहास के रत्न हैं। हुएनसाँग, इत्सिंग, कि-ई, वुकुंग आदि के यात्रा-वृत्तांतो से हमे नालंदा की शिक्षा-पद्धति आदि का बडा ही रोचक विवरण मिलता है।

स्थान का नामकरण

नालंदा की शिक्षा-प्रणाली कितनी उच्च कोटि की थी, इसका कुछ अनुमान हम हुएनसाँग के दिए हुए द्वारपंडित के वर्णन से कर सकते हैं। हम कह चुके हैं कि विद्यालय के चारों ओर, मध्य-भारत के किसी राजा की (जो संभवतः हर्ष ही थे) बनवाई हुई, एक ऊँची प्राचीर थी। उसमे केवल एक ही द्वार था। उस द्वार पर एक प्रकांड विद्वान् द्वारपंडित रहता था। वह उन नए विद्यार्थियों की परीक्षा लेता था, जो विद्यालय मे दाखिल होने के लिये सुदूरवर्त्ती देशो से आते थे। यही उन लोगों की प्रवेशिका-परीक्षा थी। जो द्वारपंडित के प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर न दे सकते थे, उन्हे निराश होकर लौट जाना पडता था। इस परीक्षा मे सफल होने के लिये प्राचीन और नवीन ग्रंथो का मननशीलतापूर्वक अध्ययन करना आवश्यक था। नवागत विद्यार्थियों को कठिन शास्त्रार्थ द्वारा अपनी योग्यता सिद्ध करनी पडती थी। यह परीक्षा इतनी कठिन थी कि दस मे सात या आठ प्रवेशार्थी असफल होकर लौट जाते थे[1]! जो दो-तीन सफल

प्रवेशिका-परीक्षा और शिक्षा-पद्धति

१. विक्रमशिला मे भी यही प्रणाली थी। वहाँ छः द्वार थे। सब पर एक-एक द्वारपंडित थे।

होते थे उनका भी सारा अभिमान, विद्यालय के भीतर जाने पर, चूर हो जाता था। तारीफ तो यह कि द्वार-परीक्षा की इतनी कठिनता होते हुए भी हुएनसॉग के समय मे विद्यार्थियो की सख्या दस हजार थी।[१] लब्धप्रतिष्ठ बौद्ध भिक्षु उनके अध्यापक थे। शिक्षा-पद्धति ठीक प्राचीन गुरुकुलों के ढग की थी। छात्रो और अध्यापको मे बड़ा स्नेह था। छात्र वडे गुरुभक्त थे। 'तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया'—इन तीनो के सुभग संमिश्रण से छात्रो का जीवन दीप्तिमान् था। बौद्धधर्मग्रथो के अतिरिक्त वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, तत्र, सांख्य तथा अन्य विविध विपय भी पढ़ाए जाते थे। सर्वांगीण शिक्षा के प्रभाव से, हुएनसॉग के समय मे, एक सहस्र ऐसे विद्वान् थे जो दस विपयो मे निपुण थे—पाँच सौ ऐसे थे जो तीस विषयां के पडित थे—और दस ऐसे थे जो पचास विपयो मे पारगत थे। तत्कालीन कुलपति 'प्रधानाचार्य शीलभद्र' तो सभी विपयो के पारदर्शी थे। हुएनसॉग ने यहाँ आकर इन्ही का शिष्यत्व ग्रहण किया था। पुनः इत्सिग के विवरण से पता चलता है कि यहाँ शिक्षा के दो विभाग थे—प्राथमिक और उच्च। प्राथमिक शिक्षा मे सवसे पहले व्याकरण पढना पड़ता था। उसके बाद क्रमशः हेतुविद्या, अभिधर्मकोप और जातक[२] का अध्ययन करना पडता था। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर लेने पर विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण करने के योग्य होते थे। तव उन्हे विद्वान् अध्यापको के साथ सभाव्य प्रश्नो पर शास्त्रार्थ करके ज्ञानार्जन करना पडता था। इस तरह जब उनकी शिक्षा समाप्त हो जाती थी तव वे राजसभा मे जाते थे, वहाँ अपनी विद्वत्ता का परिचय देकर किसी राजकीय पद पर नियुक्त होते अथवा भूमि आदि का दान पाते थे। प्रखर प्रतिभावाले विद्वानों की स्मृति-रक्षा के लिये उनका नाम प्रमुख एव उच्च द्वारो पर धवल वर्णो मे अकित कर दिया जाता था। परतु जिन लोगो की प्रवृत्ति अधिक विद्या प्राप्त करने की होती थी वे और कोई काम न करके अपने अध्ययन का क्रम पूर्ववत् दृढ़ रखते थे। उन्हे वेदो और शास्त्रो का भी अध्ययन करना पड़ता था। गुरु और शिष्य का संवध आदर्श था। परस्पर वार्त्तालाप मे गुरुओ से शिष्यो को निरतर अमूल्य उपदेश मिला करते थे। हुएनसॉग ने लिखा है कि सारा दिन ज्ञान-चर्चा और वाद-विवाद तथा गूढ़ प्रश्नो के समाधान मे ही वीतता था।

विद्यालय का नियमानुशासन भी प्रशंसनीय था। सव लोगो को संघ के उन सभी नियमो का पालन करना पड़ता था, जिन्हे स्वय भगवान् बुद्ध ने स्थिर किया था। भेद-भाव का नाम न था। राजा हो या रंक, छोटा हो या बड़ा, बूढ़ा हो या जवान—सव पर नियम समान भाव से लागू होते थे। जो लोग जितने अधिक वर्ष के शिष्य होते थे, उनका पद उतना ही उच्च गिना जाता था।[३] अर्थात् विद्या के अनुसार उनका पद होता

नियमानुशासन

१. इत्सिंग के समय मे, न जाने क्यों, यह संख्या तीन हजार रह गई थी!

२. भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मो की कथाएँ।

३. हुएनसॉंग के समय मे केवल वालादित्य-राज के संघाराम मे, उनके लिहाज से, इस नियम मे परिवर्त्तन कर दिया गया था। सघाराम वनवाने के वाद वालादित्य ने सभी देशो के महात्माओं को निमंत्रित किया। चीन देश के दो साधु कुछ देर करके आए। जव वालादित्य उनकी अभ्यर्थना करने गए तब सिंहद्वार पर साधुओ का कुछ पता न चला। इससे वालादित्य को इतनी धार्मिक वेदना हुई कि राज्य-परित्याग करके वे साधु

था।[१] सघ के सभी निवासियों को सब काम ठीक समय पर करना पडता था। पूजा-पाठ, भोजन, शयन, सबके लिये समय नियत था। समय-ज्ञान के लिये जलघडी का प्रवध था। उसी के अनुसार सूचना देने के लिये घटा बजाया जाता था। घटा बजाने के लिये लडके और 'कर्मदान' (विशेष कर्मचारी) नियुक्त थे। इत्सिग ने जलघडी और घटे का वडा रोचक वर्णन किया है। यदि कोई अनियत समय पर कोई काम करते पाया जाता था तो नियमानुसार वह दड का भागी होता था। हुएनसाँग लिखता है—'इस सघाराम के नियम जैसे कठोर हैं वैसे ही साधु लोग भी उनका पालन करने मे तत्पर हैं और सपूर्ण भारतवर्ष भक्ति के साथ इन लोगो का अनुसरण करता है।'[२] इतना ही नही, विद्यार्थियों को इन नियमों के अतिरिक्त विनय और शिष्टता के नियमो का भी पालन करना पडता था। व्यसन का तो उनमे नाम भी न था। उनका चरित्र शुद्ध और जीवन तपस्यामय था। छात्रावास की कोठरियो मे उनके सोने के लिये जो पत्थर के मच बने हुए हैं, वे इस ढग के हैं कि उन पर शायद ही कोई सुख की नीद सो सके! निश्चय ही वे जान-बूझकर ऐसे बनाए गए थे। उनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि वहाँ विद्यार्थि-जीवन मे 'श्वान-निद्रा' के आदर्श का किस प्रकार पालन किया जाता था। सघाराम की एक-एक कोठरी मे एक-एक विद्यार्थी के रहने का प्रवंध था। उसी मे उनकी चीजे रखने तथा सोने की भी व्यवस्था थी। विद्यालय मे ऐसे सौ मच बने हुए थे, जिन पर गुरु बैठकर शिष्यो को शिक्षा देते थे। वाद-विवाद के लिये वडे-वडे कमरे बने हुए थे, जिनमे दो हजार भिक्षु एक साथ बैठ सकते थे। ज्योतिर्विद्या की पढ़ाई के लिये ऊँचे-ऊँचे मानमदिर बने हुए थे।

वह विशुद्ध निःशुल्क शिक्षा थी। बिना किसी तरह के खर्च के ही विद्यार्थियो की दैनिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थी। हुएनसाँग ने लिखा है कि देश के तत्कालीन राजा ने एक सौ गाँवों का 'कर' विद्यालय के लिये अलग कर दिया था। यह राजा सभवतः 'हर्ष' ही होगा। 'हर्ष' के सबध मे हुएनसॉग ने लिखा है—'जब, हर्ष ने सघाराम में बुद्ध-प्रतिमा बनवाने का निश्चय किया तब उन्होंने कहा, मै अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिये प्रतिदिन सघ के चालीस भिक्षुको को भोजन कराऊँगा।' इसके अतिरिक्त उक्त गाँवो के दो सौ गृहस्थ भी कई सौ मन चावल और कई सौ मन दूध तथा मक्खन प्रति दिन दान करते थे[३]।

विद्यालय के आय-व्यय आदि का प्रवध

हो गए। संघाराम के नियमानुसार उन्हे निम्नतम कोटि के साधुओ मे स्थान मिला। उनको यह सोचकर कुछ दु ख हुआ कि वे जब वह राजा थे तब उनका कितना सम्मान होता था और अब इस हालत मे उनका पद अत्यंत अल्पवयस्क लोगो के सामने भी हास्यास्पद हो गया। इस समय वे बूढे हो गए थे। अस्तु, उनके संघाराम मे यह नियम कर दिया गया कि जिसकी जितनी अधिक आयु हो उसका पद भी उतना ही अधिक ऊँचा हो।

१ मिलान कीजिए—"वित्त बन्धुर्वय कर्म्म विद्या भवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ [मनु०, अध्याय २]

२ देखिए—'हुएनसांग का भारत-भ्रमण' नामक पुस्तक (इडियन प्रेस, प्रयाग), पृष्ठ ४६३

३ काशी (सारनाथ ?) मे प्राप्त एक शिलालेख मे नालदा के निकटवर्त्ती अरण्यगिरि नामक स्थान के निवासी दद्दिक नामक एक सज्जन के किसी विशेष दान का उल्लेख है।

और छात्रो के रहने के लिये वहाँ एक से एक विस्तृत, विशाल और दर्शनीय भवन बने हुए थे। ऊपर कहा जा चुका है कि नालदा मे किस प्रकार एक के बाद दूसरे राजा सघारामों का निर्माण कराते रहते थे। हुएनसाँग ने यहाँ के सघारामों और कुछ विहारों का वर्णन किया है[1]। यहाँ का एक विहार कोई दो सौ फीट ऊँचा था। बालादित्य-राज का बनवाया हुआ एक विहार तो तीन सौ फीट ऊँचा था, यह बहुत विशाल था। हुएनसाँग लिखता है—"इसकी सुदरता, विस्तार और इसके भीतर बुद्धदेव की मूर्त्ति इत्यादि सब बाते ठीक वैसी ही है जैसी बोधिवृक्ष के नीचेवाले विहार मे हैं[2]।" बुधभद्र का निवास-भवन, जिसमे हुएनसाँग स्वय ठहरा था, चार खड का था। इन विशाल एव मनोहर मदिरो की प्रशसा मे हुएनसाँग के जीवनी-लेखक 'हुई-ली' ने लिखा है—"समलकृत शिखर तथा सुषमापूर्ण अट्टालिकाएँ उत्तुग गिरि-शृगो की तरह परस्पर समिलित हैं। वेधशालाएँ प्रातःकालीन वाष्प मे लुप्त-सी जान पड़ती हैं और ऊपर के कमरे बादलो से भी ऊँचे जान पडते हैं। खिडकियों से यह देखा जा सकता है कि हवा और मेघ किस प्रकार नए आकारों की सृष्टि करते हैं। गगनचुबी वलभियो के ऊपर सूर्य-चद्र-ग्रहण का स्पष्ट निरीक्षण किया जा सकता है। गहरे और निर्मल जलाशय लाल और नीले कमलों को बड़ी सुदरता से धारण किए हुए है। बीच-बीच मे उन पर विस्तीर्ण अमराइयों की बड़ी सुदर छाया पडती है। बाहर के सभी चैत्य, जिनमे भिक्षुओं के आवास हैं, चार खड के हैं। सीढियों मे सर्पाकार झुकाव, छतों के सुरजित छोर, खभो की नफीस नक्काशी, वेदिकाओ (railings) की मनोहर पक्तियाँ, खपरैल छतो के ऊपर हजारों रगो मे प्रतिबिबित प्रकाश—ये सब मिलकर उस दृश्य की श्री-वृद्धि करते हैं।"

नालदा की वास्तु तथा मूर्त्ति-कला के सबध मे कुछ कहे बिना यह विवरण अधूरा रह जायगा। यहाँ के भवनों की छेकन (lay out, plan) मे इतना सौष्ठव है कि आज खोदकर निकाले गए भग्नावशेषों की दशा मे भी उन्हे देखकर हृदय आनदित हो उठता है, और उनके बनी हुई दशा के भव्यता का चित्र आप ही आप आँखों के आगे खिच जाता है। एक के बाद एक भवन यहाँ के स्थपति इस खूबी से बनाते गए हैं मानों सारे विद्यापीठ का नक्शा उन्होने पहले ही से सोच रक्खा हो। कोई भी इमारत ऐसी नहीं है जो बेजोड, बेमेल वा कुठौर मालूम पड़ती हो। जिस भवन-मालिका के निर्माण मे एक सहस्र वर्ष का लबा समय लगा हो, वहाँ ऐसे सौष्ठव का निर्माण पहुँचे हुए शिल्पियो के ही मस्तिष्क का काम है। नालदा की खुदाई के पहले भारतीय स्थापत्य के इतिहास के विद्वानों का मत था कि इमारतो मे कमानियों—डाटो (arches)—का प्रयोग भारत ने अरब से सीखा है, पहले के भारतीय वास्तु-शिल्पी कमानी के सिद्धांत से अनभिज्ञ थे। किंतु नालदा के उद्घाटित होने पर यह अनुमान निर्मूल सिद्ध हुआ। आज जो चार प्रकार की

वस्तु तथा मूर्त्ति-कला

१ हुएनसांग के वर्णन के अनुसार रेवरेंड हिरास ने नालंदा-महाविहार का एक बड़ा सुंदर मानचित्र तैयार किया था। देखिए—Journal of Bihar and Orissa Research Society, March, 1928.

२. 'हुएनसांग का भ्रमण-वृत्तांत' (इंडियन प्रेस), पृष्ठ ४९८

कमानियाँ—अर्थात् गोल, कुबडी, नोकदार और समथल—भवनो के निर्माण मे व्यवहृत होती हैं, उन चारों ही के नमूने यहाँ की इमारतो में मिले हैं। यहाँ के इमारतो की पुष्ट और सुडौल ईंट ऐसी सुघडता से चिनी गई है कि कही-कही तो उनकी दरज तक नही मालूम होती। नालदा के छात्रावास और कमरे आदि देखने पर सचमुच ही आज-कल के प्रसिद्ध विद्यालय भी फीके-से लगते हैं। कही-कही मचादि की भित्तियो पर ऐसी सुदर चित्र-मूर्त्तिकारी है कि देखते ही बनता है। कही बुद्ध के जातक की कथाओ की बाते अंकित हैं, कही शिव और पार्वती की प्रतिकृति, कही बाजा बजाती हुई किन्नरियाँ. कही गजलक्ष्म, कही अग्नि, कही कुबेर, कही मकराकृति आदि। एक बृहत् स्तूप के निकट भूमिस्पर्श मुद्रा मे बुद्धदेव की एक भव्य विशाल मूर्त्ति है। वह आकार मे शायद बोध-गया की मूर्त्ति के लगभग होगी। यहाँ के लोग उसे आज-कल बटुकभैरव की मूर्त्ति समझते हैं और उसकी पूजा करते हैं। यहाँ इमारतो पर जो कतिपय बुद्ध-मूतियाँ मसाले की बनी हैं—वे इतनी भावपूर्ण हैं कि उनका शब्द-चित्रण असभव-सा है। बुद्ध के प्रशात भव्य मुखमडल पर दया, करुणा और दिव्य सौदर्य की जो अभिव्यक्ति शिल्पी ने की है—उनके विमल और विशाल ध्यानस्थ नेत्रो से जो आभा, आर्द्रता, गभीरता, एकाग्रता एव विश्व-वेदना उसने टपकाई है—उसके दर्शन करके किसका हृदय पवित्र एव निष्पक्ष न हो जायगा! यहाँ की प्रस्तर-मूर्त्तियाँ भी ऐसी ही सुदर हैं, और छोटी-छोटी धातु-प्रतिमाओ मे पावन लोकोत्तर भावो की व्यजना मे तो कलावतो ने कमाल कर दिया है। अंग-प्रमाण (एनाटोमी) की जो पाश्चात्य परिभाषा है, उसका चाहे इन मूर्त्तियो मे अभाव हो, किंतु भाव और कल्पना के निदर्शन मे तो ये अद्वितीय हैं, अर्थात् कला का वास्तविक उद्देश्य—'हृदय मे लोकोत्तर आनद का उद्बोधन'—इनके द्वारा पूर्णतः सिद्ध होता है।

हुएनसाँग ने नालदा के एक विशाल कूप का वर्णन किया है। खुदाई मे भी एक अठपहला सुदर कुँआँ मिला है। इस कुएँ को देखकर हम इसका जल पीने का लोभ सवरण न कर सके।

कूप और जलाशय

वास्तव मे जल सुस्वादु और निर्मल है। कई प्राचीन जलाशय अब भी यहाँ की शोभा बढ़ा रहे हैं। एक तालाब तो ऐसा है, जिसमे स्नान करने से—लोगो का ऐसा ही विश्वास है—कुष्ठ रोग दूर हो जाता है। कम से कम एक ऐसे सज्जन को तो हम स्वय जानते हैं, जिनका बढा हुआ कुष्ठ रोग केवल इस तालाब मे नित्य स्नान करने से छूट गया। शरद-ऋतु मे ये विस्तृत जलाशय विकसित कमलो से विभूषित होकर अत्यत मनोहर देख पडते हैं।

नालदा के सघारामो के देखने से जान पडता है कि उन पर हृदयहीन शत्रुओ के अनेक प्रहार हुए थे। कुछ मंदिर और आवास प्राचीन भग्नावशेषो के ऊपर बने मालूम होते हैं। नालदा-महाविहार

प्रहार और संहार

पर प्रथम आघात सभवतः बालादित्य (नरसिहगुप्त) के शत्रु 'मिहिरकुल' का हुआ होगा। बालादित्य-राज ने इमारतो की फिर मरम्मत करा दी होगी। दूसरा प्रहार 'शशाक' का हुआ होगा[१]। इस बार हर्षवर्धन ने मरम्मत कराई होगी।

१. Heras A Note on the Excavation of Nālandā and its History, J. B. B. R. A. S., II. N. S. (P. 215-16).

संघारामो के चारो ओर ऊँची चहारदीवारी बनाने का उद्देश्य संभवतः उन्हे बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित रखना ही होगा। जो हो, नालदा पर अंतिम घोर प्रहार मुसलमानो का हुआ। प्रहार क्या, सहार ही हुआ। मुसलमान इतिहासकार 'मिनाज' (Minatz) के अनुसार मगध पर मुसलमानो की चढाई का समय ११९९ ई० है। उसी समय इधर के तीनों विद्यालयों—नालदा, विक्रमशिला और ओदतपुर—का विध्वस हुआ। तारानाथ से मालूम होता है कि मगध की पहली चढ़ाई मे मुसलमानो को निराश होकर भाग जाना पडा था। पर दूसरी चढाई मे महम्मद बख्तियार अचानक बड़ी तैयारी के साथ टूट पडा। उसके आक्रमण का पता किसी को न था![1] उस समय गोविंदपाल मगध के राजा थे। वे बहुत बूढे हो गए थे। लडाई मे वे वीर-गति को प्राप्त हुए। फिर तो खूब लूट-पाट मची। उसी समय नालदा-महाविहार का विनाश हुआ। बहुत-से भिक्षु मार डाले गए।[2] कुछ विदेशो मे भाग गए। अंध तांत्रिक मत के दुष्प्रभाव से, धर्मभ्रांतियों से, व्यभिचार आदि से, बौद्ध धर्म उस समय भीतर ही भीतर जर्जर हो उठा था। उसकी वह पुरानी शक्ति जीर्ण-शीर्ण हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त देश भर मे उस समय उत्पात और अनाचार व्याप्त था। अतएव देश की तत्कालीन स्थिति का अनुसरण करते हुए नालदा भी अधःपतित हुआ। उसके बाद, तिब्बती प्रमाण के अनुसार, नालदा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया गया। 'मुदित-भद्र' नामक एक भिक्षु ने वहाँ के चैत्यों और मदिरों की मरम्मत कराई। मगध के किसी राजा के मत्री 'कुक्कुटसिद्धि' ने एक और मदिर का निर्माण किया। एक समय, जब उसमे धर्मोपदेश हो रहा था, दो दरिद्र तीर्थिक वहाँ आ पहुँचे। कुछ दुष्ट चचल भिक्षुओ ने उन पर अशुद्ध जल फेककर उनका अपमान किया। इससे वे क्रुद्ध हो गए। तदुपरांत बारह वर्ष तक सूर्य की उपासना करके उन्होंने एक यज्ञ का अनुष्ठान आरभ किया, और महाविहार के मदिरो आदि पर यज्ञाग्नि के धधकते हुए चैले और अंगारे फेककर उन्हे भस्म कर डाला। खुदाई मे जो मदिर आदि निकल रहे हैं उनमे जलाए जाने का स्पष्ट प्रमाण मिल रहा है। 'बालादित्य के शिलालेख'[3] से भी इस बात की सत्यता सिद्ध होती है। उस शिलालेख मे अग्निदाह के बाद एक मदिर के मरम्मत किए जाने का उल्लेख है। नालदा मे प्राप्त जले हुए चावल के कण[4] भी इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं। सभव है कि चावल के इन कणो मे हुएनसाँग द्वारा प्रशंसित उस 'महाशलि' चावल के कण भी हो, जो उसे नालदा मे अन्यान्य वस्तुओ के साथ प्रति दिन मिलता था। उस चावल के कण बडे पुष्ट होते थे। भात तो बहुत ही

१. मिनाज (Minatz)।

२ अपनी 'ए हिस्ट्री आफ हिंदू केमिस्ट्री' नामक पुस्तक मे आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय लिखते है—"इस समय के मठादि इतने भ्रष्ट हो गए थे कि उनके निवासियो को मारने मे मुसलमान विजेताओ को तनिक भी हिचक न हुई।"

३. यह शिलालेख सन् १८६४ ई० मे कप्तान मार्शल द्वारा प्राप्त हुआ था। उसी समय से इसका नाम 'बालादित्य का शिलालेख' पड़ गया। आज-कल यह कलकत्ते के संग्रहालय मे है।

४. बड़गाँव के सग्रहालय मे ये जले हुए कण बोरो मे रक्खे हुए है।

पद्मांजलि

चित्रकार—श्री० सुधीररंजन खास्तगीर

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)
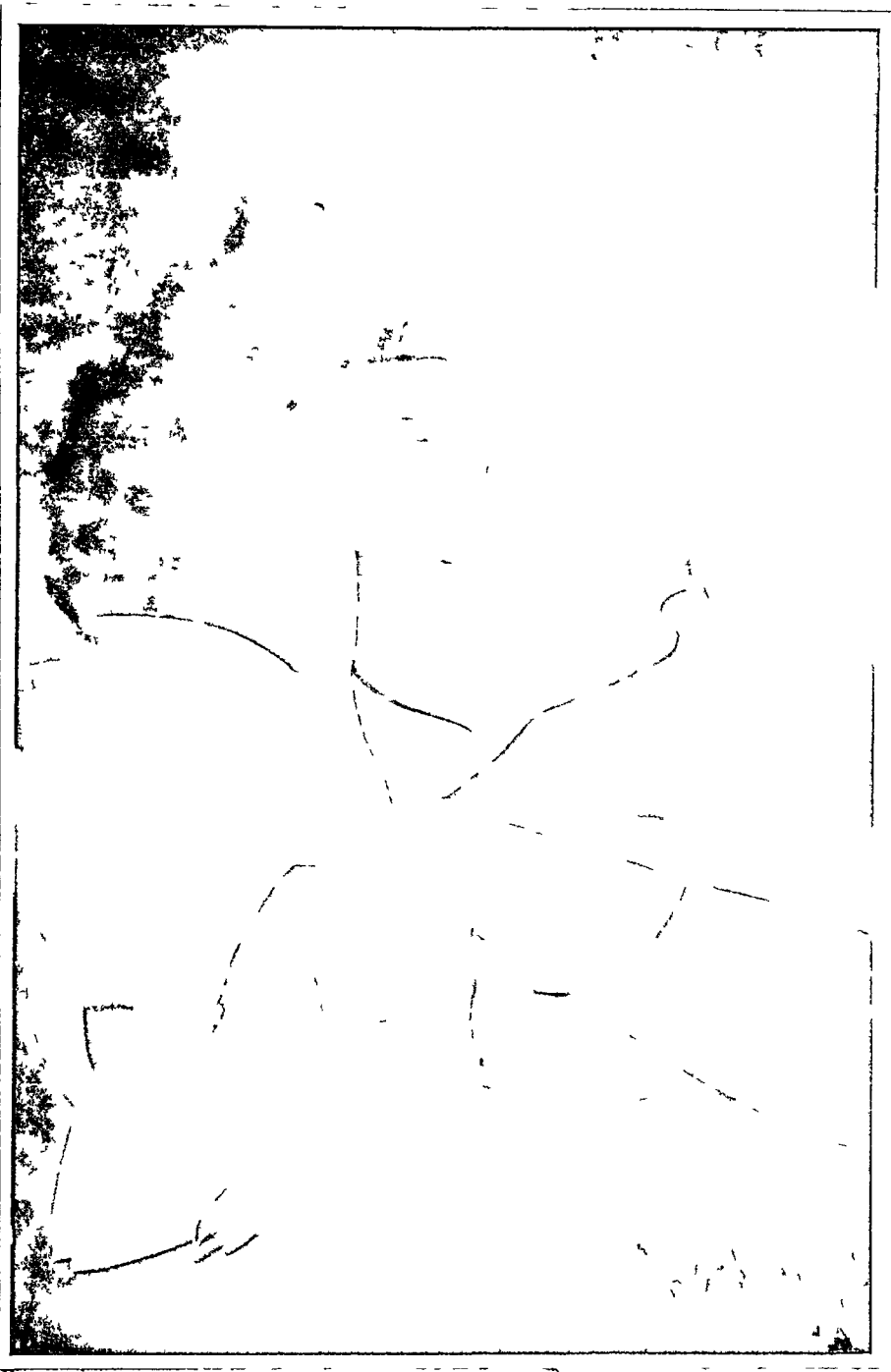
सुगंधित और चमकीला होता था। वह चावल केवल मगध में ही होता था और राजा-महाराजाओं तथा धार्मिक महात्माओ को ही मिलता था। इसी लिये उसका नाम 'महाशालि' पड़ा था।[1]

उपसंहार

नालदा-महाविहार के उदय और अस्त की कहानी सक्षेप मे हम सुना चुके। यह एक आदर्श विद्यालय था। भारतीय शिक्षा के सभी उच्च आदर्श उसमे वर्त्तमान थे। कोलाहलपूर्ण ससार से दूर, निर्मल जलाशयो और सुविस्तृत आम्र-काननो से सुशोभित शांत एव सात्त्विक तपोवन मे, इसकी स्थापना हुई थी। 'तपोवन और तपोमय जीवन'—यही इसकी महत्ता का रहस्य था। इसके भव्य भवनों, मनोहर मदिरो और सुचारु चैत्यादिको के देखने और इसके विश्वव्यापी पवित्र प्रभाव का चितन करने से हृदय मे अनेक कोमल और किशोर भावनाएँ जाग उठती हैं—कई सौ वर्षो का इतिहास आँखो के सामने नाच उठता है।

आगरे के जगत्प्रसिद्ध 'ताजमहल' पर अनेक कवियो ने अनूठी उक्तियाँ कही हैं; पर नालदा के भग्न—किंतु दिव्य—विहारो और सघारामो पर उनका हृदय अभी नही पसीजा! नालदा अनेक तपस्वी महात्माओं के यशःसौरभ से सुरभित है। इसमे हृत्तत्री को झकृत करने की पर्याप्त सामग्री है। इस तीर्थ-भूमि का प्रत्येक रेणु-कण भारतीय सभ्यता एव सस्कृति का दर्पण है। इसके दर्शन से ऐसा भासित होता है मानो प्राचीन भग्न मदिरों से बौद्ध भिक्षुओ की पवित्र आत्माएँ ससार के कल्याण के निमित्त दिव्य ज्ञान का आलोक लिए हुए निकल रही हो। यहाँ का सारा वायुमडल इस पवित्र मंत्र से गूँजता हुआ-सा प्रतीत होता है—

"धम्म शरण गच्छामि, बुद्ध शरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि।"

1 The Life of Hiuen Tsiang. P. 108.

F. 42
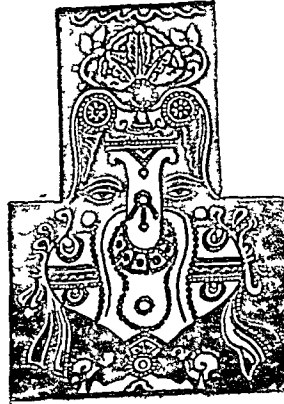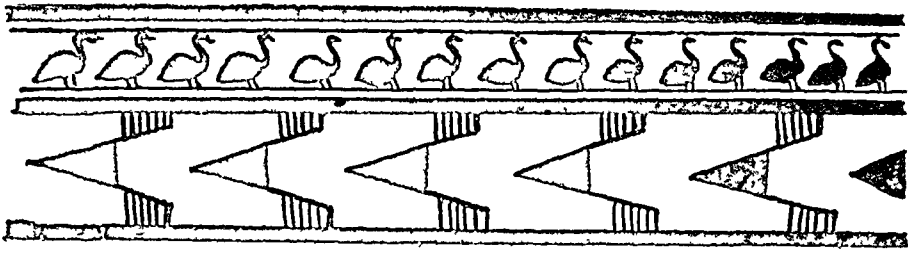
'मनु' तथा 'इंद्र'

प्रोफेसर सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

मनु—'मनु' महाराज के नाम से प्रत्येक भारतीय परिचित है। उन्ही के नाम से 'मनुस्मृति' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है जिसमे वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक नियमो का विधान है। प्राय: यह समझा जाता है कि 'मनु' नामक कोई महान् व्यक्ति हुए है जिन्होने भारत मे शासन के नियमो का निर्माण कर अव्यवस्था दूर की थी। किंतु हमारा मत यह है कि 'मनु' नाम के कोई एक ही व्यक्ति कभी नहीं हुए। जैसे 'व्यास' गद्दी का नाम पड गया, 'शंकराचार्य' भी गद्दी का ही नाम है, वैसे ही 'मनु' शब्द भी एक गद्दी के लिये प्रयुक्त होता रहा है। सूक्ष्म विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'मनु' शब्द की व्युत्पत्ति 'मन्' धातु से होती है। संस्कृत मे इस धातु का अर्थ 'मनन करना, नियम बनाना अथवा लेजिस्लेट करना' है। 'मनु' शब्द का धात्वर्थ ही 'नियामक' अथवा 'लेजिस्लेटर' है। इन अर्थो मे 'मनुस्मृति' उस ग्रंथ का नाम है जिसमे भारत के प्रसिद्ध मनुओ के बनाए हुए नियमो का संग्रह हो। 'मनु' जो कोई भी बन सकता था; परंतु ऐसा बनने के लिये देश-देशांतरो के शासन-संबधी नियमों का तुलनात्मक अध्ययन करने की योग्यता अपेक्षित होती थी। जिस व्यक्ति मे इतनी योग्यता पाई जाती थी वही 'मनु' (Legislator) की पदवी से विभूषित किया जाता था और उसके निर्दिष्ट किए हुए नियमो का यथोचित विवेचन करके समाज मे उनका प्रयोग होने लगता था। जिस प्रकार मिस्र (Egypt) के राजा 'फैरोहा' कहलाते थे, पारसियों के शक्तिशाली राजा 'क्सरसीज' कहे जाते थे, हिंदुओं मे शस्त्र द्वारा देश-रक्षा तथा देश-विस्तार करनेवाले 'क्षत्रिय' नाम से पुकारे जाते थे, उसी प्रकार नियमो के निर्माण मे गंभीर गति रखनेवाले विद्वान् 'मनु' कहलाते थे।

मिस्री, यहूदी और यूनानी (ग्रीक) हमारे इस कथन की पुष्टि करते हैं। मिस्र को शासन के नियम देनेवाला 'मेनीज' (Manes) था, जो 'मनु' के अतिरिक्त दूसरा कोई नही हो सकता। हमारे कथन का यह अभिप्राय नही कि भारतवर्ष से 'मनु' महाराज ही मिस्र चले गए थे। अभिप्राय इतना ही है कि भारतवर्ष मे नियमो की रचना करनेवाला 'मनु' कहा जाता था, इसलिये मिस्री लोगो ने भी अपने देश मे शासन की व्यवस्था करनेवाले को 'मेनीज' नाम देना पसंद किया। यहूदियो मे नियमो

का विधान करनेवाला (Law giver) 'मूसा' (Moses) है। बाइबल के पुराने अहदनामे के अनुसार 'मूसा' ही परमात्मा (जिहोवा) के पास जाकर दस आज्ञाएँ (Ten Commandments) लाया था। यहूदियो ने भी अपने नियमो के उपदेष्टा को 'मनु' का ही नाम दिया, जो उनकी भाषा मे 'मूसा' के रूप मे प्रचलित हुआ। यूनानी लोगो का नियम-प्रवर्त्तक 'माइनोस' (Minos) कहलाता है। यूनानी इतिहास के अनुसार 'माइनोस' पूर्व की तरफ से 'क्रीट' नगर मे आकर रहने लगा। उसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर नगर-निवासियो ने उससे नियंत्रण के नियम बना देने का अनुरोध किया। इस अनुरोध को देखकर उसने उनसे कुछ मुहलत माँगी और यात्रा करता हुआ मिस्र मे जा निकला। मिस्र मे जाकर उसने उस देश के नियमों का खूब बारीकी से अध्ययन किया। मिस्र से लौटकर वह एशिया और पर्शिया (फारस) होता हुआ भारत मे आया और 'सिधु' नदी के तट पर भ्रमण करता रहा। इतने लबे-चौडे पर्यटन के अनतर वह फिर लौटकर 'क्रीट' चला गया। वहाँ जाकर उसने उस देश के लिये नियम बनाए। उन नियमो को सारे यूनान ने स्वीकृत कर लिया।

इन घटनाओ को पढ़ते हुए विद्यार्थी के हृदय मे तरह-तरह के भाव उठते हैं। यूनान का वह विद्वान् मिस्र के शासको से मिलता हुआ भारत पहुँचा। हो न हो, अवश्य मिस्र के धुरधर पडितो ने उसे अपने पाडित्य को पूर्ण करने के लिये विद्या की खान भारतवर्ष की ओर प्रेरित किया होगा। इसी लिये तो वह एशिया को पार कर सिधु के किनारो की खाक छानता रहा। जब सब देशो मे भ्रमण कर देश को नियत्रण मे रखनेवाले नियमो का तुलनात्मक अध्ययन करके उसने उन्हे यूनान की प्रजा के समुख रक्खा होगा, तब प्रजा ने भी स्वाभाविक रीति से उसे 'मनु' (Minos) की पदवी से विभूषित किया होगा। इस प्रकार यह सहज ही समझ मे आ जाता है कि हिदुओ का 'मनु' ही मिस्रियो का 'मेनीज', यूनानियो का 'माइनोस' और यहूदियो का 'मोजेज' (मूसा) था। चारो के चारो एक ही 'मनु' शब्द के अपभ्रश हैं और उन-उन देशो मे व्यवस्था के नियम बनानेवाले भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के लिये प्रयुक्त होते रहे हैं। 'मेनीज', 'माइनोस' और 'मोजेज' नाम बचपन मे ही नही रक्खे गए थे, बल्कि जब वे व्यक्ति नियमो के निर्माता बने तब भारतवर्ष की प्रचलित प्रथा के अनुसार उनका नाम 'मनु' या लेजिस्लेटर (Legislator) रक्खा गया।

इंद्र—जिस प्रकार 'मनु' का नाम भिन्न-भिन्न रूप धारण कर ससार की समुन्नत सभ्यताओ का शासन करता रहा है, उसी प्रकार 'इंद्र' देवता का विचार भी प्रायः सभी पुराने धर्मो मे पाया जाता है। दूसरे धर्मो मे इद्र का स्थान समझने के लिये हमे भारतीय देव-समुदाय मे इद्र का स्वरूप समझ लेना चाहिए। सस्कृत मे इंद्र के लिये 'द्यौः, दिवस्पितर, इद्र, वज्री' आदि शब्द पाए जाते हैं। पुराणो मे इंद्र को स्वर्ग का अधिपति बतलाया है—वह स्वर्ग का राजा है, देवताओ मे बहुत ऊँचे स्थान का अधिकारी है। इद्र के कब्जे मे बहुत-सी अप्सराएँ भी हैं—सत्पुरुषो का व्रतभंग करने के लिये इद्र उनका दुरुपयोग करता ही रहता है। द्युलोक मे उसका निवास-स्थान है। वह बिजली की कडक मे कभी कभी अपने उग्र रूप की झाँकी दिखलाया करता है। यदि उपर्युक्त 'द्यौः' के विसर्गो को 'स्' कर दिया जाय तो 'द्यौ' शब्द का रूप 'द्यौस्' हो जाता है। 'द्यौस्' का अपभ्रंश

'द्युस' और 'दिउस' बनकर यूनान मे यही देवता 'जिउस' (Zeus) बन गया और पुजने लगा। यूनानी शब्द-शास्त्र के अनुसार 'जिउस' (Zeus) शब्द की व्युत्पत्ति 'Dios' से होती है, अतः यह मानने मे कोई शका नहीं रह जाती कि यूनानियों का सबसे मुख्य देवता 'जिउस' वैदिक 'द्यौस्' का ही अपभ्रश है। यूनानियों को छोड़िए, रोमन लोगों के यहाँ भी 'इंद्र' देवता की पूजा होती दिखाई देती है। रोम का मुख्य देवता 'जुपिटर' (Jupiter) था। यह 'जुपिटर' 'द्युपितर' या दिवस्पितर' नही तो और क्या है? इंद्र देवता ही 'जिउस' नाम से यूनान मे तथा 'जुपिटर' नाम से रोम मे पूजा जाता था—इसमें क्या अब भी कुछ संदेह रह जाता है? इन सब शब्दो की पारस्परिक समता विलक्षण है, उसे देखकर किसी तरह वह आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त इन भिन्न देवताओ को समान भी तो इंद्र का-सा ही दिया गया है! इन सबसे काम भी वे ही कराए गए हैं। रोम के प्रसिद्ध कवि 'ओविड' ने जुपिटर को देवताओ मे मुख्य दरसाया है। सारी देव-मडली उसे अपना मूर्द्धन्य मानती है। जुपिटर बारबार बिजली की-सी गर्जन करता है। स्मरण रहे कि इद्र भी 'वज्री' है—'वज्र' अर्थात् 'विद्युत्' का शस्त्र धारण कर नभोमडल मे हृदय को कँपा देनेवाला घनघोर नाद किया करता है। 'ओविड' ने जुपिटर को आचार मे भी शिथिल दिखाया है। जब हम स्मरण करते हैं कि इंद्र के दरबार मे भी अप्सराओ की भरमार रहा करती थी—वह दूसरों को आचारभ्रष्ट करने के लिये प्राणपण से प्रयत्न किया करता था और साथ ही स्वय भी कई बार आचारभ्रष्टता के गढ़े मे गिरा था, तब तो हमे इस बात मे जरा भी सदेह नहीं रह जाता कि यह 'जुपिटर' पुराणों का इद्र-देवता ही है। इसलिये हिदुओ का 'इंद्र' ही यूनानियों का 'जियस' अथवा 'जिउस' (Zeus) और रोमनो का 'जुपिटर' है—ये दोनों इद्र-देवता के ही दूसरे नाम हैं। इनके अतिरिक्त यहूदियों का 'जिहोवा' (Jehovah) भी 'द्यौः' का ही अपभ्रश मालूम पड़ता है। जिस प्रकार 'द्यौः' का अपभ्रश 'जियस' हो सकता है, उसी प्रकार 'जिहोवा' भी हो सकता है। शब्द की समानता तो इस कल्पना मे समर्थक है ही, 'जिहोवा' का वर्णन भी उसे हिंदुओं के 'द्यौः' (इंद्र) का ही अपभ्रश सिद्ध करता है। यहूदियों के पुराने अहदनामे (Old Testament) मे 'जिहोवा' का वर्णन बादल, आग और बिजली के रूप मे पाया जाता है। पुराना अहदनामा इस विषय मे तो कम से कम बड़ी परिपुष्ट समति देता है कि 'जिहोवा' चाहे कोई भी हो, वह 'वैदिक देवता' तो अवश्य था। बाइबल की 'Exodus' पुस्तक के तीसरे अध्याय की चौथी आयत मे जिहोवा मूसा का सबोधन करके कहता है—"मेरा नाम I Am That I Am या I Am है।" इसके लिये जिन शब्दो का प्रयोग है वे ध्यान देने योग्य है। वे शब्द हैं—Ehyeh ashar ehyeh—अयः अशर अयः। पारसियों के जेदावस्ता मे परमात्मा अपने बीस नाम गिनाता हुआ प्रथम नाम 'अहमि' गिनाकर आगे चलकर 'अहमि यद् अहमि' नाम गिनाता है। पारसी-साहित्य से परिचय रखनेवाले पाठकों को विदित होगा कि सस्कृत का 'स' जिद भाषा मे जाकर 'ह' बन जाता है। इसलिये 'अहमि यद् अहमि' का रूप 'अस्मि यद् अस्मि' बनता है। यही नाम यहूदियों के यहाँ उस रूप मे पाया जाता है जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया; परतु प्रारभ मे यह यजुर्वेद से लिया गया। यजुर्वेद के दूसरे अध्याय का अठाईसवाँ मंत्र है—'इदमह य एवास्मि सोऽस्मि।' क्या यह वेद-मन्त्र और पारसियों का

'अह्मि यदह्मि' एक ही नहीं है ? यदि एक ही है ते मानना पड़ता है कि पारसियों तथा यहूदियों ने इसी मत्र के आधार पर अपने देवता का नाम 'अह्मि यदह्मि' (I Am That I Am) रक्खा। कम से कम इसमे सदेह नही रह जाता कि यहूदियों का 'जिहोवा' कोई न कोई वैदिक देवता अवश्य था। अतएव जो कुछ हम ऊपर लिख आए हैं उसके आधार पर हम यह कहने का साहस करते हैं कि वह देवता 'इद्र' ही था। इद्र ही का 'द्यौः' नाम यूनानियों के यहाँ 'जियस' हुआ, इद्र ही का 'दिवस्पितर' नाम रोमनों के यहाँ 'जुपिटर' हुआ और इद्र ही का 'द्यौः' नाम यहूदियों के यहाँ 'जिहोवा' हो गया!

धूम

उस अग्नि-शिखा के ऊपर वह क्या है काला-काला ?
क्या कमल-कोश पर है वह मँड़राती मधुकर-माला ?
या अग्नि-देव के धनु से निकला वह श्यामल शर है ?
या वह्नि-ताप से विकला पृथ्वी का केश-निकर है ?
या वायु-वेग से तृण के ये सार खिँचे आते हैं ?
उच्छ्वास दग्ध तृण के या ये विकल उडे जाते हैं ?
क्यो उमड रहे बादल-से हे धूम! अग्नि के ऊपर ?
दुखिया के लिये नहीं है क्या कही ठौर इस भू पर ?
हा-हा!! करते उत्पीड़ित जब काष्ठ अग्नि मे जलकर।
तुम दुख-गाथा क्या उनकी कहते अनत से जाकर ?
लख अपने सुहृद् तृणो को जलते, हे धूम सयाने!
चुपचाप चले जाते क्या नभ से वारिद को लाने ?

महंत धनराजपुरी
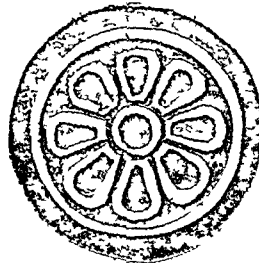
अप्रौढ़ हिंदी

श्री रामचंद्र वर्मा

कोई बारह-तेरह वर्ष की बात है। उन दिनो काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का कोश-विभाग साहित्य-चर्चा का एक बहुत अच्छा केद्र था। साहित्य-सबधी अनेक विचारणीय प्रश्न सामने आते थे और उन पर बहुत ही सुदर तथा समीचीन विचार होता था। वस्तुतः हिंदी-भाषा के सबसे बडे शब्दकोश का संपादन बिना इस प्रकार की छान-बीन के हो ही नही सकता था। कोश-विभाग मे जहाँ बहुत-सी प्रासगिक बातों का विचार होता था, वहाँ कभी-कभी कुछ अप्रासंगिक और ऐसी बातों की भी चर्चा छिड़ जाती थी जो कोश के विषय-क्षेत्र के बाहर होती थी। पहले मै ऐसा ही एक अप्रासगिक प्रसग बतलाता हूँ।

प्रयाग की 'सरस्वती' मासिक पत्रिका मे प्रकाशित एक कविता पर मेरी दृष्टि पड़ी। उस कविता का एक चरण इस प्रकार था—

"बन जाओ तुम प्रेम हमारे मजु गले का हार।"

इस चरण मे 'का' मुझे खटका। यदि किसी दूसरी पत्रिका मे मुझे इस प्रकार का कोई प्रयोग मिलता तो वह भी मुझे खटकता, पर उतना अधिक न खटकता जितना वह 'सरस्वती' मे प्रकाशित होने के कारण खटका था। उन दिनों 'सरस्वती' ही सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका समझी जाती थी और उसका संपादन परम श्रद्धेय आचार्य द्विवेदी जी के हाथो मे था। द्विवेदी जी की सबसे बड़ी प्रसिद्धि इस बात मे है कि वे जो कुछ लिखते या सपादित करते हैं, वह बहुत ही सतर्क होकर करते हैं। विशेषतः भाषा आदि की शुद्धता पर वे सबसे अधिक ध्यान रखते हैं। इसलिये मैंने यह चरण अपने परम प्रिय और मान्य मित्र तथा सहयोगी पंडित रामचद्र जी शुक्ल को दिखलाया। बहुत देर तक हम दोनो मे इस विचारणीय 'का' पर विचार होता रहा। साधारणतः समझ मे यही आता था कि यह 'का' ठीक नही है, इसके स्थान पर 'के' होना चाहिए। पर उन दिनों हम लोगो का कुछ ऐसा अभ्यास-सा पड़ गया था कि एक सामान्य बात को भी हम लोग नहीं छोड़ा करते थे और उसका पूरा-पूरा निर्णय करके ही साँस लेते थे। इसलिये ठीक इसी प्रकार के और इससे मिलते-जुलते बीसियों वाक्य हम लोगो ने बनाए। उनमे कही 'का' अच्छा जान पड़ता था और कही 'के'। बहुत देर तक वाद-विवाद होने पर अंत मे एक ऐसा सिद्धांत स्थिर हुआ कि ऐसे प्रयोगो मे किन अवसरो पर 'का' होना चाहिए और किन अवसरो पर 'के'। उसी अवसर पर यह भी जिक्र आया था कि ऐसी हिंदी बहुत ही कम देखने मे आती है जो व्याकरण और प्रयोगों आदि के विचार से बिलकुल शुद्ध और निर्दोष हो, और जिसमे किसी प्रकार का शैथिल्य न पाया जाता हो। हम लोगो की दृष्टि मे यह बात हिंदी के लिये एक कलक से कम नहीं थी, अतः हम

लोगों ने इस बात की ओर हिंदी-जगत् का ध्यान आकृष्ट करने का विचार किया। निश्चय हुआ कि हिंदी के सर्वश्रेष्ठ सोलह लेखको की चुनी-चुनी रचनाएँ और पुस्तके आदि एकत्र की जायॅ जिनमे से आठ लेखक स्वर्गीय हों और आठ जीवित। उन सब रचनाओ और पुस्तको को बहुत ध्यानपूर्वक पढ़कर उनमे से अशुद्ध, दूषित, शिथिल और विचारणीय प्रयोग आदि छाँटे जायँ और वे अपने विचारो के सहित पुस्तकाकार मे इस उद्देश्य से प्रकाशित किए जायँ कि विद्वान् लेखक उन पर भली भाँति विचार करे और उनमे से त्याज्य प्रयोगों का प्रचार रोका जाय। इस निश्चय के अनुसार हम लोगो ने आपस मे कुछ लेखक और उनकी रचनाऍ बॉट ली और उन्हे इस दृष्टि से पढ़ना भी आरंभ कर दिया, और शायद बहुत-से प्रयोग छाँटकर लिख भी लिए गए। पर भाग्यवश (?) हम दोनो ही आदमी सुस्त, ला-परवाह और निकम्मे थे, इसलिये थोडे ही दिनो मे हम लोगों का उत्साह मद पड गया और सारे विचार जहाँ के तहाँ पडे रह गए (!!!)।

हम लोगो का उक्त विचार तो पूरा न हुआ, पर इस विषय पर ध्यान बराबर बना रहा। तब से अब तक मुझे बीसियो-पचासो अच्छे लेखकों की प्रकाशित और अप्रकाशित कृतियॉ देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, पर दुःख है कि शुद्धता और निर्दोषिता की कसौटी पर पूरी उतरनेवाली भाषा के दर्शन कदाचित् ही कभी हुए हों। मेरे इस कथन का यह अर्थ न समझा जाय कि मुझे भाषा के पारखी होने का अभिमान है, और न यही अर्थ लगाया जाय कि मै बडे-बडे प्रतिष्ठित पूज्य और मान्य विद्वानों का किसी प्रकार अपमान करना या उन्हे उनके उच्च आसन से नीचे गिराना चाहता हूँ। मुझ-जैसे सामान्य और अल्पज्ञ मनुष्य को कभी स्वप्न मे भी इस बात का विचार नही हो सकता। पर वास्तव मे आज भी शुद्धता के विचार से हिंदी भाषा ठीक उसी स्थान पर है, जिस स्थान पर वह हम लोगो के उक्त निश्चय के समय थी, बल्कि मै कह सकता हूँ कि वह उस स्थान से कुछ और पीछे ही हटी है, आगे नही बढ़ी है।

हम हिंदी-सेवियो को इस बात का बहुत बडा अभिमान है, और एक बहुत बडी सीमा तक उचित अभिमान है, कि हम लोगो की भाषा राष्ट्रभाषा है। पर साथ ही हमे यह भी मानना ही पडेगा कि हमारी हिंदी अभी तक प्रौढ़ नही हुई है, वह अप्रौढ़ ही है। अँगरेजी को छोड दीजिए, भारत की ही बँगला, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि भाषाओ को लीजिए, और प्रौढता के विचार से हिंदी भाषा के साथ उनकी तुलना कीजिए तो आपको यह अंतर स्पष्ट रूप से मालूम हो जायगा। इनमे से किसी भाषा के दस-बीस लेखको की कृतियाँ ध्यानपूर्वक पढ जाइए। उनमे व्याकरण की अशुद्धियाँ और प्रयोगों की शिथिलताएँ शायद ही कही मिलेगी। उन लेखको की भाषाओ मे शैली आदि की कुछ निजी और विशिष्ट स्वतत्रताऍ अवश्य होंगी, पर व्याकरण और प्रयोगों के विचार से उन सबकी भाषाऍ एक ही साँचे मे ढली हुई मिलेगी। पर हिंदी मे, जहॉ तक मुझे दिखलाई देता है, यह बात नही है।

हिंदी को राष्ट्रभाषा प्रमाणित करनेवाली एक बात यह कही जाती है कि भारत के प्रायः सभी प्रांतो मे हिंदी के बहुत-से नए-नए लेखक निकल रहे हैं। इसमे सदेह नही कि यह लक्षण बहुत ही शुभ

और अभिनंदनीय है, पर यह बात भी निस्सदेह ही समझनी चाहिए कि यही तत्त्व हिंदी के प्रौढ़ होने मे बहुत बाधक हो रहा है। हिंदी आरंभ से ही एक बहुत बडे और विस्तृत क्षेत्र मे बोली जानेवाली भाषा है, अत: उसके लेखक भी स्वभावत: अनेक प्रांतो और देशो के होते हैं जो अपनी-अपनी मातृभाषा, रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार हिंदी लिखते हैं। और यही कारण है कि न तो सबकी हिंदी शुद्ध ही होती है और न एक-सी। यदि ऐसे लेखको को हम बिलकुल छोड़ भी दे और केवल उन्ही लेखको को ले जो हिंदी-भाषी प्रांतो के हैं और हिंदी-जगत् मे जिनका एक अच्छा और प्रतिष्ठित स्थान है, तो उनकी कृतियों मे भी ये दोष थोडी-बहुत मात्रा मे अवश्य ही पाए जाते हैं। चाहे आप किसी दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्र की भाषा देखे और चाहे किसी पुस्तक की भापा देखे, सबमे भाषा-सबधी शैथिल्य किसी न किसी मात्रा मे अवश्य ही पाया जायगा; और आदि से अंत तक एक-सी भाषा शायद ही किसी पत्र या पुस्तक मे मिलेगी। फिर सब पत्रों और सब पुस्तको की भाषा एक-सी होना तो बहुत दूर की बात है।

भाषा के अनेक अंगो पर बहुत दिनो तक विचार करने के उपरांत मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि अभी हमारी हिंदी भाषा अपने प्रारंभिक और अप्रौढ़ रूप मे है, और अभी उसके प्रौढ होने में बहुत कसर है। यह कसर अब तक कई महानुभावो को कई रूपो मे खटक चुकी है और उन्होंने इसे दूर करने के विचार से हिंदी-जगत् का ध्यान भी आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। पर दु:ख है कि इस प्रकार के प्रयत्न प्राय: अरण्यरोदन-से ही सिद्ध हुए हैं। हिंदी मे ऐसे लेखकों की बहुत ही कमी है जिन्हे हम 'सतर्क लेखक' कह सके और जो भाषा लिखते समय उसके सब अंगो पर उचित दृष्टि रखते हों। अधिकांश लेखक (और उनमे सपादक भी समिलित हैं!) ऐसे ही हैं जो भाषा पर बहुत ही कम ध्यान देते है। हिंदी मे जो नए लेखक उत्पन्न होते हैं, उनके लेखों से तो ऐसा जान पडता है कि वे भाषा पर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझते। मानों आरभ से ही उनकी ऐसी धारणा हो जाती है कि हिंदी लिखने के लिये कुछ सीखने-समझने और ध्यान रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उन बेचारो का भी इसमे विशेष दोष नहीं है; क्योंकि हिंदी लिखना आरंभ करने से पहले उन्हे पत्रो और पुस्तको आदि मे जो हिंदी पढ़ने को मिलती है, वह अधिकांश मे वैसी ही सदोष होती है। फल यही होता है कि जब जिसके मन मे जो कुछ आता है, वह वही लिख चलता है। कोई देखनेवाला नहीं, कोई सुननेवाला नही; कोई रोकनेवाला नहीं, कोई समझानेवाला नहीं।

मुझे हिंदी पढ़ने का रोग (आप चाहे तो उसे शौक कह ले) प्राय: अट्ठाइस-तीस वर्षों से है; और मै भाषा की सुंदरता का प्राय: आरभ से ही प्रशंसक और शौकीन रहा हूँ। पर मुझे तो शुद्ध और सुदर भाषा रुपए मे दो-चार आने से अधिक नही मिलती। मै तो इसे भाषा और लेखको का ही दोष समझता हूँ—लोग चाहे इसे मेरी समझ का ही दोष समझे। मै बहुत दिनो से एक बात की बहुत बड़ी आवश्यकता अनुभव करता आ रहा हूँ, और वह आवश्यकता यह है कि हिंदी मे कुछ ऐसे समालोचक होने चाहिएँ जो भाषा-प्रवाह को इस प्रकार दूषित और मलिन होने से रोके। किसी समय स्वर्गीय बाबू बालमुकुद जी गुप्त यह काम बहुत ही अच्छी तरह और बड़ी खूबसूरती के साथ करते थे।

इसके उपरात बहुत दिनो तक श्रद्धेय आचार्य द्विवेदी जी ने भी यह काम बहुत ही सुचारु रूप से किया था। पर एक तो इतने बडे और विस्तृत हिंदी-क्षेत्र मे एक-दो समालोचको से काम नहीं चल सकता और तिस पर आज-कल तो मैदान बिलकुल खाली ही पडा है और उसमे अधिकांश लोग मनमानी दौड लगाते हुए ही दिखाई पड़ते हैं। इस दौड पर एक अच्छा नियत्रण रखने की बहुत बडी आवश्यकता है। अपनी जिस भाषा को हम लोग राष्ट्रभाषा के उच्च सिहासन पर बैठा रहे हैं, वह भाषा उस सिहासन के अनुरूप ही सुदर, अलकृत और सर्व-गुण-विभूषित भी होनी चाहिए। यदि उसका रूप अस्थिर, अनियमित, अशुद्ध और फलतः हास्यास्पद हो तो क्या यह हिंदी-भाषियो के लिये लज्जा और दुःख की बात नहीं है?

वीर बाला

भृकुटि-विलास में निवास करने को नित्य आश लगी रहती है आशुतोष हर की।
'रसिकेंद्र' लालसा सुरेंद्र की है पलको की, पूतरी कहाने की है कांक्षा नटवर की॥
बार-बार वासना वरुण की है वरुणी की, कोए बनने की कामना है पंचशर की।
वीर रमणी की दृग-ज्योति बनने के लिये तप करती है दिव्य दीप्ति दिनकर की॥

द्वारकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेंद्र'

The Future of Hindi Literature

PROFESSOR P SESHADRI

Principal, Government College, Ajmer

IT is with some reluctance that I venture to write on the subject of the future of Hindi literature, as I cannot claim any scholarship in the subject, and my outlook should be looked upon only as that of a detached outsider, though with great appreciation for the language It has always been noticed that excellence in prose only follows progress in poetry in the history of any language It is not surprising that a similar phenomenon is found in the Hindi language of to-day Laudable efforts have been made, in recent years, at the production of Hindi prose the present movement for political education and the progress of Hindi journalism have undoubtedly helped this advancement. However, it still appears to me that the evolution of a vigorous, popular prose style eminently suitable for every-day expression, for the art of letter-writing, for the use of journalism, and for employment on the pulpit and the platform, in short, for what Lord Morley has called "the journeyman work of literature" is one of the essential problems for the future.

It is, perhaps, worth while drawing attention to the fact that the genius of prose is essentially different from the genius of poetry, and the aim of the prose-writer should be not so much ornamentation as clarity of expression An English writer has drawn the distinction with some appropriateness between poetry as "the language of power" and prose as "the language of knowledge." The French masters, more than the prose-writers of any other country, have realised this and it is good to instil this truth constantly into the minds of aspiring Hindi writers It is also, perhaps, good to realise that in every good literature the evolution of prose style must be from the complex to the simple, from cumbrousness of expression to the force and vigour of straightforward prose. The Hindu writer is undoubtedly apt to colour his Hindi with the vocabulary of Sanskirt, but care should be taken at the same time, not to make the style so learned and unpopular as to be beyond

the reach of the average reader speaking the daily language Nothing can be more fatal to the spread of a literature than a great disparity between the spoken and the written language

Another direction in which the Hindi language should progress in the future is the adoption of the Social Drama As a student of poetry, I can never underestimate the value of romance and idealism in life, but at the same time attention must be invited to the fact that the great problems of life and society, as we see around us, are awaiting expression in dramatic literature It is now nearly a century since Europe divested itself of its glamour for romance, and recent dramatists have struggled hard to see the poetry and tragedy of every-day life in their productions. During my acquaintance with Hindi dramatic literature, as the president of more than one dramatic association in Northern India, I have noticed the distressing fact that we have yet to produce valuable literature in the direction I am not unaware of the specimens that exist already, but I have no hesitation in saying that they are not particularly valuable, either from the standpoint of the theatre-goer, or that of the student in his closet. It becomes difficult for the Oriental mind to discard the allurements of romance, but as kings do not go out hunting to-day and fall in love with maidens in hermitages, they should recognise the facts of life and regale our audiences with facts with which they are familiar and which have a deep import for human happiness

Again, in the early stages of the evolution of a literature, translations naturally play a great part. I am not one of those who despise the value of translations in accordance with the Italian proverb which brands all translators as traitors Some of the greatest books in the world have exercised their influence on millions only by translations. *The Bible*, *the Imitation of Christ* of Thomas à Kempis and the *Meditations* of Marcus Aurelius are standing examples of great classics appealing not merely to the mind, but also to the heart and soul, largely by means of translations all over the world At the same time, no literature can afford to become great unless it aspires to give expression to the genius of its own people, without relying almost entirely on translations

A good deal of contemporary Hindi literature unfortunately seems to suffer from a certain want of self-confidence The bulk of it seems to consist of translations

or adaptations either from Sanskrit, or from English, or from Bengalee across the border of the Hindi-speaking country Being the basis of our priceless heritage from the past Sanskrit must obviously exercise its fascination on every Hindi writer of today The contact with English and Western languages must also obviously stimulate new literary aspiration The growing sense of nationality in India must lead writers to transcend provincial limitations. But there must be a bold ambition, at the same time, to take one's stand on the peculiar genius of the language and its people and speak as an original voice and not as a mere echo. It is not that the people who speak Hindi and live on the banks of the two great rivers of Northern India, the Jumna and the Ganges, are devoid of originality of thought or expression, but they still seem to be mesmerised by the glory of what is foreign or what is merely ancient

May this volume, intended as a tribute to a great Hindi writer, evoke new courage and hope and make the people write with greater self-reliance in the future than in the past!
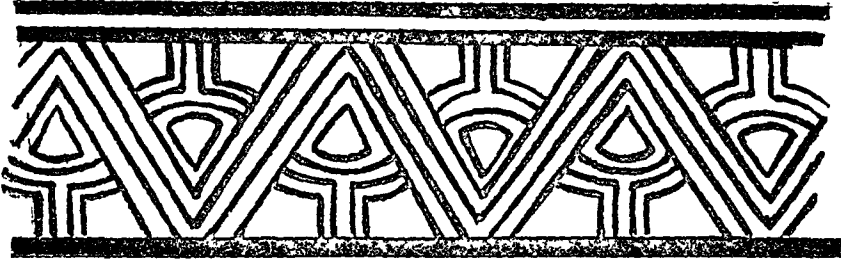
विक्रमशिला-विद्यापीठ

अध्यापक शंकरदेव विद्यालंकार

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥"—मनुः

ईसवी सन् की पाँचवी सदी के आरभ मे सुप्रसिद्ध चीनी यात्री 'फाहियान' भारत मे आया था। उस समय नालदा-विश्वविद्यालय पूर्ण रूप से तैयार नही हो पाया था। सातवी सदी मे 'हुएनसॉग' और 'इत्सिंग' ने भारत मे आकर नालदा-विद्यापीठ के प्रख्यात आचार्यों से सस्कृत भाषा तथा बौद्ध शास्त्रो का अध्ययन किया। हुएनसॉग ने 'विक्रमशिला-विद्यापीठ' का लेशमात्र भी उल्लेख नही किया है! इससे स्पष्टतया यह प्रतीत होता है कि या तो उस समय विक्रमशिला का अस्तित्व ही न होगा या तत्कालीन विद्याक्षेत्रो मे इसका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान ही न रहा होगा। 'इत्सिग' दस वर्ष तक नालदा मे रहा था, पर उसने भी विक्रमशिला-विद्यापीठ का कोई उल्लेख नहीं किया है! इससे सिद्ध होता है कि उसके समय मे नालंदा-विश्वविद्यालय की बडी महिमा थी और विक्रमशिला-विद्यापीठ सर्वथा अप्रसिद्ध था। इसके अतिरिक्त इत्सिग द्वारा वर्णित नालदा के वृत्तात से हमको ज्ञात होता है कि वहाँ बौद्धधर्म के कर्मकांड पर विशेष ध्यान दिया जाता था और भगवान् बुद्ध के नैतिक शासन एवं तत्त्वज्ञान पर बहुत ही कम—नही के बराबर। इस प्रकार नालदा दिन-दिन निर्बल और निस्तेज होता जा रहा था और उसका स्थान गौड-राजा धर्मपाल द्वारा सस्थापित विक्रमशिला-विद्यापीठ ने ले लिया था। सस्कृत के 'स्रग्धरा-स्तोत्र' की टीका मे तथा 'बृहत्-स्वयभु-पुराण' मे विक्रमशिला का उल्लेख मिलता है। सन् ८१० ईसवी मे उत्कीर्ण खालिपुर की प्रशस्ति मे धर्मपाल का वर्णन 'परम सौगत, परम महेश्वर, परम भट्टारक' महाराज के रूप मे किया है।

नालदा के अपकर्ष के उपरांत विक्रमशिला का उत्कर्ष प्रारभ हुआ। कुछ काल तक दोनों मे आतरिक व्यवहार भी चलता रहा। तिब्बत के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ 'तारानाथ' के कथनानुसार विक्रमशिला के अध्यापक नालंदा की देखरेख करते थे। चार शताब्दियों तक विक्रमशिला बड़ी ऊर्जितावस्था

मे रहा। राजा धर्मपाल के समय इस विद्यापीठ मे एक सौ आठ अध्यापक विद्यमान थे। इसको राजाश्रय भी प्राप्त था। इसके प्रबध के लिये छः सदस्यो की एक समिति थी। इस समिति का सभापति धर्माचार्य ही होता था। विद्यापीठ से पढकर निकलनेवाले विद्यार्थियों को राज्य की ओर से 'पडित' की उपाधि मिलती थी। कार्डिनल न्यूमेन और कारलाइल ने एक विश्वविद्यालय के लिये जिन विशेषताओ और लक्षणो को अनिवार्य वताया है, वे सव विक्रमशिला मे पूर्णतया विद्यमान थे। स्वर्गीय अध्यापक यतीद्रनाथ समाद्दार का कथन है कि विक्रमशिला की व्यवस्था नालदा से भी ऊँची और अच्छी थी। हाँ, नालदा की भाँति यह अपना व्यापक प्रभाव नहीं वना पाया था। यहाँ भी उत्तम ग्रथो का एक विशाल सग्रहालय विद्यमान था। इसका प्रांगण इतना विस्तृत था कि उसमे आठ सहस्र मनुष्य वैठ सकते थे। नालदा की तरह इसके भी चारो ओर सुदृढ प्राचीर वनाई गई थी। प्रधान प्रवेशद्वार की दाहिनी ओर 'आचार्य नागार्जुन' का चित्र अंकित था और वाई ओर 'आचार्य अतिश' का। प्राकार के वाहर, दरवाजे के समीप, अतिथिशाला वनी हुई थी—प्रधान द्वार के वंद हो जाने पर विलब से आनेवाले अतिथियो को उसमे आश्रय दिया जाता था।

वर्त्तमान समय मे विक्रमशिला का स्थान ढूँढ निकालना वहुत दुष्कर हो गया है। इसके स्थान-निर्णय के लिये नाना प्रकार के अनुमान किए जा रहे है। स्वर्गीय अध्यापक फणीद्रनाथ वसु ने 'बौद्ध विद्यापीठो के भारतीय शिक्षक' नामक अपनी पुस्तक मे लिखा है कि विहार-प्रांत के भागलपुर जिले मे, गंगा के तीर पर, एक ऊँचे टीले के ऊपर, 'विक्रमशिला' स्थित था। दिवंगत इतिहासज्ञ नदलाल दे महोदय ने कही 'पत्थरद्वार' के समीप इसकी स्थिति वताई है। स्वर्गवासी महामहोपाध्याय श्री सतीशचद्र विद्याभूपण के मतानुसार भागलपुर जिले के सुलतानगज नामक स्थान मे ही विक्रमशिला-विद्यापीठ था। कहा जाता है कि सुलतानगंज मे गगा-तटस्थ गडशैल पर जो पुरानी मसजिद है वह विक्रमशिला के ध्वंसावशेष पर वख्तियार खिल्जी द्वारा वनवाई गई थी; किंतु विक्रमशिला-विद्यापीठ के विस्तार का विवरण देखने से इस जनश्रुति मे कोई तथ्य नहीं मिलता। जिन इतिहासवेत्ताओ का यह मत है कि भागलपुर जिले के 'कहलगाँव' नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान से थोडी ही दूरी पर विक्रमशिला का भग्नावशेष गगा के किनारे विद्यमान है, वे भी निश्चित रूप से अपने मत पर स्थिर नहीं देख पडते। किंतु जिस प्रकार नालदा के खँडहरो की खुदाई से भूगर्भ मे छिपा हुआ सत्य प्रकट हुआ है उसी प्रकार विक्रमशिला-सवंधी सदिग्ध टीलो और स्तूपो की खुदाई से ही अंत मे वास्तविक सत्य प्रकट होगा।

विक्रमशिला-महाविहार के मध्य भाग मे 'महावोधि' की मूर्त्तियाँ विद्यमान थीं। विहार के अंदर एक सौ सात चैत्य थे। अध्यापकों और विद्यार्थियों को राज्य की ओर से सब तरह की सुविधाएँ प्राप्त थीं। उन्हे राज्य के भांडार और कोष से अन्न-वस्त्रादि प्राप्त होते थे। शिक्षण-विषयक व्यवस्था के लिये विद्वान् अध्यापकों का एक मंडल वना हुआ था। तारानाथ का कथन है कि नालदा के काम-काज पर उक्त अध्यापक-मडल का ही निरीक्षण रहता था। यदि यह कथन यथार्थ हो तो मानना पड़ेगा कि इन दोनों विद्यापीठो मे सहयोग विद्यमान था और दोनों ही राजा धर्मपाल की अध्यक्षता मे

चलते थे। संभव है कि नालंदा के पुराने विद्यापीठ की व्यवस्था का कार्य-भार राजा ने ही इस नवीन विद्यापीठ (विक्रमशिला) के अधिकारिवर्ग को सौंप दिया हो। कितनी ही बार 'आचार्य दीपकर' और 'अभयकर गुप्त'-सरीखे समर्थ विद्वान् दोनो विद्यापीठो का कार्य-सचालन करते थे। उपर्युक्त अध्यापक-मडल मे ये विद्वान् कार्य करते थे—(१) 'रत्नव्रज'—ये काश्मीरी ब्राह्मण थे। इनका मूल नाम 'हरिभद्र' था। इन्होने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। विद्यापीठ मे 'द्वारपंडित' के पद पर नियुक्त किए गए थे। (२) 'आचार्य जेतारि'—ये मजुश्री के भक्त थे। राजा महीपाल ने इनको 'राजपडित' की उपाधि प्रदान की थी। ये महान् नैयायिक थे। (३) 'रत्नकीत्ति'—ये 'पडित' नाम से विख्यात थे। इन्होने प्रसिद्ध न्यायशास्त्राचार्य वाचस्पति मिश्र के सिद्धांतो का खडन किया है। (४) 'रत्नाकरशाति'— ये उदतपुरी-महाविहार के 'सर्वास्तिवाद मत' के भिक्षु थे। ये भी विक्रमशिला के 'द्वारपंडित' बनाए गए थे। इन्होने शास्त्रार्थ मे तीर्थकों को हराया था। सिहलद्वीप के राजा के बुलाने पर, बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिये, वहाँ गए थे। इन्होने न्यायशास्त्र-सबधी ग्रथ लिखे हैं। (५) 'ज्ञानश्री मिश्र'—ये विक्रमशिला के एक आधार स्तभ थे। इनका जन्म गौड देश मे हुआ था। पहले इन्होने बौद्धधर्म के 'श्रावक मत' की दीक्षा ली थी। पीछे इनको महायान-संप्रदाय से प्रेम हो गया था। 'नरोप' नामक पडित जब विक्रमशिला मे आया था तब सवारी से उतरते ही उसने पहले आचार्य अतिश के दक्षिण तथा इनके वाम चरण मे अपना शीश झुकाया था।

कहते हैं कि नालदा मे एक ही द्वार तथा एक ही द्वारपडित था, पर विक्रमशिला मे छः द्वार तथा छ द्वारपडित थे, जो इस विद्यापीठ के भाग्य-निर्माता समझे जाते थे। इतिहासज्ञ तारानाथ के मतानुसार इन द्वार-पंडितो की स्थिति इस प्रकार थी—(१) दक्षिण द्वार पर 'प्रज्ञाकरमति'। (२) पूर्व द्वार पर 'रत्नाकरशांति'। (३) पश्चिम द्वार पर 'वागीश्वरकीत्ति'। (४) उत्तर द्वार पर 'नरोप'। (५) मध्य स्थान पर 'रत्नव्रज'। (६) द्वितीय मध्य द्वार पर 'ज्ञानश्री मिश्र'। ये ज्ञानश्री मिश्र ही आगतुक विद्यार्थियो की परीक्षा लेकर विद्यापीठ मे प्रविष्ट होने का आदेश देते थे। इतिहासज्ञो का ऐसा अनुमान है कि ये छः द्वारपडित विक्रमशिला के विभिन्न छः विद्यालयों (कालेजों) के आचार्य रहे होंगे। विद्यापीठ के प्रधान आचार्य के पद पर कोई प्रखर विद्वान् और धर्मनिष्ठ साधु नियुक्त किया जाता था। राजा धर्मपाल के समय मे 'आचार्य बुद्धज्ञानपाद' उक्त पद पर आसीन थे। ईसवी सन् १०३४ से १०३८ तक विक्रमशिला का सब प्रकार का कार्यभार आचार्य दीपंकर के हाथो मे था। इन सब पडितो मे दीपकर की बडी महिमा थी। इनका जन्म गौड राजघराने मे, वग देश के विक्रममणिपुर मे, सन् ९८० ई० मे हुआ था। इनके पिता का नाम 'कल्याणश्री' और माता का 'पद्मावती' था। बालपन मे ही विद्याभ्यास के लिये ये 'अवधूत जेतारि' के पास भेज दिए गए। इन्होने हीनयान और महायान दोनों पथो के सिद्धांतो का अध्ययन किया था। माध्यमिक और योगाचार के तत्त्वज्ञान तथा तन्त्रविद्या मे भी ये बहुत प्रवीण थे। उदतपुरी-विद्यामठ के आचार्य 'शीलरक्षित' ने इनका नाम 'दीपकर श्रीज्ञान' रक्खा था। सुवर्ण-द्वीप के आचार्य 'चद्रकीति' के पास इन्होंने बारह वर्ष तक विद्याभ्यास किया था और फिर ताम्रपर्णी होकर ये मगध में आए थे। इसके बाद राजा 'नयपाल' की

प्रार्थना से इन्होने विक्रमशिला का आचार्य-पद अंगीकृत किया था। इनकी कीर्त्ति देश-देशांतर मे फैली हुई थी। उन दिनों तिब्बत मे बौद्धधर्म मे कई प्रकार के विकार प्रविष्ट हो गए थे। उन्हे दूर करने की आवश्यकता थी। तिब्बत के राजा ने धार्मिक सुधार के निमित्त आचार्य दीपंकर—अतिश—को निमन्त्रण देने के लिये 'नाग-चॉ' नामक एक राजदूत को भेजा था। जिस समय वह राजदूत आचार्य अतिश को बुलाने के लिये विक्रमशिला मे आया उस समय इस विद्यापीठ मे एक धर्मपरिषद् हो रही थी। इस विराट् समारोह मे भाग लेने के लिये भिन्न-भिन्न वर्गों के आठ सहस्र भिक्षु पधारे थे। आचार्य अतिश के दर्शन करने के लिये 'नाग-चॉ' तरस रहा था। वह अपने वृत्तांत मे लिखता है—

"प्रभात का सुहावना समय था। सब भिक्षुगण अपने-अपने स्थानों पर आसीन थे। मैं विद्यार्थियों के बीच मे बैठा हुआ था। परिषद् मे सबके यथास्थान बैठ जाने पर सबसे पहले माननीय विद्याकोकिल पधारे। इनकी आकृति बहुत भव्य थी। उन्नत और अचल सुमेरु के समान ये आचार्य एक ऊँचे आसन पर दृढ़ता से बैठे हुए थे। अपने पास बैठे हुए एक व्यक्ति से मैने प्रश्न किया—'क्या ये ही भगवान् अतिश हैं ?' उत्तर मिला—'अरे आयुष्मन्! यह तुम क्या कहते हो ? ये तो पूज्य आचार्य विद्याकोकिल हैं! ये आचार्य चद्रकीर्त्ति की शिष्य-मंडली के एक रत्न है !' तब मैने विद्वन्मडली मे एक किनारे बैठे हुए एक दूसरे आचार्य की ओर अंगुलि-निर्देश करके पूछा—'ये तो आचार्य अतिश नही ?' उत्तर मिला—'ये तो आचार्य नरपत हैं! धर्मज्ञान मे इनका कोई सानी नही है!' मैं आचार्य अतिश के दर्शन के लिये अपनी आँखों को इधर-उधर फिरा रहा था। इतने में विक्रमशिला के राजा पधारे और एक ऊँचे आसन पर बैठ गए। मैने देखा, उनके आने पर छोटा या बड़ा कोई साधु खडा न हुआ! इसके बाद धीर-गभीर मुखमुद्रावाले एक और पडित मद-मद गति से पधारे। सुवासित द्रव्यो से इनका स्वागत करने के लिये बहुत-से युवक-गण तथा स्वय राजा भी अपने स्थान से उठा। राजा को उठते देख अन्य कई साधु और पडित भी उठ खडे हुए। इनका इतना समान देखकर मैंने सोचा, ये अवश्य ही कोई राजर्षि या मान्य स्थविर हैं, अथवा आचार्य अतिश तो नही हैं ? परंतु पूछने पर विदित हुआ कि ये तो 'आचार्य वोरवज्र' हैं! अस्तु, जब सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ गए तब परम पूज्य भगवान् अतिश पधारे! सारी सभा एकटक उनकी ओर निहार रही थी। उनको देखते-देखते मन अघाता न था। मद-मद मुस्कुराती हुई उस अति भव्य आकृति ने सारी सभा को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। उनकी कमर से कुजियों का एक गुच्छा लटक रहा था। भारतीय, नैपाली, तिब्बती, सबके सब बड़े ध्यान से उनकी तेजस्विनी मुखाकृति निहार रहे थे।"

'नाग-चॉ' आगे लिखता है—"दूसरे दिन, प्रभात मे, प्रभु अतिश जहाँ गरीबों को अन्न-दान दे रहे थे, मै वहाँ जा पहुँचा। देखा, एक बालभिक्षुक अपना हिस्सा न पाने के कारण आचार्य के पीछे-पीछे दौड़ता हुआ कह रहा है—'हे नाथ अतिश! मुझे भी भात दीजिए! मुझे भी भात दीजिए!' यह करुणार्द्र वाणी सुनते ही मेरे लोचन हर्षाश्रु से भर आए। मै आचार्य अतिश के पीछे-पीछे जा रहा था। मेरा मन तो उन्हीं मे लगा हुआ था। इतने मे उन्होने मुझे पहचान लिया। बोले—'हे आयुष्मन्!

बुद्ध का प्रत्यागमन
चित्रकार—श्री० कनु देसाई
(चित्रकार के सौजन्य से)

तुम तिब्बती लोग बडे सच्चे हो, आँसू न गिराओ। तुम्हारे लिये मेरे हृदय मे बहुत आदर है। हिम्मत न हारकर मुझे तिब्बत मे ले जाने के लिये तुम पुनः यहॉ आए हो। कहो, क्या समाचार है?' अहा! आचार्य अतिश के ये वचन सुनकर मेरे आनद का पार न रहा!"

इसके अनतर राजदूत 'नाग-चॉ' और आचार्य अतिश के बीच, तिब्बत मे बौद्ध धर्म की स्थिति के विषय मे, बहुत देर तक चर्चा होती रही। नाग-चॉ ने तिब्बत मे आने के लिये अतिश से प्रार्थना की। अतिश ने कहा—'मै अब बहुत वृद्ध हो गया हूँ। इन विद्यामठो की कुजियाँ मेरे हाथ में हैं। अभी यहाँ पर बहुत-कुछ काम करना बाकी है। तुरत ही तिब्बत-प्रयाण के निमित्त निकलना मेरे लिये बहुत कठिन है।' तब फिर अतिश के आज्ञानुसार यह तिब्बती एलची विक्रमशिला मे तीन वर्ष तक बौद्ध शास्त्रो का अध्ययन करता रहा। अंत मे विक्रमशिला के व्यवस्थापको के साथ बातचीत करके अतिश ने तिब्बत जाने का निश्चय किया। मार्ग मे अतिश की मडली ने, भारत और तिब्बत की सीमा पर बने हुए एक विहार मे, पडाव डाला। वहाँ के श्रमणो ने अतिश से विनयपूर्वक कहा—'भगवन्, आप तिब्बत जाएँगे तो भारतभूमि मे बौद्ध धर्म का सूर्य अस्त हो जायगा।' परतु विक्रमशिला के संघ के निर्णय को ही कायम रखकर अतिश ने आगे प्रस्थान किया। मानों अतिश के गमन के साथ ही बौद्ध धर्म ने भी भारत से विदा ले ली! तिब्बत मे अतिश को राजा और प्रजा की ओर से महान् समान प्राप्त हुआ। उनकी अध्यक्षता मे रहकर तिब्बत के धर्मगुरुओ ने बौद्ध धर्म का सच्चा रहस्य जाना। अपने तेरह वर्ष के प्रवास-काल मे अतिश ने भिन्न-भिन्न स्थानों मे घूमकर बौद्ध धर्म के पुनर्विधान का कार्य किया। महायान-पथ के पुनरुद्धार-कर्त्ता आचार्य अतिश ने 'लासा' के समीप 'नेथाण' नामक स्थान मे, इकहत्तर वर्ष की अवस्था मे ही, निर्वाण-पद प्राप्त किया। उनके लिखे हुए ग्रथों मे 'बोधिपथ-प्रदीप' नामक ग्रथ सर्वोत्तम गिना जाता है।

विक्रमशिला का पाठ्यक्रम नालदा के समान व्यापक नही था। यहाँ पर तत्रविद्या विशेष रीति से सिखाई जाती थी। इस काल मे बौद्ध धर्म मे तत्रविद्या का विषय लोगों को बहुत प्रिय था। इसके अतिरिक्त व्याकरण, अध्यात्मविद्या और न्यायशास्त्र की भी यहॉ अच्छी पढ़ाई होती थी। न्याय-शास्त्र मे यहॉ के बहुत-से अध्यापक अत्यत प्रवीण थे। यहॉ के द्वारपडित भी बडे समर्थ नैयायिक थे। इससे सिद्ध होता है कि उन दिनों तत्रविद्या और न्यायशास्त्र दोनों ही विशेष रूप से लोकप्रिय थे। नालदा और विक्रमशिला के शिक्षण के विषय मे यह बात खास तौर से ध्यान देने योग्य है कि वहाँ प्रत्येक विद्यार्थी एक भिक्षु को अपना गुरु चुनकर, उसका अतेवासी बनकर, रहता था। गुरु तथा शिष्य का हार्दिक सबध था। 'महाबग्ग' के कथनानुसार शिष्य को आचार्य पुत्रतुल्य मानता था और शिष्य भी गुरु को पितातुल्य। दोनो मे परस्पर स्नेह, श्रद्धा, विश्वास और आदर-भाव विद्यमान था।

ईसा की पॉचवी शताब्दी मे सरस्वती-देवी के शत्रु-रूप हूण लोगो ने तक्षशिला के विश्वविदित महान् विश्वविद्यालय का विनाश किया था। फिर ईसा की बारहवी शताब्दी के अत मे ज्ञान और सभ्यता के केंद्र-रूप इन महान् विद्यापीठो—नालदा, विक्रमशिला और उदतपुरी—का सर्वनाश मुसलमान आक्रमण-कारियों द्वारा हुआ! विक्रमशिला के विनाश के समय मे यहाँ के आचार्य काश्मीरदेशीय पडित 'शाक्यश्री'

थे। डॉक्टर कर्न के मतानुसार मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा ही विक्रमशिला और उदंतपुरी के विद्यामंदिर विनष्ट हुए और यहाँ के कुछ साधु तथा पडित मारे गए और कुछ अन्यत्र भाग गए। आचार्य शाक्यश्री उत्कल (उडीसा) चले गए और वहाँ से उन्होने तिब्बत की ओर प्रस्थान किया। 'रत्नरक्षित' नैपाल चले गए। बुद्धमित्र और अन्य श्रमण दक्षिण-भारत की ओर चले गए। सगमश्री-ज्ञान और उनके कतिपय अनुयायी ब्रह्मदेश तथा कबोडिया चले गए। सच तो यह है कि इतिहास का क्रम सर्वत्र एक-सा ही है। जिस प्रकार कुस्तुतुनियाँ से बहिष्कृत होकर यूनानी लोग अपनी ज्ञानसमृद्धि और कला इटली आदि देशों मे ले गए थे, ठीक उसी प्रकार विक्रमशिला और उदंतपुरी के पंडित तथा श्रमण जहाँ-जहाँ गए वहाँ-वहाँ अपनी विद्या और कला भी लेते गए। दक्षिण-भारत के राज्यो और तिब्बत मे गए हुए बौद्ध साधुओं का अच्छा सत्कार हुआ। उन्हे राजाश्रय भी प्राप्त हुआ। विशेषत: विजयनगर, कलिग और कोंकण मे जाकर बौद्ध पडितों ने छोटी-छोटी पाठशालाएँ स्थापित कीं। मुसलमानों की भयकर चढ़ाइयों से बौद्ध धर्म को जो गहरा आघात लगा, वही उसके विनाश का कारण हुआ!
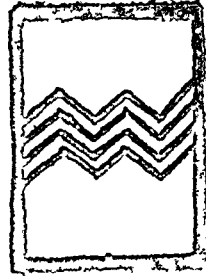
दूसरी दिशा को

चलो चले अब ऐसी ओर—
  जहाँ स्वच्छ आकाश रहे नित, दिङ्मडल हुलसाता हो।
  प्रेम-वारि को ही हो वर्षा, कष्ट न कोई पाता हो॥
कभी सुनाई दे न जहाँ पर दीन पपीहे का वह गान।
सुन जिसको विरही बालाएँ रो-रोकर देती हैं प्रान॥
  सदा लगे ही रहे आम्र मे जहाँ प्रेम के मंजुल मौर।
  जहाँ न छिन जाते हो दुखिया दीन जनों के मुख के कौर॥
जहाँ प्रकृति हो निजी रूप मे, मानव-कर का काम न हो।
नर-समीप खेलें मृग-छौने, भय-शंका का नाम न हो॥
  जहाँ चकोर चद्र हो जावे, और चद्र स्वयमेव चकोर।
  जिसकी मुग्ध दृष्टि लखकर हो मन सकरुण आनद-विभोर॥

पद्मकांत मालवीय

झिल्ली-रव

प्रोफेसर बळवंत गणेश खापर्डे, कविभूषण

चाल—फटका

दाट किती हे कानन भरले, 'रातकिडा' हा नित बोले।
दिवस असो वा, रात्र असो वा, गायन ह्याचे नित चाले॥
श्रम नच भासे, थावे नच तो, गायन त्याचे सपे ना।
अनत गातां त्याची तृप्ती जणो तरीही होई ना ! ॥ ध्रु० ॥
ग्रीष्मऋतूचा कहर उसळला, जगत भाजुनी निघताहे।
उष्ण इतरत: वायु, परी हा शीतल ह्या काननि वाहे॥
दोन प्रहरच्या दाट पसरल्या छाया, वन हे जणु निजले।
वनदेवीचे चित्त जणो का ध्यानीं गढुनी अजि गेले॥
जरीहि हलले हळूच हलती तळी कवडसे जे पडती।
वनदेवीच्या ध्याननिमग्ना मना जणू ते बहु जपती॥
पाला पडला खाली, सुकला, आज तोहि हो हळु हाले।
वनदेवीची जणो समाधी नच भंगो हे त्यासि कळे॥
निर्झर झुळु झुळु हळूच बोले, कानगोष्टि जणु करिताहे।
निजता माता बालक जवळी खेळे, हळु परि हसताहे॥
पक्षिहि पर्णी लपुनो, माना वळवुनि, चोची खोचुनिया—।
पंखामाजी, झोपी गेले, भास देविना नच व्हाया॥
मदोन्मत्त हत्तीही भंगिति नूतन शाखा नच आतां।
मघा मोडिल्या शाखा सोलुनि खाती ते झुलतां झुलतां॥
भृंग, गुंजना सोडुनि, लपुनी, सुमकोशी झोपी गेले।
स्वस्थ बैसले छायेमाजी हरिण चरोनी जे आले॥
परी इथे उद्दामपणाने झिल्ली-रव हा नित चाले।
मद न होता रव त्याचा, त्या जणो अधिकही बळ आले ! ॥
वनदेवी उद्दामपणा कां ऐसा त्याचा सहतात ?।
रवे तयाच्या काय न त्यांच्या ध्याना त्रासचि मुळि होत ? ॥१॥
शुभ्र चंद्रिका असे पसरली शांत वनावरि ह्या सार्‍या।
गर्द खालती पडल्या छाया, किरणां वाट न तळि याया॥

जिथे शिरति ते पर्णामधुनी तेथुनि शुभ्र दिसे रेषा।
ऐशा रेषा शुभ्र ओवती, मधे तमी मी येथेसा॥
पाणकोंबडीं बुडति जलीं तै 'डुबुक' शब्द हा हळुं होतो।
शांत वेळि ह्या दुरुनि ऐकु ये, पक्षी जरि तो नच दिसतो॥
वृक्ष हालतां, घरटे हलतां, भिउनी किलबिल करितात—।
थोडीशी; परि वारा जातां फिरुनी पक्षी निजतात॥
वाळुनि पाने झडती खाली, टपटप कानां ऐकू ये।
फल पडतां जणुं गोटा पडला ऐसा शब्दहि होताहे॥
वन्यपशू कुणि हळूहि चाले तरि वाजे सुकला पाला।
सळसळ ऐसी जराहि होतां हरिण उचलिती मानेला॥
कळप तयांचा झोंपीं गेला; एक पहारा करिताहे।
कानोसा अति बारिक घेतो, कान रोखि, ऐकत राहे॥
मान तदा करि जरा वांकडी; कांहीं नाही बघुनीया।
जाय पुढे, करि प्रदक्षिणा तो कळपा, थांबुनि थांबुनिया॥
खूर तयाचे हळूच वाजति; पाला वाजे, अति जपतो।
आपण जागुनि, भीती दिसतां, सर्वत्रांना जागवितो॥
शब्द मंद हे, शब्द शांत हे, निःशब्दाच्या राज्यांत।
रातकिड्यांच्या इथे रवाला अधिकचि भरती कां येत? ॥२॥
दिव्य चेतना जगासि देतचि उषा येत जै गगनांत।
तारे विझुनी, फुले उमलुनी, गंधमत्त वाहे वात॥
नवचैतन्ये आंतुनि कोंदुनि जागृत होई नवसृष्टि।
जीवसृष्टि जडसृष्टिहि झेली चैतन्याची ही वृष्टि॥
टवटवीत आनंदित सारे,—चेतन फुटले व्यक्तांत।
व्यक्त चेतना हसे पहाटे पाहुनि विश्वी निज ज्योत॥
जिकडे पाहे तिकडे दिसते चैतन्या अपुली ज्योत।
जडांतही चैतन्य कोंदले! स्फुरणे विश्वा फुलवीत॥
ज्योति पेटली!—मंजु खगावलि किलबिल करते हर्षाने।
नवदीप्तीने गगन फाकले, वनहि झळकले तेजाने॥
तरुशिखरे उत्तुंग, बनुनिया सोनेरी रविकिरणांनी।
सरोवरी दिसती प्रतिबिंबे त्याची हलतां झुळुकांनी॥
तळ्यावरुनि जे पक्षी उडती बिंबे त्यांची पाण्यांत।
तयांसवे धावति, परि कांपति हलवी वीचि जसा वात॥

प्रभातकाळी पूर्वदिशेला उडत जधी हे खग जाती।
दीपावरि जणु पतग येती तसे तदा ते दिसताती॥
की तेजामधि विलीन व्हाया तपस्वीच ते जाताती।
मद समीरे वाहुनि त्याच्या गीतलहरि खाली येती॥
सरोवरी पर्वत, तरुराजी, नभवर्णासह पक्षीही।
दिसती शातपणे प्रतिबिंबित, कमळे जरि थोडी हलती॥
अशाहि वेळी काय खगाहुनि रातकिडा मजुळ बोले?।
का म्हणुनी उन्मत्त तयाचा किर्रर्र असा हा रव चाले?॥३॥
सायकाळी वन्यपशूही सरितेत्तटिं जे जल प्याले।
स्वस्थाना जायास निघाले, काहि रवे थोडे भ्याले॥
थोडे थबकुनि, माना उचलुनि, नीट निहाळुनिया, गेले।
ओस खोपटे दिवसभराचे पक्षिगणानी वसवीले॥
रात्रिभयाने पश्चिमगगनी उच तरूतुनि पाहियले—।
लपुनी त्यानी खिन्न मनाने अल्प वर्ण क्षितिजावरले॥
ग्रामातुनि नगरातुनि आले, मनुज सर्वही ते गेले।
पुष्प, गवत, लाकूड, जया जे हवे तयाने ते नेले॥
पदाऽघात त्याचेहि निमाले, कुन्हाड, बासरि, वाजे ना।
हाम्य लोपले, गाणे सरले, पशुना अपुल्या बाहति ना॥
हबरती नच गायी आता, वत्सास्तव धावत गेल्या।
जाता जाता जल प्याल्या तै उत्सुकतेने कमि प्याल्या॥
नेल्या नच त्या गो-पालांनी, वत्सप्रेमे त्या नेल्या।
गो-पालांनी द्रुत चरणांनी कशा तरी त्या अनुसरिल्या॥
धूळ उडाली चरणी त्यांच्या, गगनहि धूसर झालेसे—।
मंद दीप्तिने, पिंगट काळी कांती जगता आलीसे॥
रात्रिभयाने जग जणु भ्याले, रव विरले, तेजहि विझले।
मनुजांचे व्यापार सपले, खग मृग सारेही लपले॥
अशाहि काळी कर्कश ऐसा झिल्लीरव हा का चाले?।
शात वनीच्या शातिवरीं का क्रूर वीचि ह्याने हाले?॥४॥

रजत

कविराज प्रतापसिंह रसायनाचार्य

ससार मे रजत (चाँदी) का प्रयोग कब से आरभ हुआ, इसकी खोज करना पुरातत्त्ववेत्ताओ का काम है, किंतु इतना अवश्य हम लोगों को भी विदित है कि ससार की सभ्यता और राज्य-प्रबध-शैली के प्रचार के साथ ही साथ इस खनिज का प्रचुर उपयोग--मुद्रा, आभूषण, पात्र और औषध के लिये--होने लगा था। किसी समय 'चद्राकार' इसका सकेत माना जाता था। सभव है, अब इसी शब्द का अपभ्रश 'चाँद' और उसका स्त्रीलिग 'चाँदी' बन गया हो। आयुर्वेद मे तथा प्राचीन 'रसार्णव', 'रस-रत्न-समुच्चय' आदि ग्रथो मे, ओषधि-रूप से इसका वर्णन मिलता है। इसकी उत्पत्ति के विषय मे बड़े ही विचित्र विचार है। 'आयुर्वेद-प्रकाश' मे लिखा है—

त्रिपुरस्य वधार्थाय निर्निमेषैर्विलोचनैः। शिवो निरीक्षयामास क्रोधेन परिपूरितः॥
ततस्तूल्कासमभवत्तस्यै कस्माद्विलोचनात्। वीरभद्रोऽपरस्मात्तु गणे वह्निरिव ज्वलन्॥
तृतीयो ह्यश्रुबिन्दुस्तु लोचनादपतद्भुवि। तस्माद्रजतमुत्पन्न नानाभूमिषु सस्थितम्॥
भवति कृत्रिम चापि वङ्गादेः सूतयोगतः।

इस प्रकार के वर्णन से आज-कल इस खनिज का वास्तविक उत्पत्ति-ज्ञान होना सभव नहीं। इसलिये आधुनिक खोजो से जो व्यवहार चल रहा है उसका वर्णन करना उचित है। 'चाँदी' प्रकृति मे मुक्तावस्था मे पाई जाती है। ऐसे प्राकृतिक रजत मे सुवर्ण, ताम्र और अल्प मात्रा मे अन्य धातु भी मिले पाए जाते है। इसका यौगिक केवल एक है—रजत-गंधिद (Silver Sulphide), शेष सब अन्य धातुओ के यौगिक से प्राप्त किया जाता है, जिसमे मुख्य ताम्रगंधिद (Copper Sulphide), अजन-गधिद (Antimony Sulphide) और ताल-गधिद (Arsenic Sulphide) हैं। कभी-कभी यह चाँदी 'हरिद' (Silver Chloride) के रूप मे भी पाई जाती है, और सीसा (Lead) धातु के कुछ खनिज भी चाँदी के साथ मिलते हैं। बर्मा-प्रांत मे जो सीसा धातु के खनिज पाए जाते है उनमे प्रायः प्रति मन एक से ढाई तोले तक चाँदी मिली रहती है। सन् १९२१ ई० मे इस प्रकार के खनिजो से अठासी लाख की चाँदी प्राप्त की गई थी। मद्रास-प्रांत के अनंतपुर जिले मे और मैसूर के कोलर गोल्डफिल्ड की खानों से भी थोड़ी मात्रा मे चाँदी मिला करती है।

रजत निकालने की विधि—रजत के खनिजो को एकत्र कर उनमे अशुद्ध ताम्रगधिद और थोड़ा-सा साधारण नमक मिलाकर बारीक चूर्ण करते हैं। जब अच्छी तरह चूर्ण हो जाता है तब पारे के साथ भली भाँति मिलाकर घोटते हैं। ऐसा करने से चाँदी अपने यौगिक को छोडकर, पारे के साथ मिलकर, रजत-पारद का मिश्रण (Amalgam) बन जाती है। इसलिये इस विधि को 'पारद-रजन-क्रिया' भी कहते हैं। यह मिश्रण ठोस होता है। इसको फिर एक प्रक्रिया द्वारा निर्मित मिट्टी के घडो के भवके मे उडाते है, जिससे पारद दूसरे पात्र मे चुआ लिया जाता है और उसकी तली मे चाँदी रह जाती है, जिसे निकालकर जमा लेते हैं। आज-कल एक और विधि प्रचलित है, उसे 'रजत-स्यनिद-(Silver Cyonide)'-विधि कहते हैं। अधिकांश चाँदी इसी विधि से निकाली जाती है। इस विधि मे रजत के खनिज चूर्ण कर, पोटाशियम और सोडियम-सायानाइड के घोल के साथ, मिश्रित किए जाते हैं जिससे चाँदी पृथक् होकर रजत-स्यनिद (Silver Cyonide) के रूप मे परिणत हो घोल बन जाती है। इस घोल मे शुद्ध 'यशद' (जस्ता) के टुकडे डाले जाते हैं जिससे चाँदी पृथक् हो जाती है। सीसे के खनिज मे जो अत्यल्प मात्रा मे चाँदी मिली रहती है उसे पृथक् करने का ढग यह है कि रजत-मिश्रित सीसा धातु को पिघलाकर उसमे यशद धातु छोड़ देते हैं। सीसा धातु की अपेक्षा यशद धातु रजत को अधिक मात्रा मे घुलाती है, इसलिये सीसा धातु को छोडकर चाँदी—यशद के साथ मिश्रित होकर—पिघले हुए सीसे के ऊपर तैरने लगती है, क्योकि यह रजत-यशद का मिश्रण सीसे से हल्का हो जाता है। यह तैरती हुई तह छनौटे (perforated blades) से निकाल ली जाती है। शीतल होने पर यह जम जाती है। फिर भवके मे गरमाकर यशद को चुआ लेते हैं, और जो चाँदी भवके की तली मे रह जाती है उसकी फिर परीक्षा करते हैं। यदि उसमे सीसे का अंश प्रतीत हुआ तो फिर मूषा (cupel) मे गरम कर रजत को अलग कर लेते हैं।

रजत के गुण और उपयोग—रजत-धातु श्वेत वर्ण की होती है। यह चिमड़ी (tough) और चोट से बढनेवाली (malleable) तथा ताप और विद्युत् का वहन करनेवाली है। इसका आपेक्षिक गुरुत्व १०.५ है। यह लवण के अमोनिया-घोल से सस्कार-क्रिया द्वारा बहुत छोटे-छोटे कणो के रूप मे काँच पर जम जाती है। यह द्रव-दशा मे यथेष्ट ओषजन को सोखती है। इसका सबसे अधिक उपयोग सिक्के, आभूषण, पात्र और रासायनिक द्रव्यो के बनाने मे किया जाता है। शुद्ध चाँदी कोमल होती है। इसलिये बहुत घिसती है। इसी कारण मुद्रा और आभूषण बनाते समय, इसमे आवश्यक कठिनता (hardness) लाने के लिये, अन्य धातुएँ मिश्रित की जाती हैं। चाँदी के सिक्के मे प्रतिशत ९२.५ भाग चाँदी और ७.५ भाग ताम्र मिला रहता है। साधारण तापक्रम से रजत पर ओषजन की कोई क्रिया नही होती। उज्जहरिकाम्ल (नमक का तेजाब=हाइड्रोक्लोरिक एसिड) और हल्के गधकाम्ल (गधक का तेजाब=सल्फ्योरिक ऐसिड) का भी इस पर कोई प्रभाव नही पड़ता। उष्णघन गधकाम्ल से रजत-गधेत बन जाता है। नत्रिकाम्ल (नाइट्रिक ऐसिड=शोरे का तेजाब) रजत पर सरलता से कार्य करता है, जिससे नत्रिकोषिद (नाइट्रोजन ओक्साइड) गैस निकलती और रजत-नत्रेत (सिलवर नाइट्रेट) बन जाता है। रजत को उजन गधिद (हाइड्रोजन सल्फाइड) काला कर

देता है; क्योंकि इससे रजत-गधिद (सिल्वर सल्फाइड) बन जाता है। रजत के अनेक यौगिक बनते हैं। रजत-नत्रेत (सिल्वर नाइट्रेट) इसका एक प्रधान सॉल्ट (लवण) है जिसका विश्लेपण और ओषधियों के लिये बहुत व्यवहार होता है। रजत-नत्रेत मे सोडा-क्षार देकर रजतोपित बनाते हैं। रजत के नैलादि लवण (Heloid Salts) बहुत उपयोगी हैं, क्योंकि इन्ही के द्वारा प्रकाश-चित्रण (Photography) का विकास हुआ है। चाँदी की कलई करने मे रजत-नत्रेत पोटाश-स्यनिद के साथ व्यवहृत होता है। रजत-नत्रेत ऐलोपेथिक चिकित्सा मे नेत्र-रोग और व्रण जलाने के लिये बहुत काम आता है। इसको कलमे बनी रहती हैं जिनसे प्रायः दुष्ट व्रण को जलाया करते हैं। इसका हल्का घोल दो ग्रेन एक औस जल मे मिलाकर नेत्र-रोगो मे व्यवहृत होता है। दस से बीस ग्रेन एक औंस मे मिलाया हुआ घोल बहुत तीक्ष्ण होता है, इससे गले के 'टॉसिल्स' आदि गलाए जाते हैं। बलकारक आयुर्वेदिक औषधो मे रजत के भस्म का बहुत उपयोग करते हैं। इसके प्रयोग से प्रमेह, अग्निमांद्य आदि रोगो मे बडा लाभ होता है। बल-वृद्धि के लिये यूनानी चिकित्सावाले भी इसके वर्क काम मे लाते हैं। पान और मिठाई की शोभा बढ़ाने के लिये वर्क का प्रति दिन व्यवहार किया जाता है।

तेरी लीला

यह ह्रद यामुन कालिदी का है। विषधर कालीय इसमे फुफकारा करता है। आ, बाल कृष्ण! उसके फण पर नृत्य कर। तेरी पैजनी की झकार को ला-लाकर लहरियाँ चारो ओर फैला देगी और कठोर कगारो मे सरस सगीत भर जाएगा। जब तू मुरली मे स्वर फूँकेगा तब बाहर बुदबुदे उठेगे और वे आनदाश्रुओ के रूप मे फूट निकलेगे। कालीय की गरल-फूत्कार से यमुना का जल उबलने लगेगा। किंतु उसका विष दमन होकर अमृत बन जाएगा। और, तेरा पद-चिह्न सदैव को उसके मस्तक पर अंकित हो जाएगा। कालीय की नागिनियाँ भीति और अनीति, शाति और प्रीति का सुदर रूप पाकर तेरी आरती उतारेगी। प्रेम-पाश से नाथ कर तू उस कुटिल-गति को अपने हृदय से लगाके ऋजु बना लेना। निरंतर प्रवाहशीला यमुना क्षण भर को निश्चल होकर तेरी यह लीला देखेगी। फिर, अनत सागर तक पहुँचने को, पावन जाह्नवी मे विलीन होने के लिये, द्विगुण वेग से प्रवाहित हो उठेगी— कल! कल!! कल!!!

ठाकुर रामसिंह

'बेवोल्फ'

प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र, एम० ए०

'बेवोल्फ' अँगरेजी साहित्य का पहला, सबसे प्राचीन और एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। इस महाकाव्य के सबध मे वहुत-सी पुस्तके लिखी गई हैं। इसकी भाषा पर आलोचनात्मक विचार प्रकट करने के कारण सैकडो विद्वानो को 'डॉक्टरेट्' की उपाधि मिली है। यह महाकाव्य अँगरेजों का जातीय गौरव है। इसकी हस्तलिपि लडन के बृटिश म्युजियम नामक विराट् पुस्तकालय मे सुरक्षित है। इस प्राचीन महाकाव्य मे प्राय बत्तीस सौ पक्तियाँ हैं। इसकी भाषा प्राचीन अँगरेजी है। प्राचीन और अर्वाचीन अँगरेजी मे वहुत अतर है। प्राचीन अँगरेजी संश्लेषणात्मक भाषा थी। उसमे विभक्तियों की भरमार थी। उसके शब्दरूप जटिल होते थे और धातुरूप भी। उसमे वाक्यों के निर्माण का कोई नियम न था। गद्यशैली का आविर्भाव इसी महाकाव्य की रचना के बाद हुआ। इसकी रचना के समय शब्द सुकुमार कुमार थे, और शैली थी लचर। इस महाकाव्य की कथा यह है—"डेनमार्क के राजा ह्रोथगार ने 'हेवीरोट' नाम का एक भवन बनाया। इसी मे राजा अपने प्रियजनों के साथ विहार करता था। कुछ दिन तो सुख से वीते, लेकिन वाद को 'ग्रेडेल' नामक एक दैत्य प्रति दिन भवन पर आक्रमण करने लगा। वह राजा के प्रिय जनों को चुरा ले जाकर उन्हे भक्षण करने लगा। दैत्य के इस आक्रमण से राजा को बहुत दुःख हुआ। इस विपत्ति का समाचार चारों ओर फैल गया। दूर देश का 'बेवोल्फ' नामक एक वीर योद्धा यह समाचार सुनकर राजा की सहायता के लिये आ पहुँचा। 'बेवोल्फ' ने दैत्य को हराया तो सही, लेकिन दैत्य का वध न कर सका। फिर दैत्य को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते 'बेवोल्फ' जल के नीचे छिपी हुई एक कदरा मे पहुँचा, वही युद्ध करके दैत्य को मार डाला। लेकिन उसी समय दैत्य की माँ ने 'बेवोल्फ' पर आक्रमण किया। किसी तरह 'बेवोल्फ' ने उसे भी हराया और मार डाला। इस प्रकार सर्व-विजेता होकर 'बेवोल्फ' राजभवन मे पहुँचा। राजा ने उसका बडा संमान किया, उसे सदुपदेश भी दिए। तब 'बेवोल्फ' स्वदेश लौट गया। वहाँ उसके चाचा के मरने के वाद लोगो ने उसे राजा बनाना चाहा, लेकिन चचेरे भाई के रहते उसने राजा होना स्वीकार न किया। इस भाई के मर जाने के वाद वह राजा हुआ और वडी शाति के साथ वहुत दिनों तक राज किया। उसके जीवन के सध्याकाल मे उसके स्वदेशवासियो पर एक सर्प-दैत्य ने आक्रमण करना शुरू कर दिया। भला वीर राजा यह क्योकर सह सकता था! उसने अपने

अस्त्र-शस्त्र सँभाले और युद्ध की तैयारी की। सर्प-दानव को तो उसने मार भगाया, लेकिन युद्ध करते समय वह ऐसा आहत हुआ कि मर ही गया। उसके वीर साथियो ने चिता सजाकर उसके मृत शरीर को उस पर रक्खा और उसके वीरत्व का गुणगान किया।"

इस कथा से स्पष्ट है कि उस प्राचीन युग मे भी वीर योद्धाओ का एकमात्र कर्त्तव्य पर-दुख-दलन था। राजा ह्रोथगार के दुख की बाते सुनकर 'बेवोल्फ' बहुतेरे समुद्रों को पार कर इसलिये आया कि एक पीड़ित राज्य की जनता का दुख दूर कर सके। उसकी मृत्यु भी दूसरों के दुख हरते समय ही हुई। वह सचमुच एक आदर्श वीर था।

इस महाकाव्य मे बहुतेरे सुदर एवं नीतिपूर्ण वाक्य हैं। एक वाक्य यों है—"डेआथ विथ सेला एओर्ला गेह्विल्कम दॉन एडविट लीफ[1]"—अर्थात् 'वीर पुरुषों के लिये कीर्त्ति-विहीन जीवन से तो मृत्यु कही अच्छी है!' जब 'बेवोल्फ' ग्रेडेल नामक दैत्य तथा दैत्य की माता को हराकर 'हेवोरोट' नामक राजभवन मे राजा ह्रोथगार के पास पहुँचा तब राजा ने उसे यह उपदेश दिया—"सुखी रहते हुए भी मनुष्य को चाहिए कि अहकार को पास न फटकने दे। अहंकार ही मनुष्य का सबसे बडा शत्रु है। इस ससार मे कुछ भी स्थायी नही। न धन रहता है, न कीर्त्ति रहती है। ऐ मेरे प्यारे बेवोल्फ! अहकार से दूर रहो। एक दिन तुम्हे भी इस ससार से दूर चला जाना पडेगा। अस्त्रो के प्रहार से, या जरा से, या व्याधि से, तुम्हारी भी मृत्यु होगी। इसलिये अहकार से दूर रहो—मेरे बेवोल्फ!"

× × × ×

चूँकि प्राचीन अँगरेजी एक सश्लेषणात्मक भाषा थी, इसलिये उसकी शैली प्राथमिक थी—अनुन्नत थी। साहित्यिक दृष्टि से 'बेवोल्फ' का महत्त्व शब्द-निर्माण मे है। 'बेवोल्फ' के कवि मूर्त्त शब्दो का ही प्रयोग करते थे। ये शब्द चित्र-प्रबल होते थे। शब्दों को अँगरेजी अलकार-शास्त्र में 'केनिंगस् (Kennings)' कहते है। ऐसे शब्दो के कुछ नमूने ये हैं—"जहाज के लिये—The foamy-necked one, wave-floater, sea-goer, सूर्य के लिये—World-candle, jewel of the day।" बहुत-से सुदर क्रियापदो के प्रयोग कवि की प्रतिभा के ज्वलत उदाहरण हैं—'Nor does sorrow *darken* his mind, Sorrow *surged* within him' आदि अच्छे दृष्टांत हैं। किंतु आज तक यह नही मालूम हुआ कि 'बेवोल्फ' की रचना अँगरेजों ने इँगलैंड मे आकर की या उन प्रदेशो मे जहाँ से वे इँगलैंड आए। यह भी नही मालूम कि 'बेवोल्फ' एक कवि की रचना है या कई कवियों की। जो कुछ भी हो, यह प्राचीन समय के अँगरेजी साहित्य का एक गौरवमय अंश है।

[1] आधुनिक अँगरेजी मे यों होगा—Death is better for all earls (noblemen) than an inglorious life.

———

जागरण

१

जाग रण! जाग, निज राग भर त्याग मे,
विश्व के जागरण का तुही चिह्न है।
सृष्टि परिणाम है घोर सघर्ष का,
शांति तो मृत्यु का एक उपनाम है॥

२

श्वास-प्रश्वास इस देह के सग ही
जन्म ले नित्य के यात्रियो की तरह
लक्ष्य की ओर दिन-रात गतिवान हैं,
प्राणधारी नही जानता कौन यह?

३

देह की शक्ति का केंद्र जो हृदय है,
जन्म से मरण तक सैकडों वर्ष तक
हर्ष या शोक मे, युद्ध या स्वप्न मे,
कर्मच्युत हो कभी साँस लेता नही।

४

सूर्य की रश्मियो से तथा वायु से
नीर का घोर सघर्ष अवकाश मे
नित्य का खेल है सृष्टि के आदि से
मेघ हिम ओस परिणाम प्रत्यक्ष हैं।

५

सृष्टि के आदि से नित्य रवि और तम
एक ही वेग से मग्न हैं दौड मे।
क्लात हो जायँ, पर शांत होगे न वे
व्यग्र हैं एक परिणाम की प्राप्ति मे।

६

रात दिन मास ऋतु वर्ष युग कल्प भी
सृष्टि की आयु के साथ प्रत्येक क्षण
युद्ध मे रुद्ध हैं, क्यो न हम मान लें
घोर सग्राम ही प्रकृति का ध्येय है!

७

लोक मे द्रव्य-बल और श्रम-शक्ति का
तुमुल सग्राम अनिवार्य है सर्वदा।
सत्य है, मानवी जगत् सौदर्य से
पूर्ण है, किंतु है दैन्य की ही कला।

८

भव्य प्रासाद, रमणीय उद्यान वन,
नगर अभिराम, द्रुम-पक्तिमय राजपथ,
दिव्य आभरण, कमनीय रत्नावली,
वस्त्र बहु रग के, यान बहु मान के,

९

स्वाद के विविध सुपदार्थ, श्रुति और मन-
हरण प्रिय नाद को क्यो न हम यों कहे,
व्यापिनी दीनता और संपत्ति के
घोर सघर्ष के इष्ट परिणाम हैं।

१०

नीद जिस भॉति बल-वृद्धि का हेतु है,
मृत्यु भी नव्य रण-भूमि का द्वार है,
चाहती है प्रकृति घोर सघर्ष, तो
शाति की कल्पना बुद्धि का दैन्य है।

रामनरेश त्रिपाठी

गुजराती साहित्य के तीन अपूर्व 'न'

अध्यापक सॉवल जी नागर

अँगरेजी साहित्य की व्याख्या करते हुए महाशय स्टोपफर्ड ब्रुक ने एक स्थान पर लिखा है— "The History of English Literature is the story of what great English men and women thought and felt and then wrote down in good prose and beautiful poetry in the English language—अर्थात् माननीय अँगरेज पुरुषों और देवियो के हृदय मे जो उत्तम विचार समय-समय पर प्रादुर्भूत हुए—उन्होने जो कुछ सोचा-विचारा और अनुभव किया, उसे उन्होने उत्तम गद्य और मनोहर पद्यो मे लिपिबद्ध किया, इसी का सग्रह अँगरेजो साहित्य का इतिहास है।" इसमें सदेह नही कि भारत की विभिन्न भाषाओं के इतिहास पर यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो उपर्युक्त व्याख्या का महान् सत्य सब पर लागू हो सकता है। यह बात निर्विवाद है कि मराठी, गुजराती, बँगला आदि मुख्य भारतीय भाषाओ मे भी गद्य का रूप अँगरेजो के समय मे ही परिमार्जित एव स्थिर हुआ। गुजरात मे अँगरेजी शिक्षा की प्रथम ज्योति 'सूरत' नगर मे प्रदीप्त हुई। बहुत समय तक कच्छ तथा काठियावाड़ के शिक्षक, प्रधानाध्यापक, इस्पेक्टर, प्रिंसिपल आदि 'सूरत' के निवासी ही नियुक्त होते रहे। 'सूरत' ही उस समय ज्ञान और बुद्धि मे अग्रगण्य था। अँगरेजो के सहवास और सहयोग के कारण हमारे सामाजिक, राजनीतिक और पारिवारिक जीवन मे एक नवीन विचारों का प्रवाह बह चला। प्रत्येक भाषा के गद्य-साहित्य पर उसका स्पष्ट प्रभाव पडा। सबका अनोखा विकास हुआ। बँगला, मराठी, हिंदी, गुजराती आदि भाषाओं ने, विशेषतः इनक गद्य-विभाग ने, निराली उन्नति की। उस समय तक बगाल के सुकवि शृंगार-रसपूर्ण कविताओ की रचना मे ही लीन थे। जब सन् १७७२ ई० मे अँगरेजी अमलदारी शुरू हुई, दूरदर्शी अँगरेजो ने अपनी सत्ता दृढ़ करने की भावना से बँगला भाषा पर अँगरेजी आचार-विचार की छाप डालने की तैयारी की। सन् १७७८ मे हाल्हेड साहब ने अँगरेजी भाषा मे बँगला-व्याकरण लिखा। छापाखाने न थे। बँगला अक्षरो के साँचे भी न बने थे। अतएव विल्किस साहब ने अक्षर ढाले। व्याकरण छपकर प्रकाशित हुआ। महाशय फोस्टर, लॉर्ड कॉर्नवालिस

के परवानों का अनुवाद करने लगे। सन् १८०१ मे सर्वप्रथम बँगला-कोष प्रकाशित हुआ। उधर श्रीरामपुर मे ईसाइयो के दल ने डेरा जमाया। प्रेस खोला गया। बाइवल का बँगला-अनुवाद प्रकाशित हुआ। उत्तरापथ मे पहले-पहल देवनागरी अक्षर यही तैयार किए गए। सन् १८०० मे फोर्ट विलियम कॉलेज इसी लिये स्थापित हुआ कि अँगरेज अमलदार देशी भाषा मे निष्णात हो। उन्ही दिनों व्याकरण, कोष, लिपिमाला, रामायण, महाभारत आदि बँगला भाषा मे पहले-पहल प्रकाशित हुए। उधर पडित सदल मिश्र, लल्लूलाल जी आदि हिंदी-भाषा के गद्य के सजाने मे लगे। ठीक यही उथल-पुथल सूरत मे आरभ हुई। महाशय फाइवी और टेलर, डॉक्टर ग्लासगो और स्कॉट ने रणछोड़दास गिरधरभाई और उनके अनेक मित्रो के सहयोग से आरभ मे बाइवल का गुजराती अनुवाद तथा कुछ साधारण पाठ्य पुस्तके प्रकाशित की। परतु उनका गद्य सुसस्कृत न था। परिमार्जित एव परिष्कृत गद्य का आविर्भाव **नर्मदाशंकर**—अर्थात् गुजराती भाषा के 'भारतेदु'—की सजीव लेखनी से हुआ। नर्मदाशकर जी ने ही गुजराती गद्य को मधुर और स्वच्छ रूप दिया, जैसे हिंदी गद्य को भारतेदु हरिश्चद्र ने।

गुजराती भाषा के गद्य-परिष्कारक नर्मदाशकर जी हिंदी के 'भारतेदु' के समान सपत्तिशाली न थे। उन्हे भारतेदु जी की भॉति वडे-वडे राजाओ की सहायता और मित्रता भी प्राप्त न थी। फिर भी समान शील-गुण के कारण उन्हे हम 'गुजराती साहित्य का भारतेदु' कहते हैं।

(१) नर्मदाशकर

जव वे ववई के एल्फिस्टन कॉलेज के विद्यार्थी थे तभी उन्हे अँगरेज प्रोफेसरों से शेक्सपीयर, वॉयरन, वेकन आदि अँगरेजी-साहित्य-महारथियो के चरित्र एव काव्य के तुलनात्मक अध्ययन और आलोचन का सुअवसर प्राप्त हुआ था। सप्तम एडवर्ड जव प्रिंस आफ वेल्स के रूप मे भारत पधारे तब कवि नर्मदाशकर ने अँगरेजी कविता मे उनका स्वागत किया था। भारतेदु ने भी सयोग से ऐसा ही स्वागत किया था। यह संयोग सस्मरणीय है। लेखनी उठाने के पूर्व नर्मदाशकर जी महाकवि जयदेव का 'चद्रालोक', 'वृत्तरत्नाकर', 'श्रुतबोध' आदि सस्कृत-पिगल-ग्रथ गुरु के पास वैठकर पढे थे। गुजराती भाषा मे उस समय पिगल का कोई ग्रथ छपा न था। इसलिये उन्होंने साधु कवि 'लालदास' के सग्रहालय से 'छंदरत्नावली' मँगनी ली। रोज उसकी प्रतिलिपि करते जाते और उसका रहस्य गुरु से समझते जाते थे। उसी समय उन्होने सारस्वत, सिद्धांत-कौमुदी, रघुवश, कुमारसभव, कादवरी आदि ग्रथ शास्त्रीय रीति से पढ़े थे। उनका विचार था कि लेखक को अवश्य ही चतुर्दिक् पडित होना चाहिए, क्योकि पल्लवग्राही लेखक कभी प्रौढ़ साहित्य नही उत्पन्न कर सकते। इस सवंध मे मराठी भाषा मे तीन शव्दो का प्रयोग होता है—'वाङ्मय', 'सारस्वत' और 'साहित्य'। भाषा मे जो कुछ कहा-सुना जाय वह जब लिपिबद्ध होकर शव्दो मे प्रकाशित हो तव उसकी गणना वाङ्मय मे करनी चाहिए। वाङ्मय मे भी उदार, ललित, अभिजात तथा रसयुक्त जो गद्य अथवा पद्य हो उसे 'सारस्वत' कहते हैं। सारस्वत मे भी जो प्रवध विचार-सौंदर्य से पूर्ण हो, जिसकी भाषा असाधारण सौंदर्यमयी हो, जिसके पढ़ते ही एक वार हृत्तत्री झनझना उठे उस पवित्र प्रवध की गणना 'साहित्य' मे करनी चाहिए। इसी लिये सुकवि नर्मदाशकर का विचार था कि लेखक

की सर्वतोमुखी प्रतिभा होनी चाहिए, जब तक गभीर अध्ययन और विस्तृत ज्ञान न हो तब तक लेखक को लेखनी उठाना न चाहिए, अपरिपक्व ज्ञान और अपरिष्कृत बुद्धि का लेखक यदि साहित्य-ससार मे प्रवेश करने का दुस्साहस करे तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। वास्तव मे यदि नर्मदाशंकर जी का अध्ययन अधूरा होता तो वे गुजराती साहित्य की धारा न पलट सकते। किंतु जिस प्रकार भारतेदु जी ने हिंदी-कविता-जगत् मे एक नवीन प्रगति, एक विशेष राष्ट्रीय भावना, उत्पन्न कर दी, ठीक उसी प्रकार सुकवि नर्मद ने (नर्मदाशंकर को 'नर्मद' भी कहते है) गुजराती काव्य-साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ मिला दिया। ज्ञान, नीति और भक्ति के प्रवाह मे बहते हुए गुजराती काव्य-साहित्य को उन्होने जातीय भावनाओ की विशेष धारा मे मोड दिया। उनके काव्य मे एक ओर स्वतत्रता, स्वदेशाभिमान और देशभक्ति की लहर उठती दिखाई देती है; दूसरी ओर वे पुरानी दकियानूसी रूढ़ियों, सामाजिक बधनों और व्यसनों के विरुद्ध प्रचड शखनाद करते दृष्टिगोचर होते हैं। एक जगह हम उन्हे 'विधवाओं के दुःख' पर विलाप करने देखते हैं, दूसरी जगह 'शूरवीर के लक्षण' नामक काव्य मे वे दासता का विरोध करते हुए, लोक-समुदाय को साहसी एवं निर्भीक तथा स्वतत्रता के उपासक बनाने का उद्योग करते, दिखाई देते हैं। एक ओर वे अपने पद्य मे 'राम-जानकी-दर्शन' कराते हैं; दूसरी ओर 'हिदुओनी पडती', 'प्रेम-शौर्य,' 'ऐतिहासिक स्थलोनी महत्ता' आदि दरसाते हुए हमारे हृदय मे देशभक्ति का सागर लहराने का आयोजन करते हैं। प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामजस्य कवि नर्मद का विशेष माधुर्य है, जैसा भारतेदु हरिश्चद्र मे भी था। जिस प्रकार भारतेदु और राजा शिवप्रसाद मे गुरु-शिष्य का नाता होने पर भी दोनो मे साहित्यिक मतभेद था, उसी प्रकार सुकवि नर्मदाशकर और दलपतराम डाह्या भाई की दृष्टि मे भी साम्य न था। दोनों गुजराती साहित्य के आधुनिक युग के दीपक थे। दोनो देशभक्त, समाज-सुधारक, स्वतत्रता-प्रेमी तथा पुरानी रूढ़ियो के विरोधी थे। परतु दोनो की कार्य-प्रणाली मे भेद था। दलपतराम को तेज दौडना पसद न था और नर्मदाशकर को समाज-सुधार के रणक्षेत्र मे धीरे चलना नापसद था। दलपतराम जी का भाव यह था कि "लाखों चीटियो के समूह मे यदि हम पूरा लड्डू फेके तो चीटियाँ मरेगी, पर जो हम उसे चूर-चूरकर धीरे-धीरे बिखेर दे तो वे प्रेम से खाती रहेगी[1]।" अर्थात् सदियो की बुराई एक दिन मे नही सुधर सकती। लेकिन नर्मदाशंकर जी का सिद्धांत था कि "कार्य वा साधयामि शरीर वा पातयामि[2]।" भारतेदु और राजा शिवप्रसाद की चोटे इनके जीवन मे भी देख पडती हैं। गुजरात-वर्नाक्युलर-सोसाइटी की वर्त्तमान अवैतनिक मंत्री लेडी विद्यागौरी महोदया के श्वसुर—गुजराती भाषा के हास्यरस के सर्वश्रेष्ठ लेखक सर रमणभाई नाइट के पिता—पडित महीपतराम, लोगो के हजार मना करने पर भी, सन् १८६० मे इँगलैड पधारे। कवि दलपतराम ने उनके विदेश-यात्रा के विचार

१. "लाखो कीड़ी पर लाडवो, आखो मेलीए तो मरी जाय।
भूको करी भभरावीए, तो ते खासी रीते खाय॥"

२. "सहू चलो जीतवा जंग ब्युगलो वागे, या होम करीने पडो, फतेह छे आगे।"

को पहले प्रोत्साहन दिया था, अब शाबासी देते हुए यह पद्य लिखा—"नागर नर हारे नही, हारे होय हजाम, कहेवत ते साची करी, राखी महीपतराम।" परतु जब उक्त पडित जी इँगलैड से भारत लौटे तब एक विचित्र घटना घटी। दलपतराम ने कहा, पडित महीपतराम बिरादराना प्रायश्चित्त नही करेगे। लेकिन पडित जी ने प्रायश्चित्त कर डाला। इस पर सुकवि नर्मद ने आवाज कसी, दलपतराम के शब्दो से ही उन्होने चोट मारी—"नागर नर हारे नही, हारे होय हजाम, इत्यादिक फेरव हवे, डाह्या दलपतराम।" इस पद्य मे 'डाह्या दलपतराम' मे श्लेष और व्यग दोनों हैं। 'डाह्या' शब्द 'दोढ़ डाह्या' मुहावरे का द्योतक है जिसका अर्थ 'मूर्ख' होता है। दूसरे, 'डाह्या' शब्द से दलपतराम के पिता डाह्याभाई का सकेत है। गुजराती प्रथा के अनुसार 'दलपतराम डाह्याभाई' लिखना चाहिए था, परतु नर्मद जी ने पहले पिता का नाम लिखकर, पुत्र को पिता का जनक संबोधित कर, उनकी हँसी उडाई! वास्तव मे नर्मद जी बडे सहृदय और प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होने पद्य-रचना बहुत बडी सख्या मे की है। गुजराती साहित्य मे रीति-ग्रथो का अभाव उन्हे सदा खटकता रहा। अतएव उन्होने सन् १८५७ ई० मे 'पिगल-प्रवेश', १८५८ मे 'अलकार-प्रवेश' और 'रस-प्रवेश' तथा सन् १८५६ मे 'नायिका-विषय-प्रवेश' प्रकाशित किए। वे कवि तो थे ही, परतु उससे कही विख्यात गद्य-लेखक थे। हिंदी के भारतेंदु के समान ही वे गुजराती गद्य के प्रमुख उन्नायक, पोषक अथवा पिता कहे जा सकते हैं।

जो लोग प्रमुख भारतीय भाषाओ के विकास का इतिहास जानते है उनसे यह बात छिपी नही है कि बगाल के सस्कृत-प्रेमी ब्राह्मण लोग वहाँ की भाषा पर तेरहवी शताब्दी से ही संस्कृत की छाया डाल रहे थे और यह काम लगातार अठारहवी शताब्दी तक बराबर जारी रहा। उसके पश्चात् दो महान् साहित्यसेवियों का जन्म हुआ—सन् १८२० ई० मे ईश्वरचद्र (विद्यासागर) तथा सन् १८३७ मे (बग-साहित्य-सम्राट्) बकिमचद्र अवतीर्ण हुए—जिन्होने गद्य को स्थायी रूप दिया और साहित्य-सरिता को निर्मल बनाया। इसी प्रकार मराठी गद्य का आरभ भी बारहवी-तेरहवी शताब्दी से ही हुआ। मुकुदराज, ज्ञानदेव और नामदेव इसके आदिलेखक थे, फिर भी गद्य के प्रवर्त्तक कहलाए श्रीविष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूणकर, जो लोकमान्य तिलक के खास सलाहकार थे। ठीक इसी प्रकार गुजराती गद्य के भी दर्शन हमे तेरहवी-चौदहवी सदी से होते रहे हैं। परतु उसे स्थायी रूप देने का श्रेय नर्मदाशकर ही को प्राप्त हुआ। उन्होने तेरह ऐतिहासिक पुस्तको की रचना की है जिनके अवलोकन मात्र से ज्ञात होता है कि वे पुरावृत्तानुसधान पर विशेष लक्ष्य रखते थे। रामायणने महाभारतनो सार, प्रेमानद आदि कवियोनां जीवनचरित्र, महापुरुषो तत्ववेत्ताने सशोधकोनां जीवनचरित्रो, गुजरातनीने मेवाडनी हकीकत, प्राचीनने अर्वाचीन जगतनो इतिहास, राज्यरग आदि ग्रथ इसके प्रमाण हैं। यह बात आज भी अभिमान के साथ ही कही जाती है कि उपर्युक्त 'प्राचीनने अर्वाचीन जगतनो इतिहास' नामक ग्रंथ लिखने के लिये उन्हे दो सौ से भी अधिक इतिहासो की छानबीन करनी पड़ी थी। 'राज्यरग' वह बृहत् इतिहास है जिसमे मिस्र, बॉबीलोनिया, ईरान, यूनान, रोम, इँगलैड आदि अनेक देशो के इतिहासो का मथन कर उनका सार खींचा गया है। नीति, समाज, धर्म और तत्त्वग्रथों की भी उन्होने रचना की है। उनके निबधो की भाषा सजीव एव टकसाली है। इस दुष्ट पेट की अग्नि

शांत करने के प्रयास मे उन्हे नाटक भी लिखने पडे थे! कृष्णाकुमारी, द्रौपदी-दर्शन, राम-जानकी-दर्शन, बालकृष्ण-विजय आदि नाटक उन्ही के लिखे हुए हैं। यद्यपि गुजराती-साहित्य मे नाटक-विभाग के प्रधान उत्पादक और उन्नायक श्रीरणछोडभाई उदयराम हुए हैं, तथापि यह कम गौरव की बात नही कि नर्मदाशंकर जी के नाटक गुजराती रगमच की सपत्ति रहे हैं। उनके 'धर्मविचार' नामक अपूर्व धार्मिक ग्रथ की शैली बड़ी ओजस्विनी, मितगंभीर और प्रखर है। विवाद-ग्रस्त विषयों को भी स्वाभाविक सरल भाषा मे ऐसी स्पष्टता से लिखा है कि पढते ही हृदय प्रभावित हो जाता है। परंतु वे अमर गद्य-ग्रथ, जिन्होंने गुजराती-साहित्य-सेवियो को अमर बना रक्खा है, नर्मदाशकर-कृत 'नर्म-कोश' और 'नर्म-कथा-कोश' है। आकाशवृत्ति पर निर्वाह करनेवाले नर्मदाशकर ने अद्भुत परिश्रम एवं धैर्य तथा धन व्यय कर, आठ वर्ष के सतत प्रयत्न के बाद, गुजराती भाषा मे एक शब्दार्थ-कोष प्रकाशित किया। यही सर्वप्रथम कोष था, अतएव उनके परिश्रम का अनुमान केवल वे ही कर सकते हैं जिन्होने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कोष-विभाग का अद्भुत सगठन और परिश्रम देखा है। 'नर्म-कथा-कोष' देशी भाषाओ मे पहला गद्य-ग्रथ है जिसमे इतिहास और पुराणो का तत्त्व इस प्रकार प्रचलित गद्य मे वर्णित हो। कवि नर्मद के अट्ठावन ग्रथ कई भागो मे प्रकाशित हो चुके हैं। यह विलक्षण सयोग ही है कि भारतेंदु जो यदि गुजराती मे कविता लिखते थे, तो नर्मद जी भी हिंदी मे पद्य-रचना करते थे।

गुजराती-साहित्य मे 'तीन नन्ना' के नाम से जिन्होंने सुख्याति पाई है उनमे दूसरा स्थान नर्मदाशकर जी के मित्र, सुप्रसिद्ध साहित्य-महारथी, सूरत-निवासी, गुजराती समालोचको के आचार्य, **नवलराम लक्ष्मीराम पंड्या** को प्राप्त है। नर्मदाशकर के जन्म के तीन वर्ष पश्चात्, सन् १८३६ ईसवी की नवी मार्च को, इनका जन्म हुआ था। पडित रामचद्र शुक्ल के मतानुसार हिंदी मे "उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी गद्य-रचना को एक कला का रूप देना चाहते थे। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नही कहते थे। भारतेंदु के वे घनिष्ठ मित्र थे; पर लिखने मे उनके 'उतावलेपन' की शिकायत अक्सर किया करते थे। वे कहते थे कि बाबू हरिश्चंद्र अपनी उमग मे जो कुछ लिख जाते थे उसे यदि एक बार और देखकर परिमार्जित कर लिया करते तो वह और भी सुडौल और सुदर हो जाता।" इस तरह नवलराम सुकवि नर्मद की शिकायत तो नहीं करते, परतु यह कहा जा सकता है कि नर्मद जी ने यदि गद्य-साहित्य का एक बाग लगाया था तो नवलराम की विचारशील लेखनी ने उसको सुदर फूल-फलो की रमणीय क्यारियो और दर्शनीय पक्तियों से सजा दिया। नर्मद ने गद्य-साहित्य को स्थिर रूप देकर यदि उसका कलेवर बदल दिया, तो नवल ने उसे वस्त्राभूषण से सुसज्जित कर डाला। नवलराम जी एक निराले पुरुष थे। उनके अंतःकरण मे तरल तरगें लहरा रही थीं। उनकी निरीक्षण-शक्ति बडी पैनी थी। मधुप के समान वे रसीले साहित्य-सुमनों से रस चूस लिया करते थे। आत्म-निरीक्षण और आत्म-परीक्षण—इन दो विशेष गुणो ने ही प्रातस्स्मरणीय गांधी जी को 'महात्मा' बनाया है। ये गुण नवलराम मे भी वर्त्तमान थे। एक बार उनके एक मित्र को कही आश्रय मिलनेवाला था, यह देख उनका मन ईर्ष्या से कलुषित हो गया। वे स्वय लिखते है—'मने लाग्यु के तेने आश्रय न मले तो आ

(२) नवलराम लक्ष्मीराम पंड्या

दरिद्र भारत

चित्रकार—श्री० प्रभात नियोगी

(राय कृष्णदास के सौजन्य से)
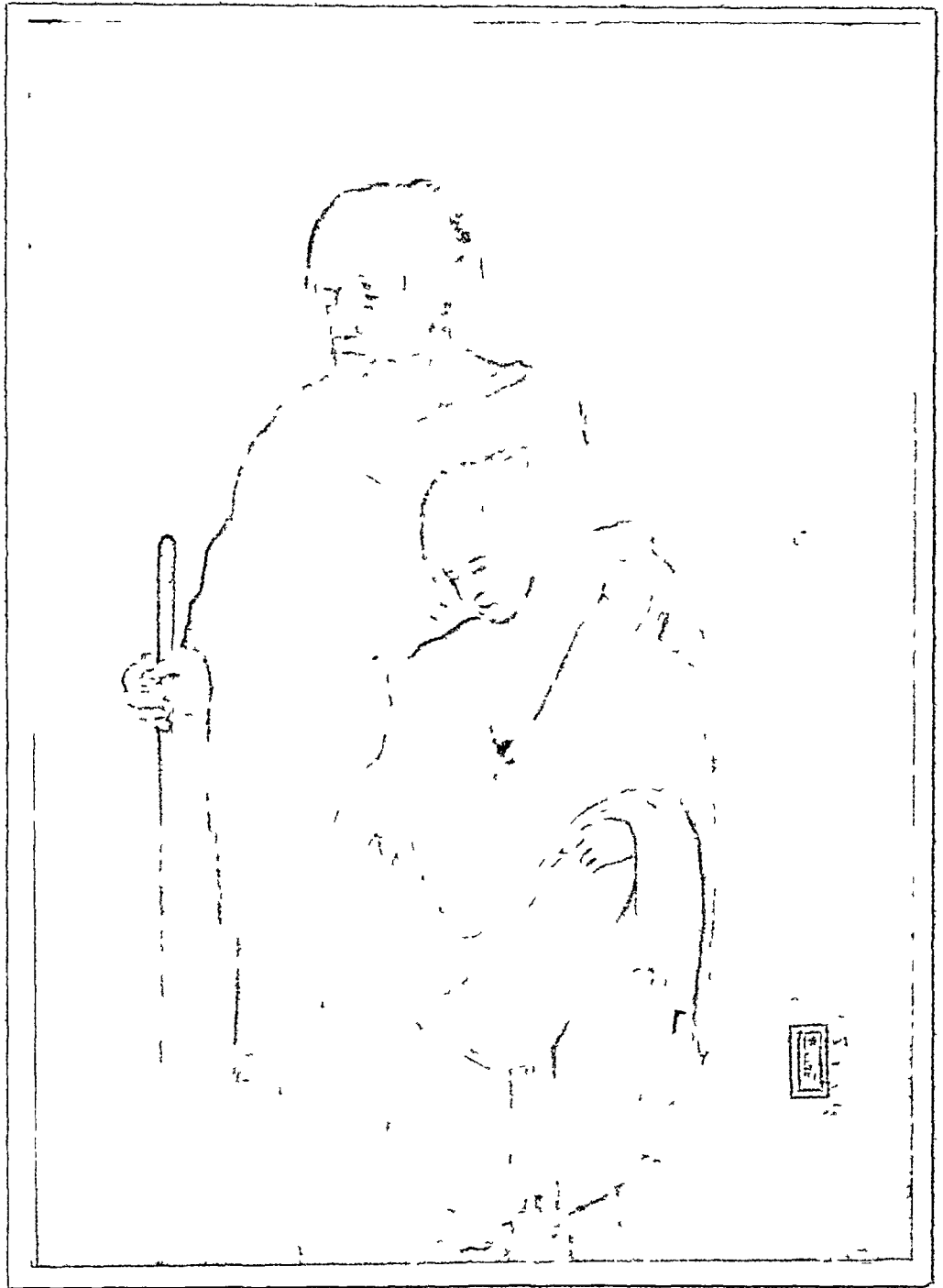
पापी मन खुश थाय खरू'। यद्यपि उन्होंने उस मित्र के कार्य मे कोई बाधा न पहुँचाई थी, तथापि अपने मन की दुर्बलता परख सके थे। यही उनकी महत्ता का प्रमाण है। गुजराती साहित्य मे उन्हे वही उच्च सिहासन प्राप्त है जिस पर हम हिंदी-साहित्य-मदिर मे पूज्यपाद **आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी** को बैठा देखते है। जैसे आचार्य द्विवेदीजी की भाषा शुद्ध, आदर्श और प्रामाणिक मानी जाती है, वैसे ही श्रीनवलरामभाई की भी। उनकी भाषा बडी परिमार्जित और मार्मिक है। गुजराती-साहित्य मे वे सर्वोत्तम समालोचको के आचार्य हैं। उनकी आलोचना बाह्य विश्लेषण के रूप मे ही न रही, वे कवि की आंतरिक वृत्ति का भी सूक्ष्म विश्लेषण करते थे। वे लेखक की मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाने मे बडे सिद्धहस्त थे। अपने जीवन के अंत तक वे एक उग्र समालोचक बने रहे, फिर भी मजा यह कि उनकी भाषा और उनकी शब्दावली कोमल एव मजु ही रहती थी। उनका 'विवेचन-साहित्य' ही उनकी विमल कीर्त्ति का अक्षय्य स्तभ है। गुजराती साहित्य को भारतीय भाषाओ मे सबसे अधिक विद्वान् समालोचको के उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है। पूज्य नर्मदाशकर जी, स्वर्गीय मणिलाल द्विवेदी, मनःसुखराम त्रिपाठी, सर रमणभाई नीलकठ, श्रीनरसिहराव दीवेटिआ, दीवान-बहादुर केशवलाल ध्रुव, श्रीबलवतराय ठाकोर, दीवान-बहादुर कृष्णलाल जव्हेरी, तथा हिंदू-विश्वविद्यालय के प्रिंसिपल आचार्यवर श्रीआनदशकर जी ध्रुव ने इस कार्य मे बडी ही ख्याति सपादित की है। आचार्य आनदशकर जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा देखकर यही कहना अलम् होगा कि विवेचन-कला ने मानों आपको वरण किया है। फिर भी नवलराम का मार्ग नवल था—नया था, अपूर्व और अद्भुत था। गुजराती भाषा मे वे एक विद्युत्-स्तभ के समान हैं जिससे सब साहित्य-सेवियो को प्रकाश प्राप्त होता है। वे सबके वदनीय और पूजनीय हैं। उन्होंने सुप्रसिद्ध ग्रथ 'करणघेलो' और 'कांता' की विस्तृत एव उत्तम आलोचना लिखी है। 'करसनदास मूल जी' तथा 'दुर्गाराम मेहता जी' के चरित्र मे यह विषय बडी खूबी के साथ दरसाया है कि मनुष्य के जीवन मे कौन-कौन-से गुण अत्यावश्यक हैं। 'अकबरने बीरबलना हिंदीकाव्यो' और 'नर्मदाशकरनु चरित्र' उनकी स्वतन्त्र एव निराली रचनाएँ हैं, जिनमे स्थान-स्थान पर उन्होने अपनी विशिष्ट परिष्कृत शैली का दिग्दर्शन कराया है। 'वीरमती' और 'भट्टनु भोपाडू' नामक दो नाटक उनके प्रवीण नाटककार होने के पर्याप्त प्रमाण हैं। आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के समान ही उन्होने सरस सुबोध गद्य मे जनता को सस्कृत-ग्रथों का परिचय दिया है। मालतीमाधव, मृच्छकटिक, रत्नावली, आदि सस्कृत-नाटको के अनुवाद के अतिरिक्त उन्होने पौराणिक ग्रथो को भी अपने ललित गद्य द्वारा नए रूप मे जनता के समुख उपस्थित किया है। अपने गढ़े हुए नए 'मेघ छद' मे उन्होने 'मेघदूत' का बडा सुंदर अनुवाद किया है। उन्होने अपने विशाल मस्तिष्क का प्रयोग शिक्षण-शास्त्र के अनेक महत्त्वशाली सिद्धांतो के स्थिर करने मे भी किया है। उनके निबध अनूठे हैं। वे आजन्म विद्यार्थी, अभ्यासी अथवा पाठक बने रहे। अंत तक उनकी ज्ञान-पिपासा अतृप्त रही। उनके युग के 'पत्र' उनके लेखो के लिये चातक बने रहते थे। शोध, सत्यता, विवेक और वर्णन-शक्ति—इन चारो ही गुणो ने उनको अजर-अमर बना दिया है।

गुजराती-साहित्य के तीसरे सुप्रसिद्ध 'न' हैं **नंदशंकर तुलजाशंकर (रावबहादुर)** जिन पर केवल सूरत को ही नही, गुजरात को ही नही, हमारे सारे देश को गर्व है। पहले बडौदा-राज्य के और आज-कल बीकानेर स्टेट के दीवान 'सर मन्नूभाई मेहता' आप ही के सुपुत्र हैं। काशी के भूतपूर्व कलक्टर, प्रयाग के कमिश्नर और युक्तप्रांत के वर्त्तमान शिक्षा-मत्री 'श्रीविनायकराव मेहता आइ० सी० एस्०' भी आप ही के सुयोग्य पुत्र हैं। आपका शुभ जन्म सन् १८३५ ई० मे सूरत मे हुआ था। इस प्रकार आप कवि नर्मद जी से दो वर्ष छोटे तथा श्रीनवलराम जी से एक वर्ष बडे थे। सन् १८५२ मे आप गुजरात के उत्तर-विभाग के स्कूलो के सुपरिंटेडेट के आफिस मे क्लर्क नियुक्त हुए। धीरे-धीरे आप अँगरेजी स्कूल के मास्टर, हेडमास्टर, यहाँ तक कि ट्रेनिग कालेज के प्रिसिपल हो गए। सन् १८६७ मे 'मुल्किखाता' मे आपकी वदली हो गई। फिर आप असिस्टट पोलिटिकल एजेट होकर 'देवगढ़ बारिया' गए। सन् १८७५ मे आप 'लुणावाडा' और 'सुथ' के एड्मिनिस्ट्रेटर नियुक्त हुए। वहाँ से आप कच्छ के दीवान हुए। आप 'नांदोद' के चीफ रेवेन्यु अफसर तथा असिस्टट एडमिनिस्ट्रेटर भी रहे। फिर भी पुराने साहित्य-सेवियो मे आप 'मास्टर साहब' के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। आप गुजराती भाषा के नवल-कथा-साहित्य के पिता माने जाते हैं। अँगरेजी साहित्य मे कथानको के दो प्रसिद्ध भेद हैं—एक 'रोमांस,' दूसरा 'नॉवेल्'। 'रोमांस' मे पात्र ऐतिहासिक अथवा अमानुषिक होता है और अलौकिक चमत्कारमय अद्भुत वृत्तांत का वर्णन किया जाता है। 'नॉवेल्' मे वर्त्तमान समय के सांसारिक मनुष्यो की लौकिक जीवन-कथा लिखी जाती है। अँगरेजी साहित्य के ससर्ग से ही यह कला हमारे देश मे आई है। इसी से गुजराती भाषा मे 'नॉवेल्'—अर्थात् नवल-कथा—'उपन्यास' के पर्याय-रूप मे प्रचलित है। सन् १८६८ मे आपका प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'करणघेलो' प्रकाशित हुआ। सर्वसाधारण मे इसकी वह धूम हुई जो हिंदी मे बाबू देवकीनदन खत्री के 'चद्रकांता' की हुई थी। परतु 'चद्रकांता' आदि उपन्यास 'साहित्य की कोटि' मे नहीं आते, क्योंकि उनमे प्रधान वस्तु नही है। हम उनमे घटना-वैचित्र्य देख सकते है; परतु उनमे रससचार अथवा भाव-विभूति हम नहीं पाते। चरित्र-चित्रण की खूबियाँ भी उनमे नही हैं। इस स्थान पर हमें तुलना के लिये ठाकुर गदाधरसिह, श्रीराधाचरण गोस्वामी तथा लाला श्रीनिवासदास स्मरण आते हैं, क्योंकि हिंदी मे उपन्यास-विभाग की नीव देनेवाले यही लोग थे, परतु खेद है कि इनमे किसी का कोई उपन्यास विद्यार्थियो के योग्य नहीं समझा गया। हिंदी-साहित्य के सर्वप्रथम साहित्यिक उपन्यासकार पडित किशोरीलाल गोस्वामी के पैसठ उपन्यासो से भी तुलना नही की जा सकती। श्रीमान् बाबू श्यामसुदरदास जी के शब्दो मे "उनके उपन्यास घटना-विशिष्ट है, पात्रो के चरित्र-विकास की ओर कम ध्यान दिया गया है, कही-कही काल-दोष भी खटकता है।" किंतु मास्टर नदशकर जी का 'करणघेलो' इन दोषों से रहित है। अतएव, हिंदी के उपन्यास-क्षेत्र मे युगांतर उपस्थित करनेवाले श्रीप्रेमचद जी की सफल लेखनी ही आपकी तुलना के लिये स्मरण हो आती है। 'करणघेलो' प्रकाशित होने के बाद मैट्रिक्युलेशन परीक्षा के लिये पाठ्य गद्य-ग्रथ निर्धारित हो गया। कोड़ियो वर्ष व्यतीत हो गए, सैकड़ों नए उपन्यास साहित्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए, गद्य की अनेक पुस्तके

(३) नदशंकर तुलजाशकर (राव-बहादुर)

मैदान मारने का प्रयत्न करती नजर आई, मगर 'मास्टर साहब' की 'नवलकथा' आज तक विश्वविद्यालय में अपने सिहासन पर विराज रही है।

'न' अक्षर 'नेगेटिव' अर्थात् 'नही' अर्थ का द्योतक है, परतु इन तीन अपूर्व 'न' ने अपनी साहित्य-सेवा से उसको अमर 'अफर्मेटिव' बना दिया। इसलिये ये वदनीय हैं।
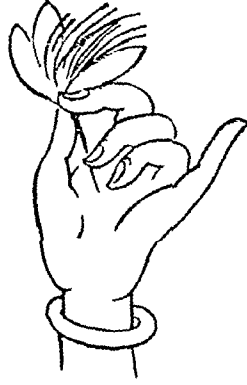
अतिथि

अतिथि, तुझे समझा था मैंने
पल भर का प्यारा मेहमान।
निविड नैश्य के नत होते ही
हो जाएगा अन्तर्धान॥
विरह-व्यथा को भूल इसी से
मैंने किए विविध उपचार।
जो कुछ था मेरी कुटिया मे
दे डाला तुझको उपहार॥

तरल तरगिनि-तट के तरु जब
विहगावली जगाती थी।
आशा की कलिका को लेकर
नभ को उषा सजाती थी॥
तब चिता-उद्भ्रांत क्लांत तू
निकला मुझसे ले आदेश।
नाच रहे थे तरु-पत्रो पर
मीलित नयनों के सदेश॥

पल-पल करके घड़ियाँ बीती, युग-युग करके बीती रात।
पर मेरी इस विरह-व्यथा का हो न सका जीवन-प्रभात॥

सुशीला देवी सामंत 'विदुषी'

प्रतिमानूं लुप्त अंग

श्री दीवानबहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव, बी० ए०

जागृति-खंड

मद्रासनी प्रेसिडेंसी कोलेजना प्रोफेसर कुप्पुस्वामी शास्त्री एम० ए०-एओए छपावेला **आश्चर्य-चूडामणि** नाटिकाना इंग्रेजी उपोद्घातमां **भरतनाट्यशास्त्र** उपरनी अभिनवगुप्ताचार्यनी टीकामांथी नीचे मुजब उत्थानिका साथे महाकवि भासनो एक श्लोक नोंधेल छे. "**अधुना रौद्रं लक्षयति। अथ रौद्रो नामेति। नामग्रहणस्यायमाशयः। अन्यायकारिता प्राधान्येन क्रोधस्य विषयः। तादृशि जने जने सर्वोऽपि मनोरथै**[1] **रुधिरपानमपि कुर्यात्। तथा चाह लोक। यदि लभ्येत तर्हि**[2] **तदीयं रुधिरमपि पीत्वा न तृप्येतेति**[3]। **महाकविना भासेनापि स्वप्नबन्ध उक्तम्।**"

"**भ्राता कथं शुचि पतेद्धि न**[4] (?) **मैथिली सा रामस्य रागपदवी मृदु चास्य चेतः।**
लब्धानुजस्तु[5] **यदि रावणमस्य कायं प्रोत्कृत्य**[6] **तर्हि तिलशो न स तृप्तिगामी**[7] **॥**"

उद्धृत श्लोक रावणकृत सीताहरणने लगतो छे, एटले ते **प्रतिमादशरथ** किंवा **प्रतिमा** नाटकमांथी लीधेलो होवानो संभव छे. रामकथाने अवलंबीने एकलूं ए ज नाटक भास कविए रचेलूं छे[8] ते कारणथी मे एना ५ ने ६ ए बे अंक अंतर्गत विष्कंभक-सहित बारीकीथी तपास्या अने तेनूं असल स्थान खोळी काढ्यूं[9]. आ पांच वरस उपरनी वात छे ते दिवसथी मारा मनमां शंका पेठी, के रखेने **प्रतिमा**नो कोई

१. अहीं अपि वधारे छे, ते मे तजी दीधेल छे

२. लेखमां तत् छे, ते बदल मे तर्हि मूकेल छे

३. इति बोल मे उमेर्यो छे

४. लेखमा 'त्रेतायुगं .....तद्धि न' एवा अक्षरो छे. जेमाथी आ ऊतारो कर्यो हशे, तेमां तो त्रण करतां पण वधारे अक्षर खूटता हशे. मारा मानवा प्रमाणे पहेलो तथा त्रीजो पण खवाई गयो हशे अने बीजो चोथो तथा आठमो ए पण खडित थया हशे. अर्थात् असल ता . तद्धि न एवा छिन्नभिन्न स्वरूपमां हशे. ए मतव्यने आधारे खंडित अने अर्धखडित जगा मे कल्पनाथी पूरी छे

५ लेखमा लब्धा जनस्तु पाठ छे ते बदल मे आपेलो पाठ कल्पित छे.

६. लेखमां तत्र छे नवो पाठ कल्पित छे

७. प्रो० कुप्पुस्वामी शास्त्रीना लेखमां 'न वितृप्तिगामी' छे मे आपेलो पाठ कल्पित छे

८. जुओ मे छपावेला **प्रतिमा** नाटकनो उपोद्घात.

९. जुओ उपर कहेला उपोद्घातना अनुलेखनी छेवटनो भाग.

अगत्यनो भाग आज रीते लुप्त थयो होय जोतां जोता एक स्थल कइक व्हेम ऊपजावनारू जडी आव्यूं पांचमा अंकमा रावण सीतानू हरण करवा आवे छे तेनो प्रवेश-पूर्वे सूचववो घटे, पण ते सूचव्यो नथी. तेनाथी ए मोटी त्रुटि कांचनपार्श्व मृगना सबधमां छे ए मायावी रूपमां आवनार रावणनो मामो मारीच छे, ते बाबतनूं पण सूचन कोइ ठेकाणे छे नहि फरी फरी ने अंक ५ हू कालजीथी तपासी गयो, पण आ बे त्रुटिओ दूर करवानू द्वार मने लाध्यू नहि थाकीने हू भोजन करवा उठ्यो जमतां जमता पण त्रुटिओनो प्रश्न मनमा घोळाया करतो हतो

व्हेलो व्हेलो भोजनथी परवारी मे मारा अभ्यास स्थानके आवी स्वस्थ चित्ते पेलो मूझवनारो सवाल हाथ धर्यो अनेक तर्कवितर्क करतां उत्तेजित मगजमा ऐवो बुट्टो ऊठ्यो, के आ देखीती त्रुटिओनो खुलासो कुशल नाटककारे अंकनी पूर्वे विष्कभक के प्रवेशक द्वारा अवश्य कर्यो होवो सभवे छे कोई वखते एम कहे के उश्केरायली कल्पनाए जोनारनी आ भ्रमणा छे आवी असभावनानो अवकाश न रहेवा अने मारी पोतानी प्रतीति थवा सूच्य अने प्रयोज्य वस्तुनो सबंध केवा प्रकारे नाटकमा जोड्यो छे ते समजवा तरफ मे मारा विचार वाळ्या प्रतिमानो एकेएक विष्कभक अने एकेएक प्रवेशक तेना पूर्वना अने पछीना अंक साथे लक्षपूर्वक वाच्यो अने मे जोयू, के पहेला अंकमा रामना अभिषेकनो प्रस्ताव आवे छे तेनी तैयारी ए अक पूर्वेना विष्कभक थी कविए निर्देशेली छे बीजा अकमा रामना असह्य वियोगदु खे दशरथ राजानू मरण नीपजे छे, तेनी चेतवणी पण पूर्वगामी विष्कभकथी आपी छे त्रीजा अंकनो प्रतिमागृहनो प्रस्ताव छेक ज नवो होवाथी तेनू पूर्वसूचन अत्यत आवश्यक हतू ते कर्ताए प्रस्तुत अक पहेला प्रवेशकना योजना द्वारा पूरू पाड्यू छे चोथा अंकमां राजकुमार भरत अयोध्यामा पगे न मूकी ज्येष्ठ बधुनी पाछल वनमां चाल्यो जाय छे ए घटना पण नवीज होवाथी तेने अंगे ए अक पूर्वे नाटककारे प्रवेशक गोठवी सविधाननो ऊकेल पाड्यो छे पांचमा अकने अते रावण सीताने हरी जाय छे, दशरथनो मित्र जटायु सीतानी व्हारे चडे छे रावण तेनी पांख कापी नाखे छे घवायलो गृध्रराज पृथ्वी पर पछडाई मरण पामे छे बे वृद्ध तापसो श्वासभर्या जई रामने खबर करे छे के रावण सीता ने हरी गयो अही पण भासे हकीकत जरा बदली छे [१] आवृत्तांत सूच्य होई तेनो निर्देश कविए पांचमा अने छट्ठा अंकना गाळामां विष्कभक योजीने कर्यो छे सातमा अंक पूर्वे रावणने रोळी सीताने लेई राम लकाथी पाछा फरे छे तेना समाचारथी प्रेक्षकने वाकेफ करवा कर्ताए युक्तिपुरःसर अही पण विष्कभक मूक्यो छे नाटकना अगोनी आप्रमाणे समीक्षा कर्याथी स्पष्ट थयू के मे त्रुटि तरोके ओळखावेलासूच्य भागना निदर्शन सारू भास कविए एनी रीत मुजब पाचमा अंक पूर्वे विष्कभक के प्रवेशक सो वसा मूक्यो होवो जोईए खरू छे के सद्गत महामहोपाध्याय त गणपति शास्त्रीने मळेली हाथप्रतमा उक्त स्थले विष्कभक के प्रवेशक छे नहि पण तेनी साथे ए पण खरू छे के भासनी पद्धति ध्यानपूर्वक विचारतां कर्ताए त्या विष्कभक के प्रवेशकनी योजना करी राखेली होवी जोईए, ते पण तेटलू ज खरूं छे. उक्त स्थले ए अर्थोपक्षेपक वगर नभे एवू

१ रामायणमां घवायला जटायुने रामलक्ष्मण आवी प्होचता सुधी रावणकृत सीताहरणना समाचार तेमने स्वमुखे आपवा प्राण टकावी राखतो वर्णव्यो छे.

छे ज नहि. एना अभावे **प्रतिमा** खंडित रहे छे. कोइ जूनी प्रत मळी आवे अने तेमां प्रस्तुत लुप्त थएलो भाग जडे, तो नवाइ नहि हाल तो **प्रतिमानू** ए अंग ते नष्ट ज रहे छे.

स्वप्न-खंड

उपर प्रमाणे गूचनो तात्कालिक ऊकेल काढी गूजरात कोलेजना दैनिक व्याख्याननू साहित्य तैयार राखी कलाक अर्धो कलाक आराम लेवाना सकल्पथी रोजना दस्तुर सर हू सूई गयो. अने सूतो तेवो ज ऊघी गयो. ऊघमां पण **प्रतिमाना** भणकारा वागता हता मन झख्या करत हतू के आ सुदर नाटकनी कोइ अखडित पोथी जडे, अरे आखी पोथी ए नहि ने **शौरिपुत्रप्रकरण**[१]नी पेठे तेनू मुद्दानू पानू ज हाथ लागे, तो केवू सारू ? सर्वे सकल्पविकल्प शमी जाय. आवा विचार करतो हतो, तेवामां नीसरणीमां कोइनां पगलां वाग्यां, अने 'छो के ? जागो छो ?' एवा बोल सभळाया. बीजे ज क्षणे मारा बालस्नेहीनू माथू दादरमां डोकायू, अने तेमणे हाथ लबावीने कह्यू, 'लो भाइ ! आ पानू, तमारे कामनू हशे.[२] मारा पगथियामां ए पड्यू हतू' मे कह्यू 'आवो, आवो. जोइये शू छे ते.' तेमणे सीडीमांथी उत्तर वाळ्यो, 'मारे ऊतावळनू काम छे. तमे ते जोजो.' छेल्लो बोल हजु एमनी जीभे हतो ने पानू मूकी जेवा हूड हूड आव्या हता तेवा ज ए हूड हूड चाल्या गया. पवनमां ऊडी जाय ते पहेलां तरत मारी जगाए थी ऊठीने पानू मे हाथमा लीधू. एना खूणा घसाईने गोळ थई गया हता. कोइ कोइ ठेकाणे ऊधेइए नवतर अगम्य लिपि लखवानो प्रयत्न कर्यो हतो. आखू ए पानू देवनागरी अक्षरे लखेलू हतू. तेमां कोइ स्थले मात्रानो अने कोइ स्थले पडिमात्रानो उपयोग कर्यो हतो. कागल झांखो पड्यो छतां चीकणा घूटेला सफाइदार अमदावादी कागलना पूर्वरूपनो ख्याल आपतो हतो. वर्णना मरोड उपरथी अने पानानी हालत उपरथी इसवी तेरमा सैकामां ते ऊतारायू हशे एवी अटकल बधाती हती. बन्ने पृष्ठपर सहेजे नजर फेरवी गयो, तो रामकथानां पात्रोनां नाम साथे संस्कृतमां अने प्राकृतमां उक्तिओ आपेली जोई. ते उपरथी समझायू के आ कोइ रामकथाने आधारे लखायला सस्कृत नाटकनू पानू छे. ए नाटक कयू ते जाणवाना कौतुकथी मे ए पानू वांचवानू शरू कर्यू. तरतज नीचेना शब्दोए मारू ध्यान खेच्यू. 'भ्रविष्यति भवन्नियमावसान तावद्भ्वेयमिह ते नृप पादमूलो.' मने याद आव्यू के आ तो **प्रतिमाना** चोथा अकना यावद्भविष्यति प्रतीकनी भरतनी श्लोकात्मक उक्ति छे. आगल वांचतां "**रामः । मैव नृपः स्वसुकृतैरनुयातु सिद्धि त्व शापितोऽसि यदि रक्षसि चेन्न राज्यम् ॥** ' एवू रामना मुखनू उत्तरार्ध पण जोयू. नवाइ जेवू तो ए हतू के छेल्ला चरणमां महामहोपाध्याय शास्त्रीजीनी हाथप्रतना नहि, पण मे मनथी नवा कल्पेला पाठ आप्या हता. जेम जेम हू आगल वधतो गयो तेम तेम ग्रह बंधातो गयो, के **प्रतिमा** नाटकनू ज आ पानू छे. निरंक पृष्ठ वांचीने करेली आ कल्पनाने सांक पृष्ठना 'चतुर्थोऽङ्कः' पछीना "वज्रदष्ट्रः । अवि

१. बौद्ध कवि अश्वघोषना आ नाटक बाबत जुओ मे मुंबई युनिवर्सिटीनी "ठक्कर वसन जी माधव जी" व्याख्यानमालाने अगे **पद्यरचनानी ऐतिहासिक आलोचना** एवा नाम थी आपेलां व्यख्यानमानूं छेल्लूं व्याख्यान, प्रस्ताव ४.

२. मारा आ मित्रे एक वार एमना पाडोशीए फेकी दीधेलां पानां मने आप्यां हता; ते मारी पासे छे. एमा हिंदी कविए रचेलूं कोकशास्त्र छे.

णाम कुशल भादुणो ।" वगेरे बोल वाचतां एकदम आघात पहोच्यो वज्रदष्ट्र अने लोहदष्ट्र एवां नामनां बे पात्रोनूं सभाषण हू गगडावी गयो. तेने छेडे "निष्क्रान्तौ राक्षसौ ।" एवी सूचि पछी 'प्रवेशक: ।' बोलना उल्लेख हतो कर्तृत्वनो प्रश्न अद्धर रहेवा देई मे आगल वांचवू जारी राख्यू. जोऊ छू तो आरंभे सीताना प्रवेशनी नाट्यसूचि साथे समज्जिदो पदथी शरू थती सीतानी उक्ति अने ते पछी रामना प्रवेशनी नाट्यसूचि साथे त्यक्त्वा प्रतीकना श्लोकथी शरू थई सीतामुपगच्छति । ए नाट्यसूचि पूर्वे समाप्त थती रामनी उक्ति आपेली दीठी, ते मुद्रित प्रतिमा साथे मळती आवती हती[1] मनना सतोष सारूं ए पानू हू बीजी अने त्रीजी वार वाची गयो, जेथी मारी खात्री थई के चोथा पांचमा अंकवालो भाग महाकवि भासनी ज कृति छे. शका रही मात्र प्रवेशक विशे. ते बने तो दूर करवाना हेतुथी मे वाक्ये वाक्ये अने पदे पदे थभी प्रवेशक एकलो चोथी वारनो वाच्यो. पात्रो राक्षस होवाने लीधे ते मागध प्राकृतमा रचेलो हतो सांक कोरा हासियामां जुदा मरोडमां मागधी बोल पण कोई वाचके लख्यो हतो नानी मोटी बधी मळी दस मागध उक्तिओ हती तेमांनी एकमां गाथानो प्रयोग कर्यो हतो. प्रवेशक मजकूरमां रावण अने मारीचना आगमननो निर्देश हतो एटलू ज नहि, पण ते पूर्वेना अतिमहत्त्व धरावता बनावोनो उल्लेख पण जोवामां आवतो हतो कर्ताए वज्रदष्ट्रना मुखमां खर आदि दडनायको साथे प्रचड राक्षस-सेनानू रामे निकदन वाळ्यानी अने लक्ष्मणे वरवा आवेली शूर्पणखाना नाक कान काप्यानी हकीकत मूकी हती, दडकारण्यमा रामलक्ष्मणे वर्तावेला केरनू वैर वाळवा लकाथी ऊपडेला रावण अने मारीचना समाचार पण एना मुखे कह्या हता. राम तथा सीता आश्रममां होवानी अने लक्ष्मण यात्रा करीने आवेला कुलपतिने लेवा गयानी खबर लोहदष्ट्र द्वारा पूरी पाडी हती आ बधी विगत जेमाथी मे तारवी हती ते भाग मागधीमा हतो, ते भाषा समजवामा मारी भूल तो नथी थती, एवो विचार क्षणभर मारा मनमां आव्याथी पदे पदनी छाया गोठवी ते पछी निर्णय बांधवानो मे सकल्प कर्यो मारा मित्रे आपेलू पानू पांचमी वारनू हाथमां लीधू, ते वखते मे अचानक प्रवेशकनी जमणी बाजुना हासियामा घणा बारीक अक्षरे कंइक लखेलू दीठू मे धार्यू के कदाचित् ।ए सस्कृत छाया हशे. ते ऊकेलवा सूक्ष्मोपबृहक काच[2] हांसिया उपर धर्यो ते ज पले नीसरणीमां धबधब पगनो अवाज थयो, अने दादरमाथी 'गाडो आवी छे' एवा शब्द सभळाया. हू एकाएक जागी गयो. मने जागेलो जोई धीरे सादे गाडी आव्यानी फरी खबर आपी माणस चालतो थयो

उद्बोधन-खंड

गाडी वखतसर हती, पण मारे तो कवखतनी नीवडी एना सादथी ऊघ ऊडी जवानी साथे स्वप्ननी प्रतिमानू पानू पण ऊडो गयू छाया वाचवानो काच क्या ए रह्यो ने छाया अतर्धान पामी गई

१. फेर एटलो ज हतो के शास्त्रीजीनी वाचनामां सीता साथे तापसीना प्रवेशनो पण उल्लेख छे अने सीतानी उक्ति पछी तापसीनी टूकी उक्ति पण आपी छे आ भाग मे प्रसिद्ध करेली प्रतिमामा तजी दीधो छे

२. सूक्ष्मोपबृंहक काच—Magnifying glass.

गाडी पांच मीनीट मोडी आवी होत, तो भीणा अक्षरनूं हांसियामांनूं लखाण वांची लेवात ए न वचायूं तेनो शोच तो थयो पण मे मनथी सतोष वाळ्यो के ए कारमा पानामांना प्रवेशकनी दशे उक्ति ओ मारों म्होडे थई छेते हू टपकावी लेऊ. भूली जईश, तो छाया खोई तेम मूल पण खोईश ए विचार मनमां आवत ज प्रवेशक आखो ए पेनसिलथी कागलमां सडसडाट लखी लीधो, अने ऊतारो ठेकाणे मूक्यो

कोलेजमां मारे मात्र पोणा कलाकनू रोकाण हतू शब्दविद्याना सबधमां व्याख्यान आपवानू हतू, ते बोजारूप नहि, पण आनददायक हतूं एटले खुल्ली हवामां थई घेर आवी श्रमसह चित्तथी प्रवेशकनो मागध ऊतारो हाथमां लेई तेनो सस्कृत-छाया लखो काढी, अने साथेसाथे तेनो गूजराती अनुवाद पण तैयार कर्यो. ए मूल अने अनुवाद मे प्रकाशित करेली प्रतिमामां गोठवी जोयो, तो बरोबर वध बेस तो आव्यो; अने पूर्वे जे त्रुटिओ नडती हती ते दूर थई एक वारनी कल्पनाए निर्णयनू स्वरूप लीधू, अने चोकस थयू के महाकवि भासे पांचमा अंक पूर्वे विष्कभक के प्रवेशक अवश्य मूकेलो, जे ऊडी गयाथी प्रतिमानू एक उपयोगी अंग लुप्त थयू छे अंकनी सरखामणीमां आ अर्थोपक्षेपको गौण छे अने गौण छे माटे ज ते खोवाय तो लहेवामां आवतू नथी. रामकथा जेवा जगजाणीता महाख्यानना आधारे रचायला नाटकमां नाटककार पोते ज वस्तुनो समन्वय साचवी उपकथा खुशीथी छोडी दे छे. समस्त प्रयोज्य वस्तु अंकोमां व्हेची दीधू होय छे, एटले सूच्य वस्तुना निदर्शननो अर्थोपक्षेपक लहियाए सरतचूकथी तजी दीधो होय, तो अंको उपर लक्ष राखनारना जाणयामां आवतू नथी ए तो विवेचनकारनी भीणी नजरे तपासतां कळ्यामां आवे छे वाचनाविषयक चर्चामां[१] रस लेनारा विवेचकना आ बाबतमां स्वतत्र निर्णयमाटे हूं अप्रसिद्ध प्रवेशक अने तेनो अनुवाद नीचे रजू करू छू

मागधी मूल अने संस्कृत छाया

ततः प्रविशतो राक्षसौ

वज्रदष्ट्रः—अवि णाम कुशलं भादुणो ? । कथ भो धलातलम्मि चलणे शमाकलिशन्ते चलदि वश्चे ? । दण्डगालण्णं अन्तो आगन्तुगाणं पवित्तिं महालायस्स णिवेदेदुं लङ्कापुलि उवायादस्स ते पादप ✕ केवेण धलणी पकम्पिदा आशी । [अपि नाम कुशल भ्रातुः ? । कथ भो धरातले चरणौ समाकर्षश्चलति वत्सः ? । दण्डकारण्यमन्तरागन्तुकानां प्रवृत्ति महाराजाय निवेदयितु लङ्कापुरोमुपायातस्य ते पादप्रक्षेपेण धरणी प्रकम्पिता आसीत् ।]

लोहदष्ट्रः—ताद किं कुशलपण्हेण ? । लङ्काए पडिणिवत्ते हगे इध महन्त अणस्त शंयाद अपेस्क । लामबडुअस्स शलपादेण तिण्णि वि दण्डणायगा पाणेहिं वियोयिदा । ल✕कशचमू च णिखिला णिधणं उवगमिदा । पगे य्येव हगे लङ्क गदे ओशिस्टे भीदभीदे मिच्चुणा गिहिदे चिट्ठामि । कस्ट । लायकुमाली शुप्पणहा कधं भविस्सदि ? । [तात कि कुशलप्रश्नेन ?। लङ्कायाः

१. वाचनाविषयक चर्चा—Textual criticism

प्रतिनिवृत्तोऽहमिह महान्तमनर्थं सजातं प्रेक्षे। रामबटोः शरपातेन त्रयोऽपि दण्डनायका' प्राणैर्वियोजिताः। राक्षसचमूश्च निखिला निधनमुपगमिता। एक एवाह लकां गतोऽशिष्टो भीतभीतो मृत्युना गृहीतस्तिष्ठामि। कष्टम्। राजकुमारी शूर्पणखा कथ भविष्यति?।]

वज्रदंष्ट्रः—वश्च अल अत्ताण शंतविय। शा खु तेलोग्गशुन्दली लकं अधिवशदि। लामलक्कणा तु आशण्णमलणा त्ति शपेक्खामि। तेहि हि शयवलीए लश्चीए कण्णणाशिग छिण्णा। [वत्स, अलमात्मान संतप्य। सा खलु त्रैलोक्यसुदरी लङ्कामधिवसति। रामलक्ष्मणौ त्वासन्नमरणाविति सप्रेक्षे। ताभ्या हि स्वयवर्या लक्ष्म्याः कर्णनासिक छिन्नम्।]

लोहदंष्ट्रः—अच्चाहिद। [अत्याहितम्।]

वज्रदंष्ट्र—तं कप्पिस्सदि तेशि कप्पेदु तन्तुमाउस्स॥१॥ तधा य कालादिवाद विणा लायलायेस्सले लङ्काधिणाहे शुप्पणहाए खलदूशणतिशिलाण चउस्सहस्साण च लक्कशवीलाणं वइलं णिय्यादेस्सन्ते मादुलेण मालीचशिलिणा अणुगम्ममाणे पलावद दि।

[तत् क्लृप्स्यते तयो कर्तितु तन्तुमायुपः॥१॥ तथा च कालातिपात विना राजराजेश्वरो लङ्काधिनाथ. शूर्पणखाया खरदूषणत्रिशिरसां चतुस्सहस्राणा च राक्षसवीराणां वैर निर्यातयिष्यन् मातुलेन श्रीमारीचेनानुगम्यमान परापतति।]

लोहदंष्ट्र—एव्वं शय य्येव महालाये दशकधले मादुलेण शह पलापददि!। येदु महालाये। [एव स्वयमेव महाराजो दशकधरो मातुलेन सह परापतति। जयतु महाराजः।]

वज्रदंष्ट्र.—हगे च तेशिं कप्पडिगावशदाण पआरगद उवलद्ध अग्गदो शपेशिदे। [-अह च तयो. कार्पटिकापसदयो प्रचारगतमुपलब्धुमग्रतः सप्रेषितः।]

लोहदंष्ट्र—त तु ताद हगे आचक्खामि। दाणि य्येव पञ्चवडीए शंणिकिस्टेण मग्गेण वञ्जन्तेण मए दुवे माणुशे अस्समपदे दिस्टा, लामे च शीदा च। लक्कणे दाव तित्थयत्ताए उवावत्तमाण कुलपतिं पच्चुय्यादे त्ति य शुद। [तत्तु तातमहमाचक्षे। इदानीमेव पञ्चवट्याः सनिकृष्टेन मार्गेण व्रजता मया द्वावेव मानुषावाश्रमपदे दृष्टौ, रामश्च सीता च। लक्ष्मणस्तावत्तीर्थयात्राया उपावर्तमान कुलपति प्रत्युद्यात इति च श्रुतम्।]

वज्रदंष्ट्रः—दिस्टीए शंपादिद तए शमागदेण मह शमीहिदं। शपत्तं च लक्कशेन्दस्स पुप्फग विमाण। ता, एहि, लङ्केस्सलं णिवेदेमो यधागद। [दिष्ट्या सपादित त्वया समागतेन मम समीहितम्। सप्राप्त च राक्षसेन्द्रस्य पुष्पक विमानम्। तदेहि, लङ्केश्वरं निवेदयावो यथागतम्।]

लोहदंष्ट्र.—अय आगश्चामि। मन्दम्मि मद्देहम्मि विज्झायन्त तु य्योदी महालायागमणे दिप्पदि। [अयमागच्छामि। मन्दे मद्देहे निर्वाण गच्छत्तु ज्योतिर्महाराजागमने दीप्यते।]

निष्क्रान्तौ राक्षसौ।

प्रवेशकः।

गूजराती अनुवाद

बे राक्षसो प्रवेश करे छे.

वज्रदंष्ट्र—वत्स लोहदंष्ट्र ! तूं खुश तो खरो ? अरे, तूं पग घसीने चाले छे, एम केम ? आपणा दंडकारण्यनी नवीसवी वसतीना समाचार महाराजने निवेदन करवाने तूं लंकाए आव्यो हतो, त्यारे तो तारा पगना धबकारे धरणी ध्रूजती हती।

लोहदंष्ट्र—वज्र भाइ ! खुशीनूं शूं पूछो छो ? लंकाथी हूं पाछे पगले आव्यो, त्यां तो अहीं में रोळ वर्तेलो जोयो पेला आजकालना रामना बाणे आपणा त्रणे दंडनायक हणाया अने राक्षस-सेनानू निकदन वळी गयू ! हूं लंकामां होई ऊगर्यो; त्यारे भयनो मार्यो मरवा पड्यो छूं. अरे पण राजकुमारी शूर्पणखावा एमनूं शूं थयूं हशे ?

वज्रदंष्ट्र—संताप न कर, वत्स. ए त्रैलोक्यलक्ष्मी लंकामां विराजे छे, अने ए रामलक्ष्मण-नूं हवे आवी बन्यूं छे.

(आर्या)

वरवा गयेल लक्ष्मीतणां हण्यां नाककान नरनष्टे.

लोहदंष्ट्र—हैं हैं ! गजब कर्यो तो !

वज्रदंष्ट्र—ए निज आवरदानी छेदी छे दोरडी दुष्टे. हालहाल राजराजेश्वर लकानाथ राजकुमारी शूर्पणखानूं दडनायक खर दूषण तथा त्रिशिरानूं चौद हजार राक्षस सुभटनूं वेर वाळवा मामा मारीच साथे पधारे छे —

लोहदंष्ट्र—शूं शूं ? खुद महाराज मामाश्री साथे पधारे छे ? जय लंकेशनो !

वज्रदंष्ट्र—अने मने ए दुष्ट कापडीओनी भाळ मेळववा आगळथी मोकल्यो छे

लोहदंष्ट्र—ए हूं कहूं, मोटा भाइ पचवटी आगल थईने हूं नीकळ्यो, त्यारे राम अने सीता ए बे जणां आश्रममां हतां लक्ष्मण तो, वाटमां सांभळ्याप्रमाणे, यात्राएथी कुलपति आवे छे तेने लेवा गएल छे.

वज्रदंष्ट्र—मारे बातमी जोइती' ती ते मळी गई,. ठीक थयूं के वत्स भेगो थयो लो, आ राक्षसेंद्रनूं पुष्पकविमाने आव्यूं चाल, भाइ, आपणे महाराजने समाचार निवेदन करिये

लोहदंष्ट्र—आ आव्यो, मोटा मारा मंद देहमां वूझाती ज्योत महाराजनां पन्होतां पगले दीपे छे

बन्ने राक्षस जाय छे.

इति जनस्थानकटकोद्धारो नाम प्रवेशकः।

आ के एनो भाइ कोइ प्रवेशक के विष्कंभक होवो तो जोईए ते कबूल. पण ते आखो ने आखो ऊडी शी रीते गयो एवो प्रश्न कदापि करवामां आवे तो तेनो उत्तर बहु ज सहेलो छे. लुप्त थयेलो भाग ततः प्रविश...अक्षरोथी शरू थाय छे अने एने छेडे पण पांचमा अंक ना ततः प्रविश...अक्षरो

आवे छे तेने लीधे लहियाए दृष्टिदोषथी वचलो दश उक्तिवालो भाग मूकी दीधो होय, एम मारूं मानवूं छे. आ प्रकारनी भूल जूनी हाथप्रतोमां मळी आवे छे तेने लीधे लहियाए दृष्टिदोषथी वचलो दश उक्तिवालो भाग मूकी दीधो होय, एम मारूं मानवूं छे आ प्रकारनी भूल जूनी हाथ प्रतोमा मळी आवे छे, तेम मुद्रायत्रनां काची छापनां ओळियामां बीबा गोठवनाराना हाथे थाय छे, ए मारा अनुभवमां छे, एक पक्ति उपरथी नजर खसी बीजी पक्तिना समान अक्षरसमूह उपर करवाथी वचली पक्ति के पंक्तिओ लहियो अने बीबां गोठवनार अजाणतां मूकी दे छे, ए रीते प्रस्तुत भाग पण प्रतिमामांथी लुप्त थयो जणाय छे

उपरना लेखमां दर्शावेला विचार ने कोइ जागृतिनी भ्रमणा गणशे अने कोइ एने ऊघनूं स्वप्न लेखशे, तेनो मने सोस नथी मारू मन तो वत्सराजना शब्दोमां कहे छे के

(अनुष्टुभ्)

स्वप्न ए होय, तो धन्य स्वप्न ते नित्य ऊघतां,
भ्रमणा होय ए, तो ते भ्रमणा धन्य जागतां.[1]

त्रुटिओ जडी छे–मने पांच वरस उपर न हती जडी ते जडी छे, अने खोट पूरनारो अर्थपिड पण जड्यो छे, शब्दपिड तो जे होय ते हो

1. जुओ महाकवि भासना स्वप्नवासवदत्तनो स्वप्ननी सुदरी किंवा स्वप्ननी सुहागिणी एवा नामनो मारो अनुवाद, अक ४.
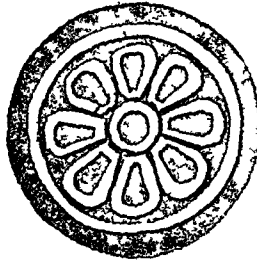
विचित्र बेनी

कैधों भट्ट तुव वेनी के व्याज सों रात ये चाँदनी मे निकसी है।
कैधो चमेली की सेज पै सुदर पगत भौरन की ये वसी है॥
कैधो बनी-ठनी नागिन ये पय-पान को छीर-समुद्र धँसी है।
कैधो सुमेरु-सिला पै सुहावनि साँवलि कल्पलता ये लसी है॥

गांगेयनरोत्तम शास्त्री

ऐतिहासिक विचार-शैली

प्रोफेसर गगाप्रसाद मेहता, एम० ए०

आधुनिक विज्ञान-युग के पहले 'इतिहास' साहित्य का ही अंग माना जाता था। साहित्य की ही शाखा-प्रशाखाओ मे 'इतिहास' की भी गिनती थी। परंतु आज-कल इतिहास ने साहित्य से नाता तोड़कर वैज्ञानिक स्वरूप धारण कर लिया है। आधुनिक विद्वान् 'वैज्ञानिक आलोचना-शैली से शोधे हुए पूर्व-काल की घटनाओ के क्रमबद्ध ज्ञान' को इतिहास कहते है। इतिहास-विज्ञान ने इस युग मे बडी उन्नति की है। हमारे इतिहास-सबधी विचार और कल्पनाएँ पहले की अपेक्षा अब अधिक प्रौढ़, प्रामाणिक और यथार्थ हैं। पहले इतिहासकार इतिहास के मूल ग्रथो की समालोचना करना जरूरी न समझते थे। उन्हे पुरातत्त्व का कुछ भी ज्ञान न था। वे इतिहास केवल इस प्रयोजन से लिखा करते थे कि उससे लोगो को शिक्षा मिले और उनके जीवन के लिये उसका ज्ञान उपयोगी सिद्ध हो। इतिहास की बातो का पूरा-पूरा अनुसधान कर उनका यथातथ्य वर्णन करना उनका उद्देश्य न था। इतिहास की परपरागत और प्रचलित बातो को ही रोचक और शिक्षाप्रद रूप मे लिखकर वे अपने-आपको कृतकृत्य मान वैठते थे। उस युग के इतिहासकार साहित्य के बडे पडित थे। उन्हे इतिहास में आलकारिक वर्णन करने का जितना शौक था उतना उसमे तथ्यानुसधान और आलोचना करने का न था। इतिहास के पठन-पाठन की रीतियों मे जो फेरफार हुए हैं उन पर विचार करने से मालूम होता है कि प्रत्येक युग मे विद्वानो ने अपने समय के विचारो और रीतियों के अनुसार इतिहास की व्याख्या की है। कवि, दार्शनिक, सामाजिक एव राजनीतिक सिद्धांतवादियों ने इतिहास का खूब ही उपयोग किया है; किंतु उनमे किसी ने इतिहास का यथार्थ तत्त्व पूरा पूरा नही समझा। उन्होंने इतिहास के आधार पर तरह-तरह के अनुमान और सिद्धांत स्थापित किए और अपने-अपने मत के समर्थन के लिये इतिहास की बातो का दृष्टांत-रूप से बड़ा उपयोग किया। किंतु इतिहास क्या वस्तु है, उसका क्या लक्षण और प्रयोजन है, उसके जानने की क्या मीमासा-शैली है, उसमे शोध करने की कहाँ तक आवश्यकता है—आदि प्रश्नो पर उन्होंने गभीर विचार नही किया। यूनान के इतिहासज्ञ हिरोडोटस (Herodotus) का कथन है कि इतिहासकार एक प्रकार का महाकवि है जिसका उद्देश्य इतिहास के वीर

पुरुषों की गुण-गाथाएँ लिखकर लोक का मनोरंजन करना मात्र है। दूसरे यूनानी इतिहासज्ञ थ्यूसीडाइडीज (Theucidides) ने इतिहास को लोकोपयोगी शिक्षा का साधन बतलाया है। उसने लिखा है कि जो घटनाएँ पहले घट चुकी है उनका यथातथ्य ज्ञान हमारे लिये बडा शिक्षाप्रद है, क्योकि वैसी ही घटनाएँ मानव-जाति के जीवन मे बार-बार हुआ करती हैं। प्राचीन काल के इतिहासकार महापुरुषो को 'मानव-इतिहास की प्रगति का मूल कारण' मानते थे और इसलिये उनके जीवन की घटनाओ के वर्णन पर विशेष ध्यान दिया करते थे। उनके विचारानुसार इतिहास 'मानव-चरित्र का बृहत्कोष' है, उससे लोक-शिक्षा के लिये उत्तम आदर्श और दृष्टात मिलते है। मनुष्य के कारनामो के जानने का और उनसे शिक्षा ग्रहण करने का उत्तम साधन इतिहास ही है। इँगलैड के प्रसिद्ध लेखक मेकॉले और कारलाइल भी इसी सिद्धात के अनुयायी थे। वे ऐतिहासिक पात्रो और घटनाओ के सजीव चित्रण मे बड़े ही सिद्धहस्त थे। उनके लिखे इतिहास के पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है कि वे मानो हमे एक चित्रशाला मे ले जाकर अपनी कला-चातुरी से खींचे हुए चित्रो का परिचय दे रहे है जिनके देखते ही उनकी चारुता और चमत्कार पर हमे मुग्ध हो जाना पडता है। वे अतीत काल का भव्य दृश्य अपनी प्रभावशालिनी प्रतिभा के रग मे रँगकर हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। वे इतिहास के वर्णन मे आलकारिक भाषा का प्रचुर प्रयोग करते है। परतु आधुनिक इतिहास की वर्णन-शैली स्वच्छ, सीधी और सरल हुआ करती है। इतिहासकार को अपनी कल्पना-शक्ति का पूर्ण नियत्रण करना पडता है। इतिहास मे स्वच्छद विचार करने का अवकाश नही होता। बिना शब्दाडबर के घटनाओ का यथातथ्य वर्णन करना और प्रमाणपुरःसर बात कहना आज-कल के इतिहास लिखने की परिपाटी है। अतएव, कवि और चित्रकार-सरीखे इतिहासकार यथार्थ इतिहास के अनुसधान करने मे सर्वथा अशक्त थे। इतिहासकारो की श्रेणी मे बकल (Buckle) तथा वॉल्टेयर (Voltaire) दार्शनिक विद्वान् थे। उन्होने अपने दार्शनिक विचारो के समर्थन के लिये इतिहास का आश्रय लिया, और उसके उन्ही तत्त्वो और घटनाओ को ग्रहण किया जिनसे उनके माने हुए सिद्धांतो की पुष्टि होती थी। परतु उनकी भी इस प्रकार की विचार-शैली दूषित थी। इतिहास मे घटनाओ के आधार पर ही कोई अनुमान वा सिद्धात स्थापित किया जाना चाहिए, न कि अपने स्वीकृत सिद्धांत की पुष्टि के लिये इतिहास की शरण लेनी चाहिए। अपनी मनमानी कल्पना और तर्कणा एक चीज है, और इतिहास के अनुसधान और प्रमाणो द्वारा निश्चित किया हुआ सिद्धांत दूसरी चीज है। इतिहास एक स्वतत्र विज्ञान है। उसे दार्शनिक और साहित्यिक सिद्धातो से जुदा रखकर उसका अभ्यास करना ही आज-कल की वैज्ञानिक रीति है। उसमे यथार्थ घटनाओ के ढूँढ निकालने की बडी आवश्यकता है। जिन साधनों से उसका ज्ञान प्राप्त होता है, उनकी आदि से अंत तक आलोचना करने और उन्हे प्रामाणिक सिद्ध करने मे तीव्र तर्क-बुद्धि अपेक्षित हुआ करती है। उसकी खोज और शोध करने के वैज्ञानिक तरीके हैं जिन पर पहले इतिहासकार जरा भी ध्यान न देते थे। किंतु उन्नीसवी सदी मे विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ इतिहास मे बड़ा भारी कायापलट हुआ। इतिहास ने उसके शोध और आलोचना करने की शैली बदली। उसके कलेवर की पूर्त्ति के और अनेक नए साधन ढूँढ़ निकाले गए। उसके पढ़ने-लिखने का प्रयोजन कुछ का कुछ

हो गया। विज्ञान के व्यापक प्रभाव से मानव-विचार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे विद्वानो को यथातथ्य ज्ञान प्राप्त करने की प्रबल उत्कठा होने लगी। वे प्रत्येक विषय के अन्वेषण तथा विश्लेषण मे लग गए। नए ढग—नई चाल—से सत्य की खोज शुरू हुई। इतिहास के क्षेत्र मे भी वास्तविक घटनाओ का अनुसधान किया जाने लगा। जिन प्रमाणो के आधार पर इतिहास लिखे गए थे उनकी आरभ से ही आलोचना की गई। कुछ विद्वान् परपरागत इतिहास के तथ्यातथ्य के निर्णय करने मे लग गए, कुछ नए-नए ऐतिहासिक साधनो का अन्वेषण करने लगे। जहाँ उन्हे जो-जो प्राचीन चिह्न वा भग्नावशेष मिले वहाँ उनका सग्रह कर उन्होने इतिहास मे उनका उपयोग करना आरभ कर दिया। साहित्य से अपना पिड छुड़ाकर इतिहास अब विज्ञान के विषयों मे आकर शामिल हो गया। सत्य एव विशुद्ध ज्ञान की खोज मे तन्मय होकर इतिहासकार वैज्ञानिक अतीत काल का यथार्थ चित्र अकित करने मे लग गए। उन्होने इतिहास को विषयातरो से बिलकुल जुदा कर लिया। सत्य और यथातथ्यता को उन्होने अपनी ऐतिहासिक गवेषणा का एकमात्र आदर्श बना लिया। इतिहास मे पुराने समय से ऐतिहासिक पुरुषो और घटनाओ के विषय मे जो भावनाएँ प्रचलित थी वे उन्हे बिना कड़ी समालोचना के मानने को तैयार न हुए। बड़ी सावधानता से उन्होने इतिहास के अनुमान-प्रमाणो की परीक्षा आरभ की। वे पुराने लब्धप्रतिष्ठ लेखको की प्रामाणिकता पर सदेह करने लगे और उनके विचारो को पक्षपातग्रस्त समझकर उनका अनादर भी करने लगे। जिन बातो पर परपरा से लोगो की श्रद्धा जम रही थी, जिनका वे सदा से आदर करते चले आते थे, उनका उन्होने खडन कर दिया। इतिहास की प्रमाणशून्य बातो और विचारो की उन्होने जड़ ही काट दी। उनका एकमात्र ध्येय था 'सत्य की खोज'। अतएव पुराने इतिहासकारो की समालोचना करने मे उन्हे बहुत-सी बातो का खडन करना ही पड़ा। परतु पहले के इतिहासकारो का निरतर खडन करते ही रहना उनका अभीष्ट न था। वे इतिहास के मडन-कार्य मे भी तुरत ही प्रवृत्त हुए। नवीन इतिहासकारो ने पुराने लेखको की बातो का पिष्टपेषण करना छोड़ दिया और इतिहास के मूल ग्रथो और अन्य साधनो के आलोचन तथा अनुशीलन मे स्वयं तत्पर हो गए। इतिहास के समस्त विषय की आदि से छानबीन कर उसका फिर से निर्माण करना उन्होने परम आवश्यक समझा। इस प्रकार इतिहास के मौलिक आधारो की खोज शुरू हुई। इतिहास के खोज करनेवालों ने भिन्न-भिन्न जातियो के प्राचीन ग्रंथ-भांडारो से अपने विषय की सामग्री जुटाना शुरू कर दिया। इतिहास के पुनर्निर्माण के निमित्त उन्हे बहुत-सी अन्य विद्याओ की सहायता लेनी पड़ी। शब्द-विज्ञान, प्राचीन लिपितत्त्व, मानव-विज्ञान, पुरातत्त्व, मुद्रातत्त्व आदि विज्ञान भी इतिहास के उद्धार करने मे उपयोगी सिद्ध होने लगे। इन समस्त विषयो से ऐतिहासिक सामग्री एकत्र करने के लिये विद्वानो ने परस्पर हाथ बँटा लिया और अपने-अपने विषयो मे विशेषज्ञ होकर उन्होने इतिहास की बहुत-सी ज्ञातव्य बाते उनसे शोध कर निकाली। खोज करने की नई शैलियाँ और नए मार्ग उन्होने दिखलाए और इतिहास-विज्ञान की अधिकार-सीमाएँ बहुत विस्तृत कर दी। वैज्ञानिक आविष्कारो के इस युग मे इतिहास का भी कलवर नई खोज की हुई बातो से भरा जाने लगा। इतिहास की खोज मे वैज्ञानिक पद्धति और तरीके

किस प्रकार काम मे लाए गए, इस बात के समझने के लिये हम यहाँ उदाहरण-रूप से प्राचीन इतिहास के साधनो पर कुछ विचार करना चाहते हैं। प्राचीन साहित्य के ग्रंथो से इतिहासकार को इतिहास की बाते श्रम से खोजकर उद्धृत करनी पडती हैं। जितना अधिक से अधिक प्राचीन इतिहास-क्षेत्र मे वह उतरता है उतनी ही थोडी साहित्यिक सामग्री उसे उपलब्ध होती है। उसे प्राचीन इतिहास के बहुत ही कम लिखित ग्रथ मिलते हैं। इसलिये वह सिक्को, शिलालेखों और पुराने भग्नावशेषो की खोज करने मे लग जाता है, क्योकि ये चीजे इतिहास पर बहुत प्रकाश डालती हैं। प्राचीन सिक्को, शिला और ताम्रपत्र पर खुदे लेखो और पुराने समय के तरह-तरह के स्मृति-चिह्नो को खोज-खोजकर आज-कल के विद्वानो ने बहुत-कुछ इतिहास का पता लगाया है। प्राचीन भारत के इतिहास के पुनरुद्धार मे पुरातत्त्व-विज्ञान बडा उपयोगी सिद्ध हुआ है। यदि प्राचीन सिक्के और उत्कीर्ण लेख हमे प्राप्त न होते तो हमारे इतिहास के बहुत-से स्थल सदा ही शून्य रहते। महाप्रतापी मौर्य और गुप्त नरेशो का हाल कौन जानता था? महात्मा बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व के सबध मे कुछ दिन पहले पाश्चात्य विद्वान् सदेह प्रकट कर चुके थे। पालि-ग्रथों मे बुद्ध के जीवन-सबंधी आख्यानों मे कथा और कल्पना को अत्यधिक मात्रा थी। इस कारण वे उन पर विश्वास न कर सके। किंतु हम पुरातत्त्व-विज्ञान के अत्यत ऋणी हैं जिसके कारण हमे ऐसे अत्यत प्राचीन स्मृति-चिह्न मिले है जो बुद्धदेव के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओ पर प्रकाश डालते हैं। जिन प्रतापी राजाओ का नाम-निशान भी हमारी ग्रथ-राशि मे नही है, उनका इतिहास उनके समय के लिखे या खुदे पत्थर वा ताम्रपत्र पर अंकित प्रशस्तियो और चरितो से प्रकट हुआ है। शिलालेखो और दानपत्रो से इतिहास-ज्ञान आविष्कृत करना पुरातत्त्वज्ञों के श्लाघ्य परिश्रम का फल है। प्राचीन लिपियों मे खुदे हुए उन लेखो के प्रत्येक अक्षर को खोजकर पढ़ना उन विद्वानों की असाधारण प्रतिभा, परिश्रम और अध्यवसाय का उदाहरण है। भारत की प्राचीन लिपियो के पढ़नेवाले विद्वानो मे अग्रगण्य जेम्स प्रिंसेप महोदय थे। उन्होने बडे प्रयत्न से ब्राह्मी और खरोष्ठी नामक प्राचीन भारतीय लिपियो की पूरी-पूरी वर्णमालाएँ तैयार की थी। कुछ इंडो-ग्रीक राजाओं के उन्हे ऐसे सिक्के मिले थे जिनके एक ओर तो भारतीय लिपि के अक्षर थे और दूसरी ओर वही बात ग्रीक भाषा और ग्रीक लिपि मे लिखी थी। बस इतने से ही उन्होंने धीरे-धीरे ब्राह्मी और खरोष्ठी के सारे वर्ण निकाल लिए, क्योकि वे ग्रीक लिपि से पहले ही से परिचित थे। प्राचीन लिपियो की शोध के साथ-साथ पुराने शिलालेख, ताम्रलेख तथा मुद्रालेख सरल रीति से पढ़े जाने लगे। उनसे भारत के प्राचीन इतिहास की अपूर्व बाते विदित हुई जिनका पता सस्कृत के विशाल साहित्य मे कही भी ढूँढ़े नही मिलता। डाक्टर फ्लीट ने लिखा है कि शिलालेख और ताम्रलेखो के देखते हुए हमे ज्ञात होता है कि प्राचीन हिंदुओ मे इतिहास लिखने की क्षमता और योग्यता थी। पौराणिक और काव्यशैलियो से इन लेखो की प्रथा बिलकुल भिन्न है। इनकी परपरा और शैली दस्तावेजी है। पूरा नाम-धाम, वशवृत्त, स्थान, मिति, संवत् देते हुए ये लेख अपना प्रयोजन विदित करते हैं। हमारे प्राचीन इतिहास के निर्माण के लिये सबसे अधिक उपयोगी तो शिलालेख और ताम्रलेख ही हैं जो उस समय के इतिहास, देशस्थिति, लोगो के आचार-व्यवहार, धर्मसबधी विचार आदि

विषयों पर बहुत-कुछ प्रकाश डालते हैं। प्राचीन सिक्के इतिहास के ज्ञान के लिये कुछ कम महत्त्व के नहीं है। प्राचीन मुद्रातत्त्व लुप्त इतिहास के उद्धार करने का एक आवश्यक साधन है। भारत मे यवन, शक, पह्लव आदि विदेशी राजाओ की सत्ता पश्चिमोत्तर प्रदेशो मे बहुत काल तक रही, इसका पता उनके चलाए हुए सिक्को पर खुदे लेखो से ही लगा है। काबुल और प जाव पर राज करनेवाले यूनानी राजाओ के सिक्को पर एक तरफ राजा का चेहरा, उसका नाम और खिताब रहता है और दूसरी ओर किसी आराध्य देवी-देवता का चित्र। इन राजाओ की नामावली सिक्को से ही मिली है। इन सिक्को पर सवत् न रहने से उक्त यवन राजाओ का ठीक-ठीक काल निश्चित करना कठिन है, तो भी हमारे इतिहास की खोई हुई कड़ियो के एकत्र करने मे ये सिक्के बहुत बडे सहायक हैं। सस्कृत विरुदो से अंकित गुप्त-कालीन सोने के सिक्कों का सौंदर्य और वैचित्र्य देखने योग्य है। उन पर कही राजा-रानी की मूर्त्ति अंकित है, कही अश्वमेध का घोडा। किसी मुद्रा पर शिकार खेलता हुआ राजा है, किसी पर वीणा बजाता हुआ। ऐसी मुद्राओ के आकार-प्रकार और उनके सोने की शुद्धता आदि देखकर मुद्राशास्त्रज्ञ अनुमान करते हैं कि गुप्त-काल मे भारतवर्ष बहुत धनधान्यसपन्न था। इसी प्रकार, प्राचीन नगरो के खँड़हरो मे इमारतो, मदिरो और विहारो के भग्नावशेष, सुदर मूर्त्तियाँ और शिल्प के नमूने पुरातत्त्वज्ञो ने खोज-खोजकर एकत्र किए हैं जो इस देश की शानदार सभ्यता और कला-कौशल का हमे प्रत्यक्ष परिचय देते हैं। शिल्प, वास्तु और चित्रण-कलाओ मे भारत ने समय-समय पर जो आश्चर्य-जनक उन्नति की थी उसका सिलसिलेवार इतिहास पुरातत्त्वानुसधान से ही उपलब्ध हुआ है। शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के आदि पुरातत्त्व-संबधी साधनो के अतिरिक्त हमे अधिकांश इतिहास का ज्ञान प्राचीन लिखित ग्रथो से मिलता है। परतु उन ग्रथो के अभ्यास मे भी हमे बहुत-कुछ शोध और समालोचन करने की आवश्यकता होती है। जैसे-जैसे हम उन लिखित ग्रथो से इतिहास की सामग्री संकलित करते हैं वैसे-वैसे हमे विशेष कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। प्रारभ मे ही पुराने ग्रथो के विषय मे—वे कब लिखे गए, उनके रचयिता कौन थे, वे कहाँ तक प्रामाणिक हैं—इत्यादि प्रश्नों पर हमे खूब बहस करनी पड़ती है। यदि किसी ग्रथ का काल निश्चित न हो तो वह इतिहास के लिये उपयोगी नही हो सकता। अतएव इतिहास के लिये प्राचीन ग्रथों के रचना-काल का अनुसधान करना बहुत आवश्यक है। यदि किसी पुराने ग्रथ के काल-निर्णय के लिये बहिरग प्रमाण नही मिलते तो हमे उस ग्रथ की अंतरग परीक्षा द्वारा उसका रचना-काल निश्चित करना पड़ता है। जिस भाषा-शैली मे वह लिखा गया है, जिन विचारो का उसमे समावेश है, जिस ज्ञात समय के इतिहास वा देश-स्थिति पर वह प्रकाश डालता है, उन सब बातो पर विचार करने से उसके रचना-काल का बहुत-कुछ अनुमान किया जा सकता है। जिन ग्रथो का समय बिलकुल अज्ञात है उनके रचना-काल का निर्णय करना अत्यत श्रम का कार्य है। उनकी शैली और विषय की सूक्ष्म परीक्षा और विश्लेषण कर, उस देश के भिन्न-भिन्न युगो के साहित्य से उनकी तुलना कर, हमे यह सिद्ध करने के लिये अनेक प्रमाण और युक्तियाँ एकत्र करनी पड़ती हैं कि वे ग्रथ अमुक देश की साहित्यिक विकास-शृंखला मे अमुक समय के आसपास रचे गए होगे। उन ग्रथो के उल्लेख कहाँ-कहाँ किन प्राचीन

लेखकों ने किए हैं, इसका भी अनुसंधान करना उनके काल-निर्णय के लिये आवश्यक होता है। किसी ग्रथ के रचना-काल के निश्चित हो जाने पर हमे फिर उसकी प्रामाणिकता पर विचार करना पडता है। यह भली भाँति विदित है कि प्राचीन ग्रथो मे समय-समय पर बडे फेरफार हुए हैं, उनमे क्षेपक जोड़ दिए गए हैं और उनके मूल सस्करण मे तरह-तरह के सशोधन और परिवर्त्तन कर दिए गए हैं। उनका इतिहास मे उपयोग करने के पहले हमे यह देख लेना पडता है कि उनका मूल पाठ शुद्ध है वा नही। यदि सारे ग्रथ की भाषा-शैली एक-सी है, यदि उसकी युक्ति-परपरा मे किसी प्रकार का असामजस्य नहीं देख पड़ता, यदि उसके विचार-क्रम मे विरोध नही मालूम होता, तो हम उस ग्रंथ को प्रामाणिक मान लेते हैं और उसे एक ही विद्वान् की विशुद्ध कृति समझते हैं। मूल ग्रथ ही इतिहास का उपयोगी साधन हो सकता है। उसके वर्त्तमान संस्करण से प्रक्षिप्त अंश जब तक निकाल नही दिए जाते तब तक वह इतिहास के लिये उपयोगी नही हो सकता। प्राचीन ग्रथों के मूल अश को खोजकर निकालना और उनकी रचना का समय और स्थल निश्चित करना इतिहास-ज्ञान के लिये अत्यत आवश्यक है। मूल ग्रथ प्राप्त कर लेने पर भी हमारे आलोचनात्मक शोध का बस अंत नही होता। हमे उस ग्रंथ की व्याख्या करने मे भी आलोचना-शैली का अवलंबन करना पडता है। समय-समय पर विद्वानो ने अपने विचारानुसार पुराने ग्रथों की मनमानी व्याख्याएँ की हैं। जिस देश-काल की परिस्थिति मे जो ग्रथ लिखा गया है उसका तात्पर्य-निर्णय उस समय की ही भाषा, आचार और विचार के अनुसार करना उचित है। उन ग्रथो के बड़े-बडे भाष्यकार और टीकाकार भी हमारी दृष्टि मे श्रद्धास्पद न होते यदि वे ऐतिहासिक विचार-शैली से उनकी व्याख्या न करते। शब्दो के अर्थ बदलते रहते हैं। मनुष्य के विचारों मे विकास होता रहता है। हमारे जीवन की परिस्थितियाँ परिवर्त्तनशील हैं। अतएव, साहित्य की व्याख्या मे नूतन और पुरातन विचारो का समिश्रण करने से हमे भिन्न-भिन्न काल का यथातथ्य ज्ञान नही हो सकता। प्राचीन मूल ग्रथ का अर्थ करते समय हमे उसमें अपने नवीन विचारो और संस्कारों के सन्निविष्ट करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति बिलकुल छोड़ देनी चाहिए। हमे यथार्थ इतिहास का पता ही नही लग सकता यदि हम प्राचीन लेखको से उन बातो के कहला लेने का यत्न करे जो वे कदापि कहना नहीं चाहते थे। भिन्न-भिन्न युगो मे बहुत-से शब्दो के अर्थ बदल जाया करते हैं। काल-क्रमानुसार नए-नए विचारो का उनमे समावेश होता रहता है। उनका तात्पर्य गंभीर होता चला जाता है। अतएव प्राचीन ग्रथ की व्याख्या करने मे शब्दो के ठीक-ठीक अर्थ का पता लगाना अत्यंत आवश्यक है। इतिहास-विज्ञान के लिये शब्दो की यथार्थ व्याख्या करना बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है। शब्द का अशुद्ध अर्थ इतिहास मे भारी भूल का कारण बन सकता है। मूल ग्रथ के प्रतिपादित विषय मे भी अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं। अतएव, जिन घटनाओ का अमुक लेखक ने वर्णन किया है, क्या वह उनका समकालीन था—क्या उसने उन्हे स्वय देखा था—क्या उसने उनका यथोचित वर्णन किया है इत्यादि प्रश्नो की हमे तर्कवितर्कपूर्वक मीमांसा करनी पड़ती है। लेखक के विवरणो मे हम उसकी सचाई को कसौटी पर कस कर देखते हैं। उसके चरित्र को, उसके पूर्व वृत्त और मनोवृत्तियों को हमे भली भाँति परखना पडता है। इतिहास के अनेक पृष्ठो पर पुराने लेखको के नैतिक और मानसिक

दोष स्पष्ट झलकते हैं। लार्ड ऍक्टन का कथन है कि इतिहासकार को गवाह की भॉति मानना चाहिए, और जब तक उसकी सचाई का सबूत न मिल जाय तब तक उसका विश्वास न करना चाहिए। हमे उसकी बातो पर बराबर शका करते रहना चाहिए। जब उसके कथन सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध हो तभी हम उसे इतिहास मे आप्तवाक्य कह सकते हैं। उसकी प्रामाणिकता के विषय मे हमे कई प्रश्न करने पड़ते हैं। उसने कहाँ से और कैसे बाते मालूम की? क्या उसने घटनाओ का बिना घटाए-चढ़ाए ठीक-ठीक निरूपण किया है? क्या उसमे बातो और मनुष्यो के ठीक निरीक्षण करने की शक्ति थी? इन प्रश्नों के सतोषजनक उत्तर से ही उसके कथन श्रद्धास्पद कहे जा सकते हैं, अन्यथा नही। आलोचनशील इतिहास-प्रेमी का परम कर्त्तव्य है कि वह इतिहास के साधनों को पक्के प्रमाणो की कसौटी पर कसकर उन्हे अपनाए। इस प्रकार प्राचीन ग्रथो के आलोचनात्मक विवेचन से हमे बहुत-सी जुदी-जुदी घटनाओ का पता चलता है। उन असबद्ध घटनाओ के पता चलने के बाद हमे उन्हे कार्य-कारण के सूत्र मे सग्रथित करने की आवश्यकता होती है। उन घटनाओ को शृखलाबद्ध विज्ञान के रूप में परिणत करने के लिये उनका आपस के सबंध और उनके नियामक सिद्धांतो का अन्वेषण करना पडता है। इतिहास की घटनाओ को जब तक कार्य-कारण के महानियम मे ओत-प्रोत नहीं कर लेते तब तक उनकी प्रगति तथा प्रयोजन हमे समझ नहीं पड़ता। घटना-क्रम के निरूपण के लिये हमे एक सिद्धांत निश्चित करना पडता है। घटनाओ का विकास-क्रम समझना चाहिए, क्योकि उनमें पूर्व-सबध रहता है। अतएव इतिहास की बातो मे कार्य-कारण का ढूॅढ़ निकालना प्रगल्भ बुद्धि का काम है। इतिहास की घटनाओ को शोध कर हमे उन्हे एकत्र कर समष्टि-रूप मे उनका निरूपण करना पड़ता है। यदि कोई इतिहासवेत्ता यह कहे कि मै घर खोद सकता हूॅ, किंतु बना नहीं सकता—'अशक्तोऽहं गृहारम्भे शक्तोऽह गृहभञ्जने' तो मानना पडेगा कि वह अपना पूर्ण कर्त्तव्य नही समझता। इतिहास के तत्त्वो को जुदा-जुदा करने के पश्चात् उनकी परस्पर सगति मिलाकर हमे इतिहास का निर्माण करना चाहिए। उसकी घटनाओ को शृखलाबद्ध करना आवश्यक है। अन्यथा इतिहास घटनाओ का जगड्ड्वाल हो जाता है। उसमे हमे अविच्छिन्न विकास-क्रम नही देख पडता। उसका ज्ञान हमारी स्मरण-शक्ति के लिये भार-रूप हो जाता है। उसके अभ्यास से हमारी बुद्धि मे प्रकाश नही होता। तभी प्रत्येक घटना का अर्थ विशद होता है जब हम अन्य घटनाओ के साथ उसका सबध देख पाते हैं और उन सारी घटनाओ को एक व्यापक नियम मे ओतप्रोत कर लेते हैं। प्रत्येक युग की घटना-समष्टि को ध्यान मे रखने से हम उस युग के विकास-क्रम और प्रगति को समझ पाते हैं।

लार्ड ऍक्टन के मतानुसार इतिहास की बातो के पढ़ने और रटने की अपेक्षा ऐतिहासिक शैली से विचार करने की शक्ति प्राप्त करना उत्तम पक्ष है। इस विचार-शक्ति के द्वारा इतिहास की परिवर्त्तन-परपरा तथा उसके बडे-बडे आंदोलनो का रहस्य सरलता से समझ मे आ जाता है। ऐतिहासिक रीति से विचार करते समय हमे केवल सत्य के ही पक्ष से रहना चाहिए। अपने पुराने सस्कार और भावनाओ के अनुसार इतिहास की व्याख्या करना मानों सत्य का गला घोटना है। इतिहास के तत्त्वानुसंधान मे हमारी दृष्टि राग-द्वेष-शून्य होनी चाहिए। किसी पक्ष वा मत के समर्थन मे इतिहास

का उपयोग करना अशुद्ध पद्धति है। हमारे धार्मिक वा जातीय पक्षपात हमे सत्य का साक्षात्कार नही होने देते। इतिहास के जिज्ञासुओ मे सत्य का अनुराग, देश और धर्म की भक्ति से भी अधिक, दृढ़ और गभीर होना चाहिए। उनमे तत्त्वजिज्ञासा की निष्काम और निर्विकार मनोवृत्ति होनी चाहिए। धर्मांध, कट्टर, हठी और दुराग्रही मनुष्य ऐतिहासिक सत्य का कदापि अनुसधान नही कर सकता। 'सत्यमेव जयते नानृतम्—सच की ही जीत होती है, झूठ की नही'—उपनिषद् के इस महावाक्य पर इतिहास-प्रेमी का सदा ध्यान रहना चाहिए। 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्—सत्य से कभी प्रमाद न करना चाहिए'—जिसने अपना यह ध्येय बना लिया है वही सच्चा इतिहासवेत्ता कहलाने का अधिकारी है।

हम पहले कह चुके हैं कि इतिहास का आलोचन वैज्ञानिक रीति से होना चाहिए और उसकी खोज मे सत्य और यथार्थता पर हमारा पूर्ण लक्ष्य रहना चाहिए। किंतु जब हम आधुनिक वैज्ञानिक इतिहासकारो के गुण-दोषो की परीक्षा करने लगते हैं तब हमे ज्ञात होता है कि यद्यपि वे ऐतिहासिक साधनो की गवेषणा और समालोचना करने मे बडे प्रवीण और प्रामाणिक हैं तथापि उनमे दार्शनिक दृष्टि की, प्रतिभा के ज्योति की तथा ऊँचे और गभीर विचारो की कमी देखने में आती है। वे अपने ग्रथों मे इतिहास की घटनाओ का शुष्क और नीरस वर्णन करते हैं किंतु वे उसके आंतरिक मर्म और तात्पर्य के नहीं समझ पाते। उनमे विचार और कल्पना-शक्ति की कमी होती है। वे इतिहास को बीती बातो का अस्थि-ककाल बना डालते हैं। वे उसके जीते-जागते स्वरूप को, उसके धारावाहिक जीवन के, समझ नही सकते। वे कोरे विशेषज्ञ हुआ करते हैं, जो इतिहास के किसी एक ही विषय की आलोचना और चर्चा मे अपना समस्त बुद्धि-बल लगा देते हैं। वे बाल की खाल खीचने मे बडे पटु होते हैं। इस कारण वे इतिहास के तात्पर्य के व्यापक दृष्टिकोण से नही देख पाते और न वे बडे ऐतिहासिक आंदोलनो की शक्ति और रहस्य ही समझ पाते हैं। इतना तो स्वीकार करने के लिये हम तैयार हैं कि इतिहास के क्षेत्र में हमे वैज्ञानिक नियमो और रीतियों के द्वारा खोज करनी चाहिए, किंतु इतिहास के तत्त्वो की खोज और सग्रह करने के पश्चात् हमे उनका सकलन और निरूपण उन कला-चतुर विद्वानो की भाँति करना चाहिए जो उसके सजीव और विशद रूप का वर्णन कर सकते हैं। ऐसे लेखक इतिहास का सजीव चित्र खीचकर हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। इतिहास का जितना सबंध विज्ञान से है उतना ही कला से भी। इतिहास बीती हुई बातो का अजायबघर नही है। उसका हमारे वर्त्तमान जीवन से घनिष्ठ सबध है, अतएव अपने जीवन की वर्त्तमान और अतीत दशा की ठीक-ठीक व्याख्या करने के लिये हमे इतिहास का, साहित्य और कला की भाँति, अध्ययन करना चाहिए। कलाचतुर इतिहासकार अपनी कल्पना-शक्ति की ज्योति फैलाकर अतीत काल के दृश्य के सजीव बना देता है। वह अतीत युग को उसके जीते-जागते रूप मे प्रकट कर देता है। वह बीते समय की सजीव मूर्त्ति तथा उसके रूप और प्रवृत्ति को प्रत्यक्ष दरसा देता है। इसी लिये वाइकाउट हालडेन (Viscount Haldane) ने बहुत ही ठीक कहा है कि इतिहासकार को फोटोग्राफर नही, किंतु चित्रकार के सदृश होना चाहिए। चित्रकार वस्तु के तात्कालिक रूप को अंकित नहीं करता, यह तो फोटो उतारनेवाले का काम है। वस्तु के समष्टि-रूप को, उसके पूरे-पूरे तात्पर्य को, व्यक्त करना उत्तम कला का लक्षण है। उसके

अंग-प्रत्यंग का विवरण मात्र दे देना तो साधारण-सी बात है। इसमे किसी हुनर की जरूरत नहीं। वस्तु के आंतरिक अर्थ को खोलकर दिखा देना चित्रकार की कारीगरी है। इसी प्रकार इतिहास की घटनाओ की प्रगति को, उनके उत्तरोत्तर विकास-क्रम को तथा उनके समस्त तात्पर्य को सुव्यक्त कर देना ही उत्तम इतिहासकार की करामात है। इतिहास की ठठरियों को—गडे मुर्दों को—खोद-खोदकर निकालने से उसे सतोष नही होता, किंतु वह उसकी अंत:शक्ति और जीवन-स्रोत को खोलकर दिखा देना अपना परम कर्त्तव्य मानता है।

इतिहास की वैज्ञानिक आलोचना से उसमे बहुत-सी यथार्थ बातो का समावेश हुआ है और हो रहा है। इतिहास का कलेवर, शोध कर निकाली हुई वास्तविक घटनाओ से, भरा जा रहा है। हमारा इतिहास-विषयक ज्ञान जितना यथार्थ, पूर्ण और प्रगाढ़ है उतना पहले के लोगो का न था। कला की दृष्टि से इतिहास का अनुशीलन करने से हमे उसका तात्पर्य अत्यत सजीव और विशद रूप से समझने का सौभाग्य मिला है। इसमे तो सदेह नही कि इतिहास का परिशीलन हमारे मानसिक विकास का बहुत बड़ा साधन है। वस्तुतः इस युग के मानसिक जीवन पर ऐतिहासिक विचार-शैली का गहरा प्रभाव पड़ा है। किसी भी विषय की चर्चा क्यो न हो, उसका निरूपण तद्विषयक इतिहास की सहायता के बिना हो ही नही सकता। अर्थशास्त्र, राजनीति, व्यवहार, समाज-विज्ञान इत्यादि सभी विषय आज-कल इतिहास के रूप मे परिणत हो गए हैं। आज-कल ऐतिहासिक दृष्टि से ही सभी विद्याओ का विवेचन और आलोचन किया जाता है। जैसे-जैसे अमुक शास्त्र वा विज्ञान की शाखा पल्लवित और उन्नत हुई है, उसके आद्योपांत विकास-क्रम को पूर्ण रूप से समझ लेने पर ही उस विषय का ठीक-ठीक परिज्ञान होता है। प्रत्येक शास्त्र का श्रीगणेश उसके इतिहास से ही किया जाता है। मनुष्य ने अमुक विज्ञान-क्षेत्र मे आज तक कितना ज्ञान सपादित किया है, उसका पूरा-पूरा विवरण प्रत्येक वैज्ञानिक ग्रथ के आरंभ मे दिया जाता है। अमुक विज्ञान का उपक्रम कब और कैसे हुआ, उसके विकास-क्रम मे कौन-से नए-नए आविष्कार हुए और उसकी वर्त्तमान समस्याएँ—जिन्हे हल करना आवश्यक है—क्या हैं, इत्यादि इतिहासात्मक प्रश्नों का विवेचन करने की परिपाटी प्रत्येक विषय के ग्रथो मे चल पड़ी है। यूनानी विद्वान् अरस्तू का कथन बहुत सारगर्भ है कि जो मनुष्य किसी विषय के पूर्वापर विकास-क्रम पर विचार करता है—चाहे वह राष्ट्र हो अथवा विषयांतर, वही उस विषय का पूर्ण और विशद ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वास्तव मे ज्ञान की कोई भी शाखा, बिना उसका इतिहास जाने, ठीक-ठीक समझ मे नही आ सकती। दृष्टांत के लिये धर्म-विज्ञान ही लीजिए। उसके सीखने का सबसे अच्छा साधन उसके इतिहास का अध्ययन ही है। मनुष्य के धार्मिक विचारो मे किन-किन कारणो से हेरफेर हुए, उनके सशोधन करने मे समय-समय पर होनेवाले आचार्यों और सत-साधुओ ने किन-किन सिद्धांतो का प्रचार किया, उनका सर्वसाधारण पर कितना और कहाँ तक प्रभाव पड़ा, उनके धर्मोपदेश का कितना अंश मौलिक और कितना प्राक्तन था इत्यादि प्रश्नो पर विचार करने से किसी भी देश के धर्म का यथा-तथ्य रूप हमे भली भाँति अवगत हो जाता है। इतिहासकार किसी भी जाति के धर्म-ग्रथो को अपौरुषेय वा ईश्वरकृत नही मान सकता, क्योंकि वे मनुष्य की उन बोलियो मे लिखे हुए हैं जिनका धीरे-धीरे

इतिहास मे विकास हुआ है। उनका, उनके देश-काल की परिस्थिति से, घनिष्ठ सबंध रहता है, उन परे देश-काल का पूर्ण प्रतिबिंब झलकता है। आधुनिक दर्शन-शास्त्र की भी आलोचना ऐतिहासिक विचार-शैली द्वारा की जाती है। अब इसमे भी विद्वानो को स्वच्छद विचार करने का अवकाश न रहा। तत्वान्वेषण करते हुए मनुष्य के मस्तिष्क से जो-जो विचार क्रमशः निकल चुके हैं उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना करते हुए हमे वर्त्तमान दार्शनिक प्रश्नो की चर्चा मे प्रवृत्त होना चाहिए। आज-कल के दर्शनो मे नूतन और पुरातन सिद्धांतो की तुलनात्मक आलोचना से जो नए विचार सूझते हैं वे ही विद्वानो को सर्वथा उपादेय मालूम होते हैं। पुराने दार्शनिको के मनोराज्य—उनकी मनगढ़त बाते और निरी निराधार कल्पनाएँ उन्हे दुर्गम और दुरूह प्रतीत होती हैं। सारांश यह कि कोई भी विषय क्यो न हो, उसके पूरे-पूरे इतिहास से परिचित होना उस विषय की कठिनाइयो के समझने और सुलझाने का साधन है। महाकवि शेक्सपीयर ने लिखा है कि मनुष्य मननशील प्राणी है और वह पूर्वापर विचार करने की सूक्ष्म शक्ति से सपन्न है। किंतु, यदि उसमे ऐतिहासिक बुद्धि (Historical sense) न हो, यदि उसमें पहली बीती बातो पर विचार करने की क्षमता न हो, तो वह कैसे आगे की बातो को सोच सकता है और कैसे जीवन की कठिन समस्याओ को हल कर सकता है। जैसा स्मरण-शक्ति का हमारी विचार-शक्ति से सबध है, वैसा ही इतिहास का हमारी विद्या और विज्ञान से है। मानव-जाति ने अपने इतिहास-काल मे जिस ज्ञान-निधि का सग्रह किया है उसी के आधार पर मानव-विज्ञान की उन्नति हुई और हो सकती है। यदि मनुष्य की धारणा-शक्ति ही नष्ट हो जाय, जिसमे उसके पूर्वोपार्जित अनुभव निहित रहते हैं, तो उसके ज्ञान-नेत्र ही मुँद जाते हैं—उसकी विचार-शक्ति ही जाती रहती है। इसी प्रकार, यदि मनुष्य इतिहास के ज्ञान को भूल जाता है तो वह भिन्न-भिन्न रूप के ऐतिहासिक अनुभवों के ज्ञान से वचित रहता है और अपने जीवन की जटिल समस्याओं को ठीक-ठीक समझने मे असमर्थ होता है।

वास्तव मे इतिहास मानव-जाति का ज्ञान-कोष है। हमारी विद्याओ मे इसका सबसे ऊँचा स्थान है। यह समस्त विद्याओ और शास्त्रो का दीपक है, सब कर्मो का उपाय है, और सब धर्मो का आधार है—

> 'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्म्मणाम्।
> आश्रयः सर्वधर्म्माणा विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता॥—(कौटल्य-अर्थशास्त्र)

On Different Perceptions of Literary Facts

Professor A. Barannikov

THREE topics usually draw the attention of a historian of literature while studying literary facts: the work itself, its author and the social environment represented in the work that is being studied.

Very little attention is generally paid to the problem of perception to the psychological reaction of the reader to the work under examination. Whilst the study of literary works can in essentials be considered as complete after having studied not only the exciter, that is, the author and his work, his ideas embodied in images belonging to a definite social environment—but also the impression produced in the reader's mind.

It is common knowledge that a difference in the perception of literary works does not only depend on a difference in age or social class, it is also, to a large extent, determined by the reader's training and fitness for the perception of any given literary work.

It is perfectly clear that the perception of a given literary work will be most complete in the framework of the nationality on whose soil it has been created, being one of the links of a long and complex chain of literary traditions. Only on the background of this national literary tradition can the skill, originality and social value of a given literary work be appreciated, since it is connected with innumerable threads not only with the present time, but also with the history of the people.

A literary work appears in an exceptional position when transplanted by means of translation into another national milieu which has a different history, belongs to a different culture, and is nurtured by quite different traditions; and when this milieu knows little about the culture, history, mode of life and traditions of the people to which the translated work belongs in its original form. Although translated accurately,

let us even say skilfully, this work may prove to be unintelligible to the new cultural, national and social milieu. This thought is perfectly expressed by Anatole France in his "Les Opinions de M Yerome Coignard" —

"Si la race future gardait quelque mémoire de notre nom ou de nos écrits nous pouvons prévoir qu' elle ne goûterait notre pensée que par ce travail ingenieux de faux sens et de contresens qui seul perpétue les ouvrages du génie à travers les âges Je ne crains pas de dire, qu' à l' heure qu'il est, nous n' entendons pas un seul vers de l' Iliade ou de la Divine Comédie dans le sens qui y était attaché primitivement Vivre c'est se transformer, et la vie posthume de nos pensés écrites n'est pas affranchie de cette loi elles ne continueront d'exister qu' à la condition de devenir de plus en plus différentes de ce qu' elles étaient en sortant de notre âme. Ce qu' on admirera de nous dans l'avenir nous deviendra tout à fait étranger"

In their effort to render a literary work more intelligible to new circles of readers, translators often subject it to such considerable alterations that it departs from its original form , but on the other hand, the general ideas of the author become more accessible to the reader

Instances of such treatment may be illustrated by the Tales of L Tolstoy translated into the Hindi by Mr Prem Chand and the adaptation into the Hindi of Molière's comedies whose forms by their peculiarity would have astonished Molière himself.

In European literature, as we know, such methods of translation are very seldom used As a rule, the translator is required to render correctly not only the ideas and the subject of a literary work, but also its form—to keep as close as possible to the original. Naturally such a form of translation from the language of a people developed in conditions widely different from those in which the new reader has lived offers considerable difficulties of apprehension. Without suitable comments such translations are often difficult to understand, and the new readers cannot always perceive the real social value of the original.

Aside from reasons of cultural and historical order there is one factor that prevents the reader from taxing in translations from Oriental languages, in particular those from Indian languages the prejudice widely spread in Europe according to which the European reader expects without fail a considerable dose of exoticism in

works translated from Oriental languages—the picture of a life and ideas utterly different from what one sees in Europe The presence of this exoticism in works translated from the Oriental languages often seems to be the only criterion of estimate.

The existence of this prejudice is to be explained by the fact that the knowledge of Oriental literatures is very poor even among the most educated class of readers, excluding a narrow circle of specialists.

At a first glance it may appear that Indian literatures are in this respect in a more favourable position than the other Oriental literatures And, indeed, the knowledge of Sanskrit literature has a tradition of long standing Because of the connection of Sanskrit with Comparative Philology, its knowledge was spread much wider than that of other Oriental languages, and therefore the most important works of Sanskrit literature, especially its epos, the dramas and poems of Kalidasa, the works of Daudin and a number of other writers are known in Europe and also in Russia either in complete translations or in extracts or else in summaries of the content. It seems that this fact should considerably facilitate the perception and understanding of the works of new Indian literature in general, and those of Hindi in particular.

Although it may appear paradoxical, we hold it for very probable that a superficial acquaintance of the readers with old Indian literature combined with a next to complete ignorance of the subsequent literary tradition hampers the understanding of literary works in Hindi and other new Indian languages. This is due to the fact that on the basis of their acquaintance with Sanskrit literature readers have formed an idea of a " standard of the true Indian"—a notion of a specific circle of ideas, interests and forms.

Such notions evolved owing to a complete ignorance on the part of the European reader as to the subsequent literary traditions of India, considerably hamper his apprehension of the social value of the works of contemporary Indian writers who, in modern literary forms reflect modern life with all its complex cultural, social and political situation For the common European reader, and for the Russian reader in particular, new Indian works often appear to possess little originality because of their being less exotic than the works of the old Indian literature, the "Ramayana"

कलावंत

चित्रकार—श्री० कृष्णलाल भट्ट

(चित्रकार के सौजन्य से)
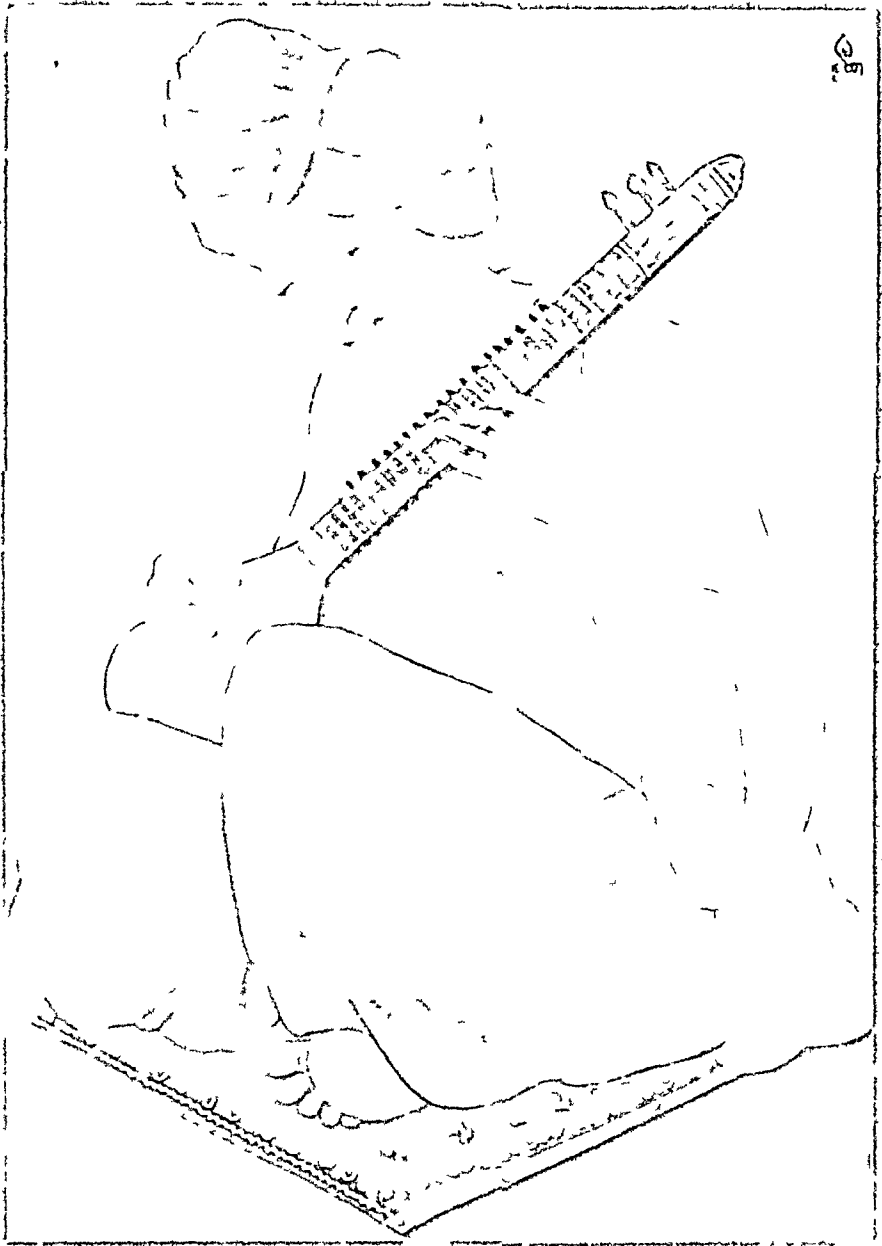
by Tulsi Das or the poems by R. Tagore This is how the European, and in particular the Russian, reader draws comparisons between utterly different works, belonging to different epochs, distant in their ideas and purpose. This can be explained by an inadequate knowledge of Indian literary traditions

If one considers Russia separately one may say that before the beginning of the 20th century the New-Indian languages and their literature were hardly studied there at all In the beginning of the 20th century appeared a few Urdu grammars very imperfect in their form, but still giving some notion of the language. The New Indian literatures remained nearly unknown to the Russian public until R Tagore was awarded the Nobel prize After this event translations of his works into Russian have kept appearing for twenty years The greatest popularity was enjoyed—in pre-revolutionary Russia, as well as in Europe, by the poems of R Tagore where the reader besides the perfection of literary form found the traditional exotic atmosphere so attractive to some circles seeking for an element of romanticism and mysticism in poetry From the works of other Bengal authors the writings of Bankim Chandra Chatterji have also been translated.

After the revolution the study of Oriental languages—the numerous languages of the Soviet East as well as those of the foreign East—is being cultivated on a large scale Besides the old centres of Oriental studies as Leningrad, Moscow, Tashkent, Tiflis etc., there were created the new centres of Orientology as Kharkov, Kiev etc. The study of Hindi, Urdu, Bengali, and other Indo-Aryan languages has been introduced in many high schools in Leningrad, Moscow, Kharkov, and in other towns, and has been followed by the publishing of school-books and texts.

A number of works of Hindi and Urdu literature are being translated into the principal languages of Soviet Union—Russian and Ukrainian. Besides the works of other authors those of Prem Chand's which are the most popular in India are also translated. The comments of the readers of these translations show that in spite of the great interest aroused by these writings they seem to the reader less novel and less original than the works of old literature or the poems of R Tagore which by the ideas expressed in them belong to the old literary tradition.

Thus we observe two opposite appreciations of the same work. Whereas in India itself the works of the new Hindi literature, especially if regarded through

the prism of Indian literary tradition, appear to be highly original in form as well as in subject-matter, in Europe and particularly in Russia, people widely acquainted with the works of the world literature have the reverse impression.

Part of the blame is certainly to be laid at the door of the translators who do not always manage to find in their mother tongue an outward form corresponding to that of the original. But, beyond all doubt, the reason for perception and impression of this kind is not to be explained by this purely outward imperfection of form alone. It lies much deeper

Indeed, as regards form, the European reader has long been acquainted with such forms as the tale, the short story, and the novel. While in Indian literature these forms have begun to be cultivated not long ago and therefore appear to be very new and original

The social elements, the fine psychologism of the new authors, their ideas, thematics, the subtly psychological development of the theme and the drawing out of characters are likewise a great novelty for Indian literary traditions. All these were unknown to the old literature which gave samples of a clear cut sculptural form and single translucid images needing no nice psychological analysis.

The impression of the European and particularly of the Russian reader will, to a great extent, be different The works of old masters and the lyrics of R Tagore represent the acme of old literary tradition , they are capable of fusing and blending with this tradition which, notwithstanding its seeming vagueness, has assumed a finished and clear-cut form, and appear most unusual and original to the European mind , they attract by their peculiar exotic character. The novels and short stories by modern authors, especially the writings of such a master of the word as Prem Chand present literary forms long known and cultivated in Europe and, after the deeply psychological novels by Dostoyevsky, L. Tolstoy and the social problems found in the works of Chekhov, M. Gorky and other eminent European authors, do not create in Russia an impression of novelty and originality.

It is interesting to point out that not only the writings of authors of New-Indian literature, but also those of other modern Oriental literatures as Chinese, Japanese, Turkish and others are in a similar position.

Such a perception in Europe of the literary facts of modern Hindi and other Indian literatures is to be explained by reasons of twofold nature The European reader, though theoretically acquainted with the levelling influence of modern capitalistic culture and technics, does not take this influence sufficiently into consideration when he sees it reflected in the form, ideas, images and content of modern Oriental literatures

As the transition of Eastern countries from ancient culture to a capitalistic form of culture takes place under the influence of Europe, which has stridden far ahead in this respect, the reflection of these cultural stages long since outgrown by Europe is unable to produce in that country an impression of absolute novelty and originality

For the European reader the great attraction of all the works of modern Indian literature, as well as of those of other Oriental literatures, resides in the representation of local situation—that peculiar, specific form in which new ideas are transmitted in the complex and original atmosphere of a country which has a brilliant tradition in the evolution of thought

If the cultural stages depicted in the writings of contemporary Indian writers had been outlived by European readers long before the advent of the works, the translations of which appear in Europe at present, there could have been created some perspective which would allow a proper appreciation of the translated works But the social and psychological moments, the situations and ideas reflected in them are still so fresh in a European setting that the necessary perspective is wanting This explains, to my mind, why the European reader under-estimates the writings of contemporary authors of Hindi and other Indian literatures

This under-estimation of the significance of modern literature should be fought against. The principal method for fighting it is to make the readers as widely as possible acquainted with the history of the development of Indian literatures in general, and of the history of Hindi literature in particular, for only by apprehending a literary phenomenon through the prism of the historical tradition to which it belongs, can one thoroughly understand and appreciate its social importance The brilliant past of Hindi literature will, without doubt, secure for it the attention of the European reader which belongs to it by right. The light of this most rich and complex

tradition will throw into strong relief the original traits and the intrinsic value of the works of modern Hindi literature.

Until recently this task, i.e., the problem of the acquaintance of the European reader with the ways of development of Hindi literature was extremely difficult owing to unavailability of sources and to the absence of general literary surveys. At the present moment, thanks to the activity of the highly esteemed Acharya Mahavira Prasad Dvivedi, Nagari Pracharini Sabha and kindred associations who in a short time have managed to greatly promote the study of the rich and extremely intricate traditions of the Hindi language and literature, this task has been alleviated, and we hope that soon, not only the specialist but also wide ranges of European readers will fully appreciate and include in their stock of cultural possessions the lofty spiritual values in which Hindi literature abounds.

सुधि

हँसती आती हौले-हौले
पोछ-पोछ आँसू समझाती,
दुःख भुलाती, उर दुलराती;
हँसती, रोती, गीत सिखाती,
प्रियतम को लिखवाती पाती।
आती री जब हौले-हौले !
सोते - जगते, साँझ - सबेरे,
करती सुधि मानस के फेरे;
छाया-जग मे नित्य घुमाती,
बहन सहोदरि-सी बहलाती।
आती री जब हौले-हौले !

नरेंद्र
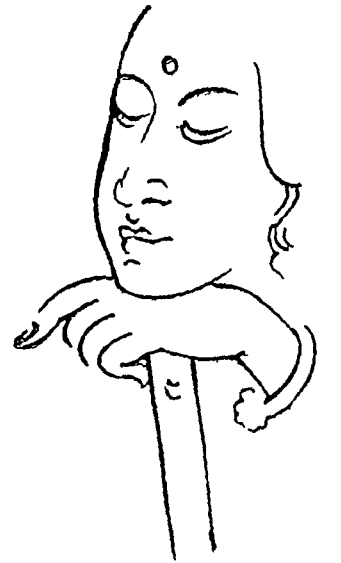
कौटल्य का भूगोल-ज्ञान

श्री गोपाल दामोदर तामस्कर, एम० ए०

भूगोल का ज्ञान सवको, सव काल में, न्यूनाधिक परिमाण मे, आवश्यक रहा है। इसी लिये प्राचीन ग्रथों से तत्कालीन भूगोल-ज्ञान के परिमाण का पता बहुत-कुछ चल जाता है। कौटल्य के 'अर्थशास्त्र' से उसके भूगोल-ज्ञान का कुछ अनुमान हम कर सकते हैं। नवे अधिकरण मे वह कहता है—"देशः पृथिवी। तस्यां हिमवत्समुद्रांतरमुदीचीन योजनसहस्रपरिमाण तिर्यक्चक्रवर्त्तिक्षेत्र तत्रारण्यो ग्राम्यः पार्वत औदको भौमः समो विषम इति विशेषाः।—अर्थात् पृथिवी का ही नाम 'देश' है। पृथ्वी पर हिमालय से दक्षिण समुद्र-पर्यंत, अर्थात् उत्तर-दक्षिण मे हिमालय और समुद्र के वीच का, तथा एक हजार योजन तिरछा—अर्थात् पूर्व-पश्चिम की ओर एक हजार योजन विस्तारवाला—पूर्व-पश्चिम समुद्र की सीमा से युक्त देश, 'चक्रवर्त्तिक्षेत्र' कहलाता है।" तात्पर्य यह कि 'इतने क्षेत्र पर शासन करनेवाला राजा चक्रवर्त्ती होता है। उस चक्रवर्त्ती क्षेत्र मे जगल, आवादी, पहाडी भाग, जल-भाग, स्थलप्राय, समतल तथा ऊबड़-खावड भाग विशेष हैं।' इस उद्धरण मे 'देश' का वह अर्थ नहीं जो आज भूगोल-शास्त्र मे प्रचलित है। कौटल्य ने 'देश' शब्द का उपयोग उस पारिभाषिक अर्थ मे किया है जिसमे वह दार्शनिक ग्रथो मे प्रयुक्त होता है—उसका अर्थ स्थान (space) है। इसलिये कौटल्य के मत्थे कोई यह दोष न मढ़े कि हिंदुस्तान के वाहर का ज्ञान उसे न था। अन्य उल्लेखो से यह स्पष्ट मालूम होता है कि उसे भारतवर्ष के वाहर के देशो और समुद्रो का थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य था, और ऊपर के उद्धरण से भी यह वात स्पष्ट है। एक वात और भी स्पष्ट है कि उस समय के लोग भारतवर्ष की भौगोलिक सीमाओ को जानते थे और उसे एक क्षेत्र—या आज-कल की भाषा में एक देश—मानते थे। हाँ, यह स्पष्ट नही है कि सारे क्षेत्र का कोई नाम भी उस समय प्रचलित था या नहीं। सभव यही जान पडता है कि ऐसा कोई नाम प्रचलित नहीं था। तथापि इस सारे क्षेत्र के विषय मे आज-कल के देश की कल्पना प्रचलित थी और मोटे तौर पर उसकी लवाई-चौडाई तथा सीमाएँ उस समय पढ़े-लिखे या भ्रमणशील लोगो को ज्ञात था। यही नही, किंतु देश की भू-रचना का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान था। पूर्वोल्लिखित उद्धरण के 'जगल, आवादी, पहाड़ी भाग, जल-भाग,

स्थलप्राय, समतल तथा ऊबड़-खाबड़' शब्दो से यह बात प्रकट होती है। इसी प्रकार अच्छे-बुरे हाथियो के संबध मे कौटल्य ने लिखा है—"कलिग और अंग देश के हाथी तथा पूर्व के करूश देश के हाथी श्रेष्ठ होते हैं। दशार्ण और अपरांत देश के हाथी मध्यम कोटि के होते हैं। सौराष्ट्र और पचजन देश के हाथी अधम माने जाते हैं।" इनमे 'कलिग' और 'अंग' से साधारण विद्यार्थी भी परिचित है। नर्मदा के ठीक उत्तर की ओर का 'दशार्ण' देश इतिहास मे कई स्थलो पर आया है। 'महाभारत'-जैसे अति प्राचीन ग्रथो मे और कालिदास के 'मेघदूत'-जैसे प्रसिद्ध ग्रंथो मे भी दशार्ण और उसकी राजधानी 'विदिशा' का उल्लेख है। 'अपरांत' का भी उल्लेख प्राचीन इतिहास-ग्रथों मे है। 'महाभारत' मे भी है। श्रीचितामणि विनायक वैद्य महोदय के मतानुसार 'अपरांत' (या 'अपरांतक') सह्याद्रि के पश्चिम ओर, गोदावरी और कृष्णा नदियो के उद्गमो के समानांतर, था। उसके उत्तर मे ताप्ती से नीचे 'परांत' देश था जो आज-कल का 'गुजरात' है। 'अपरांतक' का मुख्य नगर 'सोपारा' (शूर्परिक) था। मोटे तौर पर आज-कल के बबई नगर के आसपास का प्रदेश 'अपरांत' में शामिल था। यह सब जानते हैं कि 'सौराष्ट्र' आज-कल का काठियावाड़ है। 'पचजन' का पता लगाना कठिन है। ऐसा जान पड़ता है कि यह देश महाभारत-कालीन नही था। उक्त वैद्य महोदय ने इसका उल्लेख महाभारत की अपनी आलोचना मे नही किया है।

कौटल्य ने अपने समय के जनसघो का भी उल्लेख किया है। वह लिखता है—"काम्बोज-सुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः। लिच्छिविक-व्रजिक-मल्लक-मद्रक-कुकुर-कुरु-पाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः।—अर्थात् कांबोज और सुराष्ट्र देश की क्षत्रिय आदि श्रेणियाँ, वार्त्ता (कृषि-व्यापार आदि) और शस्त्र द्वारा, अपनी जीविका चलाती हैं। लिच्छविक, व्रजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पांचाल आदि जातियों के लोग अपने को राजा कहते हैं।" इनमे से बहुतेरे नाम यथेष्ट पुराने हैं और महाभारत मे आए हैं। 'कांबोज' वर्त्तमान काबुल के आसपास का प्रदेश है। 'सुराष्ट्र' का उल्लेख ऊपर आ चुका है। 'लिच्छिविक' और 'व्रजिक' नामक क्षत्रिय-जातियाँ पाटलिपुत्र (वर्त्तमान 'पटना') के उत्तर की ओर रहा करती थी। लिच्छवि क्षत्रियो की राजधानी 'वैशाली' थी। इसके खँड्हर वर्त्तमान 'बसाढ़' गाँव (उत्तर-बिहार के मुजफ्फरपुर जिले) मे हैं। 'मल्लक' कहाँ रहते थे, इसका ठीक पता बताना कठिन है। महाभारत मे मल्ल लोगो का उल्लेख है। उससे यह अनुमान होता है कि वे गंगस्थली मे कही रहते थे। परतु कहीं-कही इस नाम से मिलते-जुलते नामो का उल्लेख पंजाब और सिंध के भागो मे भी देख पड़ता है। 'मद्रक' और 'कुकुर' जातियाँ पजाब के मध्य-भाग मे रहती थी। "मद्रक देश का पजाबी भाषा का अपभ्रश नाम आज-कल 'माझा' है।" 'कुरु' देश वर्त्तमान अंबाला, करनाल आदि जिलों का भाग है। पांचालो के दो भाग थे—एक उत्तर-पांचाल, दूसरा दक्षिण-पांचाल। उत्तर-पांचालो की राजधानी 'अहिछत्रपुरी' थी। यह आज-कल के सयुक्त-प्रदेश के 'रामपुर' के पास थी। दक्षिण-पांचालो की राजधानी 'कांपिल्य' थी। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि श्री वैद्य महोदय के मतानुसार 'कुरु-पांचाल' एक ही देश का नाम है और इसकी राजधानी 'हस्तिनापुर' थी। यह नगर वर्त्तमान दिल्ली के पूर्व की ओर गंगा के दाहिने किनारे पर बसा था।

देश-भेद के अनुसार कौटल्य ने सोने के भेद भी बताए हैं। यथा—"जाम्बूनद शातकुम्भ हाटकं वैणव शृङ्गशुक्तिज।—अर्थात् जाबूनद (जबू-नदी से उत्पन्न होनेवाला), शातकुभ (शतकुभ नामक पर्वत मे उत्पन्न होनेवाला), हाटक (हाटक नामक सोने की खान से उत्पन्न होनेवाला), वैणव (वेणु पर्वत पर उत्पन्न होनेवाला) और शृगशुक्तिज[1]।" वर्त्तमान पहाडो और नदियों से उपर्युक्त नामों के स्थानो का मेल मिलाना कठिन है। इसलिये इन नामों के उल्लेख से कोई विशेष लाभ नही होता। इसी प्रकार चाँदी के भेद बताए हैं—"तुत्थोगत गौडिक काम्बुक चाक्रवालिक—तुत्थोगत (तुत्थ पर्वत मे होनेवाली), गौडिक (गौड देश मे होनेवाली), काबुक (कबु पर्वत मे होनेवाली) और चाकवालिक (चक्रवाल पर्वत मे होनेवाली)।" इनमे से केवल एक नाम (गौड ?) को छोडकर शेष नामों का स्थान निश्चित करना कठिन है। फिर चदनो के प्रकार बतलाते समय भी उत्पत्तिस्थानो का उल्लेख किया है—"सातन-प्रदेश मे उत्पन्न होनेवाला चदन लाल रग का होता है तथा उसमें भूमि-(मिट्टी)-जैसी (सोधी) गध आती है। गोशीर्ष-प्रदेश मे होनेवाला चदन काला-लाल (श्यामारुण) और मछली के रग का होता है। हरिचदन (हरि नामक प्रदेश मे होनेवाला) तोते के पख के रग का होता है तथा उसमे आम की-सी गध होती है। तृणसा नामक नदी के किनारे होनेवाला चदन भी हरिचंदन के समान ही होता है। ग्रामेरु-प्रदेश मे होनेवालाचंदन लाल रग अथवा लाल-काले (श्यामारुण) रग तथा बकरे के पेशाव के रग का होता है। देवसभा नामक स्थान मे होनेवाला चदन भी लाल रग का होता है, उसमे पद्म की-सी गध होती है। जावक प्रदेश मे उत्पन्न होनेवाला चदन 'दैवसभेय' के समान ही होता है। जोग देश मे होनेवाला चदन लाल या लाल-काले रग का होता है। . कारू-पर्वत मे होनेवाला चदन रूक्ष अगुरू के समान काला या लाल या लाल-काले रंग का होता है। कोशकार-पर्वत मे होनेवाला चदन काला या चितकबरा होता है। शीतोदक-प्रदेश मे होनेवाला चदन पद्म के रग का अथवा काला और स्निग्ध होता है। नाग-पर्वत मे होनेवाला चदन रूक्ष तथा सिरवाल के रग का होता है। शाकल देश मे होनेवाला चंदन कपिल रग का होता है।" इन नामो मे 'शाकल' वर्त्तमान 'सियालकोट (पजाब)' है। अन्य नामो का स्थान निश्चित करना कठिन है। अगुरू के वर्णन मे 'जोगक' और 'दोगक' नाम आए हैं। सभवतः ये आसाम-भाग मे थे। भद्रश्रीय चदन के दो प्रकार बताए हैं—"पारलौहित्य और आंतरवत्य।" इसमे 'पारलौहित्य' तो लौहित्या (ब्रह्मपुत्रा) नदी के पार का था, और 'आतरवत्य' अंतरवती नदी के किनारे होता था, जिसका स्थान ज्ञात नही है। इसी तरह रत्नो के अनेक उत्पत्तिस्थान भी अब अज्ञात हैं। कौटल्य ने मोती के उत्पत्ति-स्थान दस बताए हैं—"ताम्रपर्णिक (ताम्रपर्णी नदी मे होनेवाला), पांड्यकवाटक (मलयकोटि नामक पहाड पर उत्पन्न होनेवाला), पाशिवन्य (पाटलिपुत्र के समीप की पाशिका नदी मे होनेवाला), कौलेय (सिंहलद्वीप की कुला नदी में होनेवाला), चौर्णेय (केरल देश के मुरचि नामक नगर के समीप चूर्णी नदी मे होनेवाला), माहेद्र (महेद्र पहाड के पास समुद्र मे उत्पन्न होनेवाला), कार्दमिक (फारस की कर्दमा नामक नदी में होनेवाला), स्रौतसीय (बर्बर के किनारे स्रोतसी नामक नदी मे होनेवाला),

1. इस शब्द के अर्थ के संबंध में मतभेद है।

ह्रादीय (बर्बर के किनारे समुद्र के पास लगे हुए श्रीघंट नामक झील मे उत्पन्न होनेवाला), हैमवत (हिमालय पहाड़ पर होनेवाला)।" इनमे ताम्रपर्णी का स्थान सबको मालूम ही है। पांडकवाटक अथवा मलयकोट का स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता। कदाचित् मलयगिरि का यह दूसरा नाम हो। पाशिका नदी कौन-सी है, यह भी अज्ञात है। चूर्णी कोई बड़ी नदी नही जान पड़ती। महेंद्र पर्वत संभवतः वर्त्तमान बस्तर-राज्य (मध्यप्रदेश) मे था। कर्दमा के वर्त्तमान नाम का पता नहीं। श्रीघट झील का भी कुछ पता नहीं है। जो हो, 'मणि' भी उत्पत्तिस्थानो के अनुसार तीन प्रकार की होती है—कौट, मौलेयक और पारसमुद्रक। इनमे अंतिम से कोई विशेष भूगोल-ज्ञान नहीं प्रतीत होता; क्योंकि समुद्र के पार (उदाहरणार्थ, सिंहलद्वीप आदि स्थानो मे) होनेवाली सभी मणियों को 'पारसमुद्रक' कह सकते हैं। 'कोट' और 'मुलेय' सभवतः पर्वत हैं। श्रीमान् उदयवीर शास्त्री ने, न जाने किस आधार पर, अपने अनुवाद मे बतलाया है कि 'मलयसागर के समीप कोटि नामक स्थान है और मलय देश के हिस्से मे कर्णावत नामक पर्वतमाला है जहाँ पर होनेवाली मणि मौलेयक कहलाती है।' परतु बिना विशेष आधार के शास्त्री जी का कथन मान्य होना कठिन है। 'कोटि' का रूप 'कौट्य' होगा, 'कौट' नहीं। क्या 'कर्णावत' का दूसरा नाम 'मुलेय' है? शास्त्री जी ने कुछ स्पष्ट बताया नही है। फिर उत्पत्ति-स्थान के अनुसार हीरो के भी छः भेद कौटल्य ने बताए हैं—"सभाराष्ट्रक-मध्यमराष्ट्रक-काश्मीरराष्ट्रक[1] श्रीकटनकं मणिमन्तकमिद्रवानक च वज्रम्—सभाराष्ट्र मे होनेवाला, मध्यमराष्ट्र मे होनेवाला, काश्मीर (अथवा पाठभेद के अनुसार कांतीर या काश्मक) राष्ट्र मे होनेवाला, श्रीकटन मे होनेवाला, मणिमत मे होनेवाला, और इद्रवन मे होनेवाला।" उक्त शास्त्री जी ने सभाराष्ट्र को विदर्भ या वर्त्तमान बरार, मध्यमराष्ट्र को कोसल, श्रीकटन को एक पर्वत, मणिमत को उत्तर का एक पर्वत और इंद्रवन को कलिग बताया है। इस कथन के आधार हमे ज्ञात नहीं। मध्यमराष्ट्र का अर्थ 'कोसल' करते समय इतना अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए कि यह दक्षिण-कोसल ही हो सकता है; क्योंकि उत्तर-कोसल की भूमि आधुनिक और काँप की बनी है, इसलिये उसमे हीरे नहीं मिल सकते। सभाराष्ट्र का अर्थ बरार, मध्यमराष्ट्र का अर्थ दक्षिण-कोसल और इंद्रवन का अर्थ कलिग करने से इन शब्दो का निश्चित ज्ञान होता है। पर श्रीकटन और मणिमत के स्थान निश्चयपूर्वक ज्ञात नही हैं। इसी प्रकार यदि ऊपर दिए हुए पाठभेद माने जायँ तो उनसे भी कोई निश्चित ज्ञान नहीं होता। यह भी बतला देना आवश्यक है कि अर्वाचीन काल मे 'गोलकुडा' और 'पन्ना' नामक स्थान हीरे के लिये विशेष प्रसिद्ध रहे। 'पन्ना' का समावेश 'मध्यमराष्ट्र' मे हो सकता है; पर 'गोलकुंडा' का समावेश कहीं होता नहीं जान पड़ता। क्या गोलकुडा अपने हीरों के लिये नितांत आधुनिक काल मे प्रसिद्ध हुआ? जो हो, उत्पत्ति-भेद के अनुसार मूँगों के भी दो भेद बताए हैं—एक 'आलकदक' और दूसरा 'वैवर्णिक'—अलकंद मे उत्पन्न आलकदक और विवर्ण मे होनेवाला वैवर्णिक। उक्त शास्त्री जी ने अलकद को म्लेच्छ देशो मे समुद्र के किनारे बताया है, पर म्लेच्छ देश कौन-सा है? विवर्ण को भी उन्होने यूनान देश के समीप समुद्र का

1. इसके दो पाठभेद है—एक 'कांतीरराष्ट्रकं' और दूसरा 'काश्मकराष्ट्रकं'।

एक भाग बताया है। इस पर हमारा यह कहना है कि जहाँ समुद्र उथला नहीं है और तापक्रम सत्तर अंश (फैरन-हीट) से कम रहता है, वहाँ मूँगे नहीं हो सकते। इसलिये विवरण को 'यूनान के पास के समुद्र का एक भाग' बताना भ्रमात्मक जान पडता है। आज-कल मूँगे ३०° उत्तर अक्षांश और ३०° दक्षिण अक्षांश के भीतर पाए जाते हैं।

कौटल्य ने घोड़ो के भेद ये बताए हैं—"प्रयोग्यानुत्तमाः काम्बोजकसैंधवारट्टजवनायुजाः। मध्यमा बाह्लीकपापेयकसौवीरकतैतलाः। शेषाः प्रत्यावराः।—"विशेष चाल आदि सीखे हुए सग्राम-योग्य घोडों मे कावोजक (कावुल मे उत्पन्न हुए), सैंधव (सिधु देश मे उत्पन्न हुए), आरट्टज (आरट्ट देश मे उत्पन्न हुए) तथा वनायुज (वनायु देश मे उत्पन्न हुए) घोडे उत्तम होते हैं। बाह्लीक (बल्ख देश के), पापेयक (पापेय देश के) और सौवीरक ('सुवीर' अर्थात् राजपूताने के) घोडे मध्यम होते हैं। अन्य देशो के घोडे अधम होते हैं।" कावुल के घोडे आज भी हिंदुस्तान मे प्रसिद्ध हैं। आरट्ट के सबध मे उक्त शास्त्री जी यह लिखते हैं कि 'यह पजाव के एक अवांतर प्रदेश का नाम है, ऐसा टी० आ० कृष्णाचार्य ने महाभारत मे आए हुए मुख्य नामो की सूची मे लिखा है।' किंतु हमारा विचार है कि 'आरट्ट' देश वर्त्तमान काठियावाड होना चाहिए। शास्त्री जी के उक्त कथन के पक्ष मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक काल मे काठियावाड घोडो के लिये वहुत प्रसिद्ध रहा है। वनायु को शास्त्री जी ने अरब वताया है और कहा है कि इस नाम का उल्लेख महाभारत मे कई जगह पर है। अरब देश के घोडे प्रसिद्ध हैं सही, पर प्रश्न यह है कि क्या उस प्राचीन काल मे स्थल-मार्ग से अरब के घोडे यहाँ आ सकते थे! फिर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पूर्वोक्त वैद्य महोदय ने 'वनायु' को उत्तर-भारत का देश वताया है। महाभारत में दो बाह्लीकों के उल्लेख हैं। वैद्य महोदय ने महाभारत-काल का जो नक्शा दिया है उसमें बाह्लीक को सतलज और व्यास नदियों के बीच और फिर आधुनिक 'बल्ख' के स्थान मे वताया है। इस दूसरे स्थान का उल्लेख शास्त्री जी ने कहीं नही किया, प्रत्युत महाभारत का एक श्लोक[1] उद्धृत कर यह वताया है कि 'सतलज, व्यास, रावी, झेलम, चिनाब और सिंधु नामक छः नदियों के वीच मे जो देश हैं, उन्ही का नाम 'बाह्लीक' है—ये देश धर्म-बाह्य और अशुचि होने के कारण वर्ज्य हैं।' अर्थात् आपके कथनानुसार आज-कल का सारा पंजाब ही बाह्लीक देश था और वह महाभारत-काल मे धर्म-बाह्य और वर्ज्य था! शास्त्री जी का अर्थ मानना बडा कठिन है, क्योकि इसी के भाग वैदिक काल मे अत्यत पवित्र माने जाते थे। थोडे ही काल के बाद ये कैसे अपवित्र हो गए, यह समझ मे नहीं आता! उस समय मुसलमानो की वस्तियाँ नही थी जो पंजाब अपवित्र माना जाता। हाँ, 'बल्ख' के आस-पास के भाग मे अधिकतर आ बसे हो, इस कारण कदाचित् वह वर्ज्य रहा हो। 'अंतराश्रिताः' का अर्थ करने मे अवश्य कुछ कठिनाई है। 'आरट्ट' और 'पापेय' कौन-से भाग हैं, यह स्पष्ट नही। पुनः स्थलपथ के वर्णन के सबध मे हिमालय का कुछ भौगोलिक वर्णन आया है। उपर्युक्त टी० आर० कृष्णाचार्य का मत है कि 'स्थलमार्ग मे भी दक्षिण-दिशा के मार्ग की

१ पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिता। तान्धर्मबाह्यानशुचीन् बाह्लीकानपि वर्जयेत्॥

F. 50

अपेक्षा उत्तर का मार्ग श्रेष्ठ है, क्योंकि इस ओर हाथी, घोड़े, गंध, दंत, चर्म, चाँदी, सोना आदि बहुमूल्य वस्तुएँ बहुतायत से मिलती हैं।' परतु कौटल्य इसे नहीं मानता। वह कहता है कि कवल, चर्म, घोड़े आदि विक्रेय पदार्थों को छोड़कर शेष सब वस्तुएँ (हाथी आदि)—तथा शख, हीरा, मोती, सुवर्ण आदि अनेक विक्रेय वस्तुएँ—उत्तर की अपेक्षा दक्षिण मे ही अधिक होती हैं; (इसलिये दक्षिण-मार्ग ही श्रेयस्कर है)। 'आचार्य' के मत की अपेक्षा कौटल्य का मत ही विशेष ग्राह्य जान पड़ता है; क्योंकि उसमे भौगोलिक तथ्य विशेष देख पड़ता है। इसी प्रकार, किन देशो मे कितनी वर्षा अच्छी फसल के लिये पर्याप्त है, यह बताते समय कौटल्य ने कहा है कि "अश्मक देश मे साढे तेरह द्रोण, मालवा-प्रांत मे तेईस द्रोण, अपरांत मे अपरिमित, हिमालय तथा नहरवाले भागो मे समय-समय पर उचित वर्षा होने से ठीक फसल हो सकती है।" इससे यह ज्ञात होता है, कौटल्य को यह मालूम था कि भारतवर्ष के किस भाग मे कितनी वर्षा होती है। उसे यह भी ज्ञात था कि कहाँ-कहाँ कौन-कौन-सी फसल उपजती है। उस काल मे भी भारतवर्ष मे वर्षा-मापक यत्र था, यह तो स्पष्ट विदित होता है। 'अपरांत' का अर्थ उक्त शास्त्री जी ने 'राजपूताना' किया है, पर ऊपर हम बतला चुके हैं कि 'अपरांत' प्राचीन काल मे बबई के आस-पास, अर्थात् 'कोंकण' का उत्तरी भाग, था। यही बात ठीक भी जान पड़ती है; क्योंकि राजपूताने मे वर्षा बहुत कम होती है और कोकण मे बहुत अधिक।

इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि कौटल्य का भौगोलिक ज्ञान यथेष्ट था। वह जानता था कि भारतवर्ष मे कहाँ-कहाँ कौन-कौन-सी चीजे पैदा होती और बनती हैं। 'अर्थशास्त्र' में विशेष भौगोलिक वर्णन आने का कोई कारण नहीं। प्रसगवश यत्र-तत्र थोडे-से उल्लेख आए हैं। उतने ही से यह स्पष्ट है कि कौटल्य का ज्ञान इस विषय मे भी कुछ कम न था, और यह ठीक भी है; कोई राजनीतिज्ञ—देश का सर्वांगीण ज्ञान रक्खे बिना—अपने कार्य मे सफल नही हो सकता।

वाणी

(ऋग्वेद १०।७१।४ का अनुवाद)

एक लखता, लख पाता नही,
एक सुनता, सुन पाता नहीं;
एक को देती आपा खोल,
सजी जाया-सी वाणी रीझ।

कृष्णानंद
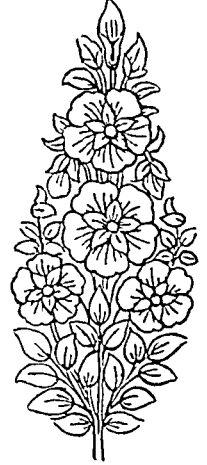
पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद

श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०, एल्-एल० बी०

'पद्मावत' की रचना मलिक मुहम्मद जायसी ने केवल कहानी की रोचकता के आग्रह से नहीं की। लोगो की कुतूहल-वृत्ति के तुष्टि की शायद उन्हे उतनी चिता न होती। मनुष्य की एक कमजोरी समझकर उस पर वे दयापूर्ण दृष्टि से हँस देते। परतु मनुष्य की इसी कमजोरी मे उन्होने उसकी सामर्थ्य का साधन देखा। उन्हे कुतूहल-वृत्ति के द्वारा जिज्ञासा-वृत्ति के उदय और उसके परिशांति की सभावना दिखाई दी। 'पद्मावत' की कहानी लिखने मे उनका उद्देश्य उनकी इस आत्म-तोषोक्ति से प्रकट हो जाती है—"कहा मुहम्मद प्रेमकहानी, सुनि सो ज्ञानी भये धियानी।[1]" जिस गहन पारमात्मिक अनुभूति को वे अपने अतस्तल की गहराई मे निर्धन की निधि के समान छिपाए हुए थे उसी के बे-रोक वितरण के लिये इस रोचक कहानी से उन्होंने अवसर ढूँढ निकालना चाहा—"ता-तप साधहु एक पथ लागे, करहु सेव दिन रात सभागे, ओहि मन लावहु रहै न रूठा, छोड़हु झगरा यह जग झूठा।"[2] ऐसा कहकर जिस अव्यय तत्त्व का उपदेश उन्होने 'अखरावट' मे प्रकट रूप से किया है उसी को

१. अखरावट, जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३६६

२. जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३५०

उन्होंने 'पद्मावत' में एक रोचक और हृदयग्राही रूप मे अन्योक्ति द्वारा कहने का प्रयत्न किया है। अपने इस उद्देश्य को उन्होने छिपाया नहीं है। विनयशील जायसी ने—जिनकी विनयशीलता के कारण प्रत्येक व्यक्ति का मस्तक उनके सामने आदर से झुक जाता है—पंडितो के मुँह से इस प्रकार अपनी कहानी को अन्योक्ति कहला दिया है—

मै एहि अरथ पडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जे तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघवदूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीन सुलतानू॥
प्रेमकथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥—जा० ग्र०, पृ० ३३२

जायसी का यह प्रयत्न कितना सयुक्तिक और स्तुत्य है, यह कहने की आवश्यकता नही। टोकरियो उपदेशो द्वारा जो बात नहीं सुझाई जा सकती, वह कहानी द्वारा आसानी से हृदय मे बिठा दी जा सकती है; क्योकि कहानी हृदय पर असर करती है और उपदेश मस्तिष्क पर। खोपड़ी की सख्त हड्डियो से घिरे हुए मस्तिष्क पर कोई चिह्न आसानी से अंकित नहीं किया जा सकता, किंतु खून का कतरा हृदय चाहे जिस रूप मे ढाल दिया जा सकता है। सूक्ष्म चिंतन हर किसी का काम नही, पर भावुकता की लहरो के साथ वह चलना मनुष्य का सहज स्वभाव है। इसी लिये मौलाना रूमी ने भी आध्यात्मिक प्रेम के प्रदर्शन के लिये अपनी मसनवी मे कहानी का सहारा लिया है, और इसी से श्रीमद्भागवत आदि धार्मिक पुराणो की सृष्टि हुई है। परतु सभी प्रयत्न सफल नही हो जाते। जायसी भी अपनी कहानी को अन्योक्ति का पूर्ण रूप देने मे समर्थ हुए हो, ऐसी बात नही। अन्योक्ति (Allegory) का सूत्र कहानी को एक से दूसरे सिरे तक वेधता नही चला गया है। आध्यात्मिक और लौकिक दोनों पक्ष कहानी मे सर्वत्र एकरस नही दिखाई देते। यह बात ठीक है कि इतनी लबी-चौडी कहानी मे, सूक्ष्म से सूक्ष्म विवरणो मे भी, इस बात का निर्वाह नही हो सकता था। अन्योक्ति मे बहुत सूक्ष्म विवरणों का ध्यान न रखना अविधेय भी नही है। परतु यहाँ सूक्ष्म विवरणों का ही सवाल नही है। कहानी के अधिकांश को पढ़ता हुआ पाठक इस बात को भूल जाता है कि कहानी का कोई दूसरा लक्ष्य भी है। अतएव बड़ी दूर जाकर यदि उसे इस बात की सूचना मिलती भी है तो आकस्मिक आघात के रूप मे, जिससे कथा के प्रवाह मे बहता हुआ पाठक झुँझला उठता है और ऐसे बाधक प्रसगों से बचकर आगे बढ़ जाना चाहता है। यह भी बात नही कि जहाँ-जहाँ आध्यात्मिक पक्ष की ओर संकेत हो वहाँ-वहाँ लौकिक पक्ष मे भी जायसी की उक्ति ठीक-ठीक घट जाती हो। आध्यात्मिक और लौकिक, प्रस्तुत और अप्रस्तुत, इन दोनो मे समत्व बनाए रखना जायसी के बूते का काम नही। आध्यात्मिक पक्ष को वे इतनी दूर ले पहुँचते हैं कि लौकिक पक्ष का उन्हे कुछ ध्यान रह ही नही जाता। ऐसी उक्तियो को लौकिक पक्ष मे भी घटाना गहरी खींचातानी से सभव हो तो हो। "जौ लहि जिऔ राति दिन, सवरौ ओहि कर नाँव; मुख राता

तन हरिअर, दुहूँ जगत लेइ जावँ [1]।"—रत्नसेन द्वारा कही गई पद्मावती (परमात्मा) के प्रति तोते की इस कृतज्ञतापूर्ण उक्ति के समान दोनो पक्षो मे पूर्ण रूप से घट जानेवाली उक्तियाँ ग्रंथ मे बहुत नही हैं। अधिकांश उक्तियाँ ऐसी ही हैं जिनमे पहले तो लौकिक पक्ष का भी कुछ ससर्ग रहता है, परतु आगे चलकर उसका साथ छूटने लगता है। उदाहरण के लिये इस उक्ति को लीजिए—

मिलतहु महे जनु अहौ निरारे। तुमसौ अहै अँदेस पियारे।
मैं जानेउ तुम्ह मोही माहाँ। देखौ ताकि तौ हौ सब पाहाँ॥
का रानी, का चेरी कोई। जा कहँ मया करहु भल सोई॥
तुम्ह सौं कोइ न जीता, हारे बररुचि भोज।
पहिले आपु जो खोवै, करै तुम्हार सो खोज॥—जा० ग्रं०, पृ० ४०

यह तोते के साथ नागमती के व्यवहार से रुष्ट राजा के मनाने का रानी की ओर से प्रयत्न है। वररुचि-जैसे विद्वान् और भोज-जैसे गुणज्ञ राजा भी परमात्मा का पता लगाते-लगाते हार गए, यह तो ठीक है, पर लौकिक पक्ष मे इसका अर्थ कैसे बैठेगा? पति के सबध में वररुचि और भोज का मेल कैसे बैठाया जायगा? बहुत खीचतान करके जो अर्थ लगाया जायगा, वह खीचतान होगी, अर्थ कदापि नही। कहानी के प्रसंग की ऐसी अवहेलना का परिणाम यह होता है कि जायसी की ये रहस्यमयी उक्तियाँ प्रबध के बीच-बीच मे बे-मेल पच्चड की तरह लगती हैं। इसके अतिरिक्त प्रतीक की एकरूपता का भी जायसी ने एकरस निर्वाह नही किया है। एक वस्तु को एक ही वस्तु का प्रतीक नहीं माना है। कही पर पद्मावती को चिद्रूप ब्रह्म माना है, कही रत्नसेन को। ऊपर दी हुई नागमती की उक्ति में रत्नसेन परमात्मा माना गया है और उसके लिये भेजे हुए पद्मावती के इस सँदेसे मे भी—"आवहु स्वामि सुलच्छना जीउ बसै तुम्ह नाँव, नैनहि भीतर पथ है हिरदय भीतर ठाँव।" (जा० ग्र०, पृ० १०९) पर निम्नलिखित अवतरणो मे पद्मावती ही परमात्मा मानी गई है—

(१) दिष्टिबान तस मारेहु घायल भा तेहि ठाँव। दूसरि बात न बोलै लेइ पदमावति नाँव॥
रोंव रोंव वै बान जो फूटे। सूतहि सूत रुहिर मुख छूटे.
सूरज बूडि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥—जा० ग्र, पृ० १०६

(२) हौ रानी पद्मावती सात सरग पर बास। हाथ चढ़ौ मै तेहि के प्रथम करे अपनास [2]॥

नखशिख-खड मे भी, जिसका उद्देश्य रत्नसेन के हृदय मे पद्मावती के प्रति प्रेम उत्पन्न करना है, पद्मावती ही परमात्मा का प्रतीक है। सचमुच अगर देखा जाय तो कहानी मे आदि से अत तक किसी एक तरतीब अथवा रीति की रक्षा नही की गई है। और, जहाँ-कहीं, चाहे जिस रूप जरा भी अवसर आध्यात्मिक सकेत के उपयुक्त मिला है, कवि ने उसे हाथ से जाने नहीं दिया है। इससे यद्यपि आध्यात्मिक व्यजना के लिये कवि को अधिक अवसर मिल गए हैं तथापि प्रतीक की एकरूपता

१ जायसी-ग्रथावली, पृष्ठ ४१—ओहि = परमात्मा, पद्मावती। राता = यश (सुर्खरू), लाल। हरिअर = प्रसन्न, हरा।

२ जा० ग्रं०, पृ० १०८

के अभाव से अन्योक्ति के सार्वत्रिक अधिकार मे वाधा पड़ गई है। हाँ, यदि कहानी को समाप्त कर, अंत मे उसके प्रमुख अगो को ध्यान मे रखकर, एक वार सिहावलोकन करे तो अवश्य अन्योक्ति की कुछ सार्थकता दिखलाई देती है। जायसी ने अत मे अपनी कहानी का जो व्यंग्यार्थ खोला है वह तभी साधार माना जा सकता है जब सारी कहानी के मस्तिष्क पर पड़नेवाले केवल सामान्य सस्कार का विचार किया जाय। चित्तौड़-रूपी तन का मन (जीव) राजा है, जो जगद्व्यवहार-रूप नागमती की अवहेलना कर गुरु-सूए के दिखाए मार्ग का अनुसरण करता हुआ वोध-(ज्ञान)-स्वरूप परब्रह्म-पद्मावती का सायुज्य प्राप्त करता है। शैतान-राघवचेतन और माया-स्वरूप सुलतान अनेक प्रयत्न करके भी उसको इस सुख से वंचित नही रख सकते[1]। कहा जा सकता है कि असल में जहाँ समष्टि-रूप से पूरा व्यापार लेकर प्रस्तुत को छोड अप्रस्तुत-द्वारा उसका वर्णन किया जाय वहीं अन्योक्ति होती है, ऐसी दशा मे सूक्ष्म विवरणो की ओर ध्यान जा ही नहीं सकता। यदि कहानी मे आद्यत प्रतीकों के एकरूपता की रक्षा की जाती नो यह कथन वहुत कुछ सारयुक्त होता। परंतु जायसी के इस अलकार-विधान के विरुद्ध यही एक आपत्ति नही है। इससे वढ़कर आपत्तिजनक है उसका अनौचित्य। अन्योक्ति मे यह अनौचित्य नागमती को 'दुनिया-धधा' मानने से आया है। पद्मावती को प्राप्त करने में राजा के मार्ग मे नागमती ने चाहे कितनी ही वाधाएँ क्यो न डाली हों—पद्मावती से वह कितनी ही कम सुदरी क्यों न हो; परंतु पद्मावती के सामने उसकी उपमा अवहेलनीय 'जगद्-व्यवहार' से नहीं दी जा सकती। व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता मे जितना भेद है—जगद्वोध और चिद्वोध में जो अंतर है, वह नागमती और पद्मावती मे कदापि नही। यदि नागमती केवल नागमती होती—उसके विषय मे हम कुछ जानते, तो शायद यह वात इतनी न खटकती। परतु जायसी की कहानी द्वारा हमे नागमती का जो रूप देखना नसीव हुआ है उसे देखते हुए नागमती को 'दुनिया-धधा' कहना किसी शुष्क सिद्धांतवादी के लिये—अथवा जिसे केवल अन्योक्ति ही वैठाने का खयाल हो उसके लिये—भले ही आसान हो, किंतु जिस हृदयवान् को सहृदयता का जरा भी विचार होगा उसके लिये ऐसा कहना हृदय को दो-टूक कर देने के समान होगा। आश्चर्य इसी वात का है कि अन्योक्ति के फेर मे पडकर जायसी के सदृश सहृदय व्यक्ति का इस ओर ध्यान नही गया। जिस नागमती के हृदयद्रावक विरह-व्यथा के दर्द-भरे वर्णन के ही कारण हम जायसी के अपने लिये कथित 'जेहि के वोल विरह के छाया' को चरितार्थ हुआ समझते हैं उसके दृढ़ प्रेम को यदि सतत-परिवर्त्तन-शील जगद्व्यवहार के समान अस्थिर माने तो परमात्मा के विरह मे दीवाना होनेवाले—भारतीय स्त्रियों से एकांत हृदय-समर्पण का पाठ पढ़नेवाले—जायसी-सरीखे भक्त महात्माओं का आदर्श ही तिरस्कृत हो जाता है। हिंदू स्त्रियो की जिस आदर्श पतिभक्ति ने 'खुसरो' से कहलाया था—"खुसरवा दर इश्कवाजी कमज हिंदू जन मवाश, कज वराए मुर्दा सोजद जिंदा-जाने-खेश रा—[हे खुसरो! प्रेम-पथ मे हिंदू स्त्री से मत पिछड, मुर्दा पति के साथ उस अपनी जिंदा जान को जला देनेवाली की वरावरी कर]" क्या नागमती उससे जरा भी पिछड़ी है? फिर क्यो उसका तिरस्कार किया जाय? लोकसंग्रह की भावनाओ पर इस तिरस्कार

१. देखिए—इस लेख के दूसरे पृष्ठ (३९६) मे जा० ग्रं० के पृ० ३३२ का उद्धरण।

के कारण जो व्याघात पहुँचता है, वह बहुत भयंकर है। रत्नसेन का सूए के मुँह से पद्मावती की सुंदरता का वर्णन सुनकर नागमती की अवहेलना कर पद्मावती के लिये बावला हो जाना कोई ऐसा काम नहीं जिसका सादृश्य आध्यात्मिक उन्नति के प्रयास से किया जाय। योग से उसको उपमा देने से न तो योग का ही महत्त्व बढ सकता है और न उस कार्य को औचित्य ही प्राप्त हो सकता है। 'पद्मावत' से ही उस दृश्य को एक बार आँखो के सामने ले आने से वस्तुस्थिति और भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगी। सूए के मुँह से यह सुनते ही कि "पद्मावति राजा कै बारी, पदुमगंध ससि बिधि औतारी[1]" जैसे मछली के लिये समुद्र मे किलकिला-पक्षी मँडराता है वैसे ही राजा पद्मावती के लिये कामुक हो जाता है—"सुनि समुद्र भा चख किलकिला, कँवलहिँ चहै भँवर होइ मिला।[2]" उसे प्राप्त करने की इच्छा उसे पहले हो जाती है, वह ब्याही है या कँवारी—सो वह पीछे पूछता है। उसके कुल और देश का वर्णन सुनकर तो उसे तीन लोक चौदह भुवन सूझने लग जाते हैं—"तीनि लोक चौदह खँड, सबै परे मोहि सूझि, पेम छाडि नहि लोन किछु, जो देखा मन बूझि।" उसके नखशिख का वर्णन सुनकर तो वह मूर्च्छित ही हो जाता है, और जब उसकी मूर्च्छा टूटती है तब वह राज-पाट छोडकर जोगी हो जाता है। परंतु क्या उसका यह 'जोग' ईश्वरोन्मुख प्रेम-पथ मे कौडी-काम का है? अपनी प्रेममयी परिणीता स्त्री को छोडकर दूसरी कुमारी के प्रेम मे पागल राजा के मुँह से योग और विरक्ति की निम्नलिखित उक्तियाँ योग और विरक्ति की हँसी उडाती हैं!

> जोगिहि काह भोग सों काजू। चहै न धन धरती औ राजू॥
> जूड कुरकुटा भूखहि चाहा। जोगी तात भात कर काहा॥ (पृष्ठ ६०)
> एहि जीवन कै आस का, जस सपना पल आधु।
> मुहमद जियतहि जे मुए तिन्ह पुरुषन कह साधु॥ (पृष्ठ ६६)

"जौं भल होत राज औ भोगू, गोपिचंद नहिं साधत जोगू" (पृष्ठ ५९) कहकर अपने कार्य के समर्थन में जब राजा गोपीचंद का दृष्टांत पेश करता है तब जी चाहता है कि उसका विकट उपहास करने के लिये उस समय कोई होता! इसमे कोई संदेह नही कि इस संसार मे प्रेम ही सार वस्तु है और उसी के द्वारा मनुष्य कुछ हो सकता है—"मानुस प्रेम भए बैकूँठी, नांहि त काह छार भर मूठी।" (पृ० ७४) किंतु जिस प्रेम से मनुष्य वैकुंठी—परमात्मा-तुल्य—हो सकता है वह वह चंचल भाव नही जो रत्नसेन को नागमती से पद्मावती पर अपना मन चलाने के लिये बाध्य करता है, प्रत्युत वह दृढ़ लगन है जो नागमती और पद्मावती के हृदय मे रत्नसेन के लिये संचित है, जिसमे चंचलता का नाम नही, जो कठिन से कठिन आपत्तिकाल और परीक्षा मे बदल जाना नही जानता। आगे चलकर तो पद्मावती के संबंध मे राजा रत्नसेन ने भी प्रेम की स्थिरता का परिचय दिया है, पर इससे उसके पिछले दोष का मार्जन नही हो सकता, जो रामावतार के उच्चतम सामाजिक आदर्श—एकपत्नीव्रत—को लीप-पोतकर ठीक कर देता है! अपनी साधारण रूपवती स्त्री को छोड़कर

1. जा० ग्रं०, पृ० ४०   2 जा० ग्रं०, पृ० ४२

दूसरी सुंदर स्त्रियों की ओर लपकनेवालों को यदि यह स्वतंत्रता दे दी जाय कि वे अपने कार्य को योग और विरक्ति समझें तो सामाजिक आदर्श अपने भाग्य को रोने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है! विवाह हो जाने के बाद पद्मावती ने राजा के योगी-वेश पर चुटकी लेते हुए कहा था—"एहि भेख रावन सीय हरी।" (पृ० १७६) यद्यपि यह बात हँसी में कही थी, तथापि कौन कह सकता है कि रत्नसेन का योग उपहासास्पद नहीं है।

जो लोग यह विचार करते हैं कि आध्यात्मिक जीवन के लिये लौकिक आदर्शों की परवा करना आवश्यक नहीं है, वे भी परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझे। यह जगत् भी परमात्मा का ही रूप है, चाहे प्रातिभासिक रूप ही क्यों न हो। हम इस प्रातिभासिक रूप को सत्य-स्वरूप तक, जायसी के मतानुसार प्रतिबिंब को बिंब तक, पहुँचने का साधन—इसके आदर्शों को गिराकर—नहीं बना सकते। परमात्मा के उद्देश्य की पूर्त्ति जगत् के आदर्शों की रक्षा द्वारा ही हो सकती है। शिव (कल्याण) और अद्वैत सत्तत्त्व (ब्रह्म) में अद्वैत भाव है। 'शांतं शिवमद्वैतम्' (मांडूक्य ७, नृसिंहोत्तर-तापनी १)। 'गौड' और 'गुड' अगल-बगल चलते हैं। भगवद्गीता ने यह भाव बड़ी खूबी के साथ प्रकट किया है। गीता के अनुसार ब्रह्म का 'ॐ' 'तत्' 'सत्' त्रिविध निर्देश है—"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः, ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।" (१७-२३) इन तीनों में से 'सत्' के विषय में गीता कहती है, सत् केवल परम तत्त्व की सत्ता का ही द्योतक नहीं है, प्रत्युत उसमें सत्कार्य और साधु भाव का भी निर्देश है—"सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥" (१७-२६) जायसी ने भी राजा रत्नसेन ही से कहला दिया है—"राजै कहा सत्य कहु सूआ, बिनु सत सब सेंवर का भूआ; होइ मुख रात सत्य के बाता, जहाँ सत्य तहँ धरम सँघाता।" (पृ० ४१) परंतु स्वयं राजा इस सत्य और धर्म के संघात को समझा है, इसमें संदेह ही है; क्योंकि स्वतः उसकी करतूत से, अगर जायसी के शब्दों को अभिप्रेत अर्थ से भिन्नार्थ में उद्धृत करें तो, कह सकते हैं कि—"आगि लगाइ चहूँ दिसि सत जरा।[1]" हम तो नागमती की अवहेलना कर पद्मावती के प्राप्त करने के लिये राजा के प्रयत्न को ठीक उसी दृष्टि से देखते हैं, जिस दृष्टि से नाथपंथी मछंदरनाथ के सिंहल जाकर पद्मिनी स्त्रियों के जाल में पड़ जाने को देखते हैं। वह पतन है, उत्थान नहीं। हाँ, हमें जायसी के वस्तु-निर्माण-कौशल और उनकी लगन के संबंध में कोई शिकायत नहीं है। इस संबंध में श्रद्धेय गुरुवर पंडित रामचंद्र शुक्ल जी ने जो कुछ लिखा है[2] उसे हम ब्रह्मवाक्य समझते हैं। जायसी की कहानी बड़ी सुंदर है। उनकी आध्यात्मिक लगन भव्य है। परंतु हमें शिकायत इस बात की है कि उन्होंने इन दोनों का मेल ठीक नहीं किया है। अपने अध्यात्मवाद के लिये पद्मावत की कहानी चुनकर और पद्मावत की कहानी में अध्यात्मवाद का आरोप करने का प्रयत्न कर उन्होंने असंभव को संभव बनाने में हाथ लगाया है। इन दोनों का समन्वय हो नहीं सकता। पद्मावत की कहानी में ये दोनों उन दो प्रतिकूल प्रकृतिवाले पड़ोसियों के समान हैं जो खटपट और हाथापाई

१. जा० ग्रं०, पृ० ४१

२. प्रबंधकल्पना, जा० ग्रं०, पृष्ठ ८३-८८, ईश्वरोन्मुख प्रेम. ८७-८८

पडित देवीदत्त शुक्ल
(वर्त्तमान 'सरस्वती'-संपादक)

ठाकुर श्रीनाथसिंह
(सरस्वती' के वर्त्तमान संयुक्त सपादक)

पंडित सुंदरलाल द्विवेदी

(द्विवेदी जी के समय में आप ही 'सरस्वती' के प्रधान प्रूफ-संशोधक थे और अब भी हैं। इस कला में आप अत्यंत निपुण हैं।)
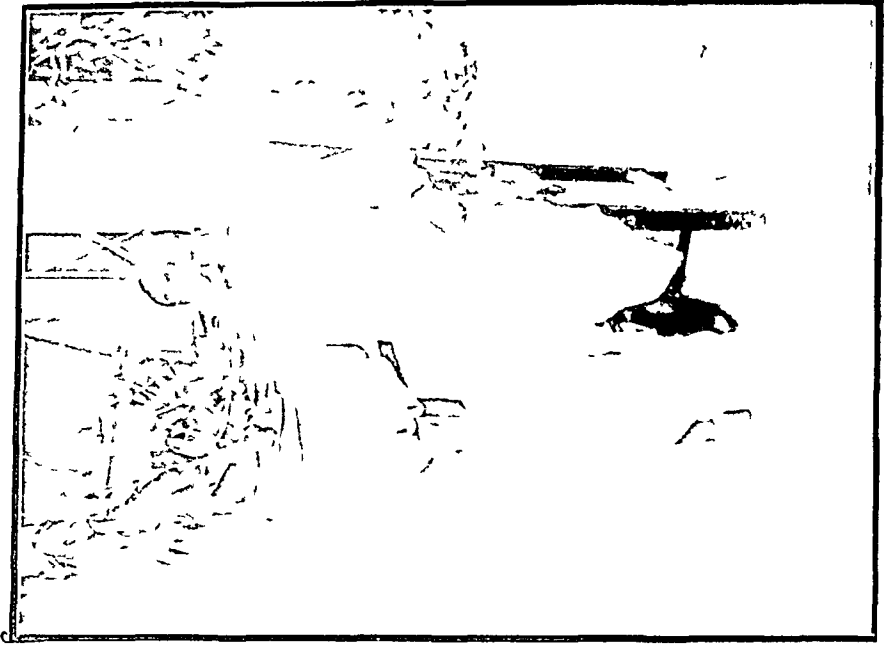
श्री अपूर्वकृष्ण बोस

(द्विवेदी जी के समय में 'सरस्वती' के प्रिंटर आप ही थे)

मे ममय बिताकर एक दूसरे को लाछित करते रहते हैं। कहानी अध्यात्मवाद की हँसी उडा रही है और अध्यात्मवाद कहानी को विरूप बना रहा है। इसमे सदेह नही कि कवीर आदि ने भी विपर्यय-चमत्कार लाने के उद्देश्य से 'दुनिया-धंधा' की उपमा प्रथम कुलवती परिणीता से दी है, जिसे छोड़कर नई बेपर्दे स्त्री-रूप माया-रहित भक्ति को ब्याह लाना विधेय बतलाया है। उदाहरण के लिये इस पद को लीजिए—

"अब की धरी मेरो घर करसी। साध सँगति ले मो को तिरसी॥
पहली को घाल्यो भरमत डोल्यो सच कबहूँ नाहि पायौ। अब की घरनि धरी जा दिन थैं, सगलौ भरम नसायौ॥
पहली नारि सदा कुलवती, सासू ससुरा मानै। देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय कौ मरम न जानै॥
अब की घरनि धरी जा दिन थैं, पिय सूँ बान बन्यूँ रे। कहै कबीर भाग बपुरी कौ, आइ'रु राम सुन्यूँ रे॥[1]"

परतु एक तो ऐसी उक्तियाँ मुक्तक हैं, किसी प्रबंध के अंग होकर सामाजिक जीवन के बीच वास्तविक व्यवहार के प्रदर्शक नही। दूसरे, इनका उलटा अथवा उल्टबाँसी होना ही इनको सामाजिक आदर्श तोड़ने से बचा लेता है, क्योंकि पाठक अथवा श्रोता पहले ही से जानता है कि इनमें जो लौकिक पक्ष दिखलाया गया है वह वास्तविक आदर्श का उलटा है। परतु किसी प्रबध के संबध में यह बात नही कही जा सकती। यह भी बात नही कि लौकिक आदर्शो की अवहेलना करके ही आध्यात्मिक पक्ष के लिये अलकार-विधान की सामग्री प्रस्तुत की जा सके। माया अथवा मायिक जगद्व्यवहार की तुलना साधु-सतो ने कुलटा व्यभिचारिणी तथा गणिका से भी की है। पद्मावत-सरीखे प्रबधो मे अगर इसी पिछले ढग पर अन्योक्ति की जाती तो लौकिक पक्ष पूर्ण रूप से आध्यात्मिक पक्ष का प्रतीक बन सकता और लौकिक आदर्श का भी सुदरता से निर्वाह हो जाता।

१. कबीर-ग्रथावली, पृष्ठ १६९

संस्कृत-गीत

गोविन्द हरे!
द्रुपदसुताभयमूलविमूलन, दु शासनबलतूलविधूनन,
वारणदुरितनिवारण, मुरहर, करुणाकर, गोविन्द, हरे॥१॥
कालियमदगञ्जन, जनरञ्जन, भवभञ्जन, परमेश, निरञ्जन,
यामुनमञ्जुलकुञ्जकुतूहल, कुटिलकदन, गोविन्द, हरे॥२॥
निगमगवीरससारविदोहन, व्रजवनिताजनमानसमोहन,
गोकुलविपदवहेलन, गिरिधर, खलविदलन, गोविन्द, हरे॥३॥
मुनिजनमानसहस, तमोऽतिग, श्रुतिशिरसामभिवन्द्यमनोतिऽग
निजजनवृजिनविजारणकारण, दरदारण, गोविन्द, हरे॥४॥
करुणाकर, गोविन्द, हरे!

शालग्राम शास्त्री

उर्दू क्योंकर पैदा हुई ?

मौलाना सैयदहुसेन शिबली नदवी

हिंदोस्तान की अदबी तारीख का जब से हमको हाल मालूम है, यह नजर आता है कि इस मुल्क मे कभी एक बोली नही बोली गई। दरहकीकत यह मुल्क एक बर्रेआजम है जिसमे हर जमानः मे मुख्तलिफ कौमे और मुख्तलिफ नसले—जो मुख्तलिफ बोलियाँ बोलती थी—आबाद थी, आबाद हैं और आबाद रहेगी। दुनिया की जबानो की तीन मशहूर असले हैं—आरयाई, तूरानी और सामी। तीनों यहाँ दोशबदोश मिलीजुली मिलती है। द्राविडी जबानों की अस्लियत तूरानी बताई जाती है। सूबो की दूसरी जबाने आरयाई हैं और अरबी की शुमूलियत सामी असर का नतीजा है। चद मशहूर राजाओ के जमानों को छोड़कर—जो मुल्क के अकसर हिस्से पर हुक्मराँ रहे—हिंदोस्तान का अक्सर यही हाल रहा कि उसके मुख्तलिफ सूबे मुख्तलिफ मुस्तकिल रियासतो की सूरत मे रहे। इन सूबों की वसअत राजा की कुव्वत और फतूहात के दायरः की कमी-बेशी के लिहाज से घटती-बढ़ती रही। हर रियासत की जबान उसके सूबः की मुकामी जबान थी और वही गोया सरकारी जबान की हैसियत रखती थी। अब जिस कदर इस रियासत का दायरा होता उसी हद तक उस जबान का जोगराफी दायरा कभी घट जाता और कभी बढ़ जाता। मसलन् देखिए कि अवध की बोली, ब्रज की भाषा, मगध की जबान, अतराफ देहली की हरयानी—यह चारों हमसाया है। मगर इनकी हदे इन्ही सल्तनतो की हदो से वाबस्तः नजर आती हैं। मगध (बिहार) की बौध सल्तनत, जिसका दारुल्सल्तनत पाटलीपुत्र (पटना) था, जब हिंदोस्तान पर छा गई तो उसकी जबान भी हिंदोस्तान की आम सरकारी जबान बन गई और आज इसी मगध की पाली जबान के कुतबे पेशावर से लेकर महाराष्ट्र के किनारो तक मिलते हैं। हिंदोस्तान मे सिंध से लेकर गुजरात तक का इलाका हमेशा ईरानियो और अरबो के जहाजो का गुजरगाह रहा और उसी का असर था कि जहाजियो के साथ-साथ उनकी जबानो के असरात भी खामोशी के साथ फैलते रहते थे। खुसूसन् सिंध वह सूबा था जो अक्सर ईरान की सल्तनत का जुज बनता और खलीज फारस के तमद्दुन से मुतास्सिर होता रहा। सिंध के आसारे कदीमा की मौजूदः तहकीकात इस नजरिया की सदाकत को रोज-बरोज आश्कारा करती जा रही है। बहरहाल

आरयाई जवान की दूसरी शाख ईरानी या फारसी का असर सिध से लेकर गुजरात तक वसीअ था। उसके वाद पहली सदी हिजरी के खातमे के करीव (सातवी सदी ईसवी मे) फतह फारस के वाद अरबों ने भी ईरानी सल्तनत के जानशीन की हैसियत से सिंध पर कब्ज़ा किया और उनके जहाजात खलीज फारस के उवल्लः, सीराफ और बसरा नामी वदरगाहो से निकलकर सिध और गुजरात और मलेबार होकर चीन तक जाने लगे। इन जहाजो के चलानेवाले फारसी और अरवी बोलते थे। उसका असर यह होना चाहिए था कि हिंदोस्तान के जिन वदरगाहो से यह गुजरते हो वहाँ उनकी जवानो के कुछ अल्फाज मुस्तमिल हो जाएँ और वहाँ की मुकामी जवानो के कुछ लफ्ज इन जहाजियो की जबानों पर चढ़ जायँ, चुनांचः उसकी मिसाले अरब सैयाहो और मल्लाहो की जबानों मे मिलती हैं। चुनाच. आज भी हिंदोस्तानी जहाजों के जरिय. हिंदोस्तानी जबान अफरीका और अरब और एराक व मिस्र के वदरगाहो तक पहुँच गई है, और खुद मुझे अदन, जिद्दा, पोर्ट सईद, मस्सूअ और पोर्ट सूदान मे हिंदोस्तानी बोलनेवाले मल्लाह और दूकानदार मिले। इस मौकः पर सबसे पहला बयान हमारे सामने एक ईरानी आमेज अरब जहाजराँ बुजुर्ग बिन शहरयार का है। वह कहता है कि मुझसे एक अरव जहाजराँ अबू मुहम्मद हसन ने वयान किया कि—"मैं सन् २८८ ई० (८८८) मे मसूरः (भक्कर) मे था। वहाँ मुझसे मुस्तनद वुजुर्गो ने यह वयान किया कि अलूरा (आलूर) के राजा ने, जो हिंदोस्तान का वडा राजा था—जिसकी हुकूमत कश्मीर वाला और कश्मीर जेरीन के बीच मे थी और जिसका नाम 'महरोग विन रायक' (?) था, सन् २७० हिजरी मे, मसूरः के बादशाह को लिखा कि वह इसलाम की शरीयत का कुछ हाल उसको बताए, तो अब्दुल्लाह ने मसूरः मे एक अब्दुल्लाह एराकी को पाया जो बहुत तेजतवः और खुशफहम था और शायर था और जिसने हिंदोस्तान मे नश्वनुमाँ पाई थी और जो अह्ले हिंद की मुख्तलिफ जवानो से वाकिफ था, उसने एक कसीदः लिखकर राजा को भेजा। राजा ने उसे बुला भेजा और उसके हुक्म से उसने कुरान का हिंदी जवान मे तर्जुम.[१] किया।" इस इक्तिवास से जाहिर होगा कि हिंदोस्तान के सवाहिल मे भी बहुत-सी मुख्तलिफ जबाने थी और वह लोग, जिनकी असल जबान फारसी और अरबी थी, यहाँ की जवानो को सीखते और बोलते थे और इनमे यह लियाकत रखते थे कि वह इनमे शायरी कर सकते थे और कुरान एक जैसी किताव का तर्जुमः कर सकते थे। यह हिंदोस्तानी और इसलामी जुवान के वाहमी इख्तिलात और मेल-जोल के इम्कान का पहला वाकया है जो सफरनामो और तारीखो मे मजकूर है। इस वाकय. का जमानः सन् २७० हिजरी यानी ८७० ई० है और आज से करीबन् एक हजार साल पहले की वात है। इसके तैतीस बरस के बाद मसऊदी हिंदोस्तान आता है। वह सन् ३०३ हिजरी मे यहाँ आया था। वह हिंदोस्तान का इब्तिदाई हाल इस तरह लिखता है—

"इसके बाद हिंद के लोगो के खयालात मुख्तलिफ हो गए और मुख्तलिफ गिरोह पैदा हो गए, और हर रईस ने अपनी रियासत अलग कर ली, तो सिध पर एक राजा वना और कन्नौज मे दूसरा राजा

१ अजायबुल हिंद बुजुर्ग बिन शहरयार, सफा २ और ३, पेरिस

हुआ, और कश्मीर मे तीसरा राजा था, और मॉगेर पर—जो वडा इलाका है (गुजरात व काठियावार)—वलूहरा (वलभराय) की हुकूमत हुई, और जो अब तक—हमारे जमानः तक, जो सन् ३३२ हि० है—यह राजा इसी लकव से मुलकव है, और हिंद की जमीन वहुत वसीय जमीन है, खुश्की पहाड़ और दरिया मे फैली है। इनका मुल्क एक तरफ जावज (जावा) से मिलता है जो जजीरो के वादशाह 'महराज' का दारुल्ममुल्कत है, और यह मुल्क (जावा) हिंदोस्तान और चीन के दर्मियान हद्दे फासिल है; लेकिन हिंदोस्तान की तरफ मसूब है और दूसरी तरफ हिंदोस्तान कोहिस्तान से मुतस्सिल खुरासान और सिध और तिवत तक है, और इन हिंदोस्तानी रियासतो मे वाहम इख्तिलाफ और लडाइयॉ हैं और उनकी जवाने अलग-अलग है और इनके मजहवी खयालात मुख्तलिफ हैं, ज्यादःतर लोग तनासिख और आवागौन के कायल हैं, जैसा कि हमने पहले कहा[१] है।"

इसके वाद यही सैयाह सिध के हाल मे कहता है—"और सिध की जवान हिंदोस्तान की जवान से अलग है.. ...और मागेर की जवान—जो वलूहरा (वलभराय) का दारुल्सल्तनत है—गीरी है और इसके साहिली शहरो से चिमूर, सोपारः और थानः (मौजूदः ववई के पास) की जवान[२] लारी है।" यह सिध, गुजरात, काठियावार और कोकन की जवानो की निस्वत कदीम अरवी शहादत है। इसके वाद वगदादी सैयाह इस्तखरी का जमानः है, जो सन् ३४० हि० मे आया था। वह कहता है—"मसूरः (मौजूदः भक्कर वाकयः सिध) और मुल्तान और इनके अतराफ की जवान अरवी और सिंधी है और मुकरानवालो की जवान फारसी और मुकरानी[३] है।" वअइनः यही अलफाज इब्न हौकल के सफरनामः मे मिलते हैं। इसका जमानः सन् ३३१ हि० से ३५८ हि० तक है। वह कहता है—"मसूरः (भक्कर) और मुल्तान और उसके अतराफ मे अरवी और सिंधी वोली जाती[४] है।" सन् ३७५ हि० (सन् ९८५ ई०) मे वशारी मुकद्दसी हिंदोस्तान आता है। वह मुल्तान के हाल मे लिखता है—"और फारसी जवान समझी जाती[५] है।" फिर दीवल यानी ठट्ठ के वदरगाह के हाल मे लिखता है—"दीवल (ठट्ठ) समदर के साहिल पर है। उसके चारो तरफ सौ गाँव के करीव हैं। अक्सर गैरमुस्लिम हिंदू (कुफ्फार) हैं। समदर का पानी शहर की दीवारो से आकर लगता है। यह सव सौदागर हैं। इनकी जवान सिंधी और अरवी[६] है।" इसी तरह, इब्न नदीम वगदादी, जिसने अपनी अल्फ़ेहरिस्त सन् ३७७ हि० मे तरतीव दी है, सिध की जवानों की निस्वत—जिसकी वसअत मे इसके नजदीक हिंदोस्तान भी दाखिल है—

१ मरौवजुल्जहव मसऊदी, जिल्द अव्वल, सफा १६२, मतवूअ पेरिस

२. मरौवजुल्जहव मसऊदी, जिल्द अव्वल, सफा ३८१, पेरिस

३. सफरनामः इस्तखरी, सफा १७७, लायडन।

४ सफरनाम. इब्न हौकल, सफा २३२. लायडन।

५ सफरनाम. वशारी मारूफ व अहसनुलतकासीम, सफा ४८१, लायडन।

६ सफरनाम वशारी, सफा ४७९

यह लिखता है—"यह लोग मुख्तलिफ जबानो और मुख्तलिफ मजहबवाले हैं और इनके लिखने के खत कई हैं। मुझसे एक ऐसे सख्श ने, जो इनके मुल्क मे घूमा-फिरा था, कहा था कि इनके यहाँ दो सौ खत के करीब मुस्तामिल हैं। मैंने (बगदाद के) कसर् हुकूमत मे एक बुत देखा था, जिसकी निस्वत मुझे कहा गया था कि यह बुद्ध की मूरत है। इसके नीचे इस तरह लिखा हुआ[1] था।"

अब वह जमाना आया जब सुल्तान महमूद का बाप अमीर सुबुक्तगीन अपनी नई सल्तनत का पुतला बनाकर खडा कर रहा था, और हिंदोस्तान की बोलियो में अरबी व फारसी के बाद तुर्की के मेल का वक्त आया। उस वक्त पेशावर और पजाब और गजनी में सुलह और लडाई के तअल्लुकात कायम थे। आमद व रफ्त, लडाई-भिडाई और सुलह व पयाम के लिये दोनो कौमो की जबानो मे इख्तिलात का मौका आ गया था। इस वक्त लड़ाइयो के हजारो हिंदू गुलाम[2] और नौकरीपेश हिदू सिपाही अफगानिस्तान और तुर्किस्तान मे घर-घर फैले थे। अमीर सुबुक्तगीन की फौज मे दूसरी कौमों के साथ हिंदू भी दाखिल थे। "व लश्कर स्वारतन गिरफ़ व बिसियार मर्दुम जमा शुद अज हिंद व खलज व अज हर दस्ती[3]।"

सुल्तान महमूद के दरबार मे हिंदी का मुतरज्जिम 'तिलक' नाम एक हिंदू था जो बचपन मे 'शीराज' पहुँच गया था और फारसो सीख ली थी और हिंदुओं के साथ नामः व पयाम और मरासलत की खिदमत इसके सुपुर्द थी। "खती नीके हिंदवी व फारसी व मुद्दते दराज व कश्मीर रफ्त बूद व शागिर्दी करद'.... .. व ऊरादबीरी व[4] मुतर्राजमी कर्दी बा हिंदवाँ" अबुलफजल बैकही अपनी तारीख आल सुबुक्तगीन में अपने जमानः यानी सुल्तान मसऊद (सन् ४३१ हि०) के अहद मे इसी किस्म के एक और हिंदू मुतरज्जिम 'बीरबल' का जिक्र करता है जिसका तअल्लुक इनके दफ्तर इंशाय से था— "हम चुनाँ बीरबाल[5] बदीवाने मा।" सुल्तान महमूद के दरबार मे जहाँ अरब व अजम के अहलेइल्म थे वहाँ हिंदोस्तान के अहलेइल्म भी शरीकबज्म रहते थे। कालिंजर के राजा नदा ने सन् ४१३ हि० मे जब सुल्तान की शान मे हिंदी मे शेर लिख कर भेजा, उस मौके पर फिरिश्तः में है—"नदा बजबान हिंदी दर मद. सुल्तान शअरी गुफ्तः निब्दा व फरिस्ताद सुल्तान आँरा बफजलाय हिंद व अरब व अजम कि दर मुलाजिमत अबवूदद नमूद हमगी तहसीन व आफ्री[6] करदद।" यह वह जमाना है जब लाहौर भी फतह नहीं हुआ था। इस जमाने मे भी सुल्तान के दरबार मे अरब व अजम और हिंद के फुजला पहलू व पहलू बैठे और सब इतना दरखोर रखते थे कि हिंदी शेर को समझे और मज' ले।

१ किताबुल फिहरिस्त इब्न नदीम, मत्वूअ मिस्र, सफा २४
२ काबूसनामा, सन् ४७५, बाब दारसमवद खरीदन।
३. तारीख बैकही, सफा २४७, ५०४
४ ,, ,, सफा ५०३
५ ,, ,, सफा ५०२, कलकत्ता।
६ मतबूअ नवलकिशोर, सफा ३१, जिल्द अव्वल।

गजनवी बादशाहो के जमाने मे, जब पंजाब गजनी का सूबा था, हजारो-लाखो मुसलमान — जिनकी जबान फारसी थी—पजाब मे बस गए थे। जाहिर है कि इनमे और आम अहूले हिंद से बोलचाल इस तरह होती होगी कि वह हिंदी मिली हुई फारसी और यह फारसी मिली हुई हिंदी बोलते हो और चद रोज मे यह कैफियत हो गई कि मुसलमान हिंदी मे या फारसी-आमेज हिंदी मे शायरी करने लगे। चुनांचः इस अहद के मशहूर शायर 'मसऊद साद सलमाॅ' अलूमुतवफ्फी ने, जो सन् ५ हि० मे लाहौर मे पैदा हुआ था और लाहौर ही मे रहता था, एक अरबी का और एक फारसी का और एक हिंदी का दीवान यादगार छोड़ा—"यके बताजी व यकेबपारसी न यके बहिंदी—(लुबाबुलूअलबाब औफी, जिल्द २, सफा २४६ गब)।" यह शौक रोज-बरोज तरक्की करता गया। यहाँ तक कि एक तुर्क खान्दान मे, जो देहली मे रह पड़ा था, अमीर खुसरो (अलूमुतवफ्फी सन् २५ हि०) जैसा हमःदाँ शायर पैदा हुआ जिसने अरबी, फारसी, हिंदी अलहद:-अलहदः भी और तीनो जबानो के मिसरो को मिलाकर भी शायरी की। चुनांचः वह खुद अपने दीवान इज्जतुलूकमाल के खात्मः मे लिखता है—"पेश अजी अज बादशाहाने सखुन कसे रा सह दीवान न बूद मगर मरा कि खुसरूए ममालिके कलामम मसऊदे सादए सलमाँरा अगरचेः हस्त अमा आॅ सह दीवान दर इबारत अस्त अरबी व पारसी व हिंदी दर पारसी मुजर्रद कसे सखुन रा सेह किस्म न करद' जुज मन कि दरी कार कस्साम आदिलम् किस्मत् चू चुनी बूद चे तदबीर कुनम्[1]।" अमीर को अपने हिंदी कलाम पर जो नाज था वह उनके इस शेर से नुमायाँ है जिसको उन्होंने इसी किताब के खात्मः मे लिखा है—"चु मन तूतिए हिंदम अज रास्तपुरसी, जेमन **हिंदवी** पुर्स तानग्ज गोयम।" इसी खात्मः मे ऐहाम की एक नई सिफत पैदा करने पर फख्र किया है—"बाज ऐहामी दीगर बरबस्त कर्द: अम कि इकतरफ हमः हिंदवी खेज मी उफतद् व जानिब दीगर पारसी मी खेजद्।"

आही आई हमाॅ प्यारि आही। मारी[2] मारी बराय मोरी माही।

अमीर ने अपनी मसनवी नुहसिपहर मे हिंदोस्तान की एक फजीलत यह बयान की है कि यहाँ के लोग हर मुल्क की जबान बोल सकते हैं, मगर बेरूनी लोग यहाँ की जबान नही बोल सकते। कहते हैं—

"हस्त दबम आॅकि जहिंद आदमियाॅ, जुम्लः ब गोयद जबानहा बबयाॅ।
लेक अज अकसाए दिगर हर कसे, गुफ्त नयारद सखुने हिंद बसे।
हस्त खता व मुगल व तुर्क व अरब, दर सखुने **हिंदवी** मा दोख्तः लब।"

गरज हर जगह वह अपनी जबान को हिंदवी कहते हैं। अमीर खुसरो ने अपनी मसनवी नुहसिपहर मे हिंदोस्तान के मुख्तलिफ सूबो की हसब जैल बोलियों के नाम लिए हैं—सिंधी, लाहौरी, कश्मीरी, बंगाली, गौड़ी (गौड़ बंगाला का एक हिस्सा), गुजराती, तिलंगी, माबरी (कर्नाटकी जिसको कटरी कहते हैं), धूरसमंदी (धूरसमदर कारोमडल का पायःतख्त था, जो उस जमानः मे नया फतह

१ खात्म. इज्जतुलूकमाल अमीर खुसरो कलमी दारुलूमुसन्नफीन।
२. इस शेर को मै पूरी तरह समझ नहीं सका।

हुआ था), अवधी और देहलवी। यही जबाने थोडे-थोड़े फर्क से अब भी मौजूद हैं। अमीर खुसरो के तीन सौ बरस के बाद, अकबर के जमाने में, हिंदोस्तान के मुख्तलिफ सूबो मे यही बोलियाँ रायज थीं। अबुलफजल हिंदोस्तान की मुस्तकिल जबानो का जिक्र इस तरह करता है[1]—"देहलवी, बंगाली, मुल्तानी, माड़वारी, गुजराती, तिलंगी, मरहटी, करनाटकी, सिंधी, अफगानी, शाल (जो सिंध, काबुल और कंधार के बीच मे है), बिलोचिस्तानी और कश्मीरी।"

ऊपर के इक्तिबासात से दो बाते साबित होती हैं। एक यह कि इस मुल्क मे हर जमानः मे सूबःवार बोलियाँ बोली जाती थी और इसमे कोई एक आम और मुश्तरिक बोली न थी, और दूसरी यह कि इस जरूरत को पूरा करने के लिये मुसलमानों के अहद मे कुदरती तौर से एक जबान तैयार हो रही थी। हिंदोस्तान मे इसलामी हुकूमतो के छः सौ बरस कयाम के बाद भी मुल्क मे जबानो के इख्तिलाफ का यही हाल था कि एक सूबः का रहनेवाला दूसरे सूबः के रहनेवाले से बातचीत और कारोबार करने से आजिज था। खयाल किया जा सकता है कि ऐसे मुल्क को, जिसमे कम अज कम तेरह मुस्तकिल जबाने बोली जाती हो, एक ममलुकत या एक हुकूमत और एक मुल्क क्योकर करार दिया जा सकता था, और ऐसी मुख्तलिफ बोलियो और जबानों वाले मुल्क के इंतजाम और कारोबार के लिये एक मुतहिद: व मुश्तरक जबान की कितनी सख्त जरूरत थी। यही बात थी जिसने इस मुल्क में एक नई भाषा पैदा की और उसको तरक्की दी।

इसलामी अहद की अदबी तारीख के गहरे मुतालः से मालूम होता है कि यह मखलूत जबान सिंध, गुजरात, अवध, दकिन, पंजाब और बंगाल हर जगह की सूबःवार जबानो से मिलकर हर सूबः मे अलग पैदा हुई जिनमे खुसूसियत के साथ जिक्र के काबिल सिंधी, गुजराती, दखनी और देहलवी है। जिन सूबो की बोलियो को अलग वजूद नही बख्शा गया। इनमे भी यह अब तक मानना पड़ता है कि इनकी दो किस्मे हैं—एक मुसलमानी और एक खालिस देशी। चुनांचः बंगाली, मरहटी, कटरी, तिलंगी, मलयालम् हर-एक मे मुसलमानी बोली खालिस बोली से अलग है। मुसलमानी बंगाली, मुसलमानी मरहटी, मुसलमानी तिलंगी—खालिस बंगाली, खालिस मरहटी और खालिस तिलंगी से अलग और मुमताज है। यह इम्तियाज यही है कि मुसलमान इन सूबःवार बोलियो मे अरबी व फारसी लफ्जो को मिलाकर बोलते हैं और इन सूबो के असल बाशिंदे इनको खालिस और बेमेल बोलते हैं। अब सूरत यह हुई कि हर सूबः की मुकामी बोलियो मे मुसलमानो की जुबान के अलफाज का मेल होकर एक नई बोली पैदा होने लगी। मुसलमानों और हिंदुओ का यह मेलजोल सबसे पहले मुलतान से लेकर ठट्ठ तक सिंध मे और फिर यहाँ से गुजरात और काठियावार तक हुआ होगा। इस मेलजोल से जो जबान बनी उसका पहला नमूनः हमको सन् ७८२ हि० मे, फीरोजशाह तुगलक के अहद मे, सिंध मे, मिलता है। सन् मज्कूर मे सुल्तान ठट्ठ पर नाकाम हमला करके जब गुजरात जाता है तो ठट्ठवालो ने इसको अपने शेख की करामात समझकर कहा—"बरकते शेख

१ आईन अकबरी, जिल्द सोयम, 'जबानहा'—सफा ४५, नवलकिशोर।

थया एक मुआ एक था[1]।" यानी 'यह शेख की बरकत थी कि एक हमलाआवर (सुल्तान महम्मदशाह तुगलक, जिसने सन् ७५२ हि० मे हमला किया था) मर गया और दूसरा (सुल्तान फीरोजशाह तुगलक) नाकाम रहा।' इस इबारत से यह आइनः है कि उस जमानः—सन् ७६२ हि०—मे अरबी, फारसी और हिंदोस्तानी बोलियो का मजमूअ., जिसको आज आप उर्दू कहते हैं, पैदा हो चुका था। इन वाकयात से यह भी मालूम होगा कि इस जबान की पैदाइश की वजह मुख्तलिफ कौमो का कारोबारी और तिजारती इख्तिलात और मेलजोल था और उसी जरूरत ने इस नई जबान को वजूद बख्शा था। इस जबान की पैदाइश की—और पैदाइश की न सही तो इसके कयामे, बका और तरक्की की—वजह इससे भी बढ़कर नागुरेज एक और है। मुसलमान जब इस पूरे मुल्क पर हुक्मराॅ हुए तो गो फारसी सरकारी जबान की हैसियत से उनके साथ आई ताहम एक ऐसी कौम के लिये, जिसका तअल्लुक पूरे मुल्क से हो, इस मुल्क मे कोई एक भी मुतहिदः और मुश्तरकः जबान मौजूद न थी। लिखे-पढ़े तो खैर आज की अँगरेजी की तरह कल की फारसी से काम चला लेते थे, मगर अनपढ नाख़ाँदः और अवाम के लिये एक ऐसी जबान की सख्त जरूरत थी जो पूरे मुल्क मे बोलचाल, आमद व रफ्त और कारबार मे कारआमद हो और वईनः यही जरूरत आज भी मौजूद है।

'उर्दू' नाम

जबान उर्दू की तारीख के मुतल्लिक मीर अम्मन और सर सैयद और दूसरे पुराने बुजुर्गो ने जो बयान सुनाया था वह अब पारीनः समझा जाता है, और अब इस मजमून पर चद ऐसी मुहक्किकानः किताबे लिखी गई हैं जिनसे इस जबान की तारीख का दुशवारगुजार रास्तः बहुत-कुछ साफ हो गया है, और अब इसके वजूद का सुराग बहुत दूर तक लगाया जा चुका है, और आज से पाँच सौ बरस पहले के फिकरे जमा किए गए हैं, और तैमूरी बादशाहो से बहुत पहले की नज्म व नस्र किताबे मुहय्या की गई हैं, और अब चहारदरवेश के मुसन्निफ मीर अम्मन के इस बयान को लोग सिर्फ बुजुर्गो की कहानी समझते हैं—"हकीकत उर्दू जबान की बुजुर्गो की जबान से यों सुनी है कि दिल्ली शहर हिंदुओ के नजदीक चौजुगी है, इन्ही के राजा-परजा कदीम से वहाॅ रहते थे और अपनी भाषा बोलते थे। हजार बरस से मुसलमानो का अमल हुआ। सुल्तान महमूद गजनवी आया, फिर गोरी और लोदी बादशाह हुए। इस आमद व रफ्त के बायस कुछ जबानो ने हिंदू-मुसलमान की आमेजिश पाई। आखिर अमीर तैमूर ने, जिनके घराने मे अब तलक नाम-नेहाद सल्तनत का चला जाता है, हिंदोस्तान को लिया। उनके आने और रहने से लश्कर का बाजार शहर मे दाखिल हुआ। इस वास्ते शहर का बाजार 'उर्दू' कहलाया । जब अकबर बादशाह तख्त पर बैठे तब चारो तरफ के मुल्को से सब कौम कद्रदानी और फैज-रसानी उस खानदान लासानी की सुनकर हुजूर मे आकर जमा हुए। लेकिन हर-एक की गोयाई और बोली जुदी-जुदी थी। इकट्ठी होने से आपस मे लेन-देन, सौदा-सुल्फ, सवाल-जवाब करने से एक जबान उर्दू की मुकर्रर हुई। जब

1 तारीख फीरोजशाही, शम्स सिराज अफीफ, सफा २३१, कलकत्ता।

हजरत शाहजहाँ साहबे फेरान ने किला मुबारक और जामा मसजिद और शहरपनाह तामीर करवाया . तब से शाहजहाँ-आबाद (शाहजहानाबाद) मशहूर हुआ। अगरचे दिल्ली जुदी है और वह पुराना शहर और यह नया शहर कहलाता है, और वहाँ के बाजार को 'उर्दूए मुअल्ला' खिताब दिया।" लेकिन मेरे नजदीक इन चद सतरो मे उर्दू की जो तारीख बयान की गई है वह अशखास के नामो को छोडकर सरतापा हकीकत है। आज-कल बाज काफिलो ने 'पजाब मे उर्दू' और बाज अहले दकिन ने 'दकिन मे उर्दू' और बाज अजीजों ने 'गुजरात मे उर्दू' का नारा बुलद किया है। लेकिन हकीकत यह मालूम होती है कि हर मुमताज सूब' की मुकामी बोली मे मुसलमानो की आमदरफ्त और मेल-जोल से जो तगैयुरात हुए, इन सबका नाम उन्होने 'उर्दू' रक्खा है, हालाँकि इनका नाम पजाबी, दखनी, गुजराती और गूजरी वगैर: रखना चाहिए, जैसा कि उस अहद के बाज लोगो ने उसको उन्ही नामो से याद किया है और उसको दखनी और गूजरी बरमला कहा है, उस वक्त तक इस जबान के लिये 'उर्दू' का लफ्ज पैदा भी नही हुआ था।

अमीर खुसरो और अबुलफजल दोनो ने हिंदोस्तान की देशी जबानों में 'देहलवी जबान' का अलग नाम लिया है। अहदे शाहजहानी मे जब दिल्ली मे उर्दूए-मुअल्ला बना तो उस 'जबान देहली' या 'जबान देहलवी' का नाम 'जबान उर्दूए-मुअल्ला' पड गया। चुनाच. लफ्ज 'उर्दू', जबान के मानी मे, देहली के अलाव किसी सूब: की जबान पर इतलाक नही पाया है। मीर तकी मीर की तहरीरी सनद मे जब उसका नाम पहली दफा आया है तो देहली की ही जबान के लिये आया है, मगर फिर भी वह इस्तेलाह के तौर पर नही, बल्कि लुगत के तौर पर आया है, यानी मीर ने 'उर्दू जबान' नही कहा, बल्कि 'उर्दू की जबान' कहा है—"रेख्ता कि शेरेस्त बतौर शेरे फारसी बजबाने उर्दूए मुअल्ला बादशाहे हिंदोस्तान[1]।" यानी "बादशाह हिंदोस्तान के कैप या पाय:तख्त की जबान।" इससे मालूम हुआ कि मीर के जमान तक लफ्ज 'उर्दू' जबान के मानी मे मुस्तअमिल न था, मगर इसके बाद रफ्त-रफ्त: आम इस्तेमाल मे जबान उर्दू (उर्दू की जबान) के बजाय खुद जबान का नाम 'उर्दू' पड गया है और फिर यह उर्दूए मुअल्ला से निकलकर मुल्क मे हर जगह उसी असूल पर फैल गई जिस असूल पर हिंदोस्तान मे हमेश राजधानी की भाषा तमाम हुदूद सल्तनत मे फैलती रही है।

इस जबान की अस्लियत क्या है ? हमने पिछली सतरो मे इसको बार-बार 'नई जबान' कहा है, मगर क्या हकीकत मे इसको नई जबान कहना चाहिए ? हम जिसको आज उर्दू कहते हैं वह हकीकत मे देहली और अतराफ देहली की वह पुरानी बोली है जो वहाँ पहले से बोली जा रही थी और जिसको खुसरो और अबुलफजल ने 'देहलवी' कहा है और जिसमे जमान. के कायद. के मुताबिक इन्कलाब, उतार-चढाव और खराद होकर लफ्जो की मुनासिब सूरत बन गई। हर जबान तीन किस्म के लफ्जो से बनती है—इस्म, फेल और हर्फ। इस बोली मे, जिसको अब उर्दू कहने लगे हैं, फेल जितने हैं वह देहलवी हिंदी के है। हर्फ जितने हैं, एक-दो को छोड़कर, वह हिंदी के हैं। अलबत्त इस्म मे आधे इस

1 जिक्रे मीर, सफा ६२

F 52

हिंदी के और आधे अरबी, फारसी और तुर्की के लफ्ज हैं; और बाद को कुछ पुर्तगाली और फिरंगी के वह लफ्ज मिल गए हैं जिनके मुसम्मा इन बाहर के मुल्को से हैं—जैसे नीलाम, पाव रोटी, पादरी, आलमारी वगैरः। इसलिये उर्दू और हिंदी—वह भी देहलवी हिंदी—मे सिर्फ दो फर्क हैं। देहलवी हिंदी तो अपनी जगह पर रह गई; लेकिन इस हिंदी मे उस वक्त के नए जरूरियात के बहुत-से अरबी, फारसी और तुर्की के वह अलफाज आकर मिले जिनके मानी और मुसम्मा उन मुल्कों से आए थे। दूसरा फर्क यह पैदा हुआ कि वह हिंदी अपने खत मे और यह उर्दू फारसी खत मे लिखी जाने लगी। रफ्तः-रफ्तः एक और फर्क भी पैदा हुआ कि पुरानी हिंदी के बहुत-से लफ्जों मे, जो जबान पर भारी और सकील थे, जमानः और जबान की फितरी तरक्की के असूल के मुताबिक, हल्कापन और खूबसूरती और खुशआवाजी पैदा करने की कोशिश की गई। इसी तरह अरबी और फारसी और तुर्की के लफ्जो मे भी अपनी तबीयत के मुताबिक इसने तब्दीलियाँ पैदा कीं। उर्दू ने हिंदी के लफ्नो मे इस किस्म का जो तगैयुर किया है उसकी चद मिसाले यह हैं—

हिंदी	उर्दू	हिंदी	उर्दू
गुण	गुन	जीव	जी
ब्राह्मण	बरहमन	शक्ति	सकत
रावण	रावन	रक्षा	रख
विवाह	ब्याह	पौंचा	पहुँचा
ज्येष्ठ	जेठ	किंतु	क्योंकि
वर्ष	बरस (साल)	माई	माँ
परंतु	पर (मगर)	समय	समाँ
उचित	अच्छा	देश	देस
संबंधी	समधी	लक्षण	लच्छन
वैशाख	बैसाख	नाश	नास (खराब)
विचार	बिचार	अग्नि	आग
क्षत्री	खत्री	पूरन	पूरा
मनुष्य	मानुस (जैसे भलामानुस)	मूर्त्ति	मूरत
मेघ	मेहँ	सत या साँच	सच
वर्षाऋतु	बरसात	कुटुंब	कुटुम (खान्दान)
अट	आटा	वार्त्ता	बात
पानी	पानी	हस्ती	हाथी
दधि	दही	बादर	बादल
घृत	घी	दुग्ध	दूध या दूद
भिन्न-भिन्न	भाँत-भाँत	ना	न

चूँकि अब पूरा मुल्क एक था और हमेशः आमद व रफ्त लगी रहती थी, इसलिये इस देहलवी हिंदी मे सैकडो लफ्ज हिंदोस्तान के दूसरे सूबो की बोलियो से आकर रिल-मिल गए और खुसूसियत के साथ पजाबी और दखनी लफ्ज़ों की आमेजिश ज्याद' हुई। कहीं यह हुआ है कि फारसी और हिंदी दोनो के हममानी लफ्ज़ों को एक जगह करके बोलना शुरू किया, ताकि दोनों जबानों के अलग-अलग जाननेवाले एक लफ्ज़ से दूसरे लफ्ज़ के मानी समझ ले। जैसे—धन-दौलत, रग-रूप, रग-ढग, खाक-धूल, कागज-पत्तर, मोटा-ताजा, हँसी-मजाक, हँसी-खुशी, भाई-बिरादर, रिश्तः-नाता। कभी फारसी लफ्ज मे जरा हिंदीपन पैदा कर देते हैं। जैसे—जन-मजूर यानी मजदूर, लौंडी-बाँदी (बदी, बदः बमानी गुलाम), बाल-बच्चे ('बाल' हिंदी और 'बच्चा' फारसी, दोनो हममानी हैं)। कही यह किया है कि हिंदी लफ्ज को फारसी तरकीबों के साथ इस्तेमाल किया है। जैसे—समझदार, तिराहा, चौराहा, गाड़ीवान, छमाही, चितरशाही, भालाबरदार। जरूरत है कि उर्दू और हिंदी लिखनेवाले दोनो इस बात की कोशिश करे कि वह एक दूसरे से दूर होने के बजाय एक दूसरे से नजदीक हो, वरना वह दिन दूर नही जब यह एक मुल्क दो जबानो मे हमेशः के लिये बँटकर अपनी कौमी व मुल्की वहदत का खातिमा कर देगा।

कलिके !

कलिके ! अलि के गुजन में अस्तित्व खोज ले अपना,
मिटने में ही देखेगी कब तक मिलने का सपना ?
परिमल जिस पुण्य पवन ने था मधुकर तक पहुँचाया;
उसके ही अस्फुट स्वर मे सुन ले अलि ने क्या गाया ॥

बालकृष्ण राव

तरंग

सजनि ! मत्त ग्रीवालिंगन में
कर शत-शत श्रृंगार।
मिलने आकर खिँच जाती फिर
किस व्रीड़ा के भार॥
अगणित कंठों से गा-गाकर
अस्फुट मौलिक गान।
प्रात पहनकर तरणि-किरण का
तितली-सा परिधान॥
बुद्बुद-दल की दीपावलि में
भर भर स्नेह अपार।
तिमिर-नील-शैवाल-विपिन में
करती नित अभिसार॥
बरवै-छंदों-सी ऋजु, कोमल,
तू लघु सानुप्रास।
सहृदय-कवि-से सलिल-हृदय में
उमड़ रही सविलास॥
नर्त्तकि ! अपने मृदुल अधर पर
रख अँगुली सुकुमार।
किस विश्रब्ध नवोढा-सी तू
करती मृदु संचार॥

पहन भंगिमय कंबु-कंठ में
ताराओं के हार।
करने आती अपर पुलिन से
खद्योतों को प्यार॥
अपने कर में लेकर उसका
पुलकित बाहु-मृणाल।
सुप्त सरसिजों से इंगित में
कहती कुछ तत्काल॥
तरल नृत्य ज्योत्स्ना-छाया में,
आतप में मुसकान।
रच शैवाल-तिरस्करिणी[1] में
अभिनय-पट अम्लान॥
प्रात पुलिन के रंगमंच पर
इच्छाओं-सी मौन।
अहमहमिकया,[2] चिर-यौवनमयि
आती है तू कौन॥
पुलिन-पतित निर्मुक्त शुक्ति से
कर कुछ मौनालाप।
निठुर नियति पर तन्वि ! तानती
निज आयत भ्रूचाप॥

१ यवनिका।
२. मैं पहले तो मैं पहले।

मलय-समीरण की थपकी का
पाकर सुरभित प्यार।
वन्य-बालिके! सोते-सोते
जग जाती उस पार॥
हृदय-दोल पर कभी झुलाकर
शत जागृत उडु-बाल।
सुला रही गा मृदुल लोरियाँ
अपलक, देती ताल॥
सरिता की अविरल पुलकावलि
मीनो को मुसकान।
शत कटाक्ष चिर-शून्य प्रकृति की
तू, आदान-प्रदान॥

तरुणि! नित्य तेरे अचल मे
भर निज स्वर्ण महान।
विरल नखत चिर-शून्य मार्ग मे
छिप जाता दिन-मान॥
श्याम गगन की पचवटी मे
जब सध्या साकार।
आती है तब तू नूपुर-सी
मुखरित बारबार॥
नृत्य, गान, उत्थान, पतन, गति,
लय, आदान, प्रदान।
शैशव, यौवन, तम, प्रकाश की
तू साकृति अनुमान॥

जयकिशोरनारायणसिह

कौतुक

वह सुंदर था, सुशील था, और रसिक था। उसके अल्हडपन मे सरलता थी, और उसके यौवन के उन्माद मे बाल-सुलभ चापल्य। सरयू के स्वच्छ जल से क्यारियाँ सीचता, चमन मे चहलकदमी करता, और फूल तोडता—सूँघता, मसलता, और धूलि-धूसरित कर देता। उसके इस कौतुक से सुकुमार नवीन पौधा सिहर जाता। वह धीरे से आता, और चुपके से चूम लेता। मै उधर देखती—वह झेपता, झिझकता, और मुस्कराकर रह जाता।× × × मै सरस थी, सलोनी थी, और मुग्ध थी। मेरी प्रकृति मे सध्या का अलसाया सौदर्य था, और गति मे छिपी हुई रोचकता। मृग-छौना भगता, मै पकडती। वह डरता, मै मार्ग रोक लेती। फिर मै बिखरी हुई अधखिली कलियाँ अंचल मे भर लाती, और सावधानी से मनोहर माला गूँथती। वह देखता, परंतु तरगिणी-तट पर जाकर ध्यान-मग्न हो जाता। मै धीरे से जाती, और चुपके से माला पहना देती। वह आँखो मे रस भरकर ऊपर देखता—मै झेपती, झुँझलाती, और सहम जाती।× × ×सध्या-सुदरी के श्यामाबर अधकार अपने अक मे ढँक लेता। वह आगे बढ़ता, मैं पीछे-पीछे चलती। अँधेरा घना हो जाता। स्यार चीखते, मैं चीत्कार कर उसका हाथ पकड लेती। आँखे मिलती—एक से ज्योति निकलती, और दूसरे मे समा जाती। हम झेपते, झिझकते, और अभिन्न हो जाते!

दिनेशनदिनी

संबंध बुद्धि और समझ से है, हृदय से नहीं। इसी के साथ तीसरी एक और बात है। बुद्धि का संबंध और लोगों की बुद्धियों से बना रहना चाहिए। अकेले विनोद का आनंद कैसे आ सकता है? हास्य के लिये प्रतिध्वनि की आवश्यकता है। जब कोई हँसता है तब उसे सुनकर और लोग भी हँसते हैं और हँसी गूँजती रहती है। परंतु हँसनेवालों की संख्या अपरिमित नहीं हो सकती, एक विशेष समुदाय या समाज हो सकता है जिसे किसी विशेष बात पर हँसी आ सकती है। सामयिक पत्रों में जो व्यंग-विनोद की चुटकियाँ प्रकाशित होती हैं उनका आनंद इसी कारण सबको नहीं आता, जिन्हें कुछ बातें मालूम हैं उन्हीं को हँसी आ सकती है। इसी प्रकार साधारणतः सब बातों में होता है। दस व्यक्ति बातें करते हों और हँसते हों—जिन्हें उन बातों का संकेत मालूम है वे तो हँसते हैं, और लोग बैठे बातें सुनते भी हैं तो हँसी नहीं आती। एक भाषा के विनोदात्मक लेखों का सफल अनुवाद दूसरी भाषा में इसी कारण साधारणतः नहीं होता कि पहले देश की सामाजिक अथवा घरेलू अवस्था दूसरे से भिन्न है।

उपर्युक्त तीनों बातें प्रत्येक हास-परिहास के व्यापार के भीतर छिपी रहती हैं—चाहे वह व्यंग-चित्र हो, हास्याभिनय हो, व्यंगपूर्ण लेख अथवा कविता हो, इन तीन बातों की भित्ति पर यदि ये बने हैं तो हँसी आ सकती है, अन्यथा नहीं। यों तो सूक्ष्म विचार करने में हास्य का और भी विश्लेषण हो सकता है, पर यहाँ हम केवल एक बात और कहेंगे। हँसी के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु में साधारणतः जो बातें हम देखते, सुनते, समझते या पाने की आशा करते हैं, उनमें सहसा या शनैःशनैः परिवर्त्तन हो जाय। यह भेद स्थान अथवा समय का हो सकता है। जिस स्थान पर जो बात होनी चाहिए उसका अभाव, अथवा न होना चाहिए उसका होना, हँसी पैदा कर देता है—यदि उसमें, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गंभीरता का भाव न आने पाए। इसी प्रकार जिस समय जो बात होनी चाहिए या जिस समय जो न होना चाहिए, उसमें उस समय कोई बात न होना या होना। मुझे याद है, एक बार एक मित्र के यहाँ तेरहवीं के भोज में हम लोग गए थे। कुछ मित्र एक ओर बैठे हँसी-मजाक कर रहे थे और जोर-जोर से हँस रहे थे। यह देखकर जिसके यहाँ हम लोग गए थे उसने कहा कि आप लोगों को मालूम होना चाहिए कि आप लोग गमी की दावत में आए हैं। यह सुनकर एक बहुत सीधे सज्जन ने उत्तर दिया कि फिर ऐसे मौके पर आएँगे तो न हँसेंगे। इसे सुनकर बड़े जोरों का कहकहा लगा। बात असामयिक थी और ऐसा न कहना चाहिए था, पर कहे जाने पर कोई हँसी न रोक सका। यहाँ पर साधारणतः जो व्यवहार मनुष्य को करना चाहिए था, अथवा जैसा सब लोग समझते थे कि ऐसे अवसर पर लोग व्यवहार करेंगे, उससे विपरीत बात हुई, इसी कारण हँसी आ गई। एक आदमी चला जा रहा है, रास्ते में केले का छिलका पैर के नीचे पड़ता है और वह गिर पड़ता है; सब लोग हँस पड़ते हैं। यदि वह मनुष्य यकायक न गिरकर चलते-चलते धीरे से बैठ जाता तो लोग न हँसते। वास्तव में जब किसी को लोग चलते देखते हैं तब यही आशा करते हैं कि वह चलता जाएगा। पर वह जो यकायक बैठ जाता है, इस साधारण स्थिति में यकायक परिवर्त्तन हो जाने के कारण हँसी आ जाती है। एक बार मेरे स्कूल के पास एक बारात ठहरी हुई थी। तंबू के नीचे नाच हो रहा था। तंबू की रस्सी मेरे स्कूल की दीवार में कई जगह बँधी हुई थी। कुछ बालकों ने शरारत से इधर की सब रस्सियाँ खोल

कैलास

चित्रकार—श्री० विनायक मसोजी

(चित्रकार के सौजन्य से)
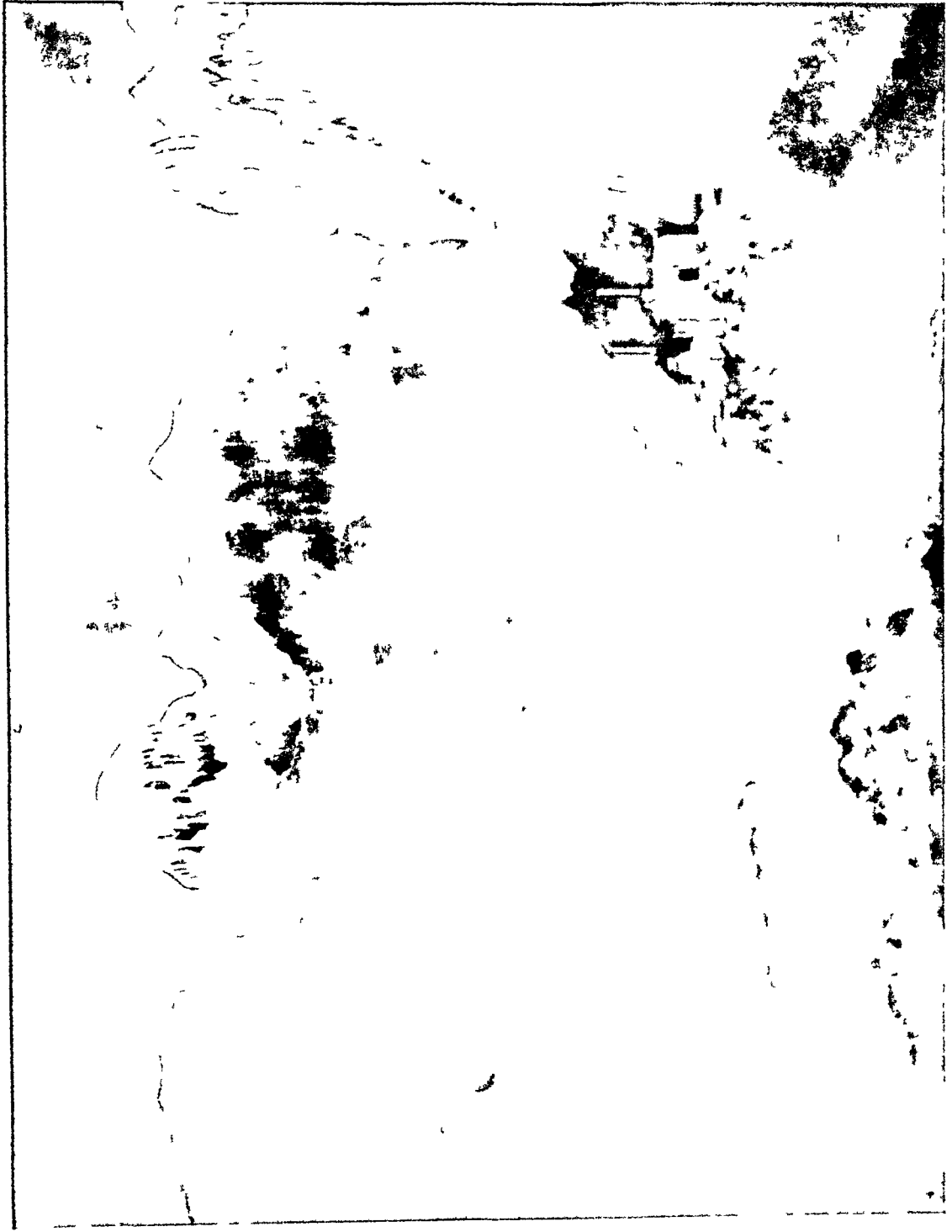
दी। एक ओर से तबू गिरने लगा। यकायक सारी मडली मे भगदड मच गई। जितने लोग बाहर देख रहे थे, महफिलवालो के भागने पर बड़े जोर से हँसने लगे। यह जो स्थिति मे सहसा परिवर्त्तन हो गया, वही हँसी का कारण था। इसी प्रकार, कार्टून अथवा व्यग-चित्र को देखकर हँसी इसलिये आती है कि जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता है, वहाँ उससे भिन्न—अनुपात से विरुद्ध—वस्तु मौजूद है। जहाँ डेढ इच की नाक होनी चाहिए वहाँ तीन इच की, जहाँ दो फीट के पैर होने चाहिए वहाँ पाँच फीट के रहते हैं। हाजिरजवाबी की बातो पर भी इसी लिये हँसी आती है कि जैसे उत्तर की आशा सुननेवाले को नही है वैसा श्लिष्ट, द्व्यर्थक अथवा चमत्कारपूर्ण उत्तर मिल जाता है। यहाँ भी साधारण से भिन्न अवस्था हो जाती है। हाँ, यहाँ भी गभीरता का भाव हृदय मे न आना चाहिए।

ऊपर यह कहा गया है कि गभीरता अथवा सहानुभूति का अभाव हास्य के लिये आवश्यक है। यह इसलिये कि करुणा, क्रोध, घृणा आदि हास्य के वैरी हैं। हास्य से गभीरता का इस प्रकार एक विचित्र तारतम्य है। किसी गभीर बात पर साधारण-से परिवर्त्तन होने पर हँसी आ जाती है, पर यही हँसी धीरे-धीरे फिर गभीरता धारण कर सकती है।

मान लीजिए, कोई सज्जन कही जाने के लिये कपडा पहनकर तैयार हैं और पान माँगते हैं। स्त्री एक तश्तरी मे पान लेकर आती है। वे पान खाते हैं। यहाँ तक कोई हँसी की बात नही है, न हँसी आती है, पूरी गभीरता है। अब मान लीजिए कि पान मे चूना अधिक है। खाते ही जब चूना मुँह मे काटता है तो खानेवाला मुँह बनाता है। आपको उसे देखकर हँसी आती है। अब वह पान थूकता है और अनाप-शनाप बकने लगता है। इस समय वह हास्यास्पद हो जाता है। इसी क्रोध मे वह तश्तरी उठाकर अपनी स्त्री के ऊपर फेक देता है। अब उसे देखकर हँसी नही आती, बल्कि घृणा होती है। इसके बाद हम देखते हैं कि स्त्री के हाथ मे तश्तरी से चोट आ गई है। अब हमे क्रोध आ जाता है और पुनः हम गभीर हो जाते हैं। हम इस प्रकार देखते हैं कि गभीरता का विचार-मात्र हास्य के लिये घातक है। साथ ही, यह भी है कि गभीरता की जब अति होने लगती है तब हास्य की उत्पत्ति होती है। हास्य की मनोवृत्ति केवल बुद्धि पर अवलबित है। यह समझना भूल है कि बुद्धिमान् लोग नही हँसते। गभीर लोग नही हँसते, गभीर लोगो पर हँसी आती है। हाँ, हास्य की पूर्त्ति के लिये व्यग एक आवश्यक वस्तु है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो सकता है और भद्दा से भद्दा। प्राचीन सस्कृत एव हिंदी-साहित्य मे, विशेषतः कविता मे, और अँगरेजी साहित्य मे भी, प्रचुर परिमाण मे व्यगपूर्ण परिहास मिलता है। व्यग में भी सामान्य अथवा साधारण स्थिति मे जो होना चाहिए उसके अभाव की ओर सकेत रहता है, इसी से उसे पढ़कर या सुनकर हँसी आती है।
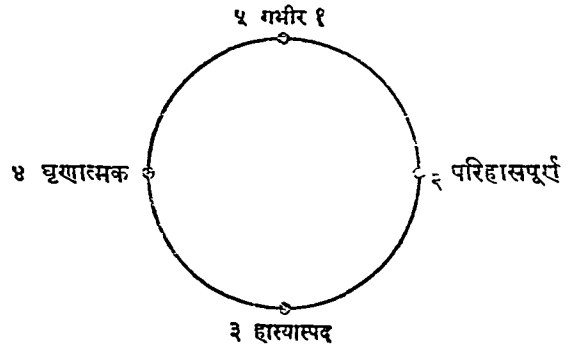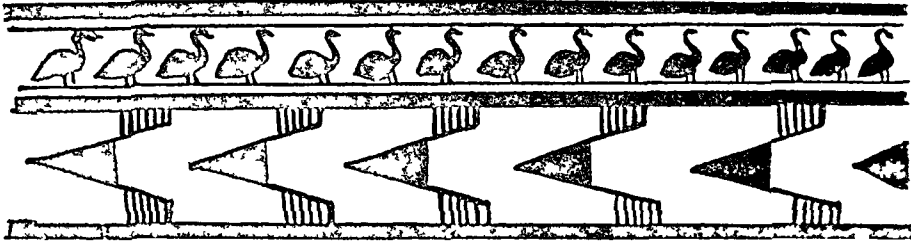
खड़ी बोली की प्राचीनता

श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा, एम० ए०, 'रसिकेश'

यों तो हिंदी के अंतर्गत व्रज, खडी, अवधी, बुँदेलखडी इत्यादि कई बोलियाँ हैं, परतु इस समय 'खडी बोली' का इतना विस्तार है तथा इसकी इतनी व्यापकता है कि जन-साधारण इसको हिंदी का पर्यायवाची शब्द समझता है—साहित्यिक ज्ञान रखनेवाले को भले ही इसका वैशेषिक परिचय हो। इसका प्रधान कारण यह है कि व्रज तथा अवधी को बोलचाल की व्यापक भाषा बनने का गौरव नही प्राप्त हो सका था। उनका विस्तार बोलचाल मे एकदेशीय ही बना रहा। अपने घेरे के बाहर उनका केवल साहित्यिक स्वरूप ही जा सका। इसका एक दूसरा प्रधान कारण यह भी है कि उनमे गद्य-साहित्य का प्रायः अभाव रहा, और व्यावहारिक भावो के आदान-प्रदान का प्रधान सहारा गद्यशैली ही है। किसी भी भाषा का थोडा भी परिचय रखनेवाला व्यक्ति उस भाषा के गद्य का आश्रय लेकर अपने भावो को शिष्टवर्ग मे स्पष्ट व्यक्त कर सकता है। अस्तु। हिंदी-साहित्य के वर्तमान गद्य एव पद्य—सभी प्रकार की रचनाओ—मे खडी बोली ही का प्राधान्य है। समस्त युक्तप्रांत, बिहार तथा मध्यप्रात के शिष्टवर्ग के साहित्यिक एव व्यावहारिक विचार-विनिमय मे खड़ी बोली ही एकांगिक रूप से प्रयुक्त होती है। यही सर्वसाधारण के बोलचाल की भाषा है। इन प्रांतो के अतिरिक्त अन्य प्रांतो मे भी इसका प्रभुत्व स्पष्ट दिखाई पडता है। वहाँ के निवासी अपनी प्रांतीय भाषा के अतिरिक्त इसी से प्रधानतः परिचित रहते है। इसके परिचय के बिना उनका काम नही चलता। खडी बोली की वर्त्तमान व्यापकता तथा सर्वप्रियता ही इसके राष्ट्रभाषा बनने मे प्रधानतः सहायक हुई है। भारतवर्ष के सीमाप्रदेशो मे भी इससे परिचित व्यक्ति प्रायः मिल ही जाते है। उक्त प्रांतों के निवासी यदि लका, अफगानिस्तान प्रभृति प्रांतो मे चले जायँ तो विशेष असुविधा मे न पड़ेंगे। किंतु आश्चर्य है कि जिस भाषा अथवा बोली का बोलचाल तथा साहित्य में इतना व्यापक प्रसार है उसके जीवन-चरित के आरंभिक पृष्ठो का पता लगाने की चेष्टा सतोषजनक रूप से अभी तक नहीं की गई। हाँ, समय-समय पर इसके प्राचीनतम लिखित स्वरूप को देखने-दिखाने का प्रयत्न अवश्य किया गया है। जहाँ तक इस समय अनुसधान हो चुका है उसके अनुसार यही कहा जा सकता है कि खडी बोली का आंशिक

स्वरूप तेरहवी शताब्दी तक का प्राप्त है।[1] परतु उन स्वरूपों से कोई विशेष लाभ नही, क्योकि उनसे तो इसका भी पता नही लग सकता कि उस समय इस बोली का कोई स्वतत्र अस्तित्व भी था या नही। बोलचाल मे इसका कितना और किस रूप मे प्रचार था, इसका प्रामाणिक प्रमाण नहीं प्राप्त है। साहित्य मे इसकी कितनी व्यापकता थी, इसका भी निश्चयात्मक रूप से पता नही, क्योकि प्रायः वे स्वरूप अन्य प्रातिक भाषाओ के बीच ऐसे दबे-से दिखाई पडते हैं कि उनकी स्वच्छद गठन का भी अनुमान नही किया जा सकता। इधर कुछ दिन हुए, बडोदा के ओरियंटल सिरीज की सैतीसवी जिल्द मे 'अपभ्रश-काव्यत्रयो' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। उसकी भूमिका मे विविध भाषाओ के प्राचीन प्रातिक रूप दिखाने के अभिप्राय से 'कुवलय-माला-कथा' के उस अश का उद्धरण दिया गया है जिसमे मीनाबाजार का दृश्य है, जहाँ विभिन्न प्रातो के बनिए अपनी-अपनी दूकान लगाकर बैठे हैं और ग्राहकों को अपनी ही अपनी भाषा मे बुलाते हैं। उस बाजार मे जो वणिक 'मध्यदेश' से गया है उसके विषय मे इस प्रकार लिखा है—"णय-नीति-सधि विग्गहपडुए बहु जपिरे पयतीए। 'तेरे मेरे आउ' त्ति जपिरे मज्झदेशे य ॥[2]" इसका सस्कृत-रूपातर इस प्रकार है—"नय-नीति-सधि-विग्रहपटुकान् बहुजल्पकाश्च प्रकृत्या। 'तेरे मेरे आओ' इति जल्पतो मध्यदेश्याश्च ॥" यह 'कुवलय-माला-कथा' अभी तक प्रकाशित नही हुई है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति बडोदा के जैसलमेर-पुस्तकालय मे अभी तक सुरक्षित[3] है। यह ताडपत्र पर लिखी हुई है। इसका लेखक दाक्षिण्यचिह्नोद्योतनाचार्य और लेखन-काल है विक्रमी सवत् ८३५।

उपर्युक्त उद्धरण के दो महत्त्व हैं। एक तो यह कि इस समय तक यह शुद्ध खडी बोली का प्राचीनतम प्रमाण है—इसमे 'तेरे', 'मेरे' सर्वनाम एव 'आउ' (आओ) क्रिया के विशुद्ध रूप प्राप्त हैं। दूसरा यह कि यह भाषा समस्त मध्यदेश की प्रतिनिधि-स्वरूप प्रयुक्त है। इसका यह तात्पर्य निर्विवाद तथा स्पष्ट है कि उस समय (वि० स० ८३५) इस प्रांत-विशेष के शिष्टवर्ग के साधारण व्यवहार और बोलचाल मे इसी का प्रयोग होता था। इसकी व्यापकता सपूर्ण प्रात मे थी।

इस विषय का विवेचन उस समय तक समाप्त न समझना चाहिए जब तक उक्त उद्धरण मे प्रयुक्त 'मध्यदेश' की सीमा निर्धारित न कर ली जाय। यो तो इसकी सीमा समयानुसार परिवर्तित होती गई है—क्रम से विकास एव ह्रास होता गया[4] है, परतु हमे तो वि० स० ८३५ के मध्यदेश से परिचय प्राप्त करना है। इसके लिये उस समय से दो सौ वर्ष पूर्व वराहमिहिर के 'बृहत्संहिता' (वि० स० ६४४) और एक सौ वर्ष उपरांत राजशेखर के 'काव्यमीमासा' (वि० स० ९३५—७७) का सहारा

१ नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) का 'हिंदी-पुस्तको की खोज का विवरण' (अँगरेजी), भाग १, परिशिष्ट १

२. अपभ्रश-काव्यत्रयी, पृष्ठ ९२

३ अपभ्रंश-काव्यत्रयी, पृष्ठ ८९

४ नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (काशी)—नवीन संस्करण, भाग ३, पृष्ठ ३१–४३

लेना आवश्यक है। वराहमिहिर के अनुसार इसके अंतर्गत कुरु, पांचाल, मत्स्य, वत्सा और शूरसेन राज्य थे। उसने साकेत (कोशलराज्य) को इसी के भीतर लिया है। परन्तु काशी को निश्चित रूप से इसके बाहर माना है। इस प्रकार उस समय के मध्यदेश के अंतर्गत, वर्त्तमान पंजाब के पूर्वी भाग से लेकर अयोध्या और प्रयाग तक, और हिमालय से लेकर बुँदेलखंड तक, सभी प्रदेश आ जाते हैं। काव्य-मीमांसाकार ने तो मनु जी की दी हुई सीमा को अपनाया है[1]। उसके विचार से पूर्व, पश्चिम और उत्तर की तो प्रायः वही सीमाएँ थीं; परंतु दक्षिण की कुछ और विस्तृत होकर विंध्यगिरि तक चली गई थी। इतना अंतर कोई विशेष नहीं ज्ञात होता। ऐसी अवस्था मे इन दोनों प्रामाणिक सीमाओ का विचार कर हम निश्चय कर सकते हैं कि विक्रमीय संवत् ८३५ मे मध्यदेश की सीमा इस प्रकार थी—उत्तर मे हिमालय पर्वत; दक्षिण मे विंध्यगिरि, पूर्व मे कोशल-राज्य और प्रयाग; तथा पश्चिम मे वर्त्तमान हिसार (प्राचीन विनशन), अंबाला और जयपुर (प्राचीन मत्स्य)।

अभी तक खड़ी बोली के इतिहास मे जो यह सिद्धांत कुछ लेखकों के प्रमाद से प्रचलित दिखाई देता है कि इसका जन्म अर्वाचीन काल मे हुआ है—अथवा यह केवल मेरठ, सहारनपुर और दिल्ली के समीपवर्त्ती स्थानों मे प्रचलित थी और मुसलमानों के विस्तार के साथ-साथ इसका व्यवहार-क्षेत्र भी बढ़ा, नितांत भ्रामक एवं तथ्य-हीन है। वस्तुतः इसका जन्म प्राचीन काल मे हुआ और यह अन्य अपभ्रंश भाषाओ के साथ-साथ विकसित और पुष्ट हुई,[2] क्रमशः इसकी व्यापकता बढ़ी और धीरे-धीरे इसका व्यवहार-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। वि० सं० ८३५ तक आते-आते यह समस्त मध्यदेश को व्यावहारिक भाषा बन गई। साधारण बोलचाल में इसके प्रयोग का यथेष्ट प्रमाण प्राप्त हो ही चुका है। यदि इस समय इसका कोई साहित्य नही मिलता तो कोई विशेष आश्चर्य की बात नही है, क्योंकि इसके साथ ही साथ शौरसेनी अपभ्रंश की व्यापकता भी एक ओर बढ़ रही थी। साहित्य मे वह विशेष लोकप्रिय बन गई। वह अपभ्रंश-काल भी था, और अन्य प्रदेशो मे भी अन्य अपभ्रंश भाषाएँ प्रधानता ग्रहण कर रही थी। खड़ी बोली का जो व्यवहार-क्षेत्र था वह भारतवर्ष के मध्य भाग मे स्थित था और उसमे प्रधान एवं संपन्न अनेक जनपद थे, जिनसे प्रायः समस्त देश का कुछ न कुछ संबंध था। इस कारण सभी प्रांतो के लोग नित्य यहाँ आया-जाया करते थे और अपनी अपभ्रंश भाषा के स्वरूप का परिचय यहाँ के निवासियों को करा देते थे। यही कारण है कि मध्यदेश के निवासी प्रायः सभी

१. "हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः॥"

—मनुस्मृति (काव्यमीमांसा, पृ० ६४)

२. जब हम यह देखते है कि नवीं शताब्दी के अर्धभाग मे खड़ी बोली (हिंदी) का इतना व्यापक प्रसार था तो कम से कम एक सौ वर्ष इसके गठन एवं इतने प्रचार मे अवश्य लगे होगे। ऐसी अवस्था मे इसका आरंभ सातवी शताब्दी का अंत माना जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

अपभ्रंश भाषाओ के ज्ञाता हो गए थे।[1] साथ ही वे अन्य प्रांतवाले अपने साथ खडी बोली के व्यावहारिक रूप ले जाते थे और अपनी-अपनी प्रांतीय साहित्यिक भाषाओ मे उनका प्रयोग करते थे। ऐसा करने मे अपने-अपने अनुकूल बनाने मे—उनका स्वरूप भी बिगाड लेते थे। शौरसेनी अपभ्रंश उत्तरी भारत की प्रधान साहित्यिक भाषा थी। समीपवर्त्ती होने के कारण खडो बोली का आभास उसमें स्पष्ट दिखाई पडता है।

उदाहरण के रूप मे एक नही, अनेक उद्धरण दिए जा सकते है। इस स्थल पर साधारण स्वरूप दिखाने के अभिप्राय से कुछ उपस्थित किए जाते है। भिन्न टाइप के शब्दो के गठन पर विचार करना चाहिए—(१) भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु। (२) चंडेसो, रक्खे सो। गोरी रक्खो। (३) भवाणी हसंती। दुरित्त हरती। (कृदत)। (४) ढोल्ला सामला धण चंपा-वण्णी। (५) ढोल्ला मइ तुहु वारिया। (६) एइ ति घोड़ा एइ थलि। (७) हत्थी जूहा। सज्जा हूआ। (८) अद्धा वलया महिहि गय अद्धा टुट्ट तडित्त। (९) एक्के दुन्नय जे कया। इत्यादि। इन्ही आकारात रूपो को अपभ्रंश मे प्रयुक्त होते देखकर वैयाकरणो को विशेष सूत्र गढना पडा—"स्यादौ दीर्घह्रस्वौ"।

१ "गौडाद्या संस्कृतास्था परिचितरुचय प्राकृते लाटदेश्या,
सापभ्रंशप्रयोगा सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्या पारियात्रा सह दशपुरजैर्भूतभाषा भजन्ते,
यो मध्ये मध्यदेश निवसति स कवि सर्वभाषानिषण्ण॥"

—काव्यमीमासा (अध्याय १०, पृष्ठ ५१)
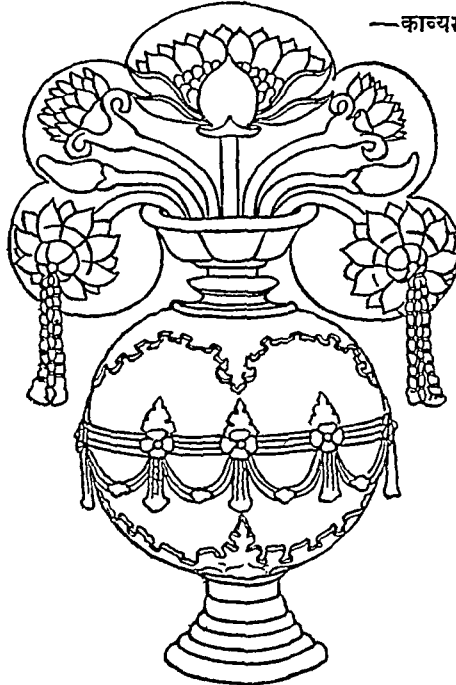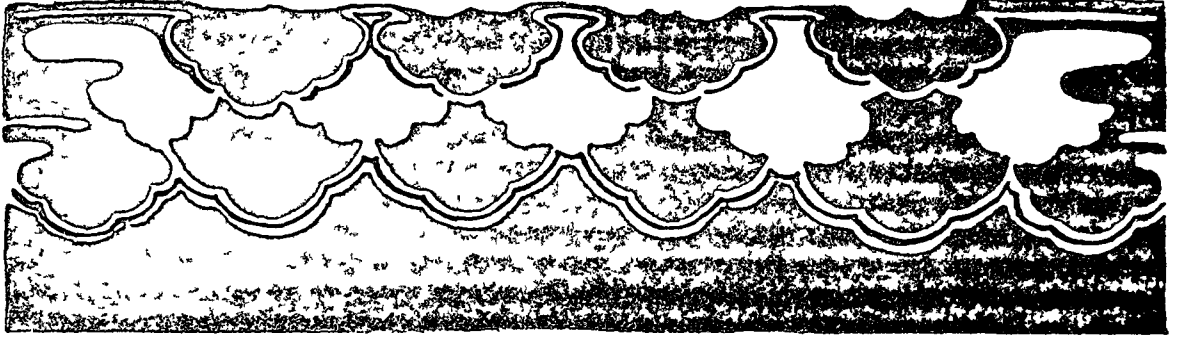
आधुनिक नाटक पर एक दृष्टि

श्री कृष्णानंद गुप्त

वर्त्तमान समय मे योरप के साहित्य मे समस्यामूलक नाटको की जो बाढ़ आई है, उसके उद्गम की खोज के लिये हमे इब्सन तक जाना होगा। इब्सन की चर्चा के बिना आधुनिक नाट्य-साहित्य की चर्चा अधूरी ही रहती है। जो इब्सन है, वही आधुनिक नाटक भी है। वर्त्तमान समय का कोई भी ऐसा श्रेष्ठ लेखक नही है जिसने किसी न किसी रूप मे उसके व्यक्तिवाद के सिद्धांत को न अपनाया हो। इब्सन वर्त्तमान काल के वस्तुवादी लेखकों का प्रथम महापुरुष है। उसी ने सर्वप्रथम नाटक के उर्वर क्षेत्र मे वस्तुवाद का बीजारोपण किया, जो अंकुरित होकर अब एक विशाल वृक्ष बन गया है, और खूब फल-फूल रहा है। वस्तुवाद के इस वृक्ष का यह वसतकाल है, या उसे शिशिर ने सताया है, कुछ कहा नही जा सकता, सात समुदर पार से हमे उसका वैभव ही दृष्टिगोचर होता है, अथवा क्या आश्चर्य जो उसकी जीर्णावस्था को ही हमने यौवन का चिह्न मान लिया हो। जो हो, नाट्य-रचना की प्राचीन रूढ़ियो के कठिन बधन को तोड़कर इब्सन ने नाटक को एक तीव्र और स्वच्छद गति प्रदान की। उसने प्रारंभ मे स्वय रोमांटिक ड्रामा लिखे। परतु उसकी विद्रोही आत्मा को उससे सतोष न हुआ। उसने परिपाटी तोड़ी, और ईर्ष्या, प्रेम, द्वेष, वीरता आदि की अद्भुत और अकल्पनीय कथाओं के मोह-पाश को छिन्न करके जीवन की साधारण घटनाओ को नाटक का विषय बनाया। नाटक के द्वारा उसने विवाह, परिवार, सपत्ति, धर्म, राजनीति आदि के झूठे आदर्शो पर आक्रमण किया। अपनी शक्ति और क्षमता के बल से उसने नाटक की दिशा बदल दी। नाटक को उसने शिक्षक का भार सौंपा। तब से रगशाला दर्शकों का मनोरजन न करके उनके मन को नए-नए प्रकार से अस्थिर करती आ रही है। दर्शक इससे क्षुब्ध हैं। परतु नाटक के इस नए रूप से अब वे परिचित हो गए है। इब्सन ने इससे भी अधिक किया। उसके द्वारा नाटक को अधिक सहज, अधिक सरल, अधिक सुदर, और अधिक सुगठित रूप प्राप्त हुआ। पहले के नाट्यकार घटना को बहुत महत्त्व देते थे। उनकी धारणा थी कि कथावस्तु जितनी अनहोनी होगी, नाटक उतना ही अधिक रोचक होगा। परतु

इब्सन ने साधारण घटनाओं के आधार पर ही अद्भुत नाट्यसृष्टि करके यह सिद्ध किया कि नाटक की कथावस्तु दर्शकों अथवा पाठको के लिये जितनी परिचित और साधारण होगी, नाटक उतना ही श्रेष्ठ और चमत्कारपूर्ण होगा। इब्सन का यह सदेश वास्तव मे महत्त्वपूर्ण है। परतु इब्सन का मूल्य उसके सदेश से भी अधिक है। ससार के साहित्य को उसने शॉ, गॉल्सवर्दी, ब्रीओ, हाप्टमैन-जैसे श्रेष्ठ रियलिस्टिक साहित्य-शिल्पी भेट दिए हैं। और, यदि वर्त्तमान समय का नाट्य-साहित्य केवल विषय की विवेचना के फेर में पडकर एकागी होता जा रहा है, तो इसके लिये भी इब्सन ही उत्तरदायी है। शॉ महोदय ने अपने अद्भुत लेखन-चातुर्य के बल से इब्सन के नाट्य-साहित्य का मथन करके उसमें से 'इब्सन-इज्म' नाम की एक अभिनव वस्तु का आविष्कार किया है। सब प्रकार के आदर्शों पर आक्रमण करना ही इस 'इज्म' का एकमात्र उद्देश्य है। शॉ चाहते हैं कि एक से दूसरे छोर तक ससार के समस्त लेखक इब्सन-वाद की पूजा करे और उसका आदर्श माने। वे सचमुच विलक्षण पुरुष हैं! वे कहते हैं कि इब्सन क बाद 'डिसकशन' (विवेचना) ने योरप के नाट्य-साहित्य पर अधिकार जमा लिया है। श्रेष्ठ लेखक नाटक मे अब विवेचना को ही मुख्य स्थान देते हैं। पर यह वास्तव मे 'डिसकशन' की नहीं, इब्सन और शॉ की ही विजय है। इब्सन के पास अपूर्व नाट्य-कौशल था, उसने नाटक को एक नवीन रूप दिया, और शॉ के हाथ विजयश्री इसलिये लगी कि उनमे शासन की अद्भुत क्षमता है। वे स्वभाव से ही प्रभुत्व-प्रिय हैं। उनके हाथ मे तर्क और पाडित्य की तीखी तलवार है जिसकी तेज धार के सामन अच्छा से अच्छा खिलाडी ठहर नही सकता। अपने समस्त नाटको के वे स्वय ही प्रधान चरित्र हैं। बडे-बडे तर्क-व्यापार के नायक वे स्वय ही हैं। उनके नाटक का एक साधारण पात्र भी साम्यवाद को समस्या पर धारा-प्रवाह वक्तृता दे सकता है। नाट्य-रचना के समस्त सिद्धातों की उन्होंने हठपूर्वक अवहेलना की है। परतु कोई भी विवेकशील लेखक उनके अनुकरण का दुस्साहस न करेगा जब तक कि वह स्वय शॉ नही है।

हमारे साहित्य-मन को भी इब्सन-वाद का धक्का लगा है। जिसका सद्य फल यह हुआ कि अभी हमने केवल भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर हमला बोला है। यह बहुत अशुभ नही है। पर हिंदी मे हम इस ढग के नाटक नहीं चाहते। इब्सन की 'नोरा' अपने पति का त्याग करके घर से बाहर निकल जाती है। इस नादान लडकी और उसके सृष्टिकर्त्ता दोनो से ही हमे समझौता करने की जरूरत है। योरप ने आज-कल अपने लिये विविध प्रकार की जटिल समस्याएँ उत्पन्न कर ली हैं। उनकी मीमासा हुए बिना उसे चैन न मिलेगा। अतएव वहॉ के सभी श्रेष्ठ लेखक नाटक द्वारा समस्या की विवेचना मे लगे हुए हैं। उनकी कोई अन्य गति नहीं है। समय की यही आकाक्षा और यही आवश्यकता है कि नाटक समस्या की आलोचना करे। पर वह किसी समस्या का उत्तर नहीं देता। इस विषय मे इब्सन और उसके अनुयायी हमे अधकार मे ही छोड़ते हैं। इब्सन ने तो स्वय ही कहा है कि 'मेरा कार्य तो केवल समाज-शरीर के रोग का निदान करना है, सस्कार वे लोग करे जो कवि या नाटककार नही हैं।' इब्सन के पल्ले नाट्य-प्रतिभा की अतुल सपत्ति है, अन्यथा भगवान् जाने, उसके अधिकाश नाटकों की क्या गति होती! वर्त्तमान समय के लेखको ने नाटक को यदि विचार-प्रकटन

का प्रधान साधन बना लिया है तो इसके लिये उन पर प्रचार-मूलक होने का अभियोग नहीं लगाया जा सकता। डार्विन और मार्क्स के इस युग मे मनुष्य सब विषयों मे अधिकाधिक शकाशील होता जा रहा है। परंतु इसके उदाहरण बहुत विरल नहीं है कि नाटक मे जहाँ विषय के प्रयोजन को अधिक महत्त्व मिला है, वहीं वह अपने आदर्श से च्युत हुआ है। ब्रीओ ने 'दागी माल' (Damaged Goods) के बजाय 'सिफलिस' के विषय पर कोई पुस्तिका लिखी होती तो मै समझता हूँ, उपयोग की दृष्टि से वह उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती जितनी उसकी उक्त प्रसिद्ध नाट्य-रचना। ब्रीओ की लेखनी में बहुत बल है, परतु वह जैसे कभी-कभी नाट्यकार न बना रहकर सुधारक बन जाता है।

नाटककार चाहे सुधारक बने, चाहे शिक्षक, हमे इसकी चिता नही। जब तक वह जो है वह बने रहने मे आनंद मानता है।

नृत्य देखने की लालसा और कथा सुनने का औत्सुक्य, इन दो के मधुर मिलन से नाटक का जन्म हुआ। धार्मिक उत्सवो के गीत, वाद्य और नृत्य को नाटक की गति मिली; और उत्सव कला के रूप मे खिल उठा। परतु चिताशील लेखकों ने जीवन के इस चित्र की व्याख्या की। दर्शन की जगह उन्होने नाटक लिखे और रगमच पर सुधारक की मूर्त्ति स्थापित की। नाटक की विस्मयजनक उन्नति हुई है। परतु दूसरी दिशा मे उसका एक अंग छिन्न हुआ है। चरित्र-चित्रण की कला मे हम बहुत दक्ष हो गए हैं और नाटक का रूप स्फटिक की तरह स्वच्छ और उज्ज्वल हो गया है। इसका मूल्य हमने कवित्व से दिया है। हमे अब कथा सुनने को मिलती है, परतु नृत्य देखने को नही मिलता। नाटक अब वस्तु की विवेचना करता है, रस के ऊर्ध्वलोक मे विचरण करना उसने त्याग दिया है। भविष्य मे नाटक का रूप क्या होगा, कहना कठिन है। मैटरलिंक, ईट्स आदि भाव-रस-प्रधान लेखकों का विश्वास है कि आगे के नाट्यकार मनुष्य-चरित्र की जगह भावो का चित्रण करेंगे। भाव ही एक रस बन जायगा। मनुष्य क्रमशः उन्नत होकर और भी अधिक सूक्ष्म-बुद्धि बनेगा, और तब स्थूल रस से उसकी तृप्ति न होगी। उसकी इद्रियाँ इतनी सूक्ष्म हो जाएँगी कि कवि भावो की जिस निरतर पलायमान छाया को पकड़ता है और पकड़ नही पाता, उन्हे वह अपनी कल्पना द्वारा मूर्त्ति-रूप मे ग्रहण कर लेगा। परतु ऐसे लेखकों का भविष्य बहुत उज्ज्वल नही दिखाई देता। 'सिबलिज्म (Symbolism)' को लोग पसद नही कर रहे हैं। वह ऐसी अशरीरी वस्तु है जिसे मनुष्य ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक प्रकृति को ओर से उसे एक छठी सूक्ष्म इद्रिय प्राप्त न हो जाय। जे० एम० सिज आधुनिक युग का एक प्रसिद्ध नाट्यकार है। उसे मैटरलिक के रूपक नाटक भी पसद नही, और इब्सन के वस्तुवादी नाटक भी वह नापसंद करता है। उसे जॉन्सन, मोलियर और शेक्सपियर ही प्रिय हैं। यह शुभ लक्षण है। वस्तुवाद से ऊब कर साहित्य ने मैटरलिंक को जन्म दिया। 'मिस्टीसिज्म' (Mysticism) नाम की वस्तु से लोग जब ऊबेंगे तब क्या होगा ?

आनद और उत्सव को लेकर नाटक बना था। कारणवश वह मार्ग से भटक गया है। इस भूलने मे ही अभी उसे पर्यटन का आनद मिल रहा है। पर एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब

उसका पाथेय चुक जायगा। तब वह अपना मार्ग खोजेगा, जिसका फल होगा—नाटक फिर नाटक बनेगा। उसमे गीत भी होगा, नृत्य भी होगा, वाद्य भी होगा, और कथा भी होगी।

हिंदी मे नाट्य-साहित्य का नवयुग आरभ हो रहा है। अतएव योरप के नाटक-साहित्य की वर्त्तमान गति-विधि पर बहुत सतर्क भाव से दृष्टि रखने की आवश्यकता है।
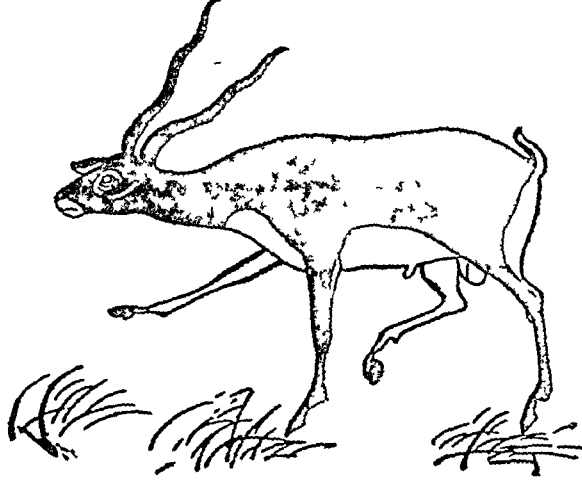
कामना

गगनाचल मे कलाकार के हास्य-सा चद्रमा भी मुसका रहा हो।
निशा के लिये मार्ग मे चाँदनी के अति कामल पुष्प बिछा रहा हो॥
मनोमदिर मे प्रतिमा निशा की रख मुग्ध-सा ध्यान लगा रहा हो।
मणि-माणिक के बँधे तोरण हों, नभ तारों के दीप जला रहा हो॥

जग डूब रहा हो अचेतना मे, यमुना कल गान सुना रही हो।
उन्हीं राधिका-कृष्ण की प्रेम-कथा के मनोहर चित्र बना रही हो॥
कुछ श्वेत-सी हो यमुना की तटी जो अतीत के पृष्ठ गिना रही हो।
वही रूठ के बैठ गया हो चकोर, चकोरी सभक्ति मना रही हो॥

वही बैठ के ध्यान तुम्हारा धरूँ, तन-प्राण तुम्ही मे विसर्जन हो।
पद पूजने को कुछ हो या न हो, पर आँसुओं के बिखरे कण हों॥
फल, अक्षत, पुष्प हो भावना के, तुम्हे बैठने को हृदयासन हो।
करूँ आरती भक्ति-प्रदीप जला, उस ज्योति मे भारती-दर्शन हो॥

रामेश्वरीदेवी मिश्र 'चकोरी'
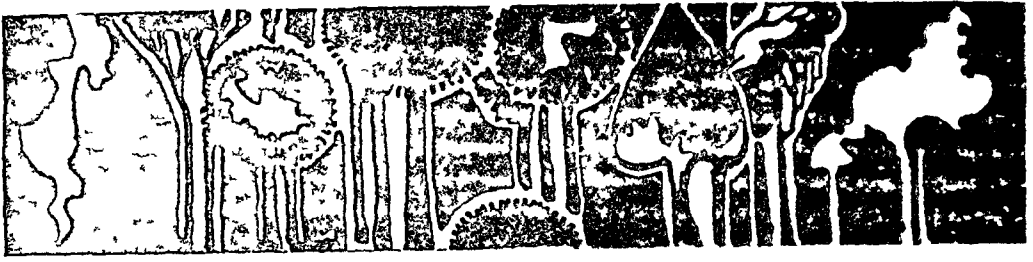
हिंदी-वर्णों का प्रयोग

प्रोफेसर धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०

हिंदी-वर्णमाला के किन वर्णों का प्रयोग अधिक होता है और किनका कम, इस बात की जानकारी कई दृष्टियों से लाभकर हो सकती है। भारतीय आर्यभाषाओं के ध्वनि-विकास पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त इस तरह के अध्ययन से कुछ व्यावहारिक लाभ भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिये, हिंदी टाइपराइटर आदि के वर्णों के क्रम को बिठाने मे इससे सहायता मिल सकती है। हिंदी टाइप कौन कितना चाहिए, इसमे भी इस तरह के अध्ययन से सहायता ली जा सकती है। अब से पहले हिंदी वर्णमाला का इस दृष्टि से कभी विश्लेषण हुआ है, इसका मुझे पता नही। इसी लिये मैं अपने इस प्रयोग के परिणामो को सक्षेप मे यहाँ लेखबद्ध कर रहा हूँ।

कुछ गद्य-रचनाओं मे से कुल मिलाकर एक हजार अक्षर अपने विद्यार्थियों को बाँटकर उनका विश्लेषण मैंने अपने सामने कराया। इन विश्लेषणो के जोड़ने से जो परिणाम निकला वही इस लेख मे दिया गया है। जिन पुस्तकों से उद्धरण लेकर वर्णों का विश्लेषण किया गया है उनके नाम, अक्षर-सख्या तथा शब्द-सख्या के साथ, नीचे दिए जा रहे हैं—

	रचना का नाम	अक्षर-सख्या	शब्द-संख्या
(१)	अष्टछाप (ब्रजभाषा गद्य)	१००	४५
(२)	तुलसीकृत रामायण अयोध्याकांड (भूमिका)	१००	५१
(३)	सूरपचरत्न (भूमिका)	१५०	७१
(४)	परिषद्निबधावली (भाग १)	१००	४०
(५)	हमारे शरीर की रचना	१००	४०
(६)	साहित्य-समीक्षा	१००	४५
(७)	'लोकमत' (दैनिक पत्र)	१५०	६९
(८)	'भारत' (साप्ताहिक पत्र)	२००	९०
		१०००	४५१

ऊपर की तालिका से यह भी पता चलता है कि हिंदी-शब्दों मे अक्षरों की सख्या का औसत दो है। इन भिन्न-भिन्न उद्धरणो के विश्लेषणो के जोडने से पृथक्-पृथक् वर्णो के प्रयोग के सवध मे जो परिणाम निकला वह नीचे तालिका मे दिया गया है। ह्विटने ने सस्कृत भाषा मे प्रयुक्त ध्वनियों का विश्लेषण किया था जिसका परिणाम उसके सस्कृत-व्याकरण (§७५) मे दिया हुआ है। तुलना के लिये यह तालिका भी बराबर मे दे दी गई है। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि मैंने अपने प्रयोग मे विशेष ध्यान लिपि-चिह्नो पर दिया है, न कि ध्वनियो पर, क्योकि मैंने यह प्रयोग व्यावहारिक दृष्टि से किया है, न कि केवल शास्त्रीय दृष्टि से।

स्वर

	पूर्ण स्वर	मात्रा	जोड	हिंदी मे प्रयोग प्रतिशत	सस्कृत मे प्रयोग प्रतिशत
अ	१६	३६२	३७८	३७ ८	१९ ७८
आ	९	१३२	१४१	१४ १	८ १९
इ	१२	८८	१००	१० ०	४ ८५
ई	७	६४	७१	७·१	१ १९
उ	१२	२८	४०	४ ०	२ ६१
ऊ	..	७	७	० ७	० ७३
ऋ	.	४	४	० ४	०·७४
ए	४	९	१३	१ ३	२ ८४
ऐ	२	३५	३७	३ ७	० ५१
ओ	१	४६	४७	४ ७	१·८८
औ	५	५	१०	१ ०	०·१८

व्यजन

	पूर्ण व्यजन	हलत व्यजन	जोड़	हिंदी मे प्रयोग प्रतिशत	संस्कृत में प्रयोग प्रतिशत
क	११०	९	११९	११ ९	१ ५९
ख	१३	२	१५	१ ५	० १३
ग	२०	२	२२	२·२	० ८२
घ	२	.	२	० २	०·१५
ङ	...	१	१	० १	० २२
	१४५	१४	१५९		

	पूर्ण व्यंजन	हलंत व्यंजन	जोड़	हिंदी में प्रयोग प्रतिशत	संस्कृत में प्रयोग प्रतिशत
च	८	२	१०	१·०	१·२६
छ	५	..	५	०·५	०·१७
ज	२५	२	२७	२·७	०·६४
झ	२३	...	२३	२·३	०·०१
ञ	...	१	१	०·१	०·३५
	६१	५	६६		
ट	५	१	६	०·६	०·२६
ठ	३	..	३	०·३	०·०६
ड	१	...	१	०·१	०·२१
ढ	..	...	...	..	०·०३
ण	४	...	४	०·४	१·०३
	१३	१	१४		
त	५५	१०	६५	६·५	६·६५
थ	१९	२	२१	२·१	०·५८
द	३६	७	४३	४·३	२·८५
ध	७	...	७	०·७	०·८३
न	५८	१९	७७	७·७	४·८१
	१७५	३८	२१३		
प	४३	...	४३	४·३	२·४६
फ	२	...	२	०·२	०·०३
ब	१५	२	१७	१·७	०·४६
भ	१३	–	१३	१·३	१·२७
म	५६	५	६१	६·१	४·३४
	१२९	७	१३६		
य	५३	१	५४	५·४	४·२५
र	७८	२५	१०३	१०·३	५·०५
ल	२९	...	२९	२·९	०·६९
व	३७	४	४१	४·१	४·९९
	१९७	३०	२२७		

हिंदी-वर्णों का प्रयोग

	पूर्ण व्यजन	हलत व्यंजन	जोड	हिंदी मे प्रयोग प्रतिशत	सस्कृत मे प्रयोग प्रतिशत
श	१५	५	२०	२ ०	१ ५७
ष	१३	२	१५	१ ५	१ ४५
स	७६	६	८२	८ २	३ ५६
ह	८४		८४	८·४	१·०७
	१८८	१३	२०१		
ड	१		१	० १	..
ढ	३		३	० ३	..
·	३		३	० ३	१ ३१
—	३२		३२	३ २	
◡	३		३	० ३	० ६३
	४२	०	४२		

ऊपर की तालिका[१] मे अ की मात्रा से मतलव पूर्ण व्यजन से है। इस तरह के व्यजनो मे कुछ उच्चारण की दृष्टि से हलत भी हो सकते हैं, किंतु उपर्युक्त गणना मे इसका ध्यान नही रक्खा गया है। अनुस्वारो की सख्या भी ध्वनि की दृष्टि से शुद्ध अनुस्वार की द्योतक नही है, क्योकि हिंदी मे अनुस्वार का प्रयोग शुद्ध अनुस्वार के अतिरिक्त पचमाक्षर तथा अनुनासिक स्वर के लिये भी होता है। अनुस्वार के प्रयोग का यह भेद नही दिखलाया जा सका है। इसी कारण अर्द्धचद्र द्वारा द्योतित अनुनासिक स्वरो की सख्या भी सदिग्ध समझनी चाहिए, क्योकि कुछ अनुनासिक ध्वनियाँ अनुस्वार-चिह्न के अंतर्गत आ गई हैं। अन्य सख्याएँ लिपिचिह्न के साथ-साथ ध्वनि की दृष्टि से भी ठीक हैं।

ऊपर की तालिकाओ से निम्नलिखित रोचक परिणाम निकलते हैं—(१) हिंदी-शब्दो मे वर्णों की सख्या का औसत लगभग दो है (शब्दसख्या ४५१, अक्षरसख्या १००)। इसका कारण कदाचित् एकाक्षरी कारक-चिह्नो का अधिक प्रयोग है। ये पृथक् शब्द गिने गए हैं। (२) क्योकि प्रत्येक वर्ण मे साधारणतया एक स्वर तथा एक या अधिक व्यजन होता है, इस कारण १००० वर्णों मे लगभग दुगुनी ध्वनियाँ (१९०६) मिलती हैं। (३) हिंदी मे सबसे अधिक प्रयुक्त वर्ण क है, सबसे अधिक प्रयुक्त ध्वनि अ है तथा सबसे कम प्रयुक्त वर्ण अथवा ध्वनि ढ है। (४) स्वरो मे पूर्ण स्वरचिह्नो की अपेक्षा मात्राचिह्नो का प्रयोग कही अधिक होता है। इस दृष्टि से ऊपर दी हुई स्वरो की तालिका अत्यंत रोचक है। किंतु व्यजनो मे हलत व्यजनों की अपेक्षा पूर्ण व्यजनो का प्रयोग कही अधिक होता है। (५) न्यूनाधिक

१. ऊपर दिए हुए व्यजनों मे नीचे लिखे विशेष संयुक्त लिपि-चिह्नों के प्रयोग पाए गए। देवनागरी-लिपि की दृष्टि से ये संख्याएँ भी रोचक है—च ४, त्र २, ज्ञ १, क्त २, द्य ३, त्त १, द्द १।

प्रयोग की दृष्टि से पूर्ण स्वरो का क्रम निम्नलिखित होगा—अ, इ, उ, आ, ई, औ, ए, ऐ, ओ, ऊ, ऋ; मात्रा-चिह्नो का क्रम निम्नलिखित होगा—अ (अर्थात् मात्रा का अभाव), आ, इ, ई, ओ, ऐ, उ, ए, ऊ, औ, ऋ, समस्त हिंदीवर्णसमूह से स्वरध्वनियों के प्रयोग का क्रम निम्नलिखित होगा—अ, आ, इ, ई, ओ, उ, ऐ, ए, औ, ऊ, ऋ। किसी तरह भी गणना की जाय, स्वरो मे अ का स्थान सर्वप्रथम और ऋ का अंतिम रहता है। (६) प्रयोग की दृष्टि से पचवर्गों का क्रम निम्नलिखित है—तवर्ग, कवर्ग, पवर्ग, चवर्ग, टवर्ग। अंतस्थ तथा ऊष्म वर्गो को समिलित कर लेने से तवर्ग से भी पहले क्रम से अंतस्थ तथा ऊष्मो का स्थान पडता है। (७) न्यूनाधिक प्रयोग की दृष्टि से व्यंजनो का क्रम निम्नलिखित होगा—

१०० से अधिक—क र	११ से ५० तक—प द व	१ से १० तक—च ध ट छ ण ढ
५१ से १०० तक—ह स न	ल ज भ ग थ	ठ घ फ ड ञ
त म य	श ब ख ष भ	ङ ड।
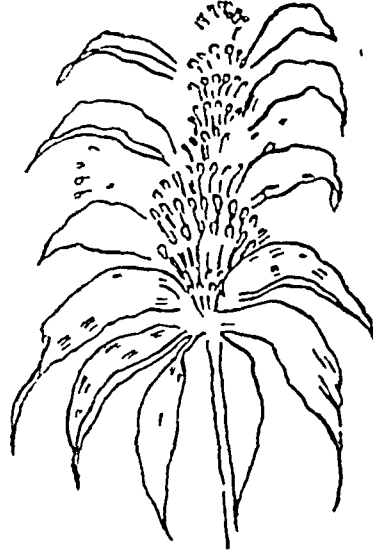
निंदे !

अयि निंदे ! ये जन तेरे, अब मुझको बहुत सुहाते।
मैं भी उनकी होली मे, सुंदर अबीर बन जाऊँ।
निंदे ! तेरी क्षणदा मे, जग की आँखे जब मुँदती,
मै जगकर तेरे वर से, मधुधा ऊषा बन जाऊँ।

पद्मनारायण आचार्य
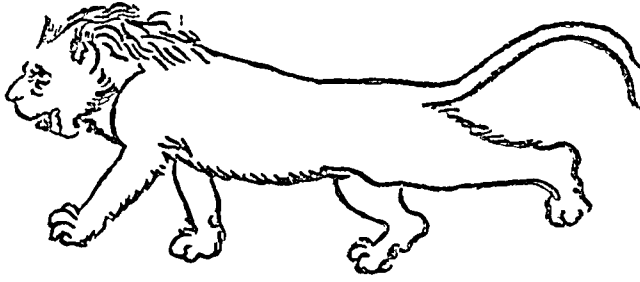
प्रताप-पंचक

तमकि प्रताप तानि चाप रन बीच कह्यौ, रहु नीच ! आजु पूरौ निज प्रन पारौं मैं।
छाँडि ऐन ऐसे विस-वैन बरसानवारी, निपट गँवारी जीभ पकरि निकारौं मै॥
'अखय' उमैठि सैन सकल समेटि डारौं, विधि-कृत भाल-रेख हूँ कौ मेटि डारौं मै।
गारि डारौं गरब गुमान-पट फारि डारौं, मारि मान डारौं अभिमानहि विडारौं मै॥

करि भटभेरो रन अरि सौं प्रताप कह्यौ, तेरो साह ! सासन विसाहि सीस धारौं ना।
छाँडि राज-आसन उपासौं वन ईस खास, करि तुव आस कर-जुगल पसारौं ना॥
जैसो कुल-कानि मेरी वैसियै अनैसी बानि, ठानि जैन लीनी ताहि 'अखय' निवारौं ना।
आन धन पै धौं मान वारत विचारौं नैकु, मान-धन पै तौ प्रान वारत विचारौं ना॥

'अखय' प्रताप रन कान लौं कमान तान्यौ, जानि कै तुफान बान उफनि मचावै हैं।
एक सर लैनु कर बाढ़ै बढि आवै आठ, काढ़ै आठ सीस लगि साठ चढि जावै हैं॥
जौ लौं एक बान कौ न जमत निसान तौ लौ, बान परि बीच केते नजर चुकावै हैं।
केते अरि-पाप हरि आवै बिनु चाप चढ़ै, बिनु ही प्रताप केते दाप दरि आवै हैं॥

उधम अबूझ माँच्यौ रन जूझिवे की बेर, कृतब प्रतापहि न कछु सूझि पावै है।
'अखय' बखानै रारि असमय अस्त्रनु की, सत्रुनु सँघारिवे कौ समय नसावै है॥
बाढी बरछी पै वार करत कटारि जा पै, कुटिल कुठारी इत न्यारी बढि आवै है।
लचत कमान उत जा पै चढ़ि आवै बान, इत उचि म्यान तैं कृपान कढ़ि जावै है॥

पर्‌यौ मुख पीरौ अग सीरौ वैरि-वृंदन कौ, भई भीति एती परताप रन ठाढै तैं।
मुए पाँच कोपै बाहु फरकै पचीस मुए, विबस पचास पानि असि ओर बाढ़ै तैं॥
'अखय' मुए सौ कर लागत कृपान गात, साबित सहस मूठि पकरत गाढै तैं।
बिलखत लाख मुए म्यान-मगु कीन्हैं पार, घोर सोर करत करोर असि काढै तैं॥

अक्षयकीर्त्ति व्यास 'अखय'
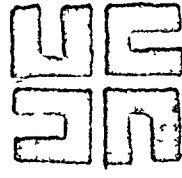
गोस्वामी तुलसीदास और समर्थ रामदास

श्री व्योहार राजेंद्रसिंह

गोसाईं तुलसीदास जी का एक दोहा है—"असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहि निज स्रुति-सेतु, जग बिस्तारहि बिसद जस, राम-जनम कर हेतु।" इसके अनुसार धर्म-स्थापना और दुष्ट-दमन के लिये ईश्वर अवतार धारण करता है। इसी प्रकार संत भी ईश्वर के मार्ग को सरल करने के लिये अवतार लेते हैं। बहुत-से लोगो के मतानुसार संत और भगवत मे अधिक अंतर नही है।

अवतारो और संतो के कार्य

जो वीर पुरुष दुष्ट-दमन करते तथा जो संत या महापुरुष धर्मस्थापना करते हैं वे ही अंश-रूप मे या पूर्ण-रूप मे ईश्वर के अवतार मान लिए जाते हैं। समर्थ रामदास का भी 'दासबोध' मे एक पद्य है—"धर्म स्थापनाचे नर, ते ईश्वराचे अवतार, झाले आहेत पुन्हा होणार, देणे ईश्वराचे।"—अर्थात् धर्मस्थापना करनेवाले पुरुष ईश्वर के अवतार हैं, वे पहले हुए हैं और आगे भी होंगे। वे ईश्वर के देन-स्वरूप है। इसी के अनुसार शिवा जी महाराज श्री शिव जी के और समर्थ रामदास स्वामी श्री हनुमान जी के अवतार माने गए हैं। भविष्यपुराण मे लिखा है—"कृते तु मारुताख्यश्च त्रेताया पवनात्मज', द्वापरे भीमसज्ञश्च रामदास कलौ युगे।" गोसाईं जी भी इसी न्याय के अनुसार वाल्मीकि अथवा हनूमान् के अवतार माने गए हैं। मराठी कवि 'मोरो पंत' ने एक आर्या मे कहा है—"श्री वाल्मीकि च झाला, श्री तुलसीदास रामयशगाया, तरिच प्रेम रसाची खाणी, वाणी तशीच वशगा या।" तथा नाभा जी ने भी लिखा है—"कलि कुटिल जीव निस्तार-हित, बाल्मीक तुलसी भयो।" जो हो, यह तो स्पष्ट है कि तुलसी या रामदास सरीखे संतो को उनके लोकोपकारक कार्य के लिये चाहे जितना ऊँचा स्थान दिया जाय, कम ही है। यो तो भारतवर्ष महापुरुषो, ऋषियो और संतो की खान है। भिन्न-भिन्न समय मे अनेक महात्माओ,

'सरस्वती' के आदि-संपादक-मंडल के अन्यतम सदस्य—
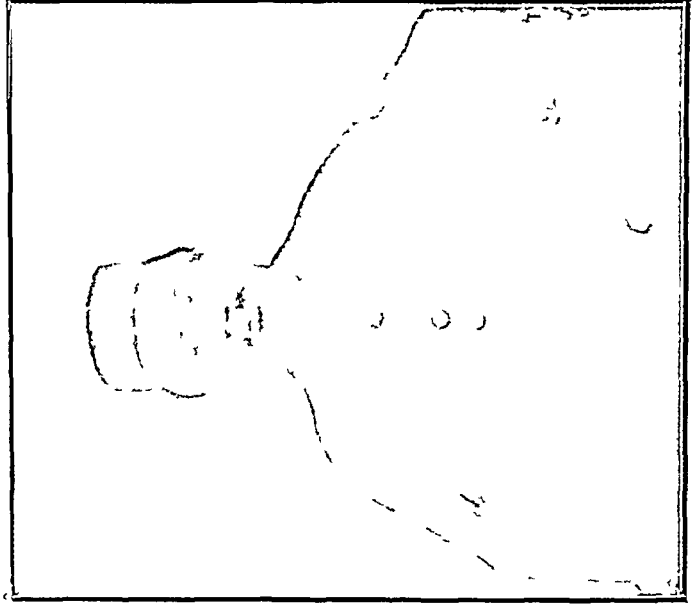
१—स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास
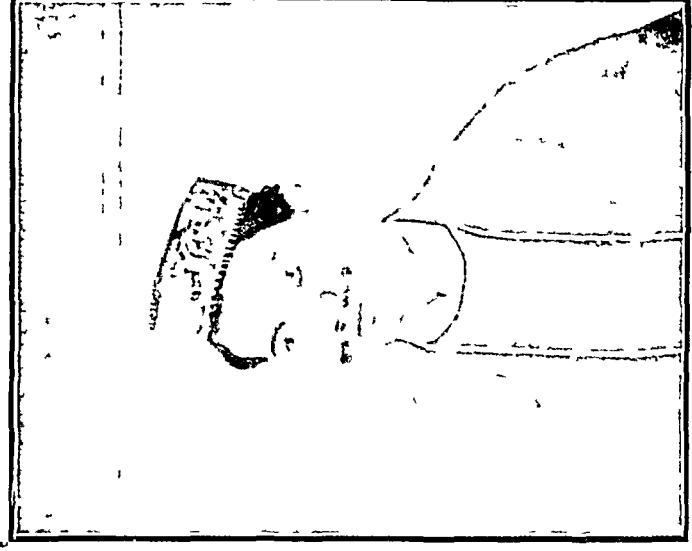
२—स्वर्गीय पंडित किशोरीलाल गोस्वामी

'सरस्वती' के आदि-सम्पादक-मण्डल के अन्यतम सदस्य—
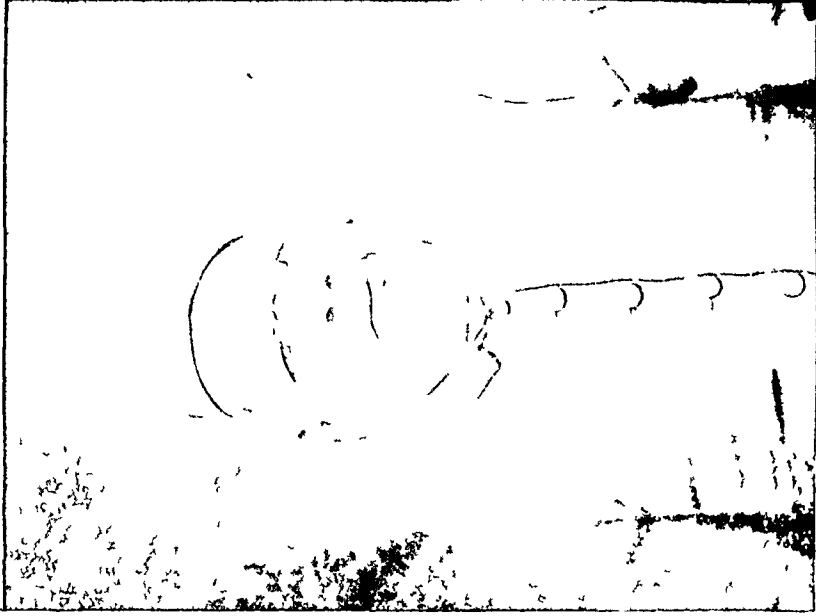
३—स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

४—स्वर्गीय बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री
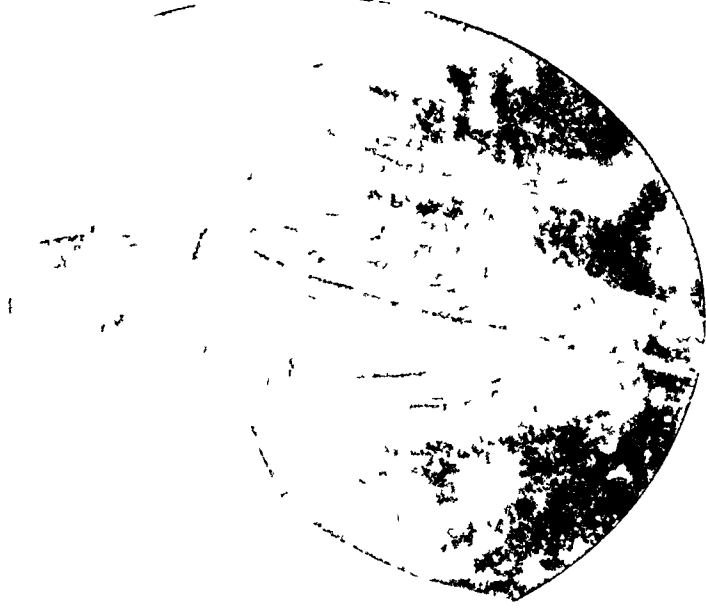
वीरो और संतो ने अवतार लेकर इस पुण्य भूमि को पवित्र किया है। किंतु वर्त्तमान समय के लिये उक्त सतो के कार्य तथा उपदेश विशेष महत्त्व रखते हैं। ये सत उन लोगो मे से नहीं हैं जो केवल अपनी ही मुक्ति को सबसे वडा ध्येय मानते और जन-समाज से दूर रहकर केवल अपनी ही उन्नति मे सारा समय लगाते हैं। वैसे लोग अपनी तपस्या के कारण श्रद्धा के पात्र अवश्य हैं, किंतु उनसे समाज का प्रत्यक्ष कोई लाभ नही होता। समाज तो ऐसे हो सतो को चाहता है जो उसके सुख-दुख मे शामिल रहकर अपने आदर्श जीवन और पवित्र उपदेशो से उसके उद्धार का मार्ग दिखलावे। तुलसीदास जी तथा रामदास जी तो स्वयं त्यागी और निःस्पृह होकर भी केवल लोक-शिक्षण और लोकोपकार के लिये ही समाज मे रहते तथा उसे अपने साथ उन्नति के मार्ग पर ले जाते हैं। 'दासवोध' मे कहा है—"उत्तम गुण पहले स्वय ग्रहण करके लोगो को सिखाना चाहिए, अपने समान दूसरो को भी महान् वनाकर और उन्हे युक्ति तथा बुद्धि सिखाकर (लोकोपदेश के लिये) नाना देशो मे भेजना चाहिए।"

गोसाईं जी तथा स्वामी रामदास ऐसे ही सतो मे से थे। इसी कारण उनका स्थान समाज की दृष्टि से अन्य सतों की अपेक्षा कही ऊँचा है। इन दोनो के जीवन, कार्य तथा ग्रथो मे अद्भुत समानता तथा लक्ष्य की एकता दृष्टिगत होती है। दोनो ही महात्मा इस देश के इतिहास के ऐसे युग मे उत्पन्न हुए जव कि चारो ओर धर्मग्लानि हो रही थी—देश का राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन सकट मे था—विजातियों और विधर्मियो के आक्रमण से स्वदेश, स्वधर्म तथा स्वदेशी समाज आपत्ति मे था। क्षत्रियो के देश-रक्षा-रूपी स्वधर्म त्याग देने के कारण विधर्मियो का आधिपत्य तथा अत्याचार फैल रहा था। धर्म-रक्षा पर ब्राह्मणो के दृढ़ न रहने के कारण समाज मे अनाचार और दुराचार का प्रचार था। ऐसी दशा मे देश को किसी मार्गदर्शक या धर्मरक्षक की आवश्यकता थी। भारतीय इतिहास के ऐसे युगो मे सतो ही ने देश की रक्षा की है। वही कार्य अपने-अपने समय मे समर्थ रामदास जी तथा गोसाईं जी ने किया। एक ने दक्षिण-भारत तथा दूसरे ने उत्तर-भारत मे जन्म लेकर अपने-अपने सत्कार्यों से चारों दिशाओं को प्रकाशित कर दिया--डूबते हुए देश, धर्म और समाज को वचा लिया। इन दोनो महात्माओं ने अपने-अपने ग्रथो मे जो अपने समय की स्थिति का दिग्दर्शन कराया है उससे पता लगता है कि दोनों के समय मे देश की स्थिति लगभग एक-सी थी। इन दोनों के जन्मकाल मे लगभग सौ वर्ष का अंतर[1] था। स्वामी समर्थ अपने दासवोध के 'युगधर्म' नामक चौदहवे दशक के सातवे समास मे लिखते हैं—"ब्रह्मज्ञान के विचार का अधिकार ब्राह्मणो को ही है। ऐसा कहा भी है कि सब वर्णो का गुरु ब्राह्मण है। परतु ब्राह्मण बुद्धिच्युत हो गए हैं। कितने ही पीर को भजते हैं, और कितने ही अपनी इच्छा से तुरुक हो जाते हैं। यही कलियुग के आचार का हाल है। विचार का कहीं पता नही है। अब इसके आगे तो वर्णसकर ही होनेवाला है। ब्राह्मणो को यह मालूम नहीं होता,

तत्कालीन स्थिति

1. तुलसीदास संवत् १५५४—१६८० तथा समर्थ रामदास सवत् १६६५—१७३७

उनकी वृत्ति ही नहीं झुकती, और उनका मूर्खता का मिथ्या अभिमान नहीं मिटता। राज्य म्लेच्छों के घर मे चला गया। गुरुत्व कुपात्रो मे चला गया। हम न अरत्र मे रहे न परत्र मे। कुछ भी न रहा।" इसी प्रकार गोसाई जी ने भी अपने ग्रंथो मे अपने समय की दशा का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। 'रामचरितमानस' मे कलियुग-वर्णन देखिए। 'विनय-पत्रिका' मे स्पष्टता के साथ बतलाया है—"आश्रम-वर्ण-धर्म-बिरहित जग लोक-वेद-मरजाद गई है। प्रजा पतित पाखंड-पाप-रत अपने-अपने रंग रई है॥" इत्यादि, इन प्रमाणो से प्रकट है कि इन संतो को देश-दशा का कितना ज्ञान था—उसकी दुरवस्था के कारण इनके चित्त मे कितना क्षोभ था। इनके ग्रंथो मे उस समय की दशा का स्पष्ट रूप से चित्र खीचा गया है। विधर्मियो के राज्य के कारण राज-समाज के पतन, वर्णाश्रम-धर्म के लोप तथा समाज की आचार-भ्रष्टता को उन्होने अच्छी तरह देख लिया था।

इन दोनो ही संतो ने अपने जीवन पर अपने-अपने ग्रंथो मे प्रकाश डाला है; किंतु अधिक स्पष्टता के साथ नही। दोनो ही का जन्म निर्धन ब्राह्मणकुल मे होता है। गोसाई जी का संबंध जन्म ही के साथ अपने कुटुंब से छूट जाता है। बाद मे विवाह करके गृहस्थाश्रम मे भी वे रहते हैं।

जीवन

इसी प्रकार समर्थ रामदास के पिता उनकी शिक्षा के लिये उचित प्रबंध करते हैं और वे अच्छी तरह शास्त्रो मे दक्ष हो जाते हैं। गोसाई जी अपने गुरु नरहरिदास जी के पास विद्याभ्यास करते तथा हरि-कथा से प्रथम परिचय प्राप्त करते हैं—"मै पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सु सूकरखेत।" अपने-अपने गुरुवर से इन संतो ने वह ज्ञान प्राप्त किया जिसका उपयोग इन्होने अपने जीवन मे आगे चलकर लोकोपकार मे किया। बालपन मे ही समर्थ रामदास की रामभक्ति प्रकट हो जाती है; किंतु गोसाई जी मे निर्वेद के बाद ही उसका प्रकाश जान पड़ता है। 'समर्थ' बालपन मे ही राममंत्र ग्रहण कर लेते हैं। जब उनके एक बड़े भाई उन्हे बालक होने के कारण मंत्र देने से इनकार करते हैं तब वे हनुमान जी से प्रार्थना करके मंत्र लेते हैं तथा राम जी के दर्शन भी करते है। यह घटना गोसाई जी की—हनुमान जी के द्वारा रामदर्शन प्राप्त करने की—कथा से मिलती-जुलती है। 'समर्थ' की आत्मा पहले ही से जाग्रत थी। इस कारण वे विवाह-बंधन में फँसने के पहले ही घर से निकल भागते हैं, किंतु गोसाई जी को विवाह के बाद अपने मोह की विफलता का अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त होता है। इसके बाद 'समर्थ' बारह वर्ष तक तपस्या और देशाटन करते हैं। गोसाई जी भी तीर्थयात्रा करके देश की दशा का अनुभव करते हैं। 'समर्थ' का पर्यटन सारे भारत मे हुआ, किंतु तुलसीदास जी की यात्रा केवल उत्तर-भारत मे ही परिमित रही। तीर्थयात्रा के समय की एक घटना, दोनो के जीवन मे, एक-सी मिल जाती है। जब गोसाई जी ब्रज-यात्रा को गए तब अपनी रामभक्ति के प्रभाव से कृष्ण-मूर्ति को राम-मूर्ति मे परिवर्त्तित कर दिया—यह घटना प्रसिद्ध ही है। ठीक उसी प्रकार स्वामी रामदास ने भी पंढरपुर मे कृष्ण-मूर्ति मे राम-मूर्ति के दर्शन किए थे—"श्री कृष्ण मूर्ति जेणे केली, श्री राम मूर्ति सज्जन हो। रामसुत मयूण म्हणे त्याचा, सुयाशामृतांत मज्जन हो।" फिर तपस्या और पर्यटन के बाद दोनो धर्म-प्रचार के कार्य मे लग जाते है। 'समर्थ'

जी की उसी समय शिवा जी महाराज से भेट होती है जिससे उनके स्वधर्म-सरक्षण और स्वराज्य-स्थापन मे सहायता मिलती है। किंतु देश के दुर्भाग्य से गोसाई जी को ऐसा साधन उपलब्ध न हुआ। फिर भी इसके अभाव मे उन्होने ग्रथ-रचना द्वारा ही अपना आदर्श लोगों के सामने रक्खा। समर्थ रामदास ने भी अपना आदर्श ग्रथो द्वारा ही प्रकट किया, किंतु उसके प्रचार के लिये अपनी शिष्य-परंपरा भी बनाई तथा स्थान-स्थान पर मठ स्थापित कराए। गोसाई जी को ये साधन भी प्राप्त न हुए। वे हर-एक काम में केवल 'राम के भरोसे' पर निर्भर रहे। अंत मे जब इन सतो के देहत्याग का समय निकट आया तब इन्हे स्वतः उसका आभास मिल गया। गोसाईं जी के अतिम समय का दोहा प्रसिद्ध ही है—"राम नाम जस बरनि कै, भयो चहत अब मौन।" स्वामी समर्थ ने भी अपना अंतिम समय जानकर यह पद्य पढ़ा—"रघुकुल टिळकाचा वेल सनिध आला, तदुपरि भजनाने पाहिजे साग केला।" इस पर उद्धव स्वामी ने इसकी पदपूर्त्ति कर दी—"अनु दिन नवमी हे मानसी आठवावी, बहुत लगबगीने कार्यसिद्धी करावी।" इस प्रकार दोनों ने संसार मे महान् कार्य करके अपनी इहलीला समाप्त की।

स्वभाव, प्रभाव और साधन

इन सतो का स्वभाव वैसा ही था जैसा सतो का स्वभाव होना चाहिए और जैसा इन्होंने अपने ग्रथो मे वर्णन किया है। दोनो ही परम भक्त, नि.स्पृह, निरभिमान तथा निश्चित थे। क्षमा, दया, समता इनमे कूट-कूटकर भरी थी। इनके द्वारा वर्णित सत-लक्षण इनके निज के जीवन मे भी ज्यों के त्यो घटते हैं। इन्होने अपने उपदेशों का उदाहरण मानो स्वय अपने ही जीवन मे चरितार्थ कर दिया है। एक प्रसिद्ध दोहा है—"हित सो हित रति राम सो, रिपु सो बैर विहाउ। उदासीन सबसो सरल, तुलसी सहज सुभाउ॥" इस प्रकार आजन्म लोकोपकार मे अपना समय व्यतीत कर दोनो सतो ने अपने समय के समाज पर बहुत अधिक प्रभाव डाला। 'समर्थ' का प्रभाव उस समय की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक तीनो अवस्थाओं पर पडा तथा इन तीनों की स्थिति उन्होंने बदल दी। किंतु गोसाई जी का प्रभाव केवल सामाजिक और धार्मिक अवस्था पर ही पडा। उनका प्रभाव उस समय की राजनीतिक अवस्था पर न पड सका, क्योंकि उनके राजनीतिक आदर्शो को काम मे लानेवाला शिवा जी-सरीखा साधन उपलब्ध न हुआ। अपने आदर्शो द्वारा देश की दशा बदलने के लिये इन सतो ने तीन मार्गो का अवलबन किया—(१) नीतिस्थापन, (२) धर्मस्थापन, (३) राज्यस्थापन।

[१] नीतिस्थापन—सबसे पहले समाज मे प्रचलित अनीति, अनाचार और अत्याचारो को दूर करना आवश्यक था। जब तक लोगों मे दया, प्रेम और सचाई का प्रचार न हो तब तक समाज में सुव्यवस्था रहना असभव है, क्योकि व्यक्तियों ही से समाज बनता है। इसी लिये गोसाई जी ने व्यक्तिगत नैतिकता (personal morality) पर बहुत जोर दिया। जब तक कोई व्यक्ति अपने कुटुब के प्रति कर्त्तव्य-पालन नही करता तब तक कौटुबिक जीवन सुखमय नही हो सकता, और कौटुबिक जीवन के नष्ट हो जाने से सामाजिक जीवन का पता ही नही रह जाता। स्वामी समर्थ तथा तुलसीदास दोनो ही ने व्यक्ति, कुटब तथा समाज की नीति का विवेचन किया है। नीति-पालन के लिये भी बधन

की आवश्यकता है और वह बंधन धर्म-बंधन ही हो सकता है। इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर गोसाईं जी ने धर्म को ही नीति का आधार बनाया है। उन्होंने ईश्वर-भक्ति के लिये क्षमा, दया आदि गुणों की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई है जिनके बिना भक्ति की साधना हो ही नहीं सकती; और इसकी पूर्त्ति के लिये धर्मस्थापन नामक दूसरे साधन की आवश्यकता है।

[२] **धर्मस्थापन**—धर्मस्थापन के द्वारा इन संतों ने समाज में फैले हुए भेद-भाव को दूर कर वर्णों तथा आश्रमों का एक दूसरे से उचित संबंध स्थापित किया जिससे लोग अपने-अपने धर्म में स्थित रहकर प्राचीन आदर्श के अनुसार एक दूसरे की सेवा और सहायता कर सकें। अपने-अपने धर्म की मर्यादा को छोड़ देना ही धर्मग्लानि का लक्षण है। अतः इसे दूर कर लोगों को अपने-अपने धर्म पर फिर से स्थापित करना इन महात्माओं का मुख्य आदर्श था। गोसाईं जी ने अपनी धार्मिक उदारता तथा हृदय की विशालता से सांप्रदायिक भेद-भावों को दूर कर दिया। एक राम को सर्वदेवमय मान कर, तथा अपनी रचनाओं में सब देवों की स्तुति-वंदना कर, भिन्न-भिन्न देवों के उपासकों को एक कर दिया—शिव और विष्णु तथा राम और कृष्ण के भेद-भाव को मिटा दिया। अलग-अलग देवों की पूजा को एक राम की पूजा का साधन समझा। इसी प्रकार समर्थ रामदास ने भी भिन्न-भिन्न देवों की प्रार्थना करते हुए अद्वैत का प्रतिपादन किया। गोसाईं जी ने तो कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों के भेद-भाव को भी मिटा दिया। उन्होंने तीनों मार्गों का एक ही राम की प्राप्ति का साधन सिद्ध करके तीनों का जो समन्वय किया है वह देखते ही बनता है। रामदास स्वामी ने भी भक्ति को प्रधान रखकर शेष दोनों मार्गों को उसी का साधन बना दिया है। बाह्य क्रिया-कलाप—माला-तिलक, कर्मकांड आदि—पर जोर न देकर इन संतों ने धर्म के असली तत्त्व ही पर जोर दिया, और वह है—भक्ति द्वारा हृदय तथा आचरण की शुद्धि। इसी कारण समर्थ स्वामी ने धर्म-प्रचार के लिये जगह-जगह श्रीराम और हनुमान जी के मंदिर वा मठ स्थापित किए तथा उनमें एक-एक सच्चरित्र साधु महंत नियुक्त किया जो सदा आसपास की जनता में धर्म का प्रचार करते रहे। महंत को किस प्रकार रहना चाहिए, इसका उन्होंने एक पद्य में बड़ा अच्छा वर्णन किया है—"ठाइं ठाइं भजन लावी, आपण तेथून चुकावी; मत्सरमतांची गोवी, लागोंच नेदी।—अर्थात् महंत को चाहिए कि स्थान-स्थान पर लोगों को हरि-भजन में लगाए और फिर स्वयं वहाँ से बचकर निकल जाय, उसे ईर्ष्या तथा मतमतांतरों के झगड़ों से दूर रहना चाहिए।" इसके अतिरिक्त स्वामी समर्थ का हरिकीर्त्तन द्वारा भक्ति-प्रचार बड़ा प्रभावशाली तथा स्थायी होता था। उन्होंने जो धार्मिक आंदोलन शुरू किया उसका प्रभाव सारे महाराष्ट्र में व्याप्त हो गया। उससे लोगों में धार्मिक भावना की जागृति के साथ-साथ देश की स्थिति और विधर्मियों के अत्याचारों की जानकारी भी फैली। फल-स्वरूप लोगों में एकता तथा संगठन के भाव भर गए। इस प्रकार शिवा जी महाराज के लिये क्षेत्र तैयार हो गया। जिस प्रकार धर्मस्थापन के लिये समर्थ स्वामी ने तीन साधनों का उपयोग किया—साधु-संगठन तथा मठ-स्थापन, कथा-कीर्त्तन द्वारा भक्ति-प्रचार, और ग्रंथ-रचना—उसी प्रकार गोसाईं जी ने भी इन तीनों साधनों का उपयोग किया, किंतु समर्थ स्वामी के समान संगठित रूप से नहीं! गोसाईं जी की प्रेरणा से भी मंदिरों की स्थापना हुई, किंतु समर्थ ने

इस कार्य को एक विशेष उद्देश्य से—इसे अपने कार्य-क्रम का मुख्य अंग बनाकर—किया। समर्थ के कथा-कीर्त्तन का ढग भी निराला ही था। पर गोसाई जी जहाँ जाते, रामलीला तथा कृष्णलीला का आयोजन कराते, उनके प्रचार का यही ढग था। इसी प्रकार ग्रथ-रचना द्वारा भी ये सत भक्ति का प्रचार करते थे। यही इनका प्रधान साधन था। गोसाई जी तो घूम-घूमकर अपने 'रामचरितमानस' का प्रचार करते थे। सत-सभाओ मे कथा-कीर्त्तनादि उन्हे विशेष प्रिय था।

[३] **राज्यस्थापन**—इन सतो का तीसरा साधन राज्यस्थापन था जो असल मे ऊपर कहे हुए धर्मस्थापन का ही एक अंग है, क्योकि राजनीति भी धर्म ही का एक अंग है। वास्तव मे राजनीति किसी प्रकार धर्म से अलग नही हो सकती। गोसाई जी का आदर्श रामराज्य द्वारा धर्म-राज्यस्थापन था। रामराज्य को ही उन्होंने राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक समस्याओ के हल करने का एकमात्र उपाय बतलाया है। जो कार्य गोसाई जी ने आदर्श या भाव के रूप मे किया वही समर्थ रामदास ने शिवा जी द्वारा स्वराज्यस्थापन करके प्रत्यक्ष रूप से कर दिखाया। समर्थ स्वामी ने स्वराज्य को स्वधर्म-स्थापन का सबसे बडा साधन समझकर शिवा जी के राज्याभिषेक द्वारा मानों धर्मराज्य का ही अभिषेक कर दिया। किंतु गोसाई जी ने 'रामचरितमानस' को ही शिवा जी बनाया और उनके इस शिवा जी ने जिस अखड रामराज्य की स्थापना कर दी है वह अनत काल तक स्थिर रहेगा।

इन सतो मे सबसे बडी विशेषता यह थी कि इन्होने नैतिकता को धार्मिकता का और धार्मिकता को राजनीतिक उद्बोधन का मूलाधार बनाया, और इस प्रकार नीतिधर्म तथा राजनीति को एक सूत्र मे ग्रथित कर एक को दूसरे का अंग बना दिया। इनका धामिक आदर्श ही लोगो को नीति मे प्रवृत्त करने तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये प्रेरणा करनेवाला था। इन्होने भारतीय मनोवृत्ति को अच्छी तरह समझ लिया था कि वह किसी भी आदोलन मे धर्म के नाम पर ही जाग्रत की जा सकती है।

नीतिधर्म और राजनीति

इसी लिये ये लोग धार्मिक चर्चा द्वारा ही राजनीति के सिद्धांतो का भी प्रचार करते थे। 'राजसमाज बडोई छली है,' 'भूप प्रजासन,' 'भूमिचोर भूप भए', 'यवन महा महिपाल' आदि शब्दो से गोसाई जी ने अपने समय की राजनीतिक स्थिति का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। उसी दुःखद स्थिति को दूर करने के लिये राम-सरीखे मर्यादापुरुषोत्तम लोकरजक राजा का आदर्श—राम का दुष्ट-दमनकारी तथा लोक-कल्याणकारी रूप—जनता के सामने रक्खा। निशाचरो के अत्याचारों के वर्णन के व्याज से तत्कालीन विधर्मियों के अनाचारों का उन्होने अच्छा दिग्दर्शन कराया है—"जहँ जहँ फिरत धेनु द्विज पावहिं, नगर गाँव पुर आगि लगावहिं।" इसी को अधिक स्पष्ट करने के लिये उन्होंने इशारा भी किया है—"जिनके अस आचरन भवानी, ते जानहु निसिचर सम प्रानी।" इससे यह स्पष्ट है कि गोसाई जी के हृदय मे देशभक्ति भी भरी हुई थी। इसी कारण देश तथा धर्म की दुर्दशा का करुण चित्र खीचकर उन्होने रामराज्य का स्मरण कराया है। इसी प्रकार स्वामी समर्थ के ग्रथो तथा वचनो मे भी अत्यत स्पष्टता और कठोरता के साथ देश-दशा एव विधर्मियों के अत्याचारो का वर्णन मिलता है। शिवा जी को उन्होंने एक पत्र मे लिखा था—"देव धर्म गो ब्राह्मण, करावया सरक्षण, हृदयस्थ झाला नारायण, प्रेरणा

केली।—अर्थात् देव, धर्म, गो, ब्राह्मण की रक्षा करना चाहिए, ईश्वर ने हृदय मे पैठकर ऐसी प्रेरणा की है।" इसी प्रकार गोसाई जी के समान समर्थ स्वामी ने भी दुष्ट-दमन और संत-पालन को ही रामावतार का उद्देश्य तथा कारण माना है—"मज अवतार घेणे, माझे भक्ताचे कारणे, निज दासासी पाळावे, दुर्जनासी निर्दलावे।—अर्थात् भक्तो ही के कारण मेरा अवतार होता है, मै दुर्जनो का दलन तथा दासो का पालन करता हूँ।" शिवा जी को पहचानकर उन्होने उनको प्रशसा मे लिखा है—"कित्येक दुष्ट सहारिले, कित्तेकास धाक सुटले, कित्येकांस आश्रय झाले, शिव कल्याण राजा।—अर्थात् शिवा जी ने कितने दुष्टो का सहार किया, कितनो पर अपनी धाक जमाई, कितनो को आश्रय दिया, शिवराज कल्याणकारी है।" दुष्टदलन के लिये उत्तेजना देने मे उन्होने कठोर शब्दों का भी प्रयोग किया है—"देवद्रोही तितुके कुत्ते, मारोनि घालावे परते, देवदास पावती फत्ते, यदर्थी सशय नाही।—अर्थात् जितने देवद्रोही कुत्ते हैं वे सब मारे जाएँगे और जो देवदास है उनकी निस्सशय विजय होगी।"

इन सतो का मुख्य उद्देश्य समाज का दृष्टिकोण बदलना, लोगो मे आत्मविश्वास उत्पन्न करना और पूर्वजो के इतिहास का उदाहरण देकर जाति की उदासीनता तथा निराशा दूर करना था। इनके उपदेशो द्वारा हिंदू-जाति से निराशा और दुर्बलता दूर होकर उसमे नवीन आशा और शक्ति का सचार हुआ। समर्थ रामदास के उपदेशो के कारण ही शिवा जी मराठा-जाति का संगठन कर शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य से टक्कर ले सके और स्वराज्यस्थापन मे सफल हुए। जिस समय शिवा जी आगरे मे कैद थे उसी समय स्वामी समर्थ ने उत्तर-भारत मे भ्रमण कर जगह-जगह मठ स्थापित किए। कहा जाता है कि आगरे से भागने के बाद इन मठो की सहायता से—और जहाँ मठ नही थे वहाँ समर्थ स्वामी के भेजे हुए शिष्यो की सहायता से—शिवा जी महाराज सुरक्षित घर लौट सके। इन बातो से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस समय की राजनीति मे समर्थ रामदास का प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष हाथ अवश्य था। जिसका इतना उपकार हो, यदि शिवा जी अपना सारा राज्य उसके भिक्षा की झोली मे डाल दे तो आश्चर्य ही क्या? अगर भली भाँति देखा जाय तो इस दृष्टि से गोसाई जी उतने सौभाग्यशाली न थे। उनके सिद्धांतो को कार्य-रूप मे लानेवाला वीर पुरुष कोई न मिला! हाँ, ग्रंथ के प्रचार की दृष्टि से, समर्थ के ग्रथ तुलसी के 'मानस' की बराबरी नही कर पाते। आज हिंदू-जनता पर जितना तुलसी के 'मानस' का प्रभाव है उतना शायद ससार के किसी धर्मग्रथ का किसी जाति पर न होगा।

लोगों के सामने अपने विचारो को ग्रंथ-रूप मे प्रकट करना सिद्धांत-प्रचार का परम आवश्यक और स्थायी उपाय है। ग्रंथ-रचना द्वारा कवि के विचार सदैव के लिये समाज की सपत्ति हो जाते हैं।

ग्रंथरचना का उद्देश्य, भाषा, वर्णनशैली आदि

इन सतो ने भी अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिये ग्रथ-रचना को ही साधन बनाया। समाज की आवश्यकता को दृष्टि मे रखकर ही इन्होने ग्रथ-रचना की, जिसके प्रमाण इनके ग्रथों मे मिलते हैं। उन ग्रथो मे विशेषता यही है कि अपने समय की आवश्यकता को पूर्ण करते हुए भी वे उसी काल तक सीमित नही हैं, किंतु सदा के लिये उपयोगी हैं, क्योंकि उनमे ऐसे सत्यो और तत्त्वो का विवेचन किया गया है जो हर समय के लिये उपादेय है और जिनसे सब प्रकार के लोग सदैव लाभ उठा सकते है। लोकोपकार की

दृष्टि से ही उन ग्रथो की रचना हुई है, यह बात उनसे अच्छी तरह प्रकट है, किंतु उनमे विशेषता यह है कि उनके रचयिता लोकोद्धार का दावा नही करते। वे यही कहते हैं कि उन्होने केवल अपनी आत्मा के सुख के लिये तथा अपनी वाणी को पवित्र करने के लिये ही ग्रथ-रचना की है। तुलसीदास ने स्पष्ट कहा है—"स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा, भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति", तथा "करन पुनीत हेतु निज बानी" आदि। वास्तव मे सतो की आत्मा का सुख इसी मे है कि सब लोगो को सुख हो। उक्त श्लोक मे गोसाईं जी ने यह भी कहा है कि वे अपना निबध 'भाषा' मे लिखते है। इससे भी एक बडा भारी सिद्धात प्रकट होता है, वह यह कि यदि हम लोकोपकार करना चाहते हैं तो हमे लोकसमुदाय मे प्रचलित भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए। इसी लक्ष्य को सामने रखकर इन सतों ने जनता की भाषा मे ही ग्रथ-रचना की। ग्रथो मे भिन्न-भिन्न मतो के विवेचन से इनके प्रकाड पांडित्य तथा असीम अध्ययन का भी पता लगता है। गोसाईं जी ने लिखा है—"नानापुराणनिगमागमसम्मत यद्रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोऽपि" और इसी प्रकार 'दासबोध' मे स्वामी रामदास ने भी कहा है—"नाना ग्रथांचा सम्मतो, उपनिशिदे वेदात श्रुती; आणि मुख्य आत्मप्रचीती, शास्त्रे सहित।" गोसाईं जी ने "क्वचिदन्यतोऽपि" जो कहा है वह समर्थ के अनुसार "आत्मप्रचीती" या 'आत्मानुभूति' ही जान पड़ती है, क्योकि बिना आत्मानुभव के इस प्रकार का गभीर एवं सूक्ष्म विवेचन असभव है। 'मानस' मे यह स्वानुभव कई जगह प्रकट किया गया है—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना" इत्यादि। किंतु यह सब होते हुए भी इन सत कवियो की वर्णनशैली मे एक बडा अंतर है। 'दासबोध' एक सिद्धात-ग्रथ के रूप मे लिखा गया है और 'मानस' कथानक-रूप मे। यद्यपि 'मानस' मे भी बीच-बीच मे सिद्धातो का विवेचन किया गया है तथापि उसका मुख्य विषय कथा या इतिहास के रूप मे ही वर्णित है, जैसा उसके नाम 'रामचरितमानस' से ही स्पष्ट है। इधर 'दासबोध' नाम से भी प्रकट है कि उसमे बोध, ज्ञान या सिद्धातो का ही विवेचन है। इन दोनो शैलियो मे अपनी-अपनी विशेषता है। केवल सिद्धातो के विवेचन की भी आवश्यकता होती है जिससे एक ही ग्रथ मे लोगो को मुख्य सिद्धातो का विवेचन मिल जाय। किंतु उन सिद्धातो का, कथा या इतिहास के रूप मे, वर्णन करने से वे लोगो तक अधिक सुगमता से पहुँच सकते हैं। वेद, उपनिषद् आदि के तत्त्वो को लोगो के पास पहुँचाने के लिये पुराणों की रचना की गई थी। भगवान् वेदव्यास ने वेदो का व्यास या विस्तार पुराणो या इतिहासो मे किया। महाभारत मे भी इसी पद्धति के अनुसार इतिहास के साथ-साथ सिद्धांतो का विवेचन किया गया है। गोसाईं जी ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया और शास्त्रो का गूढ ज्ञान लोगो तक पहुँचाया। 'दासबोध' के लिये हम गीता का उदाहरण दे सकते हैं और 'मानस' के लिये महाभारत का। 'दासबोध' मे गीता के समान तत्त्वो का विवेचन किया गया है—'मानस' मे महाभारत के समान उन तत्त्वो का, इतिहास या कथानक के रूप मे, क्रियात्मक विवेचन किया गया है। इन दोनो के सयोग की हमे बड़ी आवश्यकता है। दोनो एक दूसरे की कमी की पूर्त्ति करने के कारण हमारे लिये बडे उपयोगी हैं। हॉ, इन दोनो ग्रथों मे एक दूसरी विभिन्नता और है। 'मानस' मे सब विषयो का समन्वय या सश्लेषण (synthesis) किया गया है, और 'दासबोध' मे सब विषयों का विश्लेषण (analysis)। हमें इन

दोनो पद्धतियो की आवश्यकता है। विषयो के पृथक्करण से हमे उनका अच्छी तरह से पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाता है और समन्वय से उनके परस्पर-सबध एव एकीकरण का ज्ञान हो जाता है। किसी विषय के पूर्ण ज्ञान के लिये इन दोनों बातो की आवश्यकता है। अतः ये दोनों ग्रथ एक दूसरे के साथ मिलकर हमारी आवश्यकता को पूर्ण करते हैं। 'मानस' कथानक के अनुसार कांडो मे विभक्त है तथा 'दासबोध' विषयों के अनुसार दशकों और समासों मे। 'मानस' के समान 'दासबोध' का भी आरभ देवो की स्तुतियों से किया गया है, उसका क्रम भी 'मानस' ही के समान है। दोनों के आरभ मे ग्रथ के वर्णनीय विषयो का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके बाद ग्रथ का उद्देश तथा उसकी फलश्रुति दोनो मे लगभग एक समान है। नर-चरित्र-वर्णन को दोनों हो नीची निगाह से देखते हैं, ईश्वर-गुणगान को ही वाणी का मुख्य उद्देश्य मानते हैं। ग्रथ के आरभ मे दोनों ही अपनी दीनता तथा नम्रता का परिचय देते हैं। इसी लिये इन सत कवियो के विश्वव्यापी प्रभाव का भी केवल एक ही कारण है—ईश्वर की कृपा और उसकी प्रेरणा। 'मानस' की विशेषता भक्ति तथा 'दासबोध' की विशेषता ज्ञान के विशद विवेचन मे है। तुलसीदास की भक्ति ज्ञान से उत्पन्न होकर कर्म तथा सेवा के रूप मे प्रकट होती है। समर्थ रामदास का ज्ञान भक्ति से उदित होकर सेवा के रूप मे परिणत होना है। एक मे भक्ति प्रधान है, दूसरे मे ज्ञान। किंतु भक्ति-मूलक तथा ज्ञान-प्रधान कर्मयोग दोनो ही का अंतिम लक्ष्य है। गोसाई जी ने तो इन तीनो मार्गों का भक्ति मे समन्वय कर दिया है। समाज की स्थिति सुधारने के लिये इन तीनो की आवश्यकता है भी। केवल शुष्क ज्ञान का हृदय से कोई सबध नही है। जब निर्मल ज्ञान भक्ति द्वारा देश-दशा पर द्रवित होगा तभी वह निष्काम कर्म के रूप में प्रकट हो सकता है—तभी व्यक्ति, समाज या देश की समस्याएँ हल हो सकती हैं। इन सतो के ग्रथो मे भक्ति पर इतना जोर इसी लिये दिया गया है कि जब तक हृदय की शुद्धि न होगी तब तक ज्ञान केवल मस्तिष्क मे बद रहेगा, वह निष्काम कर्म के रूप मे कभी प्रकट नहीं हो सकता। इसी कारण हृदय की शुद्धि द्वारा व्यक्तिगत आचरण सुधारने की आवश्यकता बताई गई है, भक्ति का प्रधान आधार आचरण की शुद्धता माना गया है, भक्ति द्वारा भीतरी ज्ञान और बाहरी कर्म मे सबध स्थापित किया गया है। इसी लिये, इन सतो के अनुसार, ज्ञान केवल व्यक्तिगत उन्नति के लिये नही, बल्कि अपनी उन्नति के साथ-साथ सामाजिक उन्नति के लिये भी है। असली ज्ञान व्यक्ति और समाज तथा समाज और ईश्वर मे अभेद उत्पन्न करने का साधन है। इन सतों का वेदांत कर्मत्याग की शिक्षा नही देता, इनकी भक्ति समाज से अलग होकर माला टरकाने की प्रेरणा नही करती, इनका अद्वैत केवल आत्मा और परमात्मा मे ही एकता स्थापित नहीं करता, बल्कि जगत् और जगदीश को भी एकरूप समझता है। जगदीश, जगत् से अलग नही, वह उसी का विराट् रूप है। समर्थ रामदास ने स्पष्ट रूप से कहा है—"जगत तो चि जगदीश।" तुलसी का 'राम' भी सारे जगत् में रमा हुआ है। वे सब जग को 'सिया-राम-मय' जानते हैं। इसी लिये वे जग की सेवा को ही जगदीश्वर की सर्वोत्तम सेवा मानते हैं। भगवान् रामचद्र ने अंगद को जो अंतिम उपदेश दिया है उसमे स्पष्ट

ग्रंथो की विशेषताएँ और सिद्धात (भक्ति, ज्ञान, कर्म)

मातृ-ममता

चित्रकार—श्री० हरिहरलाल मेढ

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)
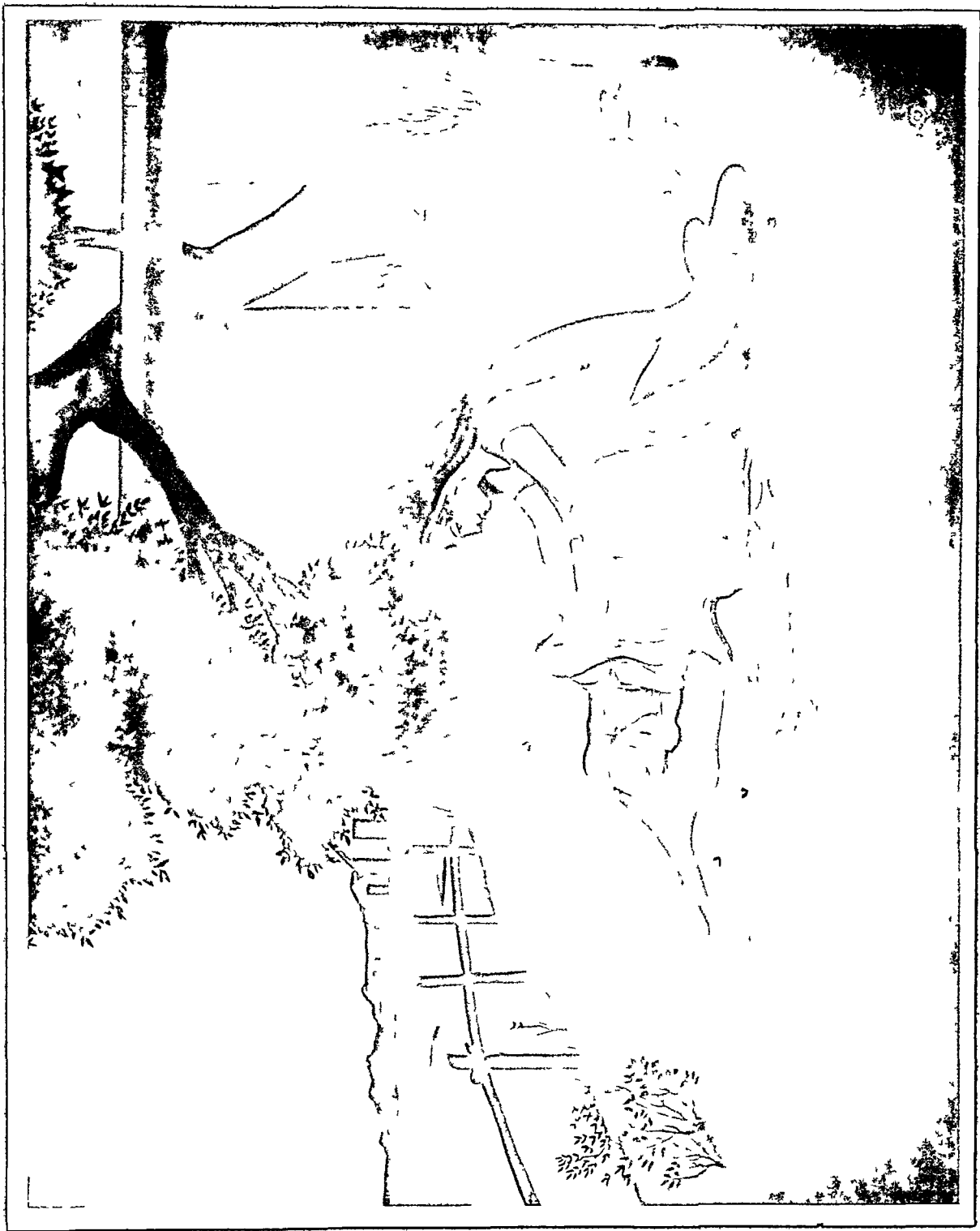
रूप से इसी का उल्लेख है—"सदा सर्वगत सर्वहित जानि करहु नित प्रेम।" परम भक्त हनुमान जी को उपदेश देते समय भी भगवान् रामचद्र ने इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया है—"सो अनन्य असि जाहि की मति न टरे हनुमत, मै सेवक सचराचर रूप-रासि भगवत।" तात्पर्य यह कि अनन्य भक्त वही है जो इस चराचर जगत् को भगवत की रूप-राशि समझकर उसी की सेवा करे। यह सेवा-धर्म ही इन सतो का अंतिम उपदेश है। केवल कोरी भक्ति या ज्ञान से मुक्ति नही हो सकती। उसे निष्काम सेवा के रूप मे प्रकट करना होगा। सेवा-धर्म ही भव-रोगों को दूर करने की, सतों द्वारा बताई गई, अमोघ औषधि है। इस सेवा-धर्म का प्रधान तत्त्व है 'आत्मनिवेदन'। इसी को स्वामी समर्थ ने अंतिम भक्ति माना है। गीता मे भी इसी का अंतिम उपदेश दिया गया है। गोसाई जी ने भी इसी आत्म-निवेदन को अतिम साध्य माना है। जब मनुष्य ईश्वर-प्रेरित बुद्धि से, विशुद्ध ज्ञान से प्रेरित होकर, भक्ति और प्रेम के साथ, जगत् और जगदीश की सेवा मे सपूर्ण आत्म-निवेदन कर देता है, तभी उसे अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। यही इन सतो का चरम सिद्धांत है।

गीत

निर्जन पथ पर अलख जगाते।
नभ-निशीथिनी के अचल मे तारक-राशि लुटाते॥
गहन विजन मे तम-लहरो पर, वह सुस्पदित निशि-प्रहरों पर
निद्रालीन, जडित जगती को मीठी तान सुनाते॥ निर्जन पथ०—
हो विलीन स्वप्नांबर मे जब, स्वर्ण-जाल को बुनता जग सब।
चढ़ अदृश्य मारुत-पखों पर, फेरी एक लगाते॥ निर्जन पथ०—
अविरत गति-संघर्ष रूप फल, विकसित कर चपला अति उज्ज्वल।
दिनमणि-कर-सा चीर जलद-तल, अनुपम ज्योति दिखाते॥ निर्जन पथ०—
अतल सिंधुगत धवल रत्न-सा, योग-निरत जन मूक यत्न-सा।
हो अदृश्य, पर दृश्य उन्हे जो सुरत-प्रेम-रस-माते॥ निर्जन पथ०—

सत्याचरण 'सत्य'
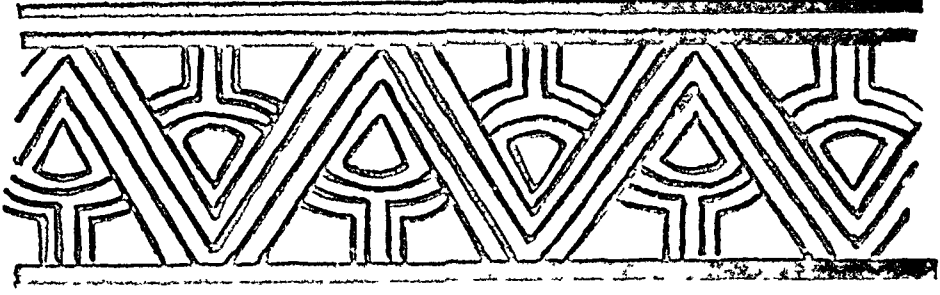
प्राचीन भारत का न्याय-विभाग और उसकी कार्यप्रणाली

श्री कैलासपति त्रिपाठी, एम० ए०, एल्-एल० बी०

प्राचीन भारत मे राजा अपने राज्य का सबसे बडा न्यायाधीश समझा जाता था। अतएव वह अपनी प्रतिदिन की राजसभा मे अपनी प्रजा का आवेदन-पत्र ग्रहण करता था। यही नही, सिद्धांततः वह सबसे अधिक महत्त्व का कार्य अपीले सुनने का करता था[१], परतु प्रचलित कार्य-प्रणाली के अनुसार वह स्वयं न्याय करने का कार्य नही करता था। उसे स्वय अभियोगो के सुनने और उनके निर्णय करने की मनाही थी[२]। वास्तव मे राज्य के प्रधान न्यायालय का निर्माण प्रधान न्यायाधीश (प्राड्विवाक) तथा अन्यान्य न्यायाधीशो द्वारा होता था, तथापि न्यायालय के समस्त कार्य राजा के नाम से ही हुआ करते थे।

कौटल्य के दो न्यायालय और उनका अधिकार-क्षेत्र—कौटल्य के अर्थशास्त्र मे हमे दो विभिन्न प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख मिलता है—(१) 'धर्मस्थीय' और (२) 'कटकशोधन'। प्रथम के संचालन का कार्य अमात्यों के साथ-साथ धर्मस्थ लोग करते थे, और द्वितीय के संचालन का कार्य 'प्रदेष्टृ' अथवा अमात्यों द्वारा होता था। प्रथम का कार्य उन समस्त विवादो का निपटारा करना था जिनकी उत्पत्ति परपरागत रीतियों अथवा सिद्धांतो के उल्लंघन के कारण होती थी। इसका अधिकार-क्षेत्र केवल उन्ही अपराधो तक सीमित था जिनमे राज्य वादी अथवा प्रतिवादी नही होता था और दंड भी अर्थदड तक ही परिमित था, और वे अर्थदड भी थोडे ही होते थे। इसका अधिकार-क्षेत्र विधान के इन विभागों तक परिमित था[३]—[१] व्यवहार (स्वीकृत कार्यों के न पूरा करने से उत्पन्न हुए विवाद

१. कौटल्य तथा शुक्र दोनो ही ने राजा की दिनचर्या का वर्णन करते हुए इस कार्य के लिये निश्चित समय का होना आवश्यक माना है।

२. मनुस्मृति, अध्याय ८, १-२, अर्थशास्त्र—पुस्तक१—१६, शुक्रनीति—विनयकुमार सरकार का अनुवाद, अध्याय ४, प्रकरण ५, पक्ति ५-६, अध्याय ५, पक्ति ६-१३

३ 'अर्थशास्त्र'—३ (विनयकुमार सरकार)

(Disputes Concerning the Non-performance of Agreement), [२] विवाह-धर्म, स्त्रीधन आदि (Law of Marriage and Women's Property, etc), [३] विवाह-विच्छेद विधान (Law of Divorce), [४] दायक्रम, अंश-विभाग, पुत्र-विभाग (Law of Inheritance and Succession), [५] वास्तुक, गृहवास्तुक (गृहादि के निर्माण का विधान—(Law Relating to Buildings and Houses); [६] वास्तु-विक्रय (Law of Household Property) और सीमाविवाद तथा चरागाहों का विवाद, [७] स्वीकृत कार्यो का निश्चित समय मे पूरा न करना (Non-performance of Agreements in Due Time), [८] ऋणदान (Law of Debts), [९] औपनिधिक (धन-सग्रह-विधान—(Law of Deposit), [१०] दासकल्प, कर्मकरकल्प (दासो तथा सेवको के लिये लागू होनेवाले नियम), [११] सभूय समुत्थान (Law of Co-operative Undertaking), [१२] विक्रीत-क्रीतानुशय (खरीद और बिक्री के नियम), [१३] दत्त-स्थापनाकर्म, अस्वामि-विक्रय, स्व-स्वामिसबध (Resumption of Gifts, Sale Without Ownership, and Ownership), [१४] साहस (Law of Crimes and Violence), [१५] वाक्यपारुष्य (Defamation), [१६] दड-पारुष्य (Assault and Hurt), [१७] द्यूतसमाह्वय (Law of Dice-playing), [१८] प्रकीर्णक (Miscellaneous)[१]। इसी प्रार कौटल्य के दूसरे न्यायालय (कटकशोधन) के प्रमुख पदाधिकारी 'प्रदेष्टृ' होते थे। यह न्यायालय उन समस्त अपराधो की ओर ध्यान रखता था जिनका प्रभाव राज्य पर (अथवा स्वय राजा पर) तथा अधिकतर जनसाधारण पर पडता था। यह किसी भी प्रकार का दड दे सकता था। छोटे वा बडे अर्थदड से लेकर प्राणदड तक देने का अधिकार इसे प्राप्त था। इसके कर्त्तव्य ये थे—(१) शिल्पियो तथा व्यापारियो की रक्षा, (२) राष्ट्रीय विपत्तियों के प्रतीकार का उपाय, (३) अधम उपायो द्वारा जीवन-निर्वाह न करने देना, (४) साधुवेशधारी गुप्तचरो द्वारा अपराध करनेवाले युवकों का पता लगाना, (५) अपराधियो को अपराध करते हुए अथवा केवल शका के कारण पकड़ना, (६) आशुमृतपरीक्षा, (७) वाक्य-कर्मानुयोग (Trial and Torture to Elicit Confession), (८) गवर्नमेंट के सब डिपार्टमेटो की रक्षा, (९) एकागवधनिष्क्रय (अंगविशेष के काटने के स्थान में अर्थदड देना), (१०) प्राणदड—अत्यधिक पीड़ा देकर अथवा साधारण रीति से, (११) अप्राप्तवयस्का कन्या के साथ सभोग करने पर दड देना, (१२) जातिनियमो, पवित्र सामाजिक नियमो, परपरागत नैतिक नियमों अथवा ब्राह्मणो को दुःख न पहुँचाने के नियमो के उल्लघन करनेवाले को दड देना। इस प्रकार यह एक ऐसा न्यायालय था जिसको उन समस्त अपराधो की ओर ध्यान देना पड़ता था

१ संभवत यह परपरागत विधान का विभाग कौटल्य-काल के पहले से ही वर्त्तमान था। मनु ने भी प्राय विधान के इन्ही अठारह विभागो का उल्लेख किया है—

तेपामाद्यमृणादान निक्षेपोऽस्वामिविक्रय । सम्भूय च समुत्थान दत्तस्थापनकर्म च ॥
वेतनस्यैव चादान संविदश्च व्यतिक्रम । क्रयविक्रयानुशयो विवाद स्वामिपालयो ॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके। स्तेय च साहस चैव स्त्रीसग्रहमेव च ॥
स्त्रीपुधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वयमेव च । पादन्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थितावह ॥
—(अध्याय ८, ४-७)

जिनका प्रभाव राज्य के हित मे बाधक होता था, चाहे उन अपराधों का करनेवाला कोई राजकर्मचारी हो या कोई साधारण व्यक्ति ।[1] किंतु इन न्यायालयों के अतिरिक्त कौटल्य ने ग्राम के प्रमुख पुरुष 'ग्रामिक' तथा 'ग्रामवृद्धो' को भी साधारण रूप से कितने ही अभियोगो के निर्णय करने का तथा अपराधियों को दड देने का अधिकार दे रक्खा है। ये ग्रामिक और ग्रामवृद्ध तस्कर वा व्यभिचारी को देश-निकाला तक का दड दे सकते थे। हाँ, केवल इतनी बात ध्यान मे रखनी पडती थी कि वह दड अत्यत आवश्यक हो, क्योकि किसी भी अभियोग क निर्णय करने मे सबसे उत्तम न्यायाधीश वे ही लोग समझे जा सकते थे जो उसी स्थान के निवासी हों जहाँ का वह अपराधी था अथवा जिस स्थान पर विवादास्पद वस्तु की उत्पत्ति हुई थी[2] ।

पंचायती न्यायालय—कृषक, शिल्पी, व्यापारी तथा अन्य श्रमिक श्रेणी के लोग अपने व्यावसायिक विवादो का निपटारा अपनी व्यावसायिक पचायतो द्वारा करने के लिये स्वतंत्र थे; क्योंकि वे अपने विवाद अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक समझ सकते थे। सभवतः पंचायती न्यायालयों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई थी। समय पाकर उनकी बडी उन्नति हुई।[3] स्थावर न्यायालयो को छोड़कर कितने ही अस्थावर न्यायालयो का भी वर्णन हमे मिलता है। न्यायालयों का पहला विभाग इस प्रकार का था—(१) मुख्य न्यायालय, जो प्रांत की राजधानी मे होता था और जिसमे राजा प्रधान होता था, (२) वह न्यायालय जिसमे प्राड्विवाक प्रधान न्यायाधीश का कार्य करता था, (३) अन्य न्यायाधीशों के न्यायालय, जिनकी नियुक्ति राजा करता था और जिनका अधिकार-क्षेत्र छोटे नगरो अथवा ग्रामो तक सीमित था।[4] दूसरे प्रकार के भी पचायती न्यायालय थे जिनमे ये मुख्य थे—(१) 'पूग', जो किसी नगर अथवा ग्राम की विभिन्न जातियो तथा विभिन्न व्यवसाय करनेवालों के सम्मेलन का नाम था। (२) 'श्रेणी', जो एक व्यवसाय करनेवाले विभिन्न जाति के पुरुषो अथवा एक जाति के पुरुषो की परिषद् का नाम था। उदाहरणार्थ—जुलाहो की श्रेणी, जूते बनानेवालो की श्रेणी, पान बेचनेवालो की श्रेणी, घोडा बेचनेवालो की श्रेणी आदि (Guilds)। (३) 'कुल', जो जन-समूह द्वारा निर्मित उस सम्मेलन का नाम था जो किसी भी प्रकार के अपने सबधियो द्वारा बना लिया जाता था[5]। अपने सबधियो द्वारा

१. शुक्र के मतानुसार राज्य के अपराधी ये थे—अन्न नष्ट करनेवाला, गृहदाह करनेवाला, राजद्रोह फैलानेवाला, जाली सिक्का बनानेवाला, राजा की गुप्त बातो का उद्घाटन करनेवाला, बंदियो को आश्रय देनेवाला, दूसरे की संपत्ति का विक्रय करनेवाला अथवा दान देनेवाला या उसका विभाग करनेवाला, दूसरे को दंड देनेवाला, राजा के (जन-साधारण मे सूचना देनेवाले) नगाड़ा बजानेवाले को रोकनेवाला, स्वामिहीन वस्तुओं को अपनी संपत्ति बतानेवाला, राजा के करो को खा जानेवाला और दूसरे को अगहीन करनेवाला। अध्याय ४, (५), पंक्ति १६५-१७१

२ शुक्रनीति—४, (५) श्लोक २४

३. „ „ ५, „ „ १८

४ स्मृतिचंद्रिका—पृष्ठ ४१

५. नारद, याज्ञवल्क्य (प० ११, Ch I. V 30.)

निर्मित होने के कारण 'कुल' पचायती न्यायालयो मे सबसे साधारण श्रेणी का माना जाता था। विवादो का निपटारा पहले 'कुल' से ही हो जाने की आशा की जाती थी, क्योकि बाहरी लोगो की अपेक्षा 'कुल' के लोग विवादो को भली भाँति जानते और समझते थे, अतएव उनका ठीक निपटारा कर सकते थे। 'कुल' के अनतर 'श्रेणी' थी जिसका निर्माण केवल संबधियो से ही नही, किंतु बाहर के लोगो से भी होता था, यद्यपि वे सभी लोग उसी स्थान के निवासी होते थे। 'श्रेणी' का किया हुआ निपटारा पराजित पक्ष को अधिक संतोषप्रद होता था, क्योकि 'कुल' के लोगो द्वारा किए गए पक्षपात का अभाव 'श्रेणी' के निपटारे मे रहता था। किंतु इन सब न्यायालयो मे श्रेष्ठ 'पूग' ही था जिसके निर्माण की भित्ति अधिक दृढ़ होती थी।[१]

बृहस्पति के न्यायालयों की चार श्रेणियाँ—बृहस्पति ने न्यायालयो को चार श्रेणियो मे विभक्त किया है—(१) चल न्यायालय, (२) अचल न्यायालय, (३) वह न्यायालय जिसे राजा अधिकार प्रदान करता था, और (४) वह न्यायालय जिसमे मुख्य स्वय राजा होता था। बृहस्पति ने तीन जगम न्यायालयो का भी उल्लेख किया है—एक वह जो जगल के मध्य मे, वहाँ के निवासियो के लिये, स्थित था। दूसरा वह जो करावान के व्यापारियो के लिये था। तीसरा वह जो सैनिको के लिये था। चल और अचल दोनो ही प्रकार के वे न्यायालय होते थे जिनमे न्यायाधीश के आसन पर राजा बैठता था, और अन्य सब न्यायालय अचल होते थे[२]।

भृगु के पंद्रह न्यायालय—भृगु के कथनानुसार पद्रह प्रकार के न्यायालय होते थे—तीन वे जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है। चौथा वह जिसमे आसपास के ग्रामवासी न्यायाधीश का कार्य करते थे—उनका अधिकारक्षेत्र ग्राम के विवादास्पद विषयों तक परिमित था। पाँचवाँ वह न्यायालय जिसमे विभिन्न पक्षो द्वारा चुने हुए सबधी ही न्याय का कार्य करते थे। छठा था व्यापारियो का न्यायालय। नागरिको का न्यायालय सातवाँ था। आठवे न्यायालय मे ग्रामवासी ही न्यायाधीश का कार्य करते थे। नवे न्यायालय मे विभिन्न 'कुल' ही न्यायाधीश का कार्य करते थे। दसवे न्यायालय मे नागरिक न्यायाधीश का कार्य करते थे। श्रेणी का न्यायालय ग्यारहवाँ था। बारहवे न्यायालय मे न्यायाधीश का कार्य उन मनुष्यो द्वारा होता था जो नीति के समस्त अंगो के पडित थे। तेरहवाँ कुलिकों का न्यायालय था। चौदहवाँ राजा द्वारा निर्धारित न्यायालय होता था। पद्रहवाँ राजा का प्रमुख और विशेष न्यायालय था। अंत के दो न्यायालयों को छोडकर अन्य सब पंचायती न्यायालय थे जिनका अधिकारक्षेत्र विभिन्न पक्षो की स्वीकृति पर निर्भर था और जिनका निर्माण उसी समय हो जाता था जब विभिन्न पक्ष उनकी सहायता के इच्छुक होते थे। इनमे से पहले के पाँच न्यायालय भ्रमणकारी थे। इन पचायती न्यायालयो को केवल निर्णय करने का अधिकार था, उस निर्णय के अनुसार कार्य करने-

१ 'Ancient Hindu Judicature' by B G Rajah Rao (Chap I, pp 4—9)

२. स्मृतिचंद्रिका, पृष्ठ ४१

कराने का नही। उनका अधिकारक्षेत्र विभिन्न प्रकार के उग्र अपराधो के अवसर पर नष्ट हो जाता था, जैसे चोरी आदि[1]।

न्यायालय के स्थान और विधान के विभाग तथा उनका महत्त्व—कौटल्य के मतानुसार प्रत्येक सग्रहण, द्रोणमुख, स्थानीय तथा जनपदसधि मे न्यायालय का होना अत्यत आवश्यक था। 'सग्रहण' वह नगर कहलाता था जो दस ग्रामो मे प्रमुख होता था। इसी प्रकार चार सौ ग्रामो के केद्रीय नगर को 'द्रोणमुख' तथा आठ सौ ग्रामो के केद्रीय नगर को 'स्थानीय' कहते थे। 'जनपदसधि' का नगर वह था जो दो प्रांतो के मध्यभाग मे स्थित था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि देश की मुख्य नगरी (राजधानी) मे राजकीय न्यायालय के साथ-साथ ऊपर कहे गए कौटल्य के दोनो न्यायालयो का होना भी आवश्यक था। कौटल्य के मतानुसार विधान के चार मुख्य विभाग किए जा सकते हैं—[१] धर्म (नैसर्गिक विधान या Sacred Law), [२] व्यवहार (सांसारिक विधान या Secular Law); [३] चरित्र (रीति-रवाज या Custom) और [४] राजशासन (Royal Edicts)। जहाँ कही 'धर्म' और 'व्यवहार' मे अथवा 'चरित्र' और 'राजशासन' मे कुछ विरोध पड जाता था वहाँ 'धर्म' तथा 'चरित्र' की ही आज्ञाओ का पालन होता था, 'व्यवहार' तथा 'राजशासन' का नही[2]। कौटल्य-मतानुसार 'धर्म' सत्य की भित्ति पर स्थित था और 'व्यवहार' का अस्तित्व साक्षियो पर था। इसी प्रकार 'चरित्र' का निर्माण अनेक पुरुषो के सम्मिलित निर्णय के कारण होता था, और 'राजशासन' केवल राजाज्ञा थी जिसे हम Administrative Law कह सकते हैं[3]। अर्थशास्त्र के लेखक ने राजा को 'राजशासन' या 'आर्डिनेंस' निकालने की आज्ञा दे रक्खी है, परतु मनु आदि ने यह अधिकार उसे नही दिया है। साथ ही साथ यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि राजा को जो विधान बनाने का अधिकार दिया गया है वह केवल इसलिये कि वह ऐसे विधानो की रचना करे जिससे 'धर्म', 'व्यवहार' और 'चरित्र' की आज्ञाओं के पालन करने मे लोगो को सुविधा हो—वह ऐसे विधान की सृष्टि नही कर सकता था जो उसे विधान के इन तीन विभागो के ऊपर अथवा परे रक्खे[4]। इन नियमो की उपयोगिता के विषय मे कौटल्य का मत है कि जब कभी धर्म और व्यवहार मे, अथवा धर्म और चरित्र मे, विरोध दिखाई पड़े तब विरोध का निर्णय धर्म के अनुसार होना चाहिए। इसी प्रकार जब कभी व्यवहार और चरित्र मे विरोध उठ खड़ा हो तब कौटल्य के मतानुसार चरित्र का ही पालन होना चाहिए, और लिखित विधान की समस्त शक्ति क्षीण हुई समझनी चाहिए, क्योकि कौन जानता है उस अवस्थाविशेष मे लागू होनेवाला

१ स्मृतिचंद्रिका, पृष्ठ ५४

२ धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्। विवादार्थश्चतुष्पाद पश्चिमः पूर्वबाधक। (अर्थशास्त्र ३–१)

३ अत्र सत्यस्थितो धर्मो व्यवहारेषु साक्षिषु। चरित्रं संग्रहे पुसा राज्ञामाज्ञानुशासनम्॥ (अर्थशास्त्र १-३)

४. श्री काशीप्रसाद जायसवाल—'Hindu Polity,' Part II, p. 152, अर्थशास्त्र, १-३

विधान खो न गया होगा[1]। इस प्रकार कार्यक्षेत्र मे चरित्र-विधान अन्य समस्त विधानो की अपेक्षा अधिक मुख्य था। मनु ने भी यह कहकर इसी मत को पुष्टि की है कि विवादो का निपटारा उस देश तथा प्रात की प्रचलित रीतियो के अनुसार—जो वहाँ की जातियो, श्रेणियो और कुलो मे प्रचलित हो—होना चाहिए[2]। शुक्र ने भी राजा को न्याय क शासन तथा परिपालन मे अत्यधिक सचेत रहने का आदेश दिया है। उनके मतानुसार राजा को उन समस्त रीतियो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जो देश के विभिन्न भागो मे प्रचलित हो, अथवा जिनका उल्लेख शास्त्रो मे मिलता है, अथवा जिनका परिपालन जातियो, ग्रामो, सघो और कुलो द्वारा होता चला आता है।[3] जो रीतियाँ देश मे, जाति मे अथवा जनसाधारण मे प्रचलित हो गई हे उनका उल्लघन कदापि न होने देना चाहिए, क्योकि उनके उल्लघन से जनसाधारण मे अशाति के भाव उत्पन्न होते हैं।[4]

अभियोग की सुनवाई और उसके चार विभिन्न विभाग—सभवतः अभियोगो की सुनवाई जनसाधारण के बीच मे प्रत्यक्ष रूप से हुआ करती थी, क्योकि शुक्र के मतानुसार अभियोग की सुनवाई जन-साधारण की आँखे बचाकर न राजा को करनी चाहिए और न न्यायसभा के अन्य सदस्यो को[5]। शुक्र ही के मतानुसार अभियोगो की सुनवाई न्यायालय के सम्मुख उनके उपस्थित होने की तिथि के अनुसार, अथवा अपराध को गभीरता के अनुसार, अथवा पक्षविशेष को हानि के न्यूनाधिक्य के अनुसार, अथवा वादियो की जाति के अनुसार होनी चाहिए[6]। पुन. शुक्र का ही कहना है कि प्रत्येक अभियोग के चार विभाग इस प्रकार किए जा सकते हैं—[१] पूर्वपक्ष (वादी का निवेदन अथवा अर्जीदावा), [२] उत्तर (प्रतिवादी का उत्तर अथवा बयान तहरीरी), [३] क्रिया (दोनो पक्षो द्वारा अपनी-अपनी पुष्टि मे किए गए कार्य), और [४] निर्णय[7]। अभियोग के प्रारभ होने मे सबसे पहला और मुख्य कार्य था वादी का न्यायालय मे जाकर न्यायाधीश के सम्मुख अपना निवेदनपत्र उपस्थित करना। "यह देखते हुए कि राजा अपने मन्त्रियो के साथ सिहासन पर विराजमान है, वादी को चाहिए कि अपनी हानि वा अन्य प्रकार की सूचना को भली भाँति सोच-समझकर अथवा पूर्ण रूप से उसे लिखकर राजा

१ अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण सस्थया। न्याये न च चतुर्थेन चतुरान्ता महीं जयेत् ॥
संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्र वा व्यवहारिकम्। यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिश्चयेत् ॥
शास्त्र विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्। न्यायस्तत्र प्रमाणो हि यत्र पाठो हि नश्यति ॥
(अर्थ० ३-१)

२ जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्। समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥
(अर्थ० ८-४१)

३ शुक्रनीति—४, (५) पक्ति ६०-६१
४. ,, ,, ,, ६२–६३
५ ,, ,, ,, १२–१३
६ ,, ,, ,, ३१०-३१२
७. ,, ,, ,, ३०५-३०६

को दे[1]।" वादी को आश्वासन देते हुए राजा को यह पूछना चाहिए—"तुम्हे कौन-सा कार्य है? तुम्हे कौन-सा कष्ट है? किस दुष्ट ने कब और किस अवस्था मे तुम्हे कष्ट दिया है[2]?" राजा वादी का उत्तर सुनता और लेखक उसे लिखता जाता। हमे यह भी ज्ञात है कि राजा की अनुपस्थिति मे प्राड्विवाक (प्रधान न्यायाधीश)—ये प्रश्न करते थे। न तो राजा की ओर न उसके अन्य कर्मचारियों वा भृत्यो की प्रेरणा से किसी अभियोग का आरभ हो सकता था और न इन लोगो की प्रेरणा से न्यायालय के समुख उपस्थित किए गए किसी मनुष्य के अभियोग का अंत किया जा सकता था[3]। शुक्र के मतानुसार राजा अथवा अन्य राजकर्मचारियो वा भृत्यो को कभी झूठे अभियोग गढकर न्यायालय के समुख न लाना चाहिए। परतु छल (Misdemeanour) अथवा अपराध (Felonies) के अभियोग का—या उन अभियोगो का जिनमे राजा स्वय वादी अथवा प्रतिवादी होता था, अथवा उन अभियोगों का जिनकी सूचना राजा को सूचकों, स्तोभकों[4], प्रशसकों आदि से मिलती थी—निर्णय स्वयं राजा ही कर सकता था। वादी जो कुछ निवेदन करता था, वह लिख लिया जाता था और उस पर उसे हस्ताक्षर करना पडता था। उस पर राजा की मुहर भी लगाई जाती थी[5]। इसी प्रकार अभियोग का दूसरा अंग था प्रतिवादी की उपस्थिति के लिये समन निकालना। वादी, राजा के आज्ञानुसार, प्रतिवादी को पकड़कर रखने के लिये, सत्यवादी और धर्मभीरु तथा शास्त्रादि से सुसज्जित पुरुषों को नियुक्त करता था। जो प्रतिवादी अपने ऊपर लगाए गए अभियोग के उत्तर देने से अस्वीकार करता था, अथवा जो वादी के निवेदन-पत्र की उपेक्षा करता था, केवल उसी के लिये यह कड़ा नियम था। जब तक प्रतिवादी अभियोग का उत्तर देने के लिये अथवा उसकी सुनवाई मे भाग लेने के लिये बुलाया न जाय तब तक वादी द्वारा नियुक्त ये लोग प्रतिवादी को पकडकर (हिरासत मे) रख सकते थे। ऐसी गिरफ़्तारी चार प्रकार की होती थी—[१] स्थानासेध (स्थानविशेष मे पकडकर रखना), [२] कालासेध (कुछ काल के लिये पकड़ रखना), [३] प्रवासासेध (कहीं बाहर न जाने देना), और [४] कर्मासेध (कोई काम न करने देना)[6]। यदि प्रतिवादी समन पाकर न्यायालय मे उपस्थित न होता तो उसके नाम वारंट निकाला जाता।[7] यदि तब भी वह न्यायालय के संमुख उपस्थित न होता और लुक-छिपकर भाग निकलने का प्रयत्न करता तो उसे दंड मिलता था।[8] यदि वह न्यायालय के समुख उपस्थित कराया जाता और

१ शुक्रनीति—४, (५), पक्ति १०६-१११

२. ,, ,, ,, ,, ११५-११७.

३. नोत्पादयेत्स्वय कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुष । न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथचन ॥ (मनु—८, ४३)

४. संभवत. वे राजा के भृत्य न थे, परंतु वे राजा को विभिन्न सूचनाएँ दिया करते थे। (शुक्रनीति, विनयकुमार सरकार का अनुवाद—४ (५), पंक्ति १३५-१३६

५. शुक्रनीति ४ (५), श्लोक ८६.

६. ,, ,, ,, पंक्ति १८४-१६०

७. ,, ,, ,, ,, ६८

८ ,, ,, ,, ,, २४२-२४३.

यदि उस समय अन्य आवश्यक कार्य मे न्यायाधीश लगा रहता, तो ऐसी अवस्था मे न्यायाधीश उसके समय-विशेष पर उपस्थित होने के लिये उचित प्रतिभू (जमानत) पाकर उसे छोड़ दे सकता था[1]। इसके बाद पूर्वपक्ष (अर्जीदावा) के औचित्य पर आवश्यक वाद-विवाद हो जाने पर प्रतिवादी का कथन लिखा जाता था[2]। प्रथमतः वादी से तदुपरांत प्रतिवादी से विभिन्न प्रश्न (जिरह के रूप मे) किए जाते थे। उनके उत्तर लेखक (पेशकार) द्वारा लिख लिए जाते थे। वे लेखक अत्यधिक दड के भागी होते थे जो वादी वा प्रतिवादी द्वारा न कही गई बात भी लिखते थे, अथवा दोनो पक्षो की ओर से कही गई बातो को नही लिखते थे, अथवा कुछ परिवर्त्तन के साथ घटा-बढ़ाकर लिखते थे। प्रतिवादी, वादी के निवेदन-पत्र को समझ लेने पर, चार मे से किसी भी प्रकार के उत्तर देने के लिये स्वतन्त्र था—या तो वह वादी के अभियोग को झूठा कह सकता था (मिथ्या), अथवा उसे स्वीकार कर ले सकता था (सम्प्रतिपत्ति), अथवा वह कोई विशेष बात कह सकता था (प्रत्यावस्कन्दन), अथवा उसी विषय मे न्यायालय के किसी पहले के किए हुए निर्णय का आश्रय (पूर्वन्यायविधि Pre Judicata) ले सकता था। साधारण अभियोगो मे तो थोडे ही समय मे निर्णय सुना दिया जाता था। परतु उन टेढे अभियोगों मे वादियो तथा प्रतिवादियो को अपने पक्ष की पुष्टि करने के लिये उपयुक्त समय दिया जाता था। प्रतिवादी का उत्तर सुन लेने पर असेसर (Assessor) लोग इस विषय मे अपनी समनि प्रकट करते थे कि अभियोग के सिद्ध करने का भार किस पक्ष पर है। जिस पक्ष पर अभियोग के सिद्ध करने का भार पड़ता था वह उसे लिखित वा अन्य प्रकार के प्रमाणो से सिद्ध करने का प्रयत्न करता था। किसी भी विवादास्पद अभियोग मे दोनों पक्षो के प्रमाण सच नही हो सकते—एक का प्रमाण अवश्य ही सच्चा और दूसरे का झूठा होगा[3]। तथापि यथावसर अभियोग के सिद्ध करने का भार एक पक्ष से हटकर दूसरे पक्ष पर पड सकता था।

विधान तथा वृत्त के प्रश्न और प्रमाण, साक्षियों की योग्यता और यथेष्टता—न्यायाधीश लोग विधानसबधी विवादो को अपने शास्त्र तथा स्मृतियो के ज्ञान से निपटा देते थे, परतु अभियोगो के उन विवादों का—जिनका विधान से सबध न होता था—प्रमाणों के ही आधार पर निर्णय होता था। प्रमाण भी मानवीय वा ईश्वरीय होते थे। मानुषी प्रमाण या तो लिखित होता था या उसका निपटारा अधिकार (कब्जा) के आधार पर किया जाता था[4]। अभियोग के प्रत्येक विषय पर पूर्ण रूप से विचार करने के उपरात न्यायाधीश को निर्णय सुनाना पड़ता था। अभियोग का निर्णय हो जाने के उपरांत वह पक्ष दड का भागी होता था जो न्यायालय के समुख झूठे प्रमाण उपस्थित करता था। अचल सपत्ति के विषय मे उत्पन्न हुए विवादो का निपटारा

१ शुक्रनीति—४, (५) पक्ति १२५
२. ,, ,, ,, ,, २७३ २७४
३ ,, ,, ,, ,, ३१३-३१७
४ ,, ,, ,, ,, ३२२

अधिकार के आधार पर कर दिया जाता था—हाँ, इतना ध्यान मे रखना आवश्यक था कि जिसका उस संपत्ति पर अधिकार हो वह अधिक दिनों से निर्विवाद रूप से उससे आय प्राप्त करता चला आता हो। इतना ही नहीं, इस पर भी ध्यान देना पडता था कि ये सभी बाते प्रतिवादी की उपस्थिति मे हुआ करती थीं। (निराक्रोश)। वह समस्त सपत्ति उस मनुष्य की हो जाती थी जो उसका उपभोग साठ वर्ष-पर्यंत कर चुकता था। परतु इस नियम के निम्नलिखित अपवाद थे—रेहन, सीमाभूमि, अप्राप्तवयस्क पुरुष (नाबालिग) की संपत्ति, और श्रोत्रिय की संपत्ति। इनका साठ वर्ष तक उपभोग कर चुकने पर भी उपभोक्ता इन्हे अपनी नही बना सकता था। अर्थशास्त्र के लेखक ने सयोगवश प्राप्त प्रमाणों (circumstantial evidence) का भी उल्लेख किया है, जिनका उपयोग अवसर-विशेष पर किया जाता था (उदाहरणार्थ—चोरी, मकान मे सेध देना आदि); क्योंकि उस अवस्था मे केवल वैसा ही प्रमाण न्यायालय के संमुख आ सकता था[१], और वही उपयुक्त तथा पर्याप्त मान लिया जाता था। स्यात् आधुनिक न्यायालयो के समान प्राचीन भारत के न्यायालय सुनी हुई बात को प्रमाण-रूप मे (hearsay evidence) उपस्थित करना नितांत व्यर्थ नही मानते थे; क्योंकि मनु[२] तथा शुक्र[३] ने स्पष्ट रूप से वैसे प्रमाण को उचित तथा विश्वसनीय माना है। यही नहीं, शुक्र ने साक्षियो को दो विभिन्न श्रेणियों मे विभक्त किया है—एक वह जिसने अपनी आँखो देखा है तथा दूसरा वह जिसने केवल सुना है। ये श्रेणियाँ पुनः दो भागो मे विभक्त की गई हैं—असत्यवक्ता और सत्यवक्ता[४]। हाँ, साक्षियो की योग्यता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। मनु के मतानुसार गृहस्थ पुत्रवान् और चारो वर्णों के उसी स्थान के निवासी (जहाँ विवाद उपस्थित हुआ है) उपयुक्त साक्षी थे[५]। परतु शुक्र के मतानुसार साक्षियो का जात्यकर्मानुसार होना आवश्यक था[६]। गृहस्थ (जो किसी के आश्रित न हो), धीमान्, अप्रवासी तथा पूर्णवयस्क युवक उपयुक्त साक्षी माने जाते थे। स्त्रियाँ केवल उन्हीं अभियोगो मे साक्षिणी होती थीं जिनमे स्त्री-जाति के हित का कुछ लगाव रहता था[७]। शुक्र ही के मत से उस मनुष्य को साक्षिणी के रूप मे अवश्य आना चाहिए जिसने वादी और प्रतिवादी की उपस्थिति मे उसको देखा अथवा सुना है जिसके विषय मे वह कुछ कहने आ रहा है—हाँ, यह ध्यान मे रखने की बात थी कि उसका कथन परस्पर-विरोधी न हो[८]। पुनः शुक्र ही के मतानुसार साक्षी के गुण (उसकी सत्यता को—जिसे वादी तथा प्रतिवादी दोनों

१. अर्थशास्त्र—भाग ४, अध्याय ८

२. मनुस्मृति—८, ७४

३ शुक्रनीति—४, (५), श्लोक १६६-१६७

४ ,, ,, ,, पक्ति २६४-२६५

५. मनुस्मृति—८, ६२

६ शुक्रनीति—४, (५) पक्ति २७२

७ शुक्रनीति -४, (५) पक्ति २७३-७४

८ ,, ,, ,, ,, २६६-२६७

ही स्वीकार करते—छोड़कर) ये हैं—बुद्धि, स्मृति और (अधिक काल बीत जाने पर भी) अच्छे कान[1]। कौटल्य के मतानुसार ये लोग साक्षी होने के अयोग्य हैं—स्याल, सहाय, आबद्ध, धनिक, धारणिक, वैरी, न्यग तथा धृतदंड। इनको छोड़कर कुछ लोग साक्षी के रूप मे न्यायालय द्वारा नही बुलाए जा सकते थे—केवल उन्हीं अभियोगो मे ये साक्षी के रूप में उपस्थित हो सकते थे जिनमे इनका व्यक्तिगत स्वार्थ हो। जैसे—राजा, श्रोत्रिय, ग्रामभृत, कुष्ठी, व्रणी, पतित, चांडाल, कुत्सित कर्म करनेवाला, अहवादी, स्त्री, राजभृत[2]। मनुस्मृति मे हमे एक लबी सूची उन लोगों की मिलती है जो साक्षी के रूप मे नही आ सकते थे अथवा नहीं लाए जा सकते थे। उस सूची मे ये लोग हैं—"वह मनुष्य जिसका हित अभियोग के साथ लगा हो, अंतरग मित्र तथा साथी, वादी-प्रतिवादी के वैरी, वे पुरुष जिन्हे असत्य भाषण के कारण दड मिल चुका है, वे पुरुष जो किसी भयानक रोग से ग्रस्त या त्रस्त हैं, तथा वे मनुष्य जो नैतिकता का ध्यान नहीं रखते।" ऐसे पुरुष साक्षी के रूप मे नहीं बुलाए जा सकते थे[3]। निम्नलिखित श्रेणियो के मनुष्य भी साक्षी के रूप में, असाधारण अवस्थाओं को छोड़कर, नही बुलाए जाते थे—राजा, व्यापारी, नट, वेद का विद्यार्थी, तपस्वी, वह मनुष्य जो किसी दुर्यशी पुरुष का आश्रित है, दस्यु, कुत्सित वृत्तियों द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाला, वृद्ध, बालक, नीच जाति का पुरुष, अत्यत दुःखी वा मद्यप, क्षुधार्त्त, अत्यत क्लांत वा पिपासित, पागल, दुर्व्यसनी, क्रुद्ध तथा तस्कर[4]। शुक्र की भी सूची प्रायः इसी प्रकार की है। परतु शुक्र का कथन है कि बालक अपने अज्ञान के कारण, स्त्री अपने मिथ्या भाषण के कारण, जाल करनेवाला पुरुष अपने बुरे अभ्यास के कारण, सबधी अपने स्नेह के कारण, वैरी अपनी चढ़ाऊपरी की वृत्ति के कारण, नीच जाति का मनुष्य अपने अहभाव के कारण, वंचक अपने लोभ के कारण, और आश्रित अपनी फीस तथा घूस पा जाने के कारण साक्षी होने के योग्य नहीं है[5]। परतु जब अन्य उपयुक्त साक्षियो का अभाव होता था तब स्त्रियाँ, अप्राप्तवयस्क पुरुष आदि, साक्षी के रूप में बुलाए जाते थे और उनके कथन पर ध्यान दिया जाता था[6]। परंतु उनके कथन पूर्ण रूप से विश्वास के योग्य नही माने जाते थे[7]। कुछ अभियोगो में साक्षियो का इस प्रकार चुना जाना ठीक नही समझा जाता था। उदाहरणार्थ—चोरी, अपहरण आदि मे[8]। वे साक्षी, जो साधारणत: प्राप्य थे, वादियों और प्रतिवादियो-द्वारा बुलाए जाते थे। वे पुरुष, जो अधिक दूरी

१. शुक्रनीति—४, (५) पक्ति ६६८-३६६

२ प्रतिविद्धा स्यालसहायावद्धधनिकधारणिकवैरिन्यङ्गधृतदण्डा। पूर्वे चाव्यवहार्या:। राजा श्रोत्रियग्रामभृतकुष्ठिव्रणिन पतितचाण्डालकुत्सितकर्माणोऽन्धबधिरमूकहवादिन स्त्रीराजपुरुषाश्चान्यत्र स्ववर्गेभ्य (प्र० ३, अ० ११)

३ मनुस्मृति—८, ६२

४ मनु०—८, ६५-६८

५. शुक्रनीति—४, (५) पक्ति ३७७-३८०

६ मनु०—८, ६८

७. मनु०—८, ७१

८ मनु०—८ ७२, तथा शुक्रनीति, ४ (५), प० ३७५-३७६

पर रहते थे, वादी या प्रतिवादी के बुलाने से नहीं आते थे। जो केवल न्यायालय की आज्ञा के ही कारण आ सकते थे, वे न्यायालय के समन (स्वामिवाक्य) द्वारा बुलाए जाते थे। यह अर्थशास्त्र का कथन है। साक्षिगण पराजित पक्ष द्वारा अपना श्रम-शुल्क (फीस) पाते थे। यही नहीं, कौटल्य के मतानुसार उन्हे पुरुषभृति (खूराक) भी दी जाती थी। शुक्र ने भी इसका उल्लेख किया है। साक्षी के रूप मे आहूत पुरुष यदि न्यायालय मे उपस्थित न हो तो वह दड का भागी होता था। न्यायालय में साक्षी के कुछ कथन करने के पहले ही न्यायाधीश ऐसी बाते कहता था कि साक्षी विवश होकर सत्य बात कह दे। कौटल्य के मतानुसार ब्राह्मण साक्षी से कहा जाएगा—'सच कह दो'। क्षत्रिय अथवा वैश्य से कहा जाएगा—'यदि तूने असत्य कहा तो तुझे अपने याज्ञिक अथवा अन्य धार्मिक कृत्यों का फल-लाभ न हो सकेगा; रणक्षेत्र मे शत्रुओ का नाश कर चुकने पर तुझे अपने हाथ मे कपाल लेकर भिक्षा माँगनी होगी।' शूद्र साक्षी से कहा जाएगा—'जो भी तेरे पुण्य, पूर्व जन्म के अथवा मरणांतर के, होगे वे राजा के यहाँ चले जाएँगे और जो भी पाप राजा ने किए होंगे वे तेरे पास चले आएँगे, यदि तू असत्य भाषण करेगा तो तेरे ऊपर अर्थदड का भी बोझ पडेगा, क्योंकि बातें जैसी सुनी वा देखी गई है वे निकट भविष्य मे अवश्य प्रकट होगी[१]।' मनु के मतानुसार न्यायाधीश को निम्नलिखित शब्दों मे साक्षियो को उपदेश देना चाहिए—'वह मनुष्य जो न्यायालय के समुख (साक्षी के रूप मे आकर) सत्य भाषण करता है, (मृत्यु के उपरांत) अत्यंत आनदमय स्थान का अधिकारी होता है और इस ससार मे उसे अक्षय कीर्त्ति प्राप्त होती है[२]।' शुक्र का भी ऐसा ही मत है[३]। साक्षी के रूप मे न्यायालय के समुख आया हुआ मनुष्य यदि असत्य भाषण करता था तो उसे—मनु तथा शुक्र के मतानुसार—अर्थदड अथवा अन्य प्रकार के दड भी दिए जाते थे। साक्षियों के केवल मौखिक कथन पर ही सब कुछ निश्चित नही किया जाता था, परतु लिखित (कागजी सबूत) की विशेष आवश्यकता बँटवारा, भेंट, बेची, सकारी हुई हुडी, रसीद-भरपाई, सविदान तथा ऋण मे पडा करती थी[४]। विधान-मूलक अभियोग में, कौटल्य के मतानुसार, वादी-प्रतिवादी द्वारा स्वीकृत अथवा विश्वसनीय अच्छे और पवित्र आचरणवाले तीन मनुष्य साक्षी के रूप मे यथेष्ट समझे जाते थे। दिए हुए ऋण के प्राप्त करने के लिये चलाए गए अभियोग मे दोनो पक्षो द्वारा स्वीकृत दो साक्षियो की संख्या यथेष्ट मानी जाती थी; परतु अभियोग का निर्णय एक साक्षी के कथन पर कभी नहीं किया जा सकता था[५]। न्यायाधीश को साक्षियों के कथन के तौलने का काम अपनी बुद्धि के अनुसार करना पड़ता था[६]। केवल एक प्रकार के ही प्रमाण को ध्यान

१. अर्थशास्त्र—३, ऋणादान।

२. मनुस्मृति—अ० ८, ८१-८६

३. शुक्रनीति—४ (५), पं० ३०४-५

४ मनुस्मृति—अ० ८, १२०-२१; शुक्रनीति—४ (५), ४०५ तथा उसके आगे की पक्तियाँ।

५. प्रत्ययिका शुचयोऽनमतवा त्रयोऽवरार्थाः। पक्षानुमतौ वादौ ऋणं न त्वेकैकः।—अर्थशास्त्र, ३

६. मनुस्मृति—८, ७३

मे रखकर किसी अभियोग का निर्णय नही किया जा सकता था[1]—चाहे वह प्रमाण अधिकार के आधार पर हो या लिखित अथवा मौखिक, क्योंकि प्रत्येक प्रकार के प्रमाण पर किसी अंश तक भरोसा किया जा सकता था। सत्यता की प्राप्ति के लिये, शुक्र के मतानुसार, चार प्रकार के उपायो का आश्रय लेना पडता था—प्रत्यक्ष (visible indication), युक्ति (reasoning), अनुमान (inference) और उपमान (analogy)[2]। जब साक्षियों के कथन परस्पर-विरोधी होते थे तब शुचि तथा अनुमत (approved) साक्षियो के बहुमतानुसार निर्णय कर दिया जाता था—यह कौटल्य का मत है। शुक्र का भी मत इसी से मिलता-जुलता है[3]। परतु चाहे जैसी भी अवस्था हो, जब यह ज्ञात हो जाता था कि किसी अभियोग का निर्णय असत्य तथा अपर्याप्त साक्षियों के कथन पर कर दिया गया है तब निर्णय में परिवर्त्तन कर दिया जाता था और साथ ही साथ पहले अभियोग का सब कुछ अ-विधायक तथा व्यर्थ समझा जाता था[4]।

शपथ तथा 'दिव्य परीक्षा' और जाँच के अन्य उपाय—साक्षियो के कथनो के लिखे जाने के अतिरिक्त—सत्य को असत्य से पृथक् करने के लिये—सौगद, अग्नि, जल आदि द्वारा परीक्षा लेने की भी रीति प्रचलित थी। शुक्र के मतानुसार जिस स्थान पर सत्य को असत्य से पृथक् करनेवाली युक्ति आदि की रीतियाँ असफल हो जाती हैं उस स्थान पर 'दिव्य साधन' का प्रयोग आवश्यक हो जाता है[5]। कौटल्य के समान मनु ने भी[6] चारो वर्णो को शपथ दिलाने की पृथक्-पृथक् रीतियों का वर्णन किया है। अग्निजलादि का परीक्षावाला उपाय 'दिव्य' कहलाता था; क्योंकि प्राचीन काल के देवतो ने अभियोग की अत्यत कठिन और उलझी हुई समस्याओ के सुलझाने का यही उपाय बतलाया था[7]। यह दिव्य परीक्षा अग्नि, विष, जलपूरित कुभ, तुला आदि द्वारा ली जाती थी[8]। यदि अभियुक्त इस परीक्षा के लिये प्रस्तुत हो जाता और अग्नि, विष

१ शुक्रनीति— (विनयकुमार सरकार का अनुवाद) ४, (५), पक्ति ४२०-४२८

२ ,, २, ४६

३ ,, ४ (५), पक्ति ३६०-६१

४ मनुस्मृति—८, ११७

५. शुक्रनीति—४ (५), पक्ति ४६०

६. मनुस्मृति—८, ११३

७. शुक्रनीति—४ (५), श्लोक ८६

८. मनुस्मृति—८, ११५, शुक्र० ४ (५), पक्ति ४७०-४७१, दिव्य परीक्षाएँ (ordeals) नौ प्रकार की है—(१) 'तुला'—दिव्यसाधन करनेवाला मनुष्य दो बार तौला जाता था। यदि दूसरी बार उसका भार पहली बार की अपेक्षा कम रहे तो निर्दोष, और यदि भारी रहे तो अपराधी, माना जाता था। यह अभी विवादास्पद है कि यदि दोनों ही बार का वजन एक ही ठहरे, अथवा यदि तुला के दो टुकडे हो जायँ, तो वैसी अवस्था मे क्या किया जाता था। (२) 'अग्नि'—एक जलता हुआ लाल आग का गोला निश्चित दूरी तक ले जाया जाता था। अभियुक्त अपने हाथो को जलने से बचाने के लिये अपने हाथ मे पट्टियाँ लपेट ले सकता था। यदि उसका हाथ

आदि का उस पर कुछ प्रभाव न पड़ता तब वह निर्दोष मान लिया जाता था। पर इस प्रकार की 'दिव्य परीक्षा' उसी समय ली जाती थी जब लिखित अथवा अन्य प्रकार के प्रमाणो का सर्वथा अभाव होता था। शुक्र का कथन है कि जब कोई लिखित प्रमाण उपस्थित नहीं किया जाता अथवा जब अधिकार न हो, साक्षी न हों और 'दिव्य परीक्षा' भी न ली गई हो तब राजा को यह अधिकार है कि जो उत्तम जान पडे सो करे[1]। परतु जब एक पक्ष मानवी साक्षियों को उपस्थित करता है और दूसरा पक्ष दैवी को, तब न्यायाधीश को मानवी प्रमाणों को ही अंगीकृत करना चाहिए, दैवी को नहीं[2]। किसी अभियोग की जाँच करने का सबसे उत्तम साधन, न्यायालय के लिये, गुप्तचरों द्वारा प्राप्त समाचार था। कौटल्य ने इस रीति के पालन को बड़ा महत्त्व दिया है[3]। इसके अतिरिक्त दूसरा साधन था विभिन्न प्रकार के प्रश्नों (जिरह) द्वारा सत्य को प्राप्त करना। शुक्रनीति मे हमे इसका उल्लेख मिलता है कि किसी अभियोग मे या तो प्रत्येक पक्ष स्वयमेव वाद-विवाद कर लेता था अथवा इस कार्य के लिये वकील नियुक्त किए जाते थे जो नियमानुसार श्रम-शुल्क (फीस) पाते थे। शुक्र के मतानुसार वही मनुष्य वकील हो सकता था जो नैसर्गिक तथा सांसारिक विधानों का पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त कर चुका हो। और, यदि वकील नियमित श्रम-शुल्क से अधिक ले लेता अथवा लुब्ध होकर अपना कार्य करता था तो न्यायालय उसे 'व्यावसायिक दुश्चरित्रता' (professional misconduct) का दड देता था[4]।

न जलता तो वह निर्दोष मान लिया जाता। यदि वह तप्तांगार को शीघ्रता से अपने हाथ से गिरा देता, अथवा यदि यह सदिग्ध रह जाता कि उसका हाथ जला या नहीं, तो पुन: उसी प्रकार उसकी परीक्षा ली जाती थी। (३) 'सलिल'—वह मनुष्य (जिसकी परीक्षा होनेवाली हो) किसी झील वा नदी मे तब तक डूबा रहे जब तक किनारे से छोड़ा हुआ बाण पुनः वापस न लाया जा सके। (४) 'विष'—नियमित मात्रा मे विष खिलाकर कुछ समय तक यह देखा जाता था कि विष अपना प्रभाव दिखलाता है या नहीं। (५) 'कोश'—किसी देव-प्रतिमा को जल से स्नान कराकर वही जल अभियुक्त को पिलाया जाता था और यदि थोडे समय मे (अधिक से अधिक तीन सप्ताह मे) कोई दुर्घटना उसके यहाँ अथवा उसके निकटतम संबधियों के यहाँ हो जाती तो उसके सदोष होने का प्रमाण मिल जाता था। (६)'तंडुल'—अभिमन्त्रित तथा बिना छिला हुआ धान चबाने के लिये दिया जाता था और चबाने के उपरांत उसे एक पत्ते पर अभियुक्त उगल देता था। यदि उसमे रक्त न दिखाई पड़ता तो अभियुक्त निर्दोष मान लिया जाता था। (७) 'तप्तमास'—खौलते घी अथवा तैल से भरे हुए घड़े से एक सिक्का या उसी प्रकार की कोई वस्तु खोजकर निकालनी पड़ती थी। यदि अभियुक्त का हाथ न जले तो वह निर्दोष मान लिया जाता था। (८) 'फाल'—अभियुक्त को अपनी जिह्वा से तप्त फाल को स्पर्श करना पड़ता था। यदि उसकी जिह्वा न जलती तो वह निर्दोष सिद्ध हो जाता था। (९) 'धर्माधर्म'—धर्म तथा अधर्म की मूर्तियाँ एक घडे मे रखकर चिट्ठी डाली जाती थी। ठीक चिट्ठी का उठाना अभियुक्त पर निर्भर था।

—"Hindu Law and Customs," by Dr Jolly, P 313-314.

१ शुक्रनीति—४ (५), पं० ५३१–५३२

२ ,, ,, ,, ,, ५२५–५२६

३ पूर्वोत्तरार्थव्याघाते साक्षिवक्तव्यकारणे। चारहस्ताश्च निष्पाते प्रदेष्टव्य. पराजित.॥—प्र० ३,१ शुक्रनीति—४ (५), पं० ५४२–५४४

४. ,, ,, ,, ,, २२७–२३१

परंतु शुक्र के मतानुसार नरहत्या, चोरी, व्यभिचार, शास्त्रवर्जित भोजन, बलात् अपहरण, क्रूरता, जालसाजी, राजविद्रोह तथा डकैती के अभियोगो मे वकील, अभियुक्तों के प्रतिनिधि के रूप मे, नियुक्त नही किए जा सकते थे, अभियुक्त स्वय ही उत्तर देते थे।

जयपत्र और अपील—दोनों पक्षों के प्रमाणो तथा वाद-विवादों पर पूर्ण रूप से विचार कर लेने पर अभियोग का निर्णय करके विजयी पक्ष को जयपत्र दिया जाता था। परंतु, यदि वादी अपना अभियोग सिद्ध न कर सकता अथवा झूठे प्रमाण उपस्थित करता या जाली लिखित प्रमाणों का उपयोग करता, तब वह दंड का भागी होता था[1]। न्यायालय के निर्णय से असतुष्ट पक्ष को अपील करने का भी अधिकार प्राप्त था। जब निर्णय अथवा डिगरी किसी ऐसे न्यायालय द्वारा दी जाती थी जो धर्म-विरुद्ध माना जा चुका हो, अथवा जब साक्षियों अथवा न्यायालय के पदाधिकारियों पर अनुचित प्रभाव डालकर जयपत्र प्राप्त किया गया हो, अथवा जब राजा के किसी काम की कच्चाई के कारण डिगरी मिल गई हो, अथवा जब अमात्य या प्राड्विवाक ने प्रचलित विधान के विरुद्ध निर्णय कर दिया हो, तब दुगुना अर्थदड जमा कर देने पर अभियोग की अपील हो सकती थी[2]।

न्याय-शासन की विशेषताएँ—प्राचीन भारत के राजनीति-शास्त्र तथा विधान-शास्त्र के लेखकों का एक प्रधान आदर्श था। राजा को सामानिक पद, नातेदारी अथवा अन्य किसी भी वस्तु पर ध्यान दिए बिना, पक्षपातहीन होकर, अपराधी को दड देने की अनुमति थी, क्योंकि 'धर्मप्रवर्त्तक' होने के कारण वही एक ऐसा पुरुष था जिसे राजदड धारण करने की आज्ञा थी, और वही राज्य मे एक ऐसा पुरुष था जिसे किसी व्यक्ति-विशेष अथवा समुदाय-विशेष द्वारा किए गए बलप्रयोग को अपने बलप्रयोग द्वारा रोकने की शक्ति प्राप्त थी। अतएव कौटल्य का कथन है—

> राज्ञ. स्वधर्मवर्गाय प्रजा धर्मेण रक्षितु.। अरक्षितुर्वा क्षेप्तुर्वा मिथ्यादण्डमतोऽन्यथा ॥
> दण्डो हि केवलो लोक पर क्षेमं च रक्षति। राज्ञा पुत्रश्च शत्रौ च यथादोष समं धृतः ॥
>
> (अर्थशास्त्र, खड ३,१)

राजा को अपनी प्रजा का न्यायपूर्वक प्रतिपालन करने की आज्ञा थी, क्योंकि न्याय से शासन करनेवाला राजा ही स्वर्ग का अधिकारी होता था। राजा का राजदड धारण करना व्यर्थ हो जाता था यदि वह अपनी प्रजा की रक्षा अथवा सामाजिक नियमों की रक्षा करने मे असमर्थ जान पड़ता था। यदि दड का उपयोग, पक्षापातहीन होकर तथा अपराध की गुरुता देखते हुए, राजा अपने पुत्र वा शत्रु दोनों के लिये समान भाव से करता था तो उसके इहलोक तथा परलोक की रक्षा होती थी। न्यायाधीशो को अपना कर्त्तव्य पक्षपातहीन बुद्धि से करना पडता था और यदि वे अपने कर्त्तव्य-पालन मे पक्षपात करते तो उन्हें भी अर्थदड दिया जाता था[3]। कौटल्य के मतानुसार पक्षपात करनेवाले

१ शुक्रनीति ४, (५) पक्ति ५५७–५६२

२ ,, ,, ,, ,, ५४६–५५६

३, कौटल्य—(४,९), मनु० (८, १२,१४ और १८), शुक्र—४, (५) पक्ति ५५३–५४ आदि मे अर्थ-दड का विधान दिया है।

न्यायाधीशों पर अभियोग चलाया जाता था, जिसकी सुनवाई सरकारी कर्मचारियों पर लगाए गए दोषों को सुननेवाले उच्च न्यायालय (Superior Administrative Court) मे होती थी। इस न्यायालय के न्यायाधीश 'समाहर्त्ता' तथा 'प्रदेष्टागण' होते थे। यही नहीं, जव कोई न्यायाधीश अपने सामने आए हुए वादी अथवा प्रतिवादी के डराता, आँखे दिखाता, निकाल देता अथवा अन्याय से चुप करा देता तब—यदि उसका (न्यायाधीश का) यह पहला अपराध होता तो—उसे लघु अर्थदड देना पडता था। यदि वह वादी अथवा प्रतिवादी का अपमान करता अथवा उन्हे अपशब्द कहता तो पहले से दुगुना अर्थदड देना पड़ता था। यदि वह ऐसे प्रश्न करता जिनके पूछने की कोई आवश्यकता न थी, अथवा उन प्रश्नों को न पूछता जो पूछने चाहिए थे, अथवा यदि वह उन्हे कुछ सिखाता या स्मरण दिलाता या पूर्व-कथित वृत्तात (बयान) का लाभ किसी के लेने देता, तो वह और भी अधिक अर्थदंड का भागी होता था[1]। न्यायाधीशो के साथ ही साथ न्यायविभाग मे काम करनेवाले अन्य छोटे अधिकारियों (जैसे लेखक आदि) के भी पक्षपात से दूर रहना पड़ता था। यदि वैसा वे न करते तो अर्थदंड पाते थे[2]। विशेषकर अपोले सुनने के लिये राजा सबसे बड़ा और अंतिम न्यायाधीश था। तो भी न्याय और प्रबंध के विभाग अन्योन्याश्रित न थे। न्यायाधीश के मार्ग-प्रदर्शन के लिये राजा का आश्रय न लेकर विधानशास्त्र का आश्रय लेना पड़ता था, क्योंकि राजा व्यवस्था-सवधी कार्य नही करता था। अभियोगों के निर्णय करने में विवेक-बुद्धि से विशेष काम लिया जाता था। न्यायालय प्रायः रीतियों की रक्षा करते थे, उनका नाश नहीं। प्राचीन भारतीय न्यायालयों के संमुख कुछ ऐसे वर्ग के लोग भी थे—जैसे ब्राह्मण तथा श्रोत्रिय—जिन्हे कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं, जिन्हे फौजदारी के अभियोगों मे भी केवल अर्थदड ही दिया जा सकता था, जब कि उन्ही अभियोगो के लिये अन्य लोगों के घोर दड दिए जाते थे। आधुनिक प्रचलित प्रणाली के अनुसार अभियुक्त की जाति, सामाजिक स्थिति आदि का विचार करके ही उसे दड दिया जाता था[3]। प्राचीन भारत मे न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र राजा से लेकर दास और पतित तक फैला हुआ था। यदि कोई स्वामी अपने दास के साथ दुर्व्यवहार करता तो दास अपने स्वामी से संबंध-त्याग कर सकता था और अपने अधिकार की रक्षा भी न्यायालय की सहायता से कर सकता था। उस स्वामी को न्यायालय दंड देता था जो अपने दास के उद्धार-मूल्य (ransom money) के पा जाने पर भी उसे मुक्त नहीं करता था[4]। श्रमिक के न्यायालय की सहायता से अपना वेतन प्राप्त करने का अधिकार था। उसी प्रकार स्वामी भी न्यायालय की सहायता से उस श्रमिक से वह काम पूरा करा सकता था जिसे पूरा करने का भार उसने स्वेच्छा से अपने ऊपर लिया हो। अपनी प्रतिज्ञा के न पूरा करनेवाले के—चाहे वह स्वामी हो वा भृत्य—न्यायालय अर्थदंड देता था।

१. अर्थशास्त्र—४ (६)

२ ,, ,, ,,

३ निर्बल तथा विदेशी लोगों तक की रक्षा का भार इन्ही न्यायालयों पर था।

४. अर्थशास्त्र—भाग ३, १३

इसके अतिरिक्त, 'विधान का राज्य' (Rule of Law) हिंदू-शासन-प्रणाली का एक मुख्य चिह्न था जिसका पूर्ण विकास हमे 'अदण्ड्य' राजा तक को अर्थदड देने मे मिलता है। अपने पद, सामाजिक स्थिति तथा उत्तरदायित्व के कारण राजा पर जिस अपराध के लिये एक सहस्र कार्षापण अर्थदड होता था, उसी अपराध के लिये साधारण मनुष्य पर एक कार्षापण अर्थदंड होता था—यह निश्चित विधान था। मनु ने स्पष्ट कहा है[१]—

कार्षापणः भवेद्दण्ड्यो यत्रान्य' प्राकृतो जनः। तत्र राजा भवेद्दण्ड्य' सहस्रमिति धारणा ॥

१. मनुस्मृति—अ० ८, ३३६
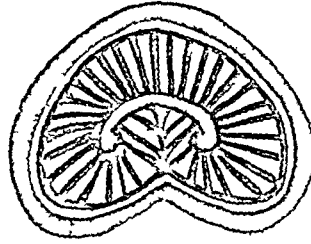
कामना-कली

इन काँटोवाली डालो मे
कामना-कुसुम की खिली कली!
सावन की गीली छाती पर, वेदना-बीज आया उडकर।
क्या जाने कब, कैसे सत्वर, बढकर तरु हुआ नवल, सुदर!
फिर, एक अचानक उस तरु मे
सुकुमार कली कब निकल पड़ी? इन काँटोवाली—
नभ मे हँसती थी चद्र-किरण, थी कलिका मेरी सजल-नयन,
घुल-घुल पडता चाँदी का मन, था धुल जाता सोने का तन,
अपने ही काँटो मे घिरकर
छिदती, अकुलाती रही कली! इन काँटोवाली—
आया मधु प्रथम किरण रथ चढ, धर शुभ्र भाल पर ललित मौर!
सूने उपवन के बीच इसे, देखा काँटो मे एक ठौर!
देखा, समीप आ लिया चूम,
कृतकृत्य हुआ वह, खिली कली! इन काँटोवाली—.

मधुसूदनप्रसाद मिश्र 'मधुर'

धमणार की बौद्ध गुफाएँ और धर्मनाथ का मंदिर

श्री किशनलाल दुर्गाशंकर दुवे

पुरातत्त्वान्वेषियो के अनवरत परिश्रम से कई ऐतिहासिक स्थल एव घटनाएँ, जो अंधकार के गर्भ मे पड़ी थी, प्रकाश मे आई हैं। इनसे प्राचीन भारत की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्य परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करने मे बड़ी सहायता मिलती है। अजता, वाघ, इलोरा, जोगिमारा, सिगरिया (लका), एलिफटा, धमणार[1] आदि की गुफाओ को देखकर पाश्चात्य विद्वानो ने भी प्राचीन भारत के परमोत्कृष्ट शिल्प-कौशल और भारतीय सभ्यता के चरम उत्कर्ष की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

'धमणार' गाँव इदौर-राज्य (मध्यभारत) के रामपुरा-भानपुरा जिले मे है। यह 'बी० बी० ऐड सी० आइ०' रेलवे के नागदा-मथुरा-सेक्शन के 'शामगढ़' स्टेशन से तेरह मील पश्चिम है। यहाँ पहुँचने के लिये एक पक्की सड़क बनी हुई है। इस गाँव के पास की पहाडी मे ये गुफाएँ खुदी हुई हैं। पहाड़ी का घेरा करीब तीन मील है। उत्तर की ओर इसकी चढ़ाई एक सौ चालीस फीट तक पहुँच गई है। सिरे पर चौरस मैदान है। दक्षिण की तरफ इसका आकार घोडे की नाल के समान हो गया है। इसके चारो ओर की भूमि प्राकृतिक परकोटे की भाँति ऊँची उठी हुई है। इसी से कर्नल

१. धमणार की पहाड़ी पर, फाल्गुनी महाशिवरात्रि को, हर साल एक अच्छा मेला होता है। होल्कर स्टेट (इंदौर) की ओर से बड़ी अच्छी व्यवस्था होती है। कुछ वर्ष पूर्व मुझे वहा जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसी समय इन गुफाओं तथा देवालय का चमत्कारपूर्ण एवं आश्चर्यजनक शिल्प देखकर यह लेख लिखने की प्रेरणा हुई थी। मेरे विद्वान् मित्र प्रोफेसर रामेश्वर-गौरीशकर ओझा, एम० ए० (अध्यक्ष, होल्कर स्टेट ऑर्कियॉलॉजिकल म्यूज़ियम) ने पहले ही इन गुफाओ का भली भाँति निरीक्षण किया था। यह लेख लिखने मे उनसे अमूल्य परामर्श मिले है।

टॉड ने इसे देखकर एक विशाल नगर के होने की कल्पना कर डाली[1]। इतिहास की अनभिज्ञता के कारण ऐसे स्थलों के विषय मे जो कल्पनाएँ की गई हैं, उनसे धमणार की गुफाएँ भी न बच पाईं। ये गुफाएँ वास्तव मे बौद्ध-विहार हैं, किंतु आज-कल आसपास के प्रदेश के लोग इन्हे 'भीम का मगरा' कहते हैं। जनश्रुति प्रचलित है कि एक समय पांडुपुत्र भीम ने 'चर्मण्वती' (चंबल नदी) के साथ अपना विवाह करना चाहा। उन्होंने बडी अनुनय-विनय के पश्चात् उसे इसके लिये राजी कर लिया। परंतु उन्हे भी यह शर्त्त मंजूर करनी पडी कि वे भोर होते ही, मुर्गे के बाँग देने से पहले ही, पास की पहाडी मे, महादेव का एक मंदिर और राजसी ठाठ के विवाह आदि के उपयुक्त स्थान तैयार कर दे। भीम ने यह शर्त्त मंजूर करके अपना कार्य आरंभ किया। बहुत शीघ्रता करने पर भी एक मायावी मुर्गे ने, काम पूरा होने से पहले ही, बाँग दे दी। बस सब किए-कराए पर पानी फिर गया। चंबल ने अपनी राह ली, भीम निराश हो एक दूसरी गुफा मे जाकर लेट गए। उन्होंने चंबल की गति रोकने के लिये एक बाँध बाँधने का भी आयोजन किया था। वह भी आरंभ होकर ही रह गया।

इस कथा मे आदि से अंत तक कोई तथ्य नही है। हाँ, यह मनोरंजक अवश्य है।

पाश्चात्य लोगो मे 'कर्नल जेम्स टॉड' पहला व्यक्ति था जिसने सन् १८२१ ई० मे सबसे पहले इन गुफाओ को जाकर देखा। उसने भी यह प्रचलित जनश्रुति सुनी, किंतु उसने अपने गुरु 'यति ज्ञानचंद्र' के कहने से इस पर विश्वास नहीं किया। यति ने बताया कि ये पांडव-मूर्त्तियाँ जैनियो के पाँच तीर्थंकरों—ऋषभदेव, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर—की मूर्त्तियाँ हैं[2]। जो हो, इन गुफाओ की संख्या टॉड ने एक सौ सत्तर दी है जो ठीक नही जान पड़ती[3]। उसने प्रत्येक द्वार को गुफा मान लिया है जो केवल भ्रम है। स्वर्गीय डॉक्टर जेम्स फर्गुसन ने इनकी संख्या साठ और सत्तर के बीच निर्धारित की है, जिनमे से कई-एक का कुछ महत्त्व नहीं है।[4] जनरल सर अलैग्जेंडर कनिंघम भी इस संख्या से सहमत हैं।[5] समय की गति ने इन गुफाओ को भग्नावशेष मे परिणत कर दिया है, परंतु बहुत-सी तो अब भी अच्छी हालत में हैं जिनमे से कुछ का विवरण यहाँ दिया जाता है।

शुरू मे छोटी-बड़ी कई गुफाएँ हैं जिनमे उल्लेख करने योग्य कोई बात नही है। उनके बाद की छठी गुफा 'बड़ी कचहरी' के नाम से पुकारी जाती है। इसमे चार खंभोवाला एक बड़ा दालान है जिसमे दरवाजे तथा खिडकियो से उजाला पहुँचता है। फिर इसके बाद की एक-दो गुफाओ के संबंध मे भी कोई महत्त्व की बात नहीं है। केवल आठवी गुफा 'छोटी कचहरी' कहलाती है। इसकी छत मे एक गुंबद है जिसमे अच्छी खुदाई हुई है। नवीं गुफा मे चार कमरे हैं, जिनमे से चौथे कमरे मे

१. 'क्रुक'-संपादित—'टॉड राजस्थान'—जिल्द ३, पृष्ठ १७७३

२. 'क्रुक'-संपादित—'टॉड राजस्थान'—जिल्द ३, पृष्ठ १७७५

३. वही ग्रंथ—पृष्ठ १७७३

४ 'फर्गुसन'—"हिस्ट्री आफ इंडियन एंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर," जिल्द २, पृष्ठ १६५

५. 'कनिंघम'—"रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियॉलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया"—जिल्द २, पृष्ठ २७५

पश्चिम की तरफ पत्थर मे एक शय्या की आकृति बनी हुई है, जिसके प्रत्येक कोने पर एक-एक तकिया दीख पड़ता है। दसवीं गुफा 'राजलोक', 'रानी का महल' तथा 'कामिनिया महल' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी बनावट 'बड़ी कचहरी' (छठी गुफा) से मिलती-जुलती है। ग्यारहवीं गुफा को लोग 'भीम का बाजार' कहते हैं। इसमे एक चैत्य बना हुआ है। उन दिनो यह गुफा 'विहार' का भी काम देती थी। इसके प्रत्येक पार्श्व के बीच का कमरा बौद्ध श्रमणो के लिये उपासना और ध्यान करने का स्थान था। पश्चिम की ओर बुद्ध की दो प्रतिमाएँ हैं जिनमे से एक खडित हो गई है। पूर्व की ओर के कमरे के फर्श मे एक स्तूप है। पीछे के भाग मे बीच का कमरा, जो खाली है, दूसरों की अपेक्षा बडा है और इसकी छत झुकी हुई है। इसमे एक छोटी-सी मूर्त्ति पाई गई थी जिससे कनिंघम ने इसको प्रधान श्रमण के रहने का स्थान मान लिया है, किंतु 'हेनरी कजिंस' इससे सहमत नही।[1] इसके द्वार का कुछ भाग गिर जाने से इसमे प्रवेश करने का मार्ग रुक गया है। इस गुफा का मुख्य भाग 'भीम का शस्त्रागार' या 'भीम का खजाना' कहलाता है। इसमे अर्ध-वृत्त आकार की चार ताके हैं जो संभवतः मूर्त्तियो के लिये बनाई गई हो, परंतु इस समय वे खाली पडी हुई हैं। बारहवी गुफा 'हाथी-बंधी' कहलाती है। इसका प्रवेश-द्वार साढ़े सोलह फीट ऊँचा है। इसकी लंबाई-चौड़ाई २७'×२५' है। लोग इसके चैत्यवाले स्तूप को हाथी बाँधने का खूँटा समझते हैं। इस गुफा के सामने काफी चौड़ा मैदान है। हाँ, इन सबमे तेरहवी गुफा विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रवेश-द्वार के सामने एक विशाल प्रतिमा दक्षिणाभिमुख खड़ी है। चारो ओर प्रदक्षिणा-पथ है जिसमे कई बड़ी-बडी मूर्त्तियाँ देख पडती हैं। ये मूर्त्तियाँ दीवार काटकर ही बनाई गई हैं। इनमें से कई-एक के अवयव नष्ट हो गए हैं। द्वार के दोनों पार्श्वो पर बुद्ध की एक-एक विशाल मूर्त्ति है। परिक्रमा मे घुसते ही दाहिनी ओर पश्चिम की दीवार मे तीन प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इनमें से दो के हाथ टूट गए हैं, किंतु एक अच्छी हालत मे है। पीछे की दीवार पर भी पाँच मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं। इनमे तीन बैठी और दो खड़ी हैं। पूर्व की दीवार पर बुद्ध के निर्वाण-काल का एक बहुत सुंदर दृश्य अंकित है। लोग इन्हे पंच-पांडव की मूर्त्तियाँ मानते हैं और निर्वाण-प्राप्त बुद्ध को सोया हुआ भीम बतलाते हैं। यह सोई हुई मूर्त्ति पंद्रह फीट लंबी है।

इनके सिवा और भी कई छोटी-बडी गुफाएँ हैं; किंतु वे विशेष महत्त्व की नही हैं। गुफाओ के समीप एक चित्ताकर्षक, चमत्कारपूर्ण एवं दर्शनीय स्थान है। इसे 'धर्मनाथ महादेव का मंदिर' कहते हैं। यह देवालय गुफाओ के उत्तरी भाग मे, समतल भूमि पर, सुविशाल पर्वत-शिलाओ को काट-काट कर बनाए हुए एक गहरे खड्ड मे, है। इस खड्ड की लंबाई एक सौ सत्तर फीट और चौड़ाई छियासठ फीट तथा गहराई लगभग तीस फीट है। इसके उत्तर-पश्चिम कोण मे उतरने के लिये सँकरी सीढ़ियाँ बनी हुई है, परंतु विशेषतः इसमे एक लंबे और गहरे मार्ग द्वारा—जो इस मंदिर से गुफाओं के अंत तक चला गया है—प्रवेश किया जाता है। यह पहाड़ी रास्ता दो सौ बयासी फीट लंबा, तेरह फीट चौड़ा

१ रिपोर्ट ऑफ आर्कियॉलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, १९०५-६, पृष्ठ १०९

तेरहवी गुफा का एक दृश्य (पृष्ठ ४६०)
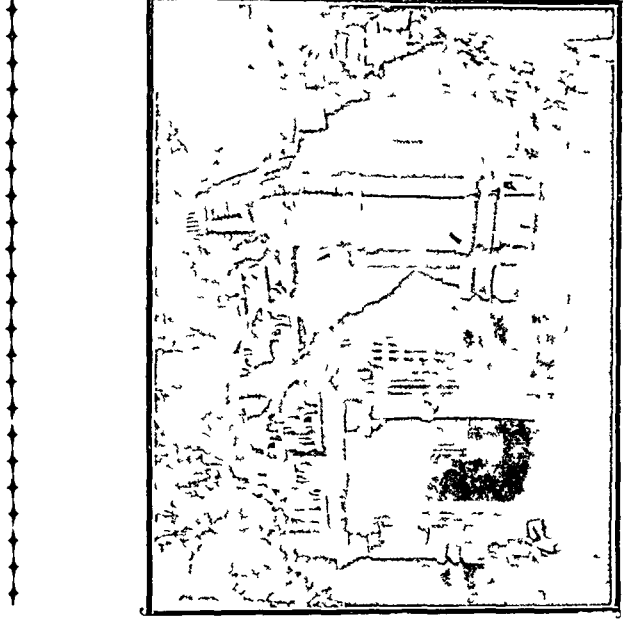
धर्मनाथ का मदिर (पृष्ठ ४६०)

और अठाइस फीट तक गहरा है। इस मदिर की निर्माण-शैली 'इलोरा' के कैलास-मदिर से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। परतु सुदरता, विशालता एव तक्षण-कला की दृष्टि से यह उसकी समानता नही कर सकता। इसका द्वार पूर्वाभिमुख है। इसका पत्थर सख्त और खुरदुरा है। शायद इसी से इसमे बारीक और सुदर खुदाई न हो सकी, किंतु एक प्रकार के पलस्तर का उपयोग करके यह चिकना बना दिया गया है। परतु शिवालय कहलाते हुए भी यह वस्तुतः विष्णुमदिर है। इसकी दीवारो मे विष्णु और लक्ष्मी की खुदी हुई मूर्त्तियो से ऐसा ही प्रतीत होता है। इसके दरवाजे के उत्तर ओर कछुए पर बैठी हुई यमुना और मकरारूढा गगा की मूर्त्तियाँ हैं। इसके द्वार की चौखट के ऊपर, अन्य शिव-मदिरों की भाँति, कीर्त्तिमुख नही देख पड़ते। इसमे नदी (बैल) के लिये भी कोई खास जगह नही बनी हुई है। इन बातो से ऐसा अनुमान होता है कि वर्त्तमान शिव-लिंग की प्रतिष्ठा किए जाने से पूर्व यह विष्णु का मदिर था। मदिर का सभा-मडप तथा खभे सादे—किंतु सुदृढ—बने हैं। छत मे थोडी-बहुत खुदाई भी हुई है। मडप के बाहर, दक्षिण-पश्चिम और उत्तर-पश्चिम कोण पर, दो दरवाजे हैं। 'इलोरा' के कैलास-मदिर की छत पर बने हुए उपमदिरो तक पहुँचने के लिये भी इसी तरह के द्वार बने हुए हैं। परतु धर्मनाथ के उपमदिरो तक मुख्य द्वार से ही जा सकते हैं। इसलिये ये द्वार यहाँ अनुपयुक्त हैं और शायद अनुकरण की दृष्टि से ही बनाए गए हैं। कैलास के मदिर के साथ इस देवालय का सादृश्य होने से यह अनुमान किया जाता है कि इसका निर्माण उसी के नक्शे पर हुआ है[१]। मुख्य मदिर के आसपास और भी छोटे-छोटे सात मदिर हैं जिनमे से एक की दीवार मे लगी हुई एक शिला पर पार्वती, वैष्णवी, इद्राणी और ब्रह्माणी के साथ भगवान् शकर के ताडवनृत्य का दृश्य अंकित है। मुख्य मदिर के पिछवाडे की दीवार पर भी एक शिला पर शेषशायी विष्णु विराजमान हैं। इस शिला मे विष्णु के नीचे मधु-कैटभ राक्षस अंकित हैं। दाहिनी ओर शेषनाग पर बैठी हुई लक्ष्मी जी देख पडती हैं। फिर उत्तर की ओर बने हुए एक छोटे मदिर मे एक शिला पर विष्णु के दशावतार अंकित हैं। शेष मदिर खाली पडे हैं। उनमे कोई उल्लेखनीय बात नही।

इन गुफाओ तथा मदिर का समय निश्चित रूप से निर्धारित नही हो सकता, क्योंकि इस सबध के कोई शिलालेख तथा अन्य साधन उपलब्ध नही हुए हैं। फर्गुसन ने इनमे से तेरहवी गुफा का समय ईसवी सन् की सातवी शताब्दी माना है, क्योकि वह अजता की उस सत्ताईसवी गुफा से मिलती-जुलती है जिसका समय इससे पूर्व का माना गया है[२]। कनिंघम महोदय इनको पाँचवी से सातवीं शताब्दी के बीच की बनी मानते हैं, क्योकि इनमे बने हुए चैत्य (स्तूप) बनावट मे सारनाथ (काशी) के धमेख (स्तूप) से—जिसका समय छठी या सातवी शताब्दी है—बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। उनके मत का दूसरा कारण यह भी है कि इन स्तूपो की निर्माण-शैली 'हिड्डा' के स्तूप के समान है जिसमें ईसवी सन् ४०८ से ४७४ तक राज करनेवाले 'थियोडोशियस', 'मार्शियस' और 'लियो' नामक राजाओ

१ रिपोर्ट आफ आर्कियोलोजिकल सर्वे ओफ इडिया, १६०५–६, पृष्ठ ११२

२. 'फर्गुसन'—"रोक्-कट् टेपल् ऑफ इडिया", पृष्ठ ४२

के सोने के सिक्के पाए गए हैं[1]। हेनरी कजिस के मतानुसार इनका निर्माण-काल आठवीं शताब्दी होना चाहिए[2]। यह बात पहले कही जा चुकी है कि धर्मनाथ का मदिर इलोरा के कैलास-मदिर के ढाँचे पर बनाया गया है, और उसके निर्माण का समय आठवी सदी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इससे यह अनुमान होता है कि इस मदिर के निर्माण का समय इलोरावाले मदिर के बाद का है।[3] हेनरी कजिंस का मत है कि धर्मनाथ का मदिर गुफाओं के पश्चात् बना है; क्योकि यदि ऐसा न होता तो इसमे प्रवेश करने के लिये पहाड़ी मे कटा हुआ लंबा मार्ग गुफाओं की तरफ से ही बनाया जाता, जो छोटा और सुगम होता। उस समय गुफाओ मे बौद्ध-श्रमण निवास करते थे और उनके साथ ब्राह्मण-धर्मावलंबियों का 'मेलजोल था, इसलिये मदिर का मार्ग दक्षिण की ओर से गुफाओ को काटकर न बनाते हुए पूर्व की तरफ से ही बनाया गया[4]। पुन: 'बाड़ोली' के मदिर से इसकी समानता होने के कारण फर्गुसन ने इसका निर्माण-काल ई० सन् की आठवीं या नवो सदी माना है[5]। इन विचारो के आधार पर हम कह सकते है कि ये गुफाएँ तथा यह मदिर दोनो ईसा को आठवीं सदी मे बने होगे।

१. 'कनिघम'—रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, जिल्द २, पृष्ठ २७६
२. रिपोर्ट आफ आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, १६०५-६, पृष्ठ ११२
३. आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इडिया रिपोर्ट, १६०५-६, पृष्ठ ११२
४. वही रिपोर्ट, पृष्ठ ११२
५. 'फर्गुसन'—रॉक्-कट् टेंपूल् ऑफ इडिया, पृष्ठ ४४

उपालंभ

देखा नाथ पतित का रूप!
देखा होगा कभी न तुमने ऐसा पाप-स्वरूप॥
भेद खुला तब झिझक उठे तुम करुणा के अवतार!
घृणा-भाव से दूर खड़े हो किया नहीं स्वीकार॥
पूछ रहे हो तिस पर हँसकर कहिए क्या है हाल!
यह व्यवहार तुम्हारा कैसा करते क्यों न खयाल॥
आशा थी अपनाओगे तुम बनकर दयानिधान।
किंतु दिया दुतकार निठुर हो छोड़ सदा की बान॥

देवीदत्त शुक्ल
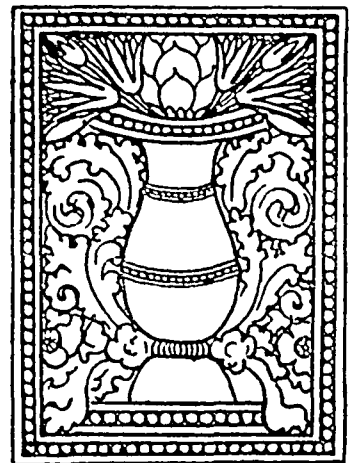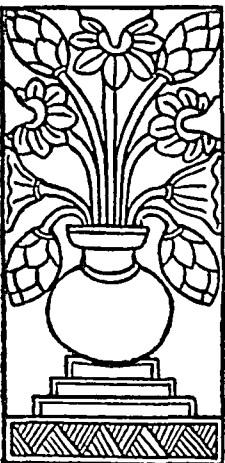
बुद्धि नापने की वैज्ञानिक प्रणालियाँ उनकी आवश्यकता और उपयोग

रायबहादुर लज्जाशंकर झा, एम० ए०, आइ० ई० एस्०

वर्तमान युग शुद्ध परिमाणों का है

वर्त्तमान पाश्चात्य सभ्यता की एक बहुत बडी विशेषता यह है कि उसमे सभी बातो—समय, विस्तार, दूरी, गति आदि—के सूक्ष्म एव शुद्ध परिमाण को परम महत्त्व दिया जाता है। प्राचीन समय में हम लोग नाडी देखकर ही किसी व्यक्ति के स्वास्थ्य का अनुमान कर लेने मे संतुष्ट रहते थे, परतु आज-कल डॉक्टर लोग एक शुद्ध थर्मामीटर का उपयोग अनिवार्य समझते हैं, और जब तक वह निश्चित नियमो के अनुसार व्यवहार मे न लाया जाय तब तक उसके अक को सतोषजनक नही मानते। स्वास्थ्य की ठीक-ठीक परीक्षा के लिये वे केवल शरीर-ताप को ही नही, किंतु एक मिनट के हृदयस्पदन की संख्या तथा प्रतिशत के हिसाब से मूत्रादि शारीरिक पदार्थों के विभिन्न अवयवों की मात्रा आदि बहुत-सी बातो का ठीक-ठीक निकालना आवश्यक समझते हैं। इसी प्रकार, दूरी नापने के लिये निश्चित दशाओ मे एक नियत लबाई का प्रयोग किया जाता है। एक गज की लंबाई गर्मी के प्रभाव से थोडी बढ सकती है तथा ठढ के असर से घट सकती है, अतएव यथार्थ लंबाई नापने के लिये यह निश्चित करना आवश्यक समझा जाता है कि उनकी लबाई ताप-सबधी किसी नियत अवस्था मे ठीक समझी जाय। पुनः इसी प्रकार, तौल मे भी शुद्धता का ध्यान रक्खा जाता है। शक्ति अथवा प्रकाश आदि को ठीक-ठीक नापने के लिये यथोचित इकाइयाँ स्थित कर ली गई हैं—जैसे हॉर्स-पॉवर, कैंडल-पॉवर आदि। वेग निकालने मे सेकड के अंशो तक का हिसाब रक्खा जाता है। हम अब यह जानकर सतुष्ट नहीं होते कि कौन-सा लडका सबसे अधिक तेज दौडता है, परंतु स्टॉपवाच द्वारा हम उसके वेग को सप्रयत्न सेकड के अंशो तक शुद्ध निकालकर उसकी तुलना अन्य विख्यात दौडनेवालों के वेग से करते हैं।

वास्तव मे मनुष्य-जीवन के प्रत्येक प्रकरण मे सूक्ष्म परिमाण को बडा महत्त्व दिया जा रहा है। हमारा काम अब अस्पष्ट सामान्य अनुभवो अथवा स्थूल परिमाणो से कदापि नही चल सकता।

शुद्ध एव सूक्ष्म परिमाणो द्वारा हमारे कार्यों मे सफलता होती है और कार्यक्षम राष्ट्र शीघ्र ही उन्नत हो सकते हैं। आज-कल युद्ध-सेना की सफलता इस बात पर निर्भर नहीं रहती कि उसके प्रत्येक सैनिक अथवा सेनापति मे कितना शारीरिक बल, कितना साहस अथवा कितना वीरत्व भरा हुआ है, परतु उसकी अधिकांश सफलता का श्रेय सेनाओ के सचालन अथवा गोलो के दागने के लिये ठीक-ठीक समय के निरूपण मे रहता है। एक भारतीय सैनिक अफसर ने फ्रांस से लौटने पर मुझे एक बृटिश सेनापति के जर्मन खाई पर आक्रमण करने का मनोरजक वृत्तांत सुनाया था। जर्मन खाई काँटेदार तारों से घिरी हुई थी, अतएव यह आवश्यक समझा गया कि जर्मन लोगों को पहले रक्षाच्युत कर दिया जाय। सेनापति ने लगभग सोलह सौ फौजी तोपो को लगवाकर उनमें से प्रत्येक को उस घेरे के एक विशिष्ट भाग को नष्ट कर देने का कार्य सौप दिया।

वर्तमान युद्ध-प्रणालियों मे शुद्ध परिमाणो तथा ऊँचे मस्तिष्कों की आवश्यकता।

तोपो की प्रत्येक श्रेणी के अफसर ने तार के घेरे की दूरी का ठीक-ठीक हिसाब लगा लिया था। गोलो के दागने का ठीक समय भी निर्धारित कर लिया गया, और वह पैदल सेना—जिसमे हमारे भारतीय अफसर महोदय भी थे—चार मील आगे ही जर्मन खाई पर आक्रमण करने को तैयार रहने के लिये भेज दी गई थी। इस सेना को यह आदेश दे दिया गया था कि ज्यो हो तोपों का दगना बंद हो त्यो ही वह जर्मन खाई पर हमला कर दे। प्रत्येक छोटी से छोटी बात की व्यवस्था सूक्ष्मतम रूप मे, तथा सेकड के अंशो तक का हिसाब लगाकर, कर ली गई थी। प्रात:काल निश्चित समय पर तोपो का दगना शुरू हो गया। सारी तोपे आठ बार दागी गई। जैसे ही उनका दागना बद किया गया वैसे ही भारतीय सेना नियत समय पर पहुँच जाने के लिये शीघ्रता के साथ जर्मन खाइयों की ओर बढ़ी। परंतु दुर्भाग्य से सारी व्यवस्था मे कही पर चूक हो गई थी, सेना की डोगर-पलटन खाई तक पहुँचकर देखती क्या है कि उसके सामने का घेरा नष्ट नही हुआ! अतएव उसे रुक जाना पडा और जर्मन लोगों ने खाई की आड़ से मशीनगनों द्वारा उसे बुरी तरह से छिन्न-भिन्न कर दिया। अन्य तीन पलटनों के सामने का घेरा नष्ट हो गया था, अतएव ये तीनों दल आगे बढ़ गए। डोगरा-दल के सामनेवाले जर्मनों ने डोगरो का काम तमाम करके आगे बढ़े हुए दलो पर पीछे से गोलियो की वर्षा करना आरंभ कर दिया। दोनों ओर से आती हुई गोलियो के सामने वे ठहर न सके, उन्हें पराजय स्वीकार करनी पडी। एक-एक शेल (तोप का गोला) का मूल्य, उसके आकार के अनुसार, तीस हजार से एक लाख रुपए तक हो सकता है! उस दिन सुबह बारह हजार आठ सौ शेल (Shell) छोड़े गए थे, अतएव आप स्वय अनुमान कर सकते हैं कि सरकार की कितनी बड़ी हानि हुई! इसके अतिरिक्त उन तीन-चार सहस्र मनुष्यों के विषय मे क्या कहा जाय, जिनमे से बहुत-से मारे गए और बहुत-से घायल हुए तथा शेष कैद कर लिए गए। उक्त भारतीय अफसर महोदय मुझे यह न समझा सके कि तारो के घेरे के उस भाग को गोले क्यो न नष्ट कर सके, परतु मेरा यह अनुमान है कि या तो तोप दागनेवाले सैनिक उसकी दूरी ठीक-ठीक न निकाल सके, इसलिये गोले आगे निकल गए, अथवा वे गोले एक-दो सेकंड पहले ही हवा मे फूट गए जिसका फल यह हुआ कि धन, जन

तथा प्रतिष्ठा की इतनी घोर हानि हुई। आधुनिक जीवन मे समय, दूरी, विस्तार, शक्ति एव बल आदि को ठीक-ठीक नापने मे बड़ी ही सावधानी की आवश्यकता है। जरा-सी भूल का बड़ा ही भयंकर परिणाम हो सकता है।

मैने युद्धक्षेत्र का दृष्टांत इसलिये लिया है कि लोकमत के अनुसार युद्ध मे दिमाग की आवश्यकता ही नही समझी जाती, वहाँ शारीरिक बल ही सब कुछ समझा जाता है। किंतु वास्तव मे यह बात नही है। जीवन के प्रत्येक मार्ग में ऊँचे दिमाग के नेतृत्व की आवश्यकता है। अल्प बुद्धिवाला चाहे जिस जीवनवृत्ति को ग्रहण करे, वह उसमे अवश्य ही पिछड जाएगा। पक्षपातिता अथवा सांप्रदायिक या जातीय विचार चाहे किसी अयोग्य व्यक्ति को ऊपर उठा दे, अथवा योग्य को नीचे गिरा दे, परतु लवनशीलता का नियम भी इतना दृढ़ नही जितना यह कि कुशाग्र बुद्धि मनुष्य को अवश्य ही ऊपर उठावेगी और मद बुद्धि उसे नीचे डाल देगी। अतएव, राष्ट्रनिर्माण के दृष्टिबिंदु से यह बात परम महत्त्व की है कि यथावसर तीव्र बुद्धिवाले बच्चे पहचान लिए जायँ और उनकी प्रबलतम प्रकृति के अनुसार उन्हे उचित शिक्षा प्रदान की जाय। उनके स्वास्थ्य, शिक्षा तथा परिस्थिति पर विशेष ध्यान देना हमारा कर्त्तव्य है। कारण, यही बच्चे आगे चलकर राष्ट्र के नेता, विचार-प्रवर्त्तक विद्वान्, प्रमुख व्यवसायी, राजनीतिज्ञ, सेनापति अथवा शासक आदि हो सकते हैं। अब, जब कि भारतीयो को उच्चतम पदो पर पहुँचने के लिये अधिकाधिक अवसर प्राप्त होते जा रहे हैं, यह और भी आवश्यक है कि हम कुशाग्रबुद्धि बालक-बालिकाओ को चुनकर उन्हे ऐसी शिक्षा दे और ऐसे रास्ते पर लगावे कि जीवन मे उन्नत होने के लिये पूर्ण अवसर एव अवकाश प्राप्त हो। उन दिनों से अब कितना अंतर हो गया है जब हमने अपनी जीवनवृत्ति का आरभ किया था, और जब हमारी उच्च से उच्च आकांक्षा यह होती थी कि किसी प्रकार डिपुटी-कलक्टर हो जायँ अथवा कोई अफसरी मिल जाय। उन स्थानों मे जीवन अधिक से अधिक एक तत्त्व-रहित दर्शनी हुडी के समान रह सकता है। मुझे तो यह देखकर कि आज-कल नवयुवको के सामने इतने मार्ग खुले पडे है, कभी-कभी ईर्ष्या-सी होती है। परतु उनका हित तभी हो सकता है जब हम उनके प्रकृति तथा गुणो का भली भाँति परिशीलन करके उन्हे उचित वृत्ति ग्रहण करने का रास्ता दिखावे और यथोचित सुअवसर प्रदान करे। उन छोटे-छोटे बच्चो के लिये, जिनकी शिक्षा का आरभ होने जा रहा हो, यह और भी आवश्यक है कि उनकी जन्मप्राप्त बुद्धि तथा ग्रहण-शक्ति ठीक-ठीक नाप ली जाय। तीव्र बुद्धिवाले बालक के लिये यह आवश्यक नही कि वह प्राइमरी स्कूल के पाठ्यक्रम को चार ही वर्ष मे, अथवा हाई स्कूल के पाठ्यक्रम को छः ही वर्ष मे, समाप्त कर सके। वह डाकगाडी की भाँति अधिक दूरी को थोडे ही समय मे तय कर सकता है। उसे मालगाड़ी की रफ़्तार से चलने के लिये बाध्य करना समय और शक्ति को नष्ट करना है। वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली ठीक इसी दोष से दूषित हो रही है। उसमे सभी बालकों को, चाहे वे विशेष बुद्धिवाले हों या साधारण अथवा अल्प बुद्धिवाले, एक ही रफ़्तार से चलना पड़ता है। यह, विशेष बुद्धिवाले बालक को, उसकी बुद्धि-शक्ति के विकास के लिये पर्याप्त

(१) सभी ऊँचे कार्यों के लिये बडे दिमाग चाहिए।

(२) कुशाग्र-बुद्धि बच्चो को चुन लेने की आवश्यकता।

अवकाश न मिलने के कारण, अहितकर सिद्ध होता है। कभी-कभी वह उपद्रवी हो जाता है और बहुधा उसकी मानसिक अवस्था निश्चेष्ट होने लगती है तथा उसकी बुद्धि जग खा जाती है। फल यह होता है कि देश और समाज के एक बहुमूल्य रत्न का लोप हो जाता है। फिर, अल्प बुद्धिवाला बालक अपनी कक्षा की बराबरी पर नहीं पहुँच सकता। अतएव, उसे ऐसे कार्य के साथ माथापच्ची करनी पडती है जो उसके योग्य कदापि नही होता। इसका फल यह होता है कि वह नैराश्य का भाव ग्रहण कर लेता है। उसका जीवन दुःखित और अंत मे असफल सिद्ध होता है जिससे उसके आश्रित कुटुंबियो का जीवन भी कष्टमय हो जाता है। परतु, यदि उसी व्यक्ति की मानसिक क्षमता यथासमय ठीक-ठीक नाप कर उचित उपचार बतला दिया जाय तो वह समाज का योग्य सदस्य बन सकता है।

यथोचित जीवन-वृत्ति का निश्चय संभव हो जाता है।

मुझे इस समय सयुक्त-प्रदेश के सेक्रेटरिएट के एक महाशय की याद आ रही है जिनका उल्लेख यहाँ प्रासगिक समझता हूँ। चालीस वर्ष से ऊपर हुए, इन महाशय का लडका स्कूल मे पढ़ रहा था; किंतु उसकी प्रवृत्ति गणित अथवा व्याकरण या 'तोता-रटन' की ओर बिलकुल न थी। स्कूल से सदैव उसके प्रतिकूल सूचनाएँ आया करती थी, जिन्हे पाकर उक्त महाशय उसे गधे की तरह पीट डालते थे। पिता और पुत्र की इस कलह के कारण सारी गृहस्थी आनदरहित हो गई थी। पिता यह चाहते थे कि लडका अँगरेजी तथा गणित मे खूब तेज निकले और उनके अवकाश ग्रहण करने (रिटायर होने) के बाद सेक्रेटरिएट मे उन्ही की जगह पर नियुक्त हो जाय। मै पुत्र से भली भाँति परिचित था। उसकी प्रवृत्ति सगीत तथा यत्रकला की ओर उतनी ही दृढ़ थी जितनी सेक्रेटरिएट की ओर पिता की। मैं देखता था कि वह दूसरो की घड़ियो और साइकिलों को शौक से मुफ्त सुधार देता। मुझे विश्वास है कि उसे यदि इसी की दूकान खोलने का अवसर दिया जाता तो वह कम से कम उतना अवश्य पैदा कर लेता जितना उसके सुयोग्य पिता सेक्रेटरिएट मे कमाते थे। सगीत मे भी उस लडके की स्वाभाविक रुचि थी, उसका सुर भी बहुत मधुर था। परतु जब कभी उसके पिता उसे अपनी इष्ट वृत्तियो मे लगा हुआ पाते तब यूक्लिड (ज्यामिति) की प्रथम स्वयसिद्धि की भाँति उनकी लकड़ी उस बेचारे की पीठ पर आ धमकती—सिर्फ इसी लिये कि वह गणित की उपेक्षा करता था! आखिर वह लड़का सेक्रेटरिएट के योग्य कभी न हो सका और न पिता महोदय की अभिलाषा ही पूर्ण हुई! तब उन्होने उसे एक बैंक मे क्लर्क होने के लिये विवश किया। लगभग बारह वर्ष के उपरांत मैं उस लड़के से मिला। उसका सारा उत्साह भग हो गया था, स्वास्थ्य खराब हो गया था और उसे स्वयं अपने जीवन तथा संसार से विरक्ति-सी हो गई थी। काम करने मे उसकी तबीयत बिलकुल न लगती थी। उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो गया था। इसी कारण उसकी पत्नी तथा बच्चो का जीवन भी दुःखमय हो गया था। अंत मे उस बेचारे की अकाल मृत्यु हो गई। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह यदि ठीक रास्ते पर ले जाया जाता तो वह समाज का योग्य एव सफल सदस्य, तथा घरवालो और पडोसियो के लिये सुख का कारण, होकर दीर्घकाल तक जीवित रह सकता था। मेरा यह अनुभव नित्यप्रति हमारे आस-पास होनेवाली घटनाओ का एक दृष्टांत मात्र है। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि स्कूलो मे भी

बच्चे की स्वाभाविक प्रवृत्ति बहुत कम पहचानी जाती है। इसके अतिरिक्त, माता-पिता भी उसके भविष्य का पहले ही से निर्णय कर लेते है, उसकी प्रवृत्ति से परिचित होने की बिलकुल परवा नही करते। एक दक्ष मनोवैज्ञानिक केवल एक घंटे की परीक्षा के बाद उन बहुत-सी गूढ बातो को बतला देगा जिन तक शिक्षक अथवा रक्षक की दृष्टि ही नही पहुँचती।

इस संबंध मे दो प्रश्न स्वभावतः पूछे जा सकते हैं—(१) क्या स्कूली परीक्षाएं बालको की बुद्धि को ठीक-ठीक नही नापती? (२) यदि नही, तो प्रत्येक वस्तु का ठीक-ठीक परिमाण करनेवाले इस युग मे बुद्धि को नापने के लिये क्या किया जा रहा है? पहले प्रश्न का मेरा उत्तर नकारात्मक है। स्कूल की अथवा सार्वजनीन परीक्षाएँ जन्मप्राप्त बुद्धि का नही, किंतु उपलब्ध ज्ञान का निश्चय करती हैं। मनोवैज्ञानिक परीक्षाओ से यह सिद्ध हुआ है कि स्कूल म श्रेष्ठ बुद्धिवाले बालक बहुधा पहचाने नहीं जाते। टर्मन महोदय ने ऐसे सौ बालको की परीक्षा करके यह पाया कि उनमे से अधिकतर बालको को, उनके बुद्धि की अवस्था के अनुसार, स्कूल की जिस कक्षा मे होना चाहिए था उससे वे नीची कक्षा मे पढ़ रहे हैं। उनमें से लगभग एकतिहाई बालक अपनी स्वाभाविक बुद्धि के अनुसार 'डबल प्रोमोशन' के अधिकारी थे; परंतु उनके लिये वह अस्वीकृत कर दिया गया था। प्रतिभाशाली व्यक्ति भी यदि बहुत दिनो तक अति सरल कार्यो मे लगे रहे तो उनकी बुद्धि क्षीण होने लगेगी। मनोवैज्ञानिको के इन धारणाओ की सत्यता स्वयं हमारे अनुभवो द्वारा सरलता से प्रमाणित हो जाती है। स्कूल अथवा कालेज का तेजस्वी विद्यार्थी सदैव जीवन मे उतना ऊँचा नही उठता, और न साधारण विद्यार्थी ही सदैव अपने उत्तर जीवन मे मध्यम स्थिति का निकलता है। हम जानते हैं कि लार्ड क्लाइव स्कूल मे एक उत्पाती बालक था, नेल्सन भी कुछ अधिक अच्छा न था, रवींद्रनाथ को अपने स्कूल-जीवन से घृणा हो गई थी। स्कूल अथवा विश्वविद्यालय न प्रतिभा-संपन्न बालकों को चुन ही सकते हैं और न उन्हे आश्रय ही दे सकते हैं। बहुत-से लोग, जो बुद्धिवैभव के कारण अपनी-अपनी जीवनवृत्तियो मे सर्वोच्च पद ग्रहण कर चुके हैं, स्कूल मे बिलकुल होनहार न समझे गए थे। स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभव से मै दो उदाहरण दे सकता हूँ। सर तेजबहादुर सप्रू स्कूल मे एक बिलकुल साधारण विद्यार्थी समझे जाते थे, और स्वर्गीय डॉक्टर सर सुंदरलाल का कालेज-जीवन केवल साधारणतया संतोषप्रद रहा था। आज-कल कितने प्रमुख व्यवसायी अथवा व्यापारी, विचारप्रवर्त्तक विद्वान् अथवा आंदोलनो मे अग्रसर होनेवाले नेतागण, ऐसे हैं जो स्कूल अथवा विश्वविद्यालय मे प्रतिष्ठित विद्यार्थि-जीवन व्यतीत कर चुके हैं? सारी बात का निश्चयात्मक सारांश यह है कि स्कूल अथवा कालेज के अधिकारी, बालक की वास्तविक महत्ता को आरंभ मे ही नापने मे, बहुत कम समर्थ होते हैं।

स्कूली परीक्षाएँ विश्वसनीय नही होती।

इसी कारण मनोवैज्ञानिक लोग अर्से से इस समस्या के हल करने मे, तथा बच्चों की स्वाभाविक बुद्धि को नापने की सर्वोत्तम पद्धति ढूँढ़ निकालने मे, जुटे हुए हैं। सहस्रों बच्चों की परीक्षा लेकर तथा उन पर प्रयोग करके कुछ परीक्षा-प्रणालियाँ नियत कर ली गई हैं। इनमे से सबसे प्रचलित ये हैं—(१) परिशोधित तथा परिवर्धित साइमन और बेनेट की प्रणाली जो व्यक्तिगत परीक्षा के लिये

उपयुक्त है। (२) ऐल्फा प्रणाली अथवा वर्गप्रणाली जिसका प्रयोग अमेरिका मे—सेना और पुलिस के प्रवेशार्थियो तथा विभिन्न व्यवसाय-वृत्तियो को ग्रहण करने के इच्छुक व्यक्तियो की योग्यता के जाँच करने मे—बहुत हो रहा है। परीक्षाओ के ये साधन बहुत ही सरल तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओ पर निर्धारित हैं। यदि मै आपको उनमे से कुछ पढकर सुनाऊँ, तो आप कहेगे कि ये तो माता-पिता, बडे भाई-बहन अथवा अध्यापको द्वारा भी प्रयुक्त हो सकते हैं। किंतु ऐसा नही है। नियत परीक्षा-विधान से जरा भी इधर-उधर हो जाने से फल बिलकुल अशुद्ध निकलता है। परीक्षा के समय माता-पिता आदि की मुखाकृति पक्षपातवश ऐसी हो जाना बहुत सभव है जिससे स्वय परीक्षार्थी को यह विदित हो जाय कि वे किस प्रकार का उत्तर चाहते हैं। अध्यापक मे भी उक्त प्रवृत्तियाँ तथा पक्षपात होते हैं और वह दक्ष मनोवैज्ञानिक भी नहीं होता। पूछे जानेवाले प्रश्नो का एक-एक शब्द निर्धारित कर लिया गया है। उनमे जरा भी हेरफेर होने से जाँच बिगड़ जाती है। अतएव योरप और अमेरिका मे मनोवैज्ञानिकों का एक नया पेशा चल पडा है। इनका कार्य स्कूल के बच्चो की परीक्षा लेना तथा उनके लिये उचित मानसिक उपचार निर्दिष्ट करना होता है। भिन्न भिन्न नौकरियो के प्रवेशार्थियो की परीक्षा लेने तथा उनकी बुद्धि-विषयक योग्यता को नापने के लिये भी वे नियुक्त किए जाते हैं। डॉक्टरों की भाँति वे भी मानसिक रोगियों के मर्ज पहचानने के लिये बुलाए जाते हैं। बडे-बडे व्यवसायियों को तथा मजदूरों के मालिकों को अब यह पता चल गया है कि किसी को अटकलपच्चू ही नियुक्त कर लेने, उसे सिखाने मे समय और शक्ति का व्यय करने, तथा कुछ महीनों के बाद उसे अयोग्य पाकर किसी छोटी जगह मे बदल देने से इसमे कही अधिक किफायत है कि किसी मनोवैज्ञानिक को अच्छी फीस दी जाय और उसकी सलाह लेकर खाली जगह के लिये एक उपयुक्त व्यक्ति नियुक्त कर लिया जाय। माता-पिता तथा रक्षकों को भी अब इसी बात मे फायदा नजर आ रहा है कि मनोवैज्ञानिकों द्वारा बच्चों की परीक्षा करा लेने के बाद ही उनके उचित मानसिक उपचार किए जायँ। जीवन-क्षेत्र मे उतरनेवाले नवयुवकों तथा नवयुवतियों को भी विश्वास हो गया है कि मनोवैज्ञानिक के निर्देश से जीवन की ग्रहणीय वृत्ति का ठीक-ठीक निश्चय हो जाता है और इस प्रकार असफलता की सभावना बहुत कम रह जाती है।

(१) बुद्धिपरीक्षा के साधन, (२) माता-पिता तथा शिक्षक इनका सफलतापूर्वक उपयोग नही कर सकते।

ये बुद्धिमापक साधन इस सिद्धांत पर निर्धारित होते हैं कि बच्चे की स्वाभाविक बुद्धि का विकास सोलहवे वर्ष तक होता रहता और फिर बद हो जाता है। बाद मे कोई भी व्यक्ति स्कूल अथवा कालेज मे विद्या प्राप्त कर सकता है, परतु उसकी स्वाभाविक बुद्धि का विकास रुक जाता है। हजारों मनुष्यों की जाँच के उपरांत यह निश्चित कर लिया गया है कि सोलह वर्ष तक की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे साधारणतया प्रत्येक बालक मे कितनी बुद्धि होनी चाहिए। जाँच के लिये जो प्रश्न रक्खे गए हैं वे मस्तिष्क की उच्चतर गतियों की परीक्षा करने का प्रयत्न करते हैं। जैसे—तर्क-शक्ति, युक्तियाँ ढूँढ़ लेने की शक्ति तथा गूढ़ बातों पर निर्णयात्मक सम्मति देने की शक्ति। अंत मे बेनेट के अनुसार वे सामान्य

परीक्षा के सिद्धांत, और बुद्धिलब्धि।

बुद्धि की—स्कूली ज्ञान तथा घर की शिक्षा की नही—परीक्षा लेते हैं। अर्थात् पढ़ने की शक्ति नहीं, वरन् गुनने की शक्ति मापी जाती है। क्रमशः तीन से पंद्रह वर्ष तक के वालकों के निमित्त प्रत्येक वर्ष के लिये प्रश्नावलियाँ तैयार कर ली गई हैं। जो वालक जिस वर्ष की प्रश्नावली निकालने मे सफल होता है उसकी वुद्धि उसी वर्ष की कही जाती है। मान लीजिए कि आठ वर्ष का कोई वालक अष्टवर्षोचित प्रश्नावली को सफलतापूर्वक हल कर लेता है तो उसकी मानसिक अवस्था भी आठ वर्ष की ही कही जाएगी। इस दशा मे उसकी 'वुद्धि-लब्धि' एक सौ नियत की जाती है। परंतु यदि वही वालक नव वा दश वर्षोचित प्रश्नावलियो को सफलतापूर्वक हल कर ले तो उसकी मानसिक अवस्था नव वा दस वर्ष की कही जाएगी। मानसिक अवस्था को सौ से गुणित करके शारीरिक अवस्था की वर्ष-सख्या से भाग देने पर जो 'लब्धि' प्राप्त होती है उसे ही 'वुद्धि-लब्धि' कहते हैं। कुछ वालक ऐसे होते हैं जिनकी मानसिक अवस्था शारीरिक अवस्था से अधिक होती है, अतः उनकी वुद्धि-लब्धि एक सौ से ऊपर होगी। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनकी कम होती है, अतः उनकी वुद्धि-लब्धि एक सौ से कम होगी। परीक्षा द्वारा सहस्रों वच्चों की वुद्धि-लब्धि निकालकर मनोवैज्ञानिको ने वालकों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

वुद्धि-लब्धि	वुद्धि	वुद्धि-लब्धि	वुद्धि
(१) १५० से अधिक	प्रतिभा-सपन्न	(५) ९० से ११० .	साधारण
(२) १४० " १५०	प्राय· प्रतिभा-सपन्न	(६) ८० " ९०	मद
(३) १२० " १४० .	अत्युत्कृष्ट	(७) ७० " ८० .	प्राय हीन
(४) ११० " १२० .	उत्कृष्ट	(८) ७० " कम .	हीन

इस सवध मे किए गए अन्वेषणों के फल-स्वरूप हमें तीन तथ्य ज्ञात होते हैं—(१) वालक की स्वाभाविक वुद्धि प्रकृतिप्रदत्त होती है, यह वात माननी पड़ेगी कि स्कूली शिक्षा उसके विकास में सहायक नही होती, चाहे इस कथन को अध्यापकगण नापसंद भले ही करे। (२) स्कूल अथवा कालेज मे वालक के उपलब्ध विद्या की वृद्धि वुद्धि-लब्धि के भूमिति-समानुपात मे होती है। (३) वालक की वुद्धि-लब्धि पर वशपरपरा का बहुत वडा प्रभाव पडता है, मदवुद्धि अथवा अल्पवुद्धि माता-पिताओं के वच्चों की वुद्धि-लब्धि वहुधा कम होती है।

(१) होनहार वच्चो की देख-भाल। (२) देश के लिये उनका महत्त्व।

वुद्धि-परीक्षा द्वारा यह प्रकट हो चुका है कि कुछ—यद्यपि विरले ही—वच्चो की वुद्धि-लब्धि एक सौ अस्सी तक पहुँच सकती है। एक सौ चालीस के ऊपर वुद्धि-लब्धिवाले वच्चे केवल कुटुव के ही नही, किंतु सपूर्ण राष्ट्र के वहुमूल्य रत्न समझे जा सकते हैं। यदि उनके स्वास्थ्य की देखभाल भली भाँति की गई और उनकी वुद्धि-शक्ति के विकास तथा विद्या की वृद्धि के लिये पूर्ण अवकाश वा अवसर प्रदान किया गया तो वे राष्ट्र के नेता, विचार-प्रवर्त्तक विद्वान्, व्यवसायो के अधिनायक आदि निकल सकते हैं। उन्हे पूर्ण अवसर देने के लिये सर्वोच्च कोटि की शिक्षा देनी चाहिए। यदि उनके माता-पिता निर्धन हो तो देश की भलाई के लिये हमारा यह कर्त्तव्य है कि उन्हे पूरी सुविधाएँ दे। ऐसे वालक तथा वालिकाओ को सहारा देना एक प्रकार से राष्ट्र की सेवा करना है।

फिर, केवल उन्ही बालको को—जिनकी बुद्धि परीक्षा द्वारा उत्कृष्ट अथवा अत्युत्कृष्ट निकले—विश्वविद्यालय मे पढ़ने के लिये उत्साहित करना चाहिए। मै समझता हूँ कि उत्कृष्ट बुद्धिवाले बालकों को जीवन मे अवसरच्युत करना भूल है, और यह भी उतनी ही बडी भूल है कि निम्न बुद्धिवाले बालक विश्वविद्यालय मे पढ़ने के लिये उत्साहित किए जायँ। फेल होते-हवाते वे डिग्री प्राप्त कर सकते हैं, किंतु निम्न-बुद्धि-लब्धि के कारण जीवन मे उनका पिछड जाना अवश्यंभावी है। यह भी सभव है कि उनका जीवन ही असफल हो जाय। उन पर खर्च किया गया सारा रुपया बरबाद हो जाता है। यदि उसी रुपए से वे अपनी योग्यता के अनुसार किसी धधे मे लगा दिए जाते तो उसका सदुपयोग हो सकता था। साधारण से कम बुद्धि-लब्धिवाले ऐसे लोगों के दृष्टांत, जो क्रियात्मक कार्यों को सफलतापूर्वक करते हुए मजे की जिंदगी बिताते हैं, प्रचुरता से दिए जा सकते हैं। मैंने एक बार एक अष्टवर्षीया बालिका की परीक्षा ली तो उसकी बुद्धि-लब्धि एक सौ पचास निकली। स्पष्टत: वह बडे ही उच्च जीवनचर्या के योग्य थी। उच्च शिक्षा द्वारा उसे अपने जीवन मे पूर्ण योग प्राप्त हो सकते थे। परन्तु उसके कुटुंबियो ने ग्यारह वर्ष की आयु मे ही उसका विवाह कर दिया! नए घर का वातावरण उसके अनुकूल होने के बदले ठीक उसके विपरीत था! बेचारी को परदे या घर की चहारदीवारी के अंदर रहकर, गृहशासिका द्वारा दी गई सारी यातनाओ को भुगतते हुए एक परतंत्र बदी की भाँति, सकुचित जीवन से ही सतोष करना पडा। उसकी बुद्धि-विभूति देश के कुछ काम न आ सकी! मेरा यह विश्वास है कि उसमे मानसिक निश्चेष्टता का अवश्य ही आरभ हो गया होगा। अँगरेजी कवि 'ग्रे' ने अपनी प्रसिद्ध 'एलेजी (Elegy, करुण गीत)' मे सत्य ही कहा है—"महासागर के अगाध-अंधकारयुक्त खोहों मे अनेकानेक उज्ज्वल-प्रभायुक्त रत्न छिपे रहते हैं। अनेकानेक पुष्प अदृश्य मे ही विकसित होकर शुष्क वायु मे अपने सारे सौरभ को विलीन कर देते हैं[१]।" सचमुच छोटे-छोटे बच्चो के रूप मे कितने ही बहुमूल्य रत्न और कितने ही सौरभयुक्त पुष्प हमसे अदृश्य पड़े हैं, जिन पर न लेशमात्र ध्यान ही दिया जाता है और न जिनके स्वाभाविक गुणो को किंचिन्मात्र विकास का अवकाश ही मिलता है! आधुनिक बुद्धिमापक साधनों द्वारा ऐसे बच्चे तुरत ही पहचान लिए जा सकते हैं। राष्ट्र-शक्ति की रक्षा के इच्छुको का यह कर्त्तव्य है कि वे उन्हे सर्वोत्तम अवसर एव यथेष्ट अवकाश प्रदान करने का यथाशक्ति प्रयत्न करे।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि. सयुक्त-राज्य-(अमेरिका)-सरीखे उन्नत देशो मे भी ऐसे बच्चे बहुत कम—कठिनता से ० ५%—पाए जाते हैं जो प्रतिभा-सपन्न के वर्ग मे रखने योग्य हो। भारतवर्ष मे बुद्धि-परीक्षा के कार्य का आरभ तक नहीं हुआ है, इसलिये यह बतलाना असभव है कि यहाँ बुद्धि का विभाजन किस प्रकार का है। कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न कर सकता है कि उस राष्ट्र के जनता की सामान्य बुद्धि-लब्धि कितनी ऊँची है, अथवा जनता किन सख्याओ मे साधारण बुद्धि से ऊँचे तथा नीचे वर्गो मे रक्खी जा

बुद्धि का विभाग

१ Full many a gem of purest ray serene
The dark unfathomed caves of ocean bear,
Full many a flower are born to blush unseen,
And waste their fragrance in the desert air

सकती है। किसी भी राष्ट्र की आपेक्षिक बुद्धि-विभूति का अनुमान केवल इसी प्रकार किया जा सकता है। अमेरिका के बच्चों के लिये, निश्चित परीक्षा-साधनो द्वारा, निम्नलिखित अक प्राप्त किए गए हैं—

(१) प्रतिभा-सपन्न	५५ प्रतिशत	(५) मद	२० प्रतिशत
(२) अत्युत्कृष्ट बुद्धि	२३ ”	(६) प्राय. हीन बुद्धि	८६ ”
(३) उत्कृष्ट बुद्धि	६ ”	(७) हीन बुद्धि	२३ ”
(४) साधारण	४० ”	(८) भ्रष्ट बुद्धि	३३ ”

वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली मे सभी बच्चे बराबर समझे जाते है। उसमे उपर्युक्त सभी कोटियो के बच्चे साथ-साथ पढ़ते तथा काम करते है, और सरकारी नियमो के अनुसार यह अनिवार्य होता है कि प्रत्येक बच्चा प्रत्येक श्रेणी मे एक वर्ष तक पढे। इसका फल यह होता है कि उक्त प्रथम एव द्वितीय वर्ग के बच्चे अन्य बालको मे विलीन हो जाते हैं। ऐसे बच्चो का 'डबल प्रोमोशन' पाकर समय बचा लेना विरल-दृष्ट है। स्कूल के अधिकारी 'डबल प्रोमोशन' देने से घबराते हैं। उनकी इस विमुखता के ये कारण हो सकते हैं—(१) कार्य-विमुखता मात्र, (२) असाधारणतया अच्छे विद्यार्थियो के अलग न करने की स्वाभाविक इच्छा, तथा (३) यह परपरागत विश्वास कि अकाल-प्रौढ़ बालकों पर रुकावट न डालने से उनको घोर शारीरिक अथवा मानसिक विपत्ति का भय रहता है। इधर कुछ वर्षो मे मनोवैज्ञानिको द्वारा किए गए अन्वेषणो से पता चलता है कि असाधारण बुद्धिवाले बच्चो का स्वास्थ्य उतना ही होना चाहिए जितना दूसरे बच्चों का, उनकी योग्यता सामान्य होती है, विशेष विषयों की नही, वे साधारण से अधिक अध्ययनशील होते है, उनमे कोई भारी दोष नही होता, वे सदैव सगतिप्रिय होते हैं, दूसरे बच्चे उनके साथ खेलने के इच्छुक रहते हैं, दूसरे बच्चों की अपेक्षा वे अधिकतर अगुआ होते हैं, और गुण-सपन्न होने पर भी वे शायद ही कभी घमंडी अथवा अहमन्य होते हैं। कक्षाओ मे बैठालने की वर्त्तमान प्रणाली उनके लिये ठीक नही पड़ती, क्योकि इसमे उन्हे बहुधा ऐसा काम करना पडता है जो उनकी बुद्धि-शक्ति से निम्न कोटि का हो। यदि उन्हे ऐसा कार्य न दिया जाय जिसमे उनकी पूरी शक्तियो का उपयोग हो तो सदैव के लिये उनके स्वभाव मे कार्यक्षमता के कम हो जाने का भय रहता है। उनके लिये, अति कार्यभार का नही, अल्प कार्यभार का भय रहता है, बहुधा स्कूल में पर्याप्त कार्य न मिल सकने के कारण ,वे उपद्रवी हो जाते हैं। परतु, जैसा आरभ मे ही कहा जा चुका है, स्कूलो का ध्यान उपलब्ध ज्ञान पर ही केंद्रित रहता है। इस कारण वे सदैव श्रेष्ठ बालको को पहचानने मे समर्थ नही होते। यही नही, बहुधा उनके विषय मे भ्रम फैल जाता है तथा उनके विरुद्ध कार्रवाई की जाती है। यह कार्य मनोवैज्ञानिको का ही है कि वे उन्हे वर्ग अथवा व्यक्तिगत परीक्षा-साधनो द्वारा पहचाने और प्रकाश मे लावे। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, किसी देश का भावी कल्याण इन बच्चो की ठीक शिक्षा पर ही बहुत कुछ अवलबित रहता है। देश के सभ्यता की उन्नति अथवा अवनति विज्ञान, राजनीति, कला, सदाचार तथा धर्म के निर्माण की शक्ति से पूर्ण विचारको तथा अग्रगामियों

तीव्रबुद्धि बच्चो के लिये विशेष स्कूलो की आवश्यकता।

के आगे बढ़ने पर ही निर्भर रहती है। साधारण योग्यता के लोग अनुगमन अथवा अनुकरण कर सकते हैं, किंतु प्रतिभा-सपन्न अवश्य ही मार्ग-प्रदर्शक होता है। हम लोग अपने देश मे प्रतिभा-सपन्न बच्चो को पहचानने, उन्हे आगे बढ़ाने तथा उनकी शक्तियों के सदुपयोग करने के लिये क्या कर रहे हैं? उदाहरणार्थ—बनारस शहर मे ही कम से कम एक दर्जन हाई स्कूल और बीसियों प्राइमरी तथा मिडिल स्कूल होगे। परतु क्या यहाँ कोई ऐसी भी संस्था है जो प्रतिभाशाली बालकों को विशेष सुविधाएँ प्रदान करती हो? उन्हे अपने पाठ्यक्रम को कम से कम समय मे ही समाप्त करके आगे बढ़ने मे सहायता देती हो? यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कारण, अभी हमारे यहाँ मनोवैज्ञानिक ही नहीं हैं जिनके द्वारा ऐसे बच्चे चुने जा सकें। यही नही, हमे एक बात और भी करनी है। साइमन, बेनेट और ऐल्फा परीक्षाएँ योरप और अमेरिका के बच्चो को ही सफलता के साथ जाँच सकती हैं। भारतीय वातावरण मे पले हुए बच्चों के लिये उनका यथोचित संशोधन तथा भारतीय भाषाओं मे रूपांतर हो जाना आवश्यक है। लगभग बारह वर्ष हुए, मैंने इन प्रश्नावलियों का परिवर्त्तन भारतीय बच्चो के योग्य बनाने के लिये किया था, और उनके हिंदी-रूपांतर के साथ-साथ भाषा भी, विद्वानों द्वारा सूक्ष्म समालोचना एव समीक्षा कराने के पश्चात्, निश्चित कर ली गई थी। ये पर्चे भारत-सरकार को, उसके माँग भेजने पर, दे दिए गए थे। किंतु वहाँ वे दाखिल-दफ्तर कर दिए गए! मैंने कठिन परिश्रम के बाद जो पर्चे तैयार किए थे उनका पता नहीं है! इन प्रश्नावलियो का विस्तृत प्रयोगो द्वारा ठीक-ठीक रूप निश्चित कर लेना आवश्यक है। मैं आशा करता हूँ कि कोई उत्साही मनोवैज्ञानिक इस कार्य को अपने हाथ मे लेगा।
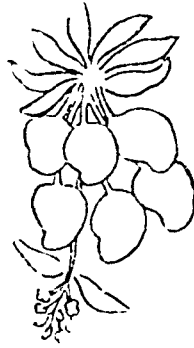
शिशु के प्रति

मृदुल! तुम्हारे लघु अंगो मे
छिपा एक सौंदर्य महान,
जो भविष्य के शुभ नयनो मे
पाएगा अक्षय सम्मान।

नवल! तुम्हारे इन पलकों मे
ज्योतिर्मय का प्रथम विकास,
तुम्ही विश्व के अंध हृदय मे
छिटकाओगे शुभ्र प्रकाश।

मेरे चुंबन के सिंचन से
खिले तुम्हारा कोमल गात,
ज्यों दिनकर से चुंबित होकर
खिल-खिल उठते हैं जलजात।

शांतिप्रिय द्विवेदी
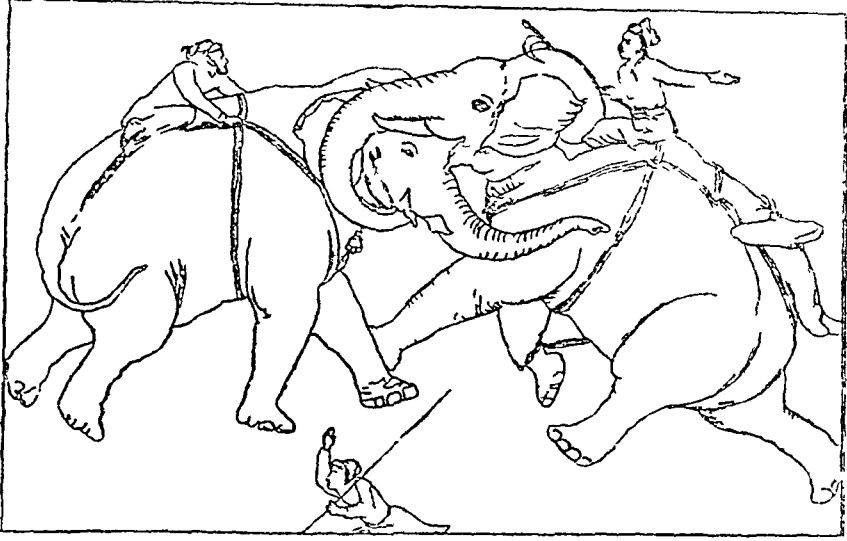
मारवाड़-नरेश महाराजा रामसिंह जी और राठोड़ वीरों की अद्भुत उदारता

श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ, साहित्याचार्य

मारवाड-नरेश महाराजा रामसिंह जी, महाराजा अभयसिह जी के पुत्र थे। इनका जन्म विक्रम-सवत् १७८७ में, प्रथम भादो बदी दसमी (२८ जुलाई सन् १७३० ई०) को, हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद विक्रम-सवत् १८०६ मे, सावन सुदी दसमी (१३ जुलाई सन् १७४९ ई०) को, ये मारवाड की गद्दी पर बैठे। यद्यपि ये भी अपने पिता के समान ही वीर प्रकृति के पुरुष थे, तथापि उस समय केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था होने के कारण इनके स्वभाव मे चचलता अधिक थी। इसी से राज्याधिकार प्राप्त करते ही, मुँह-लगे लोगो के कहने-सुनने से, इनके और इनके चचा राजाधिराज बखतसिह जी के बीच मनोमालिन्य हो गया। ये उनको 'जालोर' का प्रात लौटा देने के लिये दबाने लगे[1]। इसी बीच मॉडा ठाकुर कुशलसिह, चडावल ठाकुर कूँपावत पृथ्वीसिंह, रायण ठाकुर बनैसिह आदि मारवाड के कई सरदार इनसे अप्रसन्न हो गए[2]। उनमे से कुछ लोग जब राजाधिराज बखतसिह जी के पास नागोर

१ कुछ ख्यातो से ज्ञात होता है कि महाराजा रामसिह जी ने, अपने राजतिलक के संबंध से आया हुआ, अपने चचा की तरफ का 'टीका' (उपहार) यह कहकर लौटा दिया था कि जब तक 'नागोर' का प्रांत हमे नहीं सौंपा जायगा तब तक हम यह स्वीकार नही करेगे।

२. ख्यातो से ज्ञात होता है कि अपनी मृत्यु के पूर्व महाराजा अभयसिह जी ने 'रीयाँ' के ठाकुर शेरसिह से राजकुमार रामसिह जी के पक्ष मे बने रहने की प्रतिज्ञा करवा ली थी। परंतु एक बार रामसिह जी ने उस ठाकुर के एक सेवक को ले लेने का हठ किया। इस कारण वह भी अप्रसन्न होकर अपनी जागीर मे चला गया

पहुँचे तब समय देख उन्होने बडे आदर-मान के साथ उन्हे अपने पास रख लिया। इससे अप्रसन्न होकर महाराजा रामसिंह जी ने 'नागोर' पर चढाई की। यह देख राजाधिराज बखतसिहजी ने भी अपने अधीन के प्रत्येक समुचित स्थान पर इनके मुकावले का प्रवध करवा दिया[1]। इससे वहाँ पहुँचते ही महाराज की सेना के आगे वढ़ने मे जगह-जगह वाधा उपस्थित होने लगी। फिर भी महाराज अपनी वीर वाहिनी के साथ, वडी वीरता से शत्रुओ का दमन करते और उनकी उपस्थित की गई बाधाओ को हटाते हुए, नागोर के पास जा पहुँचे। इस पर इनके वढ़ते हुए दल का मार्ग रोकने के लिये स्वय राजाधिराज को आगे आकर मुकावला करना पडा। कुछ दिनो तक तो दोनों तरफ के राठोड वीर आपस मे लडकर अपने ही कुटुंबियों और मित्रो के रक्त से रणभूमि को सीचते रहे। परतु अंत मे बखतसिहजी के जालोर का प्रांत लौटा देने की प्रतिज्ञा कर लेने पर महाराज अपनी सेना के साथ 'मेडते' लौट आए[2]। इसके कुछ दिन वाद ही राजाधिराज वखतसिंह जी, 'जालोर' लौटाने का विचार त्यागकर, वादशाह अहमदशाह की सहायता प्राप्त करने के लिये देहली (दिल्ली) जा पहुँचे। परतु उस समय मरहठो के उपद्रव के कारण दिल्ली की वादशाहत नाम-मात्र की ही रह गई थी। इसलिये उधर से सहायता मिलना असभव था। यह देख राजाधिराज ने 'अमीरुल उमरा' सलावतखाँ[3] (जुल्फिकारजंग) को, अजमेर पर अधिकार करने मे, मरहठों के विरुद्ध, सहायता देने का वादा कर, उससे जोधपुर पर अधिकार करने मे सहायता माँगी। जैसे ही इस घटना की सूचना महाराजा रामसिंह जी को मिली वैसे ही इन्होने भी जयपुर-नरेश ईश्वरीसिह जी[4] से सहायता प्राप्त करने का प्रवध कर लिया। इसो वीच रास ठाकुर ऊदावत केसरीसिंह, नीवाज ठाकुर कल्याणसिह, आसोप ठाकुर कूँपावत कनीराम और आउवा ठाकुर चाँपावत कुशलसिह, महाराज से नाराज होकर, 'नागोर' चले गए, और वखतसिह जी

था। अत मे जब महाराजा रामसिह जी ने नागोर पर चढाई की तब 'कोलाने' के चादावत देवीसिंह को भेजकर शेरसिंह को नागोर की इस चढाई मे साथ देने के लिये सहमत कर लिया और इसके वाद ये स्वय 'रीयाँ' जाकर उसे साथ ले आए।

१. राजाधिराज बखतसिंह जी ने सोचा था कि मार्ग मे जिस समय महाराजा रामसिंह जी की सेना देसवाल आदि की गढियों पर अधिकार करने मे उलझी होगी उस समय पीछे से आक्रमण कर उसका शिविर और सामान आसानी से लूट लिया जायगा। परंतु महाराज के साथ के दूरदर्शी सरदारों ने ऐसा अवसर ही न आने दिया।

२. ऐसा भी लिखा मिलता है कि जयपुर-नरेश ईश्वरीसिह जी ने कह सुनकर यह प्रबंध कर दिया था कि बखतसिंह जी को 'जालोर' के बदले 'अजमेर' प्रांत के कुछ स्थान सौंप दिए जायँ और जालोर की मोरचेबंदी को ठीक करने मे जो तीन लाख रुपए खर्च हुए है वे भी जोधपुर के खजाने से दे दिए जायँ। परंतु जब तक यह रुपया न दिया जाय तब तक जालोर पर बखतसिह जी का ही अधिकार रहे।—(तवारीख राजश्री वीकानेर, पृष्ठ १७७)

३ विक्रम-संवत् १८०५ (ईसवी सन् १७४८) मे वादशाह अहमदशाह ने इसे अपना 'मीर वख्शी' बनाया था।

४ जयपुर-नरेश महाराजा ईश्वरीसिह जी की कन्या का विवाह महाराजा रामसिह जी से होना निश्चित हो चुका था। इसी से वे इनकी सहायता को तैयार हुए थे।

के दिल्ली मे होने के कारण उनके राजकुमार विजयसिह जी को साथ लेकर जोधपुर-राज्य के बीसलपुर, काकोलाव, बनाड आदि गाँवो मे उपद्रव करने लगे। कुछ दिन बाद इसी प्रकार पौकरन ठाकुर चाँपावत देवीसिह और पाली ठाकुर चाँपावत पेमसिह भी महाराज से अप्रसन्न होकर राजकुमार विजयसिह जी के पास जा पहुँचे। बीकानेर-नरेश गजसिहजी और रूपनगर (किशनगढ़) के स्वामी बहादुरसिह जो ने पहले से ही राजाधिराज का पक्ष ले रक्खा था। परतु जयपुर-नरेश ईश्वरीसिह जी और मल्हारराव होल्कर, महाराज रामसिह जी की तरफ थे। बखतसिह जी के दिल्ली से लौट आने पर 'पीपाड' के पास दोनों पक्षो के बीच घमासान युद्ध हुआ। ख्यातों मे लिखा है कि इस युद्ध के समय बखतसिह जी ने सलाबतखॉ को समझाकर सेना-सचालन का भार अपने जिम्मे लेना चाहा था। परतु इसमे अपना अपमान समझ वह सहमत न हुआ। इससे युद्ध के समय महाराज रामसिह जी की सेना के प्रहार से बहुत-सो यवन-सेना नष्ट होगई और रण-खेत महाराजा रामसिह जी के ही हाथ रहा। यह घटना विक्रम-सवत् १८०७ (ईसवी सन् १७५०) की है। 'सहरुल मुताखरीन'[१] मे इस घटना का हाल इस प्रकार लिखा है :—

"हि० सन् ११६१ (वि०-स० १८०५=ई० सन् १७४८) मे राजा बखतसिह, जो अपने समय के राजपूताने के सब नरेशो मे श्रेष्ठ था और जिसकी वीरता और बुद्धिमानी उस समय के सब राजाओ से बढ़ी-चढ़ी थी, देहली आकर बादशाह अहमदशाह से मिला। वह अपने भतीजे राजा रामसिह से जोधपुर, मेड़ता आदि का अधिकार छीनना चाहता था। इसलिये उसने, हर तरह की मदद देने का वादा कर, जुल्फिकारजग को अजमेर की सूबेदारी लेने के लिये तेयार किया और इसके बाद वह नागोर को लौट गया। कुछ समय बाद जब 'अमीरुल उमरा' (जुल्फिकारजग) को अजमेर की सूबेदारी मिली तब वह अगले साल के अखीर (वि०-स० १८०६=ई० सन् १७४९) मे कई अमीरो के साथ चौदह-पद्रह हजार सैनिक लेकर देहली से रवाना हुआ। मार्ग मे यद्यपि साथ के अमीरो ने उसे बहुत मना किया तथापि उसने 'नीमराने' के स्वामी जाट-नरेश सूरजमल पर चढ़ाई कर दी। परतु अत मे, युद्ध मे हार जाने के कारण, उसे सूरजमल से सधि करनी पडी। इसके बाद जब वह (जुल्फिकार) 'नारनौल' पहुँचा तब राजा बखतसिह भी पूर्व-प्रतिज्ञानुसार वहाँ चला आया। उसके आने का समाचार पाते ही जुल्फिकार सामने जाकर उसे लिवा लाया। उस समय राजा ने उसे जाट-नरेश सूरजमल को अधीनता स्वीकार कर लेने के कारण बहुत धिक्कारा। इसके बाद बखतसिह और जुल्फिकारजग दोनो अजमेर की तरफ रवाना हुए। इनके गोकलघाट के करीब (अजमेर के निकट) पहुँचने पर राजा रामसिह भी जयपुर के राजा ईश्वरीसिह के साथ तीस हजार सवार लेकर इनके मुकाबले को चला। 'अमीरुलउमरा' जुल्फिकारजग राजा बखतसिह के साथ 'पुष्कर', शेरसिह की 'रीयाँ' और 'मेडता' होता हुआ 'पीपाड' के पास पहुँचा। यहाँ पर बखतसिह ने 'अमीरुल उमरा' को समझाया कि जिस मार्ग से शाही सेना चल रही है उस मार्ग मे रामसिह का तोपखाना लगा है। इसलिये तुमको इधर-उधर

१ 'सहरुल मुताखरीन'—भाग ३, पृष्ठ ८८३-८८४

का ध्यान छोड़कर मेरे पीछे-पीछे चलना चाहिए। परतु मूर्ख और अभिमानी जुल्फिकार ने जवाब दिया कि आदमी एक दफा जिधर मुँह कर लेते हैं फिर उधर से उसे नही मोड़ते। इस पर वखतसिंह को, लाचार हो, शत्रु के तोपों की मार से वचने के लिये, जुल्फिकार की सेना से हटकर चलना पडा। अपनी तोपो के पीछे खडी राजा रामसिंह की राजपूत-सेना भी जुल्फिकार की सेना के अपनी मार के भीतर पहुँचने तक धीरज बाँधे खडी रही। परतु जैसे ही उसकी फौज राजपूत-सेना के तोपों की मार मे आ गई वैसे ही उसने उस पर गोले वरसाने शुरू कर दिए। इससे जुल्फिकार के वहुत से सिपाही मारे गए। यह देख मुगल फौज ने भी झटपट अपनी तोपो को ठीक कर युद्ध छेड दिया। कुछ देर की गोलावारी के वाद मुगल-सेना को पानी की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। परतु उस मैदान मे पानी का कही भी पता न था। इससे प्यास के मारे वह और भी घवरा गई। इसके वाद जैसे ही राजा रामसिह के तरफ की गोलावारी का वेग घटा वैसे ही वह मैदान छोड पानी की तलाश करने लगी और उसकी खोज मे भटकती हुई सयोग से राजा रामसिंह की सेना के सामने जा पहुँची। उसकी यह दशा देख राजपूत सैनिको ने अपने आदमियों को उसके लिये जल का प्रवध कर देने की आज्ञा दी और इसी के अनुसार उन्होने कुओं से पानी निकालकर मुगल सैनिकों को और साथ ही उनके घोड़ों को भी तृप्त कर दिया। इस प्रकार अपने शत्रुओ को स्वस्थ हुआ देख राजपूतो ने उनसे कहा कि इस समय तुम्हारे और हमारे वीच युद्ध 'चल रहा है। इसलिये अव तुम्हे यहाँ से शीघ्र भाग जाना चाहिए"।

इसी के आगे 'सहरुल मुताखरीन' का लेखक लिखता है—"यद्यपि यह घटना अपूर्व है तथापि मैंने इसे अपने मौसेरे भाई इस्माइल अलीखाँ की जवानी, जो उस समय जुल्फिकारजग के साथ था, सुनकर ही लिखा है। इसलिये यह विलकुल सही है। राजपूतो का यह गुण और उच्च स्वभाव प्रशसनीय है। ईश्वर उनको और भी सद्गुण दे[1]। इसके वाद यद्यपि वखतसिह ने जुल्फिकारजंग

[1] سىىدہ سد کہ وقت ىصف النهار چوں ىوىها ىهادر گرم سدىد و ىائرہ حرب افسردگی ىدىرىت در ىواح راحىوىانہ حصوص دراں مىداں کہ قلب آب ىمرىبۂ اىم و کمل سب رفقائے امىرالامرا ىىا ىرے آبی مصطرب گسىہ در ىىحص آب اکىرے ىا ىردىك لسکر رام سنگھہ رسىدىد - راحىوىہ ابر عطس ار سىمائے آىها در ىافىہ ار چاہ ها ىدسب ملازماںِ حود آب کسانىدہ اسب و سوار را سىراب گرداىىد و کىفىدالحال ىر گرداىد کہ مىاں ما وسما حىگ اسب حکاىبِ احوال ذوالفقار حىگ و آب دادں راحىوىہ ىدسمىاں ىهادں صحب دارد - چہ سىّد اسمعىل علی حاں ىهادر حلف عىدالىحی حاں ىرادر حالوراہ فقىر دراں سفر رفىق و سرىك آں لسکر ىود - فقىر ار رىاں او اسماع ىمودہ ىسلك ىحرىر کسىد ابں صفب راحىوىاں ار عحائب اوصاف ، محامد احلاق سب اوىعالی حمىع اصاف امم عالم را صفاتِ حمىدہ و احلاقِ ىسىدىدہ کرامب فرماىد -

(सहरुल मुताखरीन, भाग ३, पृष्ठ ८८४)

को हर तरह से समभाकर हिम्मत बँधानी चाही तथापि वह घवराकर अजमेर की तरफ होता हुआ लौट गया। इस युद्ध मे मल्हारराव होल्कर का पुत्र[1] और जयपुर-नरेश ईश्वरीसिह भी रामसिह की तरफ थे, फिर भी वखतसिह ने रसद आदि के सग्रह करने मे चतुरता से और युद्ध मे वीरता से काम लिया था। परंतु जुल्फिकारजग के इस प्रकार हतोत्साह होकर लौट जाने से उसे भी युद्ध से मुँह मोडना पडा।"

वि०-स० १८०७ की कार्तिक सुदी नवमी (२८ आक्टोबर सन् १७५० ई०) को वखतसिह जी ने 'मेडते' पर चढाई की[2]। परतु इसमे भी उन्हे सफलता न मिली[3]। यह देख उन्होने बीकानेर-नरेश गजसिहजी और रूपनगर (किशनगढ़)-नरेश वहादुरसिहजी को साथ लेकर रायपुर पर आक्रमण किया और वहाँ के ठाकुर को अधीनस्थ करने के बाद सोजत पर भी अधिकार कर लिया। वि०-स० १८०८ के वैशाख (ई० सन् १७५१ के अप्रेल) मे महाराजा रामसिह जी के और वखतसिह जी के बीच 'मालावास' मे फिर युद्ध हुआ और इसके वाद ही 'रूपावास' आदि मे भी कई लडाइयाँ हुई। अंत मे जैसे ही महाराज लौटकर जोधपुर पहुँचे वैसे ही राजाधिराज के मेडते की तरफ आने की सूचना मिली। इसलिये ये जोधपुर मे केवल एक रात रहकर शीघ्र ही 'मेडते' जा पहुँचे। इसकी खबर पाते ही वखतसिह जी गगराणे में ठहर गए, और रास ठाकुर केसरीसिह की सलाह से उन्होने जैतारण होकर वलूँदे पर चढाई की। परतु मार्ग में वाँजाकुडी के मुकाम पर ही वलूँदे के ठाकुर ने स्वय आकर उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। इसलिये वे उधर न जाकर नीवाज की तरफ चले। वहाँ के ठाकुर कल्याणसिह ने उनका वडा आदर-सत्कार किया। इसके वाद वे रायपुर होकर 'वीलाडे' और 'पाल' को लूटते हुए वि०-स० १८०८ के आषाढ (ई० सन् १७५१ के जून) मे, जोधपुर पर अधिकार करने के विचार से, 'रातानाडा' के तालाव के स्थान पर आकर ठहरे।

वि०-स० १८०७ (ई० सन् १७५०) मे ही जयपुर-नरेश ईश्वरीसिह जी का देहान्त हो चुका था। इसलिये महाराजा रामसिहजी को उस तरफ से सहायता मिलनी वंद हो गई थी। इधर मारवाड के मेडतिये सरदारो के सिवा करीव-करीव अन्य सभी सर्दार महाराज से वदल गए[4] थे। इसी से जोधपुर

१ संभव है, यह खाँडेराव हो, जो वि०-सं० १८११ (ई० सन् १७५४) मे जाटनरेश सूरजमल से लडता हुआ, 'डीग' मे मारा गया था।

२ इस अवसर पर महाराजा रामसिह जी की तरफ़ के 'रीयाँ' के ठाकुर शेरसिंह और राजाधिराज वखतसिह जी की तरफ के 'आउवे' के ठाकुर कुशलसिंह के बीच बड़ी वीरता से युद्ध हुआ। अंत मे दोनों ही योद्धा आपस मे लडकर वीरगति को पहुँचे। यह युद्ध वि० सं० १८०७ की अगहन सुदी नवमी (ई० सन् १७५० २६ नववर) को हुआ था।

३. 'तवारीख राज श्री बीकानेर' मे इसी वर्ष की अगहन बदी नवमी (११ नवंबर सन् १७५०) को 'मेडते' के युद्ध मे रामसिह जी का हारना लिखा है। (पृष्ठ १७८)। इसी के बाद की लड़ाई मे 'रीयाँ' का ठाकुर शेरसिह मारा गया था।

४ इस विषय का यह दोहा मारवाड मे प्रसिद्ध है—"रामैखूँ राजी नहीं दीनो उत्तर देश। जोधाणो झाला करे आवधणी बखतेश॥"

पर बखतसिंहजी के आक्रमण करने पर कुछ ही देर की लड़ाई के वाद नगर के सिंधी सिपाहियो ने जोधपुर-शहर का 'सिवानची' नामक दरवाजा खोल[१] दिया। इस घटना से नगर पर राजाधिराज बखतसिह जी का अधिकार हो गया[२]। यह देख पहले तो किलेवालो[३] ने कुछ देर तक गोलाबारी कर इनका सामना किया, परंतु अंत मे वि०-स० १८०८ की सावन वदी दूज (२९ जून सन् १७५१ ई०) को किले पर भी राजाधिराज का अधिकार हो गया। जब इस घटना की सूचना महाराजा रामसिंह जी को मिली तब वे शीघ्र ही जोधपुर की तरफ चले। परतु राजाधिराज ने नगर के द्वार वद करवाकर उसकी रक्षा का पूरा-पूरा प्रवध कर लिया था, इससे नगर को कुछ दिन तक घेर रखने पर भी रामसिह जी को सफलता न मिली। यह देख ये सिधिया से सहायता प्राप्त करने के लिये जयपुर की तरफ चले गए। वि० स० १८०९ (ई० सन् १७५२) मे सिधिया की सहायता से रामसिह जो ने एक वार फिर जोधपुर पर चढ़ाई की। इससे कुछ दिन के लिये 'अजमेर' और 'फलोदी' पर इन (रामसिहजी) का अधिकार हो गया। परतु शीघ्र ही इन्हे उक्त स्थानो को छोडकर 'रामसर' होते हुए 'मदसोर' की तरफ जाना पडा। अंत मे बहुत कुछ चेष्टा करने के वाद वखतसिंह जी को 'सॉभर' का परगना इन्हे सौप देना पड़ा। वि०-स० १८११ (ई० सन १८५४) मे, विजयसिह जी (वखतसिह जी के पुत्र) के समय मे, मरहठो[४] (जय आपा सिंधिया) की सहायता से, इन्होने फिर एक बार अपना गया हुआ राज्य प्राप्त करने की चेष्टा की। परंतु अत मे इन्हे मारवाड़ के सिवाना, मारोठ, मेडता, सोजत, परवतसर, सॉभर और जालोर के प्रात लेकर ही सतोष करना पड़ा। वि-स० १८१३ (ई० सन् १७५६) मे भी रामसिह जो ने, अपने अधिकृत प्रांतो के महाराजा विजयसिह जी द्वारा छीन लिए जाने पर, फिर मरहठो से सहायता ली थी। वि०-स०१८२९ की भादो सुदी छठ (३ सितंबर ई० सन् १७७२) को जयपुर मे महाराजा रामसिहजी का स्वर्गवास हो गया[५]।

१ यह घटना वि०-सं० १८०८ के आषाढ वदी दसमी (७ जून ई० सन् १७५१) की है।

२ नगर मे प्रवेश करने पर राजाधिराज ने अपना निवास तलहटी के महलों मे किया था। 'तवारीख राज श्री वीकानेर' मे लिखा है कि वि०-सं० १८०८ की आषाढ़ सुदी नवमी (२१ जून ई० सन् १७५१) को चार पहर तक जोधपुर नगर लूटा गया। (पृष्ठ १७८) परंतु ज्ञात होता है कि इसमे 'वदी' के स्थान मे 'सुदी' और तिथि 'दशमी' के स्थान मे 'नवमी' भूल से लिखी गई है।

३ 'तवारीख राज श्री वीकानेर' मे लिखा है कि उस समय जोधपुर का किला भाटी राजपूतो की देख-रेख मे था। (पृष्ठ १७८)

४. ग्रांट डफ की 'हिस्ट्री ऑफ़ मरहटाज' मे इस घटना का समय ई० सन् १७५९ (वि०-सं० १८१६) लिखा है। (भाग १, पृष्ठ ५१३)। यह भूल प्रतीत होती है। वि० स० १८११ की पौष वदी दशमी का, रामसिंह जी का, एक खास रुक्का मिला है। यह 'ताउसर' (नागोर के निकट) से लिखा गया था। सभव है, उस समय मरहठो के साथ होने से ये उधर भी गए हों।

५ किसी-किसी ख्यात मे इनकी मृत्यु की तिथि माघ सुदी ७ (ई० स० १७७३ की ३० जनवरी) भी लिखी मिलती है। कहते है कि महाराजा रामसिह जी ने तीन गॉव दान किए थे—(१) 'टेला' (मेडते परगने का, वि०-स० १८०७ मे) चारणो को, (२) 'तिलवासनी' (वीलाडे परगने का, वि०-सं० १८०८ मे) और (३) 'वासणी' (जोधपुर परगने का, वि०-स० १८१२ मे) ब्राह्मणो को दिए थे।

बोधि-वृक्ष से

तुम कौन छिपाए व्यथित हृदय, हो खडे यहाँ काननवासी ?
किस लिये उदासी छाई है, किस लिये बन गए सन्यासी ?
क्या सोच रहे तुम जीवन के, उस सहचर की वह करुण-कथा ?
या दग्ध कर रही है तुमको, उस दयाधाम की विरह-व्यथा ?
क्यो मौन खडे हो, हे तरुवर, कुछ तो मर्मर स्वर मे बोलो,
उलझी है कौन गाँठ मन की, अपने उर का रहस्य खोलो।
हे भाग्यवान्, सौभाग्य अहो ! तुम-सा किसने जग मे पाया ?
जिसके अचल मे रहने को, करुणावतार आतुर आया।
शुद्धोदन का वह रत्न-जटित, सिहासन विगलित हो क्षण मे,
तव चरण-धूलि धर मस्तक पर हो गया धन्य इस जीवन मे !
वह दिन कितना मधुमय होगा, जब पल्लव-छाया के नीचे,
वह शांत-करुण की मधुर मूर्त्ति बैठी होगी आँखें मीचे।
करुणा की धारा उमड उठी, जिस दिन गौतम-हृदयस्थल मे।
थी दिव्य ज्योति की अमिताभा, उतरी उस दिन जगतीतल मे,
वह था संसृति का स्वर्ण-काल, जब अभय-दान जग ने पाया,
करुणा की अरुण हिलोरो से, जब हृदय हृदय था भर आया !
इस बाह्य रूप का भेद भूल आत्मा ने आत्मा को जाना,
दो बिछुड़े हृदय मिले फिर से, प्राणों ने था सुख पहचाना।
युग [illegible] तब से बीत चुके, हे मौन, आज कुछ गाओ तुम,
सदे [illegible]या का भूले हम, अब फिर से, उसे सुनाओ तुम।
हे बोधि-वृक्ष, तव आँगन मे, जगती के नर-नारी आएँ,
सतप्तहृदय, तव छाया मे, प्राणो की शीतलता पाएँ।

सोहनलाल द्विवेदी

———

भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की विशेषता—'नाड़ी-परीक्षा'

[आयुर्वेदपचानन जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, वैद्यभिषड्मणि]

किसी भी चिकित्सा-शास्त्र की विशेषता उसकी रोग-परीक्षा-पद्धति और चिकित्सा की श्रप्तुता तथा सफलता के ही कारण जानी जाती है। भारतीय चिकित्सा-शास्त्र मे रोग और रोगी की अलग अलग परीक्षा कर रोग-निर्णय किया जाता है। रोग का निर्णय करते समय निम्नलिखित बातो पर विचार किया जाता है—[१] निदान (रोगोत्पत्ति के आदिकारण), [२] पूर्वरूप (रोगोत्पत्ति के आरभ के समय दिखनेवाले अस्पष्ट आदि लक्षण), [३] रूप (रोग-ज्ञापक स्पष्ट लक्षण), [४] उपशय (रोग और रोगी के सात्म्य-असात्म्य, आहार-विहारादि के द्वारा होनेवाले बढ़ाव-घटाव से रोग का अनुमान करना तथा समझना), [५] सप्राप्ति (रोग के प्रकारों की संख्या, उसके दोषो के तर-तमभाव की विकल्पना, रोग की स्वतंत्रता, परतत्रता के द्वारा उसकी प्रधानता, रोग और रोगी के बलाबल का विचार, रोगवृद्धि और शांति के समय तथा ऋतुकालादि का विचार)। इन सब बातो का विचार करके रोग का निश्चय किया जाता है। इस प्रकार रोग निश्चित करते समय—'नाडी' मूत्र मल जिह्वां शब्दस्पर्शदृगाकृतिम्' आठ प्रकार से रोगी की परीक्षा की जाती है। अर्थात्—रोगी की नाड़ी देखकर दोष और व्याधि का अनुमान करते हुए रोगी के मूत्र, मल, जीभ और आवाज की परीक्षा कर तथा रोगस्थानों को टटोल कर रोग-निर्णय किया जाता है। इस प्रकार रोगनिर्णय होने पर रोगी के दोषो का, उन दोषो के द्वारा दूषित होनेवाले रस-रक्तादि दूष्यों का, रोगी और रोग के बल का, समय का, रोगी के जठराग्नि का, उसकी प्रकृति और अवस्था का, उसके सात्म्य और सत्व-शक्ति तथा आहार का, साथ ही रोग की भिन्न-भिन्न अवस्था का भी विचार कर, चिकित्सा का क्रम निश्चित किया जाता है। यही कारण है कि भारतीय चिकित्सक इस विपरीत समय मे भी, इस संघर्ष के युग मे भी, टक्कर ले रहे है। सैकडो और हजारों वर्षो की विपरीत परिस्थिति तथा पराधीनता ने इस चिकित्सा-पद्धति को उठने नही दिया। इसकी नित्यनैमित्तिक अभिवृद्धि के मार्ग अवरुद्ध है। परतु आज भी वैद्यो की नाड़ी-परीक्षा की धाक बॅधी हुई है। आज भी सब उपायों से निराश होकर रोगी आयुर्वेद की शरण मे आते है। आज भी रोग की साध्यासाध्य अवस्था जानने के लिये वैद्यो से नाड़ी की परीक्षा कराई जाती है। इसस स्पष्ट है कि भारतीय चिकित्सा-शास्त्र मे 'नाडी-परीक्षा' का अत्यत महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

नाड़ी-ज्ञान भारतीयों की निजी संपत्ति है—भारतीय ज्ञान-विज्ञान की प्राचीनता और उसकी श्रेष्ठता कम करने के लिये प्राय योरप के विद्वान् उसका समय यथाशक्ति इधर ही ठेलने का

तन्मयता
चित्रकार—श्री० लोकपालसिंह
(चित्रकार के सौजन्य से)

प्रयत्न करते है; फिर इस वात पर अपना दिमाग लगाते हैं कि इसे भारतीयों ने अमुक पश्चिमी देश से लिया होगा। इसी तरह नाड़ी-परीक्षा-शास्त्र के विषय मे भी वे कहते हैं कि इसे भारतीयों ने अरबवालों अथवा यूनानवालों से लिया होगा। इसके प्रमाण में वे यह दलील पेश करते हैं कि चरक, सुश्रुत और वाग्भट जैसी प्राचीन सहिताओ मे नाडी-ज्ञान का विचार नही है। सबसे पहले 'शार्ङ्गधर' मे इसकी चर्चा हुई है जो चौदहवी शताब्दी का ग्रथ है। आश्चर्य तो यह है कि उन्ही की आँखो देखनेवाले कुछ भारतीय डॉक्टर भी इसी प्रकार कहने लगते हैं। किंतु वे भूल जाते हैं कि चरक-सुश्रुत ने अपने-अपने अभिमत विषय का ही उल्लेख किया है, और जो विषय दूसरे विभाग के थे उन्हे छोड़ दिया है। उदाहरणार्थ—दाहकर्म, क्षार-प्रयोग तथा नेत्ररोग मे उन्होने लिख दिया है कि इसमें धन्वतरि संप्रदाय के शास्त्र-चिकित्सकों का ही अधिकार है। इसके सिवा हजारों वर्षो में चरक-सुश्रुत न जाने कितनी बार विकलितांग हुए—उनका सस्कार किया गया। कौन जाने उनमे से कौन भाग कैसे नष्ट हुआ। यों तो रसतत्र का भी इन सहिताओ मे विस्तार नही है। तो क्या यह माना जायगा कि यह पद्धति महादेव जी से आरभ कर नागार्जुन तक अबाधित नहीं आई? और, आज उसका जो विस्तृत स्वरूप मिल रहा है वह भी बाहरी है? उसका भी सग्रह तो शार्ङ्गधर के समय से ही चिकित्सा-ग्रथो मे होना आरब्ध हुआ है। बात यह है कि प्राचीन समय मे चिकित्सा-शास्त्र के भिन्न-भिन्न अगों के ग्रथ अलग-अलग थे। यह वात वाग्भट के "तेऽग्निवेशादिकास्ते तु पृथक् तंत्राणि ते निरे। तेभ्योतिविप्रकीर्णेभ्यः . . .." वाक्य से स्पष्ट है। लगभग एक हजार वर्ष से सब अगों के सग्रह-ग्रथ लिखने की चाल चली। नाड़ी-ज्ञान का प्रचार पहले तत्रशास्त्रज्ञो और योगशास्त्रविदों मे विशेष था और उन्हीं के द्वारा पहले नाडी-परीक्षा कराई जाती थी। नाडी-परीक्षा का ज्ञान कही बाहर से नही लिया गया। यह शुद्ध भारतीय है। अरब के मुसलमान सन् ईसवी के छः सौ वर्ष तक तो ज्ञान-विज्ञान के प्रेमी थे नहीं। यदि ऐसा होता तो वे सन् ६४० ई० मे अलकजेड्रिया के चार लाख ग्रथों के सग्रहालय को खलीफा उमर की आज्ञा से इस तर्क पर न जलवा डालते कि जो बात कुरान मे है वह यदि दूसरे ग्रथ मे हो तो उसकी आवश्यकता ही क्या और जो बात कुरान मे नहीं है उसे रखने की आवश्यकता ही क्या! सन् ८०० ई० में, खलीफा हारूँउलरशीद के समय, वगदाद मे चरक-सुश्रुत, माधवनिदान आदि का अनुवाद अरबी भाषा मे किया गया। इसके पहले ही फारस का बादशाह 'बहराम' दो बार वेश बदल कर भारत आया था और उसने सस्कृत सीख कर यहाँ की विद्याओ का अपने देश के विद्यालयों मे प्रचार कराया था। यद्यपि सन् ७११ ई० मे अरब लोग सिंध मे आए थे तथापि थोडे ही दिन रह कर चले गए। भारतीयों से मुसलमानों का प्रत्यक्ष संबंध सन् १२०६ ई० के बाद, मुहम्मद गोरी के हमले के समय से, हुआ। इसके पहले भारतीय उनसे कुछ सीख नही सकते थे, और मुसलमानों का ध्यान भी तो उस समय अधिकांश लूटमार की ही ओर था; फिर वे विद्या सिखाने कब बैठते? इसके सिवा अरबवाले 'वात-पित्त-कफ' के अतिरिक्त रक्त को भी चौथा दोष मानते हैं। भारतीय चिकित्सक तीन अँगुलियों से नाड़ी-परीक्षा करते हैं, और वे चार अँगुलियों से। हमारे यहाँ रक्त 'दोष' के बदले 'दूष्य' माना गया है, वह स्वतंत्र नहीं है, और यही मत सकारण है। इस भेद को अगर न भी माने तो भी जो शार्ङ्गधर चौदहवीं शताब्दी

का कहा जाता है वह यथार्थ मे ग्यारहवीं शताब्दी का है; क्योंकि शार्ङ्गधर राजा अनगभीम के समय मे हुआ था। अनगभीम ने शकाब्द १०९४ मे जगन्नाथ जी का मदिर बनवाया था, जिसका लेख मदिर (पुरी) मे मौजूद है। इससे मुसलमानों से नाडी-परीक्षा लेने की बात कट जाती है। यदि कहा जाय कि भारतीयों ने यूनानियों से यह विद्या सीखी तो न उनके इतिहास मे इसकी पुष्टि के लिये कोई प्रमाण है और न हमारे ही इतिहास मे। हाँ, ज्योतिष का कुछ भाग भारतीयों ने बाहर से लिया, पर उसे उसी नाम से प्रसिद्ध किया। यदि नाडी-परीक्षा बाहर से लेते तो अवश्य स्वीकार करते। यूनानी स्वयं अपने को आर्यवशोद्भूत बतलाते हैं। फिर यही क्यों न समझा जाय कि आर्यों की जो शाखा यूनान मे जा बसी वह भारतीय विद्या भी साथ लेती गई। जैसे शार्ङ्गधर मे नाड़ी के गति की तुलना सर्प, जलौका, मेढ़क, हंस आदि की चाल से की गई है उसी तरह प्राचीन यूनानी भी नाडी की चाल चूहे, चींटी और बकरे की चाल से मिलाते थे। भारतीयों की तरह वे भी तीन अँगुलियों से नाडी-परीक्षा करते थे। हमारी त्रिदोष-पद्धति के समान वहाँ भी दोष-पद्धति प्रचलित थी। सन् ईसवी के ४०० वर्ष पहले यूनान मे विद्वान् हिपोक्रेटिस हुआ। वह विद्यार्जन के लिये भारत आया था। इसके बाद सन् ईसवी से २२६ वर्ष पहले सिकंदर बादशाह यहाँ से कुछ प्रवीण वैद्य अपने साथ लेता गया था। उनसे उसने यूनानी भाषा मे वैद्यक ग्रथ लिखवाए थे। सन् ईसवी की पहली सदी मे आर्चिगेनस ने नाडी-परीक्षा पर पुस्तक लिखी, पर वह नष्ट हो गई। फिर दूसरी सदी में डॉक्टर गेलन ने नाड़ी-परीक्षा पर पुस्तके लिखीं। किंतु भारतीय तो इससे भी बहुत पहले से इस विषय को जानते थे। यद्यपि समय के प्रकोप से बहुत से प्राचीन ग्रथ नष्ट हो गए हैं, तथापि बहुत से टीका-ग्रथों से पता चलता है कि पहले यहाँ नाड़ी-परीक्षा-सबंधी बहुत से ग्रंथ प्रचलित थे। नागार्जुन का 'अष्टविध-परीक्षा' ग्रथ अब भी कहीं कही मिलता है। शोधकों का कथन है कि नागार्जुन पहली अथवा दूसरी शताब्दी मे हुआ है। 'भेडतन्त्र'-कर्त्ता आचार्य भेड, चरक के समकालीन हैं। चरक का समय सुश्रुत से पहले है। सुश्रुत महाभारत के समय मौजूद थे। अतएव चरक का समय पॉच हजार वर्ष से अधिक प्राचीन मालूम पड़ता है। जो हो, आचार्य भेड ने अपने तंत्र मे लिखा है—

"रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्। नाडी जिह्वां मल मूत्र त्वच दन्तनखस्वरान् ॥"

'नाडीज्ञानतरगिणी' मे भरद्वाज-सहिता के निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किए गए हैं। महर्षि भरद्वाज त्रेता युग मे भगवान् रामचंद्र के समय मौजूद थे—

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः सपरीक्षेत रोगिणम्। रोगांश्च साध्यान्निश्चित्य ततो भैषज्यमाचरेत् ॥
दर्शनान्नेत्रजिह्वादेः स्पर्शान्नाडिकादितः। प्रश्नाद्दूतादिवचनै रोगाणां कारणादिभिः ॥"

नाडी-ज्ञान के प्रधान 'वैद्यभूषण' नामक ग्रथ मे ऋषिकाल के पश्चात् जो ऋषिप्रणीत ग्रथ थे उनका उल्लेख यों मिलता है—

"पराशरादिमुनिभिः प्रणीताञ्छास्त्रसागरान्। अष्टलक्षमितानेतानालोड्य च मुहुर्मुहुः ॥
तेषां सारं समुद्धृत्य षड्शास्त्राणि प्रचक्रिरे। पराशरो योगशास्त्रमातितो जलमेव च ॥

नयन क्षीरपाणिस्तु भेलकर्णो मनोवयम्। अग्निविट्-नाडिशास्त्र च शास्त्रदक्षस्तु भैषजम्॥
एकैक शास्त्रमेते हि ऋषयश्चक्रिरे मुदा।"

ऊपर के श्लोक मे 'अग्निविट्' के नाडिशास्त्र का उल्लेख है, परतु आजकल इसका कहीं पता नही है। कणाद ऋषि-प्रणीत 'नाडीविज्ञान' नामक ग्रथ छप गया है। यदि ये कणाद न्यायशास्त्रकर्त्ता कणाद ही हो, तो भी इसकी प्राचीनता ही सिद्ध होगी। रावण-कृत छियानबे श्लोकों की 'नाडी-परीक्षा' पुस्तक भी प्रसिद्ध है। यदि ये रावण लकाधीश हो तो भारतीयो के नाड़ीज्ञान का समय भरद्वाज-सहिता के समान त्रेतायुग मे पहुँच जाता है। रावणकृत नाडीपरीक्षा मे आचार्य, नदीकृत नाड़ी-शास्त्र का उल्लेख है। कलकत्ते मे प्रकाशित 'प्रयोगचितामणि' ग्रथ मे मार्कडेय, वसिष्ठ और गौतम ऋषि के नाड़ी-परीक्षा-सवधी मत दिए हैं। मार्कडेय-कृत नाडी-परीक्षा की स्वतत्र पुस्तक इस समय भी जर्मनी के एक पुस्तकालय मे मौजूद है। वृद्धहारीत और माडव्य ऋषि के नाडी-परीक्षा-सबधी मतो का उल्लेख अनेक स्थलो पर मिलता है। कलकत्ते की रायल एशियाटिक सोसाइटी के सग्रहालय मे आत्रेय-कृत नाड़ी-परीक्षा की पुस्तक मौजूद है। चरक-ऋषिकृत सहिता आत्रेय ऋषि की ही कही हुई है, यह सभी जानते हैं।

भारतीय आयुर्वेद को नीचा दिखाने की इच्छा रखनेवाले कुछ लोगो का यह तर्क है कि भारतीयो ने नाड़ी-परीक्षा चीनियो से सीखी होगी। निस्सदेह चीन का वैद्यक चार-पॉच हजार वर्ष का पुराना है, किंतु उसे व्यवस्थित स्वरूप सन् ईसवी के दो सौ उन्तीस वर्ष पहले विद्वान् 'चंकी' द्वारा मिला है। प्राचीन भारत की सीमा चीन से लगी हुई थी और चीनवासी भारत से बराबर विद्या ग्रहण किया करते थे। सन् ईसवी के दो सौ पचहत्तर वर्ष पहले अशोक ने चीन मे बौद्धधर्मोपदेशक भेजे थे। बौद्ध लोग जहाँ जाते थे वहाँ धर्मोपदेश के साथ ही रोगी, अपाहिज आदि दु.खी जीवो की शुश्रूषा कर सहानुभूति प्राप्त किया करते थे। अत: कौन कह सकता है कि उक्त विद्वान् चकी के समय तक बौद्धो द्वारा वहाँवालो को भारतीय विद्या का ज्ञान न हो चुका होगा। चीनी प्रवासी दसवीं शताब्दी तक भारत आया करते थे और वरसो यहाँ रहकर यहाँ के धर्म और ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण कर जाया करते थे। इतिहास साक्षी है कि हुएनसांग, इत्सिग आदि सुप्रसिद्ध चीनी यात्री नालदा आदि भारतीय विश्वविद्यालयो के ग्रथभाडार से सैकड़ो ग्रथो की प्रतिलिपियाँ स्वदेश ले गए थे। इन सब विवेचनो से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतीयो को नाडी-परीक्षा का ज्ञान हजारो वर्ष पहले से है। इसे उन्होने किसी बाहरी देश से नही लिया। हमारे योगशास्त्र के ग्रथो मे भी नाडी-ज्ञान-सबधी बाते भरी हुई हैं। तत्रशास्त्रो मे भी इस विषय का खासा उल्लेख है।

शारीरिक क्रिया-संपादन—मनुष्य-शरीर के मुख्य तीन भाग हैं—(१) शाखा (हाथ-पाँव), (२) मध्यशरीर (धड़), (३) उत्तमाग (सिर)। हाथ-पाँव-द्वारा मनुष्य की बाह्यक्रिया सपादित होती है। धड के मुख्य दो भाग हैं—एक उदर, जिसमे मूत्रस्थान, मलविसर्जनस्थान, पाचकाशय (आमाशय), छोटी बड़ी आँते, यकृत और सीहा है, दूसरे भाग मे हृदय, श्वासनलिका और फेफडा हैं। सिर मे मुख्य मस्तिष्क है, जिसके द्वारा शरीर की सारी संवेदनात्मक और ज्ञान तथा विवेकादि की क्रिया सपादित होती है। रस, रक्त, मास, भेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र—शरीर मे ये सात

धातुएँ रहती हैं। ये शरीर का धारण, पोषण और स्थिरता-सपादन करती हैं; इसलिये इन्हे 'धातु' कहते हैं। मल, मूत्र और स्वेद—शरीर मे यही मुख्य तीन मल हैं। वात, पित्त और कफ—ये तीन शक्तियाँ शरीर की सारी क्रिया का सपादन कराने मे सहायक होती हैं। ये शुद्ध रूप मे शरीर को पोषण करतीं और विकृत होने पर शरीर का नाश कर डालती हैं। विकृत होकर ये परस्पर दूषित होती हैं और सप्त धातु तथा तीनो मलो को भी दूषित कर डालती हैं। इसी लिये इन तीनो शक्तियो को 'दोष', और धातु तथा मलो को 'दूष्य' कहते हैं। हम जो भोजन करते हैं, उसका जो सार-रूप रस बनता है, वही 'रस' कहलाता है। यही रस पित्त की गर्मी से पककर, और पित्ताशय तथा प्लीहा होकर, हृदय मे तथा वहाँ से फुफ्फुस और सारे शरीर मे चक्कर लगानेवाला जीवन-रक्त बन जाता है। रक्त अपनी और पित्त की ऊष्मा से घनीभूत हो कर मांस बनता है। मांस मे वैसी ही ऊष्मा की क्रिया होती है जिससे स्नेहांश निकलता है—यही मेद है। मेद ही ऊष्मा से घनीभूत होकर अस्थि बनती है। ये हड्डियाँ ही शरीर को कडा रखती हैं। अस्थियो पर जो ऊष्मा की क्रिया होती है, उससे एक पीला चिकना रस निकल कर मज्जा बनती है। यह मज्जा हड्डियो के पोले भाग मे रहकर उन्हे स्निग्ध और कोमल तथा सजीव बनाए रखती है। मज्जा पर जो ऊष्मा की क्रिया होती है, और उससे सब धातुओं का सार रूप जो द्रवांश बनता है, वही 'वीर्य' कहलाता है। इसके भी सार-रूप तेजोअंश को 'ओज' कहते हैं। यह शरीर मे काति उत्पन्न करता और हृदय को कार्यक्षम बनाए रखता है। इस प्रकार आहार के सार-रस से शरीर बनता है। उसका बचा हुआ जलांश मूत्ररूप से तथा घनांश मल-रूप से बाहर निकल जाता है।

नाड़ी का अधिष्ठान—धातुओ के बनने और शारीरिक क्रिया संपादित होने के लिये रस और रक्त अपने-अपने मार्ग द्वारा शरीर भर मे घूमा करते है। रस बहानेवाली नालियाँ 'सिरा' और शुद्ध रक्त बहानेवाली नालियाँ 'नाड़ी' या 'धमनी' कहलाती हैं। जैसे किसी नदी या तालाब से जल आकर वाटरवर्क्स के हौज मे सचित होता और वहाँ से फिर इजिन-बायलर की शक्ति के सहारे अनेक फैले हुए नलो द्वारा सारे शहर मे पहुँचता है, वैसे ही हमारे शरीर मे बायलर का काम हृदय करता है और यही नाड़ियो को गति देनेवाला आदि-अधिष्ठान है। हृदय का आकार बिना खिले हुए (बंद) कमल के समान है। यह पाँच इच लबा साढ़े तीन इच चौड़ा और ढाई इच व्यासवाला होता है और छाती के वाम भाग मे रहता है। यह स्नायुमय होता है। इसके भीतरी भाग मे दो गढ़े होते हैं, दाहिनी ओर वाले को 'दक्षिण हृद' और बाई ओरवाले को 'वामहृद' कहते हैं। एक स्नायु के परदे से आड़े दो भाग और होते हैं; इस तरह हृदय के चार भाग होते है। दक्षिण हृद होकर अशुद्ध नीलरक्त की शिराएँ और वामहृदाशय से शुद्ध रक्त की धमनी दक्षिणाशय होकर निकलती है और आगे चलकर द्विधाविभक्त होकर एक शाखा दक्षिण फुफ्फुस मे और दूसरी शाखा वाम फुफ्फुस मे जाकर मिलती है। दक्षिण कोषाशय मे उघड़ने और बद होनेवाला एक परदा 'त्रिदलपिधान' होता है। वामकोष और वामाशय को विभक्त करनेवाला भी एक आर पार छिद्रवाला द्वार होता है, जिसके बद होने और खुलने के लिये दो दल का एक परदा 'द्विदलपिधान' रहता है। वामकोष से एक बड़ी धमनी निकलकर अनेक शाखाओ से सारे शरीर मे रक्त पहुँचाती है।

विद्युत्-वनिता

चित्रकार—श्री० रामगोपाल विजयवर्गीय

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)
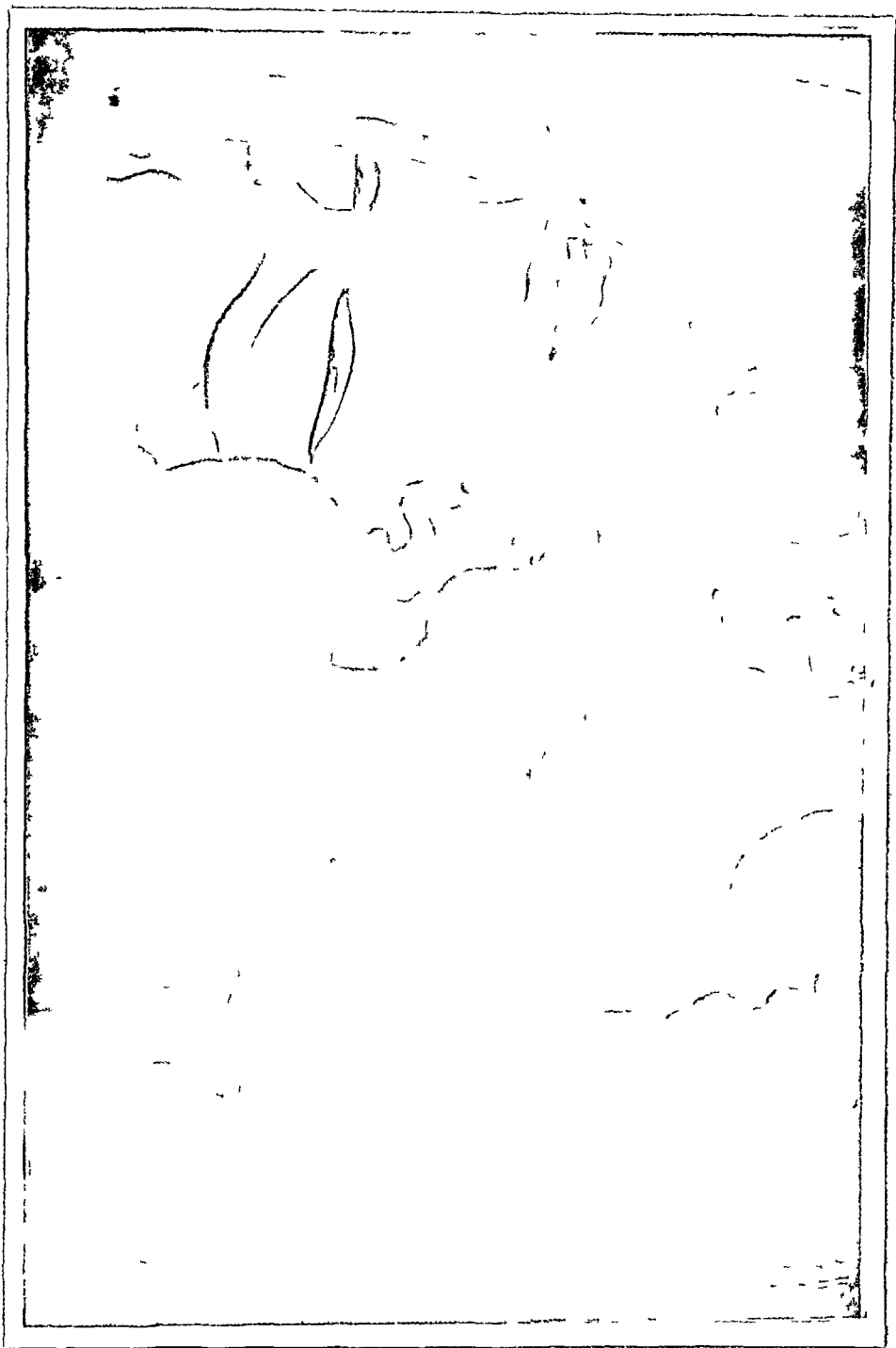
रक्त-संवहन क्रिया—रसवाहिनी सिरा, रक्तवाहिनी धमनियो के कार्य और उनके बहाव के ढंग का वर्णन वैदिक, वैद्यक और योग के ग्रथो मे भरा पडा है। आर्यो को बहुत पुराने समय से रक्त सवहन-क्रिया का ज्ञान है, और नाडी-ज्ञान का यही मूल मत्र है। यूनान और रोम के डाक्टर यद्यपि नाडी-परीक्षा करते थे, तथापि रक्तसवहन क्रिया की स्पष्ट कल्पना उन्हे भी बहुत दिनो मे हुई है। सन् १५५५ मे विसिलियस को हृदय की क्रिया का, सन् १५५८ मे कोलवो को फुफ्फुस मे रक्ताभिसरण का, सन् १६२५ मे कर्णि को हृदय की सिरा का ज्ञान हुआ। नाड़ियो द्वारा रक्ताभिसरण का ज्ञान सन् १६२८ में अँगरेज 'हार्वे' को हुआ। सन् १७४८ मे रेवरेड स्टिफन हेल्स ने रक्त का जोर मापने का एक यत्र निकाला। सन् १८७८ तक मे इस यत्र मे बहुत सशोधन हुआ है, परतु अब तक भी नाडी की गति से रोग-परीक्षा करने का ज्ञान पश्चिमी पडितो को नही हुआ है। हमारे शास्त्रो मे कहा गया है—"केदारेषु यथा कुल्याः पुष्यन्ति विविधौषधीः। तथा कलेवरे धातून् सर्वान् वर्धयते रसः॥ अर्थात् जैसे खेत की नालियों द्वारा भिन्न-भिन्न क्यारिया मे जल पहुँच कर खेती का पोषण करता है, वैसे ही सिराओ द्वारा रस शरीर मे फैलकर धातुवर्धन करता है।" कणाद ने इन सूक्ष्म सछिद्र सिराओ की सख्या सात सौ बतलाई है। रक्तवाहिनी नाडियो की सख्या योगशास्त्र मे साढ़े तीन करोड कही गई है। इतने ही रोम-कूप भी हैं—"तिस्रः कोट्योऽर्धकोटो च यानि लोमानि मानुषे। नाडीमुखानि सर्वाणि धर्मबिन्दूंन्त्सरन्ति च॥" इन नाडियो का आरभ मूलाधार के पास नाभिकद से होता है और हृत्कमल होकर वे सारे शरीर मे फैली हैं—"सार्द्धास्त्रिकोट्यो नाड्यो हि स्थूलाः सूक्ष्माश्च देहिनाम्। नाभिकन्दनिबद्धा-स्तास्तिर्यगूर्ध्वमधः स्थिताः॥" इस प्रकार अशुद्ध रक्त हृदय मे आकर शुद्ध होता और फुफ्फुस में छन कर नाडियो द्वारा शरीर मे पहुँचता है। जिन जिन स्थानो मे नाडी की ध्वनि विशेष स्पष्ट होती है, वहीं नाडी-परीक्षा की जाती है।

नाड़ी-परीक्षा और उसके स्थान—रक्त-सवहन के समय हृदय के सकोचन और विकोचन के कारण जो धमन और स्पदन होता है, उस पर हाथ की अँगुलियाँ रखकर उसकी गति जानने को नाडी-परीक्षा कहते हैं। रक्त-वाहिनी नाडियाँ प्रसरणशील और स्थिति-स्थापक धर्मवाली हैं। इससे उन पर अँगुली रख कर दबाने से स्फुरण स्पष्ट समझा जाता है। पश्चिमी डाक्टरो ने नाड़ी की गति देखने के लिये 'स्फिग्मोग्राफ' यत्र बनाया है। परतु एक की हस्तेंद्रिय पर दूसरे के हाथ के स्पर्श से जितना स्पष्ट ज्ञान हो सकता है, उतना यत्र से नही हो सकता। इसके सिवाय यत्र सबके लिये सुलभ और सुप्राप्य भी नही हो सकता। शरीर मे रक्तवाहिनी नाडी जहाँ जहाँ स्पष्ट स्फुटित होती है वही परीक्षा की जा सकती है। योगशास्त्र मे ईडा, पिगला, सुषुम्ना आदि चौदह नाडियाँ, उनके स्थान, उनके आश्रित दस वायु और सबके भिन्न-भिन्न कार्य, स्वरूप और देवता गिनाए हैं। किंतु वैद्यक कार्य मे इन सबो की विशेष उपयोगिता नही। मासहीन चर्ममय स्थान मे नाडी स्पष्ट होती है; किंतु गहरे और मासल स्थान मे स्पष्ट नहीं रहती। इसलिये दोनो हाथ के अँगूठे के नीचे मणि-बध (कलाई) मे, दोनो पाँवो के गुल्फ-भाग मे और दोनों कपाल की शखनाडियाँ प्रायः देखी जाती है—"अंगुष्ठमूले करयोः पादयोर्गुल्फदेशतः। कपालपार्श्वयोः षड्भ्यो नाडिभ्यो व्याधिनिर्णयः॥" कोई-

कोई कठनाडी, नासानाडी, नेत्रनाड़ी, कर्णनाडी, जिह्वानाड़ी, और मेढ्र (लिंगेंद्रिय) नाडी को भी आवश्यक बताकर—दाहिने-बाये भेद से—सोलह नाडी-स्थान आवश्यक मानते हैं। किंतु सबमे प्रधान—जीवसाक्षिणी—नाड़ी हाथ की कलाई के पास की हो मानी गई है—"अंगुष्ठस्य तु मूले या सा नाडी जीवसाक्षिणी। तस्या गतिवशाद्विद्यात्सुखदु:खंच रोगिणाम् ॥"

नाड़ी-परीक्षा-विधि—वैद्य लोग पुरुषो के दाहने हाथ, दाहने पाँव और दाहने शख की—तथा स्त्रियो के बाये हाथ, बाये पॉव तथा बाये शख को—नाडी देखा करते हैं, क्योकि नाडी का उद्गम नाभिकूप से होता है। योगियो का कथन है कि नाभि-चक्र के बीच सुषुम्ना स्थित है और उसके आसपास अन्य नाड़ियॉ हैं जिनका घिराव कछुए के समान तथा टेढ़ा होता है। उसका मुँह बाई ओर और पुच्छ दाहिनी ओर होती है। ऊपर की ओर बायाँ हाथ और पैर, तथा नीचे की ओर दाहना हाथ-पैर, रहता है। उसके मुख की ओर दो, पूँछ की ओर भी दो, और हाथ-पाँव की ओर पॉच-पॉच नाड़ियाँ निकली रहती हैं। यह कूर्मचक्र पुरुषो के शरीर मे अधोमुख और स्त्रियो के शरोर मे ऊर्ध्व-मुख रहता है। इसी से स्त्रियो की नाडी पुरुषों के विपरीत देखी जाती है। सूर्य की किरणे जैसे सूर्यमडल से निकल कर ससार भर मे फैलती हैं, वैसे ही नाभिचक्र Solar Plexus or Lumber Vertibric से नाडियाँ निकल कर शरीर मे फैली हैं। पाश्चात्य विद्वान् नाभि में नाडीचक्र न मान कर मस्तिष्क मे मानते हैं। परतु हमारे यहाँ नाभि को कंदमूल मान कर मस्तिष्क को नाडियो का सहस्रदल-कमल माना है। शरीर की बनावट के समय भी नाभि से ही नाड़ियो का आरभ होता है, मस्तिष्क की परिणति बाद मे होती है। जो हो, आज-कल का शिष्ट सप्रदाय दोनो हाथ की नाड़ियो का तारतम्य देखकर रोग निश्चित करना उचित समझता है। नाड़ी देखने के लिये उत्कृष्ट समय सवेरे का है, क्योकि उस समय शरीर और मन, रात के विश्राम के कारण, स्थिर और शांत रहते हैं। वैद्य और रोगी दोनों, सवेरे की शौच-क्रिया से निवृत्त होकर, बराबर आसन मे स्थिर हो, मन को एकाग्र कर बैठे। वैद्य, प्रसन्नचित्त हो, ध्यान देकर रोगी के दाहने हाथ को अपने दाहने हाथ मे ले; बाये हाथ से अँगुलियो के अग्र भाग को पकड़े, रोगी के हाथ को कुछ ढीला और झुका हुआ रक्खे, कलाई के पिछले भाग से अपनी अँगुलियो को ले जाकर, अँगूठे की जड से एक अगुल जगह छोड, अँगूठे की सीधवाली नाडी देखे। जिसने तत्काल स्नान किया हो, भोजन अथवा मलमूत्र-त्याग किया हो, जो भूखा, प्यासा, गर्मी से घबराया हुआ, रास्ता चला हुआ और व्यायाम करके अथवा तेल लगा कर आया हो अथवा मैथुन करके आया हो उस मनुष्य की नाड़ी शुद्ध नही रहती। अतएव ऐसे समय मे कुछ देर ठहर कर नाडी देखनी चाहिए। वैद्य, अपनी तीन अँगुलियो से नाडी को जरा दबा कर, नाड़ी की तीस ठोकरे तक देखे; फिर छोड़ कर उसी तरह देखे; पुनः तीसरी बार भी उसी प्रकार देखे। तब उसके तारतम्य का विचार कर रोग-निर्णय करे।

नाड़ी-परीक्षा का महत्त्व—वैद्य के लिये नाड़ी-परीक्षा-विधि जानना नितांत अत्यावश्यक है। जो वैद्य देश, काल और पात्र का विचार कर रोगी के अंतर्बाह्य परिवर्त्तनो का—नाड़ी और

निदान-द्वारा—ज्ञान प्राप्त करता है, वही चिकित्सा-कर्म मे सफल होता है। जो वैद्य नाडी द्वारा रोगी की वास्तविक अवस्था जानता और उचित चिकित्सा करता है, वही शास्त्रो मे वैद्यराज कहा गया है—

"बोधहीन यथा शास्त्र, भोजन लवण विना। पतिहीना यथा नारी, तथा नाडी विना भिषक्॥
नाडीज्ञान विना यो वै चिकित्सा कुरुते भिषक्। स नैव लभते लक्ष्मी न च धर्म न वै यश.॥
नाडीज्ञान विना वैद्यो न लोके पूज्यता व्रजेत्। अतश्चातिप्रयत्नेन शिक्षयेद् बुद्धिमान्नर॥"

कहा गया है कि यह नाडी-ज्ञान सद्गुरु की कृपा से, नित्य के अभ्यास से, देवताओ के प्रसन्न होने से और पूर्वजन्म के पुण्य से ही प्राप्त होता है, केवल अपने-आप पढ़ने से नही। योगाभ्यास और नाडी-ज्ञान के अभ्यास की समानता बतलाई गई है।

त्रिदोषज्ञान—आयुर्वेद की इमारत त्रिदोष के पायो पर खडी है। इसे समझे विना न आयुर्वेद का मर्म ही समझ मे आ सकता और न नाड़ी-ज्ञान ही हो सकता, क्योंकि रोगी के हाथ पर अपने हाथ की तीन अँगुलियाँ रख कर पहले जो समझा जाता है वह दोषो का तारतम्य ही है। वात-पित्त-कफ मे से कौन दोष प्रबल, कौन मध्यम अथवा अनुगामी, और कौन क्षीण है—यह समझने के बाद ही वैद्य रोग का अनुमान करता है। त्रिदोष पर बहुत वाद-विवाद और शास्त्र हैं। किंतु सक्षेप में समझना चाहिए कि तीन शक्तियाँ ही काम करती हैं—(१) वायु की शक्ति अथवा गतिकारक, प्रेरकशक्ति, (२) सूर्य अथवा अग्निशक्ति, अर्थात् ऊष्मा के उत्पादन और स्थापन-द्वारा क्रियाशीलता की शक्ति, (३) चद्रशक्ति, अथवा सोमशक्ति,—अर्थात् स्निग्धता, शीत और शांति द्वारा स्थिरतास्थापकशक्ति। इन शक्तियो को ही आप वात-पित्त-कफ के रूप मे समझ ले। ये शक्तियाँ जैसे ससार का परिचालन करती हैं वैसे ही—'*दोषधातुमला मूल सदा देहस्य*' के अनुसार—शरीर का भी सचालन और सरक्षण करती हैं। 'शुद्ध वायु, उत्साह, श्वासोच्छ्वास, शारीरिक एव वाचिक तथा मानसिक क्रिया-सपादन, मलमूत्रादि की प्रवृत्ति, धातुओ का गमनागमन और इद्रियों की निर्मलता रख कर जीवन-व्यापार चलाता है। 'शुद्ध पित्त'—अन्नपाचन, उष्णता, दृष्टिशक्ति, क्षुधा, पिपासा, रुचि, कांति, धारणा, बुद्धि, शूरता और शारीरिक मृदुता उत्पन्न कर जीवन-व्यापार मे सहायता करता है। 'शुद्ध कफ'—शरीर की दृढ़ता, स्निग्धता, सधिबधन एव शाति सपादन कर शारीरिक-व्यापार-परिचालन मे सहायक होता है। इसी तरह, शास्त्र मे, विकृत (बढे हुए) तथा क्षीण, वात-पित्त-कफ के लक्षण कहे गए हैं। नाडी-द्वारा वैद्य उनका अनुमान कर रोग-निदान करता है। शास्त्र मे कहा गया है कि नाडी मे, अँगूठे के नीचेवाली पहली अँगुली मे, वायु का स्पदन होता है, मध्य अँगुली मे पित्त का स्पदन और अंत की अँगुली मे कफ का ज्ञान होता है। 'वायु' गतिमान होने के कारण, रक्तसचालन मे अपनी क्रिया आगे रखता है, इसी से नाड़ी दबाने पर वह आगे (पहले) अपना अनुभव कराता है। 'पित्त' सरकनेवाला है, इसलिये वायु के बाद दूसरी अँगुली मे उसका ज्ञान होता है। 'कफ' मदगामी और स्थिरता रखनेवाला है, इसलिये अंत की अँगुली मे उसका बोध होता है। आरोग्यावस्था मे नाड़ी केंचुए के समान, साफ, बलयुक्त और स्थिर चलती है। किंतु विकार होने पर वायु की नाडी तिरछी—साँप की-सी चालवाली, कुटिलतायुक्त चलती है। पित्त की नाडी मेढ़क, कौवा और बटेर के समान कूदती हुई-सी, अँगुली पर

उठती-सी मालूम पड़ती है। कफ की नाड़ी हंस, मोर और कबूतर की तरह धीरे धीरे चलती है। जब दोष अकेले न होकर दो के मेलवाले होते हैं तब नाडी की चाल मे भी अतर पड जाता है। वायु और कफ के कोप से नाडी की चाल कभी टेढी सर्पगति और कभी मंद हंसगति तथा मध्यमा और अनामिका के बीच प्रकट होती है। पित्त और कफ के प्रकोप से नाडी कभी उष्ण दादुर-गति और कभी ठढी कपोत-गति तथा अनामिका और तर्जनी के बीच प्रकट होती है। वायु और पित्त की नाडी कभी टेढ़ी, कभी तेज, और तर्जनी तथा मध्यमा के बीच मे प्रकट होती है। किंतु जब तीनों दोष प्रकुपित होते हैं तब सान्निपातिक नाडी कहलाती है। उसमे क्रम से तीनो गतियों का आभास मिलता है। उसकी गति अनिश्चित रहती है। जब नाडी ठंढी, मद, कभी तेज और कभी धीमी, व्याकुल-सी, कभी चलती-चलती रुकती-सी हो तब वह असाध्य होती है। जो नाडी मद होती हुई भी अपना स्थान नहीं छोड़ती और गंभीरता-पूर्वक बलवती चलती है वह रोगी के नीरोग हो जाने की सूचना देती है।

नाड़ी की गति—नाडी की चाल के सबंध मे पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों के अनुभव प्रायः समान हैं। गर्भस्थ बालक की नाडी एक मिनट मे डेढ़ सौ ठोकरे देती है। बालक के पैदा होने पर एक मिनट मे एक सौ चालीस, पहले वर्ष मे एक सौ पन्द्रह से एक सौ छत्तीस तक, दूसरे वर्ष मे चौरासी से एक सौ तीस तक, तीसरे वर्ष मे नब्बे से सौ तक, चौथे से सातवे वर्ष तक पचासी से नब्बे तक, सातवें से चौदहवे वर्ष तक अस्सी से पचासी तक, चौदहवे से पचासवे वर्ष तक सत्तर से पचहत्तर तक, और पचासवे वर्ष के बाद नाडी चौवन से पचहत्तर बार एक मिनट मे ठोकर देती है। अस्सी वर्ष के ऊपर तिरसठ से अठानबे तक नाड़ी की ठोकर होती है।

नाड़ी से क्या क्या बोध होता है?—"यथा वीणागता तन्त्री सर्वान् रागान् प्रभाषते। तथा हस्तगता नाड़ी सर्वान् रोगान् प्रकाशते ॥"—तात्पर्य यह कि जैसे सितार के तार सभी राग-रागनियो को निकालते हैं और जानकार लोग उन्हे जानते हैं वैसे ही नाड़ी-द्वारा काम, क्रोध, लोभ, उत्साह, अनुत्साह आदि मानसिक भावो का तथा प्रत्येक शारीरिक रोग के भेद का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इतना ही नही, रोगी ने कठिन, कोमल, तरल, मधुर, लवण, तिक्त आदि कैसे द्रव्य खाए हैं—यह भी नाडी द्वारा समझा जा सकता है। इन सबके जानने के सकेत हमारे शास्त्र मे वर्णित हैं। नाड़ी-ज्ञान के सूक्ष्माभ्यासी तो यह भी बता सकते हैं कि नाड़ी की कैसी गति होने से रोग साध्य और कैसी होने से असाध्य होता है—रोगी तुरत मरेगा, या एक-दो पहर मे, या एक दो दिन मे, या चार दिन या सात या पन्द्रह दिन मे, या कितने समय मे। एक एक दोष-स्थान पर कौन नाडी कितनी ठोकरे दे तो किस दोष की प्रधानता-अप्रधानता होती है, यह सब जाना जा सकता है। वैद्य जब समझ लेता है कि अब रोगी नही बचेगा तब उसके कुटुबियो को पारलौकिक क्रिया करने का संकेत कर देता है। पडितराज रावण कहता है—

मृत्यून्मुखां धरां ज्ञात्वा न चिकित्सेद् गदातुरम्। **रामनामौषधं** तत्र कारयेत्पारलौकिकम् ॥
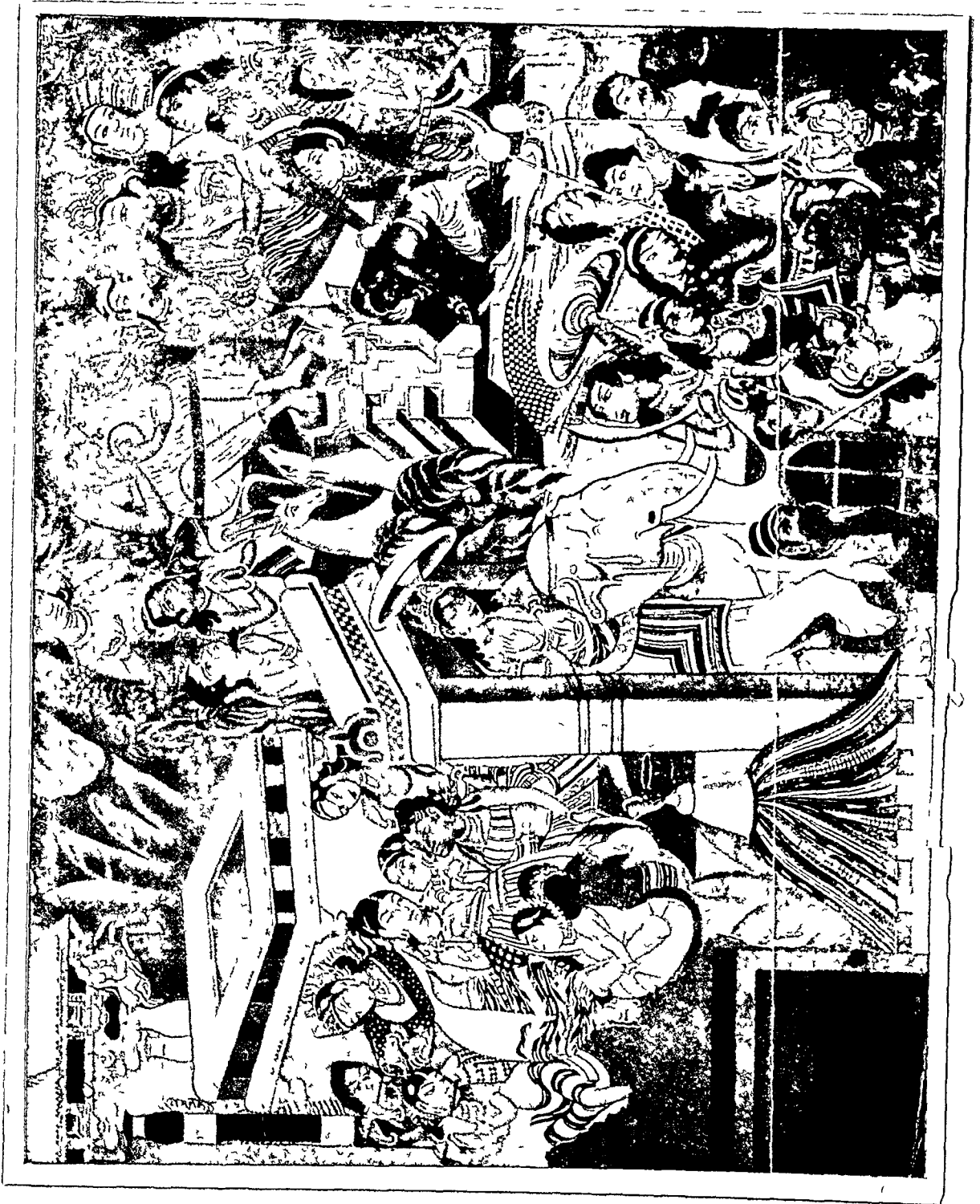
भारतीय कला

पृष्ठ ४८९
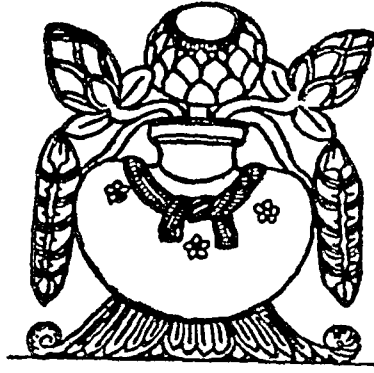
भारतीय कला

श्रीगोपाल नेवटिया

भारत के कभी ऐसे भी दिन थे जब वह सांसारिक चिंताओ से मुक्त था। उन्ही दिनो यहाँ ऐसे अनेक हृदय थे जिनमे सरसता छलकती रहती थी। उनसे जो रस छलका उसका आस्वादन आज भी हम लोग कर रहे हैं। समय-समय पर वह सरसता अनेक रूपो मे प्रकट हुई है—कवि की कविता मे, चित्रकार के चित्रो मे, मूर्त्तिकार की मूर्त्तियो मे, शिल्पियो के निर्माण-कौशल मे। बौद्ध-कालीन सम्राटो का आश्रय पाकर अनेक कलाविदो ने चित्र, प्रतिमा, चैत्य, मदिर, स्तूप, प्रासाद आदि के रूप मे ऐसी सुदर कला को जन्म दिया जो आज भी आकर्षण का केद्र हो रही है। मुगल-सम्राट् शाहजहाँ का वह शरच्चद्रिकाचर्चित स्फटिकोज्ज्वल 'ताज' आज भी ससार के कोने-कोने से कला-प्रेमी यात्रियो को अपनी ओर आकृष्ट करता है। अजता की कला-मडित गुफाएं आज भी इतिहासवेत्ताओ के नेत्रो को विस्फारित और ललाट को कुचित करती हैं।

कला और आनद का घनिष्ठ सबध है। कला आनदोद्वेलित हृदय से जन्म पाती है, इसी लिये उसका एकात उद्देश्य होता है दूसरो को आनदित करना। किसी सुंदर प्रतिमा के सुविशाल नेत्र, मदस्मित-विकसित अधर, उन्नत उरोज, प्रफुल्ल कपोल, क्षीण कटि, सुघटित अलकार और कमनीय कलेवर यदि दर्शक को आनंदित न कर सके तो मूर्त्तिकार का प्रयत्न निष्फल समझना चाहिए। कलाकार की असफलता—और शोचनीय असफलता—एक दूसरे परिणाम से भी समझी जानी चाहिए। उसकी कला से यदि मन मे विकार उत्पन्न हो तो समझना चाहिए कि उसने कला के साथ अत्याचार किया है। अपने हृदय के सौदर्य और आनदोल्लास को दूसरों के सामने प्रकट करने के लिए कलाकार के पास रमणी-सौदर्य एक बहुत ही प्रिय साधन सदा से रहा है। उस सौदर्य की अभिव्यक्ति यदि वासनाओ से दूषित हो तो वह 'कला' नहीं। यद्यपि कला का एकांत उद्देश्य आनद प्रदान करना ही है तथापि उस आनंद के परिणाम पर ही कला की सफलता अथवा असफलता अवलबित है। वास्तविक

कलाकार को तो अपना लक्ष्य आनद-वितरण ही रखना चाहिए। भारतीय कलाकारो की यह विशेषता उनकी अपनी वस्तु है। और, इसी विशेषता मे उनकी सफलता निहित है।

दुर्भाग्यवश बौद्ध काल से पहले की भारतीय कला के अवशेष विशेष उपलब्ध नही हैं। जो थोडे-बहुत उपलब्ध हैं उनसे, और प्राचीन ग्रथो के विशिष्ट वर्णना मे भी, भारतीय कला का अद्भुत गौरव प्रकट होता है। वैदिक और पौराणिक काल की तो बात ही क्या, बौद्ध-काल मे भी भारत सुखी और संपन्न था, सभी आनदित थे। वह आनद तत्कालीन कला मे प्रतिबिबित है। साथ ही, भारतीय कलाकारो की एक विशेषता यह भी है कि उनकी कला इस जगत और प्रकृति, तथा जगत् एव प्रकृति के निर्माता को परस्पर सबद्ध करनेवाली वस्तु प्रतीत होती है। कलाकार का उद्देश्य यदि केवल उपदेश देना हो तो कलाविदो के मतानुसार उसका परिश्रम असफल समझा जाना चाहिए। पर भारतीय कलाकारो को तो अपनी कला की सिद्धि के लिए ऐसा साधन प्राप्त था कि आनंदोपलब्धि का उद्देश्य अनायास सिद्ध हो गया। उनका वह साधन आध्यात्मिक ज्ञान था, जो भारत की निजी सपत्ति है। उसी से प्रेरित होकर उन्होने निर्जीव पत्थरो को सजीव बनाया, पर्वतो से सौदर्य की खान निकाली, भारत वसुधरा को शिल्प-शृंगार से अलकृत किया।

बौद्ध-कालीन कला से सुशोभित अजंता की सुप्रसिद्ध गुफाओ के सबध मे एक दतकथा प्रचलित है—"एक बार देवी-देवताओ ने स्वर्ग से ऊबकर पृथ्वी पर आने का विचार किया। स्वीकृति के लिए प्रस्ताव इद्र के समुख उपस्थित किया गया। इंद्र ने स्वर्ग से बाहर रहने के लिए केवल एक रात का अवकाश दिया। देवताओ को आदेश दिया कि अरुणशिखा की प्रथम ध्वनि के पूर्व ही लौट आवे। देवता हर्ष से फूले न समाए। वे अजता की पहाडियो पर उतरे। वही आनदोत्सव मनाया जाने लगा। भारत के प्राकृतिक सौदर्य से वे इतने मोहित हुए कि उन्हे निर्धारित समय पर वापस जाने का ध्यान ही न रहा। बस, इद्र के शाप से सब देवी-देवता चित्र-रूप होकर सदा के लिए अजता की पहाडियो पर रह गए।" इस दतकथा के गढनेवाले ने भारत के प्राकृतिक सौदर्य से मुग्ध होकर स्वर्ग के भूल जाने की बात खूब कही है। साथ ही, इद्र के शाप से देवी-देवताओ के चित्रवत् हो जाने की बात कहकर अजता की गुफाओ मे दिखाए गए भारतीय कलाकारो के शिल्पनैपुण्य का चरमोत्कर्ष भी प्रकट किया है।

कला-द्वारा कलाकार से सांनिध्य स्थापित करने की बात से भारत भली भाँति परिचित था। उस 'अज्ञात कलाकार' की कला—प्रकृति—द्वारा 'उससे' सबध स्थापित करने की बात भारत खूब जानता था। भारतीय कलाकारो की उस कला का मूक उद्देश्य भी तो वही सबध स्थापित करना था। वे कलाकार अपनी कला के प्रदर्शन के लिए ऐसा स्थल क्यो न चुनते जहाँ का प्रत्येक कण उस सबंध को सजीव बना रहा हो? प्राकृतिक दृश्य से परिपूरित प्रदेश मे सुदरतर कला का जन्म स्वाभाविक हो जाता है। प्रकृति के स्वरूप के ज्ञान से ही कला को उत्तेजन मिलता है। स्वरूप और सौदर्य के लिए कला सदैव प्रकृति की ऋणी है। बाह्य सौदर्य ही आतरिक सौदर्य को विकसित करता है। प्राकृतिक सौदर्य से हमारे कलाकारो ने जो उत्साह, जो आनंद प्राप्त किया वह उनकी कला मे वर्त्तमान है। अजता की

पहाड़ियों पर आकर देवी-देवताओ के स्वर्ग को भुला देने की दतकथा मे वहाँ के अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य की बात कितने सुदर ढग से कही गई है ! उस 'सर्वश्रेष्ठ कलाकार' की कला के अंक मे अपनी कला का चमत्कार प्रदर्शित करने की इच्छा स्वाभाविक ही है। एक सुदर गायक के साथ गुनगुनाने का किसका जी नही चाहता ? विश्वस्रष्टा ने मनोमुग्धकारिणी प्रकृति को अतुलनीय शोभासपत्ति प्रदान की है । जिस हृदय मे उस सौंदर्य को देखने के लिए प्रसन्न नेत्र हो और फिर उसे व्यक्त करने के लिए वाणी, तूलिका अथवा अन्य साधन भी हो, वही कलाकार है। वह किसी नव-रसाल के कोमल किसलय, किसी फूल के अद्भुत रग, किसी निर्झर के प्रखर प्रवाह और वन्य-प्रदेश की रमणीयता से मोहित होकर अलौकिक सौंदर्य की कल्पना करता है। इसी कल्पना के सहारे वह अपनी कला का प्रदर्शन करता है। यदि उसकी वाणी मे वैभव है तो श्रुतिमधुर स्वर-लहरियो के द्वारा, यदि उसकी तूलिका मे चमत्कार और कौशल है तो नयनाभिराम चित्रो के द्वारा, यदि उसके औजारो मे प्राण है तो प्रस्तर-प्रतिमा के द्वारा वह अपनी अनुभूति को दूसरे हृदयो तक पहुँचाता है। जहाँ प्रकृति षोडश शृगार से विद्यमान है वहाँ उसके सौंदर्य का अनुकरण करने के लिए कलाकार का हृदय अनायास उत्साहित होता है। वाद्य यत्र के एक मोटे तार के हिलने से दूसरे छोटे पतले तार भी झकृत होने लगते है। भारत के प्राचीन कलाकार प्राकृतिक सौंदर्य की बाहरी रूप-रेखाओ को देखकर उसी का अनुकरण नही करते थे, वे तो उस सौंदर्य की आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त करते थे और उसी आतरिक सौंदर्य को अपनी कला मे अभिव्यक्त करते थे। वे नैसर्गिक सौंदर्य को इन चर्मचक्षुओ से नहीं, हिये की आँखो से देखते थे और उसकी अभिव्यक्ति भी हार्दिक उल्लास से ही करते थे। यही कारण है कि आज अनेक शताब्दियो के बाद भी उनकी कला जीवित है।

भारत की सभ्यता और सस्कृति प्राचीन काल से धर्मप्रधान रही है। उसका प्रत्येक कार्य धर्म से सबद्ध रहा है। भारतीय कला पर भी धार्मिकता की छाप है, और वह छाप उस कला को सजीव बनानेवाली है। यद्यपि आनद-वितरण के लिये कला का जन्म होता है, तथापि किसी व्यक्ति-विशेष को आनदित करने के लिये उपस्थित की गई कला का क्षेत्र सीमित और जीवन अल्प होता है। पर भारत की प्राचीन कला किसी व्यक्ति विशेष के निमित्त नही थी। भारतीय कलाकारो को धार्मिक भावना ने उस कला को 'स्वांतःसुखाय' और अपने आराध्य देव के प्रीत्यर्थ जन्म दिया था, इसी कारण वह कला अमर है। यदि भारतीय कलाकारों की कला नारी के सौंदर्य मे प्रकट हुई है तो वह नारी मानवी नही, किंतु देवी है, पार्वती है, लक्ष्मी है, शक्ति है, जगदबा है, बुद्ध-जननी है, अथवा है स्वर्गीय अप्सरा। पुनः वही कला यदि पुरुष के रूप मे प्रकट हुई है तो वह पुरुष मानव नही, किंतु देवता है, विष्णु है, राम है, कृष्ण है, शिव है, इद्र है, बुद्ध है। इसी प्रकार उन कलाकारो के लता-वृक्षादि भी अलौकिक हैं, कल्पतरु हैं, बोधिवृक्ष है। भारतीय कला की महत्ता एव सफलता का रहस्य इसी मे निहित है।

निरक्ष देश

ज्योतिपाचार्य सूर्यनारायण व्यास, विद्यारत

'निरक्ष देश' उस स्थान का नाम है जहाँ अक्षांश न हो[1]। दक्षिण और उत्तर ध्रुव जिस भूमि से समतल पर दिखलाई दे वहाँ अक्षाश नहीं हो सकते[2]। अतएव निरक्ष देश का निवासी दक्षिणोत्तर ध्रुवो को जमीन से लगा हुआ देख सकता है[3]। 'वसिष्ठसिद्धांत'-कर्त्ता लिखते हैं—"व्यक्ष-देशस्थितैर्मर्त्यैर्ध्रुवतारे समीक्षिते, वामदेशोभये साक्षात्सौम्ययाम्ये ध्रुवाश्रिते, अतो लकाख्यदेशे च नाक्षांशा न पलप्रभः।"—अर्थात् व्यक्षदेश (अक्षांश-रहित) देश मे रहनेवाले को ध्रुवतारे (दोनो) दिखलाई देते है। यही कारण है कि 'लका' मे अक्षांश और पलभा दोनो नही होते।

उत्तर मेरु के मध्य स्थान से ठीक समानातर पर समुद्रीय उत्तर तटो पर, जबूद्वीप की चारों दिशा के छोर मे, भूगोल-कल्पित पूर्वादि दिशाओ मे, चार नगरी है। उत्तर मेरु से भू-परिधि के चतुर्थांश (नब्बे अश) की दूरी पर, पूर्व-भद्राश्व वर्ष मे, 'यमकोटी' है[4]। दक्षिण मे भारतवर्ष मे 'लका' है, और पश्चिमस्थ केतु मालवर्ष मे 'रोमक' नगर है, और उत्तरस्थ कुरुवर्ष मे 'सिद्धपुरी' है। इन चारो स्थानों मे भूपरिधि के चतुर्थांश (नब्बे-नब्बे अंश) का अंतर है। उक्त नगरों के मध्य आकाश और ध्रुव मे नब्बे अश का अतर होने के कारण 'ध्रुव' क्षितिज मे लगा हुआ दिखलाई पड़ता है। इसलिये ध्रुव मे कोई ऊँचाई नही होती, और उसी ऊँचाई का नाम अक्षांश है।[5] यही कारण है कि इन नगरों मे अक्षांश नही होते, अतः ये निरक्ष देश है।

१ 'यन्त्रोन्नतिर्ध्रुवेऽक्षाशा'—भास्कराचार्य।

२ 'निरक्षदेशात्क्षितिमण्डलोपगौ ध्रुवौ नर पश्यति दक्षिणोत्तरौ'—भास्करः।

३ 'क्षितिलग्ने ध्रुवतारे पश्यति पुरुषो निरक्षदेशस्थ.'—भास्करः। 'मेरोरुभयतो मध्ये ध्रुवतारे नभःस्थिते, निरक्षदेशसंस्थानामुभये क्षितिजाश्रये,—अतोनाक्षोच्छ्रितिस्तासु ध्रुवयोः क्षितिजस्थयो.''—सूर्यसिद्धांत, श्लोक ४३-४४

४. श्री शिवप्रसाद गुप्त जी ने अपने 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' नामक बृहत् ग्रंथ मे जापान के वर्तमान नगर 'यामातो' को 'यमकोटी' बतलाया है, परतु यह ठीक नही है।

५. "यन्त्रोन्नतिर्ध्रुवेऽक्षांशा"—भास्कराचार्य.।

ग्वालिन

चित्रकार—श्री० मथुरादास गुजराती

(चित्रकार के सौजन्य से)

प्राच्य और पाश्चात्य सभी विद्वान् मानते हैं कि दिन-रात की जो घट-बढ हुआ करती है वह अक्षांशवाले प्रदेश मे ही होती है; क्योकि ध्रुव की ऊँचाई-निचाई ही 'अक्षाश' है, अतः जहाँ जितने अक्षाश हैं वहाँ दिन-रात्रि की उतनी ही घट-बढ होती रहेगी। जहाँ अक्षांश ही न हो, वहाँ दिन-रात्रि के घटने बढ़ने का सवाल ही क्यो उठेगा ? जिस भू-भाग पर अक्षाश न होगे—अर्थात् ध्रुवद्वय सम-भूमि पर दिखाई देंगे—वहाँ दिन-रात सर्वदा समान होंगे, न्यूनाधिक होने की सभावना कदापि नही है। आज स्कूल के लड़के भी इस बात को जानते हैं कि निरक्ष वृत्त पर बारहो मास दिन-रात बराबर होते हैं। भास्कराचार्य का कथन है—"सदा समत्व द्युनिशोनिरक्षे—निरक्ष देश मे दिन-रात सदा समान होते है।" 'सूर्यसिद्धात' मे भी लिखा है—"सव्य भ्रमति देवानामपसव्य सुरद्विषाम्। उपरिष्ठाद् भगोलोय व्यक्षेपश्चान्मुख. सदा। अतस्तत्र दिन त्रिशन्नाडीक शर्वरी तथा॥"—अर्थात् भगोल को देवता लोग दक्षिणादि क्रम से और असुर लोग उत्तरादि क्रम से घूमता हुआ देखते हैं, किंतु वस्तुतः निरक्ष देश-वासियो के मस्तक के ऊपर से यह भचक्र सदा पश्चिमाभिमुख भ्रमण करता है, इसलिये निरक्ष देश मे तीस घड़ी का दिन और तीस घड़ी की रात्रि होती है।

चित्र मे 'श' वह स्थान है जिससे विदित होता है कि ग्रह कितने समय तक क्षितिज के ऊपर रहता है। 'उ'-'श'-'द'-रेखा 'श'-स्थान की क्षितिज रेखा है तथा 'ध'-'श'-'धा' निरक्ष देश की क्षितिज रेखा है। 'ध' आकाशीय उत्तर ध्रुव, और 'धा' दक्षिण दिशा का ध्रुव है। 'ऊ'-'ध'-'ख'-'द'-'धा' याम्योत्तर वृत्त, और 'ख'-'श'-'का'-'ख' स्वस्तिक है। पृथ्वी की दैनिक गति के कारण ग्रह-तारा आदि जिस वृत्त पर घूमते हुए दिन मे एक परिक्रमा करते दिखाई पडते हैं, उस वृत्त को उस ग्रह-नक्षत्र-सूर्य का अहोरात्र-वृत्त कहते हैं। यह अहोरात्र-वृत्त विपुवद्-वृत्त के समानान्तर मे होता है। तीन अहोरात्र-वृत्तो के व्यास 'व-वा'-'वि-वी' और 'वु-वू' रेखा से प्रकट किए गए है। 'वि-वी' अहोरात्र-वृत्त का व्यास विपुवद्-वृत्त से मिल जाता है। इस पर वही तारे या ग्रह चलते देख पडते हैं जो ठीक विषुवद्-वृत्त पर रहते है। सायन-विपुव-सक्रमण के दिन सूर्य भी इसी अहोरात्र-वृत्त पर चलता हुआ दिखाई पडता है। यदि किसी ग्रह की उत्तर क्रांति 'व-वी' धनु के समान हो तो उस ग्रह के अहोरात्र-वृत्त का व्यास 'व-वा' होगा—इत्यादि। इस चित्र से प्रकट होता है कि 'ध-श-धा' रेखा से, जो निरक्ष देश की क्षितिज रेखा है, सभी अहोरात्र-वृत्त के व्यास दो सम भागो मे कट जाते है। निरक्ष देश मे जब तक सूर्य, तारा या ग्रह 'ध-श-धा' रेखा से ऊपर रहता है, तब तक वह देख पडता है या उदित रहता है, और जब तक वह इस रेखा से नीचे रहता है तब तक देख नही पडता, अर्थात् अस्त रहता है। इसी लिये निरक्ष देश मे, जहाँ यह रेखा क्षितिज बनाती है, सूर्य-चद्र-तारे सभी बारह घटे तक उदित और एक दो घटे तक अस्तगत रहते हैं। इस बारह घटे तक के समय मे छ. घटे तक तो यह पूर्व क्षितिज से निकल कर ऊपर चढ़ते हुए याम्योत्तर-वृत्त पर पहुँचते हैं, और छः घटे तक याम्योत्तर-वृत्त से नीचे उतरते हुए पश्चिम-क्षितिज मे जा लगते हैं। निरक्ष देश मे उत्तर या दक्षिण के स्थानो मे केवल वे ही ग्रह या तारे आधे दिन तक उदित और आधे दिन तक अस्त रहते हैं। जो विपुवत्-वृत्त पर रहते हैं—अर्थात् जिसके अहोरात्र-वृत्त का व्यास 'वि-वी' से मिलता-जुड़ता है, किंतु जिस ग्रह-तारे की

क्रांति उत्तर होती है, वह उत्तर-गोल मे आधे दिन से अधिक समय तक क्षितिज के ऊपर रहता है[1]। यही क्यों, भास्कराचार्य भी दिन-रात्रि-साम्य के विषय मे निरक्ष देश के लिये यही कहते हैं—"सदा समत्वं द्युनिशोर्निरक्षे" और कमलाकर महाशय भी अपने 'तत्त्वविवेक-सिद्धांत' मे बतलाते हैं—"सदा समत्वं द्युनिशोश्च सौम्ययाम्यध्रुवाधः स्थितयोर्निरक्षे—अर्थात् उत्तर एव दक्षिण-ध्रुव के निरक्ष देश मे सम-स्थल पर रहने के कारण दिन-रात्रि का साम्य होता है"।

उपर्युक्त विवरण से निरक्ष देश और उसकी स्थिति के विषय मे बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका है। अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि इदौर के विख्यात विद्वान् डाक्टर कीबे साहब (डिपुटी प्राइम मिनिस्टर, होल्कर-स्टेट) और मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् रायबहादुर श्री हीरालाल जी बी० ए० ने जिस 'लंका' को मध्य-भारत मे लाने का वाद उपस्थित कर रक्खा है, वह 'लका' (रावणी लंका) भी निरक्ष देश ही है; क्योकि विषुवद्दिन मे सूर्य 'लका' के ऊपर ही भ्रमण करता है[2]। इस कारण उस दिन लंका पर मध्याह्न की छाया नही पड सकती— अर्थात् 'पलभा' नही होती। विषुवद्दिन के मध्याह्न की छाया ही 'पलभा' होती है और उस दिन सूर्य एव ध्रुव का अतर भी नब्बे अंश के समान हो जाता है। अतएव लका मे अक्षांश भी नही होते। "लकायां शून्यमक्षांशाः लम्बांशाः खाङ्कसंमिताः" (तत्त्वविवेक)। अर्थात् लका मे अक्षांश शून्य है। वैसे ही 'लका' मे 'चर' भी नही होते। उन्मण्डल और क्षितिजोदय के अतर का नाम 'चर' है[3]। यहाँ तो उन्मण्डल पर ही निरक्ष देश—लका—है। वृद्ध वसिष्ठ अपने सिद्धांत मे लिखते है—"लकावृत्तो मध्यस्थिते भुवो यत्कुज तदुद्वृत्तम्। तेन न तत्र चरं सदा समत्व च दिवसनिशोः। तत्राऽक्षाभावेऽपि स्व-स्वक्रान्त्या स्थितौ तिरश्चीनौ ॥" इसका सारांश यही है कि लका निरक्ष है,—अक्षांश-शून्य है, और निरक्षत्व होने के कारण दिन-रात्रि का साम्य है, इत्यादि। परतु आज यह जगद्विख्यात दक्षिण-दिग्भागस्थ-रावण-राजधानी-निरक्ष देश 'लका' कल्पनाओ के आधार पर मध्य प्रदेश के अक्षांश-युक्त प्रदेश 'अमरकटक'[4] मे बताई जा रही है !! सहृदाश्चर्यम् !!! जिस स्थान को आकाशीय परिस्थिति के कारण अक्षांश-शून्य साधार जानकर गणित का महत्त्व-पूर्ण कार्य सपन्न किया जाता है, उसी गणित को दिन-रात्रि की घट बढ़ होनेवाले अक्षांशयुक्त स्थान से सपन्न कराने की स्थिति उत्पन्न की जा रही है ! किमाश्चर्यमतः परम् ?

१. विज्ञानभाष्य।

२ हम अपने 'सरस्वती', 'माधुरी' और 'त्यागभूमि' के लेखो मे 'लंका' के विषय मे काफी लिख कर उक्त विद्वानो से निवेदन कर चुके है कि उनका मत भ्रमात्मक है। उनका कहना था कि शायद भास्कराचार्य की लंका रावण की लंका से भिन्न हो ?' इसके कई प्रमाण उपस्थित कर भास्करी लका को भी रावणी बतला चुके है। 'द्युदलभाविषुवद्दिवसे प्रभा"—सि० शिरोमणि।

३. 'उन्मण्डलक्ष्मावलयान्तराले द्युरात्रवृत्ते 'चर' खण्डकालः—' भास्करः।

४ 'अमरकंटक' के अक्षांश है—२४।९१।

The Macaulay Maya

By St Nihal Singh

I

The sun was near setting It seemed to stand still for a few moments, as if enchanted with the long-stretching vista of mountain and vale Suddenly, recovering from its trance, it dropped out of sight

For a space the deep blue sky overspread with a film of clouds in little flakes like the scales of a mackeral just taken out of the sea, was iridescent Then darkness, emboldened by the absence of the moon that had departed on a distant quest, flung a soft black velvet mantle over the scene, blotting out perspective

My wife and I had had a tiring day We had wandered over hill and dale as long as the sunlight possessed any photographic strength making pictures of the mountains and valleys and streams and of the hill-folk of the region thereabout

A doctor-man, also an Indian, who knew Ceylon as few Ceylonese did, had accompanied us from Colombo He, too, was very tired and sat beside us We three might have been deaf-mutes for all the talk we engaged in

So long as the heavens were lit and the shadows were lengthening, we were, in a dazed sort of way, enjoying the beauty all about us But when darkness shut out the view the jaded mind was perforce turned inwards and we became all the more conscious of the bodily aches and pains which we had been trying to forget

II

Presently three men filed into the verandah of the wayside inn in which we were stopping for the nonce and occupied chairs at a short distance from us They were strong, well-built fellows Their faces, once white, had been deeply bronzed by much exposure to the tropical sun Their speech soon indicated (to me) that one of them was a Scot, the second a Welshman and the third an Englishman From the way they talked of the *tapal* (the Tamil word for " post ") it was plain to me that they were all tea-planters, probably on estates under the same proprietorship

Hardly had they sat down when one of them yelled "Boy!" and ordered whiskey and soda They drank their "pegs" almost at a gulp, as if they had been out in the sun all day and were very thirsty

Immediately another round of drinks was brought and the glasses were once more emptied

The same process was repeated over and over again until three bottles of whiskey and goodness knows how many of soda water had been emptied

Just as the news was brought to us that our dinner was ready to be served, I heard the Scot telling his companions

"You fellows think that I am drunk I tell you I am not and I'll prove *it to you*"

As he got up from his chair he said "As you both know a drunken man is supposed not to be able to walk in a straight line I can, and I will show you that I can"

And he walked to the end of the verandah, stepping with sure tread along the edge of a long strip of coir matting spread over the floor No life-long total abstainer could have kept a straighter line

After sitting in his chair for a minute or so, he said "Now boys I will give you another test of my soberness A drunken man is supposed to be unable to keep his balance even on two legs I will stand on one leg without wobbling Now watch me"

He solemnly stood like a stork bearing all his weight on one foot then drew the other up until the sole of his boot pressed against the knee The feat was so neatly performed that I had some difficulty in restraining myself from applauding him

After he had sat down one of his companions remarked

"Is it not time for us to settle our bill and go home?"

"Ah, yes," said the third man, who had been the least talkative of the three "But what shall we tell the ladies when we get back? We cannot reach home before half-past ten, or may be eleven at the earliest and we shall have to explain why we are so late"

"You and I can say that we met Jock (indicating the Scot who had been demonstrating his soberness) and had a long discussion with him about the work There was much to talk about and so the time ran on"

"No, no, lad," the tall fellow from Scotland interrupted "That's not wise The ladies will get together and compare notes and catch us in a net of

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी० ए०
(सन् १९२२ से १९२५ तक और मई १९२७ से १९२८ तक आप 'सरस्वती' के संपादक रहे)
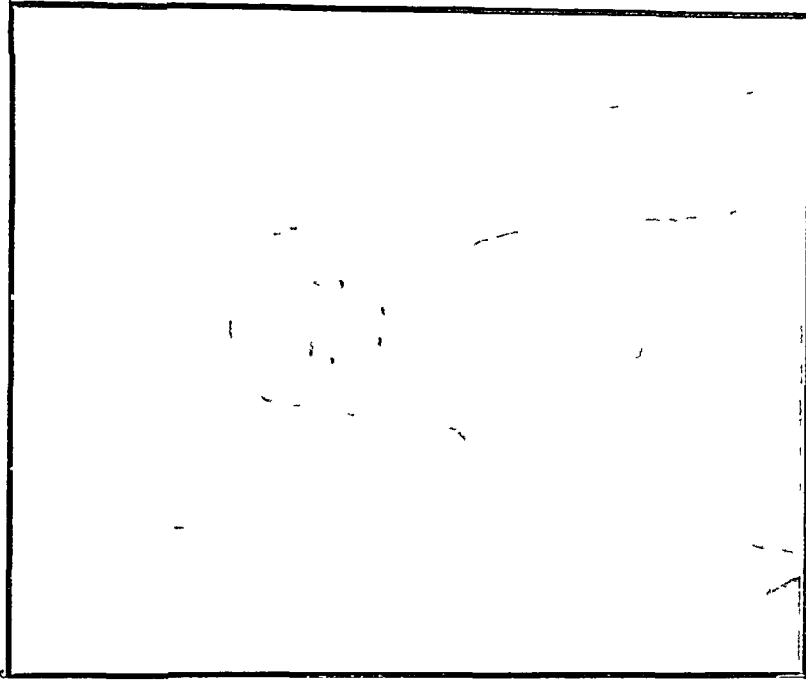
पंडित देवीप्रसाद शुक्ल, बी० ए०, एल्-एल० बी०
(द्विवेदी जी के अवकाश ग्रहण करने पर आपने सन् १९१० में तथा १९१९ में 'सरस्वती' का संपादन किया था)

पंडित हरिभाऊ उपाध्याय
(द्विवेदी जी के समय में 'सरस्वती' के सहकारी संपादक)

पंडित उदयनारायण वाजपेयी
(द्विवेदी जी के समय में 'सरस्वती' के सहकारी संपादक)

lies Women are the very devil at that game But why blame an animate object when you can lay it on an inanimate one? "

" What inanimate object can we blame? " demanded the other two in one voice

" The car, to be sure lad," replied the Scot " We will say that all four tyres burst at one time as we were driving over a rough road We had only one stepney and so had to patch up the other three It took a long time and so, to our great regret, we could not reach home until very late The ladies will sympathize with us instead of quarrelling with us, and if we all stick to the same story there can be no mixing us up "

So it was agreed The three men went noisily to the car that was to be the scapegoat for their sins and, climbing into it, disappeared, tooting the motor horn uproariously as they drove like mad down the single street of the small settlement

III

It was inevitable that the talk at the dinner table, to which we proceeded as the planters departed, should revolve round the antics of the merry Scot Not for long, though

All of a sudden my mind slid down the slope of time from the mountaintop of to-day into the valley of my boyhood I seemed to be back in the Punjab All about me were Punjabis and a few Bengalis We all were drunk and performing antics, like the inebriated Scot, to prove that we were perfectly sober and inventing plausible tales to explain away our abnormal condition

The only difference was that our intoxication had not been caused by drinking whiskey The wine that had gone to our heads was the knowledge imported from the West, which we had imbibed not wisely but too well It was a heady wine

I could not have plodded my weary way through more than two or three English primers at the time in which I fancied myself living once again Naturally, my English vocabulary failed at almost every turn I had to supplement it with Punjabi It must have been a queer jargon So proud was I, however, of my knowledge of the foreign tongue that I used it in season and out of season

I recall that the keeping of the *dhobi* account used to be my affair The washerman would come every week to deliver the clean linen After it had been

checked he would sort out the soiled linen, count aloud, and I would write down the number of the various articles on an odd bit of paper

My mother's watchful eye followed every moment My memorandum was often found to be at fault, but never her memory The *dhobi* would have to acknowledge that she was correct each time she found a garment short

Yet I considered myself intellectually superior to her because I could "talk English" while she could not Her love was so deep and her sense of humour so great that she suffered my impudence without remonstrance She knew that some day I would grow out of it and feel contrite

I often wish that one of these precious memoranda of mine had been preserved It would have furnished me no end of merriment, for the expressions that I coined for clothes of which I did not know the English name were fearful and wonderful

I remember, for instance, that I called pillow-cases "tissues"

A "tissue" and a "case" appeared to my boy-mind to be synonymous, only a "tissue," I fancied, was made of fine stuff such as muslin, while a "case" was made of wood or leather I must add that the pillow-cases were made from *latha*—as we called "long-cloth"

Clever invention, was it not?

There were other efforts upon my part similarly to enrich the English language but I forbear from trying the reader's patience

IV

After I had advanced a little in my studies I recall inditing an article for publication It had to be in English Nothing short of that would have satisfied my ambition

How well I remember the circumstances in which this article was composed.

A missionary body in Calcutta used to issue a newspaper, twice a month, if I remember aright It was sent free to any one who asked for it

Somehow a copy of it fell into my hands It occurred to me that by scanning its pages I would be able to increase my vocabulary of English words and improve my method of putting them together

I must have been then about fourteen or fifteen years of age but I had already made up my mind that I would be a writer of English I prescribed the paper for myself in the sure knowledge that it would advance that ambition

I seem to have been entirely oblivious of the spell that the reading of the missionary matter every fortnight might cast over it Or was I, in my vanity, sure that the fabric of my mind was incapable of taking the missionary dye? I do not remember but I would not put it beyond me There was nothing that, in my middle 'teens, thought I could not do

Some sort of controversy was ever going on in the columns of this missionary publication One fine day I was lifted into the seventh heaven of delight by an opportunity that I seemed to detect to enter the lists

I penned a few lines in feverish haste My father being also my confidant, I took my effort to him

Kindly man that he was, he said "What is the good of asking me whether the editor will print it or not? Now that you have written it, make a fair copy of it and we will send it and see what happens If it is printed, well and good If not, no harm would have been done You can try again"

Needless to say, father spoke to me in English, as he frequently did so as to help me to become accustomed to using the language fluently His greatest ambition where I was concerned was that I should become a member of the I C S or a barrister-at-law, and he was therefore anxious that I should become proficient in the language employed in the public offices and the courts As for me, my only desire and intention was to become a journalist Since this profession required proficiency in English, father's efforts did not go in vain, at least to that extent

In any case, knowledge of English, to him as to practically cent per cent of the "educated men" of his generation, constituted a stepping stone to greatness and success in life, and he was determined that I should have the advantage of knowing that language Fortunately for him—and ultimately for me—his feet were firmly planted on the Indian soil, even though his head was pushed into the Western clouds

So the fair copy was made—by hand There were not many typewriters about nearly two score years ago Father himself put it into an envelope, directed it in his beautiful, copper-plate writing and, affixing a stamp to it, had it posted

Sleepless nights and restless days followed Finally came the date when the issue that might conceivably contain the article was due to be received I accompanied Narain Singh—officially the peon but privately my companion and friend—who was sent each morning to fetch the mail from the head post office, a matter of a mile and a half from the house

As soon as the sorter gave the paper to the servant, I snatched it from his hand, tore off the cover and scanned the columns Finally my search was rewarded My eyes lit upon my little contribution

Since then matter that has flowed from my pen has found its way into the columns of newspapers and the pages of magazines and reviews in every quarter of the globe But I recall no literary conquest that gave me such delirious joy as the publication of this, my first effort at writing for the press in English

The Scot standing on one leg on the verandah in the Ceylon wayside inn was not more intoxicated than I was on this occasion I felt that I had successfully demonstrated the fact that I was a "master of English," as I fondly fancied myself to be Did any one ever earn the Master's degree in any subject with such little effort?

This article was a typical product of the time Exceedingly sensitive as I was to what was going on about me I had caught the contagion of mocking at everything indigenous and had poked fun at Ganesha A creature with the head of an elephant and the body of a human being was a monstrosity, if not a physical impossibility, I asserted

The missioner who edited the paper must have chuckled as he perused this effusion and passed it on to the printer

Not a glimmer of comprehension of the rich treasures stored up in India's past did these lines penned by me contain How could they when the atmosphere in which I lived and moved was filled with an intellectual mist that had poured in from Europe and blotted out every ray sent out by the shining accomplishments of our forefathers? It flung a veil over familiar objects, like a London fog (of which I was to have experience in later years), so that all sense of direction was lost for the time being

V

Strange as it now appears, the task that the study of various subjects through a language that I had not learnt at my mother's knee and that I scarcely comprehended, did not then seem to be laborious It must have held back my intellectual growth inevitably

I have little doubt that the strain it imposed upon me was primarily if not wholly responsible for my inability to wrestle with subjects such as mathematics and other exact sciences, in which, but for this unnatural process, I might have acquired a measure of proficiency Economic necessity or artistic craving compelled me in later life, to obtain a working knowledge of some of them. What an amount of cerebral tissue must have been killed in the process!

रूपसिखा

(मुगल शैली)

चित्रकार—अज्ञात

(भारत-कलाभवन के सग्रह से)
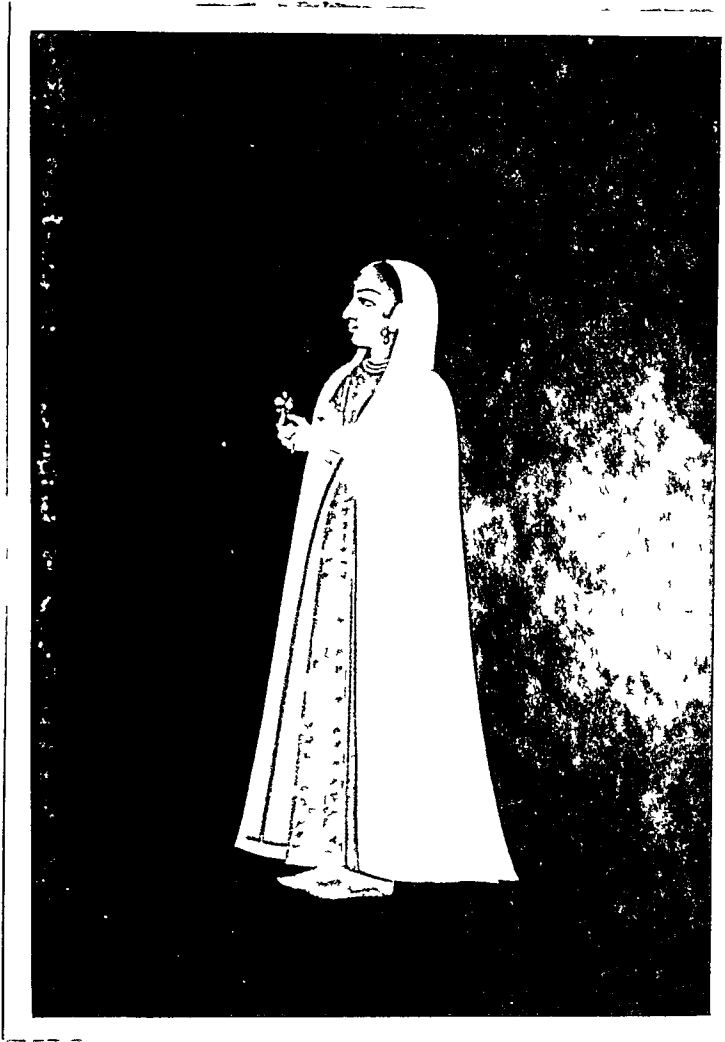
It was, however, characteristic of the time in which my boyhood and early manhood were passed that instead of feeling strangled by this unnatural process of acquiring knowledge through a foreign and only partially comprehended medium, I actually gloried in the mental torture it inflicted upon me I was so drunk with the heady wine contained in the English primers that, like the Scot I have described, I was all the time trying to demonstrate that I was the only sober person in the crowd and all the others were intoxicated and like him my brain was busy concocting stories to prove that my condition was a perfectly logical one and that I deserved the plaudits—not the jeers—of persons who had not partaken of the same brand of intoxicant that had produced this state of inebriation in me

I have cited my own case because I know it best and can therefore write of it with a degree of assurance It was not, I believe, materially different from that of my contemporaries and probably that of the boys and young men of the generation preceding as also of the generation following mine

VI

The events of which I have been writing took place in the eighties and nineties of the last century The Punjab had been annexed only three or four decades before Comparatively few Punjabi minds had been exposed to Occidental influences, but apparently these influences possessed great potency, otherwise the state of drunkenness that I have sought to describe would not have resulted so soon

Early in the eighties the foundations of the Punjab University were laid at Lahore My father, who took a great interest in current events, told me while I was still in my 'teens of the controversy that preceded its establishment

Opinion was sharply divided as to the purpose the University was to serve One section held that it must conserve and stimulate Oriental learning Another advocated the acquisition of knowledge of modern arts and sciences that would unlock the door to the future

The modernists were extremely suspicious They accused the Orientalists of harbouring the sinister design of leading the Punjabi youth into the infructuous morass of the past and losing him there

Their view was that, lacking a University in which the highest type of English education could be acquired, the Punjabis would be greatly handicapped in the struggle for existence Few men would be able to secure the intellectual equipment that would enable them to rise to the highest posts in the government services—then the cynosure of all ambitious eyes

Evidently the modernists did not consider themselves strong enough to get along without external aid Sardar Dayal Singh Majithia, a grandee owning many broad acres who, a short time earlier, had shocked the people among whom he was born by leaving the Sikh fold for the Brahmo Samaj, then just gaining a foothold in the Punjab, and cutting his long hair, imported a highly educated Bengali—Mr Sitalakant Roy—and set him up as the editor of the paper he founded, I believe, without aid from anyone The *Tribune*, as it was called, mercilessly attacked the protagonists of Oriental culture

My father had unbounded admiration for Sitalakant, who, according to him, must have been a man of volcanic energy and great vigour of expression He also thought highly of Sardar Dayal Singh, but for whose generosity the Punjab would not have had the *Tribune*, nor Sitalakant to edit it

"Sitalakant Roy smashed the plot," my father would say "He made it possible for any Punjabi desirous of obtaining English education to do so without being beholden to any institution outside the province"

An essential consequence of this success was the relegation to the background of Sanskrit, Persian and Arabic literature and sciences, not to speak of the derivatives of those languages such as Punjabi, Hindi and Urdu Few Punjabis took advantage of such facilities as were provided for Oriental education and securing the degrees of Sastri, or Maulvi, that had been instituted by the Punjab University

The protagonists of English education pointed to this fact in vindication of that effort The Orientalists might as well have retorted that it was the inevitable reaction from the materialistic tendencies that had triumphed for the time being

VII

As I have ruminated over this matter from time to time I have wondered why it was that a Punjabi who had been powerfully influenced by the Brahmo doctrines should have thrown himself into a movement that he ought to have known would turn the mind of the youth away from Eastern culture

The rise of that faith cannot be described, to be sure, as a revolt against Western ideas The founder of the Brahmo Samaj appreciated the arts and sciences developed in Europe too highly to initiate such a revolt

The Raja Ram Mohan Roy had, in fact, managed to acquire considerable proficiency in English and, in cooperation with certain missionaries, initiated a movement for English education long before Thomas Babington Macaulay arrived in Calcutta and indited the despatch for the Lord William Bentinck that

was to set India's face West-wards—past Mecca and Medina—past even Jerusalem

But if that great Bengali leader and the others who came after him attached great value to the acquisition of Occidental arts and sciences, they had no less an appreciation of Oriental enlightenment Ram Mohan Roy knew, in fact, Sanskrit, Persian and Arabic He would have been the last man to throw his weight into any movement that tended to shove Oriental culture into the background

The Brahmo Samaj was, in its essence, an attempt at reconciling the two systems of thought—at harmonizing the subjective with the objective Whatever its limitations and shortcomings, it was an heroic effort especially in view of the time when it was made

In this circumstance it was strange that men who had felt the impulse of this faith should have furthered a movement that they must have known would tend to subordinate Oriental to Western culture in the Punjab Stranger still, that movement succeeded within thirty-five years of the extinction of Sikh rule in that part of India—a rule that was based upon ethics of pristine purity inculcating a noble ideal of social service

Probably the most likely explanation is this the Punjabi mind is strongly objective This objectivity has been a matter of slow growth Each onslaught from the north-west has been followed by an attempt at the reassertion of native pride, the resuscitation of life and the rehabilitation of institutions that were doomed again to be destroyed and again rebuilt

At the moment that the first seeds of English education were sown in the province, an epoch had closed and another was opening It was inevitable that the economic view should then be predominant in that part of India

VIII

As one who grew to maturity about that time I must say that education was regarded almost exclusively as a bread-and-butter proposition The commercial aspect entirely overlaid its cultural or aesthetic value

As an under-graduate I learnt to look upon the University as a lever skilfully operated from some invisible region It set in motion a powerful blade that chopped off the head of ambition from a young man's body

I then had no idea that a University was meant to be a cultural centre—a place where the high tension wires of many intellectual activities converged, delivered their various messages and were recharged for performing their

functions still more vigorously I saw nothing that even remotely resembled an integrating process—only a machine worked with the remorselessness associated with an automaton

The colleges recognized by the University, too, functioned mechanically They certainly were not free units in a self-governing intellectual commonwealth Nor was there any trace of cohesion—any craving for corporate action

If one of the Fine Arts had wandered into Lahore—the intellectual centre of the Punjab—in those far-off days, it would have found the atmosphere chocking and might have died in the act of fleeing from the bane Painting, sculpture, architecture, music and like subjects had no place in the scheme of studies

Poesy had not been barred out but the utilitarian spirit that prevailed had turned it into a mere passport to a degree The intention might have been to accord it a higher status but that intention had miscarried

The lilt of the English lyric was lost in the sing-song that, in my day, was so common in the college class-room and the boarding-house cubicle The image used was frequently so divorced from Indian life as to carry no particular meaning to the student Poetry was a subject of study—laborious study—and not titillation for the senses—a vehicle of bliss

Much the same could be said of English prose literature The sensuous appeal failed to enrapture for the scenes depicted were torn from a book of life with which we were totally unfamiliar—the nuances employed in description were of a nature that the Punjabi eye had not learnt to distinguish—the scents conjured up were such as to fail to secure any response from the Indian nostrils, unacquainted with them, as they were

How well do I remember puzzling my youthful mind over the intricacies of love-making as they were revealed in the imaginative literature prescribed for study Because of the difference of perspective between the writer and the reader, some of them seemed to be almost erotic

I also recall wrestling with dialogue in broad Scotch and in Cockney dialect Allusions to biblical and classical characters of whom I had never heard, too, presented serious difficulties

Literature rooted in the Indian past or related to matters within every-day Indian ken would have placed little strain on the comprehension and therefore would have given unalloyed pleasure But in the days of my early manhood, such literature was assigned a secondary position

The times were indeed out of joint Everything indigenous was at a discount Everything foreign was at a premium

उपवन-विलास

(पहाडी शैली)

चित्रकार—अज्ञात

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

IX

So powerful were the utilitarian forces that they twisted and turned a great educational movement launched at Lahore in the last quarter of the nineteenth century A *sanyasan* of Kathiawar parentage and birth known to us as the Maharishi Dayanand Sarasvati, had visited the Punjab He brought to our province a gospel of fire with which he sought to set ablaze the rubbish that had accumulated during the centuries of India's degeneracy His aim was to carry the people back to the purity of the Vedic period

The sermons that he preached were aglow with the burning faith that was in him He castigated men for straying from the noble path prescribed by the Aryans of old

Caste, he declared, had become only a matter of birth In the Golden Age it had been determined by the qualities (guna) conduct (karma)—and temperament (subhawa) In the era of India's greatness it was possible for the lowliest chandala to rise to rishihood

He inveighed against early marriage and other social evils The abandonment of the institution of *brahmacharya* had, to his mind, inflicted a double wrong upon the people It had lowered physical vitality on the one hand and dwarfed our minds on the other

No wonder that Indians of his generation were happy to bask in the reflected glory of the West Our forefathers, on the contrary had accumulated and systematized knowledge and had given it liberally to the then known world

The college that owed its existence to the impulse generated by this great Indian revivalist and with which his name is associated, was not however designed in any direct way to revive the system of *brahmacharya*, nor was it entirely or even largely devoted to the resuscitation of Sanskrit literature and science It did, to be sure, make some provision for the study of Vedic literature, but similar provision existed in institutions that were frankly modelled upon the Western pattern and did not make any pretence to being Vedic

Many of the men to whose initiative this institution owed its existence were true patriots Lala Lal Chand and Lala Lajpat Rai—to mention only two who gave their best to it—were forceful characters

Mahatma Hans Raj—whom I know better as Lala Hans Raj—set an example of self-sacrifice and devotion to duty that had a most stimulating effect upon Punjabis of more than one generation Fortunate were the thousands of young men who sat at his feet They owe their success in later life largely to

the inspiration they received from him and his colleagues, some of whom were almost as great as he was himself

Nothing is therefore further from my aim than to belittle the achievement of this college It has indeed done valuable work, especially in placing higher education within reach of classes that might not otherwise have been able to afford it

As an humble historian of our times I must, however, say that I have been disappointed that it did not boldly essay the task of interrupting the intellectual revolution through which the Punjab was passing Even if it had broken down in the effort, the effort would not have been entirely in vain

X

Candour compels me to write in the same vein of similar attempts made by other bodies, among them the Sikhs at Amritsar and the Sanatanists at Lahore None of them aimed higher than (shall I say?) to impart instruction on a pattern analogous to that on which the Christian missionary institutions were conducted in this and other Indian provinces

The *Granth Sahib* or the *Gita* has no doubt been substituted for the Bible The prayer is addressed to Sri Wahi Guru or to Parmeshwara and not to Jehovah

But little has been accomplished by these institutions in the way of knitting together the thread of the old civilization broken by the aggressive, objective type of education determined by the masterful mind of Macaulay just about a century ago If they have tried to check the tendencies he set in motion, their success has not been so pronounced that he who runs can see it

The fact is that all such colleges have been tethered to the University, essentially a mental child of Macaulay, and the tether has been extremely short and powerful Restiveness has therefore accomplished little, except to lacerate the neck against which the rope has rubbed

XI

Only in one instance of any importance has the attempt been made to keep clear of such an entanglement Lala (later Mahatma) Munshi Ram, who showed such courage, possessed a mind distinctively masculine in character Dissatisfaction with existing institutions led him finally to establish the Gurukula on the banks of the sacred Ganges not far from Hardwar, where education could be given in conformity with the ancient institution of Brahmacharya modified in certain respects to suit modern conditions

Not only did this ex-lawyer of Jullundur, near which town some of the happiest years of my boyhood were spent, have the courage to make that departure, but he also possessed the organizing ability and pertinacity needed to give a material form to his ideal Hundreds of parents signed the pledge drafted by him in which they promised to keep their sons, for years, far away from themselves and from their families, at the forest University he established at Kangri, close to Nature's heart to train the youth in Vedic studies and Sanskritic sciences as well as mundane subjects

The disastrous floods of 1924 made it necessary for the institution to be shifted to the left bank of the Ganges Canal, a few miles from Hardwar In respect of health conditions and convenience, the present site is no doubt more desirabe but it cannot be so quiet, or at least so picturesque as the one abandoned under compulsion

The originator of the idea is gone to that bourne from which no traveller e'er returns, at least in the same human form But his mantle has fallen upon a man who is as great a believer as Munshi Ram was in this revived institution I hope that the results from the experiment will be commensurate with the effort expended

One thing is already certain The idea has caught on Institutions modelled on a similar pattern have sprung up in several places

XII

I have chosen to write of the Punjab because it was affected by the forces set in motion by Macaulay later than the other large areas of India At the time of its annexation in 1849 fourteen years had elapsed since he had consigned Oriental learning to the dust-heap A system of education based upon his arrogant dictum had been introduced in Bengal, Madras, Bombay and the North-Western provinces (now incorporated in the United Provinces of Agra and Oudh) and had made considerable progress there before the Sikh resistance had completely broken down

By the time the movement had reached the Punjab and had resulted in the establishment of the University early in the eighties, it had gained a great impetus During my youth it was at its peak It stood triumphant over Oriental learning which it had swept into a corner

Conditions in other parts of British India were however not much different English education had gone to the head of the "educated classes," filling them with contempt for things Eastern and impelling them to ape Westerners in speech, manner and dress To sing the praises of the English

spring (even when the singer's eyes had never feasted upon those glories) was the height of Indian ambition

Never had one nation established its intellectual empire over another so completely as in India during the second half of the nineteenth century Never did a people suffer so acutely as we did from the inferiority complex—as the modern psychologist would put it

The suggestion given by Macaulay had had a hypnotic effect upon Indians The *maya* he created turned the Indian accomplishment of thousands of years into nothing Under the spell cast by him, Indians played the rôle of "mock Europeans" with a zest that I can liken to nothing so appositely as to the antics of the aforementioned inebriated Scot in the verandah of the Ceylon wayside inn

XIII

Macaulay's spell, potent as it was, was however not to last for ever It had been conjured up in darkness—in abysmal ignorance of the Oriental learning that he condemned The realm of darkness cannot be enduring, even in this Kali Yuga

Before the echoes of Macaulay's incantation had died down, Europeans who had more erudition than arrogance were becoming fascinated with the wealth of Sanskrit learning The richness of Hindu imagination and the profundity of Hindu thought had fascinated Britons like Monier Williams, Henry Wilson and Griffiths

Over in Germany Goethe, the great poet, had acclaimed Kalidasa's *Shakuntala* as the greatest dramatic work composed anywhere in the world at any time A little later another German was teaching Sanskrit at the ancient University of Oxford and editing a series of monographs written by *savants*, mostly Europeans, making the treasures of Sanskrit literature available to the English-speaking world One of this learned corps was Rhys Davids, who, as a member of the Ceylon Civil Service, had learnt Pali—particularly as it was spoken in Magadha in Asoka's time—and translated and interpreted the canons of the Southern Buddhist School, in collaboration with his wife herself a great scholar

XIV

Similar work, but in a more popular (perhaps spectacular) form, had been inaugurated by a Russian woman of great driving power—Madame H P.

Blavatsky Her colleague, Colonel H S Olcott, an American who had fought in the Civil War that had resulted in the emancipation of the negroes held in slavery in the United States of America, was a man of great force of character and organizing ability

At a later date they were joined by Mrs (afterwards Dr) Annie Besant, who, in her early womanhood had been associated with Charles Bradlaugh in a crusade that was to have a powerful effect upon their own and subsequent generations Possessing a remarkable gift of easily assimilating knowledge accumulated by other peoples and wielding a ready pen that made abstruse truths plain to persons of limited intelligence, she supplemented Blavatsky's and Olcott's work

With enthusiasts that flocked to the standard they raised, Theosophy, as they named the new faith, was broadcasted in all directions Whatever it may or may not have done in other parts of the world, it certainly helped to resuscitate Indian thought in India—helped to restore to it the vitality that had been sapped by internal degeneracy and intellectual invasion

XV

A vitalizing impulse also emanated from the Swami Vivekananda India—outside Bengal that bore him—knew him not until after he had appeared at the Parliament of Religions in Chicago, towards the beginning of the last decade of the nineteenth century and had carried it by storm through the power of his personality and his eloquence Once he had captured the imagination of the West his message acquired a meaning for India that overcrowded the largest hall in any Indian city in which he spoke

Deriving his inspiration from sources hidden from mortal eyes, he spoke with fearlessness and frankness to which Indians brought up in the humbugging atmosphere of the nineteenth century were unaccustomed He dared to call his countrymen "rats" and bade them come out of their "rat-holes"

I recall his visit to Lahore towards the end of the last century Ram Tirath, who was then teaching mathematics at the Government College, became enamoured of him and his philosophy

The Professor had a gold watch attached to a stout gold chain Prostrating himself, he begged the Swami to accept these gifts, his most cherished possessions

What could a wandering mendicant do with a handsome gold watch and chain, thought Vivekananda Yet he did not wish to hurt Ram Tirath's

susceptibilities, which he divined were very tender So on the eve of his departure from Lahore he took the watch and chain which he had accepted for the time being and, putting them into Ram Tirath's pocket, said "I will keep them there"

Hardly was the Swami's back turned when the Professor took the watch out of his pocket The hands pointed exactly to one o'clock He immediately stopped the watch from working In the years that followed he would take it out and point to the dial as a token of his oneness with the Infinite in which the Swami had been absorbed

Not long after this he decided that he had done all the professorial work that was required of him by his karma and renounced the world In the yellow robe of a monk who is the teacher and the taught at the same time, he wandered over half the globe and finally his soul found rest in the cold, cleansing waters of Ganga Mai just as she emerges from her snowy birth-place in the Himalayas into the parched plains of Hindustan that she blesses and fructifies as she advances towards her blue-hued mate—the sea

XVI

These movements and other of a similar character had a powerful reaction They had the effect of a stream of ice-cold, crystal-clear water directed through a hose full upon the flushed face of a person reeling with drunkenness

Intellectual intoxication becomes, however, as much of a habit as spirituous inebriation Some of the intellectual inebriates upon whom the hose was turned were steadied for a moment But after a time they reached out for the bottle, took another drink—and were lost for ever

Most of the men of my generation who refused to be again overcome by the old habit were, however, incapable of mastering Sanskrit or did not have time or energy to study it They could not therefore repair to the fount of ancient learning and refresh themselves with deep draughts from it

The best they could do was to obtain this lifegiving liquid as it was bottled by others Having been shrewd, the bottlers had taken the precaution to add a little gas that made the water bubble and effervesce, which enhanced its attraction

Some of us even had the effrontery to suggest that this bottled water was superior to the draught quaffed directly from the fount of ancient knowledge I recall, for instance, that Romesh Chandra Datta wrote that in preparing his metrical version of one of our epics he had drawn upon the translations made

under the editorship of Max Muller in the Wisdom of the East series, and had "seldom thought it necessary to consult those original Sanskrit works which have been translated in" that series

A sad admission coming from so giant an intellect

XVII

As the Macaulay *maya* has been dispelled through these agencies the liberated Indian intellect has re-established contact with the past It did not take it long to discover that many of the wonders of modern science had been known to our forefathers I have space to cite but one instance

The theory of the circulation of the blood upon which rests the superstructure of modern medical science, was enunciated by an English physician, William Harvey by name, early in the seventeenth century Long before his time, however, the Hindus had discovered that *rasa* (lymph-chyle)—blood without colouring matter—circulated through the *dhamnis* (vessels) in the human body

The earliest Hindu writers on medicine had also discovered the *chala* (circulatory) properties of *rakta* (blood) This matter is elucidated in a work submitted in 1895 to the Medical Faculty of the Edinburgh University by a Rajput Raja in Kathiawar—His Highness Shri Bhagvat Sinhjee, the Thakore Sahib of Gondal—who had completed the course entitling him to the M D degree of the Royal College of Physicians of Edinburgh To quote him

> "Harita, in his work called the Harita Samhita, which some believe to be older than Sushruta refers to the circulation of the blood in describing a disease called 'Panduroga' (Anaemia) He says that this disease is sometimes caused by swallowing clay, which some persons are in the habit of doing 'The clay thus eaten blocks the lumen of the several veins and stops the 'circulation of the blood' The author of Bhavaprakash who is a century older than Harvey, quotes the following couplet bearing on the circulation of the blood
>
> 'Dhatoonam pōoranamsamyak
> Sparshajnanam asamshayam,
> Svashiasu charad raktam
> Kuryach chanyan gunan api'
>
> "Blood, by circulating through its vessels, fills the Dhatus well, causes perception, and performs other functions (of nourishing and strengthening)"

Again

' Yada tu kupitam raktam
Sevate svavahas shiras,
Tadasya vividha roga
Jayante raktasambhavas '

" ' When defective blood circulates through its vessels it causes many blood diseases '

" Similar passages can be transcribed from even earlier writers But the above quotations are enough to satisfy a casual reader that the circulation of the blood was not unknown to the early Aryans "*

The Thakore Sahib reproduces in his book diagrams of instruments used by ancient and mediæval Hindu surgeons and shows that they had a fairly good idea of anatomy and physiology and possessed at least a glimmer into asepsis They had at their command not only anæsthetics, but also preparations for restoring the senses quickly after an operation

XVIII

Research in other realms of knowledge garnered in the old days, demolished, bit by bit, the assumption that in intellectual accomplishments our people were inferior to Europeans The desire to exult over the East, fed upon ignorance of Eastern culture, had influenced Westerners to give the Hindus a characterization that ill accorded with the facts of history

As the Macaulay *maya* was dispelled, we realized, for instance, that our forefathers were not the land-lubbers, standing in fear and awe of the *kala pani*, that they were painted to be They were, on the contrary, a sea-faring, colonizing people

Traces of some of these old colonies remain Ceylon may or may not be the ancient Lanka but by far the greatest bulk of its inhabitants are descended from one Indian stock or another and received the nucleus of their civilization from India—their Motherland Sumatra might well have been " *Swarnabhumi*," and Singapore " Simhapura " Our epics are still a living force in the islands incorporated in the Dutch East Indies Siam and contiguous countries

---

* *A Short History of Aryan Medical Science*, by H H Bhagvat Sinhjee, G C I E , M D , F R C P E , D C L , LL D , F R S E , F B U , F C P S , M R I , Etc , Etc , the Maharaja of Gondal Second Edition, 1927 Shree Bhagvat Sinhjee, Electric Printing Press, Gondal Pp 94-95

फुलवारी

(राजस्थानी शैली)

चित्रकार— अज्ञात

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

too, felt the tread of Indian Empire-builders Even in the heart of Africa archæologists have dug up remains that dispose them to the view that Indians—or at least the Indian influence—had penetrated there in the remote past

The rediscovery of Indian accomplishments by Indians whose intellects have been liberated from the thraldom of the Macaulay *maya* is a fascinating subject Considerations of space, however, forbid further reference to them here

Nor is it possible to refer to the accomplishments of our men of science, who have proved to the world that the days when India made an original contribution to the world's store of knowledge are not over, but have returned as the inferiority complex has been lessening its hold on our minds The work of Sir Jagadis Chander Bose has attracted the attention of scientists in Europe and America, while Sir C V Raman has only recently been awarded the Nobel Prize

XIX

This intellectual movement is still in its early stages The youth of the country continues to labour, in many places, under the handicap of perusing studies in general knowledge through a non-Indian tongue, itself not thoroughly understood That practice prevails even in some of the Universities that owe their existence to Indian initiative and are under Indian management—in itself an indication of the extent to which the Indian mind had come under the influence of the Macaulay *maya*

It is nevertheless a happy sign of the times that Indian thought and energy are being increasingly directed towards the development of Indian languages—often miscalled the "vernaculars," literally the speech of uncultivated persons Such activity is freeing the Indian soul and giving wings to originality

If Bengal fell under the Macaulay spell before other parts of India, it has also awakened earlier from its trance and has been taking the lead in this linguistic and literary development No provincial language has been enriched more or has attained a higher standard of refinement than Bengali

This province has moreover shown the way to effect a union between the present and the past in matters artistic Bengali painters and sculptors have sought inspiration from the art treasures at Sanchi, Ajanta, Ellora, Karli and other glorious relics of India's Golden Age, and have built up, on that basis, a mode of expression in the realm of the fine arts in consonance with our specially suited to our genius

Attempts at the revival of the old traditions of the dance and drama and for the invention of a system of notation for recording compositions in Indian *ragas* and *raganis* are being made in various directions Some of them are bound to succeed

The force of this intellectual revival has penetrated even to the distant Punjab, which, as I have written, was affected more powerfully by the Macaulay hypnotic suggestion than perhaps any other part of India Punjabi—a derivative of Sanskrit and a sister of Hindi—has been passing through a process of rejuvenation, largely through the efforts of Bhai Vir Singh the Sikh litterateur of Amritsar

No one has laboured harder or to greater purpose in the cause of promoting intellectual freedom by popularizing expression in an Indian language—Hindi in his case—than Pandit Mahavir Prasad Dvivedi in whose honour the volume of which this paper forms a part, is being published by the Nagari Pracharni Sabha—itself a great force in the same direction All honour to him for the pioneer work that he has performed in the face of obstacles and discouragements that would have daunted a less brave soul than his

XX

The development of regional languages while to be welcomed and encouraged is unfortunately fraught with one danger of great potentiality It is likely to intensify the tendency inherent in the modern Indian nature to take a restricted view of men and matters—to confine sympathies within a narrow circle—and thereby to strengthen fissiperous tendencies

That menace can be avoided only by the development of an indigenous *lingua Indica* to serve as a common medium Until I travelled somewhat extensively over southern India I was inclined to exaggerate the difficulties that stood in the way of finding a nexus between the languages derived from the Dravidian and Sanskritic sources To my astonishment I found that not only have Sanskritic terms found their way into the principal tongues in that part of our Motherland but nowhere in our land is Sanskrit more assiduously cultivated than in certain southern Indian centres

The difficulty lies not in finding a common medium of exchange but in securing its recognition and adoption Credal loyalties—mistaken credal loyalties—I fear, stand in the way

Any one who strives to remove these obstacles will deserve well of the country A common speech and script are as necessary for intellectual purposes as they are for conducting commercial affairs

छाया और छल

[लेखक, पं० श्यामाचरणदत्त पन्त]

शिला का वृक्ष, सलिल की मूल,
वायु का बिम्ब, गगन का फूल,
सत्य ऐसा ही केवल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

चित्र बिन पट है पट बिन तार,
तार है बिना किसी आधार,
किसी का अचरज-कौशल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

नटी ने निज घूँघट की ओट,
चला दी जो कटाक्ष की चोट,
उसी की सारी हलचल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

वीरतामय अतीत-इतिहास,
दुर्ग-पुर-राज्य, विजय-उल्लास,
गन्ध किंशुक की, निष्फल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

रूप-यौवन का मधुमय सङ्ग,
क्षितिज-रवि का-सा घन पर रङ्ग,
झमक है, झूठी झलमल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

देश का यह अनन्त आकार,
काल का सीमा-हीन प्रसार,
बिन्दु में निहित, अर्धपल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

शलभ का दीपक पर नर्त्तन,
आँच पर बुदबुद का जीवन,
यही सब है, सब चञ्चल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

अंत में

क्षमा करो उनको भी राम!
उनके भी उद्धार-हेतु मैं,
करता हूँ प्रभु, तुम्हे प्रणाम।

जो अपना चेतन खो बैठे,
अहभाव का विष बो बैठे,
जिनके मस्तक जड हो बैठे,
वे किस भाँति झुके इस ठाम?
क्षमा करो उनको भी राम!

साधु गिने जो अनुगत को ही,
जिससे मत न मिले, वह द्रोही,
मानें सशयमय जो मोही
स्वय दक्षिणो को भी वाम!
क्षमा करो उनको भी राम!

सरल रूप मे है छल जिनका,
बस, उपहास बड़ा बल जिनका,
कुटिल भाव हो कौशल जिनका,
पर-निदा है जिनका काम।
क्षमा करो उनको भी राम!

जिनका सत्य नग्नता मे है,
भाव विलास-मग्नता मे है,
पौरुष नियम-भग्नता मे है,
नहीं विनय का जिनमे नाम।
क्षमा करो उनको भी राम!

जान रहे जो रत्न अनल को,
सम थल मान रहे हैं जल को,
जले न आज, न डूबे कल को,
नाथ, बचा लो उनको थाम।
क्षमा करो उनको भी राम!

सब कुछ जिनके लिये यही है,
मरणोत्तर कुछ नही कही है,
जहाँ भुक्ति है मुक्ति वही है,
वे भी तो देखे वह धाम।
क्षमा करो उनको भी राम!

उनका दभ-दर्प तुम भूलो,
अपने दया-दोल पर भूलो,
सबके हो, सब पर अनुकूलो,
वाम न हो हे लोक-ललाम!
क्षमा करो उनको भी राम!

किसे प्रकाश मिले न अरुण से?
यही विनय है तुम सकरुण से—
दोषी को बाँधो निज गुण से,
शुभ ही हो सबका परिणाम।
क्षमा करो उनको भी राम!

मैथिलीशरण गुप्त

श्रद्धांजलि

श्रद्धांजलि

भारतेंदु कर गए भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर-स्पर्शों ने जिसका बहु विधि स्वर-सधान,
निश्चय, उसमे जगा आपने प्रथम स्वर्ण-झकार
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार !
पख-हीन थी अहा, कल्पना, मूक कठगत गान !
शब्द-शून्य थे भाव, रुद्ध, प्राणों से वचित प्राण !
सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न ! वदी थे हृदयोद्गार,
एक देश था सही, एक था क्या वाणी-व्यापार ?
वाग्मि ! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
रूप-रग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र-ककाल !
शत-कठों से फूट आपके शतमुख गौरव-गान
शत-शत युग-स्तंभो मे ताने स्वर्णिभ कीर्त्ति-वितान !
चिर स्मारक-सा, उठ युग-युग मे, भारत का साहित्य
आर्य, आपके यशःकाय को करे सुरक्षित नित्य ।

सुमित्रानदन पंत

हिंदी-साहित्य पर द्विवेदी जी का प्रभाव

पूज्यवर पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का आधुनिक हिंदी-साहित्य ऋणी है, और उसके एक लघु सेवक के नाते मैं अपने को भी उनका ऋणी मानता हूँ। इस ऋण का परिशोध होना मेरे-जैसे अकिंचित्कर से तो असभव है, परतु उनके संबध के इस लेख-द्वारा अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

विगत तीस वर्षो का हिंदी-साहित्य का इतिहास श्रद्धेय पंडित जी की कीर्त्ति-कौमुदी से ही आलोकित है। इस इतिहास-मदिर की दीवारे जिस नींव पर खडी हो सकती हैं, वह एकमात्र उन्ही की साहित्य-सेवा है। स्वर्गीय पडित नाथूराम शंकर शर्मा ने जिस 'सरस्वती की महावीरता' का गुणगान किया था, उसे हटा दीजिए तो पहले पद्रह वर्षों का इतिहास तो शून्य मात्र रह जाता है और पिछले पद्रह वर्षो का बिलकुल लचर। जिस समय पंडितजी ने सरस्वती की सेवा अपने हाथ मे ली थी, उस समय की दशा का थोडा सा सिहावलोकन कीजिए। कलकत्ते से भारतमित्र, हिंदीवंगवासी, हितवार्त्ता, बंबई से श्री वेकटेश्वर-समाचार, पटने से विहार-बधु, बनारस से भारतजीवन, यही प्रमुख साप्ताहिक थे। 'अत्र भवान् सदा समरविजयी' राजा रामपालसिंह का कालाकॉकरवाला 'हिंदोस्थान' एकमात्र दैनिक था। भट्ट जी का 'हिंदीप्रदीप' प्रयाग से, और 'छत्तीसगढमित्र' विलासपुर से साहित्यिक मासिक पत्रो के नाते निकलते थे। साप्रदायिक पत्रो की चर्चा व्यर्थ है। 'छत्तीसगढमित्र' तो उसी साल बद भी हो गया। पडित माधवप्रसाद मिश्र का 'सुदर्शन' और पडित प्रतापनारायण मिश्र का 'ब्राह्मण' दोनो अच्छे पत्र थे, परंतु कभी के बद हो चुके थे। समस्या-पूर्त्तियो की कई पत्रिकाएँ निकल पडी थी, जिनमे एक 'रसिक-वाटिका' के सिवा, जो राय देवीप्रसाद पूर्ण के तत्त्वावधान मे कानपुर से निकलती थी, सभी निकम्मी पूर्त्तियो से भरी जाती थी। उन दिनो उर्दू की पुस्तके ज्यादा छपती और बिकती थी और हिंदी की बहुत कम। इसी लिये अच्छी पुस्तके तो अभागी हिंदी को अलंकृत करने पाती ही न थीं। उसके दो बरस बाद की बात है कि मैंने प्रसिद्ध सुधारक और प्राच्य विद्याओ के विद्वान् स्वर्गीय राय बहादुर लाला बैजनाथ से पूछा—'आप अच्छी हिंदी लिखने मे पूर्ण समर्थ होते हुए भी उर्दू मे क्यो लिखते हैं ?' उन्होने उत्तर दिया—'हिंदी की पुस्तको की कोई बात नही पूछता। विधवा-विवाह पर मेरी लिखी हिंदी की पुस्तक की छपी प्रतियाँ आज तक मेरे पास पडी हैं, और उर्दूवाली का दूसरा संस्करण निकल चुका है।'

'सरस्वती' के ही आकार-प्रकार का पत्र बँगला मे 'प्रवासी' निकलता था। वह भी इंडियन प्रेस से ही उन दिनो प्रकाशित होता था। हिंदी मे तो 'सरस्वती' का आकार-प्रकार

अद्वितीय था। इसके पहले दो वर्ष तक इसके पाँच संपादक थे जिनमे श्रद्धेय बाबू श्यामसुदरदास भी थे। तीसरे वर्ष बाबू साहब ने अकेले संपादन-कार्य सँभाला था। चौथे वर्ष से पूज्य द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' की सेवा अपने हाथ मे ली। इससे पूर्व पंडित जी की ख्याति सस्कृत और हिंदी के लेखो से साहित्य-संसार मे अच्छी तरह हो चुकी थी। अपनी छात्रावस्था मे 'सस्कृत-चंद्रिका' मे और 'हिंदोस्थान' मे मैंने आपके लेख बडे मनोयोग से पढे थे। आपके संस्कृत के लेख तो समझने की मुझसे उपयुक्त योग्यता न थी, परतु हौसला था और तज्जनित प्रयत्न था। माघ संवत् १९५५ की 'रसिकवाटिका' मे आपका 'रसविवेचन' नाम का लेख पढकर पहले-पहल—'रस का परिपाक' किसे कहते हैं, यह बात—यथार्थ रूप से मेरी समझ मे आई। 'छत्तीसगढमित्र' मे आपकी लिखी व्यंग्य-पूर्ण, संस्कृत और हिंदी दोनों मे ही, 'काककूजितम्' नाम की कविता पढकर मैं लोट-पोट हो गया था। जब से 'सरस्वती' का सपादन आपके हाथ मे आया, तब से नियम से 'सरस्वती' का पढना मेरा कर्त्तव्य-सा हो गया। उस समय की तो बात ही क्या है, आज भी सपादक-समुदाय मे बहुत कम ऐसे दायित्व भाववाले विद्वान् हैं जो अपने कर्त्तव्यो का यथार्थ पालन करते या कर पाते हो। उस समय समालोचना का मार्ग-प्रदर्शन पूज्य द्विवेदी जी ने ही किया। 'छत्तीसगढमित्र' मे पाठक जी के कई काव्यो की समालोचना बडे मार्मिक ढग पर हुई थी। वे विस्तृत समीक्षाएँ थी। ऐसी ही विस्तृत समीक्षाएँ प्राचीन कवियो पर, और फिर उस समय के भी कवियो पर, पंडित जी ने सामयिक पत्रो मे लिखकर यथार्थ समालोचना का मार्ग प्रशस्त कर दिया। आपने समीक्षा मे सच्ची बात लिखने मे कभी रत्ती भर भी सकोच न किया। शत्रु, मित्र, उदासीन, कोई भाव सत्समालोचना के समय न था। कठोर न्याय आपकी कसौटी था। सदसत्, सत्यासत्य, शिवाशिव और सुदर-असुदर का विवेक था। व्यक्ति की महत्ता वा पक्षपात का विवेक के इस समीकरण पर कोई प्रभाव न पडता था। आप काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के सदस्य थे। सभा ने खोज की रिपोर्ट अँगरेजी मे निकाली थी और उसकी प्रति समालोचनार्थ अँगरजी पत्रो के पास भेजी थी। 'प्रवासी' तक को मिली। 'सरस्वती' के पास न गई। आपने अपने खर्च से एक प्रति मँगवाकर उसकी निष्पक्ष समालोचना की और उसकी त्रुटियाँ दिखाई। आपने इस प्रकार पुस्तके मँगा-मँगाकर समालोचना करके व्यवहारत यह दिखा दिया कि प्रचलित साहित्य की हठात् समीक्षा करना सपादक का आवश्यक कर्त्तव्य है। यदि वह जैसे-तैसे साहित्य का मनमाना प्रचार होने दे तो वह भारी भूल करता है।

पहले वर्ष के सपादन मे प० गिरिजादत्त वाजपेयी के सिवा और किसी का लेख नही है, सभी आपकी ही कलम से है। बात यह न थी कि लेखो का कोई सग्रह न था। नही, संगृहीत लेखो मे आपकी पसद के लेख न थे। जो थे भी, उनमे इतने सशोधनो की आवश्यकता थी कि पूरा सशोधन होने पर 'सारा मजमून खलल' हो जाता। उस समय चौथा ही साल था और शायद ग्राहक-सख्या बहुत गिर गई थी। हालत डावाँडोल थी। स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष के साहस और हौसले ने तथा द्विवेदी जी की विद्वत्ता, परिश्रम, संपादन-कला और कलम के जोर ने उसे

सँभाल लिया, नहीं तो इधर तीस बरसो का हिंदी-साहित्य का इतिहास किसी और ढंग पर लिखा जाता। फिर 'सरस्वती' की दूसरी-तीसरी सयुक्त सख्या मे आपने 'हिंदी भाषा और साहित्य' नाम का अपना एक बड़े महत्त्व का लेख दिया है। इसके अंत मे आपने उस समय के विश्वविद्यालय के पदवीधरो को कडा उलाहना दिया है और पूज्यवर पडित मदनमोहन मालवीय जी को भी नही छोडा है। उनसे प्रेमपूर्वक विनय किया है कि 'आप स्वय हिंदी मे लिखा कीजिए और अपने प्रभाव के अधीन सबको हिंदी को ही अपनाने को प्रवृत्त कीजिए।' आपका यह उलाहना बडा जोरदार है। इसी के प्रभाव से आपके पास कुछ अच्छे लेख भी आने लगे। आपके उद्योग और अध्यवसाय से अनेक छिपे रुस्तम निकल पड़े। बेहिम्मतवालो को हिम्मत हो गई। उस समय के अच्छे-अच्छे लेखको ने 'सरस्वती' को लेख देना आरभ किया। श्री राधाकृष्णदास, पंडित श्रीधर पाठक, डाक्टर महेदुलाल गर्ग, पंडित राधाचरण गोस्वामी, श्री शिवचद्र जी भरतिया, पडित गौरीदत्त जी वाजपेयी, राय देवीप्रसाद जी पूर्ण, पडित जनार्दन जी झा, पुरोहित गोपीनाथ जी, पडित माधवराव जी सप्रे, पंडित गगाप्रसाद जी अग्निहोत्री, पडित नाथूराम शकर शर्मा, पडित शुकदेवप्रसाद तिवारी, मुशी देवीप्रसाद मुसिफ, पंडित रामचरित उपाध्याय, कुँवर हनुमतसिह प्रभृति उस समय के लेखक और कवि 'सरस्वती' को अपने लेख-रत्नो से आभूषित करने लगे। नई पीढी के लेखको और कवियो का भी इसी समय अभ्युदय और प्रोत्साहन हुआ। मेरे सहाध्यायी लोकमणि और वागीश्वर मिश्र अच्छे और होनहार कवि थे। परंतु दो-तीन बरस के अंदर ही वे दिवगत हो गए। श्रीगिरिजाकुमार घोष बगाली थे, परंतु लाला पार्वतीनंदन के नाम से उन्होने जो कहानियाँ लिखी है, उन्हे पढकर कोई यह नहीं कह सकता कि ये किसी बंगाली की लिखी हुई हैं। आधुनिक गल्प-लेखन कला का उन्हीं से आरभ समझना चाहिए। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने विलायत से अपने लेख भेजने आरंभ किए। श्री सत्यनारायण कविरत्न की कविताएँ 'सरस्वती' मे चमकने लगी। श्री मैथिलीशरण गुप्त जी की कविताएँ भी निकलने लगी। पडित रामचद्र शुक्ल, पडित वेकटेशनारायण तिवारी, पडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, पडित देवीप्रसाद शुक्ल, श्री व्रजनदनसहाय, पाडेय लोचनप्रसाद, स्वामी सत्यदेव, श्रीनरेंद्रनारायणसिंह, लाला हरदयाल, पडित गिरिधर शर्मा नवरत्न, पंडित लक्ष्मीप्रसाद पाडेय, पडित आनंदीप्रसाद दुवे आदि लेखको ने 'सरस्वती' को अपनाया। फिर तो 'सरस्वती' चल निकली। दस बारह बरसों के बाद लेखको की सख्या और भी बढी। उनके नामो का उल्लेख अनावश्यक है। 'सरस्वती' का कलेवर भी बराबर बढता गया। यहाँ तक कि औरो ने स्पर्धा की, और यह प्रयत्न होने लगा कि लोग पत्रिका निकाले तो 'सरस्वती' के टक्कर की और सपादक हो तो पूज्य द्विवेदी जी-जैसा। पंडित जी का नाम इस स्पर्धा मे लेना तो हद दरजे की ढिठाई होती, परंतु फिर भी मेरठ की 'ललिता' ने अपने कवर पर 'सरस्वती' से टक्कर लेने की बात लिख ही डाली। इस टक्कर का फल तो प्रत्यक्ष है, परंतु उसके सपादक का हाल मैं नही जानता। जो हो, पूज्य द्विवेदी जी के संपादन के पहले वर्ष मे व्यंग्यचित्रो के रूप मे वर्त्तमान साहित्य की जो आलोचनाएँ निकली, वे अपने ढग की निराली थी। साहित्य-सभा, शूर समालोचक, नायिकाभेद का पुरस्कार, कलासर्वज्ञ

संपादक, मातृभाषा का सत्कार, रीडर-लेखक और हिंदी, काशी-साहित्य-सभा, चातकीचरमलीला आदि ऐसी समीक्षाएँ निकलीं जिन्होने मर्मस्थल पर घाव किए और लोग इन्हे सह न सके—दुहाइयाँ देने लगे। ब्राह्मण के दयालु हृदय को पसीजते क्या देर लगती है। द्विवेदी जी ने अगले वर्ष से उसका सिलसिला बंद कर दिया। परंतु आपकी 'वार्षिक आलोचना' इस कमी की बहुत कुछ पूर्त्ति कर देती थी। आप कोई लेख बिना आदि से अंत तक पढ़े और संशोधन किए, 'सरस्वती' मे छपने के लिये न देते थे—फिर चाहे वह किसी का लेख और किसी विषय का क्यो न होता। अनेक निकम्मे लेख लौटा भी दिए जाते थे। संशोधनों पर अनेक लेखक झुँझला उठते थे, नाराज होकर बहुत दिनो तक लेख न देते थे, आपको उलाहने देते थे, झगड बैठते थे। पर आप ऐसो को बड़े धैर्य से समझाते थे—"आखिर आपको सर्वज्ञता का दावा तो है नहीं, हम सभी भूल कर सकते हैं। मैं भूल करूँ, आप बता दे तो मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करूँगा।" इत्यादि। लेखो का संशोधन करते-करते आपके मन मे भाषा और व्याकरण के नियमों की 'अनस्थिरता' के संबध मे जो विचार उत्पन्न हुए, आपने वे 'भाषा और व्याकरण' नामक लेख मे 'सरस्वती' के छठे भाग के ग्यारहवे अंक मे दिए। उसमे अनेक प्रसिद्ध लेखको के उदाहरण देकर आपने बडी योग्यता से अपनी प्रतिज्ञा को प्रमाणित किया। इस लेख से एक भारी लाभ हुआ। श्री बालमुकुंद गुप्त ने स्वयं आपके लेख मे त्रुटियाँ दिखाकर हँसी उडाई। गुप्त जी से आपका कोई झगडा न था। गुप्त जी बडे मसखरे थे। साहित्य-क्षेत्र मे उनकी संपादकता मे जब कालाकाँकर का 'हिंदोस्थान' निकलता था, तब पूज्य द्विवेदी जी अपने लेख दिया करते थे। पहले का रब्त-जब्त था। 'आत्माराम' के कल्पित नाम से भारतमित्र मे 'अनस्थिरता' शब्द की दिल्लगी उडाते हुए उन्होने एक लेख-माला निकाल दी। इसका बडा ही सुंदर युक्तियुक्त तथा विनोदपूर्ण उत्तर आपने 'सरस्वती' मे दिया[1]। गुप्त जी के भद्दे विनोद का उत्तरवाला अंश तो 'कल्लू अल्हइत' ने पहले ही लिख दिया था[2]। इस विवाद से हिंदी-लेखको का बडा उपकार हुआ। लेख-शैली सुधर गई। लेखो मे नियमो की स्थिरता आ गई। पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने भी 'आत्माराम की टें टें' नाम की लेख-माला मे द्विवेदी जी की अनेक बातो का समर्थन किया। आपने जो विवाद उठाया, उसका फल यह हुआ कि इसके बाद से हिंदी के सभी लेखक अधिक सावधान हो गए। लेखन-शैली सुधर गई। मुहावरों पर लोगो ने ध्यान देना शुरू किया। व्याकरण के शिकंजे मे भाषा कसी जाने लगी। 'अनस्थिरता' और उच्छृंखलता बहुत घट गई। हिंदी के पाठको की रुचि को भी आपने धीरे-धीरे बढाया। आपने आते ही 'सरस्वती' की भाषा को अधिक सरल और सुबोध बनाया। इतने पर भी पाँचवे भाग के 'सांवत्सरिक सिंहावलोकन' मे आप और अधिक सरलता चाहनेवाले पाठको को आश्वासन देते हैं। लेखो की भीड की भारी शिकायत से स्पष्ट प्रकट है कि आपको उनकी भाषा के संशोधन मे कितना परिश्रम करना पडता था। आप लिखते हैं—"अतएव लेखो से सरस्वती

१ 'भाषा और व्याकरण'—सरस्वती, भाग ७, संख्या २, पृष्ठ ६०, फरवरी १९०६

२. 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं'—सरस्वती, भाग ७, संख्या १, पृष्ठ ३८, जनवरी १९०६.

की सहायता करनेवाले सज्जनो से प्रार्थना है कि अब वे अपने लेखो को पहले की अपेक्षा अधिक लाभदायक और रोचक करने की कृपा करे।" इसी लेख मे आपने 'अखिल प्रबधहर्त्ता' ग्रथकर्त्ताओ की खूब खबर ली है और उन्हे सावधान कर दिया है। आगे के वार्षिक सिंहावलोकनो मे आपने लेखको एव पाठकों को अधिक गभीर और ठोस लेखो मे अभिरुचि बढाने के लिये उत्साहित किया है। 'सरस्वती' भाषा की ओर जैसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुबोध और रोचक होती गई, वैसे ही विषय की ओर भी अधिक गभीर और अधिकाधिक उपयोगी बनती गई। उसने जो नमूना हिंदी-ससार को दिखाया, उसका जोरो के साथ अनुकरण किया गया। क्या विषय मे, क्या भाषा मे, क्या चित्रो मे, क्या छपाई और सज-धज मे, सभी अगो मे हिंदी के सामयिक साहित्य-ससार मे 'सरस्वती' आदर्श बन गई। उसके अनुकरण मे आज अनेक सामयिक पत्र निकल रहे हैं और 'सरस्वती साइज' तो कागज की नाप पर ध्यान न देनेवालो मे डबल क्राउन अठपेजी का नाम पड गया है। आज चाहे 'सरस्वती' के उतने पढनेवाले न हो, परतु किसी समय जब 'सरस्वती' के टक्कर की पत्रिकाएँ नही निकली थी, 'सरस्वती' का ग्राहक एक होता था तो उससे मँगनी माँगकर पढनेवाले दस से कम नही होते थे। और पुस्तकालयो मे तो कहना ही क्या है। इस तरह पंडित जी के लेखो और विचारो का प्रचार 'सरस्वती' की ग्राहक-सख्या से दस गुने अधिक पाठको मे बराबर होता रहता था।

पूज्य द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य के प्रचार और प्रसार के किसी अग को नही छोडा। अन्य भाषाओं के पत्रो मे निकले हुए अच्छे लेखों का स्वाद अपने पाठको को चखाते हुए उनकी दाद देना और उचित प्रशसा करना आपके सपादन की विशेषता थी। आपने पाठको की जानकारी के क्षेत्र को विस्तीर्ण कर दिया, अपने लेखको को उनके विस्तार मे सहायक होने को प्रोत्साहित किया, साथ ही कई लेखको को आप और क्षेत्रो से लाने मे भी समर्थ हुए। राय साहब छोटेलाल जी (बार्हस्पत्य) इजीनियर के ज्योतिष वेदाग पर बडे ही गवेषणापूर्ण लेख अँगरेजी के 'हिंदुस्तान रिव्यू' मे छपे थे। लेख सचमुच बडे महत्त्व के थे। आप उन्हे पढकर लोट-पोट हो गए। 'बार्हस्पत्य' जी को एक स्वरचित सुदर सस्कृत पद्य मे आशीर्वाद दिया। आपकी दाद और आशीर्वाद ने बार्हस्पत्य जी को 'सरस्वती' के लिये मोल ले लिया। फिर तो लिपियो पर बार्हस्पत्य जी की बडी ही गवेषणा-पूर्ण—परंतु साथ हो अत्यत रोचक—लेखमालाएँ निकली। मैंने तो ऐसे रूखे-सूखे विषय का ऐसा मनोमोहक रूप आज तक दूसरा नही देखा है। नागरी-लिपि के प्रचार और रोमन तथा कैथी लिपियो पर विचार के सबध मे भी आपने कम ध्यान नही दिया। सपादक की हैसियत से हिंदी-हित के लिये आपकी कोशिशे चौमुखी थी। जिस विषय की आपने समीक्षा की, उसका पूरा परिशीलन करके ही छोडा। आपकी समालोचना-विधि से प्रभावित यो तो हिंदी-ससार ही हुआ, परंतु कवि 'शकर' ने तो अपनी अनुपम कविता-द्वारा दो बार अच्छी दाद दी। एक बार उन्होने समालोचना के लक्षण पर एक लबी कविता लिखी। दूसरी बार उन्होने 'सरस्वती की महावीरता' लिखी। इसे जनवरी १९०७ के अक मे द्विवेदी जी ने बडी मुश्किलो से प्रकाशित किया।

'सरस्वती' की उत्तरोत्तर वृद्धि से प्रभावित होकर और पत्रिकाएँ भी साहित्य-प्रांगण में आने लगीं। भागलपुर से 'कमला' निकली, पर कुछ दिनों चलकर बंद हो गई। प्रयाग से 'मर्य्यादा' निकली और कुछ दिनों तक चली। उसे लेखक भी अच्छे-अच्छे मिले। 'सरस्वती' के लेखों में गंभीरता के साथ-साथ रोचकता का जो प्राचुर्य था, वह 'मर्य्यादा' में भी लाने की कोशिश की गई और उसे बहुत-कुछ सफलता भी मिली। मेरठवाली 'ललिता' ने तो बढ़कर 'सरस्वती' का मुकाबला करना चाहा। खंडवा से 'प्रभा' निकली और अच्छी निकली, परंतु पूरे साल भर तक चलना कठिन हो गया। कई वर्षों पीछे वही 'प्रताप'-कार्यालय (कानपुर) से फिर निकली। परंतु कई वर्ष चल कर धनाभाव से फिर बंद हो गई। हमारी काशी में 'इन्दु' भी सुंदर प्रकाशित हुआ। उसकी सज-धज भी अच्छी थी, पर वह भी कुछ बरसों के बाद अस्तगत हो गया। जान पड़ता है, इन पत्रिकाओं में लेखों का संशोधन विशेष मनोयोग के साथ नहीं किया जाता था। किंतु 'सरस्वती' में संशोधन करके लेख छापते-छापते द्विवेदी जी ने सैकड़ों नवयुवकों को सुलेखक बना डाला। अब, 'अभ्युदय' और उसके बाद 'प्रताप' ने साप्ताहिक पत्रों का आदर्श उपस्थित किया। पंडित जी की छत्रच्छाया में ही 'प्रताप' का स्कूल जन्मा और फला-फूला। आत्मोत्सर्ग के सर्वोत्कृष्ट आदर्श श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी का पहला लेख, जो सरस्वती में छपा था, 'आत्मोत्सर्ग' ही था। उस दिवंगत आत्मा का लेख आज भी पढ़ने से जान पड़ता है कि मानो आत्म-बलिदान का उदाहरण देने के पूर्व ही यह लेख लिखा होगा। 'प्रताप' का ढंग सभी साप्ताहिकों से निराला निकला। उसकी शैली, उसका संपादन, उसकी गंभीरता, उसकी तेजस्विता, उसकी स्वतंत्रता और निर्भीकता जिस मस्तिष्क से निकलती थी, उसकी रचना का बहुत बड़ा श्रेय पंडित जी को ही है। 'प्रताप' को देखकर औरों ने अनुकरण की कोशिश की, पर वह आज भी अननुकरणीय ही है।

'कालिदास की निरंकुशता' बड़ी आनबान से लिखी गई। 'मनसाराम' ने इसका उत्तर भी देने की चेष्टा की, परंतु वह बात कहाँ! साथ ही विद्यावारिधि जी की निरंकुशता की खबर पंडित पद्मसिंह शर्मा ने ली। 'सतसई-संहार' भी सरस्वती में एक चीज निकली। समालोचना के साथ-साथ विनोद का बड़ा अच्छा मेल था। पंडित जी के मित्र विद्यावारिधि (पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र) जी भी थे और शर्मा जी भी। परंतु सत्समालोचना के आगे इन संबंधों की क्या चर्चा? मैथिलीशरण गुप्त जी को आपने ही प्रोत्साहित करके महाकवि बनाया और 'साकेत' महाकाव्य की नींव भी 'सरस्वती' के ही प्रांगण में पड़ी थी। पंडित जी के संपादन में 'सरस्वती' ने वस्तुतः अपना नाम सार्थक कर दिया। उसने वही काम किया जो हिंदी-संसार के लिये एक प्रौढ़ और समुन्नत विद्यापीठ या विश्वविद्यालय करता। 'सरस्वती' की पुरानी फाइलें उठाकर देखिए—साहित्य, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, संगीत, चित्रकला, नीति, कोई शास्त्र छूटा नहीं। सभी विषयों पर अच्छे से अच्छे गंभीर और गवेषणापूर्ण लेख हैं और इनमें से अनेक या तो स्वयं पंडित जी की कलम से हैं अथवा उनके प्रभावित लेखकों की कलम से। इस चलते-फिरते प्रचारित विश्वविद्यालय में लाखों पाठकों ने घर-बैठे शिक्षा पाई और पंडित, सुलेखक और कवि हो गए। यदि हम पूज्यवर द्विवेदी जी को इस बड़े समुदाय का आचार्य

कहते हैं तो उसमे पूर्ण औचित्य है। कई वर्षों से बहुश्रुत समुदाय का यह प्रस्ताव है कि हिंदू-विश्वविद्यालय को चाहिए कि आपको 'डॉक्टर आफ लिटरेचर' की उपाधि दें। परंतु मैं तो समझता हूँ कि विश्वविद्यालय द्विवेदी जी से प्रार्थना करे कि वह इस तरह की कोई उपाधि स्वीकार करके विश्वविद्यालय का सम्मान बढावें। पूज्य द्विवेदी जी उपाधि और सम्मान से कितनी दूर भागते हैं, यह बात छिपी नहीं है। सम्मेलन उद्योग करके थक गया, आपने उसका सभापतित्व न किया, न किया। 'डॉक्टर' की उपाधि आपके लिये क्या मूल्य रखती है। आपने अपने साहित्यिक जीवन मे मातृ-भाषा हिंदी की जो सेवाएँ की हैं, उनको फूलते-फलते देखकर आपको आज जो आनंद हो रहा है, उसका मूल्य कौन आँक सकता है? और उससे हिंदी-साहित्य का जो प्रसार और प्रचार हो रहा है, वह हमारी आँखो के सामने इतना प्रत्यक्ष है कि स्वाभाविक-सा लगता है और हम उसके प्रेरक के प्रति कृतज्ञ होना भूल जाते हैं।

रामदास गौड़

MESSAGE FROM GERMANY

MUNCHEN 2M.

Dated the 28th September, 1932.

WE enclose herewith our contribution, the German text along with a Hindi translation, to the Memorial volume in honour of Acharya Mahavira Prasad Dvivedi, whom you are fittingly honouring this way This message embodies the sentiment not only of myself or of the Deutsche Akademie, but of the whole German nation.

Dr. v. Winternitz

President, India Institute of the Deutsche Akademie.

वे दिन !

सन् १९०४ ई० की घटना है। मैं काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से, हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज के लिये सहकारी एजेंट बनाकर, बुंदेलखड भेजा गया था। उन दिनों साहित्यिक कारणवश पूज्य द्विवेदी जी का, सभा एवं बाबू श्यामसुदरदास से, मतभेद हो गया था। विशेषत हिंदी-पुस्तकों की खोज के विषय मे उस समय विवाद चल पडा था। अक्टूबर १९०४ ई० की 'सरस्वती' मे सन् १९०१ ई० की 'खोज की रिपोर्ट' की कडी समालोचना हुई थी। सभा ने उस समालोचना का प्रतिवाद करते हुए इंडियन प्रेस के स्वामी को एक पत्र लिख भेजा। दिसंबर सन् १९०४ की 'सरस्वती' मे आदरणीय आचार्य द्विवेदी जी का एक तीव्र आलोचनामय लेख निकला। 'सभा और सरस्वती' उसका शीर्षक था। उसमे सभा के पत्र का प्रतिवाद करते हुए, और इन पंक्तियो के लेखक पर भी दो-चार छींटे देते हुए, पूज्य द्विवेदी जी ने रिपोर्ट की समालोचना की। उस समय मैं पन्ना (मध्य भारत) मे खोज का काम कर रहा था। वहाँ उक्त लेख को देखकर मैं क्षुब्ध हो उठा। कारण, बाबू श्यामसुदरदास तथा सभा के साथ सन् १८९५ से मेरा घना संबंध चला आ रहा था। अत मुझमे सभा और बाबू साहब के साथ सहानुभूति और पूर्ण पक्षपात का होना स्वाभाविक ही था। उक्त लेख निकलने के साथ ही सभा के अधिकारियो तथा शुभचिंतको मे बडी हलचल मच गई। इस झगडे ने यहाँ तक उग्र रूप धारण किया कि नागरी-प्रचारिणी सभा ने तुरंत अपनी प्रबंधकारिणी समिति की बैठक करके इंडियन प्रेस को सूचना दे दी कि 'सभा' आगामी जनवरी १९०५ से 'सरस्वती' पर से अपना अनुमोदन हटाती है। फिर क्या, इंडियन प्रेस के संस्थापक स्वनामधन्य बाबू चिंतामणि घोष बडे आत्माभिमानी पुरुष थे। जनवरी १९०५ को 'सरस्वती' के छपे हुए कवर को रद्द करा दिया, और दूसरा कवर—'नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित' निकलवा कर—छपवा दिया। फलत 'सरस्वती' एक सप्ताह देर करके अपने पाठको की सेवा में पहुँची। जहाँ तक मुझे स्मरण है, फरवरी १९०५ की सख्या मुझे बिहारी-सतसई के उर्दू-अनुवादक लाला देवीप्रसाद 'प्रीतम' से बिजावर (बुदेलखड) मे मिली। सभा के अनुमोदन से शून्य कवर देखकर मैं चौंक उठा। हृदय से एक चीख निकल पडी। इतने ही मे पृष्ठो को उलटते-पलटते क्या देखता हूँ कि उसी झगडे के कारण 'सरस्वती' को सभा से विदाई लेनी पडी है ! इस पर द्विवेदी जी ने जो 'अनुमोदन का अंत' शीर्षक संपादकीय वक्तव्य लिखा था—सहृदयता और मार्मिक दु ख के साथ—उसे पढकर कोई सहृदय पाठक बिना दो बूँद आँसू बहाए नही रह सकता था। मैं आज भी सच्चे हृदय से कहता हूँ कि उक्त लेख को पढकर यह सहज ही पता लग जाता है कि द्विवेदी जी

महाराज कितने सहृदय, भावुक, प्रतिभाशाली, विद्वान् और शिष्ट लेखक हैं। वे इस दिशा में अपना सानी नहीं रखते। उक्त लेख को पढ़कर आधुनिक लेखक उपर्युक्त गुण सीख सकते हैं। अपने विपक्षी के प्रति तर्क मे कैसा शिष्टतापूर्ण सौम्य भाव दिखलाना आवश्यक है, यह उस लेख से कोई सीख सकता है। अस्तु, छतरपुर-विजावर में प्राचीन पुस्तकों की खोज का काम करके मैं झाँसी होता हुआ सीधा जुही (कानपुर) पहुँचा। पूज्यवर द्विवेदी जी से मेरा पहला उग्र प्रश्न यही हुआ कि सभा के कार्यों की इतनी कड़ी आलोचना का हमे किस रूप मे प्रतिवाद करना होगा—क्या 'विषस्य विषमौषधम्' की नीति का अवलंबन करना पड़ेगा ? पर वाह रे सहृदयता ! उसी समय श्रद्धेय द्विवेदी जी ने मुसकराते हुए सज्जनोचित शब्दों मे कहा—"देवता ! ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ।" वस, घर मे जाकर एक हाथ मे एक गिलास—जिस पर एक सुंदर तश्तरी मे मिठाइयाँ रक्खी थीं—तथा दूसरे हाथ मे एक लोटा पानी लिए हुए वाहर आये। लाकर मेरे सामने रख दिया, और उसी कमरे के एक कोने से एक मोटी लाठी भी लाकर मेरे सामने रख दी। मुसकराते हुए बोले—"सुदूर प्रवास से थके-माँदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुँह धोकर जलपान करके सवल हो जाओ, तव—यह लाठी और यह मेरा मस्तक है।" मैं अपने उग्र प्रश्न तथा उद्दंड व्यवहार के प्रति ऐसा नम्रतापूर्ण उत्तर और भद्रोचित सद्व्यवहार देखकर पानी-पानी हो गया। चित्त की क्रोधाग्नि को अश्रु-धारा ने बुझा दिया। क्रोध का स्थान करुणा ने ग्रहण कर लिया। हृदय मे श्रद्धा और भक्ति का भाव उमड़ पड़ा। उसी समय से विद्वद्वर द्विवेदी जी पर दिन दिन मेरी असीम श्रद्धा वढती गई, जिसका परिणाम भविष्य में यह हुआ कि जब कभी वे काशी आते, तब दो दिन पहले ही मुझे सूचना दे देते—"मैं अमुक तिथि को अमुक समय अपने वहनोई के यहाँ ('त्रिपुराभैरवी' पर) पहुँचूँगा। वहीं पर अवश्य मिलो।" मैं यथासमय जाकर सेवा मे उपस्थित हो जाता था। उन दिनों जब कभी वे काशी आते, सभाभवन में,—केवल मतभेद के कारण—कभी न जाते, वल्कि सभा से सटे कंपनी-वाग मे जाकर वेंच पर वैठे रहते और किसी आने-जानेवाले आदमी से मुझको सभा के पुस्तकालय से वुलवा लेते। मुझसे अधिक स्नेह होने के कारण वे पंडित रामनारायण मिश्र से कहकर—जब तक काशी मे रहते, तव तक के लिये—मुझे सभा से माँग लेते। एक वार, वनारस-कांग्रेस के अवसर पर, सन् १९०५ के दिसंबर में, आप काशी पधारे। मैं भी उस समय आपके साथ ही कानपुर से आया। जहाँ तक मुझे स्मरण है, वावू श्यामसुंदरदास जी, वावू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', वावू अमीरसिंह और मैं, आठ वजे रात को, सब लोग एक साथ ही, द्विवेदी जी के वहनोई के घर उनसे मिलने गए थे। उस समय साहित्यिक चर्चा चली, पर द्विवेदी जी ने कोई ऐसी बात न कही जिससे उक्त वावू साहव के प्रति मनोमालिन्य प्रकट होता। मैं द्विवेदी जी की यह अलौकिक क्षमता तथा ऐसा शिष्टतापूर्ण व्यवहार देखकर चकित हो गया। द्विवेदी जी मे यह वड़ा भारी गुण है कि वे अपने प्रतिद्वंद्वी के प्रति आत्मीयतापूर्ण सद्व्यवहार दिखलाने मे कभी पीछे नहीं रहते। ऐसी स्थिति मे वे सदा उदार नीति को ही आश्रय देते आए हैं। इसी बात पर एक मनोरंजक घटना याद आ गई। नवंबर १९०५ की सरस्वती मे 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख निकला। उसमे हिंदी के धुरंधर लेखकों

की रचनाओं से व्याकरण-संबंधी अनेक दोष उद्धृत करके दिखलाए गए थे। शायद उसमें तत्कालीन 'भारतमित्र' के संपादक लाला बालमुकुंद गुप्त की रचना से भी एक अवतरण दिया गया था। फल-स्वरूप लाला बालमुकुंद गुप्त ने 'आत्माराम' के नाम से बडी ही तीव्र भाषा मे प्रतिवाद किया। 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेख मे द्विवेदीजी पर अनेक वाग्बाण बरसाए। उनके प्रतिवाद का खंडन विद्यादिग्गज पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेख में किया। मिश्र जी का वह लेख बड़े कटु-शब्दो मे लिखा गया था। गंभीर और विद्वत्तापूर्ण शैली थी। 'हिंदी-वंगवासी' में वह प्रकाशित हुआ था। उसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी के तत्कालीन सभी प्रतिष्ठित धुरधर लेखक द्विवेदी जी के पक्ष मे हो गए। 'भारतमित्र' और 'सरस्वती' के बीच यह झगडा बरसो चलता रहा जिसमे हिंदी-वंगवासी, व्यंकटेश्वर-समाचार, सुदर्शन आदि अपने-अपने इष्ट-मित्रों का पक्ष लिए रहे। इस वाद-विवाद में कुछ लोग सहृदयता, सौजन्य और शिष्टता का ध्यान एक दम भूल गए थे। पर विद्वद्वर द्विवेदी जी उस अवस्था मे भी अपने विरोधियो का प्रतिवाद करने मे सर्वदा शिष्टता और सहृदयता का ही निर्वाह करते रहे। अपने स्वाभाविक अभ्यास के कारण वे मर्यादा का ध्यान कभी न भूले। पर कोई कहाँ तक सहन कर सकता है? सहन-शीलता की भी एक सीमा होती है। एक लेख मे मीरमुंशी[१] बालमुकुद जी ने बैसवारे की बोली में "हम पंचन के टूवाला मॉ" लिखकर द्विवेदी जी पर कटाक्ष किया। बस, द्विवेदी जी कुछ क्षुब्ध हो उठे। 'कल्लू अल्हइत' के नाम से "सरगौ नरक ठेकाना नाहिँ" शीर्षक आल्हा लिख डाला। उस पर उक्त मीरमुंशी जी ने अपनी राय देते हुए लिखा—'भाई वाह! कल्लू अल्हइत का आल्हा खूब हुआ! क्यों न हो, अपनी स्वाभाविक बोली मे है न'। यही वाक्य लिखकर उन्होने संतोष कर लिया। किंतु उक्त आल्हा द्विवेदी जी के उस समय के आतरिक भावों का द्योतक था। इस झगड़े ने हिंदी-साहित्य-संसार मे बड़ी चहल-पहल मचा दी थी। फिर भी लाला बालमुकुंद जी गुप्त बड़े धर्मभीरु और ब्राह्मणभक्त थे। वे बहुत पहले से द्विवेदी जी के दर्शन करना चाहते थे। परंतु यह सुनकर कि द्विवेदी जी बड़े उग्र स्वभाव के हैं, उनके पास जाने का साहस न करते थे। फिर भी, अपने जीवन के अंतिम दिनो मे, कानपुर के सुप्रसिद्ध उर्दू मासिक पत्र 'जमाना' के सुयोग्य संपादक मुंशी दयानारायण निगम बी० ए० के साथ, वे द्विवेदी जी के पास जुही गए। निगम महाशय ने द्विवेदी जी का परिचय देते हुए कहा—"आप ही सरस्वती के सुयोग्य संपादक पं० महा .. ।" इतना कहना था कि लालाजी ने झट द्विवेदी जी के चरणो पर अपना मस्तक रख दिया। द्विवेदी जी उन्हे पहचानते न थे, बड़े आश्चर्य मे पड गए, एक अपरिचित भद्र पुरुष को इस प्रकार चरणो पर माथा टेकते देख चट उठाकर हृदय से लगा लिया। तब, निगम महाशय ने बतलाया कि 'आप 'भारतमित्र' के सुयोग्य संपादक लाला बालमुकुद जी गुप्त हैं।' गुप्त जी

१. पहले बाबू शिवप्रसादजी (पश्चात् राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद) 'मीरमुंशी' के नाम से प्रसिद्ध थे। इसके बाद 'कोहनूर' और 'रीडिंग रूम चुनार' नामक प्रसिद्ध उर्दू पत्रों के सुयोग्य संपादक लाला बालमुकुंद गुप्त 'मीरमुंशी' कहलाने लगे थे।

ने अश्रुधारा बहाते हुए कहा—"मैं अपराधी हूँ और आपके सामने अपने उन अभद्रतापूर्ण व्यवहारों के लिये क्षमा माँगने और प्रायश्चित्त करने आया हूँ। आप विद्या मे गुरु बृहस्पति, स्नेह में ज्येष्ठ भ्राता तथा करुणा मे बुद्ध के सदृश हैं। आपके चरणों पर मैं बार बार अपना सिर रखता हूँ। अखबारनवीसी एक ऐसा काम है जिसमे अपने कर्त्तव्यो का पालन करने मे बहुधा ऐसी भूलें होती हैं। मैंने न्याय-संगत बातो का अनुचित रूप से उत्तर दिया है, जिसके लिये मैं हृदय से क्षमा चाहता हूँ।" आज तक द्विवेदी जी समय-समय पर गुप्त जी की इस उदाराशयता की प्रशंसा किया करते हैं।

आह! वे दिन चले गए; पर बातें याद हैं। वर्त्तमान का संबंध कभी अतीत से टूट नहीं सकता। तभी आज इन पंक्तियों को लिखकर हृदय हलका हुआ है।

केदारनाथ पाठक

Grimstad, 18 Aug. 1932.

Mr. Krishnadasa

Dear sir:

I wish I could accomodate you by contributing to the honour of Acharya Mahavira-Prasad Dwivedi, but I have been reconvalescent for the last 2 years and feel not able to do penwork at all. Even this few lines are — I am sure — full of uncorrectness. Beg to be excused!

Yours respectfully
Knut Hamsun.

द्विवेदी जी की एकनिष्ठ साधना

आज से अनेक वर्ष पहले हिंदी की अवस्था आज जैसी नहीं थी। इस अभागे देश के विद्वान् हिंदी से अनजान होने को ही प्रतिष्ठा की बात समझते थे। उनको हिदी की ओर खींचने में, उनके हृदय मे हिंदी-प्रेम भरने में पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सबसे अधिक परिश्रम किया है। वे वीर योद्धा के समान इस क्षेत्र में आए थे—उन्होने प्रतिद्वद्वियो का सामना किया, अपनी असीम योग्यता, अटूट धैर्य और अप्रतिम दक्षता दिखाई, और विजयी हुए। लोगों ने उनको समझा, उनका महत्त्व स्वीकार किया। यह है एकनिष्ठ साधना का फल। द्विवेदी जी हिंदी के निष्काम साधक थे। मैं जानता हूँ, बहुत-से साहित्यसेवी सभाओं और समेलनों के सभापतित्व के लिये प्रयत्न करते हैं—इधर-उधर आदमी दौडाते हैं—सभापति-निर्वाचिनी सभा मे अपने मत के पोषक बहुत-से सदस्य अपने खर्च से ले जाते हैं—कभी-कभी स्वयं और कभी-कभी दूसरों से अपने संबंध में लेख लिखवाते हैं और इस प्रकार सभापति बनने का अपना हक साबित करते हैं। पर द्विवेदी जी महाराज ने कभी ऐसा नही किया। एक बार हम लोग द्विवेदी जी पर इसलिये नाराज हो गए थे कि वे बार बार सभापतित्व को ठुकरा क्यो देते हैं—स्वीकार क्यों नहीं कर लेवे। पर अब हम समझते हैं कि उन्होंने जो कुछ किया, ठीक किया। उन्होने हिदी की सेवा की है अपने लिये—हिंदी के महत्त्व का प्रचार करके उन्होने अपने कर्तव्य का पालन किया है। उसके लिये पारितोषिक कैसा? उनका मत है कि मैंने जो कुछ किया है, अपने लिये किया है, हिंदीवालों पर तो कोई उपकार किया नहीं। फिर हिदीवाले मुझे समेलन का सभापति क्यों बनाना चाहवे हैं? अब मेरी यह राय हो गई है कि समेलन के सभापति-पद पर द्विवेदी जी को बैठाना उनका अपमान करना होता। कहाँ द्विवेदी जी, कहाँ उनकी हिंदी-सेवा, और कहाँ यह सभापतित्व! कौन इनमे समता स्थापित करने का दुष्प्रयत्न करेगा? द्विवेदी जी ने हिदी की नीरव उपासना की है। उन्होंने अपना विज्ञापन तो किया नहीं। उनके विषय मे यदि किसी ने कभी सच्ची बातें भी कह दीं तो वे उस पर अवश्य असतुष्ट हो गए। यही उनका क्रम रहा है। पर तो भी आज हिदीवालो मे शायद ही ऐसा कोई अभागा हो जो उनको न जानता हो—उनके कार्यों के सामने सिर न झुकाता हो। आज हम लोगों के लिये इससे बढकर क्या बात हो सकती है कि हमारे समाज मे एक ऐसा भी व्यक्ति है जिसका महत्त्व निर्विवाद है—जिसकी कार्य-पद्धति में हमारी आशावृद्धि है। द्विवेदी जी महाराज देखें, और बहुत दिनो तक देखें, कि उन्होंने जवानी में जो प्रयत्न किया है—जिसके लिये उन्होने युद्ध किया है—आज वह प्रयत्न सफल हुआ। आज ही वे युद्ध में विजयी हुए हैं। भगवान् उनको चिरायु करें और उनके परामर्श से हम लोग सदा लाभ उठाते रहे।

चद्रशेखर शास्त्री

परिचय

जिस समय मैं स्कूल की किसी छोटी कक्षा मे पढता था, अपने फुफेरे भाई के घर प्राय: जाया-आया करता था। वे रेलवे मे मुलाजिम थे। रेलवे मे उनके अनेक मित्र थे, जो कानपुर मे उनके घर एकत्र होते थे। इसी मित्रगोष्ठी मे पहले-पहल मुझे पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की कीर्त्ति सुनाई पड़ी। द्विवेदी जी की प्रशंसा सुनकर मेरे चित्त पर वडा असर पड़ा। सोचा, द्विवेदी जी कोई प्रभावशाली अफसर हैं जिनके द्वारा रेलवे मे लोगो का उपकार हुआ करता है। यह बात कदाचित् सन् १८८० की है। तदनतर कई वर्ष वाद जव मैं कालेज-क्लास मे पहुँचा, तब फिर द्विवेदी जी का नाम सुनाई पड़ने लगा। परंतु इस वार रेलवे के संवंध मे नही किंतु हिंदी-साहित्य के संवंध मे। अव तक मुझे उनके दर्शन न हो सके थे। उनके दर्शन का लाभ मुझे पहले-पहल कान्य-कुब्ज-कानफरेस की पहली वैठक मे हुआ, जो सन् १९०१ मे हुई थी, सो भी दूर ही से; वार्त्तालाप का सौभाग्य तव भी प्राप्त न हो सका। इसके कुछ ही दिनो वाद द्विवेदी जी ने 'सरस्वती'-संपादन का भार अपने ऊपर लिया और जी० आई० पी० रेलवे से अपना संबंध विच्छिन्न कर 'जूही' (कानपुर) मे अपने मित्र वावू सीताराम के हाते मे रहने लगे। कान्यकुब्ज-प्रतिनिधि-सभा के उपमंत्री होने के नाते मैं यह अपना धर्म समझता था कि प्रतिष्ठित कान्यकुब्जों को सभा मे शरीक करूँ। इसी उद्देश्य से मैं एक रोज द्विवेदी जी से मिलने 'जूही' पहुँचा। गया तो था उन्हे सभा के कार्यो मे फाँसने के लिये, परंतु मैं स्वयं उनके प्रेम-पाश मे फँस गया! उनकी शिष्टता ने मुझ पर वहुत असर किया। मेरे मिलने के दूसरे या तीसरे ही दिन वाद द्विवेदी जी विजिट रिटर्न (visit ıetuın) करने के लिये मेरे तंबू मे आ पहुँचे। उन्ही दिनो शहर में प्लेग का प्रकोप था। अपना घर छोडकर मैं भी अपने एक रिश्तेदार के यहाँ, ई० आई० रेलवे कंपाउंड मे एक छोलदारी लगाए, वृक्षो के नीचे अपना समय काट रहा था। इस स्थान और 'जूही' के वीच कुछ खेतों ही का फासला था। रेल की शंटिंग और कुलियो के चीत्कार से जब कभी मेरा जी ऊबता, तब मैं सीधा 'जूही' की राह पकड़ द्विवेदी जी की शरण मे जा पहुँचता था। कभी-कभी मैं द्विवेदी जी के घर से पुस्तके और समाचार-पत्र भी उठा लाया करता था। एक दिन 'काव्यमंजूषा' मेरे हाथ लगी। इसमे द्विवेदी जी की फुटकर कविताओ का संग्रह था। जब मैंने ये कविताएँ पढ़ी—और विशेषकर उन अवसरो को जाना जिनमे वे लिखी गई थीं—तब मैं द्विवेदी जी पर मुग्ध हो गया और मेरी श्रद्धा उन पर बहुत बढ़ गई। मुझ पर द्विवेदी जी के गद्य की अपेक्षा उनके पद्यो का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। द्विवेदी जी मुझे भी यथावकाश हिंदी लिखने-पढ़ने के लिये उत्साहित करने लगे।

'सरस्वती' उन दिनों 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित' थी। दैवात् सभा के कुछ कार्यों की समालोचना 'सरस्वती' मे निकली। सभा ने 'सरस्वती' के सर से अपना रक्षावाला हाथ हटा लिया। वह लेख, जो द्विवेदी जी ने 'सभा और सरस्वती' के सबध-विच्छेद पर लिखा था, बड़ा ही मार्मिक था—विशेषकर 'अनीस कवि' की वे पंक्तियाँ, जो लेख के अंत मे चस्पॉ की गई थीं। इसी बखेडे मे पड, विचार-स्वातंत्र्य की पुष्टि मे, द्विवेदी जी ने 'मिल' की 'लिवर्टी' नामक अँगरेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद कर डाला। तदनतर 'स्पेंसर' की 'शिक्षा' भी लिख डाली। उस समय तक हिदी में 'पोलिटिकल इकानमी' पर बहुत ही कम पुस्तकें लिखी गई थी। ऐसे नवीन विषयों पर विद्वान् हिदी-लेखकों का ध्यान दिलाने के लिये ही मानो द्विवेदी जी ने 'सपत्तिशास्त्र' लिख डाला। उन्होने अँगरेजी के कई अर्थशास्त्र-सबंधी महत्त्वपूर्ण ग्रंथो के आधार पर इसे तैयार किया था। इसकी भूमिका को उन्होने पहले 'सरस्वती' मे प्रकाशित किया—केवल हिंदी-प्रेमी अर्थशास्त्रज्ञ लेखकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये। इसी प्रकार वे हिदी की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते-कराते रहे। 'सरस्वती' द्वारा उन्होने निष्पक्ष सत्समालोचना का आदर्श भी उपस्थित किया। उन दिनों 'सरस्वती' अपनी कड़ी समालोचनाओ के लिये प्रसिद्ध थी। यहाँ तक कि कभी-कभी लोग उससे अप्रसन्न भी हो जाते थे और उसके संपादक के विषय मे यह अनुमान करने लगते थे कि वह वहुत उग्र स्वभाववाला कोई गर्विष्ठ व्यक्ति है। परंतु जब उन्हें कभी द्विवेदी जी का साक्षात्कार होता था तो यह भ्रम तत्क्षण दूर हो जाता था। द्विवेदी जी की नम्रता और साधुता, सत्यता और उदारता, उन लोगो को भली भाँति विदित है जिनका उनके साथ तनिक भी सबध रहा है। मुझ जैसे कितने ही मनुष्यो की रुचि हिदी मे उन्ही की बदौलत जागरित हुई। मातृ-भाषा की उन्नति हुए विना भारतवर्ष मे स्वराज्य स्थापित होना दुस्तर है, यह भाव प्रत्येक मित्र के हृदय पर अंकित करने से वे कदापि न चूकते थे। शायद राजनीतिक मामलो मे प्रकट रूप से उन्होंने कभी भाग नही लिया, परतु उनका हृदय स्वदेश-प्रेम से सदा परिपूर्ण रहा। हिदी की उन्नति द्वारा हिदोस्तान को समुन्नत करने मे ही उन्होने अपनी मुख्य मातृसेवा समझी। अपने इष्ट-मित्रो के साथ तो उनका व्यवहार सदा निष्कपट रहा है। अपने से छोटों—यहाँ तक कि सेवकादि आश्रित जनो—के साथ भी वे सदैव प्रेमपूर्ण बर्त्ताव करते हैं। मैंने कई वार देखा है कि दूसरो को अपने नौकरो के साथ कठोरता का बर्त्ताव करते देख वे वड़े दु खी हुए। उन्हें उस समय वहुत ही पीडा होती है जव कोई अपने वचन का प्रतिपालन नहीं करता। कानपुर मे मेरा घर उनके स्थान से करीव छ मील था। यदि भूल से भी कभी उनकी जवान से निकल जाता था कि अमुक समय मैं तुम्हारे घर आऊँगा तो कार्य के अनावश्यक होते हुए भी, लू-लपट की कुछ परवा न कर, उसी समय वे आकर उपस्थित हो जाते थे। यदि कोई उनसे वादाखिलाफी करता है तो वे उसे बहुत ही लज्जित करते हैं। वे चाहते हैं कि दूसरे भी व्यवहार में वैसे ही शिष्ट और सत्यपरायण हो जैसे वे स्वयं हैं। उनके सद्भाव का यह हाल है कि उनके सेवक और

आश्रित जन उनके कुटुंबी नहीं हैं, इसका सहसा पता लगना कठिन हो जाता है। उन्होंने अपने मित्रों और रिश्तेदारों के बाल-बच्चों तक का पालन-पोषण इस स्नेह और वात्सल्य के साथ किया है कि इस युग मे ऐसा कचित् ही देखने मे आता है। यदि किसी मित्र ने जरा भी उनका उपकार किया तो वे अपने को सदा के लिये उसका ऋणी मानने लगते हैं—"परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।" कई बार उन पर विपत्ति के झोंके आए, परंतु मैंने कभी उन्हें अधीर और विचलित होते नहीं देखा। मान-रक्षा ही के लिए उन्होने रेलवे की अफसरी का क्षणमात्र में परित्याग कर दिया। धनार्जन की अनेक सुविधाएँ होते हुए भी उन्होने ईमानदारी के साथ निर्धन रहना ही अच्छा समझा। बुढ़ापे मे एकमात्र अवलंब होनेवाली उनकी साध्वी सहधर्मिणी को भी भगवान् ने उठा लिया। नाना प्रकार की शारीरिक बाधाएँ सताती रहीं। पर ऐसे अनेक संकटों मे भी उन्होने साहित्य-सेवा और परोपकार-व्रत का सदा पालन किया है। परमेश्वर करें कि उनका शरीर बहुत दिनों तक सुखी रहे ताकि उनके जीवन से सुविस्तृत हिंदी-संसार को लाभ पहुँचे।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमान्यपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि न कश्चित् ज्ञातुमर्हति॥

देवीप्रसाद शुक्ल

संस्कृति-रक्षा और द्विवेदी जी

संस्कृति की रक्षा तथा विकास का एक साधन भाषा है।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी-भाषा को स्थिर रूप देने मे बडा भाग लिया है। कई मौलिक रचनाएँ रच कर और संस्कृत तथा अँगरेजी की कई पुस्तकों का अनुवाद करके द्विवेदी जी ने हिंदी पर बड़ा उपकार किया है। हिंदी-पत्र-कला के आचार्य होने से उन्होने कई लेखकों को बनाया है। यह भी उनका हिंदी पर ही उपकार है।

इनसे बढ़कर उपकार एक और है। हिंदी के द्वारा द्विवेदी जी ने हिंदू-संस्कृति का भला किया है। मेरे लिये हिंदू-संस्कृति और हिंदुत्व दो पर्यायवाची शब्द हैं। द्विवेदी जी ने भाषा-द्वारा हिंदुत्व की रक्षा तथा विकास किया है; अतः मेरे लिये वे मान्य हैं।

भाई परमानन्द

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य की जो सेवा की है, वह अक्षय्य है। प्राचीन काल के रस-सिद्ध कवीश्वर जरा-मरण के भय से रहित यश शरीर की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते थे। परन्तु आधुनिक युग के लेखक ऐसे यश शरीर की कामना तक शायद नहीं करते। सच्ची बात यह है कि आधुनिक युग महत्ता के लिये प्रयत्न ही नहीं करता। वह विस्तार के लिये कोशिश करता है। आधुनिक साहित्य हिमालय की तरह भव-भूतल को भेदकर आकाश की ओर अग्रसर नहीं हो रहा है। वह घास की तरह सारी पृथ्वी पर फैलकर उसे स्निग्ध बनाना चाहता है। वह रसिकों के लिये भव-सागर से भाव-रत्नों का सचय नहीं करता, वह सर्वसाधारण के लिये ज्ञान का पथ परिष्कृत करता है। वह लोगों में प्रेम और सहानुभूति का ही प्रचार करना चाहता है। पाठकों की रुचि परिष्कृत होती रहती है, ज्ञान की सदैव परीक्षा होती रहती है और ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ साहित्य का विकास होता रहता है। आधुनिक हिंदी-साहित्य के कितने ग्रथ काल का आघात सह सकेंगे? दस, बीस, पचास या सौ साल के बाद वर्तमान साहित्य की कितनी रचनाएँ पढने के लिये लोग व्यग्र रहेंगे—कितनी की उपयोगिता बनी रहेगी—कितनी की मौलिकता और नवीनता लोगों के चित्त को आकृष्ट करती रहेगी?

द्विवेदी जी की कितनी ही ऐसी रचनाएँ हैं जो पाठकों में सत्साहित्य के प्रति अनुराग और ज्ञान के प्रति स्पृहा उत्पन्न करने के लिये लिखी गई हैं, और कितनी ही ऐसी हैं जिनका सबध देश और समाज की वर्त्तमान अवस्था से है। हिंदी-भापा-भाषियों में ज्ञान का जितना प्रचार द्विवेदी जी ने किया है, उतना अन्य किसी लेखक ने नहीं किया। यह आधुनिक हिंदी-साहित्य के लिये कम सौभाग्य की बात नहीं है कि उसके प्रारभ-काल में ही उसे द्विवेदी जी के समान सेवक प्राप्त हो गया। द्विवेदी जी ने "रजत-शृ खला" क्या तोडी, हिंदी-साहित्य में सर्वसाधारण के लिये ज्ञान का द्वार ही उन्मुक्त कर दिया। अठारह वर्ष तक 'सरस्वती' के द्वारा उन्होंने साहित्य और शिक्षा, पुरातत्त्व और इतिहास, अर्थ-शास्त्र और विज्ञान, राजनीति और समाज-तत्त्व के ज्ञान सर्वसाधारण के लिये सुलभ कर दिए। 'सरस्वती' के पाठकों के लिये आधुनिक हिंदी-साहित्य में कोई विपय नया नहीं है।

द्विवेदी जी हिंदी-साहित्य में केवल ज्ञान का द्वार उन्मुक्त करके नहीं रुक गए। उन्होंने सच्चे सेवक की तरह हिंदी-साहित्य के मदिर को कलुपित होने से बचाया। उन्होंने हिंदी-साहित्य को सदैव उच्च आदर्श पर रखने की चेष्टा की। क्या भापा और क्या भाव, कहीं भी उन्होंने विकार

शैली मे ढालकर उसे एकरूपता प्रदान करने का भी स्थायी कार्य किया। हिंदी की 'अनस्थिरता' को स्थिरता प्रदान करने मे उन्होने जो अभूतपूर्व कार्य किया सो तो किया ही, इसके सिवा सबसे बडा कार्य उन्होने गद्य-पद्य की एक भापा करने का किया। इस संबंध मे जो आदोलन उनसे पूर्व स्वर्गीय बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने उठाया था और प्रारंभ मे जिसके पक्ष का स्वर्गीय कविवर पंडित श्रीधर पाठक ने समर्थन किया था, उस महत्त्वपूर्ण कार्य को सफलता प्रदान करने का चमत्कार द्विवेदी जी ने ही भले प्रकार दिखलाया। हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथो मे उनके विद्वान् प्रणेताओ के द्वारा जिस स्थल पर उनकी साहित्य-सेवा का उल्लेख किया गया है, उनकी लोकोपयोगी और पाडित्य-निदर्शक कृतियो की चर्चा की गई है, वहाँ उनकी उपर्युक्त दोनो विशेपताओ का भी विशद रूप से विवरण अंकित किया गया है। और इसके साथ इसी रूप मे इस वात का भी उल्लेख होगा कि उन्होने अपनी प्रेरणा और प्रोत्साहन से कितने ही नवयुवको को सुलेखक बना दिया जिनमे कोई कोई समालोचकाचार्य, सम्पादकाचार्य तक हो गए। भले ही इन लोगो मे से कुछ लोग अकृतज्ञता या ऐसे ही किसी भाव से यह वात इस समय न स्वीकार करे, किंतु जब द्विवेदी जी का विस्तृत जीवन-चरित लिखा जायगा, तव यह वात अपने-आप प्रकट हो जायगी कि केवल वावू मैथिलीशरण गुप्त ही उनके वनाए नही हैं, वरन और भी कतिपय लोग है जिन्होने अपनी कृतियो से अपने साथ ही हिंदी-साहित्य को भी गौरवान्वित किया है।

द्विवेदी जी असाधारण पुरुप-पुंगव हैं। वे जैसे विद्वान् और वहुज्ञ हैं, वैसे ही प्रतिभाशाली और क्षमतावान् भी हैं। उनकी विद्वत्ता और वहुज्ञता का परिचय जहाँ उनकी चारु कृतियाँ देती हैं, वहाँ उनकी कृतियो की प्रत्येक पंक्ति से उनकी प्रतिभा और क्षमता का भी ज्ञान होता है। और यही वे गुण हैं जिनकी बदौलत उन्होने विश्वामित्र की भाँति लड़कर ब्राह्मणत्वरूपी हिंदी के आचार्यत्व जैसे उच्च पद को प्राप्त किया है। द्विवेदी जी का जीवन ऐसा ही उत्साहपूर्ण और स्वाभिमान-व्यंजक रहा है।

'सरस्वती' को अपने हाथ मे लेकर उन्होने उसमे समय-समय पर देश-कालानुसार जो उपयुक्त परिवर्त्तन किए है, उन सबका—उनकी पत्रकार-कला का—परिचय देना अत्यत कठिन कार्य है। इस संबंध मे तो यहाँ इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा कि 'सरस्वती' हिंदी की एक आदरणीय और लोकप्रिय पत्रिका रही है। और द्विवेदी जी की जिस संपादन-संवधी प्रतिभा की बदौलत 'सरस्वती' ने यह उच्च स्थिति प्राप्त की है, वह प्रारंभ से ही उनकी एक विशेष वस्तु रही है। 'सरस्वती' का संपादन-भार ग्रहण करने के तीन वर्ष के बाद ही 'हिंदी-भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख लिखकर हिंदी के क्षेत्र मे उन्होने जिस नए जीवन का आविर्भाव किया था, वह उनके समय मे ही उत्तरोत्तर विकसित होकर स्थायित्व के रूप को प्राप्त हो गया। जब उन्होने हिंदी की साहित्यिक चर्चा छेड़कर लोक-रुचि को उसकी ओर आकृष्ट करने मे सफलता

प्राप्त कर ली, तब संस्कृत-साहित्य की चर्चा करके उस रुचि को और भी परिष्कृत कर सन् १९१७ से 'सरस्वती' को जो लोकोपयोगी रूप उन्होंने प्रदान किया, वही उनकी संपादन-कला-संबंधी विलक्षणता का सुंदर दर्शन होता है। द्विवेदी जी ऐसे ही देश, काल और लोकरुचि के अनुयायी और उसके पथप्रदर्शक थे और इसी कारण वे जनता में 'सरस्वती-संपादक' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। वे वास्तव में लोकप्रिय संपादक थे।

परंतु जिन द्विवेदी जी ने हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में इस बीसवीं सदी के आरंभ-काल में अपने भव्य व्यक्तित्व का प्रदर्शन किया था और हिंदी के निर्माण के कार्य में जिन्होंने सतर्कता और दृढ़ता का परिचय दिया था, उनके उस नेता-रूप के बाद हमें उनके जिस मानव-रूप के दर्शन होते हैं, वस्तुत वह किसी भी साहित्यिक के लिये ईर्ष्या की वस्तु हो सकता है। उनका निष्कपट व्यवहार, उनका सरल और सरस प्रेम, उनकी सहृदयता और उदारता आदि ऐसी बातें हैं जिनके ही कारण वे अपने परिचित लोक-समूह-द्वारा यथारीति समादृत हुए हैं। परंतु उनका यह रूप 'सरस्वती' से संबंध त्याग करने के बाद ही विशेष रूप से प्रकट हुआ है। वे अपने इस विश्राम-काल में एक वानप्रस्थी-जैसे अपने जीवन की कमाई का प्राय सर्वांश हिंदू-विश्वविद्यालय को अर्पित कर असहायों की सहायता करने, पीडितों की रक्षा करने, युवकों को सन्मार्ग पर लगाने-जैसे सत्कार्यों में अहर्निश लगे रहते हैं। उनका यह परसेवा-परायण स्वरूप ही उनका विशुद्ध स्वरूप है। और अपने इन महारथी साहित्यिक के इस रूप का दर्शन किस हिंदी-भाषी के लिये आनंद का कारण न होगा?

देवीदत्त शुक्ल ('सरस्वती'-संपादक)

No one has a higher appreciation of the great services rendered to Hindi literature by the Acharya than myself, and I much regret to hear that he is now in bad health

I also greatly regret that I am unable to contribute anything to the proposed volume Advanced age and failing eyesight prohibit me from undertaking any literary work at present

George A Grierson

आचार्य द्विवेदी जी

पूज्य द्विवेदी जी का स्मरण होते ही मेरे सामने पिता और गुरु की एक संमिलित मूर्ति खडी हो जाती है। जब मैं 'सरस्वती' मे जाने लगा था, तब मुझको कुछ हितैपियो ने मना किया था कि 'द्विवेदी जी से तुम्हारी पटेगी नही, तुम वहाँ न रह सकोगे, वे बहुत कड़े और क्रोधी हैं। कोई सहायक उनके पास अधिक समय तक नही टिका है।' मैंने अपने मन मे सोचा कि 'जब पूज्य द्विवेदी जी इतने विद्वान्, ऐसे सुयोग्य संपादक, और हिंदी-ससार मे ऐसे मान्य पुरुष हैं, तब ऐसा कोई कारण नही कि मैं उनके अधीन काम करने मे हिचकूँ या किसी भावी भय को हृदय मे स्थान दूँ। यदि वे कड़े हैं तो काम ही तो अधिक लेगे, यदि क्रोधी होगे तो कुछ भला-बुरा ही तो कह लेगे, कोई अमानुषिक व्यवहार तो करेगे नही।' फिर मैं तो उनके प्रति बहुत श्रद्धा और गुरु-भाव रखकर जाना चाहता था। तो, मैंने मित्रो से कहा कि उनकी कडाई मेरे लिये अच्छे ट्रेनिंग का काम देगी और उनका क्रोध मेरे लिये वरदान होगा। बस, मैं चल पड़ा। प्रयाग मे 'इंडियन प्रेस' के एक कमरे मे मैं पूज्य द्विवेदी जी के सामने पहले-पहल पेश किया गया। मैं मन मे कुछ सहम रहा था। उनका खासा लम्बा कद, विशाल और रोबदार चेहरा, बड़ी-बड़ी मूछे—ये सब उनके तेजस्वी व्यक्तित्व की छाप डाल रहे थे। उनके सामने मैं दुबला-पतला अधमरा-सा युवक पहुँचा। पहुँचते ही उन्होने मुझसे पूछा—'ओहो! आप भी ऐनक लगाते है!' मेरे पाँव के नीचे से जमीन खिसक गई। मैंने सोचा, क्या पहली परीक्षा मे ही फेल होना होगा? उन्होने और भी कुछ चुने हुए प्रश्न किए, जिनके उत्तरो मे उन्होने मुझे भीतर-बाहर सब अच्छी तरह समझ लिया। मैं खूब समझ रहा था कि मुझ पर जबरदस्त 'सर्चलाइट' पड़ रही है। लेकिन उस समय भी मुझे यही प्रतीत हो रहा था कि मैं एक सहृदय और सहानुभूतिशील बुजुर्ग के सामने हूँ। अस्तु, कोई तीन वर्ष मुझे द्विवेदी जी के चरणो मे रहकर 'सरस्वती' की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त रहा। मुझे कभी याद नही पड़ता कि क्रोध करने की तो बात ही क्या, कभी तेज स्वर मे भी द्विवेदी जी ने मुझे कुछ कहा हो। मुझे याद है कि 'जुही' मे दस-बारह रोज मेरे काम करने के बाद ही उन्होने मुझसे कहा—"उपाध्याय जी, आप इतनी जल्दी काम पूरा करके क्यो दे देते हैं। जो बहुत जरूरी होगा, उसके लिये मैं स्वयं कह दिया करूँगा। बाकी काम फुरसत से और आराम से कर दिया कीजिए। दिन-रात मिहनत करने की जरूरत नही।" उसी समय मैंने इस रहस्य को समझ लिया कि द्विवेदी जी काम करने और

काम चाहनेवाले आदमी है। खुद भी कडे परिश्रम से काम करते हैं और चाहते हैं कि दूसरे भी ऐसा ही करे। जो आदमी स्वयं परिश्रमी होता है, वह इस वात को सहन नहीं कर सकता कि दूसरा आदमी आलसी वना रहे या काम मे टालमटूल करता रहे। मुझे तो यहाँ तक याद है कि कोई कठिन समय आ पडा है, मैं वीमारियो और कौटुविक कठिनाइयो मे घिर गया हूँ, तो पूज्य द्विवेदी जी ने खुद ही 'आर्डिनेस' निकाल कर मुझे 'सरस्वती' के काम के वोझ से मुक्त कर दिया है और स्वय वह काम कर लिया है। नि सदेह उनके रोवदार चेहरे और लवे-चौडे डील-डौल के अदर वडा ही सहानुभूतिपूर्ण और करुणार्द्र हृदय छिपा हुआ है। मेरे दो छोटे भाइयो का जीवन वचना असभव था—यदि पूज्य द्विवेदी जी उनके इलाज का वोझ मुझ अनुभव-हीन युवक के हाथ से लेकर अपने ऊपर न डाल लेते। कहाँ तक कहूँ, पूज्य द्विवेदी जी की तेजस्विता और नियमनिष्ठा की भी वडी गहरी छाप मेरे हृदय पर पडी है। उनके दैनिक कार्य-क्रम से परिचित रहनेवाला मनुष्य यह निस्सदेह वता सकता है कि द्विवेदी जी अमुक समय पर अमुक काम करते है। अपने गुरुजनो मे तो मैंने उनसे वढकर नियमनिष्ठ महात्मा जी (गाधी जी) को ही देखा है। पूज्य द्विवेदी जी इस वात को गवारा नहीं कर सकते कि कोई आदमी चालाकी से या दवाकर उनसे कोई काम करा ले। एक दफा एक पी-एच० डी० महोदय ने एक लेख लिखकर भेजा। उन दिनो 'वी० ए० और एम्० ए०' वालो के लेखो के लिये भी सपादको को वडा प्रयत्न करना पडता था। पी-एच० डी० तो, कम से कम मेरी दृष्टि मे, देवताओ के समान थे। लेख के साथ पत्र मे पी-एच० डी० महोदय ने लिखा कि 'इसके सशोधन मे आप कृपा करके कोई उर्दू शब्द न डाले।' द्विवेदी जी ने विना विलव उनका लेख लौटा दिया और लिख दिया कि 'सपादन के सवध मे मैं किसी की कोई शर्त्त स्वीकार नहीं कर सकता।' एक सज्जन ने स्वदेशी शक्कर की कुछ थैलियाँ द्विवेदी जी को भेट की। उनका गर्भित आशय यह था कि द्विवेदी जी उनके सवध मे 'सरस्वती' मे कुछ लिख दे। कुछ दिनो के वाद फिर वे सज्जन उनसे मिले और उन्होने उन थैलियो की याद दिलाई, तो अपनी अलमारी की ओर हाथ उठाकर द्विवेदी जी ने कहा—'तुम्हारी थैलियाँ जैसी की तैसी रक्खी हुई हैं। 'सरस्वती' इस तरह किसी के व्यापार का साधन नहीं वन सकती।'

पूज्य द्विवेदी जी वडे सुव्यवस्थित, अध्ययनशील और परिश्रमशील हैं। उनके अध्ययन के तो कई सुफल हिंदी-ससार के सामने हैं। सुव्यवस्थित इतने कि यदि किसी दूसरे आदमी ने उनके पुस्तकालय मे पुस्तके इधर-उधर की हो तो उनको फौरन पता लग जाता था। पुरानी चीजो और यादगारो के सग्राहक ऐसे कि कोई वीस वरस पहले की रक्खी हुई पूने की वढिया इनी-गिनी अगर-वत्तियो मे से एक उन्होंने मुझे वड़े प्रेम से दी थी और मैंने उसे उनका आशीर्वाद समझकर ग्रहण किया था। पैकटो की डोरियाँ, चपडी और लेवल के कागज काटकर, सँभाल कर और सँवार कर रखते और उनका उपयोग करते। अख़वार इतने गौर से पढते थे कि एक वार विज्ञापनो मे से एक कटिग मेरे पास भेज दिया और लिखा कि तुम्हारे चचा जी को जो

फलाँ बीमारी है, उसके लिये यह दवा उपयोगी होगी। संपादन मे इतना परिश्रम करते थे कि ऐसा मालूम होता था मानो सारी 'सरस्वती' के लेख एक ही कलम से लिखे गए हो। मेरी समझ से पूज्य द्विवेदी जी नई हिंदी के पथ-प्रदर्शक हैं। उन्होने हिंदी-संसार मे अपनी एक विशिष्ट लेखन-शैली और सपादन-कला का प्रवेश कराया है। उनके समय मे 'सरस्वती' मे लेख का छप जाना अहोभाग्य समझा जाता था। 'सरस्वती' की समालोचनाओ का वड़ा असर पाठको पर होता था। समालोचना की जो धाक मराठी मे 'केसरी' की थी, हिंदी मे वही 'सरस्वती' की थी। द्विवेदी जी निर्भीक समालोचक हैं। वे वैसे ही साहित्यिक योद्धा भी हैं। कोई धमकी उन पर असर नहीं कर सकती। उनके 'कालिदास की निरंकुशता', 'भापा की अनस्थिरता' आदि उस समय के विवाद प्रसिद्ध ही हैं, जिनमे उनके योद्धापन और निर्भीकता का काफी परिचय मिलता है। हिंदी मे कई कवियो और लेखको के तैयार करने का श्रेय उन्ही को है। आज हिंदी मे सौभाग्य से कई मासिक पत्रिकाएँ निकल रही है। परंतु द्विवेदी जी के समय की 'सरस्वती' की धाक हृदय पर से मिटाए नहीं मिटती। मैं तो अव भी, चौदह-पंद्रह वर्ष बीत जाने पर भी, जव उन तीन वर्षों का स्मरण करता हूँ तो, उस समय से अव सव तरह से कहीं अच्छी हालत मे होते हुए भी, अपनी किसी चीज को खोई हुई पाता हूँ। 'सरस्वती' से सबंध छोडने के वाद भी मेरे प्रति पूज्य द्विवेदी जी का वही वात्सल्य भाव रहा है। पूज्य महात्मा जी के वातावरण मे आने का पथ मेरे लिये सुगम वना देने मे भी पूज्य द्विवेदी जी का वडा हाथ है। सन् १९२१ मे उन्होने जो दो अच्छे शव्द मेरे लिये मान्यवर जमनालाल जी वजाज को लिख दिए, उनसे 'हिंदी-नवजीवन' की योजना को प्रकृत रूप देने मे वहुत सहूलियत पैदा हो गई। जिन पुरुषो के प्रभाव से मेरा जीवन कुछ वना है, उनमे पूज्य द्विवेदी जी भी एक उच्च पुरुष हैं, और आज मुझे इन शव्दो मे उनके प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करते हुए वहुत हर्ष होता है। वे जुग-जुग जिएँ और हम-जैसों को उत्साहित एवं अनुप्राणित करते रहे, यही जगन्नियता से प्रार्थना है।

हरिभाऊ उपाध्याय

साहित्य-महारथी द्विवेदी जी

नई दिल्ली की सुदर विशाल सडको पर घूमनेवाला यात्री इस वात को कभी ध्यान मे नही ला सकता कि कुछ वर्षो पहले उसी भूमि पर घना जगल, रेगिस्तान और ग्रामीणो के खेत थे। वहाँ दिन के समय भी इक्के-दुक्के मनुष्य का गुजरना असभव था, दिन-दहाडे डाका पडना साधारण वात थी। ऐसी ही भूमि को श्रमजीवियो ने वडे परिश्रम से आधुनिक नगर का रूप दे दिया और आज हजारो मनुष्य उन सडको पर प्रात कालीन समीर का आनद लेते हैं और मोटरगाडियाँ निर्भय इधर से उधर घूमती हैं। उन श्रमजीवियो के परिश्रम का मूल्य क्या कोई समझ सकता है ? ससार मे ऐसी ही विचित्र दशा है ! जो कठोर तपस्या कर दूसरो के लिये मार्ग-प्रदर्शक बनते हैं, जो अपने-आपको मिटा कर आनेवाली सतानो के लिये उन्नति के द्वार खोलते हैं और जो खून-पसीना एक कर वाधाओ का वध करते हैं, उनके वलिदान का मूल्य किसी प्रकार कूता नहीं जा सकता। यह अवस्था जीवन के सभी विभागो मे है। परतु साहित्य मे ऐसे वलिदान का कितना ऊँचा स्थान है, यह समझने के लिये अत्यत सहृदय होने की आवश्यकता है। साहित्य की प्रारभिक अवस्था मे जिन विद्वान् लेखको ने निष्काम भाव से अपने स्वास्थ्य को खोकर इसका मार्ग विशाल वनाया, ककड-पत्थर वीने, झाड-झखाड और काँटो को जलाया, जरा उनके परिश्रम पर गभीरता से विचार कीजिए। इतना ही नहीं, वल्कि उनके परिश्रम का भावी परिणाम क्या होगा, उस पर दूर तक नजर दौडाइए। यदि आप ऐसा कर सकते हैं तो आपको हिंदी-साहित्य के मार्ग को प्रशस्त करनेवाले आचार्य पडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की कठिनाइयो, उनके वलिदान और उनकी रातो जागकर काम करनेवाली लेखनी का चमत्कार मालूम हो सकेगा। हिंदी के जो नए लेखक आज उनके वनाए हुए विशाल पथ पर निर्भय होकर मोटरगाडी और घोडे दौडाए फिरते हैं, वे इस वात की कल्पना नही कर सकते कि तीस वर्ष पहले साहित्य की इस सुदर सडक पर कैसा घनघोर जगल था। यदि उस समय के लेखको की पाडुलिपियाँ किसी म्यूजियम मे पडी हो—वे लेख जो उन दिनो 'सरस्वती' मे छपे थे—तो हमारे आज के नए लेखक उनमे किए गए सशोधनो से द्विवेदी जी के परिश्रम, उनके अध्यवसाय और उनकी तपस्या का कुछ अदाज अपने मन मे लगा सकेंगे। यह साहित्य-महारथी वड़े धैर्य से उन लेखो को शोधता था, उन्हे शुद्ध हिंदी का रूप देता था, उनमे नए मुहाविरे भरता था—किसलिए ? ताकि आनेवाली सतान हिंदी-साहित्य के द्वारा भारतीय राष्ट्र का निर्माण कर सके। कोई उसको प्रोत्साहन देनेवाला न था, उसकी बीमारी की अवस्था मे कोई उसका स्थान लेनेवाला न था, वह अकेला साहित्य-भक्त निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर ईश्वर के भरोसे अपने कर्त्तव्य पर डटा रहा, इसलिये नही कि उसे कोई साहित्य-सम्राट् कहे, अथवा

कोई बडा पुरस्कार दे दे। उसने केवल अपने आदर्श की ओर ध्यान रखकर इस प्रकार निरंतर वर्षों मजदूरो की तरह मिहनत की और हिंदी को राष्ट्र-भापा का रूप दिया। यह बड़े आनंद की बात है कि यह वृद्ध साहित्य-तपस्वी आज अपने नेत्रो से उस परिश्रम का परिणाम देख रहा है। उसका हृदय कितना गद्गद होता होगा, जब कि उसके वनाए हुए पथ पर आज सैकड़ो लेखक आनद से साहित्य-सेवा करते हुए दिखाई देते हैं।

समय परिवर्तनशील है। भारतवर्प मे अँगरेजो का राज्य रहे चाहे स्वराज्य हो जाय, एकाधिपत्य हो, चाहे प्रजातंत्रवाद की दुदुभि वजे, परतु हिंदी-साहित्य का जो राष्ट्रीय भवन द्विवेदी जी ने तैयार किया है, वह सदा अपना मस्तक उन्नत किए साभिमान खडा रहेगा और उसके द्वारा भारतीय संस्कृति का संदेश संसार मे फैलेगा।

सत्यदेव परिव्राजक

अभिनंदन

१

वने हुए पथ पर चले, सभी सहित उत्साह।
है विशेप दुर्लभ वही, जो कि निकाले राह॥

२

शिल्पी परम प्रवीण मातृ-मंदिर-निर्माता,
अभिनव लेखन-कला-लोक के विज्ञ विधाता।
उपयोगी साहित्य आपने लिखा, लिखाया।
सेवा मे ही सरस्वती की जन्म विताया॥
हिंदी-भाषा के सदा लगे रहे उद्धार मे।
ऋषि दधीचि-सम अस्थियाँ दे दी पर-उपकार मे॥

३

जो कुछ हैं उपकार आपने किए हमारे।
उनका वदला नहीं चुका सकते हम सारे॥
आत्माराम, अकाम, आपका निःस्पृह मन है।
अपने ही संतोप-हेतु यह अभिनंदन है॥
चरणो मे अर्पण किया तुच्छ अर्घ्य यह भक्ति का।
गुरुवर, स्वीकृत कीजिए समझ चिह्न अनुरक्ति का॥

रूपनारायण पांडेय

सफल संपादक द्विवेदी जी

लेखको के लेखो और कवियो की कृतियो का सपादन सपादक को करना चाहिए अथवा नहीं, और करना चाहिए तो किस सीमा तक, इस सवध मे लोगो का एक-मत नहीं है। सयुक्त-प्रान्तीय एक विश्वविद्यालय के एक प्रख्यात अध्यापक महोदय ने कहा था कि 'सरस्वती' मे जो कुछ छपता है, सव भली भाँति सपादित होकर ही। उसकी भाषा ऐसी टकसाली होती है कि उसमे अन्य लेखको का व्यक्तित्व सर्वथा लुप्त हो जाता है और सर्वत्र उसके सपादक की ही छाप नजर आती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो 'सरस्वती' मे लिखनेवालो की भाषा एक विशेष साँचे मे ढली हुई है। वास्तव मे दूसरे की रचना मे सशोधन करना वडा अप्रिय कार्य है। लेकिन इस सशोधन-कार्य से लेखक की रचना का जनता मे जो आदर वढ जाता है, इसको वह प्राय समझ नहीं पाता और जिनके परिश्रम से उसकी रचना सुदर रूप धारण करके लोक-समादृत हुई है उन्हे तो कोई जल्दी पहचानता ही नहीं। वे तो निदा-स्तुति से दूर किसी कोने मे चुपचाप वैठे एकाग्रता के साथ इसी अप्रिय कार्य के करने मे जीवन की आहुति दे देते हैं। इसमे सदेह नहीं कि ऐसे भी लोग हैं जो यह जानते हैं कि अगर काट-छाँट की जायगी तो कृति की सौंदर्य-वृद्धि के लिये ही, उसे कुरूप करने के लिये नहीं। ऐसे सहृदय लोगो से सशोधन के लिये अनुमति माँगी जाती है तो वे सहर्ष दे देते हैं। एक वार 'सरस्वती' मे कवि विशाखदत्त-प्रणीत मुद्राराक्षस नाटक पर एक लेख छपने को आया था। उसे देखकर द्विवेदी जी ने छापना स्वीकार कर लिया था। उसमे जहाँ-तहाँ पेसिल से उन्होने सशोधन भी किया था। लेख के अत मे पेसिल से एक नया वाक्य लिखा हुआ था। कपोज होने से पहले उसे देखने का अवसर उक्त लेख के लेखक को मिल गया। उन्होने द्विवेदी जी की सपादन-पटुता की सहस्रमुख से प्रशसा कर कहा कि इस अतिम वाक्य से लेख मे सजीवता आ गई है, सशोधन से लेख की श्रीवृद्धि हुई है। वे प्रसन्नता से मुसकुराने लगे। इसी प्रकार एक वार 'सरस्वती' की एक कविता मे, कपोज होने से पूर्व, देखा कि द्विवेदी जी ने एक प्रसिद्ध कवि की रचना मे से साढे तीन पद्य साफ निकाल दिए हैं और अपनी ओर से आधा पद्य जोड कर रचना के प्रवाह को यथापूर्व कर दिया है। यह कार्य बहुत ही कठिन है। कवि जी कोई वात कहते-कहते अगर सडक से जरा सा हट गए हैं तो धीरे से उन्हे सड़क पर ले आना, और वह भी इस तरह कि कवि जी को इसका गुमान तक न हो कि किसी ने उनको छू लिया है, क्या कम चातुर्य की वात है? पद्य मे सशोधन करना सवका काम नहीं। न तो भाषा मे अतर पड़े, न विचारो का तारतम्य टूटे और न छदो-रचना मे ही रत्ती भर व्यतिक्रम पड़े। यही तो सशोधन-पटुता है। दूसरे की कृति पर कलम चलाना साधारण काम नहीं है। इस कार्य मे द्विवेदी जी वड़े ही सिद्धहस्त हैं। सपादन के लिये जिन गुणो की आवश्यकता होती है उनमे

से अधिकांश द्विवेदी जी मे विद्यमान हैं और वह भी प्रचुर परिमाण मे। जिस समय उनके हाथों मे 'सरस्वती' के संपादन का कार्य-भार रहा है, उन्होने न तो दिन को दिन समझा है और न रात को रात। कार्य के गुरुत्व के आगे उन्होने अपने अमूल्य स्वास्थ्य तक का वलिदान कर दिया। अपने लेखको का उन्हे पर्याप्त ज्ञान रहा है। वे जानते थे कि किस लेखक से, किस विपय पर, किस तरह लेख मिल सकता है। शिष्टाचार के तो वे अवतार ही हैं। लेख उन्हे जिस घड़ी मिलेगा उसी घडी वे लेखक को प्राप्तिसूचना दे देगे और हो सकेगा तो लेख के संबंध मे अपनी सम्मति भी। लेख का सपादन इतने मनोयोग से करेगे कि रचना सर्वांगपूर्ण हो जाय। न तो कही भापा-शैथिल्य रहने पावेगा और न वर्ण्य विपय मे अपूर्णता ही रह जायगी। अपने अध्यवसाय और उदाहरण से उन्होने न केवल संपादन का ही सुदर आदर्श उपस्थित कर दिया है, प्रत्युत भापा की एक सजीव शैली निश्चित कर दी है। द्विवेदी जी के समकालीन लेखको पर भी उनका प्रभाव पडा और अज्ञात रूप से उनकी रचना पर द्विवेदी जी की शैली ने आधिपत्य प्राप्त कर लिया। बहुत थोड़े लोग यह जानते हैं कि आजकल जिस भापा का वे उपयोग करते हैं उसकी शैली के निर्माण करने का श्रेय, अधिक अंशो मे, द्विवेदी जी को ही प्राप्त है। आज से पचास वर्प पहले की भापा की तुलना वर्तमान काल की भापा के साथ करने से यह वात स्पष्ट हो जाती है। और तो क्या, गद्य-साहित्य के वर्तमान प्रवाह को द्विवेदी-युग कहना ठीक होगा। गद्य ही क्यो, पद्य के वर्तमान स्वरूप और उसके संविधान मे भी द्विवेदी जी के सफल हस्त-कौशल अंतर्निहित हैं। आज से बीस-पचीस वर्प पहले के अधिकाश कवि द्विवेदी जी के ही पदचिह्नो पर चलकर यशस्वी हुए हैं। वर्तमान समय के लेखको और सपादको के सामने उनका ज्वलंत उदाहरण विद्यमान है। मेरा तो विश्वास है कि कोई भी व्यक्ति द्विवेदी जी की विशेपताओ को अंगीकृत करके गौरवशाली हो सकता है।

लल्लीप्रसाद पाडेय

द्विवेदी-युग की काव्य-प्रगति

अकबर के समय से, मुगल-साम्राज्य के भारत मे स्थापित हो जाने पर, प्राय दो सौ वर्ष तक, देश मे एक प्रकार से शाति स्थापित रही। जीवन मे सघर्ष का अभाव-सा रहा। शाही दरबार मे भोग-विलास का दौर-दौरा हुआ। जनता ने भी ऐहिक सुखोपभोग को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझ लिया। जनसमाज की इस मनोवृत्ति के प्रभाव से उसके प्रतिनिधि—कवि—भला कैसे वचित रहते! उनकी कविता शृ गार की दूषित भावनाओ की अभिव्यक्ति को ही अपना एकमात्र उद्देश्य बना बैठी। श्रीकृष्ण के जिस दिव्य प्रेम की ओर निवार्क, चैतन्य और वल्लभाचार्य जैसे महापुरुषो ने अपने समय मे जनता का ध्यान आकृष्ट करके उसकी उदासीनता दूर की थी—और जिसकी मनोहर व्यजना करके सूरदास, नददास, हित हरिवश आदि अगणित कवि-पुंगवो ने उसके हृदय मे प्रफुल्लता का सचार किया था—वही कालातर मे, मुसलमानी वातावरण के प्रभाव से, वासनाओ की तृप्ति का विषय बन गई। कवियो ने अपने अभिभावको की, या अपनी ही, मनस्तुष्टि के लिये नायक और नायिका के रूप मे श्रीकृष्ण और राधा की कल्पित गुप्त क्रीडाओ की अतिरजित उद्भावना की। ऐसा करके राधा-माधव के स्मरण का बहाना किया जाने लगा। टट्टी की ओट से शिकार खेला जाना आरभ हुआ। इस प्रकार नायिका के भेदोपभेद का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करना, उनके नखशिख के वर्णन मे सिर खपाना और नायको की उछल-कूद का चित्रण करना ही कवि-कर्म समझा जाने लगा। इन बातो से अवकाश मिलने पर अलकारो, छदो, रसो आदि का विवेचन करके उनके उदाहरण—विशेषतया शृ गाररसात्मक-स्वरूप कविता लिखने मे कवियो का समय बीतने लगा। फलत हिंदी-कविता की सीमा विषय-वस्तु की दृष्टि से अत्यत सकुचित हो गई। यद्यपि इसी युग मे कुछ शुद्ध एव सात्त्विक प्रेम की अभिव्यजना करनेवाले—और भूषण, लाल, सूदन के सदृश लोक-भावना को प्रतिबिबित करनेवाले—कवि भी हुए, तथापि इस काल मे प्रधानतया शृ गार-रस का, सो भी उसके कलुषित रूप का, स्वाद चखने-चखाने मे कवि-समाज उन्मुख रहा। हिंदी की अवधी, खडी, बुँदेलखडी आदि प्रातीय बोलियो को छोडकर व्रजभाषा को तत्कालीन कवियो ने देश की काव्यभाषा के रूप मे स्वीकृत कर लिया था। इस प्रकार व्रजभाषा मे कुछ सीमित भाव या विषय व्यक्त होने लगे थे। अस्तु, अँगरेजो के उत्तरी भारत मे शासन के आरभिक दिनो मे हिंदी-कविता इसी सीमित क्षेत्र के भीतर रहकर चर्वित चर्वण मे आत्म-विस्मृत हो रही थी। समय की आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिये इस समय गद्य के द्वारा मनोविचार प्रकट करने की आवश्यकता हुई और इस कार्य के लिये खडी बोली उपयुक्त समझी गई तथा सर्व-सम्मति से

स्वीकृत हुई। इसी बीच हिंदी-काव्याकाश मे 'भारतेदु' का उदय हुआ। उन्होने गद्य मे कई दिशाओ मे पथप्रदर्शन करने के साथ कविता की गति और प्रवृत्ति मे परिष्कार और नवीन प्रवर्त्तन किया। हिंदी के इस संधि-काल मे भारतेदु हरिश्चंद्र-जैसे प्रतिभाशाली कवि का आविर्भाव स्वर्ण-संयोग है। उन्होने गद्य के लिये खडी बोली को उपयुक्त समझा, उसके चलते रूप को परिष्कृत किया और उसमे दो-एक कविताएँ भी लिखी, तथापि कविता की सामान्य भाषा के लिये उन्होने व्रजभाषा को ही स्वीकार किया। हाँ, उसके परंपरा से प्राप्त रूप मे आवश्यकतानुसार परिमार्जन किया एव उसे जीवित भाषा बनाए रखने के लिये उसमे नवीनता का सचार किया। उन्होने राष्ट्र और समाज की उस समय की भावनाओ की व्यंजना का भी कविता मे सूत्रपात किया। इस प्रकार कविता को सामाजिक प्रगति से पीछे न पडी रहने दिया। भारतेदु-युग मे जैसे कविता की वाह्यात्मा—भाषा—संस्कृत की गई वैसे ही उसकी अंतरात्मा—विषय-वस्तु, भाव आदि—मे भी नवीनता लाई गई, वह रीति-कालीन रंग-भवन के दलदल से निकाली गई। इस काल के कवियो ने कविता मे नवजीवन तो डाला, किंतु उनकी शक्ति मुक्तक-रचनाओ, छोटे-छोटे पद्यात्मक निवधो की अवतारणा करने मे, लगी रही, वे नवीन विषयो पर प्रवध-काव्य न लिख सके।

इस समय तक देश मे अँगरेजी-राज्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अव गद्य मे प्रयुक्त होने से खड़ी वोली केवल एक प्रात की उपभाषा नही रह गई थी, उसे व्यापकता मिली। इससे प्रोत्साहित होकर उसे काव्य की भाषा वनाने का विचार अंकुरित हुआ। साथ ही, इन्ही दिनो देश मे राष्ट्रीय भावना की अभिवृद्धि ने देशी भाषाओ मे से किसी एक को राष्ट्र भाषा मनोनीत करने की आवश्यकता उत्पन्न की। सव वातो पर विचार करने के पश्चात् हिंदी ही इस कार्य के लिये ठीक समझी गई। जैसे हिदी-गद्य को भारत-व्यापक वनाना आवश्यक था, वैसे ही उसके पद्य को भी अन्य प्रातवालो के लिये वोधगम्य वनाना उचित जान पडा। कितु व्रजभाषा मे पद्य-भाग के अभिव्यक्त होने से ऐसा होना कठिन था। गद्य खडी वोली मे हो और पद्य व्रजभाषा मे। ऐसा होने से अन्य प्रातवालो के लिये दो उपभाषाएँ सीखना सुगम नही। इसलिये खड़ी वोली मे गद्य की भाँति पद्य की भी रचना करना अधिक उपयोगी प्रतीत हुआ। यों तो खड़ी बोली मे कविता के अंकुर 'हेमचद्र' (संवत् १२३०) के 'सिद्ध हेमचद्र शव्दानुशासन' नामक प्रसिद्ध व्याकरण मे संगृहीत कुछ दोहो तक मे मिलते हैं—और खुसरो, सादी, वली, मीर, नजीर आदि उर्दू-कवियो के अतिरिक्त कवीर, रहीम, सीतल, ललितकिशोरी आदि हिंदी-कवियो की रचनाओं मे भी उसके उदाहरण मिलते हैं—किंतु उसे देश की काव्य-भाषा होने का गौरव मिलने का युग अब से ही आरभ होता है। पंडित श्रीधर पाठक इस समय की जन-वृत्ति के प्रदर्शित करने मे अग्रणी हुए। पाठक जी पहले व्रजभाषा मे कविता किया करते थे, और वाद मे भी उन्होने इससे प्रेम नही छोड़ा, परंतु सन् १८८३ मे ही उन्होने खड़ी बोली मे कविता करने का श्रीगणेश किया। उनके 'मनोविनोद' के द्वितीय खड की पहली कविता उक्त सन् के १४ सितंबर की रचना

है। तदनंतर वे सन् १८८६ मे 'एडविन अंजलैना' और 'एकातवासी योगी' नामक दो अँगरेजी से अनूदित काव्य लेकर खडी बोली के कविता-मडप मे, उसके सर्वप्रथम काव्यकार की हैसियत से, आए। फिर दूसरे साल 'जगन्मिथ्या'-सिद्धात की असारता सिद्ध करने के लिये आपने इसी भाषा मे 'जगत-सचाई-सार' नामक मौलिक कविता लिखी। इस प्रकार पाठक जी ने, सरल तथा बोलचाल की भाषा मे उक्त एव अन्य मौलिक और अनूदित काव्य तथा मुक्तक पद्य लिखकर, उस समय मे प्रचलित इन विचारो का सक्रिय मूलोच्छेदन किया कि 'खडी बोली मे अच्छी कविता नहीं हो सकती'। उनकी कोमल-कात-पदावली, उनकी भाषा की सफाई और उक्तियो की मार्मिक व्यजना पर मुग्ध होकर खडी बोली की काव्य-ध्वजा फहरानेवाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १८९९ मे 'श्रीधर-सप्तक' लिखकर कविता के इस नवीन युग के आद्याचार्य की अभ्यर्थना की। द्विवेदी जी ने अपने 'सप्तक' मे पाठक जी को गीतगोविदकार 'जयदेव' का अवतार मानकर उनके काव्य-माधुर्य की प्रशसा की है, और अंत मे पाठक जी से दरिद्र हिदी का कलक धोने का अनुरोध करके अपनी उस मनोवृत्ति की सूचना दी है जो उनके 'सरस्वती' का सपादन प्रारभ करने पर खडी बोली की कविता के लिये कल्पलता हुई।

पाठक जी की आरभिक कृतियो की भाषा मे वह सुघराई न आ सकी थी, जो उनकी उत्तरकालीन रचनाओ—जैसे 'भारत-गीत'—मे दृष्टिगोचर होती है। उनकी पहली रचनाओ मे अधिकाश मौलिक भी नही थी, अँगरेजी या सस्कृत से अनुवादित थी। इस त्रुटि का मार्जन करने के लिये प० अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' सचेष्ट हुए। आप इसके पहले से व्रजभाषा मे, रीति-काल की काव्य-पद्धति पर, कविता करते आ रहे थे। खडी बोली मे कविता करने के नवीन आदोलन ने अपनी ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया। इस समय तक पाठक जी की कविताएँ देखने को मिल चुकी थी। उनके आधार पर खडी बोली मे कविता किए जाने के विरोधी यह कहते सुने जाते थे कि 'इसमे सरल भाषा मे कविता हो सकना असभव है'। आपने नित्य की बोल-चाल की भाषा मे कविता करके इस आरोप को व्यर्थ सिद्ध किया। फिर कुछ काल के पश्चात्, 'खडी बोली मे केवल छोटी-छोटी मुक्तक कविताएँ ही लिखी जा सकती है'—इस आक्षेप का मुँह-तोड जवाब आपने 'प्रियप्रवास'-द्वारा दिया। 'प्रियप्रवास' मे वर्णित आख्यान यद्यपि पुराना है, तथापि उसमे नवीन योजनाएँ करके आपने अपनी कल्पना शक्ति का भी परिचय दिया। श्री कृष्ण को लोकरक्षक के रूप मे चित्रित करने का कार्य हिंदी-कवियो मे सबसे पहले आपने ही किया। वात्सल्य एव करुण रसो का अतीव रुचिकर परिपाक इस काव्य मे हुआ। इसकी भाषा मे तत्सम शब्दो के प्रयोग की ओर एक तो कवि की वैसे ही रुचि रही, दूसरे उसमे अधिक परिमाण मे प्रयुक्त सस्कृत-वृत्तो—विशेषकर वर्ण-वृत्तो—के कारण यह काव्य और भी सस्कृत-गर्भित जान पडता है। हिदी मे सस्कृत-वृत्तो का इस प्रकार अधिक मात्रा मे प्रयोग सर्वप्रथम आपने ही किया। इस प्रकार की क्लिष्ट भाषा मे, खडी बोली मे, अब तक का सर्वश्रेष्ठ काव्य लिखने के बाद आपने पुन बोलचाल की भाषा की ओर दृष्टिपात किया। फलत. नित्य के

व्यवहार मे आनेवाली भापा मे आपने उर्दू-छंदों की रचना सफलतापूर्वक की। आपकी ऐसी ही कविताओ का संग्रह 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' मे है। इनमे मुहावरो पर आपने अपना अद्वितीय अधिकार प्रदर्शित किया। साथ ही राष्ट्रीयता, समाज-सुधार, देशोन्नति आदि से संबंध रखनेवाले विचारो की कवित्वपूर्ण अभिव्यजना भी इनमे बहुत अच्छे ढंग से हुई।

द्विवेदी जी का प्रभाव, हरिऔधजी के आरंभिक कविता-काल मे ही, देश-व्यापक हो चला था। द्विवेदी जी ने आरंभ मे संस्कृत और व्रजभापा मे कुछ कविताएँ लिखी, फिर आप खडी बोली की ओर झुके। जब तक झासी मे, जी० आई० पी० रेलवे के दफ्तर मे, रहे तब तक 'भारत-मित्र,' 'हिंदी बंगवासी' आदि मे—और 'सरस्वती' के प्रकाशित होने पर उसमे भी—खडी बोली मे ही कविताएँ लिखते रहे। जब सन् १९०४ मे 'सरस्वती' के आराधना-क्षेत्र मे आए, तब से आपने स्वयं तो खडी बोली को अपनाया ही, अन्य कितने ही कवियो को इसी मे कविता करने के लिये प्रोत्साहित करके उन्हे मार्ग दिखाया, सिखाया और कवि बनाया। 'सरस्वती' के द्वारा आपने खडी बोली की कविता को ऐसा प्रोत्साहन दिया कि बहुत दिनो तक 'खडी बोली बनाम व्रजभापा' के झगड़े का दौरदौरा रहा। पहले लोगो को यह विश्वास ही नही होता था कि एक दिन खडी बोली का, इतने अल्प काल मे, आज की भॉति, काव्यक्षेत्र पर प्रभुत्व हो जायगा। स्वयं द्विवेदी जी (२ फरवरी १९०९ को) स्व-संपादित 'कविता-कलाप' की भूमिका मे लिखते हैं—"इस नये ढंग की कविताओ को 'सरस्वती' मे प्रकाशित होते देख बहुत लोग अब इनकी नकल अधिकता से करने लगे हैं।. अतएव, बहुत सभव है कि किसी समय हिंदी के गद्य और पद्य की भापा एक ही हो जाय।" हर्ष है कि द्विवेदी जी के जीवन-काल मे ही उनकी यह आशा पूरी हो गई। द्विवेदी जी ने फुटकल विषयो पर जो कविताएँ लिखी, उनमे से कुछ 'कविता-कलाप', 'काव्यमंजूपा' एवं 'सुमन' मे संगृहीत हैं। कालिदास-कृत 'कुमारसंभव' के प्रथम पॉच सर्गों का सार भी आपने 'कुमारसंभव-सार' मे पद्य-बद्ध किया। 'कुमारसभव-सार' की कविताएँ द्विवेदी जी की मौलिक रचनाओ से अधिक सरस हैं। द्विवेदी जी स्वय अपने को कवि नहीं मानते, पर वे निस्संदेह एक बहुत बड़े कवि-निर्माता और भापा के सस्कारकर्त्ता हैं। उन्होने 'सरस्वती' मे प्रकाशनार्थ आई हुई सभी कविताओ को संशोधित एवं परिमार्जित किया और उनके द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त कर तत्कालीन अन्य कवियो ने संस्कृत भापा के आदर्श पर काव्य-रचना की। इसी प्रकार द्विवेदी जी के व्यक्तित्व ने अपने समय के प्राय सभी कवियो पर कुछ न कुछ प्रभाव डाला। यहॉ तक कि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'-जैसे व्रज भापा के कवि ने भी समय की गति का साथ दिया, किंतु श्री मैथिलीशरण गुप्त, पडित रामचरित उपाध्याय, पंडित लोचनप्रसाद पांडेय, पंडित कामताप्रसाद गुरु इनमे मुख्य है। पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पंडित रूपनारायण पाडेय, पडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, ठाकुर गोपालशरणसिह, श्री सियारामशरण गुप्त, पाडेय मुकुटधर शर्मा आदि पर भी द्विवेदी जी का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पडा। कहना न होगा कि काव्य-भापा का जो स्वरूप द्विवेदी जी जनता के सम्मुख रखना चाहते थे, वह उन्होने अपनी रचनाओ के द्वारा तो प्रस्तुत किया ही, 'सरस्वती' मे

प्रकाशित कविताओं मे भी उन्हीं की छाप लगी रही। इन कविताओं के लेखकों मे—द्विवेदी जी का सफल अनुकरण करनेवालो मे श्री मैथलीशरण गुप्त प्रधान हैं। सन १६०६ और १६१० मे क्रमश 'रग मे भग' और 'जयद्रथवध' लिखकर आपने द्विवेदी-शैली मे खडी बोली के काव्य-ग्रंथो की रचना का सूत्रपात किया। आपके हृदय मे भारत के अतीत गौरव का जो महिमामय स्थान है उसकी व्यजना के साथ ही उक्त काव्यो मे आपकी कवित्व-शक्ति का भी प्रस्फुटन हुआ। इन कथानको के द्वारा आपने करुण, वीर, रौद्र आदि रसो की जो धारा प्रवाहित की, वह आगे चलकर कुछ दिन तक देशभक्ति के अपूर्व रस मे दबी-सी रही। 'भारत-भारती' की सृष्टि करके आपने देश के नवयुवक कवियो के लिये भारत-सबधिनी कविताओं की रचना करने का मार्ग दिखाया। फिर आपने महाभारत से कई छोटे-छोटे आख्यान लेकर उन्हे कविता-बद्ध किया। इधर गत वर्ष आपका सबसे श्रेष्ठ काव्य कहा जानेवाला 'साकेत' भी निकला। आपकी भाषा की सरसता सबसे अधिक 'पचवटी' मे अथवा आपकी अनूदित 'विरहिणी ब्रजागना' मे ही दृष्टिगोचर होती है। फिर द्विवेदी-युग के अन्य कवियो मे ठाकुर गोपालशरणसिंह के कवित्तो मे अपेक्षाकृत अधिक मधुरता मिलती हैं। उनमे भाषा का स्वभावतया विकसित निखरा रूप दिखाई पडता है। पडित लोचनप्रसाद पाडेय की रचनाएँ फुटकल छोटे-छोटे पद्यात्मक निबधो तक ही सीमित रहीं, किंतु उनके द्वारा देशभक्ति के अतिरिक्त करुण रस के मनोरम छींटे भी उडे। उनकी 'मृगी-दुख-मोचन' और 'आत्मत्याग' शीर्षक कविताएँ इसी कोटि की हैं। 'गुरु जी' भी मुक्तक-रचना मे ही रह गए। किंतु पंडित रामचरित उपाध्याय ने छोटे-बडे कई काव्य रचे जिनमे 'रामचरितचिंतामणि' मुख्य है। साहित्य-शास्त्र मे स्वीकृत महाकाव्य के लक्षणो से युक्त यह ग्रथ खडी बोली का महाकाव्य है। इसके अनेक स्थल बहुत सरस और मार्मिक हैं। इधर समाज-सुधारक और नीत्युपदेष्टा बनने की धुन मे आपने अपने कवित्व को व्याघात पहुँचाया है। इनके अतिरिक्त लाला भगवानदीन, सैयद अमीर अली 'मीर' और श्री रामदास गौड भी खडी बोली के काव्य-क्षेत्र मे उतरे। लाला जी के 'वीर पचरत्न', 'वीर क्षत्राणी' और 'वीर बालक' मे वीर रस की अच्छी व्यजना हुई है। इन्होंने खडी बोली मे उर्दू-छदो का प्रयोग किया। पडित रामचद्र शुक्ल भी इसी कवि-समुदाय के मध्य, किंतु सबसे भिन्न रूप मे, आते है। ये भी 'सरस्वती' के द्वारा ही काव्य-जगत् मे प्रविष्ट हुए हैं। यद्यपि आगे चलकर आपने सर एडविन आर्नल्ड के विश्व-विख्यात काव्य 'लाइट आफ एशिया' के आधार पर 'बुद्धचरित' की रचना परिष्कृत ब्रजभाषा मे की, तथापि आप खडी बोली मे बराबर लिखते रहे। आपकी कविता मे प्रकृति का अकन एक विशेष रूप से हुआ है। वर्त्तमान युग के कवियो पर देश की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति का इतना अधिक प्रभाव पडा है कि उनमे से केवल कुछ को छोडकर अधिकाश को प्रकृति की रमणीयता की ओर नजर उठाकर देखने तक का अवसर नहीं मिला। जिन्होंने उसे देखा भी है, उनमे से प्राय सबने उसे अपने भावो से रँगा पाया है। भारतेदु हरिश्चद्र ने प्रकृति को मानव-समाज के सपर्क मे ही देखा था। उनके गगा-यमुना के प्रसिद्ध वर्णनो मे प्रकृति की सुषमा का उपयोग उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सदेह आदि

अलकारो की सृष्टि के लिये ही हुआ है। ठाकुर जगमोहनसिंह ने अलबत्त वाल्मीकि, भवभूति आदि सस्कृत कवियो की भाँति विध्याचल की सुदरता की संश्लिष्ट योजना की है, किंतु उनके दृष्टिकोण से खडी बोली के कवियो ने प्रकृति की मधुर मूर्त्ति के दर्शन न किए। खडी बोली के पहले खेवे के कवियो मे केवल पंडित श्रीधर पाठक ही प्रकृति के प्रेमी और पुजारी दिखाई पडते है। परतु उन्होने भी, हिंदी के अन्य बहुसंख्यक कवियो की भाँति, प्रकृति के लावण्य का उपयोग या तो अलकारो की योजना के लिये किया अथवा उसे मानव-सुख-दु ख का अनुभव तीव्र करने मे सहायक समझा। इसके विपरीत पडित रामचद्र शुक्ल ने प्रकृति को उसके वास्तविक रूप मे देखा। उन्ही के शब्दो मे "अनत रूपो से भरा हुआ प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र उस 'महामानस' की कल्पनाओ का अनत प्रसार है। सूक्ष्मदर्शी सहृदयो को उसके भीतर नाना भावो की व्यजना मिलेगी। नाना रूप जिन नाना भावो की सचमुच व्यजना कर रहे हैं, उन्हे छोडकर अपने परिमित अंत कोटर की वासनाओ से उन्हे छोपना एक झूठे खेलवाड के ही अंतर्गत होगा।"[१] अस्तु, शुक्ल जी ने प्रकृति-दर्शन मे न तो हिंदी मे प्रचलित उपर्युक्त प्रणाली का उपयोग किया और न उसके नाना रूपो या व्यापारो की गिनती करके उनकी तालिकामात्र तैयार की, प्रत्युत आपने प्रकृति के अगणित रूपो, दृश्यो, व्यापारो आदि की सश्लिष्ट योजना करके अत एव बाह्य प्रकृति का रागात्मक सबध प्रदर्शित किया। प्रकृति को आपने मानव जीवन से चिर-सबद्ध माना। अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि 'शेली' की भाँति प्रकृति के भव्य रूप पर, या 'वर्डस्वर्थ' को भाँति उसके साधारण रूप पर, आप मुग्ध नहीं होते। आप तो 'मेरडिथ' के सदृश प्रकृति के उस रूप के द्वारा आकृष्ट होते है जिससे सच्चा रागात्मक सबध प्रस्तावित होता है। आपकी 'मधुस्रोत' और 'रूपमय हृदय' शीर्षक कविताओ मे इसी दृष्टि से प्रकृति-पर्यवेक्षण हुआ है। आप प्रकृति के नाना रूपो से प्रभावित भी होते हैं, किंतु वहीं तक, जहाँ तक उनका प्रकृति के व्यापार-विशेष से सबध रहता है। प्रकृति के किसी रूप से प्रभावित होकर आप दूर की कौडी लाने का प्रयत्न कभी नहीं करते। जब आप 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक अपनी लबी कविता मे अपने बाल्यकाल की स्मृति करते हैं, तब मिर्जापुर के विध्यगिरि मे भ्रमण करते समय आपने पर्वत पर स्थित छोटे-छोटे गाँवो, पहाडो, जगलो आदि का जो रूप देखा था वही हमारे सामने ऐसा आ जाता है कि अर्थ और बिंब दोनो हमारे मानस-पट पर अंकित हो जाते हैं। इसी कविता मे, जब आप ग्रीष्म से व्याकुल होकर पार्वत्य-प्रदेश के मध्य मे स्थित एक अकेले पेड के नीचे जाते हैं और आपका एक साथी उस पेड की छाया के नीचे पहले से बैठे और हाँफते हुए कुत्ते को भगाकर अपने खड़े होने के लिये जगह करता है, तब आप मनुष्य की स्वार्थ-परता की तुलना प्रकृति की सबके प्रति समान उदारशीलता से करते हैं, किंतु ऐसा करने पर भी आप 'केशव'-जैसे कवियो के सदृश अपने प्रकृत विषय से दूर हटकर दार्शनिक विवेचन

[१] "हिंदी-साहित्य का इतिहास"—पडित रामचद्र शुक्ल, पृष्ठ ६४६

करने या अलकारो की वदिशे बॉधने मे भटक नही जाते। आपकी प्रकृति-दर्शन की स्वाभाविक और रुचि-वर्धक दृष्टि आपको द्विवेदी-युग के अन्य कवियो से विशिष्ट स्थान दिलाती है।

जिस प्रकार खडी बोली की कविता के इस युग मे पडित रामचद्र शुक्ल की स्वतत्र सत्ता है, उसी प्रकार पडित नाथूराम 'शकर' शर्मा का भी स्थान निराला है। शकर जी ने भी, इस काल के अधिकतर अन्य कवियो की भॉति, पहले व्रजभाषा के द्वारा ही भगवती वीणापाणि की अभ्यर्थना आरभ की। फिर सामयिक परिस्थिति से प्रभावित होकर आप खडी बोली के मैदान मे आए। आप विलक्षण प्रतिभा-सपन्न कवि थे। आपकी सूझ गजब की थी। अलकारो और भावो का समन्वय करने की आप की-सी शक्ति बहुत कम कवियो मे पाई जाती है। आपके सदृश चुटीले और खरे व्यग्य खडी बोली का दूसरा कवि अब भी नही लिख पाता। अपनी असाधारण कवित्व-शक्ति के बल पर ही आपने अपने जीवन के उत्तरार्ध मे मात्रिक वृत्तो के प्रत्येक चरण मे समान वर्ण रखने का ऐसा भीष्म व्रत निभाया जो अभी तक कोई प्राचीन अथवा अर्वाचीन कवि नही कर सका। इतना सब होने पर भी आपके काव्य-कौशल को आर्यसमाज ने एक प्रकार से ग्रस लिया था। इसके कारण आप कवि न रहकर समाज-सुधारक हो गए। इसी कारण आपकी भाषा मे भी कर्कशता आने लग गई। हॉ, जब कभी आपने समाज-सशोधन की भावना से मुक्त होकर कविता लिखी, तब उसमे पर्याप्त कमनीयता की पुट देख पडी। इस युग के खडी बोली के कवियो मे आपने ही आध्यात्मिक विषयो पर लेखनी चलाई है। यद्यपि द्विवेदी-युग के अन्य कवियो मे बहुसख्यक ऐसे नही हुए जो अपनी विशेष छाप लगाकर अपना प्रभाव प्रदर्शित कर सके हो, तथापि जो थोडे-से कवि काव्याकाश मे मनोरम ज्योति का सचार करने मे समर्थ हुए हैं, उनमे ठाकुर गोपालशरणसिह का उल्लेख करना आवश्यक है। भाषा की जो मिठास रीति-काल के 'पद्माकर'-जैसे भाषाधिकारी कवियो की कविता मे मिलती है, ठाकुर साहब के हाथ मे पडकर खडी बोली वही प्रदान करने योग्य हुई। खडी बोली के विरोधी उसकी श्रुति-कटुता को उसका सबसे बडा दोष बताकर कविता के लिये उसकी अनुपयुक्तता सिद्ध किया करते थे। ठाकुर साहब ने अपने कवित्तो और सवैयो के द्वारा ऐसो का मुँह बद कर दिया। जैसे आप लौकिक विभूति से सपन्न राजा हैं, वैसे ही, आचार्य द्विवेदी जी के शब्दो मे 'कविता की दृष्टि से भी राजा हैं।' द्विवेदी-युग के कवियो मे भाषा की दृष्टि से ये सर्वश्रेष्ठ ठहरते हैं। खडी बोली के अन्यतम कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुज श्री सियारामशरण जी को भी हम इस वर्णन मे नही भूल सकते। वे मैथिलीशरण जी से अधिक कवित्वपूर्ण हैं—ऐसी बहुत-से मर्मज्ञो की धारणा है। करुण रस की व्यजना वे बहुत मनोहर रूप मे कर सके हैं। सभवत वे भी महाकवि भवभूति के 'एको रसो करुण एव' के समर्थक है। उन्होने 'विषाद,' 'दूर्वादल' और 'आर्द्रा' मे करुण रस पर अत्यत सरस और भावपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। आरभ मे उन्होने अपने अग्रज के ढग पर 'मौर्य-विजय' की रचना की थी, जो 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात

समझा गया था। बाद मे वे उनसे भिन्न मार्ग पर चलकर कविता मे अपने स्वतत्र पथ के पथिक हुए। इनके भी सबसे मधुर गीत वही हैं जो वेदना की चरम व्यजना करते हैं।

इस प्रकार ईसा की गत शताब्दी के अतिम चतुर्थांश मे पडित श्रीधर पाठक ने जिस खडी बोली मे कविता का बीजारोपण किया था, और जिसका बिरवा सींचने और उसे अनुप्राणित करने मे पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की अटूट लगन और साधना ने योग दिया था वह लहलहाती हुई पौद—छोटा पेड—के रूप मे द्विवेदी जी के 'सरस्वती' के सपादन-काल मे ही लोगो का मन मोहित करने लगी। द्विवेदी-युग के उत्तरार्ध मे ही इसमे अन्य शाखाएँ भी पल्लवित होने लगी। उनमे विकास यद्यपि इस काल के अनतर हुआ, तथापि इस काल मे विकसित होने के कारण काव्य-कल्पद्रुम की इन शाखाओ का भी उल्लेख यहाँ होना आवश्यक है। किंतु ऐसा करने के पूर्व इस युग मे, कालानुक्रम से पहले आनेवाली कविता की उस पुरानी प्रगति का विवरण भी, सक्षेप मे, दे देना समीचीन प्रतीत होता है, जो व्रजभाषा के द्वारा ही पुरानी काव्य-परिपाटी से सबध बनाए रही और तत्कालीन समाज के एक अश की भावाभिव्यक्ति करती रही। व्रजभाषा-काव्य का क्रियात्मक समर्थन करनेवाले कवि-वर्ग को पुरानी बातो से इतना अधिक अनुराग था कि उन्हे नवीन युग की बातो ने एक प्रकार से प्रभावित ही नहीं किया। इस समुदाय मे केवल एक कवि ऐसे हैं जो नवीनता मे उपादेयता मानते और उसके कुछ वाछनीय अशो का समर्थन करते हैं। वे हैं खडी बोली के भी ख्यातनामा कवि हरिऔध जी। ऊपर यथास्थल लिखा जा चुका है कि हरिऔध जी का कवि-कर्म व्रजभाषा मे ही काव्य-रचना से प्रारभ होता है। समय की गति का सहानुभूतिपूर्वक अनुसरण करते हुए भी आपके हृदय मे व्रजभाषानुराग बना रहा। आपने अपने समकालीन अन्य व्रजभाषा के कवियो की भाँति देश और काल की अवहेलना न की, प्रत्युत स्वरचित व्रजभाषा की कविताओ मे भी आपने नवीन भावो की अभिव्यक्ति की। अधपरंपरानुयायी प्राचीन परिपाटी के कवियो को भी अपने सदृश विचारवाला बनाने के उद्देश्य से आपने, थोडे दिन हुए, 'रसकलस' नामक एक रीति-ग्रथ रचा है। इसमे अधिकाश रचनाएँ आपके आरभिक कविता-काल की हैं, इससे वे हमारे विवेचन-काल के अतर्गत निस्सकोच आ जाती हैं। उक्त ग्रंथ के 'विशेष वक्तव्य' मे आप लिखते हैं—"मैं यह स्वीकार करता हूँ कि प्राचीन प्रणाली का अनुसरण ही आज-कल अधिकाश वर्त्तमान व्रजभाषा के कवि कर रहे हैं। निस्सदेह यह एक बहुत बडी त्रुटि है। समय को देखना चाहिए और सामयिकता को अपनी कृति मे अवश्य स्थान देना चाहिए। देश-संकटो की उपेक्षा देश-द्रोह है और जाति के कष्टो पर दृष्टि न डालकर अपने रंग मे मस्त रहना महान् अनर्थ। यह विचार कर ही प्राचीन प्रणाली के कवियो की दृष्टि इधर आकर्षण (आकर्षित ?) करने के लिये 'रसकलस' की रचना की गई है।" इसमे जहाँ हास्य रस के उदाहरणो मे देश के वर्तमान विषयो पर सूक्तियाँ हैं—रौद्र और बीभत्स रसो मे उदाहृत छदो मे आधुनिक युग की भावनाएँ हैं—नायिका-भेद मे जाति, देश, जन्मभूमि, और धर्म की प्रेमिकाओ एवं लोकसेविकाओ की नवीन उद्भावना है, वहाँ अद्भुत रस के उदाहरण-स्वरूप रहस्यवाद-सबंधिनी

उक्तियॉ तक हैं। इस प्रकार आपकी इस कृति मे समाज का वही पूर्ण प्रतिविव दृग्गोचर होता है जो खडी बोली की आपकी तथा औरो की कविता मे मिलता है। आपके अतिरिक्त इस निबध मे विवेचनीय काल के व्रजभापा के कवियो मे पडित किशोरीलाल गोस्वामी, बावू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्रीमान् मिश्रवधु और पडित सत्यनारायण कविरत्न की गणना प्रधानतया की जाती है। इनमे अतिम तो अल्पायु मे ही कालकवलित हो जाने के कारण हमारी वहुत-सी आशाओ पर पानी फेर कर चले गए और 'रत्नाकर' जी के अतिरिक्त अन्य सज्जनो का कवि के रूप मे कोई विशेष महत्त्व नही है। 'रत्नाकर' जी वर्तमान काल मे, हरिश्चद्र जी के वाद, व्रजभापा के सबसे वडे कवि थे। उनकी भापा मे ओज, प्रसाद और माधुर्य का मनोहर सम्मिलन होता था, और उसकी सफाई का तो कहना ही क्या। किंतु विपय-वस्तु की दृष्टि से उनका काव्य वर्तमान समय के सदियो पूर्व का ठहरता है। 'हरिश्चद्र', 'गगावतरण', 'उद्धवशतक' आदि मे सर्वत्र माधुर्य है, सूक्तियॉ हैं और कविता है, परतु इन सबके विपय तो पुराने है ही, कवि इनमे उस प्रकार की कोई नवीन योजना भी नही कर सका जिस प्रकार हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' मे श्रीकृष्ण और राधा के चरित्रो मे की है। हॉ, सत्यनारायण जी अवश्य व्रजवाला को नवीन वस्त्राभूषणादि से अलकृत करते—ऐसा उनकी उन थोडी-सी मुक्तक कविताओ से विदित होता है जो 'हृदयतरग' मे सकलित हैं। व्रजभाषा मे क्या, खडी वोली मे भी, सत्यनारायण की-सी रसीली राष्ट्रीय कविताएँ उँगलियो पर ही गिनी जा सकती हैं। उपालभ और व्यग्य काव्य-श्रेणी मे उनकी तद्विपयक थोडी-सी रचनाएँ भी बहुत उच्च स्थान की अधिकारिणी है। भवभूति के करुण रस के अद्वितीय नाटक 'उत्तररामचरित' के अब तक के सर्वश्रेष्ठ हिंदी-अनुवादक सत्यनारायण के व्यक्तिगत जीवन मे जिस प्रकार करुण रस घुला-मिला था, उसी प्रकार उनकी अधिकाश रचनाओ मे भी यह रस ओतप्रोत है। सच है, 'हमारे मधुरतम गीत वही हैं जिनमे करुणतम घडियो की वेदना झकृत होती है।' इस व्रजकोकिल के असमय मे ही गोलोक को उड जाने से व्रजभाषा की पूरी न की जा सकने योग्य क्षति तो हुई ही, हिंदी-काव्य-कानन से एक अलौकिक एव अनुपम कोकिल-रत्न का कूजन ही प्राय न सुना गया। अस्तु, ऐसे युग मे, जिसमे खडी वोली की तूती वोलने लगी थी, व्रजभाषा की वशीध्वनि भी देश मे सुनाई पडती रही।

ऊपर सकेत किया जा चुका है कि द्विवेदी-युग के उत्तर-काल मे ही खडी वोली मे उस काव्य-पद्धति का भी आरभ हो चुका था जो उसके पश्चात् अधिक व्यापक हुई। इस पद्धति के प्रथम कवि श्री जयशकरप्रसाद का कविता-काल ईसवी सन् १९०९-१० के कुछ पूर्व से आरभ होता है। यद्यपि उनकी प्रारभिक रचनाओ—नाटक, चपू और कविताओ—मे जो उनके सग्रह-ग्रथ 'चित्राधार' मे सर्वत्र व्रजभाषा का प्रयोग हुआ है और उनमे भाव भी प्राचीन प्रणाली के ही हैं, तथापि इस प्रकार की भावाभिव्यजन की शैली और व्रजभापा का सबध 'प्रसाद' जी से प्राय बीस वर्ष की अवस्था मे (सन् १९१०-११ मे) ही छूट जाता है। तदनतर 'प्रसाद' जी ने हिंदी-कविता मे भाव और भापा दोनो की दृष्टि से नवीन मार्ग ग्रहण किया। उनकी काव्य-भाषा अब

से खड़ी बोली हुई। किंतु वह द्विवेदी जी के प्रभाव से नितात मुक्त रही। उनकी भापा मे अँगरेजी के ढग की लाक्षणिकता का समावेश हुआ और वृत्तो के विपय मे भी उन्होने अपना नया मार्ग निकाला। सस्कृत और अँगरेजी की-सी अभिन्नान्त्र कविता, विशेपतया वर्णवृत्तो मे, उनके पहले से हिंदी मे होने लगी थी, किंतु उन्होने अँगरजी और बँगला की भाँति ऐसी कविता का हिंदी मे श्रीगणेश किया जिसमे प्रत्येक चरण मे समान वर्णो या मात्राओवाले वर्णो का ग्रंथन नही रहता। ऐसी कविता मे एक वाक्य मे व्यक्त होनेवाला भाव कई चरणो तक चला जाता है और फिर दूसरा वाक्य किसी चरण के किसी भी भाग से प्रारंभ हो जाता है। 'करुणालय' इसी शैली मे लिखा गया। इसकी और 'कानन-कुसुम' मे सगृहीत कविताओ का जन्म सन् १६१३ के लगभग हुआ। आगे चलकर 'प्रेम पथिक' और 'महाराणा का महत्त्व' नामक दो अन्य भिन्न तुकात काव्य भी 'प्रसाद' जी ने लिखे। इनके द्वारा उन्होने नवीन छंदो मे अपनी अलग परिपाटी चलाई, जिसमे कुछ समय के पश्चात अधिक प्रौढता और सुंदरता आई। 'झरना' की कविताएँ भी द्विवेदी-काल के अंतर्गत है, और उसके बाद की कविताएँ तो इस काल के पश्चात् की होने से यहाँ विचारणीय नही। 'झरना' तक की कविताओ मे से कुछेक—जैसे 'करुणालय' और 'महाराणा का महत्त्व'—मे विपय-वस्तु की प्राचीनता होते हुए भी उसके व्यक्त करने का ढग द्विवेदी-स्कूल के अथवा तत्कालीन अन्य कवियो से भिन्न है, और शेप मे तो भावो या मनोविकारो एवं वेदनाओ की साकार कल्पना हुई है, और परोक्ष सत्ता से रागात्मक सबध स्थापित करने की मार्मिक व्यजना हुई है। 'प्रसाद' की काव्य-कला ने इसी विचार-धारा का स्रोत प्रवाहित किया, जो आगे चलकर अधिक वेगवती और विस्तृत हुई। इसी भावाभिव्यंजन शैली के दूसरे कवि राय कृष्णदास जी भी इसी युग मे, 'प्रसाद' जी के प्राय साथ ही, अवतीर्ण हुए। इनकी प्रथम कृति 'उपवन' मे चार-पाँच को छोडकर शेप सभी कविताएँ तुकविहीन है। इनको काव्य और सगीत के मणि-काचन-सयोग का भी ध्यान रहा और इसी लिये इन्होने कुछ गेय पद्य भी रचे। 'भावुक' मे सगृहीत इनके कुछ पद्यो की स्वर-लिपि भी दी गई है, जो हमारी इस धारणा की पुष्टि करती है। इन्होने भी 'प्रसाद' जी की ही भाँति अदृष्ट सत्ता का रहस्य जानने का प्रयत्न किया और कुछ कविताओ मे इन्होने भाव सहृदयता-पूर्वक मनोमोहक रूप मे व्यक्त किए। किंतु इनको अपना कवित्व पद्य-द्वारा व्यक्त करने मे वह सफलता नही मिली, जो गद्य-गीतो-द्वारा व्यक्त करने मे मिली है। फलत 'साधना', 'छायापद' और 'प्रवाल' मे इनके भावो का विकास गद्य रूप मे हुआ। उन्ही के द्वारा कवित्वपूर्ण गद्य की एक नवीन शैली का सूत्रपात हुआ। इस प्रकार द्विवेदी-युग मे हिंदी कविता की नवीन धारा का भी आरभ हो गया था, और वह तत्कालीन अन्य काव्य-पद्धतियो की भाँति स्वतत्र रूप से विकसित होने लगी थी। अस्तु, द्विवेदी-युग के आविर्भाव के साथ हिंदी-कविता मे कई दिशाओ मे परिवर्तन हुआ। रीति काल तक चली आती हुई देश की काव्य-भाषा (व्रजभापा) के स्थान पर खड़ी बोली की, जो उस समय तक केवल प्रांतीय बोली थी और जिसमे तब तक

नाममात्र को कविता हुई थी, देश की काव्य-भाषा के रूप मे स्थापना हुई, रीति-कालीन कवियो के सीमा-बद्ध कविता के विषयो मे परिवर्तन हुआ और कवियो ने देश-काल की स्थिति के साथ कधे से कधा मिलाकर चलना आरभ किया। उन्होने अतीत के गौरव पर ही लट्टू रहकर अपने को धोखा देना छोडा और वर्तमान का चितन करके अपने आतरिक जीवन के अस्तित्व का परिचय दिया। कविता मे परपरागत वृत्तो का सिहासन भी डिगा और उनके स्थान पर सस्कृत से ही अनेक वृत्त नही लिए गए, वरन् बहुत-से नए छदो का निर्माण हुआ और अँगरेजी एव बँगला की देखादेखी मुक्त-वृत्तो का भी पदार्पण हुआ। इस प्रकार भाषा और भाव दोनो दृष्टियो से द्विवेदी-युग मे हिदी-कविता मे युगातर हुआ। इसमे सदेह नही कि इस युग मे फुटकल रचनाओ के अतिरिक्त उच्च कोटि के जो तीन-चार काव्य निर्मित हुए, उनमे प्राचीन काव्य-भाषाओ—अवधी और व्रजभाषा—की समता करने की शक्ति नही, किंतु यह न भूलना चाहिए कि उन काव्यो की सृष्टि तब हुई है जब ये भाषाएँ सदियो तक मँज चुकी थी। इधर द्विवेदी-युग मे यह क्या कम महत्त्व की बात है कि इतने अल्प काल मे खडी बोली को देश की काव्य-भाषा होने का गौरव मिला और उसमे वैसी ही सफाई, मधुरता, अर्थ-गभीरता और व्यजना आ गई जैसी व्रजभाषा मे शताब्दियो के पश्चात् आई थी। सच तो यह है कि जैसे व्रजभाषा और अवधी मे रचित हमारा अतीत साहित्य हमारे आनद तथा गर्व का विषय है, वैसे ही हिदी-काव्य-साहित्य मे यह वर्तमान युग-परिवर्तन भी हमारे आह्लाद और भावी सदाशाओ का कारण है। और, इस नवयुग के आरभ करनेवाले आचार्य पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी को अपने इस सदनुष्ठान का ऐसा सुरम्य परिणाम अपने जीवन-काल मे ही देखने को मिल गया—इससे बढकर और क्या आनद हो सकता है? जिस ऋषि ने इस महान् युग-धर्म का प्रवर्तन किया है, उसी के सम्मानार्थ ये पक्तियाँ सादर समर्पित है।

रामबहोरी शुक्ल

आदर्श संपादक द्विवेदी जी

जिस समय द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का संपादन-भार अपने हाथ में लिया, उस समय हिंदी के मासिक पत्र-संपादन की कला बहुत पुरानी शैली की थी। जो छोटे-मोटे मासिक पत्र निकलते थे, उनमें आधुनिक काल की संपादन-कला का कहीं चंचु-प्रवेश भी नहीं हुआ था। द्विवेदी जी ने ही 'सरस्वती' में पहले-पहल आधुनिक युग की संपादन-कला का सूत्रपात किया। द्विवेदी जी के पूर्व के संपादकों को इस बात का कुछ ध्यान ही न था कि आधुनिक युग में हिंदी के पाठकों को किन विषयों की जानकारी होनी चाहिए, पश्चिमी संपादन-कला का हिंदी मासिक पत्रों में किस प्रकार प्रवेश किया जाय, विषय-वैचित्र्य का संपादन-कला में क्या महत्त्व है—इत्यादि। द्विवेदी जी ने ही पहले-पहल 'सरस्वती' में यह आदर्श सामने रक्खा और इस प्रकार उन्होंने मासिक पत्रों के संपादन में एक नया ही युग उपस्थित कर दिया। इतना ही नहीं, संपादक का एक सबसे बड़ा कर्त्तव्य समाज और साहित्य की आलोचना करना भी है। ऐसी आलोचना कि जिससे समाज और साहित्य के कान खड़े हो जायँ, या समाज और साहित्य—जिसमें बिलकुल स्तब्धता छाई हुई है—एकदम जाग्रत होकर और खड़बड़ा कर उठ खड़ा हो। ऐसी समालोचना की शैली द्विवेदी जी ने ही पहले-पहल हिंदी-संसार के सामने रक्खी। इसमें संदेह नहीं कि समाज या साहित्य के जिस अंग की ऐसी मर्मस्पर्शी समालोचना द्विवेदी जी ने अपने लेखों और टिप्पणियों में की, उस अंग को या उन व्यक्तियों को ऐसी समालोचना अप्रिय और असह्य प्रतीत हुई, परंतु द्विवेदी जी ने जिस बात को सत्य समझा, उसको निर्भयतापूर्वक लोगों के सामने रख दिया। उसमें किसी की रिआयत नहीं की। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ पुरानी शैली के लेखकों के कान खड़े हो गए, वहाँ आगे नवीन शैली के लेखकों के सामने एक उज्ज्वल प्रकाश आ गया—नवयुवक लेखकों को आगे का रास्ता साफ दिखाई पड़ने लगा। द्विवेदी जी स्वयं तो लिखते ही थे, और संपादन-कार्य में घोर श्रम भी करते थे, परंतु साथ ही साथ वे नए-नए लेखक और कवि भी बनाते चलते थे। उनकी पैनी नजर—उनके उन्नत ललाट की बड़ी-बड़ी भौंहों के नीचे के तेजस्वी नेत्रों की मर्मवेधिनी दृष्टि नहीं, बल्कि उनके मस्तिष्क के भीतर की पैनी दृष्टि—भारतवर्ष के हिंदी-संसार से बहुत दूर विदेशों के भी हिंदी जाननेवालों में अपने लिये लेखक ढूँढ़ा करती थी। अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, इँगलैंड आदि देशों में भी उन्होंने हिंदी-लिखनेवालों को ढूँढा, और जो लोग विदेशों में रहकर हिंदी को भूले हुए थे, शायद हिंदी लिखना भी बहुत कम जानते थे, उनसे भी हिंदी के लेख लिखवा-लिखवा कर मँगाए। और, उन लेखों की भाषा अपने साँचे में ढाल कर लेखकों को ऐसा उत्साहित किया कि उनमें से कई लेखक आज भी हिंदी संसार में चमक रहे हैं। द्विवेदी जी ने सैकड़ों लेखकों को, जिन्हें

कोई जानता भी न था, 'सरस्वती'-द्वारा मैदान मे लाकर खडा किया। श्री मैथिलीशरण गुप्त, 'शंकर' जी, हरिऔध जी, राय साहब 'पूर्ण' जी, पडित रामचरित उपाध्याय, पडित लोचनप्रसाद पाडेय, पडित रामनरेश त्रिपाठी, पडित गिरिधर शर्मा 'नव रत्न', पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पंडित रूपनारायण पाडेय, ठाकुर गोपालशरणसिह आदि यशस्वी कवियो को प्रकाश मे लानेवाले द्विवेदी जी ही हैं। पडित कामताप्रसाद गुरु की 'भानु की झाँकी' द्विवेदी जी ने ही 'सरस्वती' मे दिखलाई। द्विवेदी जी ने ही पहले-पहल 'श्रीधरसप्तक' लिखकर पडित श्रीधर पाठक का गौरव वढाया।

स्वनामधन्य 'भारतेदु' जी के वाद अपने ढग की भाषा-शैली द्विवेदी जी ने विशेष रूप से चलाई। व्याकरण-विशुद्ध भाषा लिखने पर सदैव जोर दिया। आजकल के सैकड़ो लेखक करीव-करीव उसी शैली पर चल रहे हैं। 'प्रताप' के तेजस्वी सपादक स्वर्गीय गणेशशकर विद्यार्थी तो द्विवेदी जी को अपना एक ही परम गुरु मानते थे और अपना प्रत्येक कार्य्य द्विवेदी जी का आशीर्वाद लेकर करते थे। वे द्विवेदी जी के ही अखाड़े मे तालीम पाए हुए एक विशेष व्यक्ति थे। इसी प्रकार द्विवेदी जी ने गद्य की भाँति पद्य की भी शैली ठीक की। उनके सपादक-पदारूढ़ होने के पहले हिंदी कविता की वडी विचित्र दशा थी। व्रजभापा के नाम पर कवि लोग मनमाने ढंग की भापा लिख डालते थे। वह न शुद्ध व्रजभाषा होती, न शुद्ध खडी वोली। किंतु द्विवेदी जी ने स्वयं खडी वोली मे कविता लिखकर तथा औरो से लिखाकर एक नई पद्य-रचना-शैली चलाई। विपयो का चुनाव तो द्विवेदी जी का प्रारभ से ही विलकुल नवीन ढग का था, जिसकी ओर उस समय तक हिंदी के अन्य किसी कवि का ध्यान आकृष्ट नही हुआ था। आगे चल कर द्विवेदी जी ने हिंदी-कविता मे अपनी सपादन-कला के द्वारा जो उत्क्राति की, वह आज 'प्रसाद', 'पत' और 'निराला' के रूप मे जाकर प्रकट हुई है।

द्विवेदी जी मे सपादकीय शिष्टाचार भी हद दर्जे का था। अपने सहयोगियो और लेखक-वर्ग के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह द्विवेदी जी खूब जानते थे। सहयोगियों के साथ उनका व्यवहार वहुत ही सरल और प्रेमपूर्ण था। अपनी तरफ से वे कभी किसी के साथ न अटके, परंतु जिन लोगो ने उनकी शान के खिलाफ कभी कुछ लिखने का साहस किया, उनको मुँह तोड उत्तर देना उन्होने अपना कर्तव्य समझा। इस गुण को हम सपादकीय शिष्टाचार से अलग नहीं कर सकते। लेखको के साथ द्विवेदी जी का जो शिष्ट वर्ताव रहा, उसके विषय मे तो हमको यही कहना पडता है कि "न भूतो न भविष्यति"। न तो उसके पहले किसी संपादक का वैसा व्यवहार था और न अब है। आज-कल के कितने ही हिंदी-पत्र-सपादक अपने लेखको को ठीक समय पर पत्रोत्तर देना भी आवश्यक नही समझते, लेकिन द्विवेदी जी इतने उच्च श्रेणी के सपादक होते हुए भी छोटे-छोटे लेखको को—जिनके अदर वे थोडी भी प्रतिभा देखते थे—वरावर उत्साहित किया करते थे। पत्र उनके पास पहुँचा नहीं कि उसका उत्तर लिखकर रवाना किया। आज कोई लेख उनके पास पहुँचा, और तीसरे ही दिन लेखक को स्वीकृति या अस्वीकृति की सूचना मिल

गई। और यदि किसी लेख मे कुछ भी तत्त्व देखते, तो उसका यथोचित संशोधन कर उसे अवश्य छापते। यदि लेख छापने योग्य न होता, तो वहुत करके तीसरे ही दिन लेखक को वापस मिल जाता। होनहार लेखको को उत्साहित करने मे द्विवेदी जी अद्वितीय थे। लेखक को पत्र लिखते समय वे अपने संक्षिप्त पत्र मे प्राय एक वाक्य ऐसा अवश्य ही डाल देते थे जिसे पढकर उसका हृदय गद्गद हो जाता था और द्विवेदी जी द्वारा इतना प्रोत्साहन पाकर वह अपने को वडा सौभाग्यशाली समझता था। लेखको के साथ इतना ही उपकार करके वे संतुष्ट नही हुए। जव देखा कि इसको कुछ लिखना आ गया, तब उसका नाम 'फ्री लिस्ट' मे लिखा दिया और लेखक को सूचित कर दिया—'सरस्वती अब आपकी सेवा मे वरावर पहुँचा करेगी।' फिर एकाध साल के वाद जव देखा कि इस लेखक का अब इतना हक है कि इसको 'पुरस्कार' भी दिया जाय, तव विना प्रार्थना के ही उसके लेखो के लिये रुपए भी पहुँचने लगे। द्विवेदी जी का इस प्रकार का व्यवहार कुछ इने-गिने लेखकों के ही साथ न था, सैकड़ो ही ऐसे लेखक गिनाए जा सकते हैं जिनको उन्होने निस्स्वार्थ भाव से उपकृत किया है। इसी का परिणाम है कि आज 'द्विवेदी' शव्द किसी व्यक्ति का वोधक नहीं, बल्कि एक 'स्कूल' या 'सम्प्रदाय' का परिचायक है, जिसमे हजारो ऐसे नवयुवक लेखको और कवियो की संख्या गिनाई जा सकती है, जो अपने पूज्य गुरुवर्य आचार्य द्विवेदी जी की गद्य-शैली और पद्य-प्रणाली का अनुकरण करते हुए उनके संप्रदाय को चला रहे हैं।

लक्ष्मीधर वाजपेयी
ज्योतिःप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

DEPARTMENT OF ORIENTAL PRINTED BOOKS & MSS,
BRITISH MUSEUM,
LONDON. W C.I
475/32. 8th August, 1932.

SIR,

I beg to acknowledge the receipt of your letter of 18th July, inviting me to co-operate in the Commemoration volume in honour of Acharya Mahavira Prasad Dvivedi It would give me extreme pleasure to be able to show my appreciation of that eminent scholar's admirable services to Hindi literature, but unfortunately I am prevented from doing so by my health, which prevents me from undertaking any private studies

Believe me, to be
Yours very faithfully,

आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

दौलतपुर (जिला रायबरेली) हिंदी के आचार्य वयोवृद्ध व पूज्य पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म-ग्राम है । वहीं वे निवास करते हैं। सघन बागो से घिरे हुए उनके गॉव की शोभा ही निराली है । उनका गॉव भगवती भागीरथी के तट पर है । उनका आमो का एक बागीचा बिलकुल गंगा के समीप है । उनके निज के आम के बागीचे अनेक हैं, जिनमे तरह-तरह के देशी आमों के पेड लगे हुए हैं। उनको आम खाने का बडा शौक है। वे एक बार कहते थे कि गरमियो मे आमो खाने से उनकी तन्दुरुस्ती अच्छी रहती है । उनके खाने के लिये आम सवेरे ही पानी मे रख दिए जाते हैं। शाम को भोजन करने के बाद ही वे आम खाते हैं । इसी तरह सुबह भी करते हैं । उनको केवल आम खाने का ही शौक नहीं है, बल्कि लगाने का भी है । उनके लगाए हुए करीब पचास-साठ पेड हैं । आम के पौधो के सिचन, सेवन और उनकी वृद्धि व रक्षा का वे विशेष ध्यान रखते हैं। प्रतिदिन सायंकाल वे जब अपने बागो मे घूमने जाते हैं, तब उनका भली भॉति निरीक्षण करते है । यही नहीं, वे निरीक्षण द्वारा इसका भी अनुमान कर लेते हैं कि किस वृक्ष मे कितने फल लगे हुए हैं । इसी प्रकार वे अपने खेतो का भी खूब निरीक्षण करते हैं । शाम को टहलते हुए वे प्रत्येक खेत मे यह देखते हैं कि उसे सींचने की आवश्यकता है या नही, या उसमे कोई कीडा तो नही लग गया । प्रतिदिन खेतो मे जाकर वे यह देखते हैं कि मजदूर भली भॉति काम कर रहे हैं या नही । सैकडो रुपए खर्च कर उन्होने अपने खेतो के चारों तरफ खाइयो पर मूँज लगवाई है, जिससे सैकडो बोझ पतवार निकलती है और मूँज की रस्सियॉ इत्यादि बनाई जाती हैं । उनके यहॉ तीन-चार मजदूर, अधिकतर कृषि-सबधी कामो के लिये, बराबर रहा करते हैं। इन मजदूरो पर उनकी बडी कृपादृष्टि रहती है । मजदूरो को प्राय वे मासिक वेतन देते हैं। मासिक वेतन के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की सहायता दिया करते हैं। अभी हाल ही मे खुश होकर एक मजदूर को चॉदी के कडे बनवा दिए थे । उन्होने कभी अपने धन का दुरुपयोग नही किया। हिंदी मे केवल 'सपत्तिशास्त्र' लिखकर ही उन्हे सतोष न हुआ, उन्होने अपने जीवन द्वारा सपत्तिशास्त्र के नियमो को चरितार्थ किया है । मितव्ययिता के यदि वे आदर्श माने जायँ तो इसमे अत्युक्ति न होगी। अपने खर्च व आमदनी का हिसाब वे बरसो से लिख रहे हैं। उनका स्वयं सदा यही ध्येय रहा है—और दूसरो को भी प्राय यही शिक्षा देते रहे हैं कि आय से व्यय कदापि अधिक न होना चाहिए। इस संबध मे वे प्राय यह श्लोक कहा

करते हैं—"इदमेव हि पाण्डित्यमियमेव विदग्धता। अयमेव परो धर्मो यदायान्नाधिको व्ययः।" अर्थात्—"जो प्राप्ति से अधिक व्यय नहीं होने देता, वही पंडित है, वही चतुर है और वही धर्मात्मा भी है।" मितव्ययिता का गुण होते हुए भी वे अपने संबंधियों तथा और लोगों को यथावसर आर्थिक सहायता देते रहे हैं। अँगरेज़ी में एक कहावत है—"Liberality does not consist in giving much but in giving at the right moment" अर्थात्—"बहुत देने से ही उदारता या दानशीलता नहीं होती, बल्कि आवश्यकता के समय पर देने से दानशीलता समझी जाती है।" द्विवेदी जी की उदारता भी ठीक इसी प्रकार की है। अपने गाँव में, लड़कियों की शादियों में, गरीब व छोटी जाति के मनुष्यों की दीनावस्था में, और विधवा स्त्रियों के संकट-समय में, वे सदा सहायता देते रहे हैं। परदुःखकातरता उनमें इतनी है कि दूसरों की विपत्तियाँ उनसे देखी नहीं जातीं। उनके कुटुंब में यदि कोई बीमार होता है तो वे अत्यंत उद्विग्न हो उठते हैं, किंतु बड़े धैर्य के साथ उसकी परिचर्या करते हैं। अपनी बीमारी में स्वयं वे उतना ध्यान नहीं देते जितना दूसरों की बीमारी पर। चिकित्सा करने में भी वे बहुत सावधान रहते हैं। किसी दवा का सेवन करने के पहले वे डॉक्टर या वैद्य से उसका नाम, अनुपान, गुण इत्यादि अच्छी तरह पूछ लेते हैं। उनके प्रश्न करने के इस स्वभाव से डाक्टर या वैद्य परिचित हो गए हैं, अतएव वे उनकी जिरह से घबराते नहीं। किंतु द्विवेदी जी खुद ही अपने स्वास्थ्य के बारे में बहुत सावधान रहा करते हैं। इस समय उनकी अवस्था उनहत्तर वर्ष की है। हिंदी के लिए सतत परिश्रम करने के कारण उनका स्वास्थ्य अवश्य गिर गया है, पर वे अपना जीवन इस प्रकार नियमपूर्वक व्यतीत करते हैं कि वे अब भी, इस अवस्था में भी, बहुत कुछ काम करते हैं। यद्यपि उन्होंने अब लेख आदि लिखना बंद कर दिया है, तथापि समाचार-पत्रों व सम्मत्यर्थ आई हुई पुस्तकों का अवलोकन कुछ न कुछ जरूर करते हैं। 'स्वभावो हि दुस्त्यजो नृणाम्'। "आयुर्वेदमहत्त्व" पर लिखते हुए एक जगह उन्होंने अपने स्वास्थ्य के संबंध में लिखा है'—"पेट की कुछ शिकायत के कारण १५ दिसंबर २५ को मैं कानपुर दवा कराने गया। वहाँ रोग बढ़ गया। मैं म्रियमाणा दशा को प्राप्त हो गया। कई डाक्टरों ने बड़े प्रेम से मेरी चिकित्सा की, पर रोग न गया। बराबर दो महीने तक उन्होंने अनार और नारङ्गी के रस तथा थोड़े से हारलिक्स मिल्क (डब्बों के विलायती दूध) पर मुझे किसी तरह जीता रक्खा। जब उनकी चिकित्सा से कुछ भी लाभ न हुआ तब उन्होंने कृपापरवश होकर मुझे मेरे मित्र वैद्यों को सौंप दिया। उस समय मेरा शरीर अस्थिमात्र रह गया था। जिगर बढ़ा हुआ था, उसमें दर्द भी था। मलावरोध की बड़ी शिकायत थी। ज्वर भी था। वैद्यों ने मिलकर एक कान्फरन्स की। उसमें दवा और पथ्य का निश्चय हुआ। तीसरे ही दिन ज्वर जाता रहा। और शिकायतें भी धीरे-धीरे दूर हो गईं। और दवा क्या दी गई थी—सिर्फ लौह और एक और दूसरी चीज। कुछ समय तक सुबह मकरध्वज भी दिया गया। सो दवा तो यों ही राम का नाम थी। वैद्यों की मुख्य दृष्टि पथ्य पर थी। एक महीने तक उन्होंने मुझे केवल दुग्ध पर रक्खा। फिर धीरे-धीरे फल और तरकारी पर लाए। तदनंतर अन्न दिया। इस पथ्य
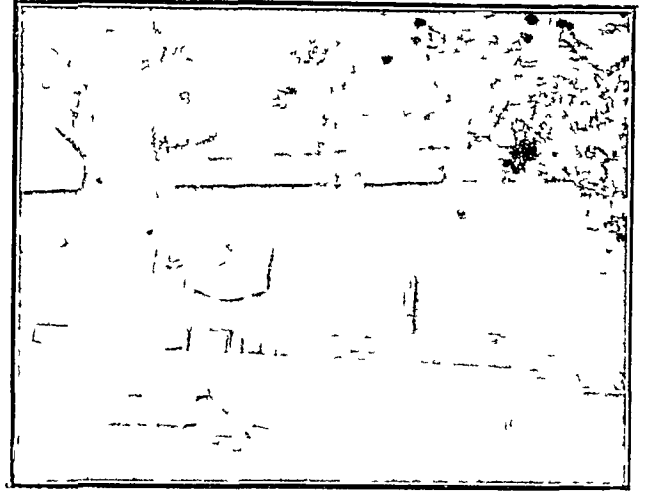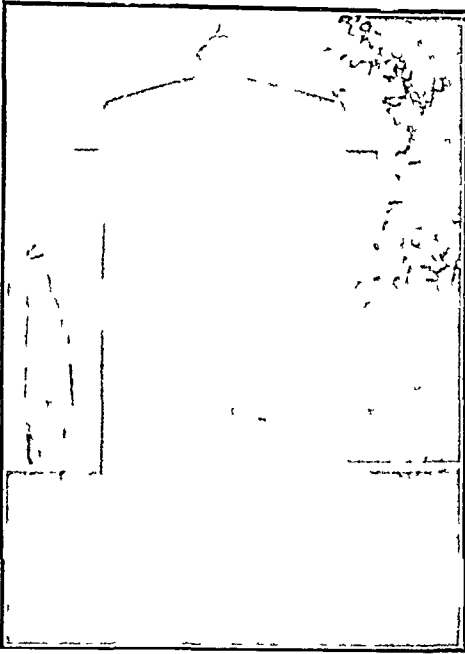
आचार्य द्विवेदी जी का बैठका और पुस्तकालय। इसी के सामने, पूरब तरफ, फुलवाडी और कुआ तथा गोशाला है।

'स्मृति-मंदिर' के पास ही यह मंदिर या मॅढिया है जिसमें महावीर (हनूमान्) की मूर्त्ति स्थापित है। इसे आचार्य द्विवेदी जी की पत्नी ही ने अपने खर्च से बनवाया था। प्रतिष्ठा व्रजमोहन मिश्र की पत्नी के नाम से इसलिये कराई थी क्योंकि आचार्य द्विवेदी जी देव-प्रतिमाओं की स्थापना के खिलाफ थे, कारण यह कि पीछे से उनकी दुर्गति होती है--कोई झाड़ू तक मंदिर मे नही लगाता। इस मंदिर या मॅढिया के द्वार पर निम्नलिखित शिलालेख लगा हुआ है—

महावीरप्रसादस्य द्विवेदिकुलजन्मन॰।
धर्म्मपत्न्या वदान्याया प्राप्याज्ञाञ्च सहागताम्॥१॥
व्रजमोहनमिश्रस्य ग्रामस्यास्यैव वासिन॰।
पत्न्या विधवया स्थानं निर्म्मापितमिदं मुदा॥२॥
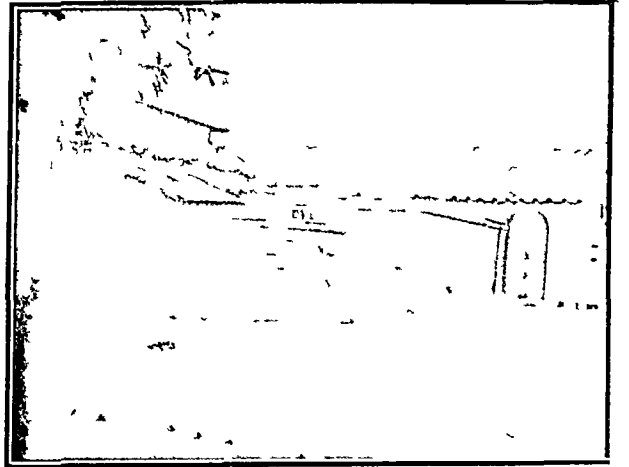
स० १९७०

आचार्य द्विवेदी जी का गोदाम, जिसमे गौओं का चारा इत्यादि रक्खा जाता है।

आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी दिवगता धर्मपत्नी की स्मृति मे यह मदिर बनवाया था। इसके ऊपर, सामने, ''स्मृति-मदिर'' खुदा हुआ है। मध्य मे आचार्य-पत्नी की प्रस्तर-प्रतिमा प्रतिष्ठित

है जिसके वाम भाग मे सरस्वती की और दक्षिण भाग मे लक्ष्मी की मूर्त्ति स्थापित है। इस मदिर के सामने, छज्जो के नीचे, निम्नलिखित दो श्लोक-खंड, रग से चित्रित है—

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता.

—इति मनु'

विद्या' समस्तास्तव देवि भेदा'
स्त्रिय' समस्ता: सकला जगत्सु

—इति व्यास:

'स्मृति-मदिर' मे, आचार्य-पत्नी की प्रधान मूर्त्ति के वाम भाग मे, सरस्वती की यह मूर्त्ति स्थापित है। इसके ऊपर यह शिलालेख है—

हसोपरि समासीना विद्याधिष्ठातृदेवता।
वरदा विश्ववन्द्येय सर्वशुक्ला सरस्वती॥
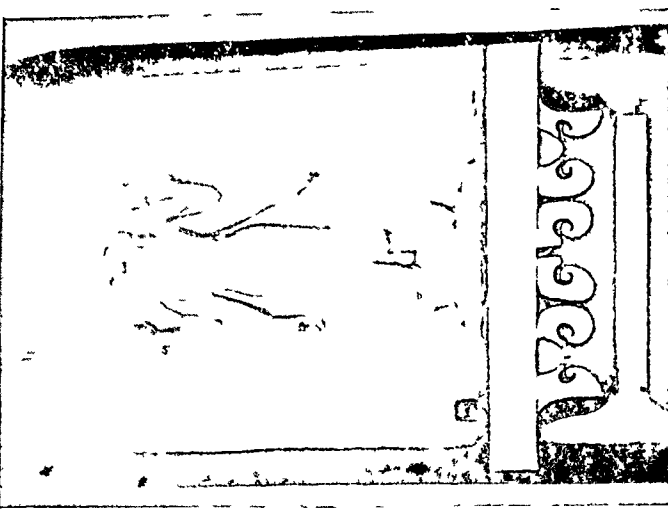
लक्ष्मी की यह मूर्त्ति आचार्य-पत्नी की प्रस्तर-प्रतिमा के दक्षिण भाग मे स्थापित है। इसके ऊपर यह शिलालेख है—

विष्णुप्रिया विशालाक्षी क्षीराम्भोनिधिसम्भवा।
इय विराजते लक्ष्मीर्लोकेशैरपि पूजिता॥

ने जादू का जैसा काम किया। इससे मेरा वह रोग ही नही जाता रहा, ३५ वर्ष का पुराना कब्ज भी बहुत कुछ दूर हो गया।" इस प्रकार स्वास्थ्य-सबधी नियमो का पालन तो वे करते ही हैं, अपने घर की सफाई पर भी विशेष ध्यान देते हैं। घर मे जो चीज जहाँ रक्खी जाती है, वह वहीं अपने स्थान पर रक्खी जानी चाहिए, इस नियम का शायद ही उनके घर मे कभी उल्लंघन होता हो—कम से कम उनके रहते हुए तो नही हो सकता। टोपी या छडी रखने की जगह पर कोट या जूते नही रक्खे जा सकते। इसी प्रकार वे पुस्तको को भी निश्चित स्थान पर ही रखते हैं। यदि कोई पुस्तक अपनी जगह से हट या गायब हो जाती है तो उन्हे तुरत मालूम हो जाता है कि कोई गड़बडी हुई है। वे घरवालो से पूछ-ताछ कर तुरत पता लगा लेते हैं। पुस्तको की सफाई तो वे इस वृद्धावस्था मे भी रोज करते हैं। पुस्तके उन्हे प्राणो से भी अधिक प्यारी हैं। गाँव मे पुस्तके केवल उन्हीं लोगो को देते है जिनके बारे मे यह जानते है कि पुस्तक पढकर समझ सकते हैं। जो व्यक्ति उनसे पुस्तक ले जाता है, वह निश्चित समय मे, ज्यो की त्यो, वापस कर जाता है। पुस्तके वे बडी पूछ-पाछ के बाद देते है और परीक्षा के भय के कारण बहुत कम लोग उनसे माँगने आते हैं। कुछ लोग उनके स्पष्ट-भाषण से नाराज हो जाते हैं। किंतु स्पष्टवादिता उनमे स्वाभाविक है। वे किसी से बनावटी बात नही कहते। कृत्रिमता का उनमे लेश भी नही। खुशामद करना तो जानते ही नही। उनका वार्तालाप कभी-कभी व्यग्यपूर्ण होता है, किंतु उससे मनोरजन ही होता है, किसी के हृदय को दु ख नही पहुँचता। वे सत्य के उपासक है और अपने जीवन के भिन्न भिन्न मार्गों मे इसी पथ का अनुसरण करते रहे हैं। स्वय जो बात कहते हैं, वही करते भी हैं। निम्नलिखित श्लोक उन्हे बहुत प्रिय है—

> लज्जा गुणौघजननीं जननीमिव स्वामत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाम्।
> तेजस्विनः सुखमसूनपि सत्यजन्ति सत्यव्रतव्यसनिनो न पुन प्रतिज्ञाम्॥

द्विवेदी जी किसी प्रकार का पूजा-पाठ या सध्या-वन्दन इत्यादि नही करते। वे प्राय 'ईश्वर' का नाम या 'राम' का नाम जरूर लेते हैं, किंतु उन्होने अपने को किसी प्रकार के धार्मिक बधन मे नही जकड रक्खा है। ईश्वर की सत्ता मे उनका पूर्ण विश्वास है। इस बात का प्रमाण उनके लेखो मे मिल चुका है। "गोपियों की भगवद्भक्ति" शीर्षक लेख के अंत मे लिखते हैं—"हमारी प्रार्थना इतनी ही है कि यदि पूर्वजन्मो मे हमने कभी कोई सत्कार्य किया हो तो भगवान् हमे ब्रजमंडल के करीर का काँटा ही बना देने की कृपा करें।" इस वाक्य मे उनका आत्मनिवेदन है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वे भगवद्भक्ति मे विश्वास रखते हैं। 'राम'-नाम का उच्चारण करते हुए तो अनेक बार हमने उन्हे देखा है। इसके अतिरिक्त वे प्राय जगद्धर भट्ट की "स्तुति-कुसुमाजलि" के श्लोक स्वय कहा करते हैं और कभी-कभी दूसरो को भी सुनाया करते हैं। ये श्लोक शिव जी की स्तुति मे जगद्धर भट्ट ने लिखे हैं। उन श्लोको के सबध मे वे लिखते हैं— "एकात मे आँखे बद करके भक्तिभाव-पूर्वक इनकी स्तुतियो का पाठ करने से जिस आनंद की

प्राप्ति होती है, उसका अंदाजा सहृदय भावुक ही कर सकते हैं। यह संभव ही नहीं कि पाठक सहृदय हो और उसके नेत्रो से आँसू न टपकने लगे।" मालूम होता है, उन्होने स्वयं भगवद्भक्ति के इस आनद का अनुभव किया है। वे नियमित संध्यावंदन इत्यादि के विरुद्ध नही हैं, परंतु उनका अधिक समय साहित्यिक क्रिया-कलाप के संपादन मे ही बीतता रहा है। उनका हृदय भगवद्भक्ति से शून्य नही, और उनका सत्य-प्रेम तो परम प्रशसनीय है। सच्चरित्र मनुष्यों का निष्कपट व्यवहार वे बहुत पसंद करते है। झूठे और निंदक से वे सदा दूर ही रहा करते हैं। गाँव के लोगो के साथ गप-शप लगाने मे उनका समय कभी नष्ट नही होता। प्रतिदिन प्रात.काल उठकर, शौचादि से निवृत्त हो, वे कुछ दूर टहलने जाया करते हैं। लौट कर अपने बैठकखाने मे तखत पर बैठ जाते हैं। आवश्यक चिट्ठी-पत्रियों के जवाब देने के बाद सम्मत्यर्थ आई हुई कुछ पुस्तकों का सिंहावलोकन करते हैं और कुछ समाचार-पत्र भी पढ़ते हैं। दोपहर मे बारह बजे के उपरात फिर शौच को जाते और स्नान करते है। स्नान व भोजन के बाद उसी कमरे मे फिर आकर जो समाचारपत्र व मासिक पुस्तके सुबह नही देख सके, उन्हे देखते हैं। प्राय॰ दो बजे के बाद मुकद्दमो का फैसला इत्यादि करते हैं, क्योंकि वे सरकारी पंचायत के सरपंच भी हैं। पहले वे आनरेरी मुंसिफ भी थे, लेकिन अब कई वर्षो से वहाँ पंचायत स्थापित हो गई है। मुकद्दमो की कुल कार्रवाई वे हिंदी ही मे लिखते हैं। जिस दिन मुकद्दमे इत्यादि नही पेश होते, उस दिन थोडा-सा आराम करके अखबार ही पढ़ा करते हैं। कभी-कभी दोपहर मे लेटकर कुछ विश्राम भी कर लेते हैं। नीद तो उन्हे रात मे भी बहुत कम आती है, दिन मे तो शायद ही कभी सोते हो। उन्निद्र रोग से वे अब भी पीड़ित रहते हैं। शाम को, चार बजने के बाद, वे अपने बागो व खेतो की ओर घूमने जाते हैं। गरीब किसानो से वे ग्रामीण भाषा मे, उनकी खेती-किसानी के विषय मे, बड़ी देर तक बाते किया करते है। एक बार एक अहीर किसान बैल-गाडी मे किसी दूसरे गॉव को जा रहा था। उसकी तबीयत खराब थी। द्विवेदी जी ने उससे कहा—"धाखौ, उहाँ कुछ अंट-संट न खाय लीन्ह्यो, नाहीं तौ बहुत दिक्क होइ जइहौ"। इस तरह हमने देखा कि उन्होने कई बार उसे समझाया। शाम को घूम-फिर कर थोड़ी देर तक दरवाजे पर बैठते हैं। कोई आ गया तो उससे बात-चीत करते है। उनके साथ बात-चीत करने मे एक विशेष प्रकार का आनंद आता है। उनके वार्तालाप मे एक अनोखापन रहता है। प्राय अपने सभाषण मे वे साहित्यिक पुट भी जमाते जाते हैं। व्यग्य भी कभी-कभी उनकी बात-चीत मे रहता है, परतु वह अत्यंत सारगर्भित होता है। उनसे मिलने और बात-चीत करने पर शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिस पर उनकी प्रतिभाशाली सौम्य आकृति का प्रभाव न पड़े। सत्य के मार्ग का निरतर अनुसरण करने के कारण ही साहित्य-क्षेत्र मे उनका यश सौरभ फैल रहा है। उनका उन्नत ललाट, गौर वर्ण, उनकी सिंह की ऐसी बड़ी-बड़ी मूछे और असाधारण बडी-बड़ी भौंहे देखने से चित्त मे एक असाधारण महापुरुष व तत्त्ववेत्ता के साक्षात्कार का अनुभव होता है। वे अपनी बात-चीत मे, बीच-बीच मे, प्राय सस्कृत के श्लोक भी कहा करते हैं। उनका उच्चारण अत्यंत स्पष्ट और हृदयग्राही होता है। एक-एक अक्षर स्पष्ट

बाईं ओर से—(खड़े) द्विवेदी जी के भानजे श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी, (बीच में कुर्सी पर बैठे) आचार्य द्विवेदी जी (गोद में उनकी छोटी भानजी कुमारी विद्यावती), (किनारे खड़ी) द्विवेदी जी की बड़ी भानजी कुमारी कमलावती (स्वर्गीया)। संवत १९७४ (सन १९१७)
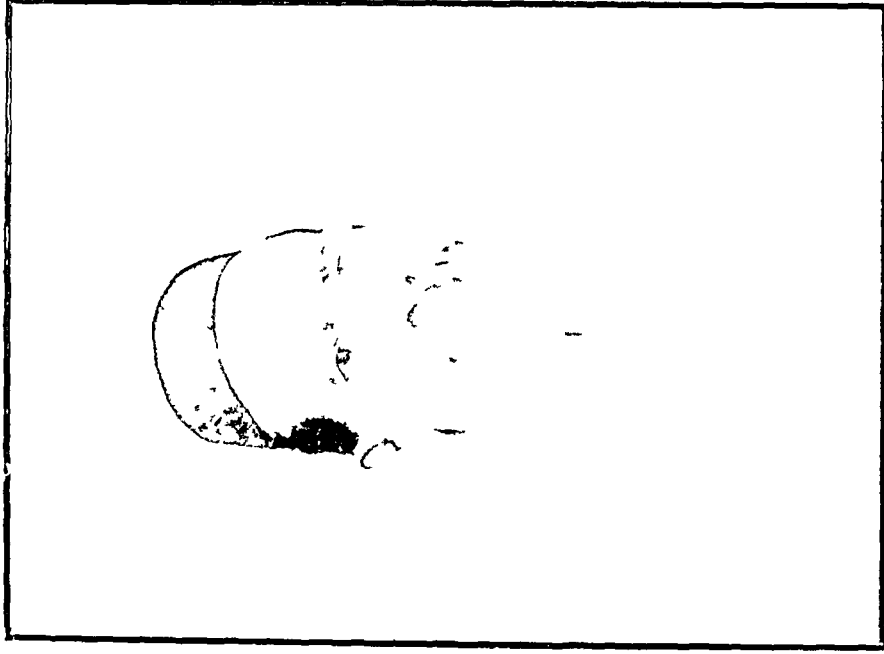
पडित महावीरप्रसाद द्विवेदो
सवत् १९६५ (सन् १९०८)
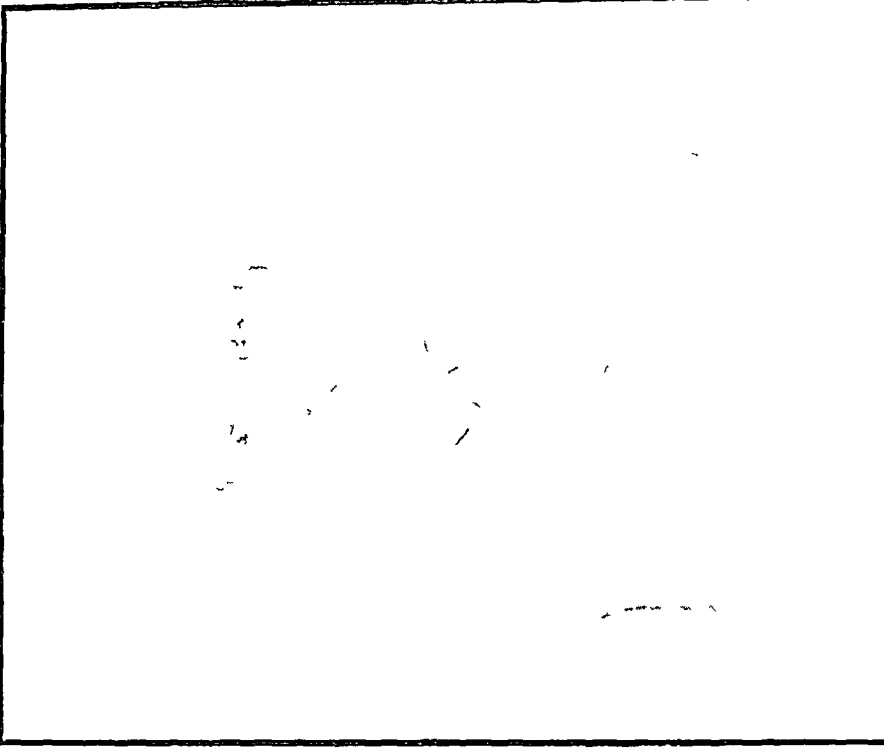
पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी
सवत १९७१ (सन् १९१४)

उनके उच्चारण मे सुनाई देता है। युक्त-प्रात मे वहुत-से पंडित सस्कृत के उच्चारण मे दाक्षिणात्य ब्राह्मणो से अधिक उन्नत नही है। किंतु द्विवेदी जी इसके भीषण अपवाद-रूप समझे जा सकते हैं। उनका सस्कृत का उच्चारण अत्यंत शुद्ध होता है। वे कभी किसी से दव कर वात-चीत नही करते। वे ऐसी वात ही नही कहते जिसमे उन्हे दवना पडे। आत्म-सम्मान की मात्रा उनमे यथेष्ट है। उनकी रहन-सहन, वेश-भूषा अत्यत सादी है। जीवन की सचाई ही उनका ध्येय है, अतएव उन्हे बहुत अधिक सासारिक शिष्टाचार पसद नहीं। वे वर्त्तमान स्वदेशी आदोलन के पहले ही वहुत वरसो से स्वदेशी वस्त्रो का उपयोग करते आ रहे हैं। उनके पास वरसो के पुराने कपड़े रक्खे हुए हैं। उन्हे वे अव भी पहनते हैं। जूता वे सादा देहाती ही पहनते हैं। उनके कमरे मे कई शस्त्र—एक बन्दूक, एक तलवार, काता और कई लाठी-डडे—रक्खे रहते हैं। जयपुर से मँगाये हुए धनुष-वाण भी रक्खे हुए हैं। जहाँ बैठते हैं, ठीक उसी जगह उनकी वाई ओर, एक करौली रक्खी रहती है। उनके यहाँ एक वार चोरी हो गई थी। चोरी आदि के कारण और फिर देहात मे मामले-मुकद्दमो का फैसला करने के कारण वे अपनी रक्षा के लिये उपर्युक्त शस्त्र अपने अध्ययनागार मे रखते हैं। मासिक पत्रिकाएँ तो करीव-करीब सभी उनके यहाँ देखने को मिल जाती हैं। दैनिक पत्र भी कई आते हैं। दौलतपुर के डाकखाने मे अधिकतर उन्ही की डाक आती है। यह डाकखाना उनके घर ही पर है, इसलिये उन्हे पत्र-व्यवहार करने मे वडी सुविधा रहती है। वे पत्र-व्यवहार करने मे असाधारण पुरुष हैं। पत्रो के उत्तर देने मे उन्हे कभी आलस्य नही मालूम हुआ। पत्र आपका पहुँचा नही कि उन्होने तुरत आवश्यक उत्तर भेज दिया। अपने कुटुंबियो को ही नहीं, वल्कि किसी भी मनुष्य को वे उसी त्वरित गति से उत्तर देते हैं। उनके पत्रो से, आपत्ति के समय मे, वडी सात्वना मिलती है। घरेलू पत्रो के अतिरिक्त उनके साहित्य-सबधी पत्रो की सख्या इतनी अधिक है कि वे एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप मे निकाले जा सकते हैं। उन पत्रो की गणना अलग एक साहित्य मे की जा सकती है। द्विवेदी जी ने कभी-कभी आवश्यकतावश अँगरेजी मे भी पत्र लिखे हैं। अपने एक सवधी को उन्होने अँगरेजी मे एक पत्र लिखा था। उसमे वहुत-सी घरेलू वाते लिखने के वाद आखीर मे लिखा था—

"That two persons being closely related to each other, and being natives of the same province, and speaking the same mother tongue should correspond in a language of an island six thousand miles away is a spectacle for gods to see Such an unnatural scene is possible only in a wretched country like India"

द्विवेदी जी में कोई व्यसन नही है। पान और तवाकू वे वहुत दिन तक खाते रहे, किंतु कई साल से पान खाना छोड दिया है। अव केवल थोडा-सा देशी तवाकू खाते हैं। चाय भी वे पहले वहुत पिया करते थे, किंतु अब उसके स्थान मे केवल दूध पीते हैं। भोजन करने मे वे वहुत परहेज से काम लेते हैं। आज-कल वे थोडा दूध, शाक और दलिया खाते हैं। रोटी-दाल खाना, स्वास्थ्य

के कारण, छोड दिया है। उनकी दिनचर्या विलकुल नियमित रहती है। उसमें कोई अंतर पड़ने से उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। इसी लिये उन्हे यात्रा करने मे वडी तकलीफ होती है। अधिकतर अपने गॉव ही मे रहते हैं। वहाँ उनका स्वास्थ्य, और जगह की अपेक्षा, अधिक अच्छा रहता है। उनकी धर्मपत्नी की मृत्यु हुए करीव बीस वर्ष हो गये। उनके कुटुंव मे इस समय उनका एक भानजा, एक भानजी, भानजे की बहू और एक लडकी है। ये लोग दूर के रिश्तेदार हैं, किंतु द्विवेदी जी ने उनको अपनी संतान के समान रक्खा है। दो भांजियो के विवाहादि कार्य अपनी लडकियो की तरह किए हैं। कुटुंव का पालन-पोषण व संचालन किस प्रकार करना चाहिए, इसकी शिक्षा भी उनके जीवन से मिल सकती है। घर के किसी भी व्यक्ति को कष्ट मे देखकर उनका हृदय पिघलने लगता है, और जव तक उसका कष्ट निवारण नहीं हो जाता, तव तक वे चैन नहीं लेते। प्रत्येक कुटुंवी उनके स्वभाव व दिनचर्या से परिचित है और घर की सफाई मे, और गृहस्थी की वस्तुओ के धरने-उठाने मे वडी सावधानी से कार्य करता है। उनका कौटुंविक शासन अत्यंत सुव्यवस्थित है। उनके घर का कोई व्यक्ति उनसे असंतुष्ट नहीं रहता। स्त्रियो के सवंध मे उनके विचार अत्यंत उदार हैं। वे स्त्री-शिक्षा के बहुत वडे समर्थक हैं। लडके और लडकी के पालन-पोषण मे उनका समत्व-भाव परम प्रशंसनीय है। वे जिस प्रेम से अपने भानजे के वस्त्रादि बनवाते हैं, उसी प्रेम से अपनी वहू (भानजे की पत्नी) व भानजे की लडकी के लिये भी कपड़े व गहने बनवा देते हैं। जिस कार्य का आरंभ करते हैं, उसे यथाशक्ति कुशलपूर्वक समाप्त करने का संकल्प कर लेते हैं। दौलतपुर से रेल का स्टेशन 'विंदकी रोड' ही निकट है। वह छ मील की दूरी पर है। गंगा पार करके पैदल या वैलगाड़ी मे स्टेशन तक पहुँच होती है। वर्षा-काल मे तो अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। इन सव असुविधाओ के रहते हुए भी वे अपनी या अपने कुटुंबियों की बीमारी मे आवश्यकता पड़ने पर प्राय कानपुर से डाक्टर वुलवाते हैं। रोगी चाहे लड़का हो या लड़की, इस बात की वे परवा नहीं करते। यद्यपि वे स्त्री-शिक्षा व अन्य स्त्रियोपयोगी सुधारो के समर्थक हैं, तथापि वे स्त्रियों की योरपीय ढंग की स्वतंत्रता को पसंद नहीं करते। स्त्रियो के प्रति उनकी आदर की भावना इसी से प्रत्यक्ष है कि उन्होने अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद उनकी स्मृति मे अपने मकान के पास ही एक स्मृति-मंदिर बनवाया है। इसमे एक ओर लक्ष्मी की और दूसरी ओर सरस्वती की मूर्ति है। बीच मे उनकी धर्म-पत्नी की मूर्ति है। मूर्ति का उन्होने जयपुर मे निर्माण कराया था। पत्नी के निधन के बाद बहुत लोगो ने उनसे दूसरी शादी करने के लिये कहा। उनकी अवस्था उस समय लगभग छियालीस वर्ष के थी। पर उन्होने विवाह करना स्वीकार नहीं किया। उनके कोई सतति नहीं है, किंतु इस बात से उन्हे कोई दु.ख नहीं है। उनका यश ही सदैव अमर रहेगा। वे बच्चो को बहुत प्यार करते हैं। टहलते समय छोटे से छोटा बालक भी उन्हे देखकर कहता है—"बाबा, पॉव छुई या चरन छुई।" वे "जियत रहौ" इत्यादि आशीर्वचन कहते हुए चले जाते हैं। गॉव मे बच्चो से लेकर बूढे तक सभी उनका आदर करते हैं। जिले के सरकारी कर्मचारियों पर प्रभाव होने के कारण तथा

आचार्य द्विवेदी जी, मवत १९८९ (सन् १९३२)
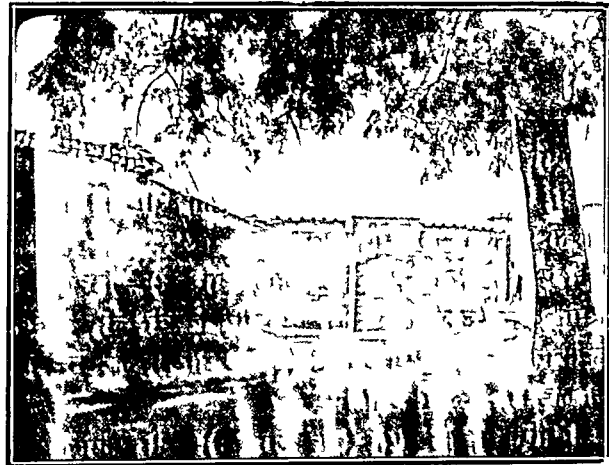
आचार्य द्विवेदी जी की अतिथिशाला।

पीछे की पक्ति मे खडे (बाई ओर से)—द्विवेदी जी की भानजी श्रीमती विद्यावती देवी, द्विवेदी जी के भानजे श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी, श्री कमला-किशोर जी की पत्नी श्रीमती राधा देवी।

बीच की पक्ति मे, कुर्सी पर बैठे (बाई ओर से)—द्विवेदी जी की चचेरी बहन लक्ष्मी देवी (उम्र ६० वर्ष), आचार्य द्विवेदी जी, उनकी गोद मे श्रीमती विद्यावती देवी का पुत्र इंद्रदत्त (उम्र ७ मास), लक्ष्मी देवी की नवासी (लड़की की लडकी) दुलारी देवी।

नीचे की पक्ति मे, बैठे हुए, (बाई ओर से)—श्री कमलाकिशोर जी के साले की लडकी रानीदेवी, श्रीमती विद्यावती देवी का लडका रुद्रदत्त, श्री कमलाकिशोर जी की लडकी मनोरमा।

ख्यातनामा पुरुष होने के कारण उनका प्रभाव गाँव भर पर और पास-पडोस मे छाया हुआ है। झाँसी के रेलवे-दफ्तर मे बहुत दिनो तक मुलाजिमत करने के कारण अपने गाँव में वे 'महावीर बाबू' के नाम से प्रसिद्ध हैं। गाँव मे इस समय केवल एक सज्जन उनसे उम्र मे कुछ बडे हैं। उनका गाँव राजा मुरारमऊ के तअल्लुके मे है। वे इस गाँव को कोर्ट आव् वार्डस से खरीदना चाहते थे, परंतु सरकार ने गाँवो का नीलाम किसी कारण से रोक दिया।

द्विवेदी जी की भाषा-शैली किस प्रकार की है, उनके प्रयुक्त वर्णो मे क्या माधुर्य्य है, उनकी लेखन-कला मे क्या सौदर्य है, इत्यादि बातो पर कुछ प्रकाश डालना अत्यत आवश्यक प्रतीत होता है। वे इस समय हिंदी-गद्य के सर्वोत्कृष्ट लेखक हैं। यो तो समस्त देश के हिंदी-साहित्य पर उनकी छाप पड गई है, तो भी विशेषतया इस प्रात (युक्त-प्रदेश) मे 'महावीरी हिंदी' का बहुत प्रचार है। उन्होने एक विशेष प्रकार की शैली का निर्माण किया है। एक स्कूल मे, एक दफे एक पडित जी इम्ला (Dictation) बोल रहे थे। एक लडके ने 'लिये' लिखा था। पडित जी ने कहा—'लिये' को 'लिए' लिखा करो, देखते नहीं हो, 'सरस्वती' इसी प्रकार लिखती है। कहने का तात्पर्य यह कि 'सरस्वती' की भाषा को उन्होने आदर्श बना दिया था। उनकी भाषा मे साधारणतया सस्कृत के शब्द तो रहते ही हैं, इसके अतिरिक्त वे प्राय फारसी और उर्दू के शब्दो का भी प्रयोग करते हैं। वे उन महापुरुषो मे हैं जो दूसरी भाषाओं के शब्दो को अपनी भाषा मे खीचकर खपा देते हैं। उनका कार्य पथ-प्रदर्शन का है। उन्होने अपने साहित्यिक जीवन मे यही किया है। यदि वे ऐसा न करते तो हिंदी का यह वर्त्तमान रूप दिखाई न पडता। हिंदी के साहित्य-क्षेत्र का विस्तार करना, उसकी ग्राहिका शक्ति बढाना, उसको सर्वसाधारण के समझने योग्य बनाना—इत्यादि विषयो मे उन्होने जिस मनोभिनिवेश से कार्य किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। हिंदी को सर्वप्रिय बनाना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। इसी विचार-दृष्टि से उनकी समालोचनाएँ भाषा की सदोषता दूर करने के लिये 'ठीक नश्तर का काम करती थीं'। "हिंदी भाषा की ग्राहिका शक्ति" के विषय मे उन्होने लिखा है—"बात यह है कि जिस तरह शरीर के पोषण और उपचय के लिये बाहर के खाद्य पदार्थो की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओ की बाढ के लिये विदेशी शब्दो और भावो के सग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमे ऐसा होना बद हो जाता है, वह उपवास-सी करती हुई, किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी जरूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावो को ग्रहण कर लेने की शक्ति रखना ही सजीवता का लक्षण है, और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर भी, परित्यक्त नहीं हो सकता। हमारी हिंदी सजीव भाषा है। इसी से, संपर्क के प्रभाव से, उसने अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओ तक के शब्द ग्रहण कर लिए है और अब अँगरेजी-भाषा के भी शब्द ग्रहण करती जा रही है। इसे दोष नहीं, गुण ही समझना चाहिए, क्योकि अपनी इस ग्राहिका शक्ति के प्रभाव से हिन्दी अपनी वृद्धि ही कर रही है, ह्रास नहीं। ज्यो ज्यो उसका प्रचार बढेगा, त्यो त्यो उसमे नए-नए शब्दो का आगमन होता

जायगा। हमे केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस सम्मिश्रण के कारण कही हमारी भापा अपनी विशेपता को तो नही खो रही—कही बीच बीच मे अन्य भापाओ के वेमेल शब्दो के योग से वह अपना रूप विकृत तो नही कर रही। बस।" हिंदी की हितचिंतना के इन उदार भावो से अनुप्राणित होकर उन्होने 'मिश्रित शैली' की योजना की है। उनकी लेखनी से इस शैली का प्रवाह सहज ही मे होता है। यह उनकी असाधारण प्रतिभा का द्योतक है। लकडी के तख्त पर वैठे हुए, पीठ को एक बडे तकिये पर टेके हुए, घुटनो पर एक दफ्ती के ऊपर कागज रखकर वे प्राय लेख, पत्र आदि लिखा करते है। हमने उन्हे कुर्सी-मेज लगाकर लिखते-पढ़ते कभी नही देखा। उनके लिखने का कागज वढिया नही, विलकुल मामूली होता है। यहाँ तक कि कभी-कभी अखवारो या मासिक पत्रो के रैपरो को फाड-फाड कर अपने पास जमा रखते हैं, और उन्ही पर पत्र आदि लिख कर भेज दिया करते हैं। अखवारो के कालमो की तरह कागज के लवे-लवे टुकडो पर प्राय लेख लिखा करते हैं। वरावर धाराप्रवाह लिखते चले जाते हैं। लेखनी मानो रुकना ही नही जानती। उनकी वेगवती लेखनी को चलते हुए देखकर कभी कभी उर्दूदाँ लोग भी चकित हो जाते हैं और हिंदी लिपि की सार्थकता मे विश्वास करने लगते हैं। पंचायत के मामलो मे प्राय देहाती लोग अपने दावे लिखाने आते है और अपनी ग्रामीण भापा मे असंवद्ध रीति से अपनी शिकायते व्यक्त करते हैं। द्विवेदी जी सुनने के साथ ही तुरंत उनके दावो को सरल शिष्ट हिंदी मे लिखकर उन्हे सुना देते हैं। साराश यह कि उनके लेखो मे अधिकतर भापा का स्वाभाविक प्रवाह होता है। भापा पर उनका असाधारण अधिकार है। अकृत्रिम और मुहावरेदार भापा मे वे अपने विचार प्रकट किया करते हैं। कठिन से कठिन विपय को भी वे अपनी भापा मे सरलतापूर्वक लिख सकते हैं। अपने निवंधो मे वे प्राय संस्कृत के श्लोको का उद्धरण करते हैं। कभी-कभी श्लोकार्ध ही या श्लोक का एक ही चरण उद्धृत कर देते हैं। परंतु वे अवतरण कभी असंगत नही मालूम होते; उनका उपयोग प्रकरण के अनुसार ठीक स्थान मे ही होता है। 'महावीरी हिंदी' की यही खूवी है कि वह वडी सुवोध होती है, उसे सव लोग मजे मे समझ सकते हैं। उनकी संस्कृत-मिश्रित भापा पढ़कर, जो लोग संस्कृत का ज्ञान नही रखते, उनके हृदयो मे भी, सस्कृत के अध्ययन की सदिच्छा जाग्रत हो जाती है। उनका भाव-प्रकाशन का ढंग भी निराला ही है। हिंदी मे सुधार करने की हितैपणा से, और लोकोपयोगी कार्यो की विवेचना करने मे, उन्होने प्राय व्यंग्य-पूर्ण लेख भी लिखे है। यह उनकी एक विशिष्ट शैली है। साधारण-सी वात को भी वे कभी कभी ऐसी चुभती हुई भापा मे कहते हैं जिसका प्रभाव सुननेवाले के ऊपर खूव पड़ता है। इसी प्रकार उन्होने अपनी वहुत-सी गद्य-रचनाओ मे भी व्यंग्य का खूव प्रयोग किया है। परंतु उनका व्यंग्य वहुत उच्च कोटि का होता है। उसमे वारीकी रहती है। उनके व्यंग्य की गहनता उनकी सरकारी रिपोर्टो की समालोचनाओ मे देखिए। वास्तव मे द्विवेदी जी हिंदी के युग-प्रवर्त्तक हैं। उन्होने प्राय व्यंग्य और प्रचारणापूर्वक अपने हृदयोद्गार प्रकट किए हैं। महापुरुपो के कहने का ढंग सर्वसाधारण के ढंग से विभिन्न होता ही है। अपनी व्यंगोक्तियो द्वारा उन्होने हलचल मचा दी

थीं। सरकारी रिपोर्टों की समालोचनाएँ उन्होंने एक अनोखे ढंग से की हैं। उनकी शैली ही विचित्र है। "साँप मरे और लाठी न टूटे"—इस लोकोक्ति को उन्होंने चरितार्थ किया है। गवर्नमेंट की कूट-नीति पर उन्होंने समय-समय पर जो टीका-टिप्पणियाँ की हैं, उनमें एक विशेष प्रकार के साहित्य का आनंद मिलता है। व्यंग्योक्तियों के अतिरिक्त उनके लेखों में स्पष्टोक्तियाँ भी खूब रहती हैं। भाषा के तो वे मानो बादशाह हैं, और भावों को बहुत ही सुंदरतापूर्वक व्यक्त करने तथा खरी और लगती हुई बातें कहने में वे अपना जोड़ नहीं रखते। उन्होंने इतने विषयों पर लेख लिखे हैं कि बिना उन्हें पढ़े हुए उनकी समस्त शैलियों की जानकारी प्राप्त करना कठिन है। साहित्य, जीवनचरित, इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्म-विद्या, संपत्तिशास्त्र, हिंदी भाषा और शासन-पद्धति आदि पर उनके अनेक लेख हैं। पुस्तक-परिचय, आलोचना आदि से संबंध रखनेवाले जो लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ करते थे, उनका स्थान ही अलग है। वे तो अद्वितीय हैं। 'कोविदकीर्त्तन' में उन्होंने जो शब्द-चित्र खींचे हैं, उनका आनंद उन्हें पढ़ने ही से मिलता है। ऐसे लेखों में शब्द-चयन और भाषा का प्रवाह बिलकुल वार्तालाप का-सा है। इस प्रकार के वार्तालाप का ढंग उनके गद्य-लेखों में बहुधा पाया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे 'खड़ी बोली' अथवा बोल-चाल की भाषा के मुख्य प्रवर्त्तक हैं। किंतु गूढ़ और गंभीर विषयों पर लिखते समय उनकी लेखन शैली में भी गांभीर्य आ जाता है। और ऐसा होना अनिवार्य है, क्योंकि विषय के सदृश शब्द-योजना न होने से उसका ठीक-ठीक मतलब ही नहीं प्रकट हो सकता। उनके निर्माण किए हुए साहित्य में अधिकतर सिद्धांतों का प्रतिपादन ही हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे स्वयं एक विचारशील पुरुष हैं। यदि उन्हें हिंदी के क्षेत्र में एक प्रकार का तत्त्ववेत्ता भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। भाषा, व्याकरण और साहित्य-संबंधी अपने सिद्धांतों को 'सरस्वती' द्वारा प्रकट करने ही के कारण वे हिंदी को एक 'स्थिर' रूप दे सके हैं। साहित्य के विषय में वे लिखते हैं—"साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्म-गौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय। मनोरंजन-मात्र के लिये प्रस्तुत किए गए साहित्य से भी चरित्रगठन को हानि न पहुँचनी चाहिए। आलस्य, अनुद्योग, या विलासिता का उद्बोधन जिस साहित्य से नहीं होता उसी से मनुष्य में पौरुष अथवा मनुष्यत्व आता है। रसवती, ओजस्विनी, परिमार्जित और तुली हुई भाषा में लिखे गए ग्रंथ ही अच्छे साहित्य के भूषण समझे जाते हैं।" भाषा कितनी मँजी हुई, परिपक्व और व्यवस्थित है। भाषा की दृष्टि से उनकी शैली 'मिश्रित' है। हिंदी-संसार में यह एक सर्वमान्य बात हो चुकी है। उनके भाव-प्रकाशन की शैलियाँ भिन्न-भिन्न विषयों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की कही जा सकती हैं—यह एक अनिश्चित बात है, क्योंकि इस प्रकार उनकी शैलियों की संख्या अगणित हो जायगी। अतएव उनके लेखों को तीन ही शैलियों में विभक्त करना उचित जान पड़ता है—(१) व्यंग्यात्मक, (२) आलोचनात्मक और (३) वर्णनात्मक

या गवेषणात्मक। पहले दो प्रकार के उनके लेख प्रसिद्ध ही हैं। तीसरे वर्ग मे उनकी अन्य प्रकार की रचना-रीतियो का वर्गीकरण किया जा सकता है।

अपनी रचनाओ मे द्विवेदी जी प्राय जो शब्द जिस जगह प्रयोग करते हैं, वे ठीक उसी स्थान के लिये उपयुक्त होते हैं। यदि वे शब्द या वाक्य उस जगह से हटा कर दूसरी जगह रख दिए जायँ तो उनका सौदर्य ही नष्ट हो जाय। अन्य भाषाओ के पर्यायवाची शब्दो को हिंदी मे बना कर तत्सम अर्थ पैदा करना उन्ही के जैसे भाषा-तत्त्वज्ञो का काम है। उन्होने स्वयं कुछ शैलियो का रूप स्थिर किया है और कभी-कभी वे लेखको की लेखन-प्रणाली को परिष्कृत करने के लिये आदेश भी करते रहे हैं। इस प्रकार के आदेश का एक उदाहरण लीजिए—"लेखको को सरल और सुबोध भाषा मे अपना वक्तव्य लिखना चाहिए। उन्हे वागाडंबर द्वारा पाठको पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिए कि वे कोई बडी ही गभीर और बडी ही अलौकिक बात कह रहे हैं। इस प्रकार की जटिल भाषा को अनेक पाठक और समालोचक उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं। जिस रचना मे संस्कृत के सैकड़ो क्लिष्ट शब्द हो, जिसमे सस्कृत के अनेकानेक वचन और श्लोक उद्धृत हो, जिसमे योरप तथा अमरीका के अनेक देशो, पंडितो और लेखको के नाम हो, जिसमे अँगरेजी नाम, शब्द और वाक्य अँगरेजी ही अक्षरो मे लिखे हो उस रचना को लोग बहुधा पांडित्यपूर्ण समझते हैं। परंतु यह गुण नही, दोष है। हिंदी मे यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जाननेवाले भी सहज ही मे समझ जायँ। संस्कृत और अँगरेजी शब्दो से लदी हुई भाषा से पाडित्य चाहे भले ही प्रकट हो, पर उससे ज्ञान और आनंददान का उद्देश्य अधिक नही सिद्ध हो सकता। यदि एकमात्र पांडित्य ही दिखाने के उद्देश्य से किसी लेख या पुस्तको की रचना न की गई हो तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिसे अधिकाश पाठक समझ सकें। तभी रचना का उद्योग सफल होगा—तभी उससे पढनेवालो के ज्ञान और आनंद की वृद्धि होगी।" इसी लिये सरल और व्यावहारिक भाषा ही द्विवेदी जी के गद्य मे रहती है। 'वागाडंबर' उन्हे अच्छा नही लगता। 'सरस्वती' के संपादन-काल मे प्रकाशनार्थ प्राप्त हुए लेखो को वे उपर्युक्त सिद्धातो की कसौटी पर कसते थे, इसलिये केवल वही लेख स्वीकृत किए जाते थे जो उनकी 'कसौटी' पर खरे उतरते थे। उनके भाषा-विषयक इस संस्कार का प्रभाव अनेक लेखकों पर पड़ा और लेखको ने तदनुसार द्विवेदी जी की शैली का ही अनुकरण किया।

यज्ञदत्त शुक्ल

Die Sprache ist die Seele des Volkes Die Geisteseigentumlichkeit eines Volkes findet Ausdruck hauptsachlich in seiner Sprache und wird zum Teil auch dadurch bestimmt. Eine einheitliche Sprache ist deshalb eine der wichtigsten Bedingungen zum einheitlichen Volkstum

Ohne eine einheitliche Sprache wird das grosse indische Volk nie seine von Gott bestimmte Mission in der Welt ausführen können, aber schon hat Hindi unter den Dialekten Indiens sich einen hohen Platz erobert, und ist nun auf dem besten Wege, die *lingua franca* Indiens zu werden. Die Zeit ist heute nicht mehr allzu weit, da die verschiedenen Völkerschaften Indiens im öffentlichen Verkehr sich der Hindi Sprache bedienen werden, ohne dabei, in engeren Kreisen, den heimatlichen Dialekten untreu zu werden, gerade so wie es in Europa mit der deutschen Sprache der Fall ist. Weit über die Grenzen Deutschlands hinaus wird die deutsche Sprache von breiten Kreisen im öffentlichen Verkehr gebraucht, obwohl in den betreffenden Ländern ganz andere Sprachen die Träger der bodenständigen Kultur sind.

Gerne füge ich deshalb auch meine Stimme zu dem Jubelruf, der den Meister heute an seinem siebzigsten Geburtstage begrüsst,—den Meister, der immer treu seinem vorgesteckten Ziel, durch ein langes Leben hindurch, mehr als irgend ein anderer, die Sache der Hindi Sprache gefördert hat.

भाषा जाति की आत्मा है। किसी जाति की विशेषता मुख्यतया उस की भाषा द्वारा प्रकट होती है और बहुत अंशों मे उसीके द्वारा निश्चित होती है। इस लिए एक भाषा का होना एक जातीयता के लिए अत्यावश्यक बात है।

बिना एक भाषा के भारतीय जाति अपने परमात्मा द्वारा निर्धारित कार्य को पूरा नहीं कर सकती। परन्तु इस समय तक हिन्दी अन्य भारतीय भाषाओं मे सब से ऊंचा स्थान प्राप्त कर चुकी है और भारत की राष्ट्रीय भाषा बनने का दावा कर सकती है। वह दिन दूर नहीं है जब कि भारत के विभिन्न भाषा भाषी लोग बिना अपनी गृहभाषाओं को क्षति पहुंचाए हिन्दी का सार्वजनिक व्यवहार मे उपयोग करने लगेगे। जिस प्रकार कि आज युरोप मे जर्मन भाषा की अवस्था है। दूर दूर तक जर्मन सीमाओं से परे जर्मन भाषा सार्वजनिक व्यवहार मे प्रयुक्त होती है यद्यपि उन देशों मे वहां की सभ्यता को धारण करनेवाली भाषाए जर्मन भाषा से बिलकुल विपरीत है।

बडी खुशी से मै इस गुरु के, जिस ने अपने जीवन मे इस उद्देश्य को सामने रख कर हिन्दी का गौरव बढाने का निरन्तर प्रयत्न किया है, सत्तरवे जन्मदिन का अभिनन्दन करनेवाली हर्षध्वनि मे अपनी वाणी को सम्मिलित करता हूं।

चित्र-परिचय

सदाशिव

योगीश्वर महादेव की कल्पना बडी मार्मिक है। विश्व के उद्भव, स्थिति और संहार मे तपस्या और योग का जो बहुत बडा हाथ है, उसी का, सात्त्विक मूर्त्तिस्वरूप अवढर दानी भोलानाथ की कल्पना मे, स्फुट किया गया है। इसी विशद कल्पना को श्री रामप्रसाद जी ने अपने इस चित्र-द्वारा बडी सफलता से व्यक्त किया है।

भाग्य-नक्षत्र

मध्य रात्रि की गभीरता और नीलिमा मे जब जीवजतु तो क्या, पहाड़ तक गहरी नींद मे डूब जाते हैं, तब यह होनहार बालक जिसका केवल छायाश हमे दिखाइ पड रहा है, अपने भाग्य-नक्षत्र का एक टक अवलोकन कर रहा है, और उसके लिये वह जो सदेश लाया है, उसे सुन-गुन रहा है। इसके चित्रकार निकोलस डी रोरिक विश्वविख्यात कलावंत हैं। न्यूयार्क ने आपके चित्र रखने के लिये २९ खंड का एक गगनचुबी कलाभवन बनाया है। आपकी कला पर भारत की गहरी छाप है।

पुरवैया

ग्रीष्म के अंत मे पुरवैया वर्षा ले आने के लिये जो उपक्रम करती है, उसी का दृश्य इस चित्र मे बडी सजीवता से अंकित किया गया है। पुरवैया के वेग से पेड की पत्तियाँ उड़ रही हैं, डाले लहरा रही हैं। शेष दृश्य के लिए देव-स्वामी की निम्नाकित पंक्तियाँ पूर्णत' घटित होती हैं—

> "पुरुब से उमडि-घुमडि उठि धूरि।
> सग लिये मेघन को मडल रही गगन भरपूरि" ॥

इसके चित्रकार श्री० गगनेद्रनाथ ठाकुर श्री० अवनीद्रनाथ के अग्रज हैं। प्राकृतिक चित्रो तथा व्यग्य और सकेत-चित्रो के अकित करने की उन्होने एक अपनी शैली निकाली है। खेद है कि पक्षाघात ने उन्हे बिलकुल असमर्थ कर दिया है।

रुधिर

महाभारत-युद्ध मे कौरवो का सर्वनाश हो जाने पर धृतराष्ट्र और गांधारी के भाग्य मे यह भी बदा था कि उन्हे अपनी संतति के रुधिर से पकिल उस रण-क्षेत्र मे जाना पड़े। धृतराष्ट्र के चरण उन काँटो का अनुभव करके अब भी मानों दाँत पीसकर प्रतिहिसा की प्रतिज्ञा कर रहे हैं, किंतु गांधारी के चरण, एक नही, अपने सौ-सौ पुत्रो के रुधिर से गीली धरती का अनुभव करने मे असमर्थ हैं।

इसके चित्रकार ठाकुर-शैली के जन्मदाता श्री० अवनीद्रनाथ ठाकुर के प्रमुख शिष्य श्री० नन्दलाल बोस हैं। कई दिशाओ मे उनकी कला अपने गुरु से भी उन्नत हो गई है।

ठाकुर-शैली के अंकन-विधान और परिपाटी मे कई शैलियों का अनुकरण है, किंतु इसकी आत्मा पूर्णतः भारतीय है।

पति की चिता

यह चित्र कवींद्र रवींद्र की पुत्रवधू सौ० प्रतिमा देवी की रचना है। अपने सर्वस्व की चिता को, जिस कातर और करुण दृष्टि से चित्रस्थ अनाथिनी देख रही है, उसके अंकन में चितेरी ने बड़ा कौशल दिखाया है।

मोल-भाव

बगाल के वैष्णव मछली खाना नही छोड पाये हैं। उसे जल-तरोई कह कर शाक ही मे गिनते है। श्री ठाकुर के आरभिक शिष्यवर्ग मे के मद्रासी चित्रकार वेकट अप्पा ने इसी वैषम्य पर अपनी इस कृति द्वारा व्यग्य किया है। वैष्णव-महाशय केवल मछली का मोल-भाव ही नही कर रहे हैं, मछलीवाली को तीग भी रहे हैं।

सांध्य नृत्य

यह चित्र मेघदूत के निम्नलिखित पद्य का कितना मौलिक अंकन है—

अभिनव जवाकुसुम की लाली धारण करना सायकाल,
शिव के उच्च बाहु-तरु-वन पर अपना मंडल देना डाल।
जिससे वे न नाच मे लेना चाहे गज की गीली छाल;
और शांत हो शिवा एकटक लखे भक्ति तेरी तत्काल।

३७, पूर्व मेघ।

यह चित्र ठाकुर शैली का है। इसके कुशल शिल्पी श्री० शैलेद्रनाथ जी ठाकुर महोदय के प्रिय शिष्यों मे हैं।

विधवा

भारतीय विधवा त्याग, तपस्या, शान्ति और विरह की प्रतिमूर्त्ति है। ठाकुर महोदय के शिष्य श्री० दुर्गाशंकर भट्टाचार्य ने उसी की कैसी भाव-मूर्त्ति इस चित्र मे उपस्थित की है।

प्रकृति-पुरुष

गुजरात के प्रसिद्ध चित्रकार तथा कलाप्रवर्तक श्री० रविशकर रावल ने यद्यपि पश्चिमी कला का अभ्यास किया है, तो भी अपनी चित्रकारी मे वे भारतीय भाव और प्रणाली का पर्याप्त समावेश करने लगे हैं। प्रस्तुत चित्र मे प्रकृति-पुरुष के इस अपार पसारे—विश्व-वैभव—को उन्होने एक लाक्षणिक कल्पना-द्वारा बडी सुंदरता से अभिव्यक्त किया है।

समुद्र-तट

समुद्र-तट का यह दृश्य पाश्चात्य ढग पर अंकित हुआ है। किसी दृश्य को देखने के साथ ही आँख पर—हृदय पर नहीं—जो पहला प्रभाव पडता है अर्थात् उस ओर पूर्णत: मन न होने के कारण दृश्य जैसे अस्फुट-से दिखाई पड़ते हैं, उसी को ज्यो-का-त्यो अंकित कर देना ही इस प्रकार के चित्रो की विशेषता है; और वह विशेषता इस चित्र मे सफलतापूर्वक अभिव्यक्त हुई है।

इसके चित्रकार यद्यपि ठाकुर-शैली के कलावत हैं, तो भी कई शैलियो पर उनका समान-अधिकार है एव वे कुशल मूर्त्तिकार भी हैं।

कवि जामी

जामी के साथ फारस के प्राचीन भावुक छायावादी सूफी कवियों की परपरा का अत हो जाता है। ये पद्रहवी शताब्दी के मध्य भाग मे हुए थे और जाम नामक स्थान के निवासी होने के कारण अपना उपनाम 'जामी' रखा था, जिसका उपयोग ये श्लेष मे जाम (मद्य-पात्र) पीनेवाले किया करते थे। उनके इस काल्पनिक चित्र मे उनके व्यक्तित्व का अच्छा खाका खीचा गया है। इसके चित्रकार श्री० चगताई ने पत्र-पत्रिकाओ द्वारा अच्छी ख्याति पाई है। उनकी कला मे नक्काशपन अधिक है। कोणमय कपडो की टूट तथा उसी प्रकार की अन्य रेखाये, वे बडी कुशलता से खीचते हैं।

मराठा वीर बाजीप्रभु

बाजीप्रभु शिवाजी के सेनापति थे। एक बार पन्हाल गढ मे शत्रुओ से घिर गये थे। बाजीप्रभु ने हठ-पूर्वक उन्हे वहाँ से रॉगना दुर्ग मे भेज दिया और स्वय भयकर गोलाबारी मे डटे रहकर शत्रुओ को उलझा रखा था। आगे श्री मैथिलीशरण गुप्त के शब्दो मे—

आये शिवाजी जब रॉगना मे
छोडी गई पीवर पाँच तोपे।
था क्षेम का सूचक भीम नाद
निश्चित बाजीप्रभु हो गये यो॥

फैली मुखश्री उनकी अपूर्व
किया उन्होने प्रभु-धन्यवाद।
निर्वाण के पूर्व यथा प्रदीप
वे तेज से पूर्ण हुए विशेष॥

गोलाबारी मे डटे हुए और प्राणो का खेल खेलनेवाले इस धीर-उदात्त वीर का भाव खूब दर्शाया गया है। इसके चित्रकार श्री० चट्टोपाध्याय ठाकुर-शिष्य परपरा मे हैं। चित्रांकण मे इनकी एक अपनी पद्धति है, जिसकी रेखाएँ और घुमाव बडे रहस्य, चमत्कार और अर्थ-पूर्ण होती हैं।

सावित्री-सत्यवान

यह आदर्श कथा प्रत्येक हिदू को विदित है। घटना का जहाँ पूर्ण परिपाक होता है अर्थात् सत्यवान के प्राण जब यमराज ले जाते हैं और सावित्री उनके शरीर की रक्षा करती है, तभी का दृश्य चित्रकार ने बडी उत्तमता से अकित किया है। उसकी मौनतामय चिंता की मुद्रा दिखलाने मे कलावत पूर्ण सफल हुआ है। श्री० ए० पी० बनर्जी श्री नदलाल बोस के प्रधान शिष्यो मे हैं और उनकी कला मे अपने गुरु की बहुत-कुछ छाया है।

गुड़िया

यह गुडिया खेलती हुई भोली भाली सलोनी बालिका स्वय भी तो एक बडी प्यारी गुडिया है। फिर हम इसी को उस नाम से क्यों न पुकारे ? इसके नवयुवक चित्रकार श्री रसिकलाल पारिख गुजरात के एक उदीयमान कलावत हैं। वे देवीप्रसाद राय चौधरी के शिष्य हैं और चित्रो मे वर्णविन्यास करने मे एक ही हैं। उनकी यह कृति आधुनिक भारतीय कला का एक बहुत उत्कृष्ट नमूना है।

उषा और संध्या

प्रत्येक प्रातःकाल उषा कैसे सिगार-पटार से अपनी झॉकी देती है और दिवावसान होने पर वही गंभीर प्रशांत सध्या का रूप किस प्रकार धारण कर लेती है, इसे हम नित्य प्रति देखा करते हैं। इस जीवन का भी यही हाल है। यही बात इस चित्र मे व्याज-मूर्त्तियो द्वारा दिखाई गई है। मूल चित्र लकडी पर बना है। इसके मनस्वी चित्रकार श्री मनीषि दे ठाकुर-परपरा मे है और उनमे पर्याप्त मौलिकता है।

अंजनि और पवन

अंजनि और पवन की कथा सबको मालूम ही है। इस चित्र मे गुजराती कलावत श्री० सोमालाल शाह ने पवन की प्रेम-यांचा और मुग्धा अंजनि की मूक असमजस दिखाने मे कमाल किया है।

काशी के घाट की एक झलक

उक्त मनीषि दे का यह घसीट चित्र है। इसमे काशी के घाट का दृश्य एक स्वप्न-नगरी सा प्रतीत होता है। यही चित्रकार का उद्देश्य भी है।

पद्मांजलि

कितनी अकृत्रिम श्रद्धा और तन्मयता इस प्रणति मे है। अंजलि मे पद्म के मिस से मानो हृदय-कमल ही आराध्य के चरणो मे उपहृत किया जा रहा हो।

इसके चित्रकार श्री० सुधीरजन खास्तगीर शांति-निकेतन कलाभवन के स्नातक हैं। कुशल चित्रकार होने के साथ ही वे अच्छे मूर्तिकार भी हैं।

प्रत्यागमन

श्री० नंदलाल बोस के शिष्य-समुदाय मे से गुजरात के श्री० कनु देसाई ने अपना एक नया मार्ग निकाल लिया है। वे अंधकारमय आकृतियों-द्वारा ही अपनी कल्पना को व्यक्त करते हैं। उसी पद्धति का यह नमूना है। बुद्धत्व प्राप्त करने पर सिद्धार्थ का कपिलवस्तु लौटना इसका विषय है। यद्यपि इस वस्तु की अभिव्यक्ति मे देसाई जी को बधाई नही दी जा सकती क्योंकि बुद्ध को उन्होंने बहुत ही चपल-गति बनाया है, तो भी चित्र के अग्र भाग मे भारी खभे देकर उन्होने उसे खूब जोरदार बना दिया है।

दरिद्र भारत

भारत के भिखारी मूर्तिमान् दारिद्र्य हैं। चाहे वे नई रोशनीवालों के घृणा के पात्र हो, किंतु उनके मूक आर्तनाद मे जो ज्वाला निकल रही है, वह क्या जाने क्या कर डालेगी। इसी तरह के दो मनुष्य कहे जानेवाले दीन प्राणियो के चित्र द्वारा श्री० प्रभात नियोगी ने देश की दरिद्रता खूब दिखाई है।

कलावंत

कलावत ने अपनी सारी आयु संगीत के आनद मे बिताई है और वह आनद उसके अस्तित्व ही मे ओत-प्रोत हो गया है। यहाँ तक कि इस बुढ़ापे मे भी, जब बाल पक गये हैं, दाँत जा चुके हैं, आँखे डबडबाई रहती हैं, कितनी तन्मयता से वह अपनी चिरसगिनी सितारी को छेड़ रहा है। श्री नदलाल बोस के शिष्य गुजरात के उदीयमान कलावत श्री० कृष्णलाल भट्ट इसके निर्माता है।

कैलास

नीले और हलके बादामी केवल इन्ही दो रगो के उपयोग से इस चित्र मे चित्रकार ने एक अनिर्वचनीय, रमणीयता पैदा कर ली है। कैलास एक गधर्वनगरी की भाँति एक अद्भुत स्वप्न की तरह हमारे सामने उपस्थित होता है। श्री० मसोजी की यह कृति बड़ी विलक्षण है। वे महाराष्ट्र हैं और शांति-निकेतन मे श्री नदलाल जी के चरणों मे बैठकर उन्होने सफलतापूर्वक चित्रविद्या का लाभ किया है।

मातृ-ममता

गृह-कार्य छोड-छाडकर माता जिस तन्मयता से अपने सर्वस्व को निरख रही है, वह प्रेक्षक को भी तन्मय बना डालती है। काशी के होनहार चित्रकार श्री० हरिहरलाल मेढ को देहाती-जीवन अंकित करने में रस मिलता है। यह चित्र उन्ही का है।

तन्मयता

इस चित्र मे चित्रकार ने कृष्ण के वशी सिखाने और राधा के उसके ग्रहण करने की तन्मयता का अच्छा अकन किया है।

इसके निर्माता श्री० लोकपालसिह श्रीमान् होते हुए चित्रकार भी हैं। इन्होने श्री शारदाचरण उकील की शैली को अपनाया है।

विद्युत्-वनिता

मेघदूत के एक भाव के चित्र की चर्चा ऊपर हो चुकी है। उसके स्रष्टा श्री० शैलेंद्र बाबू के शिष्य श्री रामगोपाल विजयवर्गी जयपुर के होनहार चित्रशिल्पी ने उसी काव्यरत्न के अन्य भाव को लेकर यह चित्र बनाया है। इसमे विद्युत-वनिता के पद्मपलाशयित नेत्र बडे ही मादक बनाए गए हैं। मेघदूत का अतिम पद्य है—

या जलधर! मित्रता मान कर या दुखिया पर दया विचार।
इस मेरे अनुचित याचन को पूरा करके भार उतार॥
वर्षा की शोभा से शोभित कर मनमाने सदा विहार।
क्षण भर भी क्षणदा से तेरा विरह न हो यो किसी प्रकार॥

इसी मे के विरही यक्ष के आशीर्वाद की यह अभिव्यक्ति बडी ही आकर्षक है।

ग्वालिन

ग्वालिन के इस चित्र मे भारतीय और पाश्चात्य कला का सम्मेलन है। इस शैली को पटना-शैली कहते हैं, क्योकि बिहार मे ईस्ट इडिया कपनी-काल मे इसका प्रादुर्भाव हुआ था। प्रख्यात चित्रकार श्री ईश्वरीप्रसाद के यह घर की विद्या है। उन्ही के शिष्य श्री मथुरादास गुजराती इसके चित्रकार हैं। ग्वालिन की रूप-छटा देव के इस कवित्त की याद दिलाती है—

माखन सो मन दूध सो आनन है दधि नै अधिकै उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाँछ समेत सुधा बसुधा सब सीठी॥
नैनन नेह चुवै कवि देव बुझावत बैन बियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहे कहौ क्यो न लगै मनमोहनै मीठी॥

रूप-शिखा

कालिदास ने स्वयवरा इदुमती का वर्णन करते हुए लिखा है—"दीप-शिखा की भाँति वह राज-कुमारी स्वयवर मे एकत्र जिस राजा के सामने जाती थी, उसका मुँह तो दमकने लगता था, बाकी अंधकार मे पड़ जाते थे"। इस मुगल-चित्र के मुसव्विर को मानो उनको उसी उक्ति ने यह चित्र लिखने मे प्रवृत्त किया था। चित्र मे काली जमीन देकर चित्रकार ने अकित सौदर्य को खूब प्रधानता दे दी है। पिछली मुगली शैली के स्त्री-सौदर्य-चित्रण का यह एक बढ़िया नमूना है।

उपवन-विलास

हिदू चित्र-कला की पहाडी शैली के चित्रकारो ने स्त्री-सौदर्य की एक ऐसी सुकुआर और रमणीय कल्पना की है कि उनके रमणी-चित्र हृदय पर एक गहरी छाप लगा देते हैं। प्रारभिक १९ वीं शताब्दी के प्रस्तुत चित्र मे उसी तरह को एक सुदरता आनंद से अपने प्रफुल्ल उद्यान मे विलास कर रही है।

फुलवारी

गोसाईं जी के रामचरितमानस भर मे फुलवारी सबसे मधुर अंश है। उसी का यह अपूर्व चित्र है। प्रारभिक उन्नीसवी शताब्दी की हिदू चित्र-कला का यह एक अनुपम उदाहरण है। देखिए, गोसाईं जी की निम्नलिखित पंक्तियों को चित्रकार ने अपनी कृति मे किस सुदरता से अनूदित किया है।

तेहि अवसर सीता तहँ आई।
गिरिजापूजन जननि पठाई॥
संग सखी सब सुभग सयानी।
गावहिँ गीत मनोहर वानी॥
सर समीप गिरिजागृह सोहा।
बरनि न जाइ देखि मन मोहा॥

× × × ×

एक सखी सिय सगु बिहाई।
गई रही देखन फुलवाई॥
तेइ दोउ वधु बिलोके जाई।
प्रेम बिबस सीता पहँ आई॥

× × × ×

तासु बचन अति सियहिँ सुहाने।
दरस लागि लोचन अकुलाने॥

× × × ×

ककन-किकिनि-नूपुर-धुनि सुनि।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व-विजय कहँ कीन्हीं॥
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा।
सिय-मुख-ससि भए नयन चकोरा॥

× × × ×

देखि सीय-सोभा सुख पावा।
हृदय सराहत बचनु न आवा॥

नोट—इनके अतिरिक्त इस ग्रंथ मे जो और रगीन चित्र हैं उनका संबंध भिन्न भिन्न लेखा मे है, जिसकी सूचना चित्र पर दे दी गई है।

प्रतिष्ठापक-सूची

(अकारादि क्रम से)

१—कुँअर उदयप्रतापसिंह
कटिआरी राज्य, फर्रुखाबाद

२—पं० उदित मिश्र
बिड़ला-पार्क बालीगंज, कलकत्ता

'—तत्रभवान् महाराव उमेदसिंह जू, जी० सी० एस० आई०
कोटा राज्य, (राजपूताना)

३—सेठ कमलाप्रसाद गोयनका
२८, ओल्ड चीना बाजार स्ट्रीट, कलकत्ता

५—राय कृष्ण जी
पाडेपुर, बनारस

६—बा० गोकुलचंद्र जी
३० बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

७—ठाकुर गोपालशरणसिंह
मेंबर स्टेट कौंसिल, रीवाँ

८—बा० गौरीशंकरप्रसाद जी एडवोकेट
बुलानाला, काशी

९—म० म० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा
अजमेर

१०—राय बहादुर पं० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी
गणेशगंज, अजमेर

१—तत्रभवान् राजा चक्रधरसिंह जू देव
रायगढ

१२—राय बहादुर ठा० जगदीशनारायणसिंह
पडरौना राज्य, गोरखपुर

१३—सेठ जी० एस० पोद्दार
बौम्बे हाउस, ब्रूस स्ट्रीट, फोर्ट बंबई

१४—पं० ज्वालादत्त शर्मा
किसरौल, मुरादाबाद

१५—श्री० डी० एस० दीक्षित
डेटिन्यू, १४ लार्ड सिनहा रोड, कलकत्ता

१६—श्री० दुर्गाप्रसाद खेतान
एडवोकेट तथा एटर्नी-ऐट-ला
४३, जकरिया स्ट्रीट, कलकत्ता

१७—पं० नरोत्तम शास्त्री गांगेय
गांगेय-भवन, १२, आशुतोष दे लेन, बीडन-स्ट्रीट, कलकत्ता

१८—श्री० नाथूराम प्रेमी
हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय
हीराबाग, बंबई

१९—सेठ प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका
१४ ए, चित्तरंजन एविन्यू (साउथ)
कलकत्ता

२०—राय बद्रीदास गोएनका सी० आई० ई० एम० एल० सी०
गोएनका हाउस, कलकत्ता

२१—पं० बलराम उपाध्याय एडवोकेट
बड़ी पियरी, बनारस

२२—सेठ बालकृष्णलाल पोद्दार
४१।१, ताराचंद दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता

२३—सेठ भागीरथ कानोडिया
रायल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता

२४—सेठ मोतीलाल कानोडिया
१०, मुखराम कानोडिया रोड, हवड़ा

२५—सेठ राधाकृष्ण सोन्थलिया
६९ पथरिया घट्टा स्ट्रीट, कलकत्ता

२६—राय रामचरण अग्रवाल एम० ए०, एल-एल० बी०
बड़ी कोठी, दारागंज, प्रयाग

२७—पं० रामनारायण मिश्र
हेड मास्टर, सेन्ट्रल हिंदू स्कूल, काशी

२८—श्रीयुत रामनिवास रामनारायण

२९—बा० रामप्रसाद जी
८।६ रानीमंडी, इलाहाबाद

३०—तत्रभवान् महाराज सर रामसिंह जू देव के० सी० आई० ई०
सीतामऊ राज्य (मध्य भारत)

३१—सेठ लक्ष्मणप्रसाद पोद्दार
२ हेस्टिंग्स पार्क, कलकत्ता

३२—बा० लक्ष्मीनारायण खत्री
४४, मानिकतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

३३—सेठ लक्ष्मीविलास बिड़ला
बिडला काटन मिल्स लिमिटेड,
सब्जीमंडी, दिल्ली

३४—वाणिज्य-भूषण सेठ लालचंद सेठी
विनोद-भवन, उज्जैन

३५—श्री० विद्याधर मिश्र, श्री रघुनाथ मिश्र
ठि० गांगेय प० नरोत्तम शास्त्री, कलकत्ता

३६—श्री० विनयकृष्ण रोहतगी
४९, आर्मीनियन स्ट्रीट, कलकत्ता

३७—श्री० शिवप्रसाद गुप्त
सेवा-उपवन, नगवा, काशी

३८—श्री० श्रीगोपाल नेवटिया
हरगांव, सीतापुर (अवध)

३९—सेठ सत्यनारायण डालमिया
७०, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता

४०—राय बहादुर डा० सरयूप्रसाद तिवारी
१२, तुकोगंज, इन्दौर

४१—श्री० सी० एल० बर्मन
पी० १८, बी० चित्तरंजन एविन्यू, (नार्थ)
कलकत्ता

४२—सेठ सीताराम सेकसरिया
शुद्ध खादी भंडार
१३२।१, हरिसन रोड, कलकत्ता

४३—श्रीमान् कुँवर सुरेशसिंह
कालाकाँकर राज्य (अवध)

४४—राय बहादुर श्री० हीरालाल बी० ए०
रिटायर्ड डिप्टी कमिश्नर, कटनी
(सी० पी०)

—